श्रीः

हिन्दू विश्वविद्यालय नेपाल राज्य संस्कृत ग्रन्थ माला

Hindu Vishvavidyalaya Nepal Rajya Sanskrit Series

VOL. IV

गीता प्रवचन गीता व्याख्यान माला

व्याख्याता—

महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

गीता प्रवचन कर्त्ता, काशी विश्वविद्यालय

General Editor
DR. V. S. AGRAWALA

1962 First Edition





श्रीः

हिन्दू विश्वविद्यालय नेपाल राज्य संस्कृत ग्रन्थ माला

Hindu Vishvavidyalaya Nepal Rajya Sanskrit Series

Vol IV

गीता प्रवचन गीता व्याख्यान माला

व्याख्याता—

महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

M.M. Pt. GIRIDHAR SHARMA CHATURVEDI

Ex-Director of Sanskrit Research, Sanskrit Mahāvidyālaya

Banaras Hindu University

General Editor

Dr. V. S. AGRAWALA

1962 *First Edition*

मुद्रक—लक्ष्मी दास
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, वाराणसी–५

विश्वविद्यालय के संस्थापक

महामना पं० मदन मोहन मालवीय



हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे,
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)

मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

आरम्भिक-वक्तव्य

इस प्रवचन के प्रारम्भिक कई पुष्प ग्रन्थ की भूमिका रूप हैं और श्रीमान्, डाक्टर वासुदेव शरण जी अग्रवाल महोदय ने भी भूमिका के रूप में अपना वक्तव्य बहुत कुछ लिख दिया है। इसलिये अब मैं यहाँ अपनी ही कुछ बातें आरम्भिक-वक्तव्य में लिख देना पर्याप्त समझता हूँ।

मुझे भगवद्गीता पर अध्ययनावस्था में ही बहुत श्रद्धा हो गई थी। आगे जब हरिद्वार ऋषिकुल में मुख्याध्यापक पद पर मेरा कुछ काल रहना हुआ तब वहाँ ब्रह्मचारियों को भी श्री शाङ्कर-भाष्य सहित भगवद्गीता पढ़ाता रहा, उसी अवसर में लोकमान्य तिलक का "गीता रहस्य" हिन्दी अनुवाद रूप में प्रकाशित हुआ। उसे मैंने बड़े अवधान पूर्वक पढ़ा और प्रधान राजनीति के नेता होते हुए भी श्रीतिलक का इतना गम्भीर शास्त्र-पाण्डित्य देखकर मैं बड़ा चकित हुआ। लोकमान्य महोदय ने अपने "गीतारहस्य" में स्पष्ट रूप से बताया है कि जहाँ तक तत्त्व-ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ वे श्री शङ्कराचार्य के ही सिद्धान्तों को मानते हैं; केवल इसी बात में उनकी विप्रतिपत्ति है कि जहाँ श्री शङ्कराचार्य गीता का मुख्य प्रतिपाद्य संन्यास धर्म मानते हैं वहाँ लोकमान्य ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कहते हैं। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि "गीता रहस्य" में लोकमान्य ने शास्त्रों का गम्भीर विवेचन किया है। अस्तु, इसके अतिरिक्त जब सनातन-धर्म के उपदेशार्थ मेरा भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में भ्रमण हुआ था। उस समय अपनी वक्तृताओं में भी मैं बहुत स्थलों में भगवद्गीता को ही आधार बनाता रहा। अनन्तर जयपुर में जब आया तब भी गीता का श्री शाङ्करभाष्य छात्रों को पढ़ाने का अवसर मिला और वहाँ अपने आराध्य गुरु विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा जो भगवद्गीता पर "विज्ञानभाष्य" लिख रहे थे, उसका भी मनन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्री विद्यावाचस्पति जी ने जिस प्रकार अपने वेद-विषयक ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों की व्याख्या नहीं की है अपितु वेद की परिभाषाओं को ही स्पष्ट किया है। इसीप्रकार भगवद्गीता की भी व्याख्या उन्होंने नहीं लिखी इसके विषयों का विवेचन प्रथम काण्ड में किया। द्वितीय काण्ड में गीता के पद्यों पर अपने मतानुसार शीर्षक लगाये, गीता के प्रकरणों का विभाग भी प्राचीन व्याख्याकारों से कुछ विलक्षण रूप से किया और तृतीय काण्ड में गीता के आचार्य भगवान् श्री कृष्ण के अवतार का विस्तृत विवेचन किया। चतुर्थ काण्ड में भगवद्गीता के एक सौ साठ उपदेशों पर पृथक्-पृथक् एक-एक निबन्ध लिख देने का उनका विचार था, किन्तु प्रायः १५, २० उपदेशों पर ही वे विवेचना लिख पाये। अनन्तर अदृष्ट ने उनके उस विवेचन से जनता को वञ्चित कर दिया। तीन काण्ड जो उनके "विज्ञानभाष्य" के प्रकाशित

हो चुके हैं, उनके प्रूफ संशोधन का कार्य उन्होंने कृपा कर मुझे ही सौंपा था। इससे भी गीता के विषयों का मनन करने का सुअवसर मुझे मिला और अपनी उत्तर-आयु में जब से मैं काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में आया तब से उस समय के उपकुलपति स्वर्गीय श्री गोविन्द मालवीय ने साप्ताहिक गीताप्रवचन का भार प्रायः मुझ पर ही दिया। पूर्व भी समय-समय पर जब काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में भिन्न-भिन्न समितियों के सदस्य-रूप से आता रहता था तब स्वनाम-धन्य श्री मालवीय जी भी कई बार मुझ से साप्ताहिक प्रवचन कराते रहते थे। अस्तु, इतने महान् काल के गीता सम्बन्धी मनन के फलस्वरूप यह प्रवचनमाला-ग्रन्थ आज विज्ञ पाठकों की सेवा में अर्पित है। इसमें से ग्राह्य अंशों का ग्रहण करना और जो उचित न प्रतीत हो उन अंशों को मेरा प्रमाद समझ कर छोड़ देना यह विज्ञ पाठकों पर ही निर्भर है।

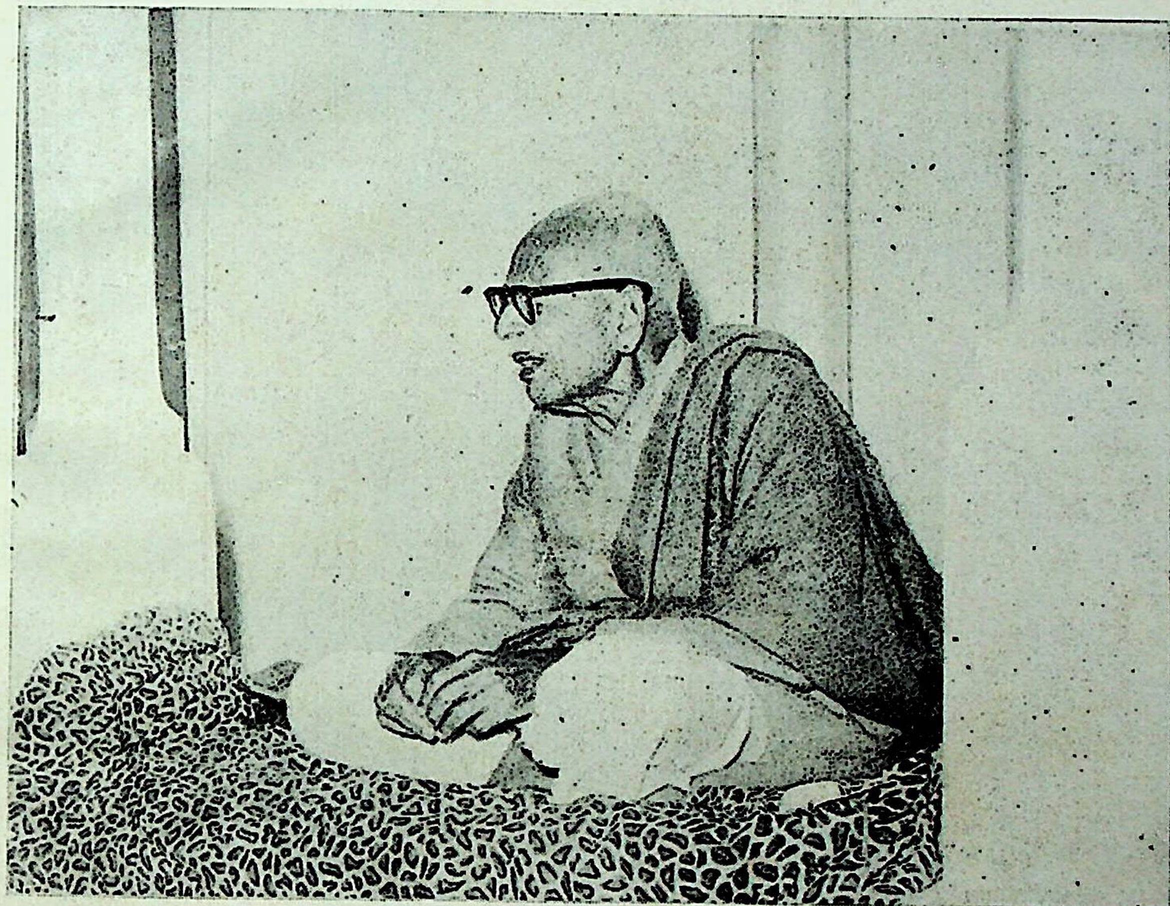
इस प्रवचनमाला में मैंने मुद्रित प्रायः सभी व्याख्याओं का सार संग्रह करने का प्रयत्न किया है। कई विशेष पद्यों पर भिन्न-भिन्न व्याख्याताओं के भिन्न-भिन्न मत भी स्पष्ट रूप से दिखा दिये हैं और अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी आलोचना भी कहीं कहीं कर दी है।

इसके अतिरिक्त सनातन धर्म के जो व्याख्यान मैं धर्मसभाओं में किया करता था उनका भी समावेश प्रसङ्ग आने पर इस प्रवचन माला में कर दिया है। इससे यदि विद्वान् पाठकों को कुछ सन्तोष हुआ और साधारण जनता को कुछ लाभ हुआ तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

इस पुस्तक के सम्पादन-कार्य में मेरे पुत्र श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी, व्याकरण-साहित्याचार्य, एम० ए० और शिष्य श्री रामाधीन शास्त्री व्याकरण-साहित्याचार्य, व्याकरण चक्रवर्ती, श्री केशवपुरी जी वेदान्ताचार्य तथा पौत्र—चि० ईश्वर प्रसाद एम० ए० से बहुत सहायता मिली है। इसलिए इन सभी लोगों को हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

गीता-जयन्ती
मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी
२०१९ विक्रमाब्द
७ दिसम्बर १९६२ खृष्टाब्द

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी



महामहोपाध्याय पंडित गिरधरशर्मा चतुर्वेदी

भूमिका

महामहोपाध्याय श्री पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी प्रति रविवार को प्रातः काल ८ से ९ बजे तक काशी विश्वविद्यालय के श्रोताओं के लिए गीता का प्रवचन करते रहे। उन्होंने सात वर्षों में गीता के अठारह अध्यायों का प्रवचन समाप्त किया। गीता के अनन्तर आजकल वे उपनिषदों का प्रवचन कर रहे हैं। गीता के इन प्रवचनों ने विश्वविद्यालय के श्रोताओं को पर्याप्त प्रेरणा दी और जिस समय ये प्रवचन हो रहे थे, उसी समय कई बार यह विचार प्रकट किया गया कि यदि ये लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो जाते तो भारतवर्ष की धर्मप्राण जनता के लिए भगवद्गीता की एक नई सारगर्भित व्याख्या सदा के लिए सुरक्षित हो जाती। विश्वविद्यालय ने पंडित जी से ही निवेदन किया कि उन्होंने प्रवचन रूप से जो कुछ कहा है उसे लिपिबद्ध कर देने की कृपा करें। पण्डित जी ने इसे स्वीकर किया और आयु और स्वास्थ्य की मर्यादा होते हुए भी कठिन परिश्रम करके 'गीता-प्रवचन' नामक पहले छह अध्यायों की व्याख्या समाप्त करके विश्वविद्यालय को दे दी। ईश्वर की असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। हमारी भगवान् से प्रार्थना है कि पण्डित जी शतायु हों और अवशिष्ट बारह अध्यायों पर भी वे अपना गीताप्रवचन भाष्य समाप्त कर सकें। हर्ष का विषय है कि गीता के छह अध्यायों का यह प्रथम भाग गीता-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। शेष १२ अध्यायों को इसी प्रकार दो भागों में प्रकाशित करने का विचार है।

गीता पर पूर्व आचार्यों और पण्डितों द्वारा विरचित अनेक भाष्य और टीकाएँ हैं, किन्तु गीता विश्व का अमर शास्त्र है। उस पर नई-नई दृष्टियों से सदा विचार संभव होता रहेगा। श्री महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने अपने गीताप्रवचनों में जहाँ एक ओर प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, वहीं गीताशास्त्र के विषय में नवीन दृष्टि भी सामने रक्खी है। एक प्रकार से उनकी नवीनता भी प्राचीनता को लिए हुए है। गीता के माहात्म्य में एक श्लोक में कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं पयः॥

यहाँ पाँच बातें कही हैं। गीता अमृत की भांति आत्मा को पोषण देने वाला दूध है। दूध के लिए गाय चाहिए, दुहने वाला चाहिए, गाय का बछड़ा चाहिए और जब दूध दुह लिया जाय तो उसका पीने वाला चाहिए। ये सब बातें गीता पर घटित होती हैं। गीता का दूध किन गौवों से दुहा गया?

उपनिषद् ही वे गौवे हैं। यहाँ उपनिषदों से तात्पर्य उस प्राचीन परम्परा से था जिसे त्रयीविद्या या वेदों की परम्परा कहते थे। उसके लिए कई शब्द हमारे साहित्य में मिलते हैं। महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त ने उसे 'त्रयी' कहा है (त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति)। उसे ही कालिदास ने 'वेदान्त' शब्द से अभिहित किया था (वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यस्थितं रोदसी)। उनके समय में शांकरवेदान्त अस्तित्व में नहीं आया था। किन्तु वेदान्त से उपनिषदों की अध्यात्मविद्या का ही बोध होता था। उसे ही पुराणों में 'वेदारण्यक' भी कहा गया है। इस प्रकार प्राचीन वेदविद्या की धारा ही उपनिषद् विद्या थी। अतएव जब उपनिषदों को गीता का स्रोत कहा गया तो उसका आशय यही था कि वैदिक परम्परा की प्राचीन अध्यात्मविद्या का प्रतिपादन गीताशास्त्र में किया गया है। गीता रूपी दूध के दुहने वाले गोपालनन्दन कृष्ण हैं। गीता के करन्यास में श्रीकृष्ण परमात्मा को ही इस शास्त्र का देवता कहा गया है (ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता)। अद्वैत परमात्म ब्रह्मतत्त्व ही भगवान् कृष्ण हैं। वही गीता ज्ञान का अधिगम्य लक्ष्य है। वेदरूपी गौओं के दुग्ध की आवश्यकता मानव को है, भगवान् तो उसे दुह कर देनेवाले हैं। मानव भगवान् की सृष्टि का सबसे प्रधान अंग है। जन्म, कर्म और मोक्ष के संबन्ध में मानव यदि भगवान् से ही उपदेश की प्रार्थना करे तो वही भगवान् का किया हुआ उपदेश गीता है अर्थात् इसका अर्थ यही है कि गीता इतना पूर्ण शास्त्र है कि यदि यह ईश्वर प्रोक्त ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। अर्जुन की उपमा उस बछड़े से दी गई है जिसके लिए गऊ माता दुग्ध देती है। वस्तुतः वेद भगवान् का ही ज्ञानमय तप है। इस दृष्टि से समस्त वेद और उपनिषद् भगवान् कृष्ण के भीतर वर्तमान थे। वे ही अर्जुन के लिए गीता के दुग्ध रूप में प्रकट हुए। अर्जुन नारायण का सहयोगी सखा नर है।

भागवतों की यही मान्यता थी—

नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये

(भाग० ११।७।१८)

नरायणो नरश्चैव तत्त्वमेकं द्विधा कृतम्

(महाभारत–उद्योग पर्व)।

अर्जुन उसी प्रकार नरतत्त्व का प्रतिनिधि है जिस प्रकार कृष्ण नारायण तत्त्व के। नरनारायण ऋषि सृष्टि के आरम्भ से हिमालय पर तपश्चर्या कर रहे हैं। वे एक दूसरे के सखा हैं। किन्तु गऊ जो दुग्ध देती है वह यद्यपि मातृ हृदय के वात्सल्य से बछड़े के लिए उमड़ता है, तो भी उसका वत्सावशिष्ट अमृत अंश लोक को मिलता है। वैसे ही यहाँ कहा है कि गीतारूपी अमृत दुग्ध के भोक्ता

सुधी लोग हैं अर्थात् वे सब व्यक्ति दुग्ध के अधिकारी हैं जिनके हृदय में यह दूध पीने की अभिलाषा हो और जिनमें इसके लिए बुद्धि हो वे मानव मात्र गीता ज्ञान के पात्र हैं। यह अमृत विश्व भर के मानवों के लिए है। उस दिन एक अमरीकी मित्र ने अपनी प्रेरणा से मुझ से एक अच्छी बात कही। उन्होंने बताया कि गीता समस्तमानव जाति के लिए है और इसी दृष्टि से उन्होंने गीता का ऐसा अनुवाद किया है कि जिसमें विश्वमानव की दृष्टि से ठेठ भारतीय परिभाषाओं की व्याख्या करके गीता का अनुवाद या सार दिया गया है।

गीता को अमृत दुग्ध कहने का भी एक हेतु है। विशुद्ध अध्यात्म विद्या केवल अमृत है। और केवल कर्म जल है। दोनों ही मनुष्य के लिए अपर्याप्त हैं। मनुष्य को अमृत भी चाहिए और मर्त्यभाव भी। केवल अमृत से सृष्टि नहीं होती और न केवल मृत्यु से ही वह स्थित रहती है। अमृत और मृत्यु का समन्वय जीवन है। यही अमृतरूपी नारायण तत्त्व का नरभाव में अवतार है। स्वर्ग का अमृत और पृथ्वी का जल जब ये दोनों मिलते हैं तब दूध बनता है। केवल जल पीकर कोई जीवित नहीं रह सकता। किन्तु दूध पीकर जीवित रहना संभव है। क्योंकि दूध रूपी पानी में अमृत का भी अंश मिला है। ऐसे ही गीता में भी ज्ञानरूपी अमृत और कर्मरूपी जल दोनों का मेल कराया गया है। यही गीता की विशेषता है और इसीलिए गीता के ज्ञान को दुग्ध कहा गया है। ज्ञान और कर्म के समन्वय का जैसा दृष्टिकोण और आग्रह गीता में पाया जाता है वैसा अन्य किसी शास्त्र में प्राप्त नहीं होता। इस दृष्टि से गीता सब शास्त्रों में अपूर्व है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, अमृत ब्रह्मविद्या और व्यावहारिक संसार का कर्ममार्ग इन दोनों का मेल करने की युक्ति जैसी गीता में बताई है, वैसी अन्यत्र है ही नहीं।

इस संबंध में गीता के अध्यायों की पुष्पिका की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

ॐ तत्सदिति ॥१॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु

ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

एक प्रकार से इस पुष्पिका में गीता का तत्त्व बता दिया गया है। इसमें पाँच बातें कही गई हैं। ॐ तत्सत्—यह पहला वाक्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। ईश्वर या ब्रह्मतत्त्व या सत् तत्त्व ही भारतीय संस्कृति का मस्तक है। उसी से विश्व और मानव दोनों का विकास हुआ है। वेद, उपनिषद् और गीता इनका जो कुछ भी रस है वह ईश्वर तत्त्व की स्वीकृति के

कारण ही है। पुष्पिका के दूसरे अंश में जिस स्रोत से गीता का जन्म हुआ है अथवा जिस परम्परा से गीता का ज्ञान संबंधित है उसका स्पष्ट उल्लेख है। भगवत्तत्त्व द्वारा उपदिष्ट जो वेदविद्या या उपनिषद् विद्या है, उसी का सारांश गीता में आया है। यह महती सारगर्भित उक्ति है। वेदों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का समन्वय है। जैसा मनु ने कहा है—

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।

वे दोनों धाराएँ गीता में मिली हैं और इनका सर्वोत्तम रूप मानव जीवन को भूषित करने के लिए गीता में बताया गया है। पुष्पिका के तीसरे अंश में इन दो धाराओं का नामोल्लेखपूर्वक कथन है। एक की ब्रह्मविद्या है और दूसरे का योगशास्त्र। योगशास्त्र का अर्थ गीता के लिए मुख्यतः कर्मयोग ही है। ब्रह्मविद्या का विषय ज्ञान है और कर्मयोग का विषय संसार का व्यवहार है उससे ही संबंधित जीवन का संघर्ष है। कोई व्यक्ति कर्म छोड़ बैठे तो उससे जीवन का ही निराकरण हो जाता है। यह न उचित है और न पूरी तरह संभव और न आवश्यक ही। क्योंकि उच्च जीवन का एक ऐसा भी प्रकार है जिसमें समझदारी के साथ कर्म का निर्वाह किया जाय तो मनुष्य को जो भी उच्चतर जीवन चाहिए वह सब संसार में रहते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है। यह उच्चतर ज्ञान ब्रह्मविद्या है जिसका संबंध आत्मा और मोक्ष से है। मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन में इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाए कि न तो कर्म से भागे और न कर्म का बोझ ही अपने मन पर आने दे। ऐसी सुन्दर कलात्मक युक्ति बताने वाला यदि कोई शास्त्र हो तो मानवमात्र को उसमें रुचि होगी। कर्म की समस्या प्रत्येक के सामने है। वह कर्म बाँधनेवाला न हो, मुक्त करनेवाला हो। इस प्रकार का साहसपूर्ण वाक्य गीताकार ही कह सके हैं। संसार के अन्य शास्त्रों में इस प्रकार का विवेचन नहीं दिखाई देता और न यह गूँज ही सुनाई देती है। गीताकार ने ब्रह्मविद्या को पूरा सम्मान दिया है। यह कहना ठीक नहीं कि गीताकार को ब्रह्मविद्या में रुचि नहीं अथवा वे केवल कर्म पर ही बल देते हैं। गीताकार का लक्ष्य तो वहाँ है जहाँ ज्ञान और कर्म को समन्वित करने की युक्ति है। ज्ञान को छोड़कर कर्म करने वाले तो अनेक हैं। उनसे संसार का व्यवहार भले ही चलता रहे किन्तु मानव को जो सर्वोत्कृष्ट बुद्धि मिली है उसका उच्चतम संस्कृत रूप ऐसे कर्म करने वालों में दिखाई नहीं देता। मानव तो जैसा पूर्व काल में था वैसा आज भी प्रज्ञाशील प्राणी है। प्रज्ञा या बुद्धि ही मानव की सबसे बड़ी विशेषता है। ज्ञान और कर्म करने का समन्वय करने का बुद्धि या प्रज्ञा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतएव गीता का सबसे अधिक आग्रह इसी बुद्धि योग पर है, जिसे प्रतिष्ठित प्रज्ञा भी कहा गया है। ऐसी प्रज्ञा रखने वाला मनुष्य ही सच्चा पंडित है। प्रज्ञा से ही पञ्ञा, पण्णा और पण्डा रूप होते हैं। गीताकार की दृष्टि में बुद्धियोग वह

है जिसमें ब्रह्मविद्या या ब्राह्मी स्थिति एवं कर्म इन दोनों का संतुलन प्राप्त किया जाता है। गीता में योग की दो परिभाषाएँ कही गई हैं। समत्वं योग उच्यते—यह समत्वभाव या ब्राह्मी स्थिति को दृष्टि में रख कर है। उसी के आगे योगः कर्मसु कौशलम् द्वारा कर्म करने की कुशलता को योग कहा गया है। कर्म की कुशलता वही है जिसमें कर्म का बोझ या बंधन मानव के मन पर न पड़े। इन लक्षणों का समन्वय बुद्धि योग में होता है। वही गीता को इष्ट है।

मनुष्य को ज्ञान और कर्म सम्बन्धी जो दो प्रकार की शक्तियाँ मिली हैं उन दोनों को समझदारी के साथ काम में लाना यही प्रज्ञा दर्शन या बुद्धि योग का ध्येय था। कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के आचार्य थे। प्रज्ञावादी दर्शन की एक झलक विदुरनीति में सुरक्षित रह गई है। किन्तु उसका परिपूर्ण दार्शनिक रूप गीता में ही उपलब्ध है। प्रज्ञावादी कृष्ण का वेद के विषय में दृष्टिकोण स्पष्टता से समझ लेना आवश्यक है। एक ओर उनकी स्पष्ट युक्ति है—सर्वैश्चवेदैरहमेव वेद्यः, अर्थात् सब वेद ब्रह्म का ही ज्ञान कराते हैं। वेदों में मैं सामवेद हूँ, सामवेद मेरा ही रूप है अथवा सब वेद जिस पद या परम तत्त्व का बखान करते हैं वही संक्षेप में 'ओम्' या 'प्रणव' है जो ईश्वर का वाचक है। एक ओर गीताकार ने वेदों के उच्च लक्ष्य को सुनिश्चित रूप से कहा है, दूसरी ओर इस प्रकार का कथन भी पाया जाता है—हे अर्जुन, वेद त्रैगुण्य विषयक हैं, तुम त्रैगुण्य से रहित बनो। यह उक्ति पूर्व पक्ष के स्थान में है। वेद के विषय में दो दृष्टिकोण विकसित हुए—एक यज्ञ विषयक कर्मों का जो श्रौत सूत्रों में है और दूसरा ब्रह्म विज्ञान या आत्मज्ञान विषयक, जो उपनिषदों में है। गीताकार ने पहले दृष्टिकोण को वेद सम्बन्धी पुष्पिता वाक् कहा है, जिसमें यज्ञों की क्रियाएँ और उनसे मिलने वाले भोग ऐश्वर्य का वर्णन भरा हुआ है। वेदों का यदि वही प्रयोजन लिया जाय तो बार-बार जन्म लेने और कर्म करने का फल पाना होगा। कृष्ण इसे वेदों का सच्चा अर्थ नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वेदों का लक्ष्य ही है—"सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यः" अर्थात् ब्रह्मविज्ञान है। वस्तुतः वेद के भी दो अर्थ हैं—एक शब्द राशिमय वेद और दूसरा तत्त्व ज्ञानमय वेद। शब्द राशि या मंत्रात्मक वेद कूप जल के समान है, अर्थात् सीमित और परिमित है। किन्तु तत्त्व ज्ञानात्मक वेद तो ब्रह्म रूप ही है। ब्रह्म का ज्ञानमय तप वेद है। वह ब्रह्म विज्ञान उस बढ़िया के समान है जिसमें जल के प्रवाह चारों ओर से उमड़ते हुए आते हैं, और उस अनंत जल राशि के मध्य में खड़े हुए व्यक्ति को सीमित कूपजल की आवश्यकता नहीं रहती—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥"

गीताकार ने शब्दात्मक वेद और तत्त्व ज्ञानमय वेद के तारतम्य के विषय में जो कहा है उससे कहीं अधिक स्वयं ऋग्वेद के मंत्र द्रष्टा ऋषि ने कह दिया है—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥"
(ऋक्—१।१६४।३९)

जिसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं, जिसका अधिष्ठान परम व्योम है, उसी में वेदों की ऋचाएँ और विश्व के देवों का निवास है। जो उस ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानता उसके लिए शब्दात्मिका ऋचाएँ निष्प्रयोजन हैं। जो उस अक्षर ब्रह्म को जानते हैं वही ब्रह्म सम्बन्धी चर्चाओं में स्थान पाने योग्य हैं। अर्थज्ञ और शब्दज्ञ इन दोनों के भेद को यहाँ स्पष्ट कहा गया है। अर्थज्ञ योगी होता है और शब्दज्ञ केवल पंडित। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते (६।४४), योग का सच्चा जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म के विद्वान् से बढ़कर है। यही वेद के विषय में गीता की स्थिति है। गीताकार के लिए वेद सर्वस्व है। वे किसी भी प्रकार वेद की उपेक्षा नहीं या अवहेलना नहीं करते। हाँ, उन अविपश्चित् या अल्पज्ञों का तिरस्कार अवश्य करते हैं जो वेदों के ब्रह्मज्ञान की उपेक्षा करके केवल यज्ञ आदि में लिप्त थे। वेदों की उपेक्षा तो दूर गीता ज्ञान के उपजीव्य वेद और उपनिषद् ही हैं। जो वेदों में है वही उपनिषदों में है और जो उपनिषदों में है वही गीता में है। स्वयं उपनिषद् अनेक प्रकार से वेदार्थ को पल्लवित करते हैं। गीता भी प्राचीन मान्यता के अनुसार उपनिषदों का ही सार है।

वेदों की ब्रह्मवृक्ष विद्या जिसे सहस्र वल्शवनस्पति विद्या भी कहते हैं कठोपनिषद् की अश्वत्थविद्या है (ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः)। ऊर्ध्व तत्त्व ब्रह्म तत्त्व है। विश्व अधः है। संसार वृक्ष ही अव्यय अश्वत्थ है। इसी प्रकार वेदों की अहोरात्र विद्या (८।१७), सदसद् विद्या, (९।१९), ज्ञानकर्म विद्या, प्राणविद्या (४।२९), योगविद्या, प्रणव विद्या (८।११), पंचात्म विद्या (३।४२), विराट विद्या (एकादश अध्याय), देव विद्या (३।११,९।२५), यज्ञ-विद्या (३।१०), चक्र विद्या (३।१६), रजो विद्या (३।३७), अमृतमृत विद्या (९।१९), शुक्र विद्या (१४।४), ब्रह्म विद्या (८।१-३), शाश्वतधर्म विद्या (१४।२७), अव्यय विद्या (२।२१), परावर विद्या (७।४-५), त्रैगुण्य विद्या, (चतुर्दश अध्याय), पितृ विद्या (१।४२), मातृपितृ विद्या (१४।४), महद्योनि विद्या (१४।३), अन्न-अन्नाद विद्या (३।१४), सृष्टिबीज विद्या (१४।४), व्यक्ताव्यक्त विद्या (२।२८), क्षराक्षर विद्या (८।४,१५।१६), वैश्वानर विद्या (१५।१४), क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विद्या (१३।१-२ इत्यादि), अध्यात्म विद्या (८।१-३), अधियज्ञ विद्या (८।४), अधिभूत विद्या (८।४), अधिदैवत विद्या (८।४), अजअव्यय विद्या (२।२०,४।६), आदि अनेक

वैदिक विद्याओं और तत्त्वों का निरूपण, नामोल्लेख और संकेत गीता में पाया जाता है। गीता के निर्माण में वेदों और उपनिषदों की अनेक विद्याओं का भरभूर उपयोग किया गया है। विशेषतः क्षर और अक्षर विद्या का तो जैसा विवेचन गीता में है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरः एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥"

[१५।१६]

यहाँ यह स्पष्ट कहा है कि अधिभूतों की संज्ञा क्षर है। पंचभूतों के कूट या ढेर के आश्रय से प्रकट होने वाला कूटस्थ जीवात्मा अक्षर कहा जाता है। क्षर और अक्षर इन दोनों से विलक्षण जो ईश्वर या परमात्मा तत्त्व है वही गीता का अव्यय पुरुष या पुरुषोत्तम है। क्षर पुरुष, अक्षरपुरुष और अव्यय पुरुष गीता के दार्शनिक विवेचन का आधार है, और यही त्रिपुरुष विद्या वैदिक तत्त्व दर्शन का भी मूल है। इसे ही वैश्वानर अग्नि भी कहते हैं, जिसमें विश्वनर या तीनों पुरुष समवेत रूप से अग्नि का प्रकट रूप हैं। गीता में कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

[१५।१४]

"अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते" [श० ब्रा० १४।८।१०।१]। अर्थात् जो अन्न खाया जाता है इसे पचाने वाली जो प्राण अपान युक्त शक्ति है वही अग्नि वैश्वानर है जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान है। वैश्वानर विद्या ऋग्वेद की महत्वपूर्ण विद्याओं में से है। वैश्वानर को सब भुवनों का राजा कहा गया है। एक ओर मनुष्य शरीर में आई हुई प्राण शक्ति वैश्वानर है दूसरी ओर विश्व की विराट् प्राण शक्ति सूर्य है। प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ वैश्वानर और सूर्य इन दोनों में निरन्तर स्पर्धा रहती है। वैश्वानर पंचभूतों से बने हुए इसी पार्थिव शरीर में उत्पन्न होता है और आयु पर्यन्त यहीं उसकी सब चेष्टाएँ होती रहती हैं। सूर्य अमृत का प्रतीक है। उसी की शक्ति शरीरस्थ मर्त्य वैश्वानर को प्राप्त होती है। जैसा कहा है—

"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम, राजा हि कम् भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥"

[ऋग्वेद १।९८।१]

जिस वैश्वानर विद्या का गीता में और शतपथ ब्राह्मण में इतना स्पष्ट उल्लेख है और जिसकी पहचान प्राणियों के शरीर में स्थित प्राणापान युक्त अग्नि से की

गई है, वह वेदों की अत्यंत प्राचीन विद्या थी। इस प्रकार गीता के अर्थों पर यदि नए सिरों से विचार किया जाय तो यही परिणाम निकलता है कि गीताकार ने अनेक वैदिक विद्याओं को अपने शास्त्र में स्थान दिया है। उनका विवेचन और विवरण सप्रमाण किया जाना चाहिए। तभी गीताशास्त्र जैसा उसकी पुष्पिका में कहा है, सनातन काल से प्राप्त ब्रह्मविद्या के साथ समन्वित हो सकेगा। तभी यह कहना भी ठीक होगा कि उपनिषद् रूपी गायों का अमृत दूध गीता में है। महामहोपाध्याय गिरिधर जी के गीताप्रवचन की यही विशेषता रही है। एक ओर गीता में वैदिक सामग्री का वे अपने गुरु पं० मधुसूदन जी की प्रदर्शित शैली से बहुत अच्छा विवेचन करते हैं। दूसरी ओर शंकर, रामानुजाचार्य यदि आचार्यों ने अपने-अपने गीता भाष्यों में जो मूल्यवान् सामग्री दी है उसका भी वे स्पष्ट उल्लेख करते हैं। आचार्यों के मतों में जो कहीं-कहीं विरोध है उसका भी परिहार और संगति वे दिखाते हैं। यह नया भाष्य कथा प्रवचन के रूप में विश्वविद्यालय के श्रोताओं के सामने सुनाया गया था। इसकी विशदता इसका गुण है। इसके रूप में गीता विषयक साहित्य में एक नई वस्तु सामने आ रही है। ईश्वर से प्रार्थना है कि इसके अवशिष्ट दो भागों को पूर्ण करने की शक्ति पंडितजी को प्रदान करने की कृपा करें।

गीता जयन्ती
मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी
२०१९ विक्रमाब्द
७ दिसम्बर १९६२ खृष्टाब्द

वासुदेवशरण अग्रवाल

"गीताप्रवचन" (गीता व्याख्यानमाला)

विषय-सूची

प्रथमाध्याय

द्वितीयाध्याय

धर्म की व्याख्या के चार पुष्प

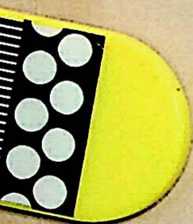
तृतीयाध्याय

पुष्प-संख्या | पृष्ठ-संख्या

चतुर्थ-अध्याय

पंचम-अध्याय

षष्ठ-अध्याय



॥ श्रीः ॥

गीता प्रवचन गीताव्याख्यान माला

प्रथमाध्याय

व्याख्याता महामहोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

प्रथम पुष्प

(श्री भगवद्गीता के विषय अधिकारी आदि)

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसः च्छटाः ॥

श्री भगवद्गीता वैदिक हिन्दू जाति का सर्वस्व है। जब से इसका प्रादुर्भाव हुआ है तब से आज तक इसका महत्त्व क्रम से बढ़ता ही गया। इसके उपक्रम में मंगलपाठ के जो पद्य सुप्रसिद्ध हैं उनमें प्रादुर्भाव-क्रम दिखाया गया है जो इस प्रकार है :

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब ! त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥
नमोस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

इनका तात्पर्य है कि युद्ध के समय अर्जुन के प्रति साक्षात् भगवान के पूर्णावतार भगवान कृष्ण ने जिसका उपदेश किया और पुराणमुनि भगवान व्यास ने महाभारत में जिसका निबन्धन किया, अद्वैतरूप अमृत की वर्षा करने वाली, अठारह अध्यायों से समन्वित, आवागमन रूप भवचक्र को समूलोन्मूलित करने वाली भगवद्गीतारूपिणी माता का मैं बार-बार अनुसन्धानात्मक स्मरण करता हूँ।

दूसरे पद्य में भगवान व्यास को प्रणाम किया गया है कि अनन्त बुद्धि के अथाह सागर, प्रफुल्लित कमल के समान नेत्र वाले उन भगवान व्यास को बार बार प्रणाम है, जिन्होंने महाभारत रूप तैल से परिपूर्ण पात्र में इस ज्ञानमय गीतारूप दीपक को प्रज्वलित कर दिया। इसके मुख्य उपदेष्टा भगवान् कृष्ण का स्मरण तीसरे पद्य में है कि जो शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष स्वरूप हैं, अर्जुन के सारथी बने हुए जिनके एक हाथ में घोड़ों के चलाने के लिए बेंत है और दूसरे हाथ में उपदेश के समय की ज्ञानमुद्रा है। इस प्रकार के रूप से जो गीतारूप अमृत के उपदेश का मूल उपनिषद् है, वह चौथे पद्य में बतलाया गया है। भारतीय सभ्यता में वेदमूलक उपदेश की ही प्रतिष्ठा है। वेद अनादि हैं। भगवान भी उनका पहिले ब्रह्मा के हृदय में और फिर महर्षियों के हृदय में प्रकाशन मात्र करते हैं। उन वेदों के दो भाग हैं मन्त्र और ब्राह्मण। ब्राह्मण के भी अवान्तर तीन भाग हैं जिनमें क्रम से कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन किया जाता है। कर्म का प्रतिपादक भाग ब्राह्मण नाम से ही प्रसिद्ध है। उपासना का प्रतिपादक भाग आरण्यक कहा जाता है और ज्ञान का प्रतिपादक भाग उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। दूसरा इसका यह भी कारण है कि वहाँ जाकर वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त हो जाता है, अर्थात् उसके आगे अन्य ज्ञातव्य विषय अवशिष्ठ नहीं रह जाता, इसलिए भी इसे वेदान्त कहते हैं। इसी बात को एक रूपक में उक्त चतुर्थ पद्य में कहा गया है कि सब उपनिषद् गौ रूप हैं, उनसे सारभूत दुग्ध का दोहन करने वाले स्वयं गोपाल हैं। गोपाल ही तो दुग्ध को दोहन करना जानता है। चतुर गोपाल के आगे गौ अपना दुग्ध छिपा नहीं सकती। वह सम्पूर्ण सार खींच लेता है किन्तु दोहन के समय गौ को पौसाने के लिए एक वत्स की भी आवश्यकता रहती है। उस वत्स का स्थान यहाँ अर्जुन ने लिया है। अर्जुन के प्रश्नों के आधार पर ही नये नये सार प्रदुग्ध हुए हैं। यह गीतारूप अमृतमय दुग्ध है। इसका उपयोग करने वाले सम्पूर्ण बुद्धिमान पुरुष हैं जो इससे लाभ उठाते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान के उपदेश का अर्जुन तो एक निमित्तमात्र था, उपदेश तो भगवान ने मनुष्यमात्र को अपने कल्याण साधन के लिये दिया है।

संस्कृत ग्रंथों की यह प्रणाली है कि उनके आरंभ में अनुबन्ध चतुष्टय बताया जाता है। १ : विषय, २ : अधिकारी, ३ : प्रयोजन और ४ : परस्पर सम्बन्ध ये चारों अनुबन्ध चतुष्टय कहे जाते हैं। मूल भगवद्गीता में भी इन चारों का संकेत है किन्तु भगवद्गीता की पुष्पिकारूप मंगल पाठ के उक्त पद्यों में इनको स्पष्ट कर दिया गया है कि १ : उपनिषदों में कहा हुआ जीव, ब्रह्म का अद्वैत अर्थात् अभेद इसका विषय है। २ : आवागमन संसारचक्र से निवृत्त हो जाना इसका मुख्य परम प्रयोजन है ३ : मुक्ति चाहने वाले चतुर

पुरुष इसके अधिकारी हैं और ४ : विषय का और ग्रन्थ का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, अधिकारी और ग्रन्थ का बोध्य बोधक भाव आदि सम्बन्ध हैं।

आर्य संस्कृति में मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष ही माना जाता है। इस विचार से गीता का भी मुख्य प्रयोजन भवनिवृत्ति और मुमुक्षु को उसका अधिकारी कहा गया है। किन्तु गीता का प्रसंग देखने पर निर्दोषरूप से सम्यक् व्यवहार चलाना गीता का प्रयोजन स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उस अवसर में अर्जुन मुमुक्षु नहीं था, किन्तु व्यवहार के संकट में पड़ा हुआ था। शास्त्र एक ओर कहता है कि गुरु, पिता आदि के विरुद्ध कभी त्वंकार का भी उच्चारण विशेषरूप से पाप जनक है और दूसरी ओर कहता है कि अपने वध के लिए उद्यत आततायी को अवश्य मार देना चाहिये चाहे वह गुरु ही क्यों न हो। ऐसी विरुद्ध परिस्थिति में जब गुरु, पितामह, भ्राता आदि आततायी होकर युद्ध के लिए समक्ष उपस्थित हैं तब यह युद्ध धर्म है या पाप यही सन्देह अर्जुन को हुआ था। इसी के निवारण के लिए गीता की प्रवृत्ति है। ऐसे संकट अपने जीवनकाल में सब को ही अनेक बार प्राप्त होते हैं जिसे लोक में कहा जाता है कि "इधर कुआं और उधर खाई"। यह कार्य धर्म है या अधर्म ऐसे सन्देह जीवन काल में विचारकों को अनेकधा उपस्थित होते हैं। उस अवसर में निर्णय करने की क्या पद्धति है यही भगवान ने समझाया है। यद्यपि गीता में ज्ञान और भक्ति का भी विस्तृत विवेचन है किन्तु उसका कारण यही है कि आर्य संस्कृति का धर्मनिर्णय अध्यात्मवाद पर ही अवलम्बित है, इसलिये बिना अध्यात्मवाद में प्रवेश किये निर्णय संभव नहीं है और सामान्य उपदेश से अर्जुन मानने वाला न था। वह आरंभ में ही कह रहा है कि त्रिलोकी का राज्य या इन्द्रासन प्राप्त हो जाने पर भी मेरा यह मनस्ताप मिट नहीं सकता। इसलिये धर्मनिर्णय की मूलभूत कसौटी ही उसके सामने रख देना अत्यावश्यक था। इसी उद्देश्य से भगवान को ज्ञान भक्ति आदि सबका प्रसंगात् संकेत करना पड़ा। मुख्य लक्ष्य व्यवहार निर्णय ही था। इस विषय को महा विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता-रहस्य में खूब प्रस्फुट किया है। अन्यान्य व्याख्याकार प्रायः यही कहते हैं कि शरीरात्मवादरूप मोह अर्जुन को उस समय हो गया था। तभी उसे यह शंका हुई थी कि गुरु, पिता, भ्राता आदि को कैसे मारा जाय। इसलिये अध्यात्मवाद के द्वारा आत्मा का अजर अमर होना अवश्य सिद्ध करना था। इसीलिये गीता में आत्मा परमात्मा का निरूपण आवश्यक हुआ। इतना ही नहीं अर्जुन के मोह में स्व और पर बुद्धि भी प्रधान कारण है। आजतक उसने बहुत से युद्ध किये थे बहुतों को मारा भी था। वहाँ धर्म विरुद्धता का विचार कभी न उठा, किन्तु आज यह विचार इसलिये उठा कि अपने बान्धवों को मारना है। आरम्भ में ही उसने कह भी दिया कि युद्धस्थल में स्वजनों को देखकर मुझे बड़ा शोक हो रहा है। इसलिये इस मूलभूत स्व-पर बुद्धि को

हटाने के लिये भगवान को अद्वैतवाद भी बताना पड़ा। उन्होंने कहा कि सब में आत्मा तो एक है यह स्व बुद्धि और पर बुद्धि तुम्हारी केवल भ्रान्ति है। इसीलिए पूर्वोक्त पद्य को गीता में अद्वैतामृतवर्षिणी कहा है।

अस्तु कुछ भी हो यह तो सिद्ध ही है कि उस समय प्रसंग कार्याकार्य निर्णय का ही था। इसलिये कार्याकार्य निर्णय गीता का आरम्भिक प्रयोजन मानना ही होगा।

कार्य और अकार्य का नाम ही धर्म और अधर्म है। इसलिये धर्म अधर्म का निर्णय ही गीता का प्राथमिक प्रयोजन सिद्ध होता है। किन्तु धर्म का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। इस विचार से उक्त मंगल पाठ के पद्यों में भवद्वेषिणी गीता को कह कर मोक्ष को ही इसका मुख्य प्रयोजन बतलाया गया।

आर्य संस्कृति में ४ पुरुषार्थ माने जाते हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है मनुष्य जन्म का प्रयोजन। अथवा पुरुषैरर्थ्यते। इस व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जिनकी इच्छा करे वे पुरुषार्थ कहे जाते हैं। यों तो मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं, किन्तु वर्गीकरण सिद्धान्त के अनुसार उन्हें ४ श्रेणियों में ही बाँटा जा सकता है। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा अर्थ और काम की ओर ही झुकती है। मनुष्य स्वभावतः या तो अपनी उन्नति चाहता है जो अर्थ के अन्तर्गत होगी और उससे भी बढ़कर वा उसका भी लक्ष्य सुख भोग इच्छा का विषय होता है जो काम कहा जायगा। इस विचार से अर्थ और काम ही मुख्य पुरुषार्थ सिद्ध होंगे। धर्म और मोक्ष की तो किसी को स्वाभाविक इच्छा नहीं होती; यदि होती है तो शास्त्र पढ़ने पर होती है। इसलिए ये मुख्य पुरुषार्थ नहीं कहे जा सकेंगे। किन्तु यह शंका तभी तक होती है जब तक कि इनका स्वरूप न समझा जाय। धर्म शब्द का मुख्य अर्थ है स्वरूप रक्षा, तथा मोक्ष शब्द का अर्थ है बन्धन से छुटकारा पाना। यह अर्थ जान लेने पर प्रत्येक बुद्धिमान मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहेगा, क्योंकि प्राणिमात्र में बन्धन से छूटने की प्रबल इच्छा रहती है। प्रतिष्ठित परिवारों में भी जो शुकसारिका आदि पाले जाते हैं, जिन्हें सभी प्रकार के सुखोप-भोग उपलब्ध होते हैं वे भी पिंजड़े की खिड़की जरा खुलते ही उड़ कर आकाश में चले जाते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि बन्धन से छूटने की इच्छा प्राणिमात्र की स्वाभाविक है। मनुष्य भी विवश होकर ही किसी दूसरे के बन्धन में रहता है, अवसर मिलते ही वह स्वतन्त्र होना ही उपयुक्त मानेगा। इसके अतिरिक्त त्रिवर्ग में भी अर्थ और काम की अपेक्षा स्वरूप रक्षा को प्रत्येक विचारक महत्व देगा। उन्नति और सुखभोग वहीं तक इष्ट है जहाँ तक वे हमारे स्वरूप के विघातक न हों। यह दूसरी बात है कि स्वरूप ज्ञान में सबकी समानता नहीं होती। शिक्षा के अनुसार ज्ञान बुद्धि से स्वरूप ज्ञान में भी तारतम्य होता रहता है। जो मनुष्य जितना अपना स्वरूप समझता है उसकी रक्षा का प्रयत्न वह करता रहता है। सामान्य अशिक्षित मनुष्य जिन्हें शास्त्रीय भाषा में यथा

जात कहा जाता है, अर्थात् जैसे वह उत्पन्न हुआ वैसा ही वह अन्त तक बना रहा, कोई विशेषता उसने प्राप्त न की, वह स्थूल शरीर मात्र को ही अपना स्वरूप समझता है। इसलिये उसकी रक्षा के प्रयत्न में वह भी अवश्य लगा रहता है। शरीर को विघातक खान-पान व्यवहार आदि से बचाना, इतने में ही उसके धर्म की व्याख्या समाप्त हो जाती है। किन्तु प्रपञ्च में पड़ने पर जब वह कुटुम्बी बन जाता है और पुत्रादि को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत ही समझने लगता है, तब जितना अपनी रक्षा का ध्यान उसे होता है उतना ही अपने स्त्री पुत्रादि की रक्षा का ध्यान भी हो जाता है। इसलिये स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियों की रक्षा भी उसके धर्म में आ जाती है। जब शिक्षित होकर मनुष्य यह समझ जाता है कि मैं एक सामाजिक प्राणी हूँ, इसलिये समाज भी मेरा एक स्वरूप है और अपने शरीर की रक्षा के समान समाज के सुख की रक्षा भी मेरे लिये आवश्यक है, तब उसके धर्म में समाज के उपयुक्त सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार आदि का भी समावेश हो जाता है और उसके धर्म शब्द की व्याख्या बहुत बढ़ जाती है। साथ ही वह शिक्षित विचारक मनुष्य यह भी समझ लेता है कि समाज में निन्दित होकर रहना अपनी स्वरूप हानि है और यशस्वी होकर रहना अपना मुख्य स्वरूप है। इस प्रकार जब यश को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत मान लिया जाता है तो यश की रक्षा के लिए शरीर छोड़ना तक भी उचित प्रतीत होने लगता है। रघुवंश महाकाव्य में यह प्रसंग है कि सम्राट दिलीप जब गुरू वशिष्ठ की आज्ञा से गौ सेवा में नियुक्त थे और गौ पर अचानक सिंह का आक्रमण हो गया था एवं अपने प्रहार के लिए समुद्धृत दक्षिण हस्त के स्तब्ध हो जाने से वे शस्त्र भी नहीं चला सकते थे और सिंह के कथन से उन्हें यह प्रतीत हो गया कि यह भगवान शंकर का गण है, तब उन्होंने सिंह से यही प्रार्थना की कि हे सिंह ! तुम कृपा कर मेरे शरीर से अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर लो और मेरे गुरु ऋषि वसिष्ठ की इस गौ को छोड़ दो। तब सिंह ने सम्राट का उपहास करते हुए जीवन रक्षा के अनेक प्रयोजनों का विवरण किया और यह समझाया कि ऐसी मूर्खता मत करो, शरीर की रक्षा करो। गुरुदेव को इसके स्थान में सहस्रों या करोड़ों गौएँ देकर संतुष्ट कर लेना। तब राजर्षि दिलीप ने उत्तर में यही कहा था—

किमप्यहिंस्यस्तवचेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्थाखलु भौतिकेषु ॥

इसका तात्पर्य यही था कि हे सिंह ! यदि तुम मुझ पर दया करना चाहते हो तो मेरे यश रूपी शरीर पर दया करो। यह पाँच भूतों का बना हुआ अस्थि-मांस मय शरीर तो अवश्य ही एक दिन नष्ट होगा। इसलिये मुझ जैसे पुरुषों की यशः शरीर के समक्ष इस पर कोई आदर बुद्धि नहीं होती। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऐसे पुरुष यश को अपना मुख्य स्वरूप मान लेते हैं और उसकी रक्षा के लिए शरीर का भी बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इसी प्रकार महर्षि

दधीचि के समीप जब इन्द्र ने जाकर कहा कि वृत्रासुर के कारण सम्पूर्ण लोक-समाज त्रस्त हैं और यह विदित हुआ है कि वृत्र का बध आपकी अस्थियों से बनाये हुए शस्त्र से ही हो सकता है, यही निवेदन करने को मैं आया हूँ। तब महर्षि दधीचि ने स्पष्ट कहा कि यदि मेरी हड्डियों के द्वारा शस्त्र बना कर वृत्र का वध होने से लोक समाज का कष्ट दूर हो सकता है तो मैं सहर्ष अपनी अस्थि देने को तैयार हूँ। यह कह कर उन्होंने अपना शरीर अर्पण कर दिया और इन्द्र ने उनकी अस्थि से वज्र बना कर वृत्र का नाश किया जिससे संसार का उपद्रव दूर हुआ। कारण यही था कि महर्षि दधीचि जैसे विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण समाज को अपना स्वरूप ही समझते हैं। जैसा कहा गया है,

उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।

फिर जैसे सम्पूर्ण शरीर के लाभ के लिये सम्पूर्ण शरीर में विष संक्रान्त न हो जाय उसे बचाने के लिये मनुष्य अपनी उँगली कटाने को प्रस्तुत रहता है इसी प्रकार सम्पूर्ण समाज की रक्षा निमित्त अपने एक शरीर को नष्ट कर देने के लिए वे दधीचि जैसे उदार सज्जन प्रस्तुत रहते हैं। उन्हें प्रतिक्षण सम्पूर्ण समाज की स्वरूप रक्षा का ही ध्यान रहता है। सम्पूर्ण समाज ही क्या ब्रह्माण्ड को ही वे अपना स्वरूप मान लेते हैं। इसलिये उनकी धर्म व्याख्या बहुत विस्तृत हो जाती है। इस प्रकार स्वरूप ज्ञान के विस्तार के साथ धर्म का स्वरूप भी विस्तृत होता जाता है।

यह हुआ आधिभौतिक दृष्टि का स्वरूप विस्तार। इसी प्रकार जिन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा की ओर अपना लक्ष्य निश्चित किया हो वे स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर और इनमें अनुस्यूत व्यावहारिक आत्मा और सबके मूल भूत मुख्य आत्मा तक का ज्ञान प्राप्त कर वहीं अपने स्वरूप की स्थिति निश्चित करते हैं। उनके विचार में स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर और उसकी अपेक्षा कारण शरीर और इन सभी की अपेक्षा मुख्य आत्मा की स्वरूप रक्षा आवश्यक होती है। और इस आध्यात्मिक शिक्षा के साथ आधिदैविक शिक्षा का भी योग कर देने पर सर्वात्म भाव अर्थात् सब में एक ही आत्मा के दर्शन का परम सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो जाता है। तब उनका स्व-पर भेद ही मिट जाता है। छोटे से छोटे कीड़े मकोड़े से लेकर ब्रह्म पर्यन्त में एक ही आत्मा का दर्शन करते हैं। तब उनकी धर्म व्याख्या कुछ निराली ही होती है। जैसा कि पौराणिक आख्यान है कि शिवि महाराज के समीप एक कबूतर आकर गिरा और उसने यह दिखाया कि मैं शरणागत हूँ। एक श्येन बाज मुझे खाये जाता है, मेरी रक्षा कीजिए। शिवि महाराज ने झट कहा कि "अभयं शरणागताय", शरणागत को मैं अभय दान देता हूँ। इतने में श्येन भी पीछे झपटता हुआ आया और उसने यह अभिप्राय प्रकट किया कि कपोत को तो अपने शरण में रखकर अभयदान दे दिया, किन्तु यह मेरा आहार था। बिना आहार के क्षुधा से मेरी जीवन यात्रा समाप्त हो जायेगी इसका भी उपाय आपको करना चाहिये। शिवि महाराज ने

सोचा बात तो ठीक है, एक की रक्षा कर दूसरे का हनन कर देना यह तो कोई धर्म की मर्यादा नहीं। उन्होंने झट से अपने मन में निश्चय कर कहा कि इस कपोत शावक के समान तोलकर मैं अपने शरीर का मांस श्येन को दे देता हूँ, जिसे खाकर वह भी अपनी प्राण रक्षा कर लेगा। वस्तुतः वे कपोत और श्येन सच्चे कपोत और श्येन नहीं थे। वह एक शिवि महाराज की देवताओं द्वारा धर्म परीक्षा थी। इसलिए कितना ही मांस काट कर चढ़ा देने पर भी तराजू में कपोत के वजन की बराबरी न हो पाई। अन्ततः शिवि महाराज ने अपना पूरा शरीर ही काट कर तराजू पर चढ़ा दिया। तब आकाश से पुष्प वृष्टि हुई और इस प्रकार वे धार्मिक परीक्षा में पूर्ण उत्तीर्ण माने गए। यह सब सर्वात्मभाव दृढ़ हो जाने पर ही संभव हो सकता है। अस्तु यों स्वरूप रक्षा का विस्तार और उसके साधनों में भी बहुत विस्तार हो जाता है। इसीसे धर्म में बहुत भेद हो जाते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति या समाज ने जितना अपना स्वरूप समझा उसकी रक्षा के प्रयत्नों को ही वहां धर्म मानता गया। भारतीय आर्य जाति ने अनादि काल से ही सबसे पूर्व स्वरूप ज्ञान वा आत्म ज्ञान प्राप्त किया था। इसलिए इनकी धर्म व्याख्या बहुत विस्तृत हुई। अस्तु यह ज्ञान और अज्ञान के कारण धर्म भेद का प्रपञ्च बनाया गया। इसके अतिरिक्त बाह्य और आन्तर स्वरूप में वास्तविक भेद भी बहुत हैं। न सबकी सामाजिक वा कौटुम्बिक परिस्थिति एक सी होती है, न सबके स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर एक से होते हैं इसलिए वास्तविक स्वरूप प्रभेद के कारण उन स्वरूपों की रक्षा के उपायों में भी बहुत भेद होगा। इससे भी देश, काल, पात्र के भेद से धर्मभेद बहुत हो जाता है जिसका निरूपण, गीता व्याख्यानों में यथावसर करेंगे। इस प्रकार स्वरूप का बाह्य विस्तार और आन्तरिक विस्तार समझ लेने पर सबकी रक्षा के उपाय और उनका तारतम्य समझ लेना साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहर है। किस क्रिया से हमारे तीनों शरीरों पर कहाँ अच्छा या बुरा परिणाम होगा वा सम्पूर्ण लोक पर हमारे किसी कार्य का क्या प्रभाव होगा यह बिना आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णता प्राप्त किए कोई नहीं समझ सकता। इसलिए पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न परमात्मा की कृपा से वैसी शक्ति से सम्पन्न महर्षियों के वाक्यों पर ही धर्म का निर्णय भारतीयों ने माना है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिन वेद शास्त्रों के द्वारा धर्म निर्णय हो सकता है उनके अध्ययन का अधिकार भी तो आर्य संस्कृत में सबको नहीं दिया जाता; तब सर्वसाधारण धर्म को समझ ही कैसे सकेंगे, और फिर वे इसे पुरुषार्थ भी कैसे मान सकेंगे। इसका भी उत्तर है कि यह वेद पढ़ने का निषेध भी उनकी हित दृष्टि से है न कि उन्हें वंचित कर उन पर किसी प्रकार का अत्याचार किया गया है। वेद जैसे गंभीर विज्ञान संस्कृत बुद्धि में ही आकर फलप्रद हो सकते हैं। इसलिए जिनके विधिपूर्वक संस्कार हो चुके हों उनका ही अधिकार गंभीर विद्याओं में माना गया है। संस्कार तीन प्रकार के होते हैं, दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनांगपूर्ति। संसार में दो प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं, प्राकृत

और संस्कृत। जिन्हें प्रकृति ने उत्पन्न किया है वे प्राकृत कहे जा सकते हैं और मनुष्य उन्हें अपने उपयोग में लाने के लिए जो संस्कार उनमें करता है, वे संस्कार-सम्पन्न पदार्थ संस्कृत कहे जाते हैं। जिन अन्न, वस्त्र, गृह, पात्र आदि का हम उपयोग करते हैं उन्हें उस रूप में प्रकृति ने उत्पन्न नहीं किए। उदाहरण के लिए पहिले अन्न को ही ले लीजिए। प्रकृति खेतों में जिस दशा में अन्न पैदा करती है वह उसी दशा में हमारे काम में नहीं आ सकता। हम उसे खाने लगें तो हमारे दांत ही छिन्न-भिन्न हो जायँ और उदर की जठराग्नि भी उसे न पचा सके। रुचि की तो बात ही क्या शरीर पोषण भी उससे संभव नहीं। इसलिए पहिले उसका दोषमार्जन संस्कार करना होता है। अनुपयुक्त वस्तु जो उसमें भूसी तुष आदि हैं उन्हें निकाल कर बाहर कर दिया जाता है। आगे उस दोष रहित अन्न में कुटाई पिसाई और अग्निपाक के द्वारा काम में आने योग्य विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं इसी को अतिशयाधान कहा जाता है। फिर भी रुचि के लिए मधुर लवण शाक आदि का सम्बंध भी उन अन्नों से जोड़ दिया जाता है यह हीनांगपूर्ति हुई। तीनों संस्कारों से संस्कृत होकर वह अन्न हमारे शरीर को पोषण देता है। इसी प्रकार वस्त्र को देखिए। जो वस्त्र हम पहिनते हैं उन्हें उसी प्रकार प्रकृति पैदा नहीं करती। प्रकृति ने पैदा की है कपास जो अपने स्वरूप में हमारे उपयोग में कभी नहीं आ सकती। अपने उत्पत्ति स्थान से कुछ मिट्टी आदि का जो सम्बंध उसमें हो गया वा जिस बीज से पौधा बनकर वह पैदा हुआ वह बीज भी इसके स्वरूप में सम्मिलित है: ये वस्तुएँ हमारे स्वरूप में बाधा देनेवाली हैं। इसलिए पहिले दोषमार्जन संस्कार द्वारा उन्हें निकाल बाहर किया जाता है फिर जो स्वच्छ रूई, उसका सूत बनाना, कपड़ा बुनना और कोट आदि के रूप में शरीर पर धारण करने की योग्यता उसमें ला देना यह सब अतिशयाधान है। बाहरी वस्तु बटन आदि लगा देना हीनांगपूर्ति है। इन तीनों प्रकार के संस्कारों से संस्कृत कर वस्त्रों को हम धारण करते हैं।

सभी वस्तुओं की यही दशा है लोहा जिस स्वरूप में खान से निकलता है उसे देखकर कोई यह आशा भी नहीं कर सकता कि यह वस्तु हमारे बड़े काम की होगी, किंतु बड़े-बड़े कारखानों द्वारा पहिले इसका दोषमार्जन होता है। उत्पत्ति स्थान की मलिनता आदि को उससे पहिले निकाला जाता है। फिर लोहार द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में गढ़ाकर वा तेजी के लिए धार दिलाकर अतिशयाधान अर्थात् विशेषता उत्पन्न करते हैं। फिर भी उपयोग में लेने के लिए चाकू में बेंट तलवार में मूँठ आदि लगाकर हीनांगपूर्ति भी जब कर ली जाती है, तब वह सुसंस्कृत लोहा हमारे सब प्रकार के काम में आता है। इन जड़ वस्तुओं के संस्कारों का प्रसार आजकल संसार में बहुत है और दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। सच पूछिये तो यही कला कौशल है। भिन्न-भिन्न जातियों और समाजों को अभिमान होता है कि हम जैसा चाहें वैसा उत्तम से उत्तम वस्त्र बना सकते हैं। हमारे कारखानों में लोहे की अपूर्व वस्तुएँ तैयार हो सकती हैं, इत्यादि। किन्तु भारतीयों को यह

भी अभिमान था कि हम मनुष्य को जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं, इसी उद्देश्य से इनमें मनुष्यों के संस्कारों की भी योजना थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक इसी विषय का प्रकरण है कि यदि कोई अपने पुत्र को मेधावी पंडित बनाना चाहे तो इस प्रकार का संस्कार करे, यदि वीर वा धनी बनाना चाहे तो इसे इस प्रकार का, इत्यादि। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य में उपयुक्त गुण लाकर उसे समाज के लिए पूर्ण उपयोगी बना देना ही संस्कारों का उद्देश्य रहा है।

मनुष्य के संस्कार भी इन तीन प्रकारों में बाँटे जाते हैं, दोष मार्जन, अतिशयाधान और हीनांगपूर्ति। जिस प्रकार अन्न, कपास, लोहा आदि अपने उत्पत्ति स्थानों के दोष अपने साथ लाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी उत्पादक सामग्री वा उत्पत्ति स्थान के दोषों से अत्यन्त दूषित रहता है। उन दोषों को हटाना पहले आवश्यक है। उसी के लिए जन्म क्या गर्भ में आते ही उन संस्कारों का आरंभ हो जाता है। स्मृतिकारों ने स्पष्ट लिखा है कि इन संस्कारों के द्वारा बीज और गर्भ के दोष दूर किये जाते हैं, "बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते" (मनु) "एवमेनोः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्" (याज्ञवल्क्य) संस्कारों के संकल्प में भी बोला जाता है कि 'बीजगर्भसमुद्भवैनो निवर्हण द्वारा परमेश्वर प्राप्त्यर्थमित्यादि।' एनः शब्द पाप या दोष का वाचक है।

यों तो संस्कारों की बहुत बड़ी संख्या भी धर्म शास्त्रों में मिलती है। गौतम धर्मसूत्र में ४८ संस्कार लिखे गए हैं, सुमंतु ने पचीस संस्कार लिखे हैं परन्तु इस युग के उपयोगी तो भगवान व्यास ने अपनी स्मृति में सोलह संस्कार लिखे हैं। वे भी सब के सब तो आज समाज में बहुत कम अंश में प्रचलित हैं परन्तु कुछ संस्कार सभी द्विजों में चलते हैं।

इन संस्कारों की शास्त्रीय पद्धति पर ध्यान दिया जाय तो विचार से स्पष्ट भासित होगा कि ये विधियाँ वैज्ञानिक हैं। इनमें अधिकांश का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। भौतिक विज्ञान के आधार से भी बहुत से कार्य उनमें होते हैं। बालक को सामने बैठाकर माता पिता वेद मंत्रों की सहायता से मन में यह भाव रक्खें कि हम इसका दोष मार्जन व अतिशयाधान कर रहे हैं, तो उस मनोवृत्ति का प्रभाव शिशु के कोमल अन्तःकरण पर अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त पुंसवन और सीमन्तोनयन इन गर्भावस्था के संस्कारों में गर्भिणी के समक्ष वीणावादन और सुललित गायन का विधान सूत्रों में देखा जाता है। उससे भी गर्भिणी के हृदय में एक प्रकार का प्रमोद वा हर्ष होना स्वाभाविक है। उसका प्रभाव गर्भस्थित बालक पर पड़ना मनोविज्ञान की बात है। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे पहले जातकर्म संस्कार में सुवर्ण का अंश घृत और मधु से चाटने की विधि है। भौतिक विज्ञान द्वारा सिद्ध है कि ये तीनों ही पदार्थ शोधक हैं, ये दोषों को दूर कर एक प्रकार की शुद्धता वा पवित्रता प्रदान करते

हैं। जातिमात्र बालक के उदर में पहले ही इन पदार्थों को प्रविष्ट कराना जहाँ शोधन की योजना करेगा, वहाँ उसके कोमल अवयवों को पुष्ट और सुदृढ़ बनाने में भी सहायता देगा। आगे नाम करण संस्कार में किसका कैसा नाम रक्खा जाय इसकी व्यवस्था होती है। शास्त्रों ने विधान किया है कि सामाजिक व्यवस्था भी वर्ग विभाग के अनुसार है। जिससे जैसा काम लेने की आगे व्यवस्था होगी तदनुकूल ही पहले से ही उसका नाम रखना चाहिए। जैसा कि ब्राह्मण के नाम में मंगल और विद्या का सम्बन्ध हो, क्षत्रिय के नाम में वीरोचित प्रभाव प्रतीत होता हो, वैश्य के नाम में धन और स्मृद्धि की बात आती हो। जब ऐसे नामों से वह अपने जीवन में बार-बार सम्बोधित होगा तो उन शब्दों द्वारा उन गुणों पर उसका चित्त निरन्तर आकृष्ट होता रहेगा और उसका प्रभाव बार-बार चित्त पर पड़ने से उन गुणों की स्मृद्धि वा उज्ज्वलता उसमें होती रहेगी। स्त्रियों के नामों में कोमलता होनी चाहिए।

अन्नप्राशन में उसका स्वभाव जैसा बनाना है तदनुकूल अन्न के प्रयोग का विधान स्पष्ट ही मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। चूडाकरण संस्कार में दोषरूप केशों का मार्जन और औषधि आदि मलने से अतिशयाधान का भी समावेश है। अब बड़े संस्कार यज्ञोपवीत का अवसर आता है। यज्ञोपवीत; अतिशयाधान और दोष मार्जन दोनों करता है। इसका भी सम्बन्ध मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों से है। प्राचीन भारतीय प्रथा के अनुसार ८ वर्ष का ब्राह्मण बालक, ११ वर्ष का क्षत्रिय बालक और १२ वर्ष का वैश्य बालक अपने घर नहीं रह पाते थे। उन्हें आचार्य के घर भेज दिया जाता था। आचार्यों के बड़े-बड़े कुल बने रहते थे। जिनमें शतशः छात्र शिक्षा प्राप्त करने के लिए एकत्र हो जाते थे। इसी कारण इस संस्कार का नाम उपनयन रखा गया है। उप अर्थात् समीप में नयन अर्थात् ले जाना। आचार्य द्विज बालकों को अपने घर ले जाते थे। यही उपनयन शब्द का अर्थ है। इस संस्कार में पलास के दंड, मूँज की वा सन की मेखला, मृगचर्म और यज्ञोपवीत नाम के एक बने हुये सूत्र का धारण आवश्यक माना गया है। नियत समय तक कम से कम बारह वर्ष वीर्य रक्षा-पूर्वक आचार्य के घर रह कर ये सब बटु वेद शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करते थे। मूज सन आदि वीर्य रक्षा में उपयोगी हैं, यह भौतिक विज्ञान का सम्बन्ध इस संस्कार में प्राप्त होता है। पलास वीर्य रक्षा में और बुद्धि बढ़ाने में भी सहायता देता है। इसलिए संस्कार में पलास का बहुत उपयोग किया जाता है। पलास का दंड नित्य हाथ में रखना और पलास वृक्ष को जल से सींचते रहना, ब्रह्मचारियों के लिये आवश्यक माना गया है। ब्रह्म नाम है वेद का, उसका चरण अर्थात् ग्रहण करने वाले ब्राह्मण अथवा वेद पढ़ने के लिये शास्त्र विहित कर्मों का आचरण करने वाले, ब्रह्मचारी कहे जाते हैं और उनके इतने काल तक रहने का यह समय ब्रह्मचर्य आश्रम नाम से प्रसिद्ध है। हमारी मनुष्य आदि प्राणियों की

बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है, यह वैदिक विज्ञान बताता है। इसी कारण सूर्य का उपस्थान सूर्य के प्रधान मन्त्र गायत्री का जप आदि इस आश्रम में प्रधान रूप से कर्तव्य माने गये हैं। जिनसे बुद्धि स्वच्छ, परिमार्जित और प्रवृद्ध होकर वैदिक-विज्ञान समझने की योग्यता प्राप्त कर सके। पृथ्वी मंडल में स्थित अग्नि भी सूर्य का ही एक रूप है। तीनों लोकों के अग्नि, वायु, सूर्य ये तीनों देवता परस्पर सम्बद्ध माने जाते हैं, इसलिये अग्नि में नित्य पलास की समिधा का होम करना भी इस आश्रम में आवश्यक माना गया है। पलास के धूम और अग्नि इन दोनों के सम्बन्ध से भी बुद्धि की वृद्धि होती है और उसमें स्वच्छता आती है। यज्ञोपवीत धारण करने के लिए जो यज्ञ-सूत्र बनाया जाता है, वह एक प्रकार से उसका नक्शा है, जिस विद्या का अध्ययन करने लगा है। जैसा आज कल भूगोल आदि की विद्याएँ नक्शे के आधार से पढ़ना ही उत्तम पढ़ाई मानी जाती है। वैसे ही जो वेदविद्या ब्रह्मचारी को पढ़ना है उसका एक नक्शा पहले ही उसके गले में डाल देते हैं। एक ब्रह्म तत्व से सम्पूर्ण प्रपंच बना और प्रपंच को उत्पन्न कर ब्रह्म उसमें स्वयं विराजमान हुआ, यही वेद विद्या में पढ़ना है। उपनिषदों में वर्णन है कि ब्रह्म पहले तीन तत्व उत्पन्न करता है, तेज, अप और अन्न। अप अर्थात् जल और अन्न का अर्थ है पृथ्वी। इन तीनों तत्वों से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण होता है। किन्तु ये तीनों पृथक्-पृथक् जब तक रहे, तब तक जगत् का निर्माण नहीं कर सकते। इसलिए एक-एक में अन्य दोनों के अंश मिलाकर तीनों के सम्मिलित तीन रूप बनाये जाते हैं। बस यही प्रक्रिया यज्ञोपवीत निर्माण में होती है। पहले छानबे अंगुल का एक सूत्र बनाया जाता है, जो पुरुष का एक प्रति रूपक है। पुरुष का मध्यम मान छानबे अंगुल का ही होता है। छोटे से छोटा पुरुष अपने अंगुल से ८४ अंगुल का एवं बड़े से बड़ा १०८ अंगुल का हुआ करतो है। मध्यममान ९६ है। ऐसे ९६, ९६ अंगुल के तीन सूत्र बनाकर उनको बटकर एक किया जाता है और उसकी फिर तीन-तीन की एक लड़ बनाकर उसमें एक ब्रह्मग्रन्थि दी जाती है, जो सबमें ब्रह्म के प्रवेश की सूचक है। इस प्रकार यह जगत् की उत्पत्ति का एक नक्शा हो गया। यह नक्शा गले में डाल कर निरन्तर इस पर ध्यान रखने से ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का भान होने लगता है। दूसरे प्रकार से भी इसका आशय समझा जा सकता है कि परब्रह्म का मुख्य अधिष्ठान सूर्यमंडल है। हम लोग सूर्य के आधार से ही ब्रह्म की उपासना कर सकते हैं। अति सूक्ष्म होने के कारण बिना किसी आधार कल्पना से ब्रह्म तत्व हमारे मन और वाणी में नहीं आ सकता। इसीलिये सूर्य की उपासना ही वेद में विशेषता से आई है। सूर्य के चलने का मार्ग वा पृथ्वी भ्रमण पक्ष में सूर्य जहाँ जहाँ हमें दिखाई देता है, उतना दक्षिण और उत्तर का प्रदेश ४८ अंश का है। अर्थात् मध्य की विषुवत् नाम से कही जाने वाली रेखा से २४ अंश तक दक्षिण और २४ अंश तक उत्तर हम सूर्य को देखा करते हैं। इसका सन्निवेश विषुवत् रेखा पर तिरछे रूप में होता है, इसलिये तिरछे ही रूप में यज्ञ सूत्र धारण कराया जाता है और उन

४८ अंशों में ९ भाग वीथी नाम से किये गये हैं, जिनके अजवीथी, नागवीथी आदि नामशास्त्रों में वर्णित है। इसी आधार पर यज्ञोपवीत में ९ सूत्र बनाये गये हैं और उनमें तीन-तीन को मिलाकर एक-एक सूत्र बनाया जाता है। तीनों पर विराजमान ग्रन्थि सूर्य का संकेत करती है अर्थात् ९ वीथियों में सूर्य विचरण करते हैं। इस प्रकार बड़े-बड़े गम्भीर विषयों का प्रतिरूप यह सूत्र निरन्तर गले में पड़ा रहने से और आचार्य के सिखाये क्रम से इस पर ध्यान बना रहने से वेद की यह गम्भीर विद्या बुद्धि गम्य हो जाती है। इन बातों के अतिरिक्त यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर नियतकाल तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर जो वीर्य रक्षा की जाती है और उसके ही सब साधन इस आश्रम में प्रस्तुत रहते हैं, ये सब शरीर और बुद्धि दोनों के पूर्ण पोषक हैं। इस बात को सभी वैज्ञानिक मानते हैं। आजकल जो बातें समाज के लिये हितकर मानी जाती हैं और जिनका प्रचार बड़े प्रयत्न से किया जाता है, वे बाल्य-विवाह निषेध आदि उस समय सामान्य प्रथारूप में प्रचलित थे। ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पूर्व कोई विवाह कर ही नहीं सकता था और ब्रह्मचर्य की अवधि छत्तीस वर्ष, २४ वर्ष वा अन्ततः १२ वर्ष अवश्य मानी जाती थी। आठ, ग्यारह या बारह वर्ष का बालक वर्ण क्रमानुसार जब उपनयन संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य में प्रविष्ट हो और १२ वर्ष ब्रह्मचर्य साधन करे, तब कम से कम २१ वर्ष की अवस्था तो उसकी हो ही जायगी, इससे पूर्व तो विवाह की प्रथा ही नहीं थी और भिक्षाचर्या द्वारा प्रत्येक स्त्री को माता कहने का उसे अभ्यास कराया जाता था। इस प्रकार के वीर्यरक्षापूर्वक ब्रह्मचर्य से ही वेद विज्ञान समझने की योग्यता प्राप्त होती थी। उस आश्रम के आहार व्यवहार आदि भी ऐसे ही नियत किये गये हैं जो वीर्य रक्षा में पूर्ण सहायक हो। नित्य की अग्निपरिचर्या सन्ध्योपासनादि कर्म भी बुद्धि के परिमार्जक और शरीर के लिये पुष्टिप्रद है। सबसे बड़ी बात इस संस्कार में है आचार्य की दीक्षा। आचार्य अपने आत्मबल का उस बटु में सन्निवेश करता है, इसी का नाम दीक्षा है। संस्कार में मन्त्र भी ऐसे ही बोले जाते हैं जिनसे शिष्य के मन, प्राण, वाक् आचार्य के अनुगामी बने। आचार्य वे ही होते थे, जिन्होंने बड़े परिश्रम से आत्मबल संपादित कर लिया है, उनके अपने आत्मबल के समर्पण से ब्रह्मचारी की बुद्धि चमक उठती थी और वह गम्भीर वेद समझने के योग्य हो जाता था। आचार्य की परिचर्या भी इस आश्रम में अत्यावश्यक कर्तव्य माना गया है। उससे उनके साथ निकट सम्बन्ध स्थापित होने के कारण प्रतिदिन बुद्धि की वृद्धि होती रहती थी और परिचर्या से प्रसन्न होकर वे जो आशीर्वाद देते थे उससे इस बटु का आत्मबल अधिक बढ़ता जाता था। इन सब कारणों से यज्ञोपवीत संस्कार एक बड़े महत्व का संस्कार है और बिना इस संस्कार के वेदादिशास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं दिया जाता; जो उन पुरुषों की विद्या थी और जगत के हित की दृष्टि से ही नियमित है। अस्तु, यह सिद्ध किया गया कि इस प्रकार संस्कृत बुद्धि में ही वैदिक गम्भीर विज्ञान सम्यक् रूप में प्रविष्ट हो सकता है। असंस्कृत बुद्धि उसका ग्रहण नहीं कर सकेगी, अथवा उलटे विपरीत भाव ग्रहण करेगी।

इसीलिए संस्कृत द्विजातियों का वेद में अधिकार माना गया है। संस्कार भी सबके नहीं किये जा सकते, क्योंकि अतिशय उत्पन्न करने के लिए आधार (medium) भी उपयुक्त चाहिए। अन्यथा अतिशय के स्थान में उलटी हानि हो जाती है। इसलिए जिन द्विजातियों में कुल परम्परागत संस्कार चल रहे हैं, वे ही उस अतिशय को सहन कर सकते हैं। उनका ही संस्कार किया जाता है और उन्हें ही वेद आदि उच्च तथा गम्भीर शास्त्रों के अध्ययन का अधिकार दिया जाता है। तब सर्वसाधारण को धर्मज्ञान हो, इसका उपाय यही है कि वे उन विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करें।

वे उन्हें उनके अधिकार के अनुरूप सरल मार्ग से उनका धर्म बतला देंगे। व्यवहार में भी ऐसा होता ही है। सब मनुष्य अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए पूरा ज्ञान नहीं रख सकते। जब रोग हो जाय तब चिकित्सा के लिए डाक्टर के पास जाना ही पड़ता है। कोर्ट का काम पड़ जाय तो वकील की शरण जाना पड़ता है, इसी प्रकार धर्मज्ञान के लिए अज्ञपुरुषों को धर्म गुरूओं के पास जाना पड़े तो इसमें नई बात क्या है। अस्तु, प्रसंगागत विषय के विस्तार में हम बहुत दूर चले आये। प्रकृत विषय यही था कि त्रिवर्ग में धर्म मुख्य है। यह धर्म शब्द का विचार करने पर सबकी दृष्टि में सिद्ध हो जाता है। क्योंकि स्वरूप रक्षा के लिये अर्थ और काम सबसे प्रथम आवश्यक है। और उसका मुख्य साध्य भी मोक्ष ही है। श्रीमद्भागवत में आरंभ में ही चारों पुरुषार्थों के प्रयोजन दिखाते हुए स्पष्ट बतलाया है कि धर्म का प्रयोजन अर्थ को मानना अर्थात् लौकिक उन्नति के लिए धर्माचरण करना बड़ी भूल है, धर्म का अपमान है। इसका प्रयोजन मोक्ष ही मानना चाहिए। इसी प्रकार अर्थ अर्थात् धनोपार्जनादि का प्रयोजन भी धर्म में उसका उपयोग करना मानना चाहिए, न कि काम सुख भोग में। काम का प्रयोजन भी इन्द्रिय तृप्ति न मानकर केवल जीवन रक्षा मानना चाहिए अर्थात् आहार-विहार आदि जीवन रक्षार्थ हैं, न कि इन्द्रिय तृप्ति के लिए। और जीवन तत्त्व ज्ञान के लिए होना चाहिए, न कि साधारण कर्मों के लिए।

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता
जीवस्य तत्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

॥ भागवत १ स्कन्ध, २ अध्याय ९-१० श्लोक।

अतः भारतीय संस्कृति की दृष्टि में सबका चरम लक्ष्य मोक्ष होने के कारण गीता का भी मुख्य प्रयोजन मोक्ष ही माना गया है। किन्तु अवान्तर प्रयोजन धर्म निर्णय वा कर्तव्य का ज्ञान है यह अवश्य ही सिद्ध होता है।

इस विचार से अपने जीवन क्रम का सफलता से निर्वाह करने वाले मनुष्य मात्र ही गीता के अधिकारी हो जाते हैं और कर्तव्य निर्णय इसका विषय माना जा सकता है। कर्तव्य निर्णय शास्त्र के आधार पर ही अवलम्बित है यह सिद्ध कर चुके हैं और शास्त्रज्ञान के लिए गुरू की आवश्यकता है। अतः अर्जुन ने भगवान को ही उस समय अपना गुरु बनाया।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि अर्जुन भी तो विद्वान् था, शास्त्र जानता था। वह स्वयं भी धर्माधर्म का निर्णय क्यों न कर सका। इसका उत्तर है कि शास्त्र के वचनों में जहाँ अपनी दृष्टि से विरोध प्रतीत होता हो वहाँ निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है और अकस्मात् घबड़ाहट में पड़ा हुआ मनुष्य विद्वान् होने पर भी निर्णय में असमर्थ हो जाता है।

शास्त्र में यह भी निर्णय मिलता है कि—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

जो विष प्रदान, अग्निदाह, शस्त्र प्रहार आदि के द्वारा अपना वध वा अपकार करने को उद्यत हो उसे मार ही देना चाहिए चाहे वह गुरू हो, बालक हो, वृद्ध हो वा वेदान्त का वेत्ता ब्राह्मण ही क्यों न हो। किन्तु ऐसा भी वचन बहुत है कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अर्थात् ब्राह्मण को कभी न मारना। गुरू का सदा हित ही करना, प्राणिमात्र की हिंसा न करना इत्यादि। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य स्मृति में एक वचन आता है कि—

अर्थशास्त्रात्तुवलवद्धर्मशास्त्रमितिस्थितिः

अर्थ प्रधान नीति-शास्त्र की अपेक्षा धर्म-शास्त्र बलवान होता है। अर्थात् विरोध होने पर नीतिशास्त्र को न मान कर धर्मशास्त्र की ही आज्ञा माननी चाहिए। अर्थात् गुरु ब्राह्मण आदि अपने को मारने के लिए भी उद्यत हो तो भी उन्हें नहीं मारना चाहिए। मिताक्षराकार ने तो यहाँ तक भी कहा है कि वह नीतिशास्त्र का बचन भी केवल कैमुतिक न्याय है। गुरु ब्राह्मण आदि के मार देने में उसका भी तात्पर्य नहीं। किसी विशेष बात पर जोर देने के लिए जहाँ अधिक अत्युक्ति कर दी जाय, उसको कैमुतिक न्याय कहते हैं। जैसे किसी के घर पर भोजन करने का निषेध करता हुआ कोई गुरुजन अपने शिष्य आदि को ऐसा उपदेश दे कि चाहे विष खालो, किन्तु इसके घर मत खाओ। यहाँ कहने वाले का तात्पर्य विष खाने में नहीं होता किन्तु इसके घर पर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है, यही तात्पर्य होता है। ऐसे अवसर में ही कैमुतिक न्याय कहा जाता है। नीतिशास्त्र के वचन में भी यही आशय रक्खा गया है कि चाहे गुरु या ब्राह्मण भी क्यों न हो आततायी को

मार ही देना चाहिए। इसका तात्पर्य आततायी को मारने में जोर देना ही है। गुरु ब्राह्मण आदि के मार देने में उनका तात्पर्य ही नहीं है। ऐसे तात्पर्य की अभिव्यक्ति अपि और वा आदि शब्दों से की जाती है।

उक्त श्लोक में भी "वा" शब्द आया है। इसका समानार्थक पद्य जो दूसरी जगह मिलता है उसमें गुरुंवा ब्राह्मणं वापि ऐसा अपि शब्द भी प्राप्त है। अस्तु आशय यही है कि अर्जुन के सामने जो जटिल समस्या थी उसका शास्त्र वचनों से भी निर्णय हो जाना सहज नहीं था। इसीलिए वह भगवान् कृष्ण को गुरु बनाकर उनकी शरण में गया।

अब एक प्रश्न और होता है कि अर्जुन के सामने अकस्मात-तो यह समस्या नहीं आयी थी इन्हीं गुरु, बान्धवादि को मारने की वह वर्षों से तैयारी कर रहा था। भीष्म, द्रोण आदि को जीतने के लिए ही व्यास देव ने मन्त्र का उपदेश देकर उसे तपस्या के लिए भेजा था। वहाँ बड़ा कठिन तप कर उसने इसी विजय के लिए शस्त्र अस्त्र प्राप्त किए थे। आगे भी सन्धि का प्रस्ताव लेकर गये हुए संजय की बहुत कटु शब्दों में अर्जुन ने ही भर्त्सना की थी, फिर इतने काल से तैयारी करके युद्ध में सम्मुख आकर अचानक यह व्यामोह क्यों। यह बात समझ में नहीं आती इसलिए यह गीता की घटना केवल काल्पनिक जान पड़ती है, किन्तु ऐसा प्रश्न वे ही सज्जन उठा सकते हैं—जिनने सांसारिक परिस्थिति का कभी अनुभव न किया हो। संसार में ऐसे अवसर बहुतों को प्राप्त होते हैं कि पहले बहुत कुछ तैयारी करके भी कार्य के ठीक अवसर पर मन हिचक जाता है। विशेष कर जीव हत्या के प्रसंग में तो ऐसी अवस्था प्रत्येक सहृदय पुरुष की होती है। शस्त्र उठा कर भी प्रहार करने में वह वार-बार रुकता है। प्राचीन और नवीन इतिहासों में भी इसके दृष्टान्त बहुत हैं। किसी को कार्य काल में क्षोभ होता है और किसी को कार्य कर डालने के अनन्तर पश्चात्ताप रूप क्षोभ आता है। यहीं महाभारत में अर्जुन को युद्धारम्भ में क्षोभ हुआ और युधिष्ठिर को विजय प्राप्ति के अनन्तर पश्चात्ताप हुआ। वे राज्याभिषेक कराने को प्रस्तुत न होते थे। भगवान् कृष्ण ने ही बहुत कुछ समझा कर उनका भी क्षोभ दूर किया था। इसी प्रकार बहुत बड़ी तैयारी से और बहुत कष्ट उठाकर लंका विजय प्राप्त करके भी भगवान् रामचन्द्र ने सीता का ग्रहण करने को अनुचित मान लिया था। जिस पर सीता को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। आधुनिक इतिहास में भी अशोक युद्धों में बहुत सी हिंसा करके अन्त में विरक्त हो गया था और आगे सर्वथा युद्ध करना छोड़ चुका था। इसलिए उसका नाम चंडाशोक से धर्माशोक हो गया। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि पहिले युद्ध उसने अविचारित ही किए थे। किन्तु बात यही है कि किसी समय किसी कार्य का चित्तवृत्ति पर विशेष प्रभाव पड़ता है यह स्वाभाविक है। भोजप्रबन्ध कर्ता ने मुञ्ज का जो इतिहास लिखा है उसमें भी यही बात है कि मुञ्ज अपने भतीजे भोज के मारने की आज्ञा देकर आगे पश्चात्ताप में पड़ा

था। महाराष्ट्र वीर शिवाजी की विजय के लिए उसके नगर में पहुँच कर भी जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह जी उनके समझाने से विचार में आकर शिवाजी के पक्ष में हो गये थे। महाराणा प्रताप का दृष्टान्त तो बहुत कुछ इस प्रसंग से मिलता जुलता है। बादशाही सेना से घिरकर जब वे विपद्ग्रस्त होने को ही थे और उनके सरदार राणा झाला ने जब छत्र-चवर अपने सिर पर लेकर उनको बचाने के लिए भगा दिया उस समय इस घटना को उनका सौतेला भाई पृथ्वी सिंह जान गया और उसने जहाँ भी मिले मार डालने के लिए उनका पीछा किया। क्योंकि वह इनसे विरुद्ध होकर सम्राट अकबर से मिल चुका था और उसकी सेना के साथ ही युद्ध में आया था, किन्तु जब बहुत बड़ी नदी पार कर जाने के कारण महाराणा प्रताप के घोड़े चेतक का दम टूट गया और महाराणा असहाय रह गये। उस समय पृथ्वी सिंह ने उन्हें जा पकड़ा और उसी समय उसकी चित्तवृत्ति बदल गयी। वह हाथ से खड्ग फेक कर महाराणा प्रताप के गले लिपट गया एवं दोनों भ्राताओं ने अश्रुधारा में बैर को बहा दिया। विदेशी इतिहास में भी प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर ने कोरियोलेन्स का चरित्र ऐसा ही लिखा है कि रोमन देशवासियों के द्वारा निष्कासित होकर वह रोमन शत्रुओं से मिल गया था और साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा कर उन्हें रोम देश पर चढ़ा लाया था, किन्तु समय पर उसमें मातृ भूमि का प्रेम उदित हुआ और अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर वह देश की रक्षा में अग्रसर हो गया। अस्तु ऐसे दृष्टान्त संसार में बहुत बड़ी तैयारी करके भी समय पर मनुष्य का मन फिर जाता है। इसलिए अर्जुन का मोह अस्वाभाविक नहीं और इसलिए गीता का उपदेश भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। यों गीता के विषय अधिकारी आदि का स्पष्टीकरण इस प्रवचन में किया गया।

॥ द्वितीय पुष्प ॥

गीतोक्त धर्म निर्णय का आधार

प्रथम प्रवचन में कह आये हैं कि लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-रहस्य में भारतीय संस्कृति में धर्म की पूर्णता के लिये उसका आत्मा से सम्बन्ध समझना आवश्यक माना है। वस्तुतः भारतीय वैदिक सनातन धर्म की यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि जहां संसार के अन्य-धर्मावलम्बी दार्शनिकों ने धर्म का सम्बन्ध केवल शरीर से अथवा एक मात्र मन से माना है, वहां सनातन-धर्मानुयायी महर्षियों ने अपनी अध्यात्म दृष्टि से देख लिया कि केवल शरीर या केवल मन के साथ धर्म का सम्बन्ध मानने से धर्म सर्वथा अधूरा रहता है, न उसकी स्थिरता होती है, न पूर्णता। इसलिए उन्होंने पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल-शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि से संवलित-आत्मा के साथ धर्म का सम्बन्ध माना है। अन्य देशीय विद्वानों के मत पर थोड़ा बहुत दृष्टिपात किए बिना महर्षियों के इस सिद्धान्त का महत्त्व समझ में आना कठिन है, और बिना धर्म का आत्मा से सम्बन्ध समझे भगवद्गीता के अध्यात्म निरूपण का कारण भी ठीक नहीं समझा जा सकता। इसलिये संदेह ही बना रहता है कि गीता में यह इतना अध्यात्म प्रपंच क्यों किया गया। इसी से बहुतों को शंका रहती है कि गीता वस्तुतः महाभारत का अंश है वा पीछे से किसी ने जोड़ दी है। इस कारण हम केवल शरीर अथवा केवल मन के साथ सम्बन्ध मानने वालों के मत का यहां दिग्दर्शन कराते हैं। इस विषय का विवेचन लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक ने "गीतारहस्य" में बहुत विस्तृत रूप से किया है, उसी का कुछ सार यहाँ अपनी भाषा में उद्धृत किया जाता है।

एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध केवल स्थूल शरीर को ही आत्मा मानने वाले चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन के आचार्यों ने मन, बुद्धि, आत्मा और परलोक का निषेध करके यह स्थिर किया है कि स्थूल शरीर से भोगने योग्य विषय सुख ही परम सुख है, और इन सुखों को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। इनके सिद्धान्त से समाज सेवा देश सेवा और परोपकार आदि महान् गुण तो एक ओर रहे, अपने ही स्त्री-पुत्र आदि का पालन-पोषण भी यदि अपने शरीर के लिए कष्टदायक हो तो अधर्म कहलाएगा। परलोक-गत माता पिता आदि के उद्देश्य से अन्न दान करना तो दूर की बात है, इस जन्म के अपने लिए हुए ऋण से उऋण होने में शरीर को कष्ट हो, तो वह उऋण होना भी अधर्म सिद्ध होगा। इनका तो भेरी नाद है कि:—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥" इत्यादि,

अर्थात् जब तक जीवे सुख से जीवे, ऋण लेकर भी घी-दूध पीवे, मरने के बाद देह की भस्म बने पीछे यहाँ कैसे और कहाँ से कोई आएगा।

इस सिद्धान्त का जन्म अध्यात्म विद्या की एक मात्र आश्रय भूमि भारतवर्ष में ही हुआ था। किन्तु अब इस धर्म के अनुयायी न तो भारत में हैं और न विदेशों में ही कहीं यह मत प्रचलित है, यद्यपि आजकल युरोप में मान्य मार्क्सवाद के जीव की उत्पत्ति के सिद्धान्त इसी दर्शन से मिलते जुलते हैं तथापि उनपर युरोप के विद्वानों का भी अभिनिवेश नहीं। मार्क्सवाद का आदर सामाजिक स्थिति के लिए ही वहाँ वर्तमान में है। उनके आध्यात्मिक विचारों को तो गौण ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त गीता में अध्यात्मविषय का बहुत विस्तार आवेगा—वहीं प्रसंगागत शरीरात्मवाद की आलोचना होती जायगी। इसलिये इस पर यहाँ विशेष लिखना व्यर्थ है। इस मत का संकेत मात्र करना ही यहाँ पर्याप्त है। हाँ, इतना समझ लेना आवश्यक है कि केवल स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से और केवल स्थूल शरीर के सुखमात्र को लक्ष्य में रखने से उक्त सिद्धान्त को "भौतिक" वाद कहते हैं। यद्यपि इस भौतिकवाद का जन्म भारतवर्ष में ही हुआ, किन्तु अध्यात्म-तत्त्व-वेत्ता भारतीय महर्षियों के सामने भारतवर्ष में भौतिकवाद चिरस्थायी न हो सका। भारत से बाहर के बहुत से देशों में अब भी भौतिकवाद का ही वशेष महत्त्व है, किन्तु उक्त भौतिक वाद की अपेक्षा आज का भौतिक वाद बहुत अंशों में विकसित और परिष्कृत है। परिष्कृत भौतिक वाद के आचार्यों का कहना है कि सुख की इच्छा यद्यपि शरीर के लिए ही उत्पन्न होती है, किन्तु वह केवल अपने शरीर तक ही सीमाबद्ध नहीं रहती। अपने ही सुख के समान दूसरों के सुख का भी ध्यान रखने से मनुष्य को अव्याहत सुख मिल सकता है, अन्यथा, अपने सुख के लिए किए गए प्रयत्नों से यदि दूसरों को दुःख होगा तो दूसरे लोग उसके सुख में बाधक बनेंगे, इससे अभीप्सित सुख की सिद्धि नहीं होगी। इसलिए अपने सुख के साथ ही सबके सुख का ध्यान रखना आवश्यक है। इस प्रकार के उदार विचार आते ही इस मत में भी अहिंसा, दान, परोपकार, दया, उदारता, कृतज्ञता, नम्रता और मित्रता आदि शुभ गुणों का प्रादुर्भाव और इनके विपरीत हिंसा आदि दोषों का मार्जन, स्वभावतः हो जाता है। अर्थात्—मनुष्य में, अपने शत्रु को मारने की इच्छा के साथ ही; यह भय भी उत्पन्न होता है कि इसकी हिंसा का बदला, कोई इसका निकट सम्बन्धी, मेरी प्रतिहिंसा से लेगा, तब वह हिंसा को बुरा और अहिंसा को अच्छा समझकर, हिंसा का त्याग और अहिंसा का आश्रयण करता है। दया दान आदि के समय भी मनुष्य के हृदय में यही दूर दृष्टि काम करती है कि यदि दूसरों की दीन हीन दशा पर दया करके मैं दान आदि से उसकी सहायता करूँगा तो भविष्य में ऐसी दशा होने पर धनी लोग मेरी भी सहायता करेंगे। इस प्रकार सारे सद्गुणों का, अपना निज का, स्वार्थ ही मूल कारण है। इस मत में परोपकार भी एक दूर दर्शिता का स्वार्थ ही

है। यह मत यूरोप के प्राचीन हाब्स (अंग्रेज) और (हैल्वेशियस) (फ्रेंच) आदि विद्वानों का है। इस ही बात को प्रकारान्तर से यों समझिये कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह जंगल के सिंह, व्याघ्र आदि की तरह अकेला रहकर संतुष्ट नहीं होता। दूसरों के साथ मिलकर रहने की इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसीलिये अपने अपने शरीर के सुख दुःख के समान अपने समाज के दूसरे साथियों के सुख दुःख का विचार भी इसे आवश्यक है। यदि यह ऐसा न करे, तो दूसरे भी इसका विचार न करते हुए इसके सुख में बाधक होंगे। तब बहुतों के संघर्ष (मुकाबिले) में यह अकेला कैसे सुख पा सकेगा। इसलिये परोपकार, क्षमा, दाक्षिण्य, सत्य, अहिंसा आदि की शिक्षा इसे लेनी ही चाहिए।

जो कुछ भी हो, भौतिकवाद के इस विकास में धर्म अधर्म का कुछ स्वरूप बन जाता है। इस धर्म अधर्म की परिभाषा को हमारे शास्त्रों की धर्म विवेचन की पद्धति में भी स्थान दिया गया है—

"श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यदन्यै र्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥"

अष्टादश पुराण और महाभारत आदि ग्रन्थों के रचियिता श्री व्यास जी कहते हैं—"मैं धर्म का सर्वस्व सार बतलाता हूँ, इसे ध्यान से सुनो और कभी न भूलो (व्यवहार में लाओ)-कि-जो कर्म अपने आप को दुःखदायी हों, उन्हें दूसरों के लिए भी (कभी) न करो। आत्मा के प्रियाप्रिय जानने वाले पुरुष को चाहिये कि दूसरों के द्वारा किया जो काम उसे अच्छा न लगे, उसे दूसरों के लिये कभी न करे। इन पद्यों में उक्त आधिभौतिक मत का भाव अति स्पष्ट है। इनका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि कोई हमें मारता, पीटता, या गाली देता है, अथवा झूठ बोलकर हमें धोखा देता है—तो हमें बहुत बुरा लगता है। इसलिये हम भी ऐसे काम दूसरों के साथ न करें। साथ ही कोई हम पर सहानुभूति वा दया दिखलाता है तो हमें अच्छा लगता है, इसलिये हम भी दूसरों के साथ ऐसे व्यवहार करें। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है है कि आधिभौतिकवादियों के ये सिद्धान्त कहीं से नये नहीं उतरे, वे आर्य महर्षियों के विचारों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। किन्तु आर्य महर्षि इतने ही पर अवलम्बित नहीं होते। वे इसे ही धर्म अधर्म की एकमात्र कसौटी नहीं मानते। इसमें धर्म का उच्च आदर्श नहीं, यह तो धर्म की व्याख्या का ककहरा मात्र है—आरम्भिक परिभाषा होने के कारण ही उक्त पद्यों में इन विचारों को इतना महत्त्व दिया गया है। कह चुके हैं कि इस मत का परोपकार स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर है। इसलिये जहाँ स्वार्थ और परोपकार का विरोध होगा

वहाँ इस मत का अनुयायी स्वार्थ का ही पक्षपाती बनेगा। इतना ही क्यों, इस मत में ढ़ोंग को भी पूरा स्थान मिलता है। हम दूसरों को इसलिये नहीं सताते हैं कि दूसरे भी हमें न सतावें। किन्तु हम अपना बाह्य ढ़ोंग दूसरों की भलाई का रक्खें, उन्हें यह दिखाते रहें कि हम उनका भला करने में ही कटिबद्ध हैं, और भीतर ही भीतर उनकी खूब जड़ काटते रहें—अपने चातुर्य से अपनी पोल खुलने न दें—तब क्या दोष ? एक आदमी इसलिये सत्य बोलता है कि लोग उसपर विश्वास करें, जिससे उसका व्यापार या रोजगार बढ़ता रहे, किन्तु एक बार अपने सत्य की प्रतिष्ठा जमाकर बड़ी चतुरता से अब वह झूठ से भी स्वार्थ साधन करता जाय, केवल अपने सत्य की कलई चतुरता से खुलने न दे, तो उसके धर्म में तो कोई बाधा नहीं। तब सत्य की रक्षा के लिये हरिश्चन्द्र का राज पाट व स्त्री-पुत्र आदि को त्याग देना तथा एक कपोत की रक्षा के लिये शिवि महाराज का अपने शरीर का मांस काटकर तराजू पर चढ़ा देना—वा लोक-कल्याण के लिये महर्षि दधीचि का अपनी अस्थि दे देना—इत्यादि उच्च आदर्शों की तो इस मत में कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिये व्यवहार निर्वाहक नीति इसे भले ही कह लीजिये, "धर्म" कहलाने की योग्यता इस मत में नहीं मानी जा सकती।

इससे भी कुछ आगे बढ़कर पाश्चात्य विद्वान् बटलर ने इस मत का खण्डन करके यह स्थिर किया है कि "स्वार्थ के समान परोपकार भी प्राणीमात्र का स्वाभाविक धर्म है। यदि ऐसा न होता तो महाहिंसक सिंह व्याघ्र आदि क्रूर स्वभाव वाले पशु भी अपने बच्चों का पालन करते न देखे जाते। पक्षियों का दूर से चुगा लाकर अपने बच्चों को पालना इस प्रवृत्ति का अति स्पष्ट उदाहरण है। इसलिये परार्थ को दूर दृष्टि का स्वार्थ न कहकर उसे भी स्वतन्त्र रूप से धर्म मानना ही युक्ति-युक्त है। स्वार्थ के समान परोपकार को भी प्रधानता देकर ही नैतिक कार्य-अकार्य अथवा धार्मिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिये। किन्तु इनके मत के अनुसार भी स्वार्थ और परार्थ दोनों ही जगह "अर्थ" पद से सांसारिक सुख ही गृहीत हुआ है। सांसारिक सुख से परे यहाँ कुछ भी नहीं है। इसलिये इन सबको आधिभौतिक वाद में ही गिना जाता है। इनसे भी कुछ आगे बढ़े हुवे वा इस मत को चरम सीमा तक पहुँचने वाले बैन्थावे और मिल आदि विद्वानों का कहना है कि एक मनुष्य के भौतिकसुख को नहीं, सब मनुष्यों के सुख के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर नैतिक कर्तव्याकर्तव्य स्थिर करना चाहिये।

इस प्रकार कार्य अकार्य अथवा धर्माधर्म की यह परिभाषा बनती है कि—जिस कार्य को करने से सबको सुख हो वह कार्य धर्म और जिससे सबको दुःख हो वह कार्य अधर्म है। अब यहाँ विचारने की बात यही है कि यदि सुख शब्द से शारीरिक सुख ही लेते हैं, तो ऐसा संसार में एक भी कार्य दृष्टि में न आयेगा जिससे सबको अर्थात् प्राणीमात्र को अथवा मनुष्य मात्र को

सुख हो। यदि हम चोरी के लिए दण्ड-विधान बनाते हैं तो चोरी की आदत वालों को तो उससे सुख के स्थान में कष्ट ही होता है। द्यूत, व्यभिचार, मद्यपान आदि की रोक से उनके व्यसनी हजारों व्यक्तियों को कष्ट पहुँचाता ही है। यदि कहें कि मक्खी को घृत विष है, तथापि अन्य प्राणियों के लिए अमृत होने के कारण जैसे घृत अमृत ही कहलाता है, उसी प्रकार कुछ को अनिष्टकर होने पर भी जो कार्य अधिक मनुष्यों को सुखकर हो, वह धर्म कहायेगा और इसके विपरीत अधिक जनों को दुःख पहुँचाने वाला कार्य अधर्म। किन्तु यह बात भी विचार के सामने ठहरने योग्य नहीं है। क्योंकि एक तो सुख दुःख का निर्णय इतना सरल नहीं कि इसे संख्या की न्यूनाधिकता पर छोड़ा जा सके। सोचिये कि किन व्यक्तियों की गणना पर आप यह निर्णय छोड़ेंगे ? यदि जिनके कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार किया जा रहा है उन्हीं पर छोड़ा जाय, तो महान् अनर्थ यह होगा कि लड़कों का पढ़ना पढ़ाना ही बन्द हो जायगा। क्योंकि बालकों में अधिक संख्या ऐसों की ही होती है, जो पढ़ने को दुःखदाई समझते हैं। तब अधिकों के सुख का विचार कर बच्चों को पढ़ाना अधर्म सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि बच्चों की बात नहीं करते, समझदार मनुष्यों के अधिक भाग के सुख का विचार करना है, तो भी किंचित् सोचने पर यह बात बुद्धि में आ जायगी कि कोई भी नियन्त्रण का नियम बनाने पर समझदारों के हृदय में भी थोड़ा बहुत कष्ट होता ही है। प्लेग विशूचिका आदि संक्रामक रोग के फैलने के समय रक्षा के उद्देश्य से ही क्वारण्टाइन बनाई जाती है, वा उन देशों में अन्य पुरुषों का यातायात बन्द करने के लिये उन स्थानों का टिकट रोका जाता है किन्तु अधिकांश लोग अपने यातायात में विघ्न होने के कारण उसे कोसते ही हैं। परस्पर कलह के समय सुख के लिये ही करफ्यू आर्डर चलाया जाता है, किन्तु अधिकांश जनता को वह अखरता ही है। बहुधा सुख-मधुर और परिणाम-कटु विषयों में सुख-दुःख को पहिचान लेना सबका काम नहीं है। ऐसे स्थलों में अधिक मनुष्यों को सुख का हेतु होना धर्माधर्म का निर्दुष्टलक्षण नहीं कहा जा सकता। इस दोष को हटाने के लिये यदि सुख शब्द के साथ अधिकांश शब्द और जोड़ा जाय, अर्थात् थोड़ा तात्कालिक कष्ट भले ही हो, तो भी अधिक लोगों को अधिकांश सुख जिसमें हो—वह धर्म है—यह परिभाषा बनाई जाय, तो भी निर्वाह नहीं होता। क्योंकि संसार में कितनी ही बार कौरव पाण्डवों के से झगड़े सामने आते दिखाई देते हैं, जिनमें न्याय पक्ष में कम और अन्याय पक्ष में मनुष्यों की संख्या अधिक होती है। दुर्योधन के पक्ष में मनुष्यों की संख्या अधिक थी, इससे अधिक मनुष्यों को अधिकांश सुख दुर्योधन की जीत से ही होता, तो भी दुर्योधन की जीत को धार्मिक पक्ष की जीत कभी नहीं कहा जा सकता था। यही क्यों ? आज संसार भर मान रहा है कि—हजरत ईसा के अपना मत प्रचार करने से बहुत बड़ा लाभ हुआ, किन्तु उस समय के अधिकांश मनुष्यों ने उसे अधिकांश हानिकर समझ हजरत ईसा को कितने कष्ट पहुंचाये ? तब क्या वह प्रचार

उस समय अधर्म था, और आज धर्म बन गया ? यदि उस समय अधर्म समझ उसे छोड़ दिया जाता तो आज उसका प्रचार होता कहाँ से ? इससे सिद्ध है कि इस मत में धर्म अधर्म की कोई स्थिर भित्ति नहीं। इसीलिये समझदार लोग कहा करते हैं कि अधिकतर मनुष्यों के झूठ बोलने वाले हो जाने पर भी सत्य की प्रतिष्ठा कम नहीं हो सकती। अधिक लोग कहीं रोगी हो जांय, तो भी स्वास्थ्य का मूल्य कम नहीं हो सकता सुतराम्, "वोट के" आधार पर धर्म, अधर्म का निर्णय हो नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि कई स्थल ऐसे सामने आते हैं जिनमें अधिक लोगों का अधिकांश सुख होते हुए भी उन सुखकर कामों को अधर्म ही कहना पड़ता है, इसका एक उत्तम उदाहरण लोकमान्य तिलक ने अपने "गीता रहस्य" में यह दिया है कि—अमेरिका देश के एक बड़े शहर में ट्रामवे की बड़ी भारी आवश्यकता थी, इसके बिना वहाँ के लोगों को बहुत कष्ट था। ट्रामवे कम्पनी भी वहाँ ट्राम्वे चालू करना चाहती थी। किन्तु बिना राजकीय आज्ञा के यह असम्भव था। अस्तु राजकीय आज्ञा प्राप्त करने के लिये कम्पनी ने अधिकारियों से प्रार्थना की। आज्ञा मिलने में बिलम्ब होता देखकर कम्पनी के स्वामियों ने राजकीय अधिकारियों को उत्कोच (रिश्वत) देकर ट्राम्वे जारी करने की आज्ञा शीघ्र प्राप्त कर ली। कुछ दिन पीछे यह भेद खुल गया, और कम्पनी के स्वामियों के विरुद्ध अभियोग चलाकर उन्हें इस पाप का दण्ड दिया गया।

यदि अधिकांश लोगों के अधिक सुख को ही धर्म कहें तो उक्त रिश्वत को धर्म कहना होगा, क्योंकि उससे अधिकांश लोगों को अधिक सुख हुआ, इसमें किसी को कुछ भी सन्देह नहीं है। किन्तु वह कार्य धर्म न कहलाकर पाप माना गया। और अन्य पापियों की तरह उसके कर्ता को राजदण्ड भोगना पड़ा।

क्रिया के केवल बाह्य परिणाम (अधिक लोगों के अधिकांश सुख) मात्र पर दृष्टि देकर नैतिक कार्य अकार्य का निर्णय करने के पक्ष में और भी कितने ही बड़े बड़े दोष हैं। कितने ही स्थलों में हम देखते हैं कि क्रिया के बाह्य परिणाम (अधिकाश लोगों के अधिक सुख) में कोई अन्तर न होने पर भी उन क्रियाओं की योग्यता में महान् भेद रहता है। जैसे—किसी मनुष्य ने गर्मियों के दिनों में ठण्डे पानी की प्याऊ लगाई, उस पर भीड़भाड़ देखकर एक दुकानदार ने अपनी नई दुकान की बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से अपनी दुकान के पास एक खास कुए के पानी की—जो बहुत दूर से लाना पड़ता था किन्तु स्वाद और गुणों में सब कुवों के पानी से अच्छा प्रसिद्ध था—प्याऊ बैठाई। अधिकांश लोगों के अधिक सुख की दृष्टि से तो दूसरी प्याऊ को उत्तम कहना होगा, किन्तु धर्माधर्म के सूक्ष्म तत्वों पर दृष्टि देने से पहली प्याऊ ही दूसरी से उत्कृष्ट सिद्ध होगी, क्योंकि वह निःस्वार्थ सेवा है और दूसरी स्वार्थ-साधन का उपाय मात्र। इसलिये कर्ता की "मनोवृत्ति" को देखना भी धर्म, अधर्म के निर्णय के लिए आवश्यक है। एक धनी मनुष्य का लाखों रुपये का दान कभी-कभी एक गरीब व्यक्ति के एक सेर सत्तू के दान की

बरावरी नहीं करता। इस प्रकार के और भी कितने ही दोष इस आधिभौतिकवाद में श्री लोकमान्य तिलक ने "गीता रहस्य" में दिखाये हैं। विस्तार भय से उन सबका उल्लेख हम यहाँ नहीं करते हैं। जितना कुछ विवेचन हुआ है—उससे सिद्ध हो गया कि धर्म, अधर्म की परिभाषा में आधिभौतिक वाद अधूरा ठहरता है। हमारे शास्त्रों की धर्माधर्म विवेचना से यह आधिभौतिक सुखवादियों का उच्च सिद्धान्त भी छूटा नहीं है। "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्" "सत्यं हितद्भूतहितंयदेव" "यद्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धाराणा" "को धर्मो ?—भूतदया" इत्यादि शतशः प्राचीन धर्म ग्रन्थों के वचन इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। किन्तु यह स्मरण रहे कि हमारे यहाँ सर्व भूतों के सुखों को धर्म निर्णय का अंग न मानकर "सर्व भूतों के हित" को अंग माना जाता है। "सर्व भूत हिते रतः" ही हमारे शास्त्रों में उच्च आदर्श है। सुख और हित में बड़ा भेद है—सुख केवल आपातरमणीय (तात्कालिक चकाचौंध में इन्द्रियों को फंसा लेने वाला) है। और हित स्थायी उन्नति के मार्ग में लगाने का नाम है। सुख का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियों से ही है, किन्तु हित मन बुद्धि और आत्मा से सम्बन्ध रखता है। इसलिये हित की पहिचान आध्यात्मिक मार्ग में आये बिना हो ही नहीं सकती।

आधिभौतिकवाद के विद्वानों ने यह सिद्धान्त मान तो लिया कि समाज के सुख को अपने सुख की अपेक्षा प्रधान मानना, किन्तु क्यों मानना ? इसकी उपपत्ति (मूल कारण की विवेचना) उनके पास कुछ भी नहीं। यदि उनसे यह प्रश्न किया जाय कि समाज की भलाई के लिये हम अपने सुख का बलिदान क्यों करें—तो इसका ठीक-ठीक उत्तर उनसे नहीं बन सकता। "समाज के सुख में तुम्हें भी सुख होगा" यह कोई उत्तर नहीं। भविष्यकाल के अनिश्चित और अल्प मात्रा के सुख के लिये वर्तमान निश्चित और बड़ी मात्रा के सुख को कौन छोड़े। मान लीजिये कि एक लक्षाधीश अपना सब द्रव्य लगाकर एक विद्यालय बनाता है, उसका समाजहित द्वारा भौतिक दृष्टि से इतना ही परिणाम तो उस पर होगा कि उसके भी लड़के उस विद्यालय में शिक्षा पावेंगे, वह भी अनिश्चित है। किन्तु इसके बदले यदि वह दस पाँच हजार रुपये खर्च कर स्वतन्त्र रूप से अपने लड़कों के पढ़ने का प्रबन्ध कर देता और शेष धन पुत्रों के उपभोग के लिये छोड़ता तो उसका कितना अधिक स्वार्थ सिद्ध होता ? इस वाद के आचार्यों ने जो युक्ति दी है कि "प्राणी मात्र की परोपकार में स्वाभाविक प्रवृत्ति है" वह भी पूरी नहीं उतरी। पहली बात तो यह कि यह प्रवृत्ति यदि है तो मन की है। केवल शरीर से इसका सम्बन्ध नहीं। पाठकों को ध्यान होगा कि यह वाद केवल शरीरवादियों का है। यदि वे मन की प्रवृत्ति को अपने वाद का आधार मान लेते हैं तो यह आधि भौतिक वाद (केवल शरीर वाद) अपने स्वरूप से गिर जाता है। फिर यह वाद भी आधिदैविक वाद ही बन जाता है कि—"मन में कोई देवता बैठा है, जो हमें परोपकार में लगा रहा है।" जिसकी कि विवेचना आगे की जायगी। दूसरी बात यह कि जिन प्राणियों वा जिन मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति परोपकार में नहीं, उनको किस आधार पर आप इस उच्च आदर्श का उपदेश दे सकते हैं ? आधार

कोई नहीं बताया गया। तीसरे स्वाभाविक-प्रवृत्ति कहने से भी प्रश्न का मुख्य समाधान नहीं हुआ कि आखिर यह प्रवृत्ति है क्यों ? इसका मूल क्या है ? असल बात तो यह है कि यह सब "अन्धेरे की टटोल" है। इसके मुख्य कारण का पता तो भारतीय "आध्यात्मवाद" की शरण में आने से ही लग सकता है। "हम समाज हित वा परोपकार क्यों करें" इसका उत्तर हमारा दर्शन शास्त्र स्पष्ट देगा कि "सब में आत्मा एक है, इसलिये स्वार्थ और परोपकार में कोई भेद ही नहीं है" कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय चेतन-सत्ता के आधार पर करना है, और चेतन सत्ता में भेद है ही नहीं। वह सब ब्रह्माण्डों की एक ही व्यापक सत्ता है। बस, उसी सत्ता को लक्ष्य में रखकर हम काम करेंगे—तो हमारा कोई काम किसी का विरोधी हो ही नहीं सकता। सब कार्य सब जगत् के हितकर ही होंगे। यह "एकात्मवाद" शुद्ध भारतीय है, और इसी के आधार से पूर्वोक्त समाज हितवाद भी युक्ति युक्त बनता है। "प्राणीमात्र की स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति" का भी यही मूल है। वह प्रवृत्ति भी इस एकात्मवाद का एक अकाट्य प्रमाण है। यदि सबमें व्यापक एक चैतन्य-सत्ता न होती तो दूसरों के उपकार में किसी भी प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति बन ही नहीं सकती थी। इस उच्चतम "व्यापक सत्ता" के सिद्धान्त तक जिसकी बुद्धि न पहुँच सके, उसे समझाने में, अध्यात्मवादी भारतीयों का "परलोकवाद" भी बहुत काम दे सकता है। परलोक के अनन्त सुख को ध्येय रखकर भी मनुष्य कष्ट सहने तथा परोपकार आदि में प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु यह परलोकवाद भी आत्म विचार को साथ लेने पर ही बन सकता है।

हमारे देश के जो बहुत से शिक्षित सज्जन यह समझे बैठे हैं कि "समाज हितवाद हमने पाश्चात्य देशों से सीखा है, उन्हें अपनी दृष्टि को फैला कर यह विचारना चाहिये कि इस समाज हितवाद की मूल तत्वविचार (फिलासफी) जिनके पास है उन भारतीयों का यह वाद कहला सकता है, या इसकी उपपत्ति न जानने वाले पाश्चात्यों का ? विचारने पर स्पष्ट हो जायगा कि जिनके पास जिस वाद की उपपत्ति नहीं है, उनने तो वह दूसरों से ही सीखा है। मुख्यतः इसके प्रवर्तक तो भारतीय ही कहे जांयगे—जिनके पास इसके मूल कारण की खोज मौजूद है। अस्तु, इस विचार में पड़कर हम दूर चले आये। हमारा वक्तव्य यही था कि केवल शरीर को आधार मानकर कितनी भी दूर जाने पर भी धर्म अधर्म की व्याख्या अधूरी ही रहती है। फिर किस प्रक्रिया से समाज का हित-साधन किया जाय ? यह विचारणीय है। अनेकों हित-साधकों के परस्पर संघर्ष से "बाबा जी की टांग[1]" वाला हाल न हो जाय—हित के स्थान

---

[1] एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक बाबाजी के दो शिष्य थे, दोनों गुरु के पूर्ण भक्त थे—किन्तु परस्पर ईर्ष्या रखते थे। दोनों ने सेवा के लिए बाबाजी की एक-एक टांग बांट रक्खी थी। एक दिन एक शिष्य की परिगृहीत टांग में दूसरे के द्वारा भूल से कुछ आघात लग गया, तो दूसरे दिन उस पहले ने उस दूसरे शिष्य की परिगृहीत टांग को पत्थर मार कर तोड़ दिया। दोनों की ईर्ष्या सफल हुई—दुर्गति हुई बेचारे बाबाजी की।

में अहित न हो पड़े। यह समस्या भी "वर्णाश्रम व्यवस्था" के बिना हल नहीं हो सकती। यों इस आधिभौतिकवाद की प्रक्रिया में अनेक दोष हैं। अब मनको धर्म का मुख्य आधार मानने वाले आधिदैविक वादियों के मन्तव्य पर भी थोड़ा विचार कर लीजिये।

पाश्चात्य देशों में धर्म अधर्म का निर्णय करने वालों का एक दल—"आधिदैविक वादी" भी है। इनकी भी विवेचना लोकमान्य तिलक ने अपने "गीता रहस्य" में की है। इनका कहना है कि—दूर दृष्टि के स्वार्थ की भावना से हो, परोपकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति के बल से हो, मनुष्यत्व की रक्षा के उद्देश्य से हो, अथवा इसी प्रकार के और किसी कारण से मनुष्य की परोपकार आदि सद्गुणों में प्रवृत्ति यदि मान भी लें, तो भी आधिभौतिकवाद में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि अवसर चूकने पर मनुष्य को बार बार धिक्कार देने वाला तथा कितने ही संकीर्ण स्थलों में गन्तव्य मार्ग का निर्देश करने वाला कौन है? आधि भौतिक वादियों ने जिनको आधार माना है, वे दूर दृष्टि, स्वाभाविक वृत्ति अथवा मनुष्यत्व कुछ भी सही, आखिर सब है मनोवृत्तियाँ (मन के भाव) ही। मन शरीर के ही अन्तर्गत एक इन्द्रिय है। और उसकी वृत्ति, चाहे वह कितनी ही उत्तम क्यों न हो, होगा शरीर का ही धर्म। फिर मनोवृत्ति को यह अधिकार दिया किसने कि, वह शरीर से परे के भावों को जान सके? इस दुर्निवार आपत्ति को हटाने के लिये आधिदैवत पक्ष वालों का कहना है कि भला-बुरा, कार्य-अकार्य, न्याय अन्याय, धर्म-अधर्म, आदि का निर्णय करना मन का काम नहीं है। यह काम मन में बैठा हुआ एक स्वतन्त्र देवता किया करता है। जिसे आधिदैवत पक्ष के लोग Intuitionist School कहते हैं। अँग्रेजी में साधारणतया इसे (कान्शन्स्) कहते हैं। अपनी भाषा में हम इसे मनोदेवता कह सकते हैं। बुरे कामों से बचाना और श्रेष्ठ कामों में प्रवृत्त करना इस मनोदेवता का ही कार्य है। अहिंसा, मैत्री, दया, दान और परोपकार आदि मन की ही निसर्ग सिद्ध वृत्तियां हैं। इसके विपरीत हिंसा, शत्रुता, नृशंसता और कृपणता आदि भी मन के स्वभाव सिद्ध धर्म हैं। जब कभी इन परस्पर विपरीत धर्मों में संग्राम उपस्थित होता है, तो मनोदेवता सदा अहिंसा आदि सद्गुणों का ही पक्ष ग्रहण किया करता है। बहुधा देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसी बुराई में पहले पहल प्रवृत्त होने लगता है तो वह बार बार झिझकता है, हटता है, मानों कोई उसे बलात पकड़कर उस काम से बचा रहा है। अच्छे कुल का कोई व्यक्ति शराब की दूकान में वेश्या के घर में, या द्यूतालय-(जुवाखाने) में प्रथम बार जाने लगेगा, तो वह बार बार रुकेगा। उसके पैर काँपने लगेंगे। और यदि वह हठात् कोई कुकर्म कर भी आया, तो देर तक उसे अन्तरात्मा की ओर से फटकार मिलती रहती है। वह पछताता रहता है कि "मैंने ऐसा क्यों किया।" यही इस "वाद" की मूल भित्ति या जड़ है। कहा जाता है कि वह मना करने वाला मनोदेवता ही

है। इसके अतिरिक्त बुरे काम करने वाले मनुष्य भी खुले मैदान उन कामों का समर्थन करते नहीं देखे जाते, प्रत्युत अपने कामों को छिपाने की प्रवृत्ति ही उनमें देखी जाती है। यदि उनका मनोदेवता उन कामों में साक्षी देता, तो उन्हें अपने कामों को छिपाने की आवश्यकता न होती। वे सबके सामने अपने कामों की उचितता सिद्ध कर सकते। इससे अनुभव द्वारा मनोदेवता की सत्ता सिद्ध होती है।

बहुतों ने तो एक मनोदेवता के स्थान में अहिंसा, मैत्री, दया, परोपकार, आदि को पृथक् पृथक् देवता माना है। न्याय करते समय न्यायाधीश का झुकाव जो बहुधा सत्यपक्ष की ही ओर रहता है, यह न्यायाधीश के मन में बैठे हुये न्याय देवता की ही प्रेरणा का फल है। माता की अपने बच्चों को दूध पिलाने की जो प्रवृति होती है, यह भी मनोदेवता की ही प्रेरणा का परिणाम है। एक ही समय में दो आवश्यक कार्यों की कर्तव्यता उपस्थित होने पर मनोदेवता ही उनका बलाबल देखकर एक के छोड़ने और दूसरे के ग्रहण करने में मनुष्य का शासक बनता है। प्राणी की उत्तम मार्ग में प्रवृत्ति का हेतु ये लोग मन के तत्तत् देवता को बतलाते हैं इसलिये इस मत को आधि-दैविक मत कहा है। बस, इस मत का सिद्धान्त यही है कि मनोदेवता की आज्ञा जिसमें मिले, अर्थात् मन जिसका अनुमोदन करे, वही कार्य धर्म, और मन जिसमें झिझके, वही अधर्म समझना चाहिये। इस सिद्धान्त का प्रचार यूरोप में ईसाई धर्म के उपदेशकों ने किया है और धर्माधर्म के निर्णय में इसी को सर्वश्रेष्ठ मार्ग माना है। इन सब प्रकरण को ध्यान पूर्वक देखने से यह सिद्ध होता है कि आधिदैवत पक्ष वाले जिसे मनोदेवता कहते हैं, उसे हमारे शास्त्रों में वर्णित "व्यवसायात्मक बुद्धि" या "विवेक बुद्धि" का ही नामान्तर समझिये। भेद केवल इतना ही है कि हमारे यहाँ व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही प्रकार की मानी गई है, और पाश्चात्यों ने इसके अनेक भेद मान लिये हैं। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न निर्णायक की कल्पना व्यर्थ समझ आर्य महर्षियों ने व्यापक दृष्टि से एक "व्यवसायात्मक बुद्धि" को ही सब जगह निर्णायक माना था, किन्तु उस व्यापाक दृष्टि पर न पहुँचकर इन पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना कर डाली। जो हो कहने का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य विद्वानों की मनोदेवता की कल्पना कोई नई नहीं है, वह हमारे शास्त्रों की विवेचना का ही आंशिक परिवर्तित वा विकृत रूप है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में ऐसे अनेक विचार पाये जाते हैं—महाराज धृतराष्ट्र के ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन यही कहा करते थे कि—मैं स्वयं कभी कुछ नहीं करता, जो कुछ करता हूँ मनोदेवता की प्रेरणा के अनुसार ही करता हूँ।—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात् मैं शास्त्रोक्त धर्म और अधर्म को खूब जानता हूँ। यह भी समझता हूँ कि धर्माचरण से सुख और अधर्म करने से दुःख होता है। यह भी मुझे मालूम है कि धर्मात्मा से संसार प्रेम और अधर्मात्मा से द्वेष करता है। किन्तु यह जानने के कारण मैं शास्त्रोक्त धर्म करने में प्रवृत्त अथवा अधर्म करने से निवृत्त होता हूँ सो बात नहीं है। (वस्तुतः बात कुछ और ही है और वह यह है कि) कोई देवता (कान्शन्स् या मनोदेवता) मेरे हृदय में बैठा हुआ है। कर्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के समय मैं उसी से पूछता हूँ और वह जैसी आज्ञा देता है, मैं वैसा ही करता हूँ। धर्माधर्म के निर्णय में मैं मनोदेवता के अतिरिक्त और किसी को महत्व नहीं देता।

महाराज दुष्यन्त ने जब प्रथम बार शकुन्तला को देखा और उन्हें यह विचार हुआ कि यह संभवतः ब्राह्मण कण्व ऋषि की पुत्री होगी, इसलिये मेरा इसका वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। उस अवसर में महाकवि कालिदास ने उनके मुख से कहलाया है कि—

"असंशयं क्षत्र परिग्रहक्षमा, यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तयः॥"

यह कन्या अवश्य क्षत्रिय के विवाह योग्य है, क्योंकि सदा शुभ विचार रखने वाला मेरा मन इस पर गया है। सत्पुरुषों के लिये जहाँ कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का सन्देह उपस्थित हो, वहाँ अपने अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण होती है। इस—"सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु" इत्यादि वाक्य को धार्मिक शिरोमणि मीमांसा के परमाचार्य श्री कुमारिल भट्टपाद ने भी अपने "तन्त्रवार्तिक" में उधृत किया है। इसमें "अन्तःकरण" पद है, अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार तीनों का ही समावेश है, इसलिये विवेक बुद्धि इसमें संगृहीत हो गई है। मन और बुद्धि इन पदों का व्यवहार संकीर्ण (मिलाजुला) ही ग्रन्थों में रहता है। मन के लिये बुद्धि शब्द का और बुद्धि के लिये मन शब्द का प्रयोग बहुधा हो ही जाता है, उचित देखकर अर्थ वहाँ ले लेना चाहिये। अस्तु।

धर्मशास्त्रकारों ने भी कई जगह इस बात का उल्लेख किया है। मनुसंहिता के आरम्भ में ही धर्म का विशेषण "हृदयेनाभ्यनुज्ञातः" दिया गया है। अर्थात् बुद्धि की साक्षी जिसमें हो वही धर्म है। आगे चौथे अध्याय में यह बात स्पष्ट रूप से लिखी है—

"यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥" (मनु० ४।१६१)

जिस कार्य को करने से कर्ता की अन्तरात्मा विवेक बुद्धि (कान्शन्स् या मनोदेवता) प्रसन्न हों, कार्य प्रयत्न से करना चाहिये और जो कार्य इसके विपरीत हो उसे छोड़ देना चाहिये।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय मालूम होना, ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण कहे हैं। यहाँ "स्वस्यच प्रियमात्मनः" का अर्थ यही है कि अपने मन वा बुद्धि को जो सन्तोष जनक हो, मनुभगवान् यहाँ "प्राहुः" पद देते हैं, अर्थात् धर्म के ये चार लक्षण-ज्ञापक, धर्मज्ञ लोग कहते आये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ये श्रुत्युक्त लक्षण हैं। स्मृतिकार तो मनु से प्राचीन कोई है ही नहीं। अस्तु मनु भगवान् ने और भी कई जगह इस बात पर जोर दिया है, जैसे "मनः पूतं समाचरेत्" (६।४६) काम वही करना चाहिये जो मन को (मनोदेवता को) शुद्ध मालुम हो इत्यादि। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्या-कार्य के निर्णय में मन की गवाही लेना आर्य ऋषियों को भी अभिमत था। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आधिदैवत पक्ष वालों के समान कर्त्तव्या कर्त्तव्य के निर्णय जैसे गम्भीर कार्य को महर्षियों ने एकमात्र मनोदेवता या कान्शन्स् के ही सर्वथा अधीन कर दिया था। उनको यह भली भाँति विदित था कि मनोदेवता या सदसद् विवेक बुद्धि आखिर है तो एक सांसारिक ही वस्तु। उसे आदर देने के लिये चाहे उसे देवता या इससे भी कोई बड़ी पदवी दे दी गई हो किन्तु अन्ततः उसका ज्ञान है परिच्छिन्न ही। ऐसा न समझकर सदसद् विवेक बुद्धि की जगह स्वतन्त्र मनोदेवता मानने में प्रश्न यह होता है कि क्या वह देवता सब प्राणियों वा सब मनुष्यों में समान रूप से रहता है, वा किसी किसी में ही रहता है। यदि किसी किसी में ही उसका रहना माना जाय, तब तो धर्म अधर्म के निर्णय का अधिकार उन कुछ लोगों के ही हाथ में जा पड़ेगा, जिनमें कि मनोदेवता रहता है। फिर सब लोग धर्म अधर्म के निर्णय के अधिकारी न होंगे। और देवता का नाम लेकर धर्म निर्णेता बनने वा नया धर्म चलाने का ढ़ोंग खूब चलेगा। और यदि सब श्रेणी के मनुष्यों में उस देवता की स्थिति समान रूप से मान ली जाय, तो चौर और अचौर में जो महान् बुद्धि भेद है, उसकी ठीक ठीक उपपत्ति नहीं होगी। सबमें यदि देवता है तो क्यों एक मनुष्य अत्यन्त नृशंस हिंसक और एक परम दयाशील देखा जाता है। यदि कहो कि वह देवता की आज्ञा न मानकर हिंसक बन गया, तो फिर देवता का कोई महत्त्व नहीं रहता। यदि बुरे काम से रोक देने की उसमें शक्ति नहीं, तो वह देवता काहे का रहा ? यह माना जाय कि देवता का काम केवल सुझाव देना है, मानने न मानने में हम स्वतन्त्र हैं, तो भी निस्तार नहीं। देखा जाता है कि जिनकी आदत बुरे कामों की पड़ गई, उन्हें फिर अन्तरात्मा निषेध भी नहीं करता। उनकी वह झिझक जाती रहती है। और वे खुशी खुशी शराब पीने, वेश्या के यहाँ जाने वा जुवा खेलने में प्रवृत्त होते हैं। अब कभी उन्हें अपने किये पर पश्चाताप भी नहीं होता। वहाँ यही कहना पड़ेगा कि देवता ने अब सुझाव देने का अपना काम भी छोड़ दिया या देवता अब उन में से चला गया। तब फिर प्रश्न हो जायगा कि किसके पास मनोदेवता है, किसके पास नहीं है। वा, कहाँ काम छोड़ चुका, और कहाँ काम कर रहा है—इसका निश्चय कैसे हो ? जिनकी बुरी आदत है जिन्हें बुरे कामों में झिझक नहीं है, उनमें मनोदेवता

का न रहना मान लो—इसका भी कुछ अर्थ नहीं रहता। प्रश्न तो यह है कि किसी की आदत बुरी है और किसकी अच्छी, इसका निर्णय कैसे हो ?। जब एक काम में कुछ आदमियों की प्रवृत्ति है, कुछ की नहीं है, तब यह काम बुरा है या अच्छा, इसका निर्णय किस आधार पर किया जाय। "जो काम समाज से छिपकर किया जाता है, वह बुरा है यह कसौटी भी पूरी नहीं उतरती। जब वैसा काम करने वाले बहुत मिल जाते हैं तो छिपाने की प्रवृत्ति भी हट जाती है। अभी कुछ वर्षों पहले कोई भी वर्णाश्रमी भारतीय यदि अपने भोजन नियमों को छोड़कर होटल आदि में खाता तो वह झिझकता, और अपने काम को छिपाता था। किन्तु आज वैसा समुदाय बन जाने से न वह झिझक है, और न वह छिपाने की प्रवृत्ति। प्रत्युत् ऐसे दल में फँस जाने वाला इनसे बचा हुआ धार्मिक पुरुष वर्णाश्रमी अपने आपको संकोच में पड़ा हुआ पाता है। वही झिझकता है और अपनी प्रवृत्तियों में लज्जित होता है। कहावत प्रसिद्ध है कि "सौ नकटों में एक नाक वाला नक्कू" कहाता है। वही मनुष्य जो पहले एक काम को करने में झिझकता था। आज वह उसे बेधड़क करता दिखाई देता है। तब फिर मनोदेवता का पहले का निर्णय ठीक था, या आज का निर्णय ठीक है, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये यह देवता की कल्पना निरी कल्पना ही है। वस्तुतः ये सब काम सदसद् विवेक बुद्धि के ही हैं। और वह बुद्धि भी त्रिगुणात्मक होने से परिणामशील (बदलने-वाली) है—इसलिये आज बुद्धि जिसे बुरा समझती है। संभव है कि कल उसे अच्छा समझे। शिक्षा, संगति, परिस्थिति, आदि सब बातों का प्रभाव उसपर बराबर पड़ता है। और इस ही प्रभाव से उसमें परिवर्तन होता रहता है। यह प्रत्यक्ष अनुभवं सिद्ध है।

यह सदसद् विवेक बुद्धि कोई नई चीज भी नहीं है। छोटे-बड़े, सुन्दर-विरूपे, काले-गोरे, नये-पुराने आदि का तारतम्य जो बुद्धि निश्चित करती है, वही मनुष्यों को कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य भी सुझाया करती है। कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की निर्णायक बुद्धि को पृथक् मानने में पाश्चात्य विद्वानों ने जो युक्तियां दी हैं, वे कोई भी दृढ़ नहीं हैं। हमारे शास्त्रों का बुद्धि-निरूपण देख लेने पर वे पाश्चात्यों के तर्क ठहर नहीं सकते। इस विषय का विस्तार यहाँ उपयुक्त न होगा। कहना केवल यही है कि आधि दैविकपक्ष वाले पाश्चात्यों का सब कुछ निरूपण बुद्धि पर ही निर्भर करता है। और बुद्धिवाद उसी प्रकार अपूर्ण है, जिस प्रकार आधि भौतिक वादियों का "शरीर सुख वाद" अपूर्ण था।

आजकल के पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय समाज के विचार भी प्रायः इस आधि दैविक वाद से मिलते जुलते ही पाये जाते हैं। उनका भी कहना यही है कि कर्त्तव्य अकर्त्तव्य वा धर्म अधर्म के निर्णय में शास्त्र आदि की कोई आवश्यकता नहीं। हमारी कामन् सैन्स् (व्यावहारिक-बुद्धि) इसका निर्णय अच्छी तरह कर सकती है। कामन् सैन्स् भलाई बुराई का निर्णय करने में

समर्थ है—इत्यादि। मन में बैठा हुआ कोई देवता प्रेरणा करता है—यह बात चाहे बीसवीं शताब्दी में अन्धकार के युग की समझी जाय, किन्तु फलतः दोनों मत एक रूप ही हो जाते हैं। मन वा बुद्धि के आधार से ही कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निर्णय करना दोनों में समान ही है। आधि दैविक वादी देवता पर निर्णय छोड़कर किसी प्रकार आपत्ति से बचते भी हैं, किन्तु आधुनिकों को अत्यन्त परिछिन्न (एक हृदय में बँधी हुई) स्वार्थ संस्कारों से लिप्त परस्पर में भी न्यूनाधिक-भाव रखने वाली (कामन् सैन्स्) बुद्धि को निर्णय का साक्षात् आश्रय मान लेना तो बहुत ही नीची श्रेणी की बात है। व्यवहारिक बुद्धि या कामन् सैन्स् एक प्रकार की अशिक्षित ग्रामीणों में भी होती है। कुछ अवस्था बढ़ते ही कुमारावस्था के बालकों में भी उत्पन्न हो जाती है। तब क्या वे भी अपनी भलाई-बुराई का आप ही निर्णय करने वाले मान लिये जाँय? तब तो फिर शिक्षा की आवश्यकता ही क्या रह गई? बालकों को भी अपनी कामन् सैन्स पर छोड़ दिया जायगा, तो शिक्षा अपने आप ही बन्द हो जायगी। क्योंकि अपनी बुद्धि से दस प्रतिशत बालक भी बिना नियन्त्रण स्वतः शिक्षा में प्रवृत्त न होंगे और शासन वा "कानून" भी क्यों बनाये जाँय? यदि शिक्षितों की ही कामन् सैन्स् निर्णय में प्रमाणित है, तो शिक्षा के भेद से वह सर्वथा भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कानून पढ़ने वाले की व्यावहारिक बुद्धि डाक्टरी में और डाक्टरी पढ़ने वाले की इञ्जिनीयरी में काम देती हुई नहीं देखी जाती। यदि कहो कि डाक्टरी इञ्जिनीयरी आदि विशेष बातें हैं—वे विशेष शिक्षा से मिलती हैं—किन्तु भलाई-बुराई के निर्णय की बुद्धि तो "कामन्" है। वह सब ही शिक्षितों में एक सी है। तो यह भी कहना ही मात्र है। सब शिक्षितों की एक मति किसी भी सामाजिक, धार्मिक वा राजनैतिक विषय में देखी नहीं जाती। एक प्रवृत्ति को कुछ लोग भला कहते हैं, तो कुछ बुरा बतलाते हैं। अभी कुछ दिन पूर्व हिन्दू कोड कौन्सिलमें उपस्थित था—तब बहुत से उच्च शिक्षित उसके विरुद्ध और बहुत से अनुकूल थे। सब ही अपनी-अपनी विवेक बुद्धि से काम लेते थे—तब किसकी विवेक बुद्धि को प्रमाण माना जाय। यदि ऐसा मतभेद न होता तो आजकल के सभ्य समाज में व्होटिंग (अधिक संमति) पर निर्णय करने की प्रथा जन्म ही क्यों लेती। यदि व्होटिंग को ही मुख्य मान लिया जाय, तो फिर यह मत आधि भौतिक वाद में जा मिलता है। तब उस मत में जो दोष बतलाये गये हैं—वे सब इस मत पर भी आ पड़ते हैं। अस्तु! यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि "कामन् सैन्स्" का बनना शिक्षा और संगति आदि पर अधिकतर अवलम्बित है। जो जैसी शिक्षा पाता है और जैसी संगति में रहता है, उसकी व्यावहारिक बुद्धि वैसी ही बनती है। प्रत्यक्ष है कि पुरानी सभ्यता में पले हुए और अपनी संस्कृति की शिक्षा पाये हुए विद्वानों के विचार पाश्चात्य सभ्यता में शिक्षित दीक्षितों से मेल खाते ही नहीं। तब किसकी कामन्-सैन्स् से धर्म अधर्म वा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय हो? "सैन्स्" तो एक सी ही होती है, किन्तु आग्रह वश मनुष्य एक तरफ झुके रहते

है—यह कहना विलकुल निराधार है कि किसी की नियत पर आक्रमण करना है। इसमें कोई प्रमाण नहीं कि अमुक पक्ष का ही आग्रह है। सब अपनी अपनी बुद्धि के ही अनुसार चलते हैं। तब क्या "पन्थ वही जा कंह जो भावा" कहकर जिस कलियुगी लीला का गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने उपहास किया है, उसे ही मुख्य सिद्धान्त समझ लिया जाय ? इस प्रकार समाज व्यवस्था कैसे होगी। कानून किस आधार पर बनेंगे ? क्या भिन्न भिन्न पुरुषों के लिये भिन्न भिन्न कर्त्तव्य के नियम वा कानून होंगे ? यदि नहीं, तो कामन्‌सैन्स् का आदर कहाँ हुआ ? यही क्यों, एक मनुष्य की भी तो "कामन् सैन्स्" सदा एक रूप नहीं होती। आज एक आदमी अपनी व्यावहारिक बुद्धि से जिसे भलाई समझ रहा है, थोड़े दिन बाद उसे बुराई मानने लगता है, और पछताता है कि—मैंने धोखा खाया। तब कर्त्तव्य निर्णय का इतना कच्चा आधार मानकर आज कुछ और कल कुछ करते करते पछताने में ही अमूल्य मनुष्य जीवन को खो बैठना कौनसी बुद्धिमता होगी ? इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षितों की बुद्धि को ही प्रमाण मान लेने पर एक प्रकार से शास्त्रवाद ही आ गया। क्योंकि उच्च शिक्षितों की बुद्धि शास्त्र के आधार पर ही संगठित होती है। उनकी बुद्धि में विशेषता इसी के आधार पर ही आती है—वे शास्त्र के आधार पर ही प्रायः अपना मत स्थिर करते हैं। शास्त्र चाहें किसी भाषा का हो है तो शास्त्र ही। प्राचीन आदर्श तो उसमें प्राप्त ही होंगे। अस्तु इन सब बातों पर खूब विचार कर विद्यापारंगत हमारे पूर्वजों ने "बुद्धिवाद" पर कभी पूरा विश्वास नहीं किया। और धर्म अधर्म के निर्णय का यह कच्चा आधार समझ इसे उपेक्षा कोटि में ही रक्खा। जिनकी बुद्धि स्वच्छ है, रजोगुण, तमोगुण का आधिपत्य जहाँ नहीं है—ऐसी शुद्ध सात्विक बुद्धि का सहारा किसी हद तक लेना धर्म मर्यादा में गृहीत हुआ है इसलिये "सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणस्य वृत्तयः," कहा गया—अर्थात् सत्पुरुषों की अन्तःकरण की वृत्ति धर्म के निर्णय में प्रमाण भूत होती है, हर किसी की नहीं। ऐसे ही लोगों के लिये "मनः पूतं समाचरेत्" की आज्ञा है। किन्तु प्रश्न यह आ पड़ता है कि अपने आपको सबही सत्पुरुष समझते हैं, कौन "असत्पुरुष" बनना स्वीकार करेगा ? अपनी बुद्धि को मलिन कौन मानेगा ? कहा जा चुका है कि "शिक्षा, संगति, परिस्थिति" आदि का बुद्धि पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। पूर्व संस्कारानुसार रजोगुण तमोगुण—आदि की प्रबलता भी भिन्न भिन्न पुरुषों में वा समय भेद से एक ही पुरुष में होना अनिवार्य है। बस, जैसे जिसके संस्कार बन गये, उनके अनुसार भलाई, बुराई के निर्णय में भी भेद होना अनिवार्य है।

साथ ही यह भी सोचने की बात है कि अपने आपको "सत्पुरुष" मानना, अपनी बुद्धि को निर्मूल वा कलुषित मानना—यह निर्णय भी तो बुद्धि के आधार से ही होगा तब वह बुद्धि जैसी भी है—अपने आपको बुरी क्यों समझने लगी ? वह तो अपने आपको उत्तम ही प्रमाणित करेगी। और दूसरों के कहने से

बुद्धिवादी अपनी गलती मानने क्यों लगा ? फिर दूसरे भी तो स्वार्थी, विद्वेषी, और भले-बुरे सब ही प्रकार के कार्यों का अनुमोदन करने वाले मिल जाते हैं—इसलिये उनके कहने से भी सच्चा निर्णय कहाँ से होगा ? उत्तम पुरुष, वा अपने सच्चे हितैषी की पहचान ही उस समय कहां होती है यह पहचान भी तो बुद्धि को ही करनी है। इसलिये वह अपनी वृत्ति के अनुकूल कहने वालों को ही हितैषी बताती है। इन सब झंझटों से निस्तार न देख हमारे शास्त्रकारों ने इस बुद्धिवाद को चौथा दरजा दिया है—"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रिय मात्मनः" अर्थात् धर्म के निर्णय में पहला दरजा श्रुति का, दूसरा स्मृति का, तीसरा सदाचार का और चौथा अपनी प्रियता—अर्थात् अपनी बुद्धि की अनुकूलता का। इनमें पूर्व को प्रबल माना गया है। इसलिये श्रुति, स्मृति, वा सदाचार से विरुद्ध यदि बुद्धि की अनुकूलता हो, तो वह कदापि माननीय नहीं हो सकती। तीनों से अविरुद्ध यदि है, तो उसे मान लेने में कोई हानि नहीं। यहाँ यह प्रबल तर्क उठता है कि बुद्धिवाद को छोड़कर धर्म अधर्म का निर्णय हो नहीं सकता। श्रुति, स्मृति, आदि का समझना भी तो बुद्धि पर ही अवलम्बित है। बुद्धि जैसा श्रुति, स्मृति का आशय समझेगी, वैसा ही तो मार्ग निश्चय करेगी। इसीलिये श्रुति स्मृति मानने वालों के भी तो सैकड़ों अवान्तर भेद बन गये, क्योंकि किसी की बुद्धि ने श्रुति स्मृति का आशय कुछ समझा—दूसरे ने उससे विपरीत ही समझा। तब यदि अन्त में जाकर भी बुद्धि पर ही ठहरना पड़ता है—तो पहिले से ही सीधा बुद्धिवाद ही क्यों न मान लिया जाय ? किन्तु विचार करने पर यह तर्क निरो धोखेबाजी ही मालूम होगा। श्रुति स्मृति का आशय बुद्धि से समझकर उसके आधार पर धर्माधर्म का निर्णय करना और बात है, और केवल उच्छृङ्खल बुद्धि को ही निर्णय का आधार मान लेना और बात है। यों तो मूर्ख, बालक, पशु आदि जो कोई भी कुछ करता है उसमें बुद्धि का आधार तो रहता ही है। बिना बुद्धि की प्रेरणा के कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि "ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्। कृति जन्यं भवेत्कर्म।" अर्थात् पहिले किसी वस्तु का ज्ञान होता है, फिर ज्ञान से इच्छा पैदा होती है, इच्छा से आत्मा में प्रयत्न होता है, फिर प्रयत्न से शरीरादि में क्रिया होती है। ज्ञानबुद्धि की वृत्ति का ही नाम है, वा ज्ञान ही बुद्धि है। तब बिना बुद्धि के किसी से भी कोई काम नहीं हो सकता। किन्तु जड़, बालक, पशु आदि बुद्धि-वाद पर स्थिर हैं—ऐसा कोई नहीं कह सकता। क्योंकि उनकी वह बुद्धि स्वयं पैदा नहीं होती, दूसके के द्वारा उत्पन्न कराई जाती है। ठीक इसी तरह शास्त्र द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न कराई जायगी—वह भी इस बुद्धिवाद की सीमा में नहीं आ सकती। रहा शास्त्र का आशय भिन्न भिन्न समझने की बात—सो हमारे शास्त्र में किस शब्द का क्या आशय समझना—इसके नियम भी बहुत स्पष्ट और विस्तृत रूप में बने हुए हैं। इन नियमों का शास्त्र—"मीमांसा शास्त्र" कहलाता है। उसका आधार ले लेने पर बुद्धि की उच्छृङ्खलता बिलकुल रुक

जाती है। अब कोई उन नियमों को न मानकर अपनी धींगा धींगी करता रहै, तो यह तो बात ही दूसरी है। अस्तु—यह विचार बहुत विस्तृत हो गया। अन्त में पाठकों को अपना ध्यान इस निष्कर्ष पर देना चाहिये कि केवल शरीर, मन या बुद्धि आदि को धर्म का आधार (धर्मी) मान लेने पर धर्म की व्याख्या पूर्ण नहीं होती। इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को साथ लिये हुए व्यावहारिक आत्मा को ही मुख्य धर्मी (धर्म का आधार) मानने से धर्म परिपूर्ण होता है। पूर्व कह चुके हैं कि आत्मा शब्द का मुख्य अर्थ तो चैतन्य शक्ति है जो कि सर्व व्यापक है, जिसमें भेद भाव है ही नहीं, किन्तु उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि व्यापक होने के कारण वह क्रिया रहित है, और धर्म क्रियात्मक है। इसलिये इस प्रकरण में आत्मा शब्द से व्यावहारिक आत्मा अर्थात् अव्यक्तात्मा शान्तात्मा महान् आत्मा विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा प्राणात्मा और भूतात्मा लिये जाते हैं—इनके विस्तार में मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण-शरीर आदि सबका समावेश हो जाता है। इस आत्मा के अन्तर विस्तार का विवरण हम "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" इस गीता द्वितीयाध्याय के ३१ श्लोक के प्रकरण में करेंगे। इतना ही नहीं, शरीर मन आदि से जिनका संबंध है, वे स्त्री, पुत्र, बान्धव, समाज, धन आदि भी आत्मा की व्याप्ति के अन्तर्गत रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रथमाध्याय के पंक्ति यज्ञ प्रकरण में जाया (स्त्री) पुत्र वित्त आदि को आत्मा की व्याप्ति के भीतर ही माना गया है। सुतरां यह सिद्ध हो गया कि अध्यात्म वादियों का धर्म अधूरा नहीं है, वह घरबार धन दौलत देश समाज स्त्री पुत्र आदि वाह्य पदार्थों से लेकर मन बुद्धि अहंकार और सबमें अन्तःप्रवृष्ट चेतना शक्ति तक को लक्ष्य में रखकर स्थिर किया जाता है। यही कारण है कि अपने काम में आने वाले अन्न वस्त्र बरतन द्रव्य आदि की शुद्धि भी हमारे धर्म के अन्तर्गत है। स्त्री पुत्रादि संबंध बनाने की विवाहादि क्रियाएँ भी धर्म में ही आती हैं। समाज व्यवस्था को स्थिर रखने वाला वर्ण धर्म सनातन धर्म का मूल आधार माना जाता है। दन्तधावन, स्नान आदि शरीर क्रियाएँ भी धर्म से बाहर नहीं। इन्द्रिय मन प्राण आदि की उन्नति का मुख्य साधन प्राणायामादि योगाभ्यास और ईश्वरोपासना धर्म के मुख्य अंग हैं। आत्मा को उन्नत बनाने वाली आश्रम व्यवस्था में धर्म ओतप्रोत है। जहाँ इस लोक की उन्नति के लिए प्रत्येक प्राणी की वृत्ति व्यवस्था (जीविका) का विचार धर्म में है, वहाँ केवल परलोक से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञादि भी प्रधान धर्म कहे जाते हैं। कहाँ तक कहें, श्वास लेने और शयन करने तक का कोई काम हमारे धर्म—बन्धन से बाहर नहीं है, क्योंकि बिना आत्मा की प्रेरणा के कुछ भी नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्येक क्रिया का आत्मा पर ही प्रभाव माना जाता है। प्रत्येक श्वास हमारे आगम शास्त्र में एक अजपाजप माना जाता है। अहोरात्रि में २१६०० श्वास स्वस्थ पुरुष के चलते हैं, ऐसा श्रुति में कहा गया है। उनमें रात्रि तो प्रायः शयन में जाती है—दिन के आधे श्वास १०८०० हुए—इसी आधार पर सनातन धर्म में १०८ मनको की माला

बनाई जाती है कि १०० माला की आवृत्ति हो जाने पर प्रत्येक श्वास में मन्त्र जप हो जाय। अस्तु। इस प्रकार वैदिक सनातन धर्म एक परिपूर्ण धर्म है— और वही भगवद्गीता का प्रतिपाद्य है। इसलिये भगवद्गीता में अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि दैविक सब ही उच्च विचारों को स्थान दिया गया है। धर्म का मूल तत्व भगवान् ने अर्जुन को समझाया है।

तृतीय-पुष्प

गीता का महत्व सबने माना है।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

इसका तात्पर्य है कि बहुत से शास्त्रों के विस्तार में न पड़ कर केवल गीता का ही अच्छे प्रकार से अध्ययन कर लेना चाहिए। जो कि गीता स्वयं भगवान् के मुख पद्म से निकली है। इससे गीता में सब शास्त्रों का निष्कर्ष आ जाना सिद्ध हो जाता है। वास्तव में बात ऐसी ही है। गीता में पारमार्थिक और व्यावहारिक सब शास्त्रों का विस्तार वा संक्षिप्त रूप से निदर्शन वा संकेत हो गया है। यही कारण है कि जब से गीता का आविर्भाव हुआ है तभी से इसका इतना महत्त्व माना गया कि इसके आधार पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना हुई, सैकड़ों भाष्य और व्याख्याएँ इस पर लिखी गईं और प्रायः सभी महत्त्वशाली आचार्य और उपदेष्टाओं ने अपने उपदेशों में कहीं अर्थतः और कहीं शब्दतः भी गीता की छाया का ग्रहण किया।

गीता यह स्त्री लिंग शब्द भी इस गीता के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। वैसे गीत शब्द संस्कृत में प्रायः नपुंसक लिंग ही में प्रयुक्त है। "गीतम्" यही निर्देश सामान्यतः प्राप्त होता है। फिर यहीं गीता शब्द स्त्रीलिंग क्यों आया? इसका कारण है, इसका पूरा नाम "भगवद्गीतोपनिषद्" है। पूर्व प्रवचन में हम कह आये हैं कि गीता सब उपनिषदों का सार है। सार होने के कारण इसका भी उपनिषद् नाम से ही व्यवहार प्रवृत्त हुआ। उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है। उसका विशेषण होने से गीत शब्द भी स्त्रीलिंग बना और गान कर्ता भगवान् का नाम साथ जोड़कर भगवद्गीतोपनिषद् यह पूरा नाम हुआ भगवद्गीता की पुस्तकों में अध्यायसमाप्ति में ऐसा ही लेख देखने में आता है "इति भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे" इत्यादि! बहुत सी उपनिषदों का सार भगवान् ने लिया था इसलिये "भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु" यह बहुवचन निर्देश प्रचलित हुआ। किन्तु व्यवहार में धीरे धीरे "वे विशेषण विशेष्य" निकल गये और "भगवद्गीता" वा "गीता" ये संक्षिप्त शब्द ही प्रचलित रह गये। यही कारण यहां स्त्रीलिंग "गीता" शब्द के व्यवहार का था! किन्तु आगे इस बात पर ध्यान न रखकर उपदेशों में स्त्रीलिंग गीता शब्द का ही प्रवाह चल पड़ा। स्वयं महाभारत में और अन्य पुराणों में भी यह स्त्रीलिंग गीता शब्द भिन्न भिन्न उपदेशों में प्रयुक्त हुआ है। पिंगल गीता,

शंपाक गीता, विचख्यु गीता, हारीत गीता, वृत्र गीता, अवधूत गीता, गणेश गीता, पाण्डव गीता, शिव गीता, देवी गीता, आदि आदि बहुत सी गीताएँ महाभारत और पुराणों में प्राप्त होती हैं। उनमें गीता शब्द के स्त्रीलिंग निर्देश का कोई कारण नहीं है किन्तु इसी भगवद्गीता के नाम के आधार पर वहाँ स्त्रीलिंग गीता शब्द प्रयुक्त हुआ है। और इसी के किसी एक अंश के आधार पर उनके उपदेश अवलम्बित हैं। इसका पूरा अनुकरण किसी में भी न हो सका। यही क्यों महाभारत के अश्वमेध पर्व में यह प्रसंग आता है कि युद्ध समाप्ति और राज्याभिषेक के अनन्तर द्वारका से पुनः हस्तिनापुर आए हुए भगवान् कृष्ण से एकान्त में एक दिन अर्जुन ने कहा कि "युद्ध के आरम्भ में जो आपने उपदेश दिया था वह आगे युद्ध की हड़बड़ी में मुझे विस्मृत हो गया। अब कृपा कर वह उपदेश मुझे फिर सुना दीजिए" इस पर भगवान् ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि तुमने बड़ी असावधानी की जो उस उपदेश को भुला दिया। उस समय योग युक्त होकर वह उपदेश मैंने दिया था। अब वैसा उपदेश नहीं हो सकता। फिर भी तुम्हारे आग्रह से कुछ-कुछ विषय सुनाऊँगा। ऐसा कहकर भगवान् ने जो उपदेश दिया उसका नाम "अनुगीता" है और वास्तव में इस भगवद्गीता जैसा शृंखलाबद्ध महत्व उसमें नहीं है। इस आख्यान से इस भगवद्गीता का कितना महत्व सिद्ध होता है यह विचारक सज्जन ही विचारें। वस्तुतः भगवान् कृष्ण तो पूर्ण ज्ञान स्वरूप ईश्वर ही हैं। उनके लिए वैसा उपदेश किसी काल में भी कठिन नहीं। किंतु इस उपदेश का महत्व प्रतिष्ठापित करने के लिए ही उन्होंने ऐसी आज्ञा की। और उसका निर्वाह भी किया कि वैसा शृंखलाबद्ध उपदेश अनुगीता में नहीं दिया। महाभारत में अन्यत्र भी इस गीता का प्रसंग आया है। शान्तिपर्व के अन्त में नारायणीय नाम का एक महत्व का प्रकरण है। उस प्रकरण का आधार इसी भगवद्गीता को बताते हुए वहाँ स्पष्ट कहा गया है—

"एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वंनृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समास विधिकल्पितः॥"

(शान्तिपर्व ३४६ अ० १०)

इतने पर भी किसी को सन्देह रह जाय तो आगे के अध्याय में और भी स्पष्ट किया गया है—

"समुपोढ़ष्वनीकेषु कुरुपाण्डयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवतास्वयम्॥"

(शा० प० ३४८ अ० ८ श्लो०)

इसमें स्पष्ट कहा है कि जब कौरव और पाण्डवों की सेनाएँ संग्राम में एकत्रित हुई और अर्जुन उदास हो गया उस समय भगवान् ने स्वयं यह उपदेश दिया। इससे अधिक गीता का और क्या पता दिया जा सकता है। इतने

पर भी जो आजकल के कल्पना वीर सज्जन यह कहने का भी साहस करते हैं कि भगवद्गीता मूल महाभारत का अंग नहीं, यह पीछे से मिलाई हुई है, और भगवद्गीता को निकाल देने पर भी महाभारत के प्रकरणों की कोई संगति नहीं बिगड़ती, उनकी बुद्धि पर क्या कहा जाय। महाभारत में बार बार गीता का प्रसंग आने पर भी उसे पीछे से मिलाई हुई मानना केवल साहस मात्र है। अस्तु, महाभारत के अतिरिक्त भगवान् वेदव्यास के ही रचे हुए अन्य पुराणों में भी गीता की खूब चर्चा है। इसी के आधार पर पुराणों में भी अनेक गीताएँ लिखी गयीं हैं। यह तो पूर्व कह ही चुके हैं, इसके अतिरिक्त पद्म पुराण में भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय का पढ़ने सुनने का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है, वाराह पुराण में भी भगवद्गीता का माहात्म्य कहा गया है। और श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के कुछ प्रकरण भगवद्गीता के भाष्य ही कहे जा सकते हैं। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "योगवासिष्ठ" के अन्तिम निर्वाण प्रकरण में भी अर्जुन का उपाख्यान और भगवद्गीता के उपदेशों का सारांश दिया गया है। भागवत धर्म जिसे भक्ति मार्ग के नाम से भी कह सकते हैं, उसके स्पष्ट विवरण का तो आदिम ग्रन्थ भगवद्गीता ही कहा जा सकता है। भागवत धर्म के प्रतिपादक मुख्य प्राचीन ग्रन्थ भगवद्गीता के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत नारदपांचरात्र, महाभारत, शान्ति पर्व का नारायणीय प्रकरण, एवं शाण्डिल्य और नारद के भक्तिसूत्र—ये ही माने जाते हैं। उनमें श्रीमद्भागवत के आरम्भ में जहाँ भगवान् व्यास सरस्वती के तट पर बैठे विचार कर रहे हैं वहाँ उनके विचारों में स्पष्ट ही लिखा है कि—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥

(भा० प्र० स्कन्ध ४-२९)

अर्थात् मैंने चारों वेदों का विभाग भी कर दिया और भारत के नाम से स्त्री शूद्रादि के लिये भी वेद का अर्थ प्रकाशित कर दिया फिर भी मेरी आत्मा सन्तुष्ट क्यों नहीं हो रही है इत्यादि। इससे सिद्ध हो जाता है कि महाभारत का संगठन श्री मद्भागवत के पहिले हो चुका था तब महाभारतान्तर्गत भगवद्गीता की भागवत से प्राचीनता सुस्पष्ट है। यद्यपि उस प्रकरण में व्यास जी का यह भी विचार लिखा है कि सम्भवतः मेरे अपरितोष का कारण यही हो कि मैंने परम हंसो के अत्यन्त प्रिय भागवत धर्मों का प्रायः निरूपण नहीं किया और आगे श्री नारद जी के उपदेश में भी यही कथन है कि "भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्" अर्थात् आपने भगवान् के निर्मल यश का वर्णन नहीं किया, इससे ही आत्मा में परितोष नहीं है। इन कथनों का तात्पर्य यही हो सकता है कि श्रीमद्भागवत ही भागवत धर्म का प्रथम ग्रन्थ है। किन्तु जब महाभारत की रचना श्रीभागवत के कथन से ही भागवत की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध हो जाती है और महाभारत में "भगवद्गीता" नारायणीय आदि में भागवत धर्म

का स्पष्ट विवरण मिलता है तब इसका आशय इतना ही मानना पड़ेगा कि भगवद्गीता और नारायणीय में जो भागवत धर्म का सूत्र रूप से वर्णन था उसे अनेक कथा, दृष्टान्त आदि के द्वारा श्री भागवत में विस्तृत किया गया। अथवा यह भी आशय हो सकता है कि महाभारत ग्रन्थ प्रधान रूप से इतिहास ग्रन्थ है। उसमें भागवत धर्म अथवा भगवान् कृष्ण के चरित्र का निरूपण अप्रधान रूप से हुआ। इसलिए नारद भगवान् ने व्यास जी को यह उपदेश दिया कि प्रधान रूप से भागवत धर्म और भगवान् कृष्ण के चरित्र का वर्णन करो। इसीलिये भगवान् नारद की उक्ति में "अनुदित प्रायम्" कहा है। अर्थात् तुमने भगवान कृष्ण के चरित्र का प्रायः वर्णन नहीं किया। अर्थात् प्रधान रूप से विस्तृत वर्णन नहीं किया। यद्यपि महाभारत के "हित हरिवंश" में कृष्ण चरित्र का विस्तृत वर्णन है। किन्तु वहाँ भी भक्ति मार्ग की जीवातु भूत अति मधुर व्रज लीलाओं का विस्तृत वर्णन नहीं है। इसलिये भागवत ग्रन्थ की रचना आवश्यक थी। श्रीभागवत में भक्ति मार्ग को ही सर्वोत्कृष्ट माना है। इतना ही नहीं भक्ति रहित ज्ञान, वैराग्य धर्म आदि की तीव्र निन्दा भी की है, जो महाभारत के प्रकरणों में नहीं है। अस्तु यह तो निश्चित है कि श्री भागवत से भगवद्गीता प्राचीन है। श्री भागवत का एकादश स्कन्ध भगवद्गीता के प्रकरणों का विस्तृत वर्णन करता हुआ एक प्रकार से गीता का भाष्य ही समझा जा सकता है। इसमें भी गीता की प्राचीनता दृढ़ होती है। इसी प्रकार नारदपांचरात्र में भी भागवत, विष्णुपुराण, भगवद्गीता, आदि के नाम भी प्राप्त होते हैं। तब भगवद्गीता की उससे प्राचीनता में सन्देह का कोई स्थान ही नहीं रहता। नारायणीय में भी भगवद्गीता का स्मरण हुआ है। यह पूर्व दिखा ही चुके हैं शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में तो भक्ति की मीमांसा करते हुए भगवद्गीता के वचनों को ही मीमांसा का आधार बनाया है। जिस प्रकार पूर्व मीमांसा ब्राह्मण वचनों की मीमांसा है, इसी प्रकार शाण्डिल्य सूत्र भगवद्गीता के वचनों की मीमांसा है यह कहा जा सकता है। नारद सूत्र भी व्रज गोपिकाओं को भक्ति में प्रधान मानता है। इसलिये भगवद्गीता से और भागवत से परवर्ती है। इसलिए भागवत धर्म का सर्वप्रथम प्रतिपादक ग्रन्थ भगवद्गीता ही सिद्ध होता है। लोकमान्य तिलक ने गीता की बहिरंग परीक्षा के प्रकरण में पूर्ण विवेचन से यही सिद्ध किया है कि भागवत धर्म के उपलभ्य भाव ग्रन्थों में भगवद्गीता ही सबसे प्राचीन सिद्ध होती है। इससे प्राचीन भागवत धर्म के प्रतिपादक कोई ग्रन्थ रहें हों, किन्तु आज वे प्राप्त नहीं।

लोकमान्य तिलक भारतीय शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका मनन बहुत विशाल था इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उनकी शिक्षा अधिकतर अंग्रेजी में हुई थी इसलिये यूरोपियन विद्वानों के सिद्धान्तों के संस्कार उनमें अवश्य थे। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता और प्रधानता के साधन में उन्होंने प्रयास बहुत किया। किंतु यूरोपियन पद्धति से वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते थे।

इसलिये उनने भारतीय संस्कृति की परम्परा मानी है कि सर्व प्रथम यहाँ यज्ञ यागादि कर्म-कलाप का ही प्रचार था। आगे एक प्रकार उससे ऊब कर निवृत्ति प्रधान ज्ञान काण्ड का उदय हुआ, वही उपनिषद् काल है। इस निवृत्ति प्रधान ज्ञान काण्ड का भी अनुसरण चिरकाल तक समाज नहीं कर सका इसलिये ज्ञान मूलक भक्तिप्रधान प्रवृत्ति मार्ग का उदय हुआ। इसी का उपदेश भगवद्-गीता में है, इत्यादि। किन्तु भारतीय प्राचीन परम्परा के विद्वान् ऐसा नहीं मानते। प्राचीन भारत की दृष्टि में वेद सब विद्याओं के मूल हैं। उनमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रवृत्ति, निवृत्ति सबही के सूत्र प्राप्त होते हैं। इसलिये सबही मार्ग अनादि है। अधिकारी भेद के अनुसार सब का प्रसार सदा ही रहता आया है, हाँ, इतना अवश्य है कि जिस समय में काल की गति के अनुसार जिस मार्ग के अधिकारी अधिक मात्रा में रहे उस समय उसी मार्ग का प्रसार अधिक हो गया। भिन्न भिन्न मार्गों के प्रतिपादक ग्रन्थों का, सबका मूल आधार वेद ही है। वेद में भक्ति मार्ग के सूत्र भी उपलब्ध हैं और कर्म मार्ग के प्रसार के साथ ही ज्ञान मार्ग के उपदेश भी चलते हैं। ब्राह्मण उपनिषदों की बात छोड़ दीजिए, मन्त्रों में ही सब मार्गों के सूत्र मिल जाते हैं। हमने अपने संस्कृत भाषा निबद्ध "पुराण पारिजात" ग्रन्थ में प्रत्येक उपनिषत् प्रतिपाद्य विषय के मूलभूत वेद मन्त्र उपस्थित कर सिद्ध कर दिया है कि कर्मकाण्ड से खिन्न होकर क्षत्रियों ने ज्ञान काण्ड की उद्भावना की —यह यूरोपियन विद्वानों की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। अप्रस्तुत होने के कारण इस विषय का हम यहाँ विस्तार नहीं करेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि वेद के अनन्तर भागवत धर्म वा भक्ति मार्ग का प्रतिपादक सबसे प्राचीन ग्रन्थ श्रीभगवद्गीता ही है। इसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कर्म का बड़े रोचक और अद्भुत रूप में समन्वय प्रतिपादित है। कर्मयोग शास्त्र का तो यह प्रधान ग्रन्थ है। यह बात इसके अध्यायों के अन्त में उपलब्ध पुष्पिका से ही सिद्ध हो जाती है। वेद के अतिरिक्त कर्मयोग शास्त्र का ऐसा और कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। लोकमान्य तिलक ने तो ज्ञान भक्ति मिश्रित कर्म (प्रवृत्ति) मार्ग को ही भागवत धर्म माना है। और इसमें यह प्रमाण उनका मुख्य है कि भगवद्गीता में चतुर्थाध्याय के आरम्भ में कर्मयोग की जो परम्परा बताई गयी है कि "मैंने पहले इसका उपदेश विवस्वान् को किया था, विवस्वान् ने मनु को उपदेश दिया और मनु ने इक्ष्वाकु को।" इस प्रकार राजर्षियों में यह परम्परा चली। यही परम्परा शान्तिपर्व के अन्तिम नारायणीय में भी बतायी गयी है। नारायणीय में इस मार्ग का "भागवतधर्म" नाम से ही वर्णन है। इसलिये भागवत धर्म और कर्मयोग की एकता ही प्रतीत होती है। मध्यकाल में इस सिद्धान्त में भी कर्मयोग गौण हो गया और पहिले उपनिषद् काल में जैसे ज्ञान प्रधान निवृत्ति मार्ग चला था वैसे इधर आचर्यों के काल में भक्ति प्रधान निवृत्ति मार्ग चल पड़ा। भक्ति मार्ग के आचार्यों ने भी भक्ति को ही सर्वस्व कहकर कर्म की अवहेलना की इसलिये पूर्वोक्त भागवत धर्म से भक्ति मार्ग एक पृथक् सा हो गया ऐसा लोकमान्य तिलक का मत है। अस्तु, भगवद्गीता में

ऐसा नहीं है। यहाँ तो भक्ति के साथ ही वर्णाश्रम धर्म पालन भी आवश्यक माना गया है—"मामनुस्मर युध्यच" (मेरा स्मरण करते रहो और युद्ध भी करो)। ऐसे सब मार्गों के सामंजस्य के कारण ही लोकमान्य तिलक ने दृढ़ता के साथ कहा है कि "ऐसा ग्रन्थ विश्व की किसी भाषा में नहीं है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि न केवल भारत की सब भाषाओं में, किन्तु लैटिन, ग्रीक, इंग्लिश, जर्मन आदि भाषाओं में भी भगवद्गीता के अनुवाद हुए हैं।

वेदान्त सूत्रों में स्मृति पद जहाँ जहाँ आया है वहाँ भाष्यकारों ने प्रायः गीता के ही प्रमाण उद्धृत किये हैं। इतना ही नहीं वेदान्त में मुख्य प्रमाण-भूत प्रस्थान त्रयी में भगवद्गीता का स्थान है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, और भगवद्गीता इन तीन का समुदाय ही प्रस्थान त्रयी नाम से कहा जाता है। सबसे पहले भगवान् शंकराचार्य के ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि उनसे पूर्व भी प्रस्थान त्रयी पर भाष्य थे जिनके मत की स्थान स्थान पर उन्होंने आलोचना की है। किन्तु आज उनसे पुराना कोई भाष्य प्रस्थान त्रयी पर प्राप्त नहीं। भारत की अनन्त ग्रन्थ रत्नराशि मध्यकाल के अत्याचारों से नष्ट हुई। उनमें ही प्राचीन भाष्य वा व्याख्याएँ भी गयीं। गीता पर भी सबसे पुरानी व्याख्या श्री शांकर भाष्य ही आज उपलब्ध है। उसके अनन्तर भिन्न भिन्न संप्रदाय जो प्रचलित हुए उन सबके ही आचार्यों ने प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्तों को पुष्ट किया। जो आचार्य स्वयं प्रस्थान त्रयी पर भाष्य नहीं लिख सके उनके अनुयायी अन्य आचार्यों वा विद्वानों ने इस न्यूनता की पूर्ति की। वर्तमान में भगवद्गीता पर श्री रामानुजाचार्य और श्री माध्वाचार्य के भाष्य उपलब्ध हैं। श्रीनिम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय के अनुगामी श्रीकेशवाचार्य ने तत्व प्रकाशिका व्याख्या लिखी है। श्री वल्लभाचार्य के सम्प्रदायानुगामी श्रीवल्लभाचार्य नाम से ही प्रसिद्ध एक आचार्य जी की भी व्याख्या है और श्रीवल्लभ सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार महाविद्वान् श्री पुरुषोत्तम जी के नाम से भी एक व्याख्या मुद्रित हुई है। किन्तु इस सम्प्रदाय के कई प्रसिद्ध विद्वान् उसे प्रसिद्ध श्री पुरुषोत्तम जी की लिखी व्याख्या नहीं मानते। पुरुषोत्तम जी नाम के अन्य आचार्य वा विद्वान् ने यह व्याख्या लिखी होगी ऐसा कहते हैं। अस्तु आचार्यों के भाष्यों पर भी अनेक व्याख्यायें लिखी गयी हैं। और श्रीशांकर संप्रदाय के उद्भट विद्वान् श्री मधुसूदन सरस्वती, श्री शंकरानन्द स्वामी, सम्पूर्ण महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठाचार्य गौड़, माध्व संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य श्री श्रीधर जी आदि महाविद्वानों की बहुत सी व्याख्याएँ गीता पर उपलब्ध हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में जो गद्य और पद्यों में गीता के अनुवाद और व्याख्याएँ लिखी गई हैं उनकी संख्या तो सैकड़ों ही हैं। संस्कृत में भी पद्यबद्ध व्याख्या भी है। भगवद्गीता के उपलभ्यमान साहित्य का ही एक बड़ा पुस्तकालय कुरुक्षेत्र में अभी थोड़े काल से स्थापित हुआ है।

वर्तमान युग में लोकमान्य तिलक ने गीता पर एक सुन्दर व्याख्या और आलोचनात्मक विस्तृत ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। जहाँ प्राचीन व्याख्याएँ ज्ञानमार्ग वा भक्तिमार्ग की प्रधान रूप से प्रतिपादक थीं वहाँ लोकमान्य की व्याख्या भगवद्गीता में कर्मयोग को प्रधान बताने वाली है। लोकमान्य की विचार पद्धति शास्त्रीय है और शास्त्रीय विचार पद्धति से कर्मयोग सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन करने वाली भगवद्गीता की वह एक ही व्याख्या है ऐसा कहा जा सकता है। श्रीअरविन्द घोष और श्री विनोबाभावे ने भी श्री भगवद्गीता पर उत्तम व्याख्यान और विवेचन लिखे हैं।

वेद विज्ञान के एक मात्र आविष्कारक शताधिक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता मेरे आराध्य गुरु जयपुर के विद्या वाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा ने भी वर्तमान युग में गीता पर एक नवीन विज्ञान भाष्य लिखा है। आपने गीता के प्रति श्लोक की व्याख्या नहीं की किन्तु गीता के आधार पर स्वतन्त्र विवेचन किया है। आपका गीता का विषय विभाग भी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है जो हम आगे के "गीता का विषय" विभाग शीर्षक प्रवचन में बतावेंगे। आप गीता में एक सौ साठ उपदेश मानते थे और प्रत्येक पर स्वतन्त्र लेख लिखने का आपका विचार था। किन्तु अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण केवल १०-१५ विषयों पर ही उपदेश लिख पाये। और आगे स्वर्गवास हो जाने से अपना मनोरथ पूर्ण न कर सके। आपने गीता को उच्चश्रेणी का वैज्ञानिक ग्रन्थ माना है और आपका कथन है कि "अव्यय पुरुष" और "बुद्धियोग" ये दो गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। जिनका वेद में तो सूत्र रूप से संकेत है ही किन्तु स्पष्ट रूप से प्रतिपादन भगवद्गीता में ही हुआ है। इसका स्पष्टीकरण भी "विषय विभाग" शीर्षक प्रवचन में होगा और आपके सिद्धान्त के अनुसार गीता श्लोकों की व्याख्या हम स्थान स्थान पर करते रहेंगे।

वेदान्त के अतिरिक्त साँख्य में भी सत्कार्यवाद का आधार गीता को ही माना गया है। दर्शनों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में भी गीता के प्रमाण लिए गए हैं। बौधायन धर्मसूत्र, जो विद्वानों द्वारा यीसुख्रिष्ट से पूर्व पांचवी शताब्दी का माना गया है उसमें यह वाक्य है "देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुत्र-चिन्मनसा वाचयेदिति तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं योमेभक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहितमश्नामिप्रयतात्मनः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पूजा के उपयुक्त देश न हो, अपने पास पूजा द्रव्य भी न हो वहाँ मन और वाक् से भी पूजा बन सकती है जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है। जो पुरुष पत्रपुष्प फल आदि कुछ भी भक्ति पूर्वक मुझे अर्पण करता है उसके भक्ति पूर्वक दिये हुए पत्र पुष्प आदि का मैं भोजन कर लेता हूँ। अर्थात् जो कुछ भी भक्ति पूर्वक दिया जाय उसको स्वीकार करता हूँ।

वैदिक धर्म के अनुयायी ग्रन्थों में ही केवल नहीं अपितु वेद से विरुद्ध रहने वाले जैन बौद्धादि के ग्रन्थों में भी गीता के उपदेशों की छाया स्पष्ट मिलती है। अश्वघोष रचित "बुद्ध चरित" महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के उपदेशों में कई जगह पुराणों और गीता आदि के प्रसंग उद्धृत हुए हैं। इनके अतिरिक्त प्राकृत ग्रन्थ जो अश्वघोष से भी प्राचीन माने जाते हैं उनमें भी भगवान् बुद्ध के उपदेशों में गीता के उपदेशों की छाया, गीता रहस्य में लोकमान्य तिलक ने और बौद्ध धर्मदर्शन में आचार्य नरेन्द्र देव ने अनेक जगह बतायी है। धम्मपद (श्लोक ३६०, ४२३) और सुत्तनिपात के मुनिसुत्त तथा धम्मिक सुत्त में पूर्णावस्था को पहुँचे हुए बौद्ध भिक्षुओं के जो लक्षण दिये हैं वे गीता के द्वितीयाध्याय में बताए हुए स्थित प्रज्ञ के लक्षणों की, चतुर्थाध्याय में श्लोक–१९–२४ में बताये हुए कर्मयोगी के लक्षणों की और द्वादश अध्याय में आये हुए भक्तों के लक्षणों की छाया ही है। धम्मपद (श्लोक ४०, ४१, ९१) और सुत्त निपात मुनिसुत्त (१.७) दूयतानुपस्सनसुत्त (२१, २३) एवं विनयपिटक चल्लवगा (४–४७) में कहा गया है कि "ज्ञानी पुरुषों के लिए जो वस्तु प्रकाशमान है वह अज्ञानी को अन्धकार के सदृश है" यह स्पष्ट ही गीता के (२, ६९) श्लोक की छाया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्तिसंयमी।
यस्यां जाग्रतिभूतानि सा निशा पश्यतोमुनेः॥

एवं मुनिसुत्त के दसवें श्लोक का यह वर्णन है कि ऐसा पुरुष न तो स्वयं कष्ट पाता है न दूसरों को कष्ट देता है। यह भी गीता के इस भक्त लक्षण की छाया है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

सल्ल सुत्त १ और ९ के ये विचार कि "जो जन्म लेता है वह मरता है तथा प्राणियों का आदि अन्त अव्यक्त है" इत्यादि गीता के द्वितीयाध्याय के श्लोकों से बिलकुल मिलते हैं। और गीता के दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन करते हुए "ज्योतिष्मान पदार्थों में सूर्य नक्षत्रों में चन्द्रमा वेद के छन्दों में गायत्री मेरा रूप है" यह जो कहा गया है वह इनकी श्रेष्ठता बताते हुए सेल सुत्त के २१ वें और २२ वें श्लोकों में तथा महाभारत (छ०३५, ८) में ज्यों का त्यों पाया जाता है। धम्मपद में बुद्धदेव का यह वचन उद्धृत है कि "अत्ताहि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनोगति" यह भी—"आत्मैवह्यात्मनोवन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" "वन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः" इन उपदेशों की छाया ही है। इसी प्रकार "अनेकजन्म सन्सिद्धस्ततो याति परांगतिम्" इस गीता के वचन के आधार पर भी बौद्ध ग्रन्थों में यह उपदेश मिलता है कि स्रोत आपन्न फल का अधिगम करने वाला योगी—जिसकी विमुक्ति निश्चित हो जाती है और आशु होती है वह अधिक से अधिक सात या चौदह जन्मों में निर्वाण का लाभ करेगा।" गीता के दूसरे अध्याय में जिसे ब्राह्मी स्थिति कहा गया उसके लक्षणी बौद्ध

सिद्धान्त में जैसे "सम्यक् सम्बोधि" अनुत्तरा बोधि "प्रज्ञापारमिता" आदि में मिलते हैं, इसी प्रकार "ब्राह्मविहार" नाम भी मिलता है। चौथी शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् असंग ने इस परिस्थिति का वर्णन करते हुए "ब्राह्मविहारै विहरत्युदारैः" लिखा है। सोचने की बात है कि जब बौद्ध दर्शन में ब्रह्म को कोई तत्व ही स्वीकृत नहीं है तब इस स्थिति को "ब्रह्मविहार" पद क्यों मिला। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वहाँ न केवल परिस्थिति का रूप ही गीता से लिया गया है प्रत्युत ब्राह्मी स्थिति यह नाम भी विहार में परिवर्तित कर लिया गया है। यही स्थिति "ब्रह्म निर्वाण" शब्द की भी है। गीता में मोक्ष के लिए "ब्रह्म निर्वाण" शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है ब्रह्म में लीन होना। किन्तु बौद्ध-सिद्धान्त में ब्रह्म नहीं माना जाता। इसलिये उन्होंने ब्रह्म शब्द हटाकर निर्वाण शब्द रख लिया, जिसका अर्थ होता है बुझ जाना। इससे सिद्ध है कि यह शब्द गीता से बौद्ध मत में गया है, न कि वहाँ से गीता में आया है। क्योंकि निर्वाण शब्द का लीन होना अर्थ ही व्याकरण की रीति से स्वारसिक है। बुझ जाना अर्थ लक्षणा द्वारा कल्पित है। इसलिये ब्रह्म निर्वाण शब्द ही पहिले मोक्ष के लिए व्यवहृत हुआ। बौद्ध दर्शन में वह केवल निर्वाण रह गया। बौद्ध धर्म के अनुयायी विद्वान् शान्तिरक्षित ने अपने "तत्व संग्रह" ग्रन्थ में गीता का यह पद्यार्थ उद्धृत किया है कि—"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"। और सन्देह भी नहीं हो सकता है कि गीता में ही यह वहाँ से लिया गया है, क्योंकि स्वयं शान्तिरक्षित ने "साधुगीतमिदं ततः" कहकर यह श्लोक लिखा है। इससे सिद्ध है कि उन्होंने ही दूसरी जगह से उद्धरण के रूप में यह श्लोक लिया है। इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट सिद्ध किया है और आचार्य नरेन्द्र देव आदि ने भी माना है कि बौद्धों का महायान संप्रदाय गीता के आधार पर ही बना है। बुद्ध भगवान् की शिक्षा निवृत्ति मार्ग को ही प्रधान मानने की थी। उनने बौद्ध भिक्षुओं को एकान्ततः कर्म का परित्याग ही सिखाया था। किन्तु महायान संप्रदाय ने बौद्ध भिक्षुओं को भी प्रचार कार्य की शिक्षा दी गई। और उसका फल भी हुआ कि बौद्ध भिक्षुओं ने सम्पूर्ण भूमण्डल में बौद्ध मत का सन्देश पहुँचाया। यह प्रवृत्ति प्रधानता निवृत्ति प्रधान बौद्धधर्म में कहाँ से आयी इस बात पर वर्तमान युग में अनेक विद्वानों ने विचार किया है। सबही प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निवृत्ति और प्रवृत्ति का सम्मिश्रण गीता के आधार पर ही हुआ है। गीता और उसमें प्रतिपादित भागवतधर्म ही यह शिक्षा देता है कि राग द्वेष वियुक्त ज्ञान प्रधान होकर भी व्यक्ति को लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को अपने मत के प्रचार के लिए बौद्धों के महायान मार्ग ने अपनाया। स्वयं बौद्ध धर्मानुयायी प्राचीन ग्रन्थकार तारानाथ ने माना है कि महायान मार्ग की प्रतिष्ठा गीता के उपदेश के आधार पर ही हुई है।

इसी प्रकार जैनाचार्यों के ग्रन्थों में भी उद्धरणों द्वारा गीता का सम्मान प्रकट होता है। जैनाचार्य सिंहसेनगणी ने अपनी तत्त्वार्थ टीका में जो कि

यीसुख्रिष्ट की छठी शताब्दी के अन्त में बनी है, उसमें गीता के श्लोकों का उल्लेख किया है। और जैनाचार्य हरिभद्र ने भी गीता के श्लोक उद्धृत किये हैं। पांचवी शताब्दी के संघदासगणी रचित वसुदेव हिन्दी नामक जैन कथा ग्रन्थ में भागवत धर्म और भगवद्गीता का नाम स्पष्ट रूप से मिलता है। और तो क्या लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य के बहिरंग परीक्षा प्रकरण के "गीता और ईसाइयों की बाइबल" शीर्षक लेख में दिखाया है कि "बाईबिल" में यीसुख्रिष्ट के उपदेशों में भी गीता के उपदेशों की छाया मिलती है। गीता में ज्ञान के प्रकरण में आया है कि—

"येनभूतान्यशेषेणद्रक्षस्यात्मन्यथोमयि"

इसी की छाया रूप में बाईबिल के जान० १४–२१ में मिलता है कि "उस दिन तुम जानोगे कि मैं अपने पिता में तुम मुझमें और मैं तुम में हूँ" इसी प्रकार जान० १४, २१ में यह भी मिलता है कि "जो मुझ पर प्रेम करता है उसी पर मैं प्रेम करता हूँ" यह गीता के—

"प्रियोहि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः" ।
"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्" ॥

इत्यादि वाक्यों की स्पष्ट छाया है। गीता के जर्मन अनुवादक डा० लारिनसर ने ऐसे प्रसंग बहुत दिखलाये थे जिनमें गीता और बाईबिल के उपदेशों में समानता प्रतीत होती है। इनका उद्देश्य यह सिद्ध करने का था कि गीता बाईबिल के बाद बनी है और बाईबिल के आधार पर ही गीता के वाक्य रचे गये हैं। बाईबिल ही संसार में भक्तिमार्ग प्रसारित करने का पहिला ग्रन्थ है। किन्तु जब प्रमाणों की गवेषणा करते हुए यूरोप के ऐतिहासिक विद्वानों ने भी गीता का यीसुख्रिष्ट के अनन्तर होना स्वीकार नहीं किया, गीता को यीसुख्रिष्ट से प्राचीन ही माना तब बात उल्टी पड़ने लगी। यह सिद्ध होने लगा कि यीसुख्रिष्ट ने ही गीता के उपदेशों की छाया ली है। तब यूरोप के विद्वानों ने यह छाया मानने का अपना स्वर बदल दिया। अब ऐसी समानताओं को "आकस्मिक" (इत्तफाकिया) माननें लगे। कई यूरोप के विद्वानों ने हजरत यीसुखीष्ट की बौद्ध धर्म की जानकारी भी अनेक प्रमाणों से सिद्ध की है। और बौद्ध धर्म का गीता से सम्बन्ध तो हम पूर्व बता ही चुके हैं। अस्तु इस प्रवचन में हमने अधिकतर लोकमान्य तिलक की बहिरंग परीक्षा के आधार पर ही गीता का महत्व सिद्ध किया है। कुछ बातें अन्यत्र से भी ली हैं। इन सबसे सिद्ध यही होता है कि भगवद्गीता का जब से आविर्भाव हुआ तब से ही इसका महत्व न केवल भारत में किन्तु अन्य देशों में भी क्रम से प्रतिष्ठित होता गया और आज तक भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही जा रही है। ऐसे ग्रन्थ का भारतवर्ष में प्रादुर्भाव हुआ यह इस देश का परम सौभाग्य मानना चाहिए। और संसार में महत्व पाये हुए अपने सर्वस्वभूत इस ग्रन्थ का भारतवासियों को गर्व, समादर और अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

चतुर्थ-पुष्प

भगवद्गीता श्रुति है वा स्मृति

पूर्व प्रवचन में कहा गया है कि भगवद्गीता यह स्त्रीलिंग शब्द उपनिषत् के साथ विशेषण रूप से जोड़ा जाने के कारण मूलतः व्यवहार में आया है। और भगवद्गीता में अनेक ऐसे सिद्धान्त भी प्रस्फुट हुए हैं जो इससे पूर्व गूढ़ रूप में ही थे। स्पष्टीकरण में नहीं आये थे। अब प्रश्न यह होता है कि उपनिषत् तो श्रुति नाम से प्रसिद्ध है। जब भगवद्गीता भी उपनिषत् है तो फिर इसे श्रुति ही कहना चाहिए। फिर श्री शंकराचार्य आदि आचार्यों ने ब्रह्म सूत्र के भाष्यों में स्मृति नाम से इसके वचनों को क्यों उद्धृत किया? इसके लिए श्रुति और स्मृति का कुछ दिग्दर्शन यहां कराना आवश्यक है। श्रुति अर्थात् वेद को आर्य संस्कृति में अनादि और अपौरुषेय माना जाता है। नये नये कल्प के आरम्भ में अर्थात् प्रलय के अनन्तर जब पुनः सृष्टि होती है तब ईश्वर के निःश्वास रूप से वेदों का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा उपनिषदों में कहा गया है—

"एवं वा अरे अस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेतद्यद्
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः" इत्यादि।

इसका तात्पर्य यही है कि शरीरों में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। एक इच्छा-ज्ञान पूर्वक की जाती है; जैसे वाणी हाथ पैर आदि की क्रियाएँ। दूसरी वे हैं जो बिना ज्ञान इच्छा के ही स्वतः होती रहती हैं। श्वास-प्रश्वास दूसरे प्रकार की क्रियाओं में हैं। मनुष्य स्वतन्त्रता से अपनी इच्छा पूर्वक श्वास-प्रश्वास चलाने में समर्थ नहीं है। वे स्वतः ही निरन्तर चलते रहते हैं। इसी प्रकार वेदों को ईश्वर ने इच्छा पूर्वक श्रम से नहीं बनाया; किन्तु अनादि वेद स्वतः ईश्वर से लीला रूप से हो जाते हैं। दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जैसे जीवित मनुष्य को ज्ञान श्वास प्रश्वास के द्वारा ही होता है, वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी वेदों के द्वारा ही हो सकता है। वेदप्रादुर्भाव का विस्तार से वर्णन यहां अनावश्यक है। यहां केवल इतना ही कहना है कि श्रुति वा वेद अनादि और पुरुष प्रयत्न से साध्य नहीं है। वेदोक्त अर्थों को मनुष्य किसी दूसरे प्रमाण से नहीं जान सकता। ईश्वर की कृपा और प्रेरणा से ही वे ऋषियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत होते हैं। और ज्ञानरूप वेद नित्य हैं; इसलिए उन्हें ईश्वर-निर्मित भी नहीं कहा जा सकता। ईश्वर से वा ब्रह्मा से उन नित्य वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों के अन्तःकरण में होता है। ऋषियों द्वारा वे शब्द रूप में प्रकट किए जाते हैं। फिर वेदों के आधार पर जो ऋषिमुनि आदि के उपदेश होते हैं वे स्मृति नाम से कहे जाते हैं। श्रुति शब्द का अर्थ है सुनना वा साक्षात् सुना हुआ विषय।

और स्मृति शब्द का अर्थ है पूर्व सुने हुए का स्मरण करना वा स्मरण किया हुआ विषय। तपस्या करते हुए ऋषियों के अन्तःकरण में जो ध्वनि स्वतः प्रादुर्भूत हुई जिसे उन्होंने स्वयं सुना, किसी के कहने वा बताने से जो विषय ज्ञात नहीं हुए उनके प्रतिपादक वाक्य श्रुति कहे जाते हैं। और अपने बड़ों से उपदेश प्राप्त कर उसका जो समय समय पर स्मरण किया जाता है वा स्मरण कर औरों को उपदेश दिया जाता है वे उपदेश स्मृति कहे जाते हैं।

दूसरी विशेषता श्रुति और स्मृति में यह भी है कि श्रुति में नियत शब्दों का ही आग्रह रहता है। शब्दों में यदि कुछ भी परिवर्तन कर दिया जाय तो अर्थ चाहे एक सा ही रहे किन्तु वह श्रुति नहीं रहती। और स्मृति में केवल अर्थ पर ही दृष्टि रहती है। उसी उपदेश को बताने वाले शब्द भिन्न भिन्न भी हो सकते हैं। शब्दों की प्रधानता होने के कारण ही श्रुति के उपदेश में अधिकारी और देश काल का सब विचार करना पड़ता है। किसी भी मनुष्य को किसी भी दशा में श्रुति का उपदेश नहीं दिया जा सकता। उसके लिए अधिकारी चाहिए और देश काल की पवित्रता भी होनी चाहिए। इन दोनों दृष्टियों से विचार करने पर पहली दृष्टि से तो गीता श्रुति-ही हो सकती है क्योंकि इसके उपदेष्टा भगवान् कृष्ण परब्रह्म के ही रूप हैं। वे नित्यज्ञान स्वरूप हैं। उनका ज्ञान नित्य और स्वतः प्रकाश है। किसी दूसरे से प्राप्त वह नहीं कहा जा सकता। इसलिए उनका उपदेश श्रुति ही कहा जा सकता है। किन्तु दूसरी बात यहाँ घटित नहीं होती। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य महाराज ने अपने अणु-भाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि भगवान् से निःश्वास रूप में प्रकट होने वाले मन्त्रब्राह्मणात्मक वाक्य तो श्रुति कहे जाएँ और साक्षात् नित्यज्ञान भगवान् के मुख से निसृत भगवद्गीता स्मृति कही जाय, इसका क्या कारण हो सकता है। इसका उत्तर उन्होंने यही दिया है कि श्रुति रूप उपदेश का देश काल वहाँ उपस्थित नहीं था। वह युद्ध का समय था सबके मन चंचल थे। शस्त्रास्त्र बाँधे सब खड़े थे। वाहनों पर बैठे थे। ऐसी स्थिति में देशकाल की पवित्रता का होना संभव कहाँ ? गुरुशिष्य की स्थिति भी विचित्र है। उपदेष्टा गुरु सारथी बनकर घोड़ों की लगाम पकड़े बैठे हैं शिष्य उन्हें आज्ञा दे रहा है कि कृष्ण ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करो। गुरु को शिष्य की आज्ञा माननी पड़ती है। ऐसी स्थिति में साक्षात् श्रुतिरूप उपदेश कैसे हो सकता है। यद्यपि आवश्यकता देखकर उपदेश भगवान् को देना पड़ा और जैसा कि हम आगे प्रथमाध्याय के विवरण में दिखावेंगे, कालानुरूप मर्यादा का पालन भी उनने किया। बिना प्रश्न और शरणागति के उपदेश का आरम्भ नहीं किया। किन्तु फिर भी साक्षात् श्रुति रूप उपदेश का देश काल तो उपयुक्त न समझा। दूसरी बात यह भी थी कि विश्वरूपदर्शन से पूर्व अर्जुन उन्हें एक महापुरुष ही मानता था। साक्षात् परब्रह्म रूप में मानने में उसका दृढ़ विश्वास नहीं था। यह भगवद्गीता के ही एकादश अध्याय से सिद्ध हो जाता है। तब यदि भगवान्

अपने विचार ही उसे बतलाते तो उसकी पूर्ण आस्था होने में सन्देह रहता। इसलिए भगवान् ने पूर्व प्रकट की हुई श्रुतियों के आधार पर ही उपदेश देना उचित समझा। यही बात हमने प्रथम प्रवचन के गीता के मंगल रूप में पढ़े जाने वाले श्लोकों के विवरण में कही है कि गोपाल ने उपनिषद् रूप गौओं को दोह कर यह गीतामृत निकाला। इससे उपनिषदों के आधार पर यह उपदेश था; नया ज्ञान नहीं दिया गया था। फिर यह श्रुति कैसे हो सकती है। यह दूसरी बात है कि उनने श्रुतियों के उपदेश को ऐसा सजा दिया कि श्रुतियों के गूढ़ रहस्य भी प्रकट हो गये जो इससे पूर्व मुनियों और आचार्यों के ध्यान में भी न आते थे। इसीलिए तृतीय प्रवचन में हमने भागवत धर्म, कर्मयोग, अव्यय पुरुष आदि का भगवद्गीता में ही प्रथम प्रस्फुट होना कहा है। वस्तुतः हैं वे सब श्रुति मूलक ही; इसलिए भगवद्गीता स्मृति ही कही जा सकती है। साक्षात् श्रुति नहीं। उपनिषदों का गूढ़ तत्त्वभूत सार होने के कारण आदर के लिए उसे उपनिषद् शब्द से पूर्वोक्त पुष्पिकाओं में कहा गया है। विद्यावाचस्पति श्री गुरुवर श्री मधुसूदन ओझा जी ने उपनिषद् पद प्रयोग के दो कारण अपने गीता भाष्य के शास्त्र रहस्य प्रकरण में बताए हैं। एक यह कि इसे भगवत्गीतोपनिषत् कहा गया है। गीत शब्द बार-बार एक वाक्य को दुहराने में ही प्रयुक्त होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह साक्षात् उपनिषद् नहीं; दोहराई हुई उपनिषद् है। और यह बात ठीक ही है। क्योंकि उपनिषदों के अर्थ ही इसमें दुहराए हुए है। इसलिए गीतोपनिषत् शब्द विरुद्ध नहीं पड़ता। दूसरी बात यह है कि उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ किसी विशेष बात का रहस्य बताना है। अंग्रेजी के Principle शब्द का जो तात्पर्य है, वही संस्कृत के उपनिषद् शब्द का भी है। छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि ब्राह्मणों के नाम उपनिषद् शब्द से इसीलिए कहे गए हैं कि उनमें कर्मकाण्ड की विधियों का और जगदुत्पत्ति आदि का रहस्य रूप मूल तत्त्व सिद्धान्त वर्णित है। ऐसा वर्णन यदि किसी स्मृति में भी आवे तो वह भी उपनिषद् शब्द, से अवश्य कही जा सकती है। भगवत्गीता में जैसा कि हम प्रथम वा द्वितीय प्रवचन में स्पष्ट कर आए हैं धर्म का रहस्य रूप मूल तत्त्व बताया गया है। और अव्यय पुरुष वा बुद्धियोग आदि का विस्पष्ट निरूपण इस रूप से इसी में हुआ है कि जिससे सबको समझ में आ सके। श्रुति में यह विषय गूढ़ थे। इसलिये रहस्यों का स्पष्ट विवरण करने के कारण गीता स्मृति होने पर भी उपनिषद् शब्द से कही जाती है। किन्तु उपनिषत् का आधार ले लेने के कारण वह स्मृति ही है। इसीलिए भगवान् ने स्थान स्थान पर "ऋषिभिर्बहुधा गीतम्" (ऋषियों ने यह विषय अनेक प्रकार से कहा है) इत्यादि रूप से अन्य ऋषि आदि के कथन को प्रमाण रूप से उपस्थित किया है। इससे भगवान् ने ही इसकी स्मृति रूपता स्थापित कर दी।

एक और भी विशेष बात है। प्रथम प्रवचन में कह आये हैं कि भगवान् ने उपदेश दिया और श्री वेदव्यास जी ने इसका ग्रन्थ रूप में ग्रन्थन किया।

भगवान् वेदव्यास इसके उपदेशों का लाभ सबको पहुँचाना चाहते थे। श्रुति का अधिकार सबको नहीं होता। जिनका उपनयन संस्कार हो गया हो ऐसे द्विजाति ही श्रुति के अधिकारी होते हैं। इसलिए यदि व्यासदेव भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में ही श्रुति रूप से इसे प्रकट करते तो उपनीत द्विजों से अतिरिक्त सर्व साधारण इसका लाभ न उठा सकते। कोई भी इस उपदेश के लाभ से वंचित न हो, इसलिए उन्होंने अपने शब्दों में स्मृति रूप में ही उसे प्रकट किया। इतना ही नहीं, जहाँ जहाँ गीता में उपनिषदों के वाक्य ही उद्धृत हुए हैं, उनमें भी थोड़ा शब्दों का परिवर्तन कर दिया है जिससे वे श्रुति रूप न रहें और सर्व साधारण उनसे लाभ उठा सकें। भगवान् व्यास जी ने जैसे वेदों का विभाग महाभारत व पुराणों का निर्माण आदि महत्वपूर्ण कार्य साहित्य क्षेत्र में किये इसी प्रकार सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी उनके कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् व्यास, साहित्यिक क्षेत्र की भाँति, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी एक प्रमुख नेता थे और इन दिशाओं में भी उनकी कृति बहुमूल्य है।

उस युग में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन नामों से प्रसिद्ध द्विज-मात्र को था। शूद्र और स्त्री वर्ग वेदाध्ययन में अधिकृत नहीं थे। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों में भी जिनका नियत समय पर या विधिपूर्वक उपनयन संस्कार न हुआ हो, वे वेदाध्ययन के अधिकार से बहिष्कृत कर दिए जाते थे। यह सामाजिक नियम समाज और व्यक्तियों के हित के लिए ही था, द्वेषमूलकता इस नियम में नहीं थी, जैसा कि आजकल समझा जाता है। गम्भीर विद्या यदि अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता के हाथ में दी जाए तो वह उससे कोई लाभ नहीं उठा सकती। उसके समय की हानि तो होगी ही, बुद्धि पर अनुचित और अधिक दबाव पड़ने से बुद्धि के और अधिक बिगड़ जाने का भी भय रहता है, वैसे ही जैसे मंदाग्नि वाला पुरुष अधिक दुर्जर अन्न नहीं पचा सकता, और ऐसा अन्न खा लेने पर लाभ के स्थान में अधिक हानि ही उठाता है, अथवा जैसे दुर्बल पुरुष यदि अधिक व्यायाम करने लगे तो उसके शरीर की पुष्टि न होकर उलटी क्षीणता आने लगती है। इस प्रकार अल्प बुद्धि वालों को गम्भीर विषयों के चिन्तन से बचाना भी उन्हीं के हित में है। द्वेष का इसमें लेश मात्र भी नहीं। इसके अतिरिक्त अयोग्य मनुष्यों के हाथ में जाने से विद्या की भी हानि होती है। वह छिछली हो जाती है। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के योग्य विद्वानों के (एनिविसेन्ट आदि के) भी ऐसे सिद्धान्त प्रकाशित हुए हैं कि अति गम्भीर विद्या अनधिकारियों के हाथ में नहीं जानी चाहिए। ऐसा होने पर दोनों की हानि होती है, इत्यादि। अस्तु, इसीलिए पहिले बुद्धि का संस्कार कर फिर उसमें गम्भीर ज्ञान का आधार भारतीय संस्कृति में चला है। संस्कार का महत्व हम प्रथम प्रवचन में बतला आये हैं। इससे हितदृष्टि से ही यह नियम बना था। वर्तमान में भी पाश्चात्य विद्वानों में भी सुविख्यात विदुषी एनीवेसेएट ने कई

जगह अपने उपदेशों में कहा था कि अनधिकारी के हाथ में जाने से विद्या विकृत हो जाती है। और आधुनिक कई एक मनोविज्ञान के विश्लेषणों से भी यह सिद्धान्त प्रकट किया जाता है कि मन्द बुद्धि मनुष्यों को यदि उच्च शिक्षा दी जाय तो उनमें पापाचार बढ़ेगा और वे समाज के लिए अहितकर सिद्ध होंगे। ऐसे ही कारणों से स्त्री शूद्रादि को वेद जैसे गम्भीर विज्ञान को पढ़ाने का निषेध था।

फिर भी इस नियम का यह परिणाम तो हुआ ही कि जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय ज्ञान से वंचित रह गया। यह बात भगवान् व्यास के अन्तःकरण में बहुत खटकती थी। गम्भीर ज्ञान को भी सरल रूप देकर समस्त वर्गों में उसका अधिकाधिक प्रचार वह निरन्तर चाहते थे। इसी उद्देश्य से महाभारत और पुराणों की रचना में स्पष्ट लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

अर्थात् स्त्री, शूद्र और यथाविधि उपनयन संस्कार से रहित द्विज लोग वेद को पढ़-सुन नहीं सकते, इसलिए व्यास मुनि ने कृपा कर महाभारत की रचना की है।

महाभारत और पुराण भी उन्होंने ऐसे ही एक व्यक्ति को पढ़ाए, जो वेद का अधिकार नहीं रखता था। इससे भी उनका उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वह वेद के अधिकार से शून्य जातियों में भी ज्ञान का प्रसार चाहते थे। और किसी न किसी तरह उन जातियों के योग्य व्यक्तियों को भी उचित सम्मान दिलाना चाहते थे। उसका प्रतिफल भी खूब प्रकट हुआ। सूत जाति के रोमहर्षण और उग्रश्रवा ने वह सम्मान पाया, जो बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी दुर्लभ था।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उस समय धार्मिक असहिष्णुता समाज में बढ़ रही थी। भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न मतों का प्रचार हो जाने से उनके अनुयायी अलग-अलग समुदायों में बह रहे थे तथा कर्म, उपासना और ज्ञान भी जुदे-जुदे पन्थ बनकर समाज में भेदभाव फैला रहे थे। ज्ञानी उपासकों की निन्दा करते, उपासक कर्मकाण्डियों को छोटा समझते तथा कर्मकाण्डी और उपासक ज्ञानियों को ढोंगी कहते थे। अति होने पर वह विभिन्नता भी समाज के लिए घातक सिद्ध होती। यह खतरा भगवान् वेदव्यास की गम्भीर दृष्टि से बचा नहीं था। इस खतरे को मिटाने का उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में खूब प्रयत्न किया है।

महाभारत युद्ध में भगवान् कृष्ण का अर्जुन के प्रति जो गीतोपदेश था, उसे व्यासदेव ने ऐसा सजाकर महाभारत में रखा है कि सम्पूर्ण वाङ्मय

उससे देदीप्यमान हो गया। कर्म, उपासना और ज्ञान की ऐसी एक लड़ी बांधी गई है कि उनके परस्पर विरोध का कोई स्थान ही नहीं रहता। सब एक सूत्र में बंध गए हैं।

इसी प्रकार ब्रह्म सूत्र में अपना अलग-अलग राग अलापने वालों को ऐसी फटकार दी गई है कि भिन्नता लेकर वे खड़े ही नहीं हो सकते। व्यास जी का उद्देश्य यही था कि सब मार्ग एक सूत्र में बंधे रहें, परस्पर विरोधी रूप से कोई खड़ा न हो।

उनका कथन है कि उपनिषदों का जो तत्त्व निरूपण है, वही परमार्थ है। केवल शुष्क तर्क से अटकल लगाने वाले दर्शन तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते।

व्यास भगवान् ने धर्म के ऐसे ही अंगों पर विशेष जोर दिया है, जिनमें वर्णजाति का भेद रुकावट न डाले, मनुष्य मात्र का समान रूप से जिन पर अधिकार रहे। भगवद्भक्ति, नाम संकीर्तन, तीर्थ, व्रतोपवास आदि का ही विस्तृत संग्रह उन्होंने पुराणों में किया। इन धर्मों में कोई भी वर्णजाति का भेद-भाव नहीं रहता। श्रद्धालु मनुष्यमात्र उनका आचरण कर लाभ उठा सकते हैं। सच पूछिए तो आज की हिन्दूजाति का संगठन इन्हीं पर निर्भर है।

तीर्थों, मन्दिरों, और व्रतोत्सवों में ही समाज का प्रत्यक्ष रूप दृष्टि में आता है—और इन्हीं के आधार पर आज भी हिन्दू संस्कृति टिकी हुई है। यह भावना वेदव्यास जी की ही कृपा है। इन बातों का सूक्ष्म विचार करने से स्पष्ट अनुमान होता है कि वे कितने बड़े सामाजिक नेता थे। समाज संगठन का कैसा बीजवपन उन्होंने किया। वह बीज आज भी पुष्पित-फलित दशा में दृष्टिगोचर होता है।

साहित्य क्षेत्र का इतना भार उठाते हुए भी उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के लिए सुदूर देशों का भ्रमण किया, जिसका वृत्तान्त पुराणों में पाया जाता है। यह भी पुराणों से सिद्ध होता है कि उनका एक मण्डल था, जहाँ कहीं धर्म एवं संस्कृत पर आघात सुनते, वे मण्डल सहित वहाँ पहुँच जाया करते थे। और यथा सम्भव धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए प्रयत्न करते। ईरान आदि अन्यान्य देशों के इतिहासों से भी यह पता चला है कि व्यासजी समय-समय पर वहाँ भी पहुँचते थे, तथा पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त वहाँ के लोगों को समझाते थे।

भारत में तो संभवतः ऐसा कोई पर्व-उत्सव हुआ हो जहाँ व्यासदेव उपस्थित न रहे हों। समाज के नेता को भिन्न-भिन्न देशों का भ्रमण करना ही चाहिए। तभी वह समाज संगठन में सफल हो सकता है।

राजनीति के क्षेत्र में भी उनके कार्य अल्प नहीं हैं। उस युग में हस्तिनापुर का पुरुवंशियों का राज्य सबसे प्रतिष्ठित माना जाता था। इस राज्य की

जब सन्तान की अभाव से दुर्दशा उपस्थित हुई तब व्यासदेव ने ही अपने प्रभाव से उसे पुनः प्रतिष्ठित किया। जरासंध आदि दुष्ट राजाओं को भी जो औरों को उत्पीडित करते या संस्कृति का अधःपात करते थे, हस्तिनापुर राज्य द्वारा दण्ड दिलाने का व्यासजी का ही आयोजन था। इसी के लिए उन्होंने राजसूय यज्ञ करने के लिए युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया था, जिससे कि दिग्विजय द्वारा दुष्ट राजा दबा दिए जाएँ। आगे चलकर जब इस राज्य में ही धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में कलह छिड़ गया, तब उसे शान्त करने का व्यासदेव ने बहुत प्रयत्न किया। उनका बार-बार धृतराष्ट्र के पास जाना और उन्हें बहुत तरह समझाना महाभारत में खूब मिलता है। किन्तु, जब उन्होंने इस कार्य में सफलता न देखी और यह समझ लिया कि दुर्योधन हठी है और धृतराष्ट्र पुत्र के वश में हैं, तब उन्होंने पाण्डवों को सहायता देकर उन्हें बलवान् बनाना और उनके द्वारा दुर्योधनादि को दण्ड दिलाना उचित समझा। इसी उद्देश्य से बनवास काल में पाण्डवों के पास जाकर उन्होंने अर्जुन को मंत्रोपदेश दिया; तपस्या की विधि बताई और उन्हें हिमालय में तप करने के लिए भेजा, जिससे अर्जुन को अतुल शक्ति प्राप्त हुई और वे महाभारत का संग्राम जीत सके। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भी उनका बार बार आना जाना मिलता है। वे अभिमन्यु के वध से अत्यन्त संतप्त युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान के लिए गये थे। द्रोणाचार्य के वध के अनन्तर भी उनका सेना में जाना और अर्जुन को शतरुद्रीय का उपदेश देना पाया जाता है।

इतने भयंकर युद्धस्थल में आवागमन किसी उग्र तपस्वी और राजनीति से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाले का ही हो सकता है। पाण्डवों के बाद भी परीक्षित और जन्मेजय के काल तक व्यासदेव जाते-आते और उपदेश देते रहते थे। जन्मेजय एक प्रसंग में अड़ गये थे कि आप जैसे विज्ञ नेता के उपस्थित रहते भी महाभारत युद्ध में इतना जन संहार क्यों हुआ, आपको तो उसे अवश्य रोकना चाहिए था। व्यास जी ने उत्तर दिया कि भाई हमने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु अवश्यंभावी वस्तु को कोई टाल नहीं सकता उस समय ऐसा होना ही था, वह होकर ही रहा।

जब जन्मेजय ने बहुत हठ किया कि आप जैसे नेता तो हर तरह बुराई टाल सकते हैं, भावी कोई वस्तु नहीं, यत्न से सब कुछ हो सकता है, तब व्यासजी ने बड़े आवेश से कहा था कि वह तो जो होना था सो होगया, अब मैं तुम्हें आगे का भविष्य बतलाता हूँ। तुम्हीं पूरा बल लगा कर उसे टालने का यत्न करो।

उस समय जो भविष्य व्यासदेव ने बताया उसे बहुत यत्न करके भी जन्मेजय टाल न सके। अस्तु, प्रकृत में इतना ही कहना था कि भगवान् कृष्ण के उपदेशों का ग्रथन ग्रन्थ रूप में व्यासजी ने किया है और उन्होंने समाज के सब प्रकार के व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के लिए इसे स्मृति का ही रूप दिया है। व्यासजी के ग्रथित करने के कारण ही यह स्वतः स्मृति हो गई। स्वयं द्रष्टा का

वाक्य नहीं रहा; अन्य के वाक्य का स्मरण कर अन्य ने ग्रथन किया, यह स्मृति का लक्षण इसमें आगया।

अब प्रश्न यह होता है कि जब व्यासजी ने ही भगवद्गीता का ग्रथन किया था तो उन्होंने अपने ब्रह्म सूत्रों में स्मृति नाम से प्रमाण रूप में उपस्थित क्यों किया। अपने ही वाक्य को तो कोई भी अपनी उक्ति में प्रमाण रूप से उपस्थित नहीं कर सकता। इसका उत्तर यही है कि भगवान् कृष्ण की उक्ति मानकर ही उन्होंने इसे प्रमाण रूप से उपस्थित किया है। भगवद्गीता में जो विषय है वह तो कृष्ण का ही कहा हुआ है इसलिए उसके द्वारा व्यासजी अपनी उक्ति को प्रमाणित करें तो इसमें कोई भी अनौचित्य नहीं हो सकता। हम पूर्व ही श्रुति और स्मृति के विवेचन में कह आए हैं कि श्रुति में शब्दों पर ही आग्रह रहता है। शब्दों का परिवर्तन हो जाने पर ही श्रुतित्व जाता रहता है। वहाँ शब्द भी खास द्रष्टा के ही होने चाहिए। किन्तु स्मृति में विषय की रक्षा ही आवश्यक है। शब्दों का आग्रह नहीं। इसलिए शब्द व्यासजी के होने पर भी उपदेश का विषय भगवान् कृष्ण का कहा हुआ है अतः गीता भगवान् कृष्ण की ही उक्ति मानी जाती है और उसे व्यासजी अपने सूत्रों में प्रमाण रूप से उपस्थित करें तो इसमें कोई विरोध नहीं होता। आजकल के जो कई विद्वान् महाभारत आदि का प्रणेता कृष्ण द्वैपायन व्यास को और ब्रह्म सूत्रों का प्रणेता वादरायण व्यास को बताकर इन दोनों को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं वह उनका कथन भारतीय परम्परा के विरुद्ध है। भारतीय परम्परा में एक ही व्यास के अनेक नाम माने जाते हैं। व्यक्ति भेद उनमें नहीं माना जाता। कृष्ण उनका व्यक्तिगत नाम है और सब नाम भिन्न-भिन्न कारणों से प्रसिद्ध हुए हैं। वेदों का व्यसन अर्थात् विभाग करने के कारण व्यास नाम से प्रसिद्धि हुई। द्वीप में उत्पन्न होने के कारण वे ही द्वैपायन कहलाये और वदरीवन में तपस्या करने के कारण उनकी ही वादरायण नाम से प्रसिद्धि हुई। इन नामों के भेद मात्र से व्यक्ति भेद की कल्पना केवल कल्पना मात्र है। इसके अतिरिक्त महाभारत और गीता के मंगल रूप से पढ़े जाने वाले पद्यों में तो वादरायण नाम है भी नहीं। वहाँ द्वैपायन व्यास आदि ही नाम मिलते हैं। जैसा कि गीता के मंगल पद्यों में हम कह आए है। गीता के तेरहवें अध्याय में ब्रह्म सूत्र का नाम आता है। इससे ब्रह्म सूत्रों की गीता से प्राचीनता सिद्ध होती है फिर ब्रह्म सूत्रों में स्मृति पद से गीता के वाक्यों का ग्रहण कैसे? इस शंका का समाधान तेरहवें अध्याय के उस श्लोक के व्याख्या में ही किया जायगा। यहाँ केवल इस प्रवचन का सारांश यही है कि भगवद्गीता के उपदेष्टा साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं और ग्रन्थ रूप ग्रथन कर महाभारत में सम्मिलित करने वाले भगवान् व्यास हैं। सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिए इसे स्मृति रूप ही रखा गया है।

इस प्रवचन में हमने कहा है कि भिन्न-भिन्न दर्शनों के कारण उनके अनुयायी पुरुषों में परस्पर संघर्ष होने से समाज के विद्वानों में विरोध-सा

बढ़ रहा था। उसे भी व्यास भगवान् ने अपने वेदान्त सूत्रों द्वारा दूरकर एक उपनिषत् प्रतिपाद्य दर्शन को ही मुख्य ठहराया, और भगवद्गीता के प्रवचनों में भी स्थान-स्थान पर भिन्न दर्शनों की चर्चा आवेगी, इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ सब दर्शनों का भी अति संक्षिप्त सामान्य परिचय करा दिया जाय।

जिनमें आत्मा परमात्मा आदि का निरूपण है, जगत् के मूलतत्व की खोज की गई है, जगत् की उत्पत्ति एवं अपने मन्तव्य के आधारभूत प्रमाणों का निरूपण भी जिनमें है, उन शास्त्रों को दर्शन शास्त्र नाम से कहा जाता है। श्रुति में आदेश है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् आत्मा का ही दर्शन करो। यह विधान किया गया। इसके उपाय भी श्रुति ही बताती है कि श्रवण करो मनन करो और निरन्तर ध्यान करो, तब दर्शन होगा। इसका अनुवाद स्मृति में किया गया कि—

श्रोतव्यः श्रुति वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वाच सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

अर्थात् श्रुति वाक्यों से आत्मा का श्रवण करो, श्रुति वाक्यों का किस प्रकार के आत्मा के प्रतिपादन में तात्पर्य है इस प्रकार श्रुति वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय कर लेना तक श्रवण की सीमा में आ जाता है। श्रुति का तात्पर्य समझकर उस पर उपपत्ति अर्थात् युक्तियों से विचार करना मनन कहा जाता है। जब युक्तियों से भी निश्चय हो गया, तब उसका निरन्तर ध्यान करना—अर्थात् चित्तवृत्ति को उसी में स्थापित करना "निदिध्यासन" कहलाता है। इनसे आत्म दर्शन हो जाता है। दर्शन शब्द का अर्थ आँख से देखना भी है, और ज्ञान सामान्य में भी दर्शन का प्रयोग होता है, एवं विस्पष्ट ज्ञान भी दर्शन शब्द का वाच्य है। आत्मा रूपादि रहित है इसलिये उसका चाक्षुष ज्ञान तो हो ही नहीं सकता, सामान्य ज्ञान, अर्थात् सुनी-सुनाई बात से कोई लाभ नहीं, इसलिये तीसरा अर्थ विस्पष्ट ज्ञान ही यहाँ अभिप्रेत है। उक्त तीनों कारणों से आत्मा का विस्पष्ट ज्ञान हो जाता है, जैसे आँख से देखी हुई वस्तु में फिर कोई भ्रम सन्देह आदि का प्रसंग नहीं रहता। इसी प्रकार का भ्रम सन्देह आदि से रहित आत्मा का ज्ञान हो जाना ही आत्म दर्शन है। यहीं से दर्शन शब्द की प्रवृत्ति हुई। विस्पष्ट ज्ञान के साधन उक्त तीनों श्रवण मनन आदि भी दर्शन कहलाये, उनमें भी निदिध्यासन तो केवल मन बुद्धि का व्यापार है, उसका शब्द से सम्बन्ध नहीं। और श्रवण केवल परोक्ष ज्ञान का उत्पादक है, इसलिये मनन ही दर्शन के कारणों में प्रधान समझा गया, और युक्ति पूर्वक सपरिकर आत्मा का निरूपण करने वाले शास्त्र ही दर्शन नाम से कहलाने लगे।

दर्शन शास्त्र छः हैं, ऐसी बहुत पुरानी प्रसिद्धि चली आ रही है। बहुत ग्रन्थकारों ने उन छः की गणना इस प्रकार की है—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग,

पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त। ये छहों दर्शन वेद को मुख्य प्रमाण मानते हैं, किन्तु विशेष विचार के पश्चात् यह गणना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि न्याय और वैशेषिक पृथक्-पृथक् दर्शन नहीं कहे जा सकते, उन दोनों में आत्मा परमात्मा का स्वरूप एक सा ही माना गया है। पदार्थों की गणना में, और प्रमाणों की गणना में कुछ भेद बताया जाता है किन्तु वह भी नाम मात्र का भेद है। वस्तुतः बात ऐसी है कि न्याय कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं, उसमें तो विचार करने के नियम बताये गये हैं। वादी-प्रतिवादी रूप से जो विचार अर्थात् विवाद किया जाय, उसके आवश्यक नियमों का निरूपण "गौतम" के न्याय में किया गया है, और उसी विचार में जिन-जिन बातों की आवश्यकता है, उनकी गणना आरम्भ में की गई है। अब विचार की पद्धति बिना उदाहरण के समझाई नहीं जा सकती, इसलिये उदाहरण रूप में उनने "कणाद" के वैशेषिक दर्शन के तत्त्वों को ले लिया, उनको ही अपने युक्तियों से दृढ़ किया। इसलिये न्याय तो सब दर्शनों का पूर्वांग कहा जा सकता है। उसे दर्शनों की गणना में पृथक् रूप से लेना उचित नहीं। यदि लेना ही हो तो यह कह कर ले सकते हैं कि न्याय और वैशेषिक मिलाकर एक दर्शन है। यदि उनमें कुछ अंशों में भेद भी माना जाय तो भी इससे भी एक दर्शन की दो शाखा ही सिद्ध होगी, पृथक्-पृथक् दो दर्शन उन्हें किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी ही स्थिति सांख्य और योग की भी है। सांख्य के आचार्य "कपिल" और योग के "पतंजलि" माने जाते हैं। इन दोनों के तत्त्व निरूपण भी समान हैं। इसलिये इनको भी पृथक्-पृथक् दर्शन नहीं कहा जा सकता। जैसे न्याय को सब दर्शनों का पूर्वांग कह सकते हैं, इसी प्रकार योग को सब दर्शनों का उत्तरांग कहना उचित होगा। क्योंकि उसमें निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करने की विधि बताई गई है। ध्यान के आधार के लिये योग में ईश्वर भी माना गया है, किन्तु जगत् की सृष्टि में उस ईश्वर का कुछ उपयोग नहीं माना गया। तत्त्व निरूपण दोनों शास्त्रों का समान ही हैं। इसलिये ये दोनों भी मिलाकर एक दर्शन ही कहे जा सकते हैं, वा अधिक करें तो इन दोनों को भी एक दर्शन की दो शाखा कह लीजिये। एक बात यहां और समझ लेने की है कि भगवद्गीता में सांख्य और योग शब्दों का प्रयोग और ही भाव से हुआ है। उसका निरूपण जिन पद्यों में ये शब्द आवेंगे उनके प्रवचन में ही स्पष्ट किया जायेगा।

पूर्व मीमांसा तो कर्मकाण्ड की विधियों का वाक्यार्थ बताने के लिये ही प्रस्तुत हुई, उसे दर्शनों की श्रेणी में गिनना तो एक साहस जैसा दिखाई देता है। यद्यपि मीमांसा के भाष्य और उसकी व्याख्या आदि में दर्शनोक्त आत्मादि तत्त्वों का भी निरूपण कहीं कहीं प्राप्त होता है किन्तु वह केवल प्रसंगागत है। सूत्रकार ने दार्शनिक तत्त्वों के सम्बन्ध में सूत्र रचना नहीं की, व्याख्याता विद्वानों ने कहीं कहीं दार्शनिक तत्वों के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त कर दिये हैं, वे कहीं अन्य दर्शनों की छाया मात्र हैं, कहीं स्वतन्त्र भी हैं, जो उन विद्वानों के ही मत माने जा सकते हैं। इससे पूर्व मीमांसा का दर्शनत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि

सूत्रकारों का कथन ही मुख्य माना जाता है। मीमांसा के सूत्रकार जैमिनि की प्रवृत्ति आत्मादि तत्व निरूपण के लिये नहीं देखी जाती। वे केवल कर्मकाण्ड की विधियों का सन्देह निवारण के लिये ही प्रवृत्त हैं। यद्यपि उत्तर मीमांसा का भी विषय उपनिषद् वाक्यों का विचार ही मुख्य है, किन्तु वहाँ सूत्रकार भगवान् व्यास ने ही युक्ति पूर्वक आत्मादि तत्व ज्ञान को स्थान दे दिया है, और अन्यान्य दर्शनों का खण्डन भी बड़े विस्तार से किया है। इसलिये उसे दर्शनों की श्रेणी में गिनना अवश्य प्राप्त हो गया, अस्तु! इस प्रकार वेद के अनुयायी दर्शन तीन ही सिद्ध होते हैं—वैशेषिक, सांख्य और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त। तब छः संख्या की पूर्ति यदि अभीष्ट हो तो उन तीन दर्शनों को भी स्थान देना पड़ेगा जो कि वेद को प्रमाण नहीं मानते। वे हैं—चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त। इनकी अवान्तर शाखाओं की गणना बहुत हो जाती है, उतने विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इन छः के ही मोटे मोटे सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में बता दिये जाते हैं।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में इन दर्शनों का क्रमिक विकास, विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। देखिये—सबसे पहिला चार्वाक दर्शन स्थूल शरीर को ही "आत्मा" कहता है। इसके मत में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इन्द्रियों से जानने योग्य वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता यहां नहीं मानी जाती। आंख से दीखने वाला स्थूल शरीर ही आत्मा है, और जिसका ऐश्वर्य प्रत्यक्ष देखा जाता है वह राजा ही ईश्वर वा परमात्मा है। अशिक्षित मनुष्यों के प्रारम्भिक विचार प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। इसीलिये इसे लोकायत दर्शन भी कहा जाता है। लोक में आयत अर्थात् फैला हुआ। संसार में सुख से रहना खूब भोग विलास करना यही जीवन का लक्ष्य इस मत में माना जाता है। इनका एक श्लोक प्रसिद्ध है कि—

यावज्जीवेत् सुखंजीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् मनुष्य जब तक जीवे तबतक सुख पूर्वक जीता रहे, कदाचित् सुख भोगने के लिए अपने पास पैसा न हो तो ऋण लेकर भी घी पीता रहे। हम यदि किसी का ऋण लेकर मर जायेंगे तो अग्रिम जन्म में हमें देना पड़ेगा ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि जो शरीर हमारे सामने ही जलकर भस्म हो गया वह फिर से ऋण चुकाने कहाँ से आयेगा। इसलिये जो खा पी लेंगे वह अपना है। लोकमान्य तिलक ने अपने "गीता रहस्य" में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि "चार्वाक चाहे कितना ही नास्तिक था किन्तु था आखिर भारतीय, इसलिये उसके मुख से ऋण लेकर घी पीवो ऐसा ही निकला, यदि कोई यूरोपियन गोरा सैनिक लिखता तो "ऋणं कृत्वा सुरां पिवेत्" लिखता" अर्थात् ऋण लेकर मद्य पीया करो। ऐसी ही प्रवृत्ति उन लोगों में देखी जाती है। अस्तु,

इस मत की चर्चा गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी संपत्ति के निरूपण में आई है। इन्द्रियों से प्रत्यक्ष गृहीत होने वाले पृथिवी, जल, तेज, वायु नाम के चार तत्व ही इस मत में माने जाते हैं। इन्हीं के परस्पर संयोग से चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे कि वृक्ष की बकल और गुड़ आदि के संयोग से मंद शक्ति का आ जाना प्रत्यक्ष देखा जाता है। अथवा सड़े हुए अन्न में कृमिरूप चेतन जीवों का उत्पन्न हो जाना भी प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार रज और वीर्य के कालवश सड़ जाने पर चेतन शक्ति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। गीता के द्वितीयाध्याय में "अथचैनं नित्यजातं नित्यंवा मन्यसे मृतम्" इस पूर्वपक्ष पद्य में भी इस मत का संकेत प्राप्त होता है। इस दर्शन ने इतना ही किया कि प्राकृत जन जो पुत्र कलत्र, धन संपत्ति, गृह आदि में भी आत्म बुद्धि रखते थे उसे संकुचित कर शरीर मात्र पर आत्म बुद्धि को स्थापित कर दिया।

बौद्ध दर्शन इससे कुछ आगे बढ़ाता है। वह कहता है कि शरीर तो घट पटादि के समान पृथिव्यादि भूतों का बना हुआ है, इसे आत्मा कहने पर तो जड़ और चेतन का भेद ही विलुप्त हो जायगा, इसलिये चेतना में जो विशेषता है उसे ही आत्मा कहना चाहिये, वह विशेषता है बुद्धि-अर्थात् ज्ञान चेतनों में होता है अचेतनों में नहीं, अतः बुद्धि को ही आत्मा कहना उचित है, बुद्धि को आत्मा कहने के कारण ये "बौद्ध" कहे जाते हैं। बुद्धि क्षणिक है—अर्थात् क्षण-क्षण में बदलती रहती है। अभी हमें घट का ज्ञान है, दूसरे क्षण में मनुष्य का हो सकता है, तीसरे क्षण में वृक्ष का ज्ञान आ जायगा। ज्ञान ही बुद्धि है अतः बुद्धि क्षण-क्षण में बदलने वाली सिद्ध हुई। बुद्धि से अतिरिक्त और कोई आत्मा मानने में प्रमाण नहीं, इसलिये आत्मा भी क्षणिक ही सिद्ध होता है। उस क्षणिक आत्मा का एक प्रवाह है, उसी प्रवाह के कारण प्राणी अपने आपको एक रूप ही माना करता है, वा यों कहो कि "मैं नहीं हूं" यह ज्ञान एक भ्रान्ति है, और उस भ्रान्ति का मूल क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह है। जैसे हम सायंकाल एक दीपक जलावें और वह प्रातः काल तक जलता रहे, तो सामान्य मनुष्य यही कह डालते हैं कि एक ही दीपक सायंकाल से प्रातः काल तक जला, किन्तु विवेकशील मनुष्य किंचित् विचारते ही समझ जायगा कि दीपक एक नहीं था, प्रतिक्षण तैल दीपक शिखा रूप से परिणित होता रहा और पुरानी पुरानी दीप शिखा नष्ट होती रही, इसी प्रकार सायंकाल से प्रातः काल तक वर्षा होती रही तो सामान्य मनुष्य यहीं समझते हैं कि एक ही बादल सब रात वर्षता रहा, किन्तु विचारक कभी ऐसा न कहेगा, क्योंकि बादल कोई पात्र नहीं है जिसमें जल भरा हुआ है और बूंद बूंद टपकता है, किन्तु बादल जल का समूह ही है, एक स्तर जब जल रूप होकर गिर जाता है तो दूसरे क्षण में दूसरा स्तर उसके स्थान में आ जाता है उसके अनन्तर तीसरा चौथा इत्यादि। इस प्रकार यह जलधर पटल भी क्षणिक ही सिद्ध होता है। जैसे नदी के किनारे बैठा हुआ पुरुष जितनी देर बैठा रहेगा उतनी देर तक अपने सामने जल को बराबर देखता रहेगा, किन्तु जो जल प्रथम क्षण में देखा था वह दूसरे क्षण में नहीं है, यह सबको ही मानना पड़ेगा, इन्हीं उक्त दृष्टान्तों के

अनुसार संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं, वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, किन्तु प्रवाह होने के कारण उनमें एकता की प्रतीति हुआ करती है जो कि भ्रान्ति ही मानी जा सकती है। प्रतिक्षण परिवर्तन होने के कारण ही सब पदार्थ पुराने पड़ जाते हैं, पुरानापन किसी एक वर्ष, दिन, घड़ी में नहीं आता, किन्तु प्रतिक्षण का परिवर्तन ही अधिक रूप में आ जाने पर प्रकट हो जाता है, ऐसी ही भ्रान्ति आत्मा के सम्बन्ध में भी हो रही है। क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह को एक आत्मा की संज्ञा दे दी गई है। यों शरीरात्म वाद से उठ कर "बुद्धिवाद", वा "क्षणिक विज्ञान वाद" पर यह दर्शन पहुंचा। इसकी चार मोटी मोटी शाखाएं हैं, जिनके माध्यमिक, योगाचार आदि नाम हैं। किन्तु उतने विस्तार पड़ने की यहां आवश्यकता नहीं, यहां तो संक्षिप्त परिचय मात्र देना है, उन्हीं अवान्तर में दो में किसी ने पांच स्कन्धों को आत्मा कहा है। उन स्कन्धों के नाम हैं—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार। विषय सहित इन्द्रियों को रूप स्कन्ध कहते हैं, उनका ज्ञान, विज्ञान कहलाता है, सुख दुःख को वेदना कहा जाता है। शब्द सहित ज्ञान को संज्ञा स्कन्ध कहते हैं, इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले मदमानादि संस्कार स्कन्ध में आते हैं। इन पांचों का समुदाय ही आत्मा कहा जाता है, अतिरिक्त आत्मा कोई नहीं। इस दर्शन में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान भी प्रमाण माना जाता है। एक जगह प्रवाह विच्छेद होकर दूसरी जगह प्रवाह प्रवृत्त हो जाना ही पुनर्जन्म है, और दीपक बुझ जाने की तरह प्रवाह का बन्द हो जाना ही इनके यहां मोक्ष कहा जाता है। इसीलिये इनके दर्शन में मोक्ष का नाम "निर्वाण" भी है। निर्वाण शब्द का अर्थ बुझ जाना ही है। इस मत की चर्चा भगवद्गीता में आसुरी सम्पत्ति के प्रकरण में हुई है, और द्वितीयाध्याय के पूर्व पक्ष रूप से आये हुए—"अथ चैनं नित्यजातं नित्यंवा मन्यसे मृतम्" इत्यादि पद्य में भी इसका संकेत है, जो कि उन स्थानों के प्रवचनों में ही स्पष्ट किया जायगा।

बौद्ध दर्शन में जब बुद्धि को ही आत्मा कहा गया तो उस बुद्धि का परम उत्कर्ष जिनने प्राप्त कर लिया है, वे "बुद्ध नाम के तीर्थंकर ही यहां ईश्वर माने जाते हैं। ऐसे बुद्ध बहुत हुए है, यह इस मत में माना जाता है। अन्तिम बुद्ध गौतम बुद्ध थे जिनका पूर्वनाम "शाक्य सिंह" था। हमारे सांख्य दर्शन में बुद्धि के चार सात्विक रूप-धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य नाम से बताये गये हैं, और इनके विपरीत चार तामस रूप हैं जो क्लेश नाम से कहे जाते हैं। इनका विवरण हम आगे गीता के विषय विभाग के प्रवचन में करेंगे। सात्विक चारों रूप ईश्वर में भी रहते हैं, और उनका लोकातिक उत्कर्ष जिनमें हो वे ईश्वर की विभूति वा ईश्वरावतार माने जाते हैं। इनमें से वैराग्य भावना का गौतम बुद्ध शाक्यसिंह में अत्यन्त उत्कर्ष था, इसीलिये हमारे पुराणों में भी उन्हें अवतार कहा गया है। बुद्धदेव के उपदेशों में गीता के उपदेशों की छाया बहुत मिलती है, जैसा कि द्वितीय प्रवचन में विस्तार से कहा जा चुका है।

अब तीसरा "जैन दर्शन" और आगे बढ़ाता है। इस दर्शन के आचार्य कहते हैं कि बुद्धि कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, वह तो एक गुण है, और उसके

परिवर्तन, परियाय कहे जा सकते हैं। गुण निराश्रय नहीं रह सकता, गुण शब्द कहते ही यह जिज्ञासा हो जाती है कि किसका गुण। इसलिए गुण का आश्रय या गुणी कोई अवश्य मानना पड़ेगा। उस गुणी को ही आत्मा कहना चाहिये। बुद्धि सुख, दुःख आदि सब उस आत्मा के परियाय अर्थात् अवस्था विशेष हैं। ये परियाय अपने आश्रित आत्मा से भिन्न है। या अभिन्न इस पर वे कहते हैं कि इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, यही कहा जा सकता है कि भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं, और भिन्नाभिन्न भी हैं। इन भेद-अभेद आदि का विस्तार करके ही वे इसके सात रूप बना लेते हैं, जिन्हें "सप्तभंगी" कहा जाता है। सभी बातों में उनका यह "सप्तभंगी" का क्रम चलता है, जिसे वे अपनी परिभाषा में "सप्तभंगीनय" कहते हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सातों तरंग उपपन्न हो जाते हैं। इन दृष्टियों का ही नाम उनकी परिभाषा में "नय" रखा जाता है। जैसा उनसे कोई पूछे कि पृथिवी जल आदि द्रव्य है या नहीं तो वे कहेंगे कि स्व क्षेत्र, स्वरूप आदिके अपेक्षा से है, पर क्षेत्र पररूप की अपेक्षा से नहीं है अर्थात् पृथिवी रूप से पृथिवी है, जलरूप से वह नहीं है। दोनों रूपों को क्रम से लगाना चाहें तो है और नहीं दोनों बातें कहीं जा सकती हैं। और दोनों रूपों के साथ साथ देखना चाहें, तो कहा जायगा कि अनिर्वचनीय है। इस अनिर्वचनीयता को है, नहीं, इत्यादि पूर्वोक्त तीनों भंगों के साथ जोड़ा जाय तो सात भंग सिद्ध हो जायेंगे। इसी प्रकार कोई पूछे कि आत्मा नित्य है वा अनित्य, तो उनका यही उत्तर होगा कि नित्य भी है, अनित्य भी है, नित्यानित्य भी है और अनिर्वचनीय भी है। इसी कारण इस दर्शन को "स्याद्वाद" वा "अनेकान्तवाद" कहा जाता है। इस मत में प्रत्यक्ष और परोक्ष नाम के दो प्रमाण माने जाते हैं। आगे परोक्ष के कई अवान्तर भेद मानकर सब प्रमाणों का उनमें अन्तर्भाव कर लेते हैं। जगत् का कर्त्ता ईश्वर नहीं है, इस बात पर इस दर्शन का बहुत अभिनिवेश है। कर्त्ता खण्डन इस दर्शन के ग्रन्थों में अवश्य रहता है। अपने तीर्थंकरों को ही ये सर्वज्ञ और ईश्वर कहते हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य अर्थात् कर्म में उत्तम हो तो तीनों मिलकर मुक्ति के साधन होते हैं। इन तीनों को ही यहां तीनरत्न कहा जाता है। यहां दर्शन नाम "श्रद्धान" का है। जैसा जिसका श्रद्धान हो वैसा ही उसे ज्ञान होता है, और वैसे ही फिर कर्म होते हैं। तत्व इस दर्शन में सात माने जाते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, और मोक्ष। जीव प्रसिद्ध ही है, अजीव नाम से पृथिवी जल आदि जड़ तत्व ले लिये जाते हैं। रागद्वेष आदि जिन कषायों के कारण कर्मों का जीव के साथ बन्धन हो जाता है वे "आस्रव" कहे जाते हैं। बिना आस्रव के बन्ध नहीं हो सकता, बन्ध को रोक देने वाले अहिंसा आदि "संवर" कहलाते हैं। जीव का बंधना बन्ध तो प्रसिद्ध ही है। जीव जब अपने कर्मों का अपने स्वरूप में बाहर झाड़ देता है तो वह झाड़ना निर्जरा कहलाती है, और निर्जरा के अनन्तर "मोक्ष" हो जाता है। मुक्त जीव एक स्थान विशेष पर पहुँच जाता है, उसे "सिद्ध-शिला" कहते हैं। वहाँ पहुँचा हुआ जीव फिर

लौटकर नहीं आता। यों पारिभाषिक शब्दों की इस दर्शन में बहुत भरमार है। बिना इनके पारिभाषिक शब्द समझे इस दर्शन का तत्व समझना असंभव है। इनके "अनेकान्तवाद" वा "स्याद्वाद" की तो गीता में कहीं चर्चा नहीं हुई, किन्तु राग-द्वेष रहने से ही कर्म बन्ध होता है, बिना राग-द्वेष के कर्म वन्धक नहीं होते, यह सिद्धान्त गीता में खूब ओत-प्रोत है। पूर्ण ज्ञान होने पर भी कर्म करना चाहिये यह भी गीता में माना गया है, और श्रद्धा के अनुसार ही ज्ञान कर्म आदि का संघटन होता है, यह क्रम भी गीता में देखा जाता है। इस प्रकार वेद बाह्य दर्शनों के शरीरातिरिक्त आत्मा का एक रूप बांध कर खड़ा किया। अब आगे वेदानुयायी दर्शनों की पारी आती है, उनमें सबसे प्रथम "वैशेषिक दर्शन" शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा को प्रबल युक्तियों से सिद्ध करता है। उसका ही अनुसरण कर गौतम ने भी "न्यायसूत्र" में युक्तियों से आत्मा सिद्ध करने का प्रकरण विस्तार से लिखा है। इन दोनों सूत्रों में आत्मा को नित्य भी सिद्ध किया गया है। गुण और द्रव्य को ये पृथक् पृथक् मानते हैं, इसलिये "स्याद्वाद दर्शन" में जो कहा गया था कि आत्मा, आत्मारूप से नित्य है और बुद्धि सुख दुःख परियाय रूप से अनित्य है वह बात यहां नहीं रहती। ये कहते हैं कि बुद्धि, सुख दुःख आदि आत्मा के गुण हैं वे अनित्य हैं किन्तु आत्मा नित्य है। गुण जब सर्वथा भिन्न है, तो उनकी अनित्यता का प्रभाव उनके आश्रय द्रव्य पर कुछ नहीं पड़ सकता, जैसे शब्द अनित्य है, किन्तु उसका आश्रय आकाश नित्य है। यही क्यों एक ही आम्रफल में रूपरस गन्ध आदि परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु आम्रफल वही रहता है। इस प्रकार इस दर्शन ने आत्मा का नित्यत्व भी प्रतिष्ठापित कर दिया। इस दर्शन में आत्मा का प्रत्यक्ष भी माना जाता है। इच्छा, सुख, दुःख आदि गुणों से विशिष्ट आत्मा का मन से प्रत्यक्ष होता है। वैसे प्रत्यक्ष से विशिष्ट आत्मा द्रष्टा और इच्छादि विशिष्ट आत्मा दृश्य हैं यों द्रष्टा और दृश्य के भेद को निर्वाह कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त परमात्मा अर्थात् ईश्वर को भी यह दर्शन अनुमान से सिद्ध करता है। उसके गुणों को भी नित्य कहता है ईश्वर वा परमात्मा एक है, किन्तु जीवात्मा अनन्त है। इस दर्शन में नव द्रव्य चौबीस गुण पांच कर्म आदि माने जाते हैं। जाति को भी ये द्रव्य से पृथक् और नित्य मानते हैं। इस सिद्धान्त में परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती है। परमाणु भी नित्य है, क्योंकि द्रव्य का नाश अवयव विभाग से होता है, परमाणु में अवयव ही नहीं तब उनका विभाग और उस विभाग के द्वारा द्रव्य के नाश की संभावना ही कहां रही। इस दर्शन का बहुत विस्तार हुआ है। सैकड़ों ग्रन्थ इसके प्राप्त हैं और आगे चलकर इसमें भी शब्दों की परिभाषा ऐसी जटिल बनी है कि उसके समझने में ही विद्यार्थियों को बहुत वर्ष लग जाते हैं। प्रमाण इन्होंने चार माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। शब्द प्रमाण में मुख्यतया वेद का ही ग्रहण किया जाता है। किन्तु आप्तोक्त लौकिक शब्द भी स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है। सबसे उत्कृष्ट प्रमाण प्रत्यक्ष ही है। इसके "परमाणुवाद" आदि का तो गीता में कोई स्पर्श नहीं किन्तु

आत्मा की नित्यता और बुद्धि सुख दुःख आदि का उसका गुण होना गीता में ग्राह्य हुआ है, किन्तु प्रक्रिया इससे भिन्न है।

सांख्य दर्शन ने आत्मा को और भी विशुद्ध किया। वे कहते हैं कि गुणों के अनित्य होने पर भी एक प्रकार से आत्मा पर अनित्यता का आभास आ जाता है, क्योंकि गुणों को द्रव्य से सर्वथा पृथक् नहीं कह सकते। गुण विशिष्ट एक ही रूप द्रव्य का रहता है, इस कारण आत्मा की विशुद्ध नित्यता प्रतिष्ठापित करने के लिये सांख्य ने बुद्धि, इच्छा, सुख-दुःख आदि को आत्मा का गुण नहीं माना। वे प्रकृति के विकास हैं। प्रकृति आत्मा से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्व है, वही जगत् बनाती है। जगत् के निर्माण में आत्मा का ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं। जगत् केवल प्रकृति का परिणाम है, और भिन्न भिन्न परिणाम होना प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है। प्रकृति के गुणों का आत्मा पर प्रतिबिम्ब मात्र होता है, किन्तु आत्मा, जिसका नाम इस दर्शन में पुरुष है वह प्रकृति से अपना भेद नहीं समझता इसलिये प्रकृति के धर्म सुख दुःख आदि का अभिमान भी उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इसी से संसार में बंधा रहता है। जो पुरुष प्रकृति का और अपना विवेक अर्थात् पृथक् भाव समझ जाता है वह मुक्त हो जाता है। भेद समझना भी प्रकृति का ही परिणाम है, पुरुष में उसका भी प्रतिबिम्ब मात्र ही है। इसी से कहा जाता है कि बन्धन वा मुक्ति कराने वाली प्रकृति ही है। इस सिद्धान्त में भी वैशेषिक के समान पुरुष अनन्त है। परमात्मा वा ईश्वर इस दर्शन में नहीं माना जाता। मुक्त पुरुषों की ही ईश्वर नाम से प्रशंसा कर दी जाती है। योगदर्शन में यद्यपि ईश्वर माना गया है किन्तु योग साधना के लिये चित्त स्थिर करने में ही उसका उपयोग माना, जगत् की उत्पत्ति में ईश्वर का कोई सम्बन्ध योग सूत्र में भी नहीं माना गया। इस दर्शन में प्रमाण तीन ही माने जाते हैं। उपमान का वे शब्द वा अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं। इस दर्शन का गीता से बहुत सम्बन्ध है। प्रकृति के गुणों का और उनके प्रभाव का गीता में विस्तार से वर्णन मिलता है। प्रकृति के कर्मों को ही आत्मा अपना कर्म समझता है यह भी स्पष्ट कहा गया है, किन्तु प्रकृति की स्वतन्त्रता गीता में नहीं मानी गई है। भगवान ने यही कहा है—कि प्रकृति मेरी है, मेरी अध्यक्षता से ही जगत् की रचना करती है और प्रकृति के बन्धन से छुटकारा भी मेरी कृपा से ही हो सकता है। भगवद्गीता के समान ही पुराणों में भी प्रकृति की स्वतन्त्रता नहीं मानी गई है। ईश्वर की प्रेरणा से ही प्रकृति जगत् रचना करती है यही पौराणिक सिद्धान्त है। पूर्व कह आये हैं कि गीता में कई जगह सांख्ययोग पद आये हैं किन्तु उनका अर्थ व्याख्याकारों ने और ही किया है, यह उन पद्यों के प्रवचन में ही स्पष्ट किया जायगा।

सबके अन्त में वेदान्त दर्शन है, उसका नाम ही वेदान्त है अर्थात् वेद नाम ज्ञान, उसका वहाँ अन्त हो जाता है। यह दर्शन शुद्ध रूप से उपनिषदों को ही अपना आधार मानता है। शब्द प्रमाण ही इसमें मुख्य है, वहाँ भी अपौरुषेय

शब्द अर्थात् वेद। वेद के भी कर्म, उपासना, और ज्ञान के प्रतिपादक तीनों काण्डों में ज्ञान प्रतिपादक उपनिषदों को ही यह मुख्य प्रमाण मानता है। वेद ग्रन्थ के मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं। पहला मन्त्र और दूसरा ब्राह्मण। ब्राह्मण के कर्म, उपासना, ज्ञान के प्रतिपादक तीन भाग है—ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषत्। इस प्रकार वेद ग्रन्थ का सबसे अन्त का भाग उपनिषद् हुआ, वह वेदान्त कहाया, इसीलिये उसके आधार पर प्रतिष्ठित दर्शन को भी वेदान्त नाम दिया गया। सांख्य में जो प्रतिबिम्ब रूप से सुख दुःख आदि को पुरुष नामक आत्मा में माना गया है, और पुरुष से भिन्न प्रकृति को स्वतन्त्र रूप से जगत् का उत्पादक माना गया है, एवं पुरुषों को अनन्त माना गया है, इन तीनों बातों को वेदान्त स्वीकार नहीं करता। संपूर्ण जगत् प्रकृति का प्रपंच है सही, किन्तु प्रकृति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह आत्मा की सत्ता से ही सत् कहलातो है। जैसे शुक्ति को कोई रजत समझ ले वा रज्जु को सर्प समझ ले तो वहाँ रजत वा सर्प की स्वयं सत्ता नहीं है किन्तु शुक्ति वा रज्जु की सत्ता को ही रजत वा सर्प ने ले लिया है। इसी प्रकार विचार करने पर कार्य की सत्ता भी कारण से पृथक् सिद्ध नहीं होती, कारण की सत्ता लेकर ही कार्य सत् कहलाता है, घट वा पट, मृतिका वा तन्तु की सत्ता से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते, यदि पृथक् सत्ता रखते होते तो मृत्तिका वा तन्तु से पृथक् भी प्राप्त होते, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये विचार करने पर घट वा पट की मृत्तिका वा तन्तु से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसी क्रम में चलते जाइये जो जिससे बना, उसकी सत्ता अपने कारण से पृथक् नहीं, तब मृत्तिका वा पृथिवी की सत्ता जल से, जल की तेज से, तेज की वायु से, वायु की आकाश से, और आकाश की अहंतत्व से, उसकी आगे महत्तत्व और प्रकृति से, पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती, और प्रकृति का भी केवल आत्मा में आभास है, वह उसकी शक्ति मात्र है, आत्मा से पृथक् होकर कभी प्रतीत नहीं हो सकती। शक्ति शक्तिमान से पृथक् कभी नहीं मिलेगी, इसलिये प्रकृति वा शक्ति की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। आत्मा ही एक सत् है उसी की सत्ता को लेकर सब प्रपंच सत्तावान् बना है, अन्य की सत्ता से सत्तावान् पूर्वोक्त "शुक्ति रजत", वा "रज्जु भुजंग" को जैसे मिथ्या कहा जाता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच को भी मिथ्या ही समझना चाहिये। मिथ्या शब्द का भी मुख्य अर्थ यही कि जो दूसरे के आधार पर ही स्थिर हो, अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखता हो। क्योंकि मिथ्या शब्द मिथ् धातु से बना है और उसका अर्थ—"दूसरे संगत" यही माना जाता है, अस्तु! इस प्रकार इस दर्शन में एक आत्मा ही वास्तविक रूप में है और सब कल्पित हैं, इसीलिये इसे "अद्वैत दर्शन" कहा जाता है—अर्थात् यह एक ही तत्त्व को स्वीकार करता है, जब कोई दूसरी बात है ही नहीं जो आत्मा को कलुषित करे तब आत्मा की पूर्ण शुद्धता और देश काल आदि सम्बन्ध का उसमें अभाव, इस दर्शन में विस्पष्ट हो जाता है, इसलिये आत्मा सदा है और सब जगह है, यह आत्मा का परम उत्कर्ष इस दर्शन में जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसा तत्त्व एक ही हो सकता है क्योंकि दो होते

ही उनका देश काल सम्बन्ध आ पड़ता है, इसलिये यहाँ आत्मा एक ही है। परमात्मा जीवात्मा आदि नाम उसके उपाधि कल्पित हैं।

इस दर्शन के अवान्तर भेदों का निरूपण हम विषय विभाग के प्रवचन में करेंगे। भगवद्गीता इसी दर्शन का प्रधान ग्रन्थ है। अन्यान्य दर्शनों का तो उसमें प्रसंगागत संकेत मात्र आ गया है।

इस प्रकार क्रम-क्रम से ऊपर बढ़ाते हुए भिन्न-भिन्न दर्शन आत्मा को ही सब जगत् का मूल और सर्वथा विशुद्ध स्थापित कर देते हैं। इस विचार से भारतीय दर्शन परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु एक उच्च प्रासाद पर चढ़ाने वाली क्रमिक सीढ़ियाँ हैं। एक सीढ़ी पर पूरी तरह पाँव जमाये बिना आगे झट पट चढ़ जाने पर गिरने की संभावना रहती है इसलिये पूरा पैर जमाने को एक एक दर्शन ने दूसरों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त को खूब प्रतिष्ठापित किया है। विचारशील मनुष्य एक एक सीढ़ी पर पूरी तरह पैर जमाता हुआ अर्थात् एक एक के सिद्धान्त खूब समझता हुआ क्रम से आगे बढ़ता जाय तो परम तत्व पर पहुंच सकता है, और परस्पर की उलझन में ही रह जाय वा नीचे की सीढ़ी को ही गन्तव्य स्थान मान बैठे तो उसका दुर्भाग्य।

सब क्रमिक सिद्धान्तों के संकेत अनादि सिद्ध वेद में ही प्राप्त हो जाते हैं, उनमें से एक एक संकेत का ग्रहण कर आचार्यों ने उन पर सूत्र भाष्य आदि ग्रन्थों की रचना कर उन्हें विस्तृत रूप से समझा दिया है, नई बात मूलतः किसी आचार्य ने नहीं कहीं, इसलिये किसी दर्शन का संकेत कहीं प्राप्त कर उस ग्रन्थ को उस दर्शन से पीछे बना हुआ मान लेना यह पाश्चात्य दृष्टि भी भारतीय परिभाषा के अनुसार सत्य दृष्टि नहीं कही जा सकती। विचार कोई नये नहीं पैदा होते, वे अनादि हैं अर्वाचीन विचारों में प्राचीनों की झलक आना जैसे स्वाभाविक है वैसे यह भी अवश्य संभव है कि आज जो विचार प्रादुर्भूत हुए हैं वे प्राचीन मस्तिष्कों में भी आये हों, इसलिए विचार साम्य देखने मात्र से प्राचीनता वा अर्वाचीनता की कल्पना और उसके आधार पर इतिहास गढ़ना कई जगह सत्य से दूर चला जाता है। अस्तु! इस प्रवचन का स्मरण रखने से आगे के गीता प्रवचनों में बहुत कुछ सहायता प्राप्त होगी।

पंचम-पुष्प

"गीता के भाष्यकार और उसका विषय-विभाग"

तृतीय प्रवचन में कह आये हैं कि भिन्न-भिन्न सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने भगवद्गीता पर टीकायें लिखी है। उन टीकाकारों ने गीता के विषय विभाग में भी अपने अपने सिद्धान्तानुसार कुछ विलक्षणता की है। गीता के प्रवचनों को ठीक समझने के लिए उन टीकाकारों के सिद्धान्तों का कुछ परिचय भी प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए पहिले उसका संकेत मात्र से अति संक्षिप्त स्वरूप दिखाकर तदनुकूल उनके विषय विभाग का भी संक्षिप्त निदर्शन करेंगे।

जो टीकाएं प्राप्त हैं उनमें सबसे प्राचीन और प्रमुख गीता के भाष्यकार श्री शंकराचार्य हैं यह—पूर्व कहा जा चुका है। उनके सिद्धान्त का अति संक्षिप्त सार यह है कि सम्पूर्ण प्रपंच का मूल कारण एक ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म निर्गुण निराकार और सर्वव्यापक है तथा सजातीय विजातीय स्वगत तीनों भेद से शून्य है, देश काल से उसका परिच्छेद नहीं हो सकता, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और न उसके कोई अवयव है, ऐसे ब्रह्म से सृष्टि बनी कैसे, इसका उत्तर उनके संप्रदाय में यह है कि सृष्टि बनती ही नही ब्रह्म की मायाशक्ति सृष्टि का बिना सत्ता ही भान करा दिया करती है। अर्थात् वह ब्रह्म प्रपंच रूप से परिणत नहीं होता किन्तु द्रष्टाजीव के ब्रह्म का तत्व न समझने के कारण उसमें प्रपंच की भ्रान्ति होती है। द्रष्टा जीव भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं किन्तु ब्रह्म की माया शक्ति के कारण उसका ज्ञान आच्छादित रहता है और माया उसे ब्रह्म में ही कल्पित प्रपंच दिखा देती है। जब तक माया जनित भ्रान्ति बनी रहे तब तक जीव प्रपंच को सत्यमानकर इसमें बद्ध रहता है और भ्रान्ति के निवृत्त हो जाने पर वह अपनी ब्रह्म रूपता प्राप्त कर लेता है। इसी का नाम मुक्ति है। इस मुक्ति को प्रकट करने वाला केवल ज्ञान है। कर्म से मुक्ति कभी नहीं हो सकती। कर्म तो केवल चित्त शुद्धि करने में उपयोगी होता है। शुद्ध चित्त में आवरण हट कर ज्ञान का उदय हो जाता है। श्री शंकराचार्य से प्राचीन टीकाकार ज्ञान और कर्म दोनों के योग से मुक्ति मानते थे। उनका सिद्धान्त ज्ञान कर्म समुच्चय वाद कहा जाता था। जिसका स्थान-स्थान पर श्री शंकराचार्य ने खण्डन किया है कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय हो ही नहीं सकता। कर्म तो अज्ञान दशा में ही होता है। ज्ञान के साथ वह नहीं रह सकता। भगवद्गीता मुक्ति का उपदेश देती है। इसलिए उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय सर्व कर्म संन्यास पूर्वक ज्ञान ही है। ज्ञान की प्राप्ति जब तक न हो तब तक ही स्वधर्माचरण उसमें बताया गया है। अर्जुन भी पूर्ण ज्ञानी नहीं था इसीलिए उसे कर्म में प्रवृत्त किया गया इत्यादि। इस प्रकार इस सिद्धान्त में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म संन्यास और

ज्ञान योग है। इसी सिद्धान्त के अनुसार श्री शंकराचार्य ने गीता के प्रकरणों की संगति लगाई है। इनके अनुयायी श्री मधुसूदन सरस्वती, पैशाच भाष्य कर्ता हनुमान, आनन्द गिरी, महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ, पद्यबद्ध भाव-प्रकाशिका टीका के लेखक आदि बहुत हैं। गीता के अधिकतर प्राचीन टीकाकार इसी पक्ष के पोषक हैं—यह कहने में कोई संकोच नहीं होता।

श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं। प्रकृति और जीव ईश्वर के शरीर हैं, ईश्वर उनका आत्मा है। जीव और प्रकृति जब सूक्ष्म दशा में रहते हैं तब प्रलय अवस्था कही जाती है। और जब स्थूल अवस्था में आ जाते हैं तब प्रपंच दशा होती है। किन्तु उनकी सूक्ष्म दशा व स्थूल दशा से ईश्वर में कोई भेद नहीं पड़ता। ईश्वर ही ब्रह्म है वह स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों में एक सा रहता है इसी का नाम अद्वैत है। जीव अणु रूप है मुक्ति में भी वह ईश्वर से पृथक् ही रहता है। केवल क्लेश आदि बन्धनों से छूट जाता है। मुक्ति का कारण ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर होते हैं गीता का प्रतिपादन भी ज्ञान कर्म समुच्चय है। तथापि भक्ति मुख्य है और उसमें भी शरणागति वा प्रपत्ति ही मुक्ति का मुख्य कारण है। इसी शरणागति का निरूपण गीता के अन्तिम श्लोक "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इत्यादि में हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुकूल ही अपने भाष्य में गीता की संगति उनने लगाई है। इस सिद्धान्त के अनुयायी भी दो एक टीकाकार हैं।

श्री माध्वाचार्य द्वैत वादी हैं। वे ईश्वर और जगत को सर्वथा भिन्न मानते हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं अर्थात् वह प्रकृति से प्रपंच बना देता है स्वयं प्रपंच रूप से परिणत नहीं होता। जीव भी ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। बन्ध और मोक्ष दोनों उसकी अवस्थायें हैं। मुक्ति का कारण श्री रामानुजाचार्य के समान यह भी ज्ञान कर्म समुच्चय को ही मानते हैं। इनकी गीता पर टीका अति संक्षिप्त है। ब्रह्म सूत्रों और उपनिषदों पर भी इनके भाष्य बहुत संक्षिप्त ही हैं। इनके अनुयायी विद्वान् प्रायः नैयायिक हैं उनने इनके ग्रन्थों पर न्याय गर्भित टीकायें लिखकर उन ग्रन्थों को सजाया है इनके गीता भाष्य पर भी एक विस्तृत व्याख्या है जो इनका आशय स्पष्ट करती है। मुक्ति का कारण ज्ञान कर्म समुच्चय ही है। और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता भी श्रीरामानुजाचार्य के समान ही ये भी मानते हैं।

श्री वल्भाचार्य का संप्रदाय शुद्धाद्वैत कहता है। ब्रह्म ही सब जगत् का मूल है किन्तु श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के समान ये जगत को केवल कल्पना रूप वा मिथ्या नहीं कहते। परब्रह्म अपनी स्वतन्त्रता पूर्ण इच्छा से अपने भीतर से ही जगत् को प्रकट करता है और समय पर अपने भीतर लीन कर लेता है। माया प्रकृति आदि परब्रह्म की भिन्न-भिन्न शक्ति है जो कि परब्रह्म से ही प्रकट होती है जीव भी परब्रह्म से प्रकट होते हैं और अणु रूप हैं। उनकी मुक्ति का कारण केवल भगवान् का अनुग्रह है। जीव का मुख्य कर्त्तव्य भगवान् की भक्ति

है, वह दो प्रकार की है। साधन रूपा और फल रूपा। साधन रूपा भक्ति नाम संकीर्तन और स्मरण आदि हैं और फल रूपा भक्ति प्रेम स्वरूप है। भक्ति स्वयं फल रूप है उससे आगे और कोई प्राप्त करने की वस्तु शेष नहीं रहती, इसी भक्ति तत्व का गीता में मुख्यतया प्रतिपादन है। यही इस सिद्धान्त का सार है। श्री वल्लभाचार्य के नाम से गीता की एक टीका मुद्रित है किन्तु वल्लभ संप्रदाय के विद्वान उसे स्वयं आचार्य महाप्रभु की लिखी नहीं मानते उनके कुल में बहुत से वल्लभाचार्य नाम के विद्वान् हुए हैं, उनमें से ही किसी ने यह टीका लिखी होगी। इस संप्रदाय के प्रमुख विद्वान् श्री पुरुषोत्तम जी गोस्वामी हुए हैं, उनने बहुत ग्रन्थों की रचना की है उनके नाम से भी गीता पर एक टीका मुद्रित है। किन्तु वल्लभ संप्रदाय के वर्तमान विद्वान् उसे भी उनकी कृति नहीं कहते। इससे इस सिद्धान्त के अनुसार गीता की संगति लगाने वाला कोई आचार्य प्रणीत मुख्य ग्रन्थ नहीं है यह सिद्ध होता है। किन्तु श्री वल्लभाचार्य ने भागवत पर बहुत कुछ लिखा है उसी से गीता के विषय में भी उनका अभिप्राय व्यक्त हो जाता है। यह तो सिद्ध ही है कि वे गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति को ही मानते हैं।

श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत वाद है। उनका मन्तव्य है कि सृष्टि से पूर्व तो ब्रह्म एक ही रहता है उस समय दूसरा कोई नहीं किन्तु सृष्टि के अनन्तर द्वैत हो जाता है, अर्थात् परस्पर भिन्न बहुत पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं वे पदार्थ पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि परस्पर भी भिन्न हैं और ब्रह्म से भी भिन्न हैं। क्योंकि उनका उत्पत्ति विनाश है ब्रह्म का उत्पत्ति विनाश कभी नहीं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान कर्म का समुच्चय और भक्ति की प्रधानता प्रायः सभी वैष्णवाचार्यों के मत में एक सी ही है। श्री निम्बार्काचार्य की भी अपनी व्याख्या गीता पर कोई प्राप्त नहीं किन्तु इनके सम्प्रदाय के अनुयायी एक विद्वान् ने "तत्व प्रकाशिका" नाम की व्याख्या लिखी है जो कि मुद्रित है। श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्तों से मिलता जुलता ही एक श्री भास्कराचार्य का सिद्धान्त और है, इनमें थोड़ा ही अवान्तर भेद है, किन्तु श्री भास्कराचार्य के सिद्धान्तानुसार गीता पर लिखी गई कोई व्याख्या दृष्टिगत नहीं हुई। एक श्री चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त का प्रतिपादक चैतन्य संप्रदाय बंगाल में और प्रसिद्ध है किन्तु इस संप्रदाय में भी भागवत का ही विशेष आधार लिया है। गीता पर इस संप्रदाय की कोई व्याख्या दृष्टिगत नहीं हुई।

इन वैष्णव संप्रद्रायों के अतिरिक्त शैव और शाक्तों के भी अनेक संप्रदाय हैं, किन्तु शैव संप्रदाय वालों की भी कोई व्याख्या गीता पर उपलब्ध नहीं है, इसलिये उनका विवरण भी यहां अनावश्यक है। शाक्त संप्रदाय के एक प्रमुख आचार्य श्री अभिनवगुप्तपाद की एक संक्षिप्त व्याख्या गीता पर अवश्य मिलती है। इनका सिद्धान्त आगम (तन्त्र) शास्त्रों के आधार पर प्रतिष्ठित है, और इनका दर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन नाम से प्रसिद्ध है, इन्होने परशिव को ही मुख्य तत्त्व

माना है, इसलिये इसे शैव दर्शन भी कहा जा सकता है, और आगम के आधार पर होने से "शाक्त दर्शन" भी इसे कह सकते हैं। आगम के आधार पर अवस्थित दर्शनों में भी द्वैत, अद्वैत आदि अनेक भेद हैं, किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त का मुख्यतया अद्वैत सिद्धान्त ही है। श्री शंकराचार्य के अद्वैत से इनका यही भेद है कि ये जगत् को मिथ्याकृत वा कल्पित नहीं कहते, मूल तत्व परम शिव में एक नित्य स्वातन्त्र्य शक्ति मानते हैं, जिसके कारण वह अपने आप जगद् रूप में परिणित हो जाया करता है, वह स्वयं हि अपने आपको आणवमल से वेष्टित कर अनन्त जीवों के रूप में प्रकट होता है, और मायामल, एवं प्राकृतमलों से वेष्टित होकर संसारी भी बनता है, ये मल भी उसकी इच्छा से ही प्रकट होते हैं। अपनी इच्छा से ही मलों से मुक्त होकर स्वस्वरूप में आ जाता है, इसलिये "मुक्ति" यहां भी साधन साध्य नहीं, केवल परमशिव के प्रसाद से प्राप्त होती है। जब जीव को यह प्रतिभिज्ञा हो जाय कि मैं शिव ही हूं तभी वह मुक्त होता है, इसी प्रतिभिज्ञा में कर्म,भक्ति, ज्ञान आदि सबका उपयोग है। किन्तु इसे प्राप्त कराने वाला मुख्यतया "प्रसाद" ही है। इस सिद्धान्त का बहुत कुछ अंश श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त से मिलता है, केवल मोटा भेद यही है कि परतत्व को श्री वल्लभाचार्य कृष्ण नाम देते हैं और अभिनवगुप्त पादाचार्य परमशिव नाम देते हैं वस्तुतः यह भेद नाम मात्र का है क्योंकि वास्तव में तो "परमतत्व" नामरूपातीत है, उसका कोई भी नाम नहीं हो सकता, आगे संसार में प्रकट धर्मों के अनुसार कल्याणकारक होने के कारण उसे शिव भी कह सकते हैं और सबका आकर्षक होने के कारण कृष्ण भी। इसलिये बुद्धिमानों की दृष्टि में यह नामभेद कोई भेद नहीं। और भी अवान्तर कई छोटे छोटे भेद हैं, किन्तु सबका विवरण करने की यहां आवश्यकता नहीं।

गत पूर्व प्रवचनों में हम लोकमान्य तिलक की व्याख्या का कुछ विवरण कर चुके हैं। ये दार्शनिक विषयों में तो श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त को ही मुख्य मानते हैं, किन्तु गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म संन्यास नहीं कर्मयोग ही है, इस अंश में ये श्री शंकराचार्य से बिलकुल विरुद्ध हैं। इनके मतानुसार सम्पूर्ण गीता में कर्मयोग ही ओतप्रोत है, कर्म सन्यास का गीता में कोई स्थान नहीं। ज्ञान और भक्ति का प्रतिपादन इनके अनुसार कर्मयोग की सफलता के लिए ही है। इन्होंने स्पष्ट अक्षरों में गीता का प्रतिपाद्य ज्ञान मूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग को बताया है।

सभी व्याख्याकारों ने अपने अपने सिद्धान्त गीता के पद्यों से निकालने की चेष्टा की है जिनके मत हम आवश्यकतानुसार विशेष विशेष पद्यों की व्याख्या में प्रदर्शित कराने का प्रयत्न करेंगे। इनके अतिरिक्त भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में भी गीता की व्याख्या वा अनुवाद प्राप्त होते हैं। जो कि उन देशों में प्रसिद्ध हैं। मराठी भाषा की एक ज्ञानेश्वरी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इन व्याख्याओं के सिद्धान्त प्रायः शांकरभाष्य के ही अनुकूल हैं। कोई व्याख्याएँ वैष्णव सम्प्रदायों के भी अनुकूल होंगी। इनका विशेष परिचय हमें नहीं है। गीता के अध्यायों का विषय विभाग प्रायः सभी संप्रदाय के व्याख्याकारों ने ही किया है। श्री

शकराचार्य के संप्रदाय के अनुसार गीता के प्रकरण विभाग के सम्बन्ध में दो प्रधान मत मिलते हैं। मनुष्य के कल्याण के लिए तीन उपाय शास्त्रों में बताए गए हैं कर्म, उपासना वा भक्ति, और ज्ञान। वे ही गीता के भी प्रतिपाद्य हैं। पूर्व षट्क अर्थात् पहिले छः अध्यायों में कर्म का प्रधान रूप से विवेचन है उसी में कर्मयोग सिद्धान्त भी वर्णित है। मध्य षट्क अर्थात् सातवें अध्याय से आरम्भकर बारहवें तक छः अध्यायों में उपासना तत्व है उसी में उपास्य ईश्वर का विशेष वर्णन और उपासना के प्रकार आदि बताए गये हैं। अन्तिम षट्क अर्थात् तेरहवें अध्याय से आरम्भकर अठारवें पर्यन्त ज्ञान प्रधान उपदेश है उसी में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, जीव ईश्वर का सम्बन्ध, जीव की बन्धक प्रकृति का विशेष विवरण आदि विषय प्राप्त होते हैं। इसीलिये यह उत्तर षट्क अवश्य ही ज्ञान प्रधान है। दूसरे प्रकार का विभाग श्री मधुसूदन सरस्वती ने यह दिखाया है कि गीता उपनिषदों का सार है और उपनिषदों में जीव, ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक "तत्त्वमसि" यह महावाक्य प्रधान माना जाता है। इसमें तीन पद हैं, "तत्" "त्वम्" "असि" उनमें "तत्" का अर्थ परमब्रह्म हैं "त्वम्" शब्द का अर्थ संबोध्य जीवात्मा और "असि" पद दोनों की एकता का प्रतिपादक है। इन्हीं तीनों पदों के अर्थों का विवरण गीता के छः, छः, अध्यायों के तीन खण्डों में किया है। पहले छः अध्यायों में त्वम् शब्द के वाच्यार्थ जीवात्मा का निरूपण है। जीव की नित्यया उसके कर्म करने की प्रक्रिया और उसी के कल्याण के लिए योग साधन आदि उसमें बताये हैं। चतुर्थाध्याय में ईश्वरावतार का निरूपण प्रासंगिक है। सात से बारह तक के छः अध्यायों में "तत्" शब्दार्थ ईश्वर तत्व का निरूपण है। ईश्वर विभूति, विश्व-रूपदर्शन आदि ईश्वर तत्व प्रतिपादक विषय उसी में आते हैं। ईश्वर भक्ति भी ईश्वर से ही सम्बन्ध रखती है इसीलिए उसका निरूपण भी बारहवें अध्याय में किया गया। यद्यपि महावाक्य के क्रम के अनुसार पहिले तत् शब्दार्थ परब्रह्म का निरूपण उचित था किन्तु जीव अपना स्वरूप समझे बिना परब्रह्म वा परमेश्वर को नहीं जान सकता इसलिए महावाक्यों के पदों का क्रम तोड़कर भी त्वम् शब्दार्थ जीव का निरूपण पहिले करना पड़ा। अन्त के छः अध्याय दोनों की एकता का मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हैं। वहां आरम्भ में ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की एकता बताते हुए क्षेत्रज्ञ जीव परमात्मा का ही रूप है यह स्पष्ट किया गया है। और आगे भी "जीव मेरा ही अंश है" इत्यादि उपदेश के द्वारा एकता को दृढ़ किया है। दोनों के मध्य में विभाग कराने वाली प्रकृति के गुणों का भी निरूपण प्रकृति सम्बन्ध छोड़कर एकता प्राप्ति कराने के उद्देश्य से ही हुआ है। यों जीव ब्रह्म की एकता उत्तर षट्क का अर्थ है और यही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का प्रतिपादन क्रम से गीता में हुआ है—श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि कर्म और ज्ञान अत्यन्त विरुद्ध है, वे साथ रह नहीं सकते, इसका विवरण शांकर वेदान्त के ग्रन्थों में विस्तार से आया है, इसीलिये यहां उन दोनों को अव्यवहित न रखकर

मध्य में भक्ति का निवेश कर दिया गया है। वह दोनों को मिला देती है। श्री मधुसूदन सरस्वती यद्यपि श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं तथापि इन्होंने अपने भक्ति रसायन ग्रन्थ में भक्ति को फल रूप और अन्तिम साध्य माना है। भगवद्भक्ति प्राप्त हो जाने पर फिर और किसी वस्तु की प्राप्ति इष्ट नहीं रहती यह सिद्धान्त भक्ति रसायन में अभिव्यक्त किया है। किन्तु गीता की व्याख्या में जीव ब्रह्म की एकता को ही प्रधान माना है।

श्री रामानुजाचार्य के परम गुरु श्री यामुनाचार्य का एक "गीतार्थ संग्रह" प्रकाशित हुआ है। उसमें गीता का विषय विभाग इस प्रकार है कि ज्ञान और कर्म दोनों को मिलाकर भगवद्भक्ति प्राप्त की जा सकती है। इनका सिद्धान्त श्री शंकराचार्य के विरुद्ध "ज्ञान कर्म समुच्चयवाद" ही है। अर्थात् केवल ज्ञान वा केवल कर्म जीव का कल्याण नहीं कर सकते। दोनों के मिलने से ही कल्याण होता है। किन्तु दोनों के मिला देने मात्र से ही कल्याण नहीं हो सकता, वे दोनों मिलकर भगवत् स्वरूप का ज्ञान कराते हुए भगवत् प्रपत्ति प्राप्त कराते हैं, और भगवत् प्रपत्ति साक्षात् मनुष्य की कल्याण कारक है। इसी के प्रतिपादन के लिये गीता के पूर्व षट्क में साधन रूप ज्ञान कर्म समुच्चय का प्रतिपादन हुआ है, वहां आत्मा की नित्यता का विस्तार पूर्वक निरूपण करने में ज्ञान को स्थान दिया गया है, चतुर्थाध्याय में संक्षेप रूप में भगवान् का स्वरूप ज्ञान भी प्रतिपादित है, और ज्ञान के साथ-साथ कर्म की भी आवश्यकता आदि से अन्त तक बताई गई है, इसलिये प्रथम षट्क ज्ञान कर्म समुच्चय का प्रतिपादक है, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। अब आगे मध्यम षट्क में इन दोनों से प्राप्त होने वाली भक्ति का विस्तृत निरूपण है। वहाँ भगवान् के स्वरूप का और उनकी उपासना का विस्तार गीता को पढ़ने वाले स्वयं ही देख सकते हैं। आगे तीसरा षट्क प्रकीर्णक रूप है उसमें दोनों षट्कों में जो अंश संक्षिप्त होने के कारण पूर्ण स्पष्ट नहीं हुए थे, इससे कुछ न्यूनता सी प्रतीत होती थी, उसकी पूर्त्ति की गई है। ज्ञान कर्म समुच्चय में कर्म के मूलभूत प्रकृति के गुणों का पूर्व षट्क में निरूपण नहीं हुआ था उस न्यूनता को पूर्ण किया गया है और अश्वत्थ निरूपण एवं तीन पुरुषों के निरूपण से भगवत् स्वरूप ज्ञान की भी पूर्त्ति की गई है इसी कारण अन्तिम षट्क में तीन-तीन अध्यायों के वे दो विभाग मानते हैं। पूर्व के तीन अध्यायों में भगवत् स्वरूप के निरूपण की न्यूनता को पूर्ण किया गया है, और उधर के तीन अध्यायों में कर्म निरूपण की न्यूनता को पूर्ण किया गया है। अन्त में उपसंहार "मन्मनाभवमद्भक्त" इत्यादि पद्य के द्वारा भक्ति पर ही किया गया है। तथापि सबके अन्तिम श्लोक "सर्व धर्मान् परित्यज्य" में "शरणागति" को मुख्य स्थान दिया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गीता का मुख्य प्रति पाद्य भगवद् भक्ति और तत्रापि "शरणागति" ही है। शरणागति का उपदेश सुनकर ही अर्जुन को शान्ति मिली और वह आज्ञा पालन के लिये तत्पर हुआ। यही परम गुरु का सिद्धान्त श्री रामानुजाचार्य को मान्य है। सार यह है कि भगवद्

गीता प्रधान रूप से भक्ति वा शरणागति की प्रतिपादक है, और विषय उसमें अंगरूप से आये हैं। यह श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त हुआ।

श्री वल्लभाचार्य के मत में जीव तीन प्रकार के होते हैं—प्रवाही, मर्यादा मार्गीय, और पुष्टिमार्गीय। यथेच्छ धर्माधर्म आदि सब कार्य करने वाले "प्रवाही जीव" कहे जाते हैं। शास्त्रानुसार चलने वाले "मर्यादामार्गीय" हैं, और भगवदनुग्रह से जो केवल भगवन्निष्ठ हो गये, भगवत्सेवा ही जिनका एकमात्र कर्तव्य हो गया, और धर्माधर्म से जिन्हें कोई प्रयोजन नही वे "पुष्टिमार्गीय" हैं। इन सबके विचारों में परस्पर मेल नहीं होता। अर्जुन में पहिले मर्यादा और पुष्टि का मिश्रण था। भगवान् के द्वारा अनुगृहीत होने के कारण वह पुष्टि मार्गों में भी प्रवेश पा चुका था, किन्तु मर्यादामार्ग भी अभी उसका छूटा नहीं था। पहिले वह क्षत्रिय धर्म समझ कर ही युद्ध में प्रवृत्त होने लगा था किन्तु भगवान् उसे पूर्ण "पुष्टिमार्गीय" बनाना चाहते थे इसलिये उनने ही आन्तरिक प्रेरणा से उसमें युद्ध से विरत होने का विराग उत्पन्न किया। जब उपदेश देने लगे तो प्रथम षट्क में सांख्य और योग का मिश्रित उपदेश दिया। जिस पुरुष में दो मार्गों का मिश्रण है उसे मिश्रित ही उपदेश देना उचित था, इस प्रकार प्रथम षट्क मर्यादामार्ग के उपयुक्त है, द्वितीय और तृतीय षट्क शुद्ध भगवत्स्वरूप और शुद्ध भक्ति के प्रतिपादक हैं। उन दोनों में अपने स्वरूप का प्रतिपादन भी किया और विभूति निरूपण वा विश्वरूप प्रदर्शन के द्वारा उसे पुष्टिमार्ग में दृढ़ किया। अन्त में पुष्टि मार्ग का मुख्य सूत्र "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इत्यादि पद्य से उसके हृदय में खचित कर दिया। उसमें स्पष्ट कह दिया कि अब तुम्हें धर्म-अधर्म के विवेक की कोई आवश्यकता नहीं तुम केवल हमारी शरण में आ जावो अर्थात् अपने आप को हम पर छोड़ दो, हम स्वयं तुम्हारा उद्धार कर देंगे। अब अर्जुन पूर्ण "पुष्टि मार्गीय" बन गया। इसीलिये उसने अन्त में कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया, स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् पहिले नर अवस्था में भी मैं पुष्टिमार्गीय ही था उसका अब स्मरण आगया, आपकी पूर्ण कृपा हो गई और अब मुझे कोई सन्देह नहीं है। मैं आप की आज्ञा का पालन करूंगा। इस अर्जुन के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अब अर्जुन क्षत्रिय धर्म समझ कर युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो रहा है किन्तु भगवन्निष्ठ होकर भगवान् की आज्ञा पालन के लिये ही युद्ध में प्रवृत्त होता है। इस अन्तिम प्रकरण से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की पराभक्ति प्राप्त कराना ही भगवद् गीता के उपदेश का उद्देश्य है। और भगवद् भक्त का आज्ञा पालन ही मुख्य कर्त्तव्य रह जाता है। सांख्य योगादि उसमें केवल उस मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने के लिये आये हैं। युक्ति पूर्वक अर्जुन की बातों का युक्ति पूर्वक उत्तर से ही समाधान हो सकता था, इसलिये युक्ति पूर्वक उपदेश दिये गये हैं।

कई विद्वानों ने यह भी कहा है कि प्रथम षट्क सूत्र रूप है, मध्यम का षट्क वृत्तिरूप और अन्तिम षट्क भाष्यरूप है, अर्थात् अन्तिम षट्क में पूर्व की न्यूनताओं को पूर्ण कर स्पष्ट रूप से भक्ति की स्थापना स्थापित कर दी गई है।

इस प्रकार इनके मत में भी गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही है। इसका समर्थन कई विद्वान् इस प्रकार भी करते हैं कि यदि भगवद्गीता के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो विभाग किये जांय, तो नव नव अध्याय के होंगे। उनमें पूर्वार्द्ध के अन्त में "मन्मनाभव मद्भक्तः" इत्यादि भक्ति प्रतिपादक पद्य ही आता है और उत्तरार्द्ध के अन्त में भी एक पाद के परिवर्तन के साथ यही पद्य दुहराया गया है। उस परिवर्तित पाद में सत्य प्रतिज्ञा भी भगवान् ने की है। इस प्रकार भक्ति की प्रधानता स्फुट हो जाती है।

श्री आनन्दतीर्थ नामक श्री मध्वाचार्य ने विस्पष्ट रूप से भगवद्गीता का प्रकरण विभाग नहीं लिखा, किन्तु स्थान-स्थान पर उनकी व्याख्या से यही स्पष्ट होता है कि श्री यामुनाचार्य का किया हुआ प्रकरण विभाग ही उनको भी अभिप्रेत है।

श्री निम्बार्काचार्य के अनुयायी श्री केशव काश्मीरीभट्टाचार्य की बनाई हुई "तत्त्वप्रकाशिका" टीका में भी विशेष रुप से गीता का प्रकरण विभाग प्राप्त नहीं होता। किन्तु उपदेशारम्भ, सप्तमाध्याय का आरम्भ, और त्रयोदशाध्याय के आरम्भ को देखने से प्रतीत होता है कि तीन षट्क का विभाग इनको भी अभिप्रेत है और प्रथम षट्क में त्वं पदार्थभूत जीव का निरूपण, और द्वितीय षट्क में तत्पदार्थरूप परमात्मा का निरूपण भी शांकर सम्प्रदायानुसार इन्होंने भी माना है, किन्तु तृतीय षट्क को श्री यामुन मुनि के अनुसार ये भी परिशिष्ट रूप मानते हैं, अर्थात् पूर्व दो षट्कों में जो न्यूनता रह गई थी उसकी पूर्ति तृतीय षट्क में की गई है। कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि होकर भक्ति-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होती है, यह भी इनने स्थान-स्थान पर माना है, किन्तु प्रधानता इनके मत में भक्ति को ही दी गई है। जीव के कल्याण का मुख्य साधन भक्ति ही है। अस्तु द्वितीयाध्याय सूत्ररूप है, उसमें संक्षेप से सभी विषयों का समावेश हो गया है, उसका विवरण ही आगे के अध्यायों में है यह प्रायः सबने स्वीकार किया है।

लोकमान्य श्री तिलक के मत का संकेत पहिले हम कर चुके हैं। वे संपूर्ण भगवद्गीता को कर्मयोग का प्रतिपादन ही मानते हैं। तीन षट्कों का प्रकरण विभाग उनको अभिमत नहीं क्योंकि उनके मत में कर्म भक्ति और ज्ञान का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन भगवद्गीता में नहीं है। जिसके लिए अन्य व्याख्याकारों ने तीन षट्कों का विभाग माना था। वे मानते हैं कि कर्म, भक्ति, और ज्ञान तीनों की एक श्रृंखला भगवद्गीता में बनाई गई है, अर्थात् ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग गीता का प्रतिपाद्य है। प्रकरण विभाग न करके भी अध्यायों की संगति उनने लिखी है। आरम्भ में अर्जुन के मोह हटाने को आत्मा के नित्यत्व का भगवान् ने प्रतिपादन किया, उसके अनन्तर द्वितीयाध्याय में ही कर्मयोग का आरम्भ करा दिया। पंचमाध्याय पर्यन्त कर्मयोग का ही कई प्रकार से प्रतिपादन चलता रहा मध्य में कर्मयोग की आचार्य परम्परा बताने के लिये अवतार वाद

का प्रसंग आया। यह कर्मयोग की परम्परा शान्तिपर्व के नारायणीय में प्रतिपादित भागवत धर्म की परम्परा से बिलकुल मिलती है। इससे यही सिद्ध होता है कि भागवत धर्म और कर्मयोग एकरूप ही आरम्भ में प्रवृत्त हुए थे। ईश्वर-भक्ति पूर्वक कर्म करते रहना ही दोनों का लक्ष्य था। आगे चलकर जैसे ज्ञान मार्ग वालों ने कर्म का तिरस्कार किया था, उसी प्रकार भक्ति-मार्ग वालों ने भी कर्म का तिरस्कार कर दिया, और तब भक्ति मार्ग एक पृथक् बन गया। वस्तुतः भक्ति शब्द का अर्थ भाग है। ज्ञान और कर्म दोनों भाग इसमें संमिश्रित हैं, इसीलिये इसका नाम भक्ति पड़ा है, और भक्ति का सम्बन्ध भगवान् से ही होता है, भगवत् शब्द का अर्थ है छः प्रकार के गुण और ऐश्वर्य से संपन्न। गुण ऐश्वर्य वाले की ही उपासना की जा सकती है, बिना गुणों के उपासना नहीं बनती। ऐश्वर्य ज्ञान के बिना भी प्रेम नहीं होता। इसलिए उपासना वा भक्ति का सम्बन्ध भगवान् से ही हो सकता है, निर्गुण ब्रह्म से नहीं। यही कारण है कि इसका नाम भागवत धर्म अर्थात् भगवान् का धर्म हुआ। बिना ज्ञान के उपासना वा प्रेम हो नहीं सकता इसलिये ज्ञान भी इसमें अवश्य मिश्रित रहता है, किन्तु आगे चलकर ज्ञान, भक्ति और कर्म स्वतन्त्र मार्ग बन गये, एवं ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गों में कर्म की उपेक्षा हो गयी, अस्तु, गीता में स्पष्ट किया गया कि कर्म योग के लिये पहले व्यवसायात्मक बुद्धि आवश्यक है, वह व्यवसायात्मक बुद्धि इन्द्रिय निग्रह के बिना प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिये गीता के छठे अध्याय में योग मार्ग का निरूपण इन्द्रिय निग्रह की सहायता के लिये ही किया गया है। वर्तमान में इन्द्रिय निग्रह हो भी जाय तो भी पूर्व की वासना यदि दूषित है तो वह इन्द्रिय निग्रह स्थायी नहीं हो सकता। अतः वासना शुद्धि भी कर्मयोग में आवश्यक है। वासना शुद्धि और व्यवसायात्मक बुद्धि उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी स्थिरता ईश्वराराधन के बिना नहीं हो सकती, और यदि वासना विकृत हो गई एवं व्यवसायत्मक बुद्धि भी चलित हो गई तो कर्मयोग विगड़ जायगा अतः कर्मयोग की पूर्ति और स्थिरता के लिए ही सप्तमादि अध्यायों में ईश्वर स्वरूप निरूपण हुआ है और ईश्वराधन के प्रकार बताये गये हैं। व्यवसायात्मक बुद्धि जिसे साम्य बुद्धि भी कह सकते हैं वह तबतक भी उत्पन्न और स्थिर नहीं हो सकती जबतक कि एक ही ब्रह्म सबका आत्मा है, यह ज्ञान न हो जाय। इसलिये त्रयोदशादि अध्यायों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विवेक में एक ही ब्रह्म के आत्मा रूप से सब में व्यापक रहने का भी उपदेश हुआ है। और कर्म मार्ग की शुद्धि के लिए ही तीनों गुणों के पृथक्-पृथक् स्वरूप का वा तीनों के अनुसार पृथक् आचार व्यवहार का भी विस्तार से निरूपण है। इसे समझकर अधिकारी रज और तम के सम्बन्ध से बचता रहे, एवं अचार व्यवहार द्वारा सत्व गुण को ही बढ़ाता रहे जिससे कि व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर रहे, इस प्रकार ज्ञान भक्ति और कर्म की एक ही श्रृंखला भगवद्गीता में बांधी गई है, तीनों का स्वतन्त्र रूप से विभाग गीता को कभी इष्ट नहीं है। यदि ज्ञान वा भक्ति को स्वतन्त्र ही रहना होता तो अर्जुन जब विरक्त होकर संग्राम छोड़ रहा था तब भगवान् उसी का अनुमोदन

कर देते कि हां भाई ठीक है, चलो संन्यासी बनकर ज्ञान प्राप्त करो वा भगवद् भक्त बन जाओ। इतना लम्बा उपदेश करने की कोई आवश्यकता ही न होती। न महाभारत होता और न व्यास जी को इतना बड़ा ग्रन्थ लिखना पड़ता। इन सब बातों पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि कर्मयोग ही भगवान् को इष्ट था, अर्जुन को फलाकांक्षारहित कर्म मार्ग में ही प्रवृत्त करना था, उसी की सिद्धि के लिये भक्ति और ज्ञान का उपदेश आवश्यकतानुसार दिया गया। कर्म-त्याग कहीं नहीं कहा। अन्त में जो "सर्वधर्मान् परित्यज्य" आया है, वहां भी फल त्याग का ही आशय है, यह उस पद्य की व्याख्या में स्पष्ट करेंगे। तात्पर्य यह है कि कर्मयोग ही भगवद् गीता का प्रतिपाद्य है। यह लोकमान्य तिलक का सिद्धान्त हुआ।

इस प्रकार गीता के प्रधान प्रतिपाद्य के विषय में व्याख्याकारों का बहुत बड़ा मतभेद है। कोई ज्ञान और संन्यास को गीता का प्रधान प्रतिपाद्य मानते हैं, कोई भक्ति और कोई कर्मयोग को।

हमारे गुरु विद्या वाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा ने समन्वय करते हुए नये प्रकार से विषय विभाग किया है। उनके सिद्धान्त में गीता के तीन नहीं चार विभाग हैं। सांख्य शास्त्र में बुद्धि के चार सात्त्विक रूप और चार तामस रूप बताये गये हैं। उनमें सात्त्विक चार रूपों के द्वारा ही अव्यय पुरुष भगवान् की प्राप्ति होती है। क्योंकि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार बुद्धि के सात्त्विक रूप ही भगवान् में हैं। इन्हीं चार रूपों के कारण वह भगवान् कहाता है। जैसा कि कहा गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणाः॥

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छह का नाम भग है। ये जिसमें रहें वही भगवान् कहाता है। यहां धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चार बुद्धि के सात्त्विक रूपों के साथ यश और लक्ष्मी को और जोड़ा गया है जो कि धर्म और ऐश्वर्य के ही फलभूत हैं। पृथक् नहीं। अस्तु इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं। इनमें अवैराग्य को राग और द्वेष दोनों नामों से कहकर पांच क्लेश योग शास्त्र में बताये गये हैं। पांच क्लेशों के नाम वहां आते हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश। इनमें अविद्या, अज्ञान का ही नाम है। अस्मिता अनैश्वर्य का नामान्तर है। अवैराग्य राग और द्वेष दो शब्दों से कहा गया है। और अधर्म ही अभिनिवेश है। इन चारों तामस रूपों अथवा नामान्तर से पंच क्लेशों का ईश्वर में स्पर्श भी नहीं जीवों में ये सब रहते हैं। इसीलिये वे ईश्वर से पृथक् हो रहे हैं। अब यदि जीव ईश्वर को प्राप्त करना चाहे तो उसका यही कर्त्तव्य होगा कि सात्त्विक रूप जो ईश्वर में भी है उन्हें प्रबल कर

तामस रूपों को दबा दिया जाय। उन चारों रूपों की प्रबलता के लिए ही गीता में चार योग अथवा चार विद्यायें बताई गयी हैं। आदि के छः अध्यायों में वैराग्ययोग का निरूपण है। इसे ही भगवान ने राजर्षि विद्या भी कहा है। चौथे अध्याय में बताया है कि मेरे उपदेश से यह विचार राजर्षियों में फैली हुई थी किन्तु कालक्रम से नष्ट हो गई इसलिए आज मैंने तुम्हें (अर्जुन को) इसका फिर उपदेश दिया है। राजर्षियों में प्रसार होने के कारण यह राजर्षि विद्या है। इसमें विरक्त रहकर अर्थात् फलांश में आसक्त न होते हुए कर्म करने की विधि कही गई है इसलिए वैराग्य योग भी इसे कह सकते हैं। इसके आगे सातवें और आठवें इन दो अध्यायों में ज्ञान योग कहा गया है जो कि सिद्धों में प्रचलित होने के कारण सिद्ध विद्या नाम से कहा जाता है। गीता में स्वयं कहा है कि—"यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मांवेत्ति तत्वतः" (७।३।) इससे आत्म ज्ञान के प्रयत्न करने वाले सिद्ध कहे जाते हैं यह व्यंजित हो जाता है। इसको यहां छोटे रूप में रखा है। और नवम से आरम्भ कर बारहवें तक चार अध्यायों में ऐश्वर्य योग है। जिसका राजविद्या नाम भगवान् ने अपने मुख से ही लिया है। सब विद्याओं की राजा होने के कारण यह राजविद्या है। इसे ही भक्ति मार्ग कहा जाता है। भक्ति का सम्बन्ध ऐश्वर्य वा ईश्वर भाव से ही है। इसलिये यह ऐश्वर्य योग है। अन्त के छः अध्यायों में धर्म योग का निरूपण है। ऋषियों के द्वारा कथित होने के कारण यह आर्ष विद्या कही जाती है। इसी बात को ध्वनित करते हुए तेरहवें अध्याय में भगवान् ने "ऋषिभिर्बहुधा गीतम्" कहा है। अर्थात् इसविद्या का ऋषि लोग बहुधा गान करते रहे हैं। यद्यपि अन्त के छः अध्यायों में आत्मा का निरूपण ही प्रधान सा दीख पड़ता है। परन्तु वह धर्म निरूपण का अंग है। आर्य संस्कृति में आत्म-ज्ञान के बिना धर्म निरूपण हो नहीं सकता जैसा कि हम प्रथम और द्वितीय प्रवचन में कह आये हैं कि इस संस्कृति में अध्यात्म तत्व के आधार पर ही धर्म अधर्म की व्यवस्था होती है। इसलिये धर्म योग में आत्म-निरूपण आवश्यक अंग रूप से आ जाता है। तीनों गुण वाले जीवों के सम्बन्ध से आहार-विहार आदि की पृथक्-पृथक् व्यवस्था अन्त के अध्यायों में विस्तार से बताई है यही धर्म का निरूपण है। इसलिये यह धर्म योग वा आर्ष विद्या कहलाती है। यों बुद्धि के चारों रूपों का विकास कर ईश्वर में मिल जाने का क्रम गीता में बताया गया है। इसलिए कहा जा सकता है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मुख्यतया बुद्धि योग है। बुद्धि के चारों रूपों को उत्कृष्ट कर ईश्वर के साथ मिला देना वा मिल जाना ही बुद्धियोग का शब्दार्थ है। बुद्धियोग का नाम भगवान् ने गीता में कई जगह लिया है। व्याख्याकार उसका अर्थ प्रायः ज्ञान योग ही कर देते हैं। किन्तु यह अर्थ संकुचित है। बुद्धि पद से बुद्धि के चारों ही रूप लिए जाने चाहिए जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सबका समावेश हो जाता है। अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्रत्येक मनुष्य किसी एक रूप की उन्नति को अपना प्रधान लक्ष्य बना ले और सहकारी रूप से

अन्य बुद्धि के रूपों की उन्नति भी करता जाय यही भगवत् प्राप्ति का उपाय भगवद्गीता में मुख्य रूप से निरूपित हुआ है। यह सिद्धान्त मान लेने पर फिर परस्पर में कोई विवाद नहीं रहता, क्योंकि सबही इस प्रधान क्षेत्र में अन्तर्गत हो जाते हैं। इस प्रकार गीता में चारों विद्यायें हैं। वे चार योगों के नाम से भी कही गयी हैं। इनके अवान्तर चौबीस उपनिषदों का विभाग श्री विद्यावाचस्पति जी ने किया है और उनमें अवान्तर रूप से कुल मिलाकर एक सौ साठ उपदेश गीता में बताए हैं। उन सब पर एक-एक निबन्ध लिखने का उनने आरम्भ किया था किन्तु हम लोगों के दुर्दैववश उनका बहुत अल्प अंश लिखा जा सका। केवल दश बारह उपदेशों पर ही वे निबन्ध लिख पाये आगे उनकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। कहा जा चुका है कि गीता के प्रत्येक श्लोक पर व्याख्या उनने नहीं लिखी है स्वतन्त्र व्याख्यान लिखे हैं। जिनमें पहिले खण्ड में किन-किन शास्त्रों के किन-किन सिद्धान्तों के आधार पर गीता के उपदेश प्रतिष्ठित है यह दिखाया गया है। दूसरे खण्ड में गीता के श्लोकों पर अपने किये विभाग के अनुसार शीर्षक लगाये हैं और तीसरे आचार्य काण्ड में भगवान् कृष्ण के महात्म्य का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। उसमें अति विस्तार से ईश्वर तत्व निरूपण है। इतना विस्पष्ट ईश्वर निरूपण किसी एक ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं। अवतार का क्या आशय है और भगवान् कृष्ण में पूर्णावतार रूपता कैसे समन्वित होती है इसका अति विस्तृत निरूपण है। इसी निरूपण में महाभारत के खिल हरिवंश से भगवान कृष्ण के अनेक चरित्र संगृहीत हुए हैं और वेद मन्त्रों से भी उन चरित्रों का समन्वय दिखाया गया है। अव्यय पुरुष का निरूपण इस काण्ड में प्रधान है और जैसा कि भगवान् ने गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कहा है मैं पुरुषोत्तम वा अव्यय पुरुष रूप हूँ—यह युक्तियों से सिद्ध किया है। गीता में प्रयुक्त "अहं" शब्द का क्या तात्पर्य है, इसका विस्तार से निरूपण है। इसके आगे चतुर्थ काण्ड में उपदेशों का सार संग्रह आरम्भ हुआ था किन्तु वह अधूरा ही रहा यह कह चुके हैं। श्री विद्यावाचस्पति जी की इन कृतियों से हम अपने प्रवचनों में बहुत कुछ सहायता लेगें। इसलिए इनके ग्रन्थों का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया है।

यों भिन्न-भिन्न मतों से गीता का विषय विभाग और प्रधान प्रतिपाद्य जान लेने से उसके अर्थ ज्ञान में और आगे के प्रवचन समझने में बहुत सहायता मिलेगी इसलिए इनका स्पष्टीकरण इस प्रवचन में कर दिया गया है। आशा है जिज्ञासु लोग इसे ध्यान में रखकर लाभ उठावेंगे।

———

षष्ठ पुष्प

गीता का समय

आधुनिक दृष्टि के अनुसार इस बात का भी विचार आवश्यक है कि गीता के आविर्भाव का समय कौन सा है। द्वितीय प्रवचन में हम कह आये हैं कि आधुनिक कई एक विद्वान् जो अपने आपको सुधारक और अन्वेषक कहकर प्रसिद्ध करते हैं वे गीता को बहुत ही अर्वाचीन सिद्ध करने की चेष्टा में लगे हैं। उनका कथन है कि जगद्गुरु श्री शंकराचार्य से पूर्व आर्य संस्कृति के ग्रन्थों में वा वैदिक संस्कृति के विरोधी जैन, बौद्ध आदि के ग्रन्थों में कहीं भी गीता का नाम व उसके महत्व का प्रतिपादन नहीं मिलता। इसका यह परिणाम निकालने का भी कई महाशयों ने साहस किया है कि भगवद्गीता और ब्रह्म सूत्र आदि ग्रन्थ श्री शंकराचार्य के समय में ही उनके ही एक गुट ने बना डाले हैं और अपने मन-गढ़न्त सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए उनके ही गुट ने इन ग्रन्थों को प्रतिष्ठित और प्रचलित किया है। उनके पीछे बनने वाले ग्रन्थों में ही गीता की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। किन्तु इस मत के विरुद्ध बहुत से प्रमाण हम तृतीय प्रवचन में प्रस्तुत कर चुके हैं और सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि जबसे भगवद्गीता का प्रादुर्भाव हुआ तबसे ही उसका महत्व जगद्विख्यात रहा। आर्य वैदिक संस्कृति के और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध जैन, बौद्ध आदि के ग्रन्थों में भी गीता के उपदेशों की छाया व उसके श्लोक वा श्लोकांश भी प्राप्त हैं यह भी वहां विस्तार से बताया जा चुका है। श्री शंकराचार्य वा उनके अनुयायी विद्वानों ने ही गीता बना डाली यह एक उपाहासास्पद कल्पना है। जो कई एक वैष्णव संप्रदाय श्री शंकराचार्य के विरोध में खड़े हुए जिनने न केवल श्री शंकराचार्य के सिद्धान्तों का खण्डन, किन्तु उनके प्रति अनुचित शब्दों का प्रयोग भी किया है और उनकी किसी बात को नहीं माना है। उन सबने भी गीता को सब प्रमाणों में उत्कृष्ट और परम संमानित माना है। गीता पर व्याख्यायें भी लिखी हैं। जिनका विस्तृत वर्णन पूर्व प्रवचन में हो चुका है। यदि गीता शंकराचार्य व उनके गुट की ही करतूत होती तो उनके विरुद्ध चलने वाले आचार्य उसका आदर क्यों करते। इतना ही नहीं श्री शंकराचार्य को भगवद्गीता में से अपने मन्तव्यों का प्रमाण निकालने के लिए कई जगह क्लिष्ट कल्पनायें भी करनी पड़ी हैं। यदि इनकी ही बनायी गीता होती तो ऐसा प्रसंग ही क्यों आता। अस्तु, ऐसी निस्सार बातों के विचार में समय खोना व्यर्थ है। भारतीय संस्कृति के अनुयायी शिष्ट विद्वान् तो महाभारत युद्ध के प्रारम्भ के दिन को ही भगवद्गीता के आविर्भाव का दिन मानते हैं। युद्धारम्भ में ही इस उपदेश का होना भगवद्गीता से ही सिद्ध है। इसलिए इस पर और कुछ कल्पनायें निरर्थक और निस्सार हैं।

महाभारत युद्ध कलियुग के आरम्भ में ही हुआ यह महाभारत से ही सिद्ध होता है। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए० के ग्रन्थ के अनुवाद रूप महाभारत मीमांसा ग्रन्थ में इसपर बहुत विस्तृत विचार किया है और सिद्ध किया है कि ईसवी सन् से ३१०१ वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध हुआ था। ज्योतिर्विद विद्वान् कलियुगारम्भ का भी यही समय निकालते हैं। महाभारत ग्रन्थ कब बना, इस पर भी उक्त वैद्य महोदय ने और लोकमान्य तिलक ने बहुत विचार किया है किन्तु खेद है कि यह विचार पद्धति उन दोनों महानुभावों की भारतीय विचार पद्धति से दूर चली गई और योरोपियन विद्वानों के प्रभाव से वे अपने आपको न बचा सके क्योंकि शिक्षा उन महानुभावों की आंग्ल भाषा में ही हुई थी और वे ही संस्कार उनमें ओतप्रोत थे। लोकमान्य तिलक ने अनेक दृढ़ प्रमाणों से महाभारत ग्रन्थ का बुद्ध भगवान से पूर्व रचा जाना सिद्ध करके भी एक "एडक" शब्द महाभारत के वन पर्व के भविष्य प्रकरण में देखकर उसी के आधार पर बौद्ध मत के प्रचार के अनन्तर महाभारत ग्रन्थ का निर्माण मान लिया क्योंकि "एडक" उनके मत में बौद्धों के "डागोवा" का नाम है जो कि किसी महान् पुरुष की मृत्यु के अनन्तर उसकी अस्थि दीवार में चुनकर उसके स्मारक रूप में एक स्थान बनाया जाता है। उक्त दोनों महानुभावों ने माना है कि यह प्रथा बौद्धों ने ही प्रचलित की थी इसलिए उसका उल्लेख होने से महाभारत ग्रन्थ बौद्ध मत के प्रचार के अनन्तर का ही सिद्ध होता है। महाभारत में दो एक स्थानों में नक्षत्रों की गणना श्रवण से मानी गई है इसपर भी इन विद्वानों की कल्पना है कि उस समय श्रवण पर उत्तरायण का आरम्भ होता होगा। इसका ज्योतिष के आधार पर समय निकाल कर महाभारत निर्माण का समय इनने ईसवी सन के लगभग दो तीन सौ वर्ष पूर्व ही सिद्ध किया है। किन्तु हमने अपने "पुराण पारिजात" नामक ग्रन्थ के उपोद्‌घात में इस मत का विस्तृत रूप में खण्डन कर दिया है। उसका सारांश यही है कि अस्थिकणों को दीवार में चुन कर मकान बना देने की प्रथा आज भी राजस्थान में विस्तृत रूप से है। ऐसे स्थानों को वहां " छत्तरी " कहा जाता है और ऐसे मकान बनाने का मूल संकेत आश्वलायन गृह सूत्र और शत पथ ब्राह्मण तक में प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में (१३ का० ८।१।५) में देवता और असुरों के श्मशान का भिन्न प्रकार का होना बताया गया है। देवताओं के चौकोने और असुरों के गोल श्मशान का वर्णन वहां प्राप्त होता है। ये चौकोर अथवा गोल भित्ति वेष्टित स्थान ही हो सकते हैं। इस विचार से श्मशानों में स्थान बनाने की प्रथा अनादि काल से सिद्ध हो जाती है। आश्वलायन गृह्य सूत्र के चतुर्थाध्याय के पंचम खण्ड में अस्थिसंचयन के प्रकरण में विधान है कि अस्थियों का संचय करके उन्हें ऐसे स्थान में गड्ढा खोदकर रखना चाहिये कि जहां वर्षा काल से अतिरिक्त समय में जल बहकर न आवे, फिर उस गढ़े को मिट्टी से भर देना चाहिये और उसके ऊपर खपरा पत्थर आदि रख देना, यह विधान मिलता है। इसी का विकास दिवाल चुनने के रूप में होकर आगे क्रमशः मकान बनाने की प्रथा चल पड़ी यह

स्पष्ट अनुमान होता है। आश्वलायन गृह सूत्र बौद्ध मत प्रचार से प्राचीन है, इसे सबने माना है। इसलिये "एडक" की प्रथा बौद्धों से ली गई हो यह सिद्ध नहीं होता। बौद्धों में इसी भित्ति की "डागोवा" नाम से प्रसिद्धि है, "डागोवा" शब्द का "एडक" शब्द से भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त महाभारत में यह शब्द भविष्य कथन में आया है, भविष्य कथन के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हो सकते हैं। कई विद्वानों का विचार है कि ऋषियों ने त्रिकाल दृष्टि से भविष्य बातों का ज्ञान प्राप्त कर उन बातों को पहिले ही कह दिया। भारतीय आस्तिक जनता में यही विचार विशेष रूप से प्रचलित है, जो आधुनिक विद्वान् ऋषियों की ऐसी शक्ति में विश्वास नहीं रखते, उनका विचार है कि भविष्य कथन पुराणों और महाभारत में भी पीछे से मिलाया गया है, जिस समय कुछ धर्म की गिरावट की बातें आरम्भ हो चुकी थी उसी समय अधिक गिरावट का अनुमान कर वैसे कथन जोड़े गये हैं, किन्तु जो बातें भविष्य कथन में कही गई हैं, उनके अनन्तर ही वे पुराण वा महाभारत बने हों, ऐसा तो न युक्ति से सिद्ध हो सकता है, और न आस्तिक जनता ऐसी बात मानने को ही तैयार है। जिस प्रकरण से "एडक" शब्द उठाया गया है, उसी प्रकरण में यह भी लिखा है कि आगे कलियुग में छ वर्ष की बालिकाएं सन्तान उत्पन्न करने लगेंगी, किन्तु ऐसी घटना तो आज तक भी नहीं हुई, तो क्या यह माना जायगा कि अभी महाभारत बना ही नहीं, अथवा दैवात् ऐसी घटना कभी होने लगे तो उस समय के मनुष्य यही कल्पना करने लगेगें कि महाभारत अभी बना है, अस्तु कहने का तात्पर्य यही है कि भविष्य कथन के आधार पर महाभारत पुराण आदि का समय निर्धारण करना एक बहुत बड़ी भूल है। इसलिये केवल "एडक" शब्द को देखकर महाभारत को बौद्ध मत प्रचार के अनन्तर मान लेना यह बड़ों की बड़ी भूल ही कही जा सकती है।

स्वयं महाभारत के लेख के अनुसार महाभारत ग्रन्थ का निर्माण काल भी युद्ध के पचास वर्ष के बाद ही है। क्योंकि आदि पर्व में लिखा गया है कि जब युद्ध समाप्त हो चुका और धृतराष्ट्र भी स्वर्ग चले गये, उसके अनन्तर भगवान् व्यास ने अपना महाभारत ग्रन्थ प्रकट किया, इससे यही तात्पर्य सिद्ध होता है कि दुर्योधन की अन्यायपरता और हठवादिता पहले ही महाभारत द्वारा व्यास भगवान् प्रकट कर देते तो धृतराष्ट्र को इससे मार्मिक पीड़ा होती। भगवान् व्यास नहीं चाहते थे कि इस दुःखी को और पीड़ा पहुंचाई जाय, इसलिये उनने धृतराष्ट्र के मरणानन्तर ही अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया, धृतराष्ट्र का मरण महाभारत के युद्धकाल से पचीस तीस वर्ष बाद ही सिद्ध होता है, इससे यह अनुमान करना सुसंगत है कि महाभारत युद्ध के प्रायः पचास वर्ष अनन्तर व्यास रचित महाभारत प्रकट हुआ होगा।

आधुनिक बहुत से ऐतिहासिक विद्वान् महाभारत के तीन स्तर मानते हैं। सबसे पूर्व भगवान् व्यास ने एक जय ग्रथ बनाया था, जो कि केवल आठ

या नव हजार श्लोक का था, उसके अनन्तर चौबीस हजार श्लोक का "भारत" ग्रन्थ बना जिसके निर्माता, आधुनिक विद्वान्, वैशम्पायन को बताते हैं, और लक्ष श्लोकों का "महाभारत" तो बहुत पीछे बना है। यह सूत पुत्र उग्रश्रवा द्वारा निर्मित है ऐसा कहा जाता है। किन्तु भारतीय शिष्ट विद्वानों में यह मत भी ग्राह्य नहीं क्योंकि महाभारत के आदि पर्व (अ० ६२।५२) और स्वर्गारोहण पर्व (अ० ५ । श्लोक ४९) में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास नें तीन वर्षों में महाभारत की रचना की, और इतने बड़े ग्रन्थ का लेखक कौन होगा, इसलिये भगवान् गणेश से प्रार्थना कर उन्हें लेखक बनाया। अब विचारने की बात है कि क्या आठ हजार श्लोक का ग्रन्थ बनाने में ही भगवान् व्यास को तीन वर्ष लग जाते, और आठ हजार श्लोक लिखने वाला भी क्या उन्हें कोई अपना शिष्य नहीं मिल सकता था कि जिसके लिये वे गणेश से प्रार्थना करने जाते। इसके अतिरिक्त "जय" नाम महाभारत का ही है यह भी "जयाख्यं भारतं महत्" इस स्वर्गारोहण (५।४९) के वचन से सिद्ध हो जाता है। तब आठ हजार श्लोक का जय ग्रन्थ सबसे पूर्व बनने में तो कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। यह महाभारत में अवश्य लिखा है कि आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिनके विषय में भगवान् व्यास ने कहा है कि इनको मैं जानता हूँ शुकदेव जानता है और संजय जानता है वा नहीं इसमें सन्देह है (संजयो वेत्तिवानवा) कई विद्वान् उक्त पद्य का यह अर्थ कहते हैं कि संजय जानता है और चतुर पुरुष भी जान सकते हैं "वानवा" शब्द का अर्थ चतुर प्राचीन कोष में लिखा है—"वानवा चतुरः पुमान्" अस्तु। यह श्लोक संख्या कूट श्लोकों की है जब गणेश भगवान् लिखने बैठे और उन्होंने कहा कि मेरी लेखनी नहीं रुकनी चाहिये तो व्यास जी ने निवेदन किया कि आप अर्थ समझ कर श्लोक लिखते जाना तब लेखनी नहीं रुकेगी, इसलिये बीच-बीच में उन्होंने अति कठिन श्लोक बना दिये जिनका अर्थ समझने में गणेश जी को भी कुछ देर तक विचार करना पड़ता था, और इतने काल में वे और बहुत से श्लोक बना लेते थे। वे ही अति कठिन श्लोक "कूट" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन श्लोकों का पृथक्करण आज तक किसी ने नहीं किया। अस्तु; चौबीस हजार श्लोक की बात आदि पर्व में अवश्य मिलती है कि बिना आख्यान उपाख्यानों के चौबीस हजार श्लोक की भारत नाम की संहिता बनाई गई। और उपाख्यान सहित एक लक्ष की संहिता है जो कि महाभारत है। इससे दो संहिताओं का बनना सिद्ध होता है और वैशम्पायन, जनमेजय के परस्पर प्रश्नोत्तर रूप के श्लोक और सूत शौनक के परस्पर प्रश्नोत्तर संवाद के श्लोक जोड़कर व्यास शिष्य उग्रश्रवा ने महाभारत को वर्तमान रूप दिया यह भी माना जा सकता है। इनके भारत और महाभारत नाम भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं किन्तु उग्रश्रवा भी तो व्यास जी के शिष्य लोमहर्षण जी का पुत्र था, उसका समय बहुत पीछे कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये यदि दो रूप बने तो वे भी उसी समय बन गये दूसरा रूप बहुत पीछे बना यह नहीं सिद्ध होता। आश्वलायन

गृह्य सूत्र के तर्पण प्रकरण में भारत और महाभारत दोनों के आचार्यों का तर्पण लिखा है, आश्वलायन गृह्य का सयय ई० पू० ५०० माना जाता है, और भगवान् पाणिनि ने भी स्वर प्रकरण में भारत शब्द परे रहते मह शब्द को स्वर विशेष का विधान किया है इससे महाभारत का भी परिचय भगवान् पाणिनि को था यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। शिला लेखों में भी महाभारत के लिये "शतसाहस्री संहिता" शब्द लिखा है। और वैदेशिक यात्री डियोन्क्रायस्टोस्टोन भी महाभारत में लाख श्लोकों का इतिहास है ऐसा लिखा है। इन बातों से लक्ष श्लोकात्मक महाभारत भी वहुत पीछे का सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य के बहिरंग परीक्षा प्रकरण में प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भगवद्गीता तो महाभारत के प्रथम स्तर में ही संमिलित थी। अतः महाभारत के तीन स्तर मानने पर भी गीता का प्रादुर्भाव तो पाँच हजार वर्ष पूर्व ही मानने में कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि युद्धारम्भ के समय भगवान् कृष्ण ने जो उपदेश किया वही भगवान् व्यास ने संगृहीत किया है।

पुराणों में गीता का माहात्म्य विस्तार से है इससे भी गीता की प्राचीनता प्रसिद्ध है। अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि गीता प्रादुर्भाव का मास कौन सा और तिथि कौन सी है। इस देश में पुराने समय से मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को गीता जयन्ती मानने की प्रथा प्रचलित है। जैसे भगवान् कृष्ण, भगवान् राम आदि अवतारों के प्रादुर्भाव का दिन प्रचलित प्रथा के आधार पर ही माना जाता है। उसी प्रकार गीता के प्रादुर्भाव का दिन भी प्रचलित प्रथा के अनुसार ही मानना उचित है। किन्तु इतना ही नहीं युक्ति सेभी वह मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी का दिन गीता का प्रादुर्भाव दिन सिद्ध होता है। महाभारत का युद्ध मार्गशीर्ष मास में हुआ था यह कई प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। भगवान् कृष्ण सन्धि का सन्देश लेकर कार्तिक में दीपावली के आसपास कौरव सभा में गये थे और उनके लौटने पर तैयारी होकर युद्धारम्भ हुआ। इससे मार्गशीर्ष मास ही आता है। इसके अतिरिक्त जब भीष्म का पतन हुआ तब दक्षिणायन था और उत्तरायण में प्राण छोड़ने वाला ही मुक्ति मार्ग में जाता है ऐसे शास्त्रों के वचन हैं। भगवद्गीता में भी अष्टम अध्याय में ऐसा प्रसंग आया है जिसका निरूपण अष्टमाध्याय की व्याख्या में ही होगा। इसी कारण भीष्म उत्तरायण की प्रतिक्षा में शर शैय्या में पड़े रहे और अनन्तर राज्याभिषेक कराकर जब युधिष्ठिर उनसे उपदेश सुनने गये और उसके अनन्तर अपने राज्य में कुछ दिन निवास कर फिर उनकी मृत्यु का समय जान दाह संस्कार की सब वस्तुएं लेकर उनके पास आए तब भीष्म ने कहा था कि मुझे शरशैय्या में पड़े अठावन दिन हो गये हैं और अब माघमास का शुक्ल पक्ष आगया है—

अष्टपंचाशतं रात्र्यः शयानस्याद्यमेगताः।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥

माघोयं समनुप्राप्तो मासः सौम्योयुधिष्ठिर ।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥

अनुशासन० अ० १६७

इससे भी मार्गशीर्ष में ही युद्धारम्भ का समय सिद्ध होता है क्योंकि माघ शुक्ल में जब अठावन दिन हुए तो आरम्भ मार्गशीर्ष में ही मानना पड़ेगा अब तिथि का विचार देखिए ।

युद्धारम्भ के अनन्तर दस दिन सेनापति रूप से भीष्म ने युद्ध किया। उनके पतन के अनन्तर द्रोणाचार्य सेनापति बने। द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में तीसरे दिन अभिमन्यु का बध हुआ और उसपर कुपित होकर उसके दूसरे दिन अर्थात् चतुर्थ दिन अर्जुन ने प्रतिज्ञा पूर्वक जयद्रथ का वध किया। उसी दिन द्रोणाचार्य ने रात्रि युद्ध किया अर्थात् युद्धारम्भ के चौदहवें दिन रात्रि युद्ध हुआ। रात्रि युद्ध में वर्णन है कि अन्धकार से स्व पर का भेद न जानते देखकर मसालें जलायीं गईं और बहुत रात्रि हो जाने पर जब निद्रा से झूम-झूम कर योद्धा गिरने लगे और आपस में कुचले जाकर मरने लगे तब अर्जुन ने घोषणा की व्यर्थ दोनों ओर की सेना का नाश क्यों कर रहे हो थोड़ी देर शान्त होकर सो लो चन्द्रमा का उदय हो जाने पर फिर युद्ध आरम्भ कर देना। सबने अर्जुन का कथन मान लिया ऐसा ही किया गया। इससे सिद्ध होता है कि उस दिन अर्थात् युद्धारम्भ के चौदहवें दिन चन्द्रमा का उदय मध्यरात्रि के बाद प्रहर या डेढ़ प्रहर रात्रि बाकी रहते हुआ था। यह घटना मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को युद्धारम्भ मानने पर ठीक घटती है क्योंकि शुक्ल एकादशी को युद्धारम्भ होने पर कृष्ण नवमी को चौदहवां दिन होना चाहिए। महाभारत से यह भी विदित होता है कि युद्ध के समय एक पक्ष तेरह दिन का हुआ था। इस प्रकार एक या दो तिथियों का क्षय मान लेने पर दशमी वा एकादशी चौदहवां दिन आ जाता है। उस दिन चन्द्रोदय डेढ़ प्रहर अवशिष्ट रहते ही होता है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने शुक्ल त्रयोदशी को युद्धारम्भ का अनुमान लगाया है। किन्तु ऐसा मानने पर चौदहवां दिन कृष्ण द्वादशी वा त्रयोदशी को आ पड़ता है। उस दिन चन्द्रमा का कोई महत्व नहीं रहता। उसका प्रकाश अत्यल्प हो जाता है। और महाभारत में उस दिन चन्द्रमा का प्रकाश फैलने का अच्छा वर्णन मिलता है। और मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी गीता जयन्ती के रूप में प्रसिद्ध भी है। जब उपपत्ती बनती है तो प्रसिद्धि को क्यों छोड़ा जाय। इसलिए मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को ही युद्धारम्भ का और गीतोपदेश का दिन मानना युक्ति संगत है।

गीता के दशवें अध्याय में विभूति प्रकरण में भगवान ने मार्गशीर्ष मास को अपना रूप बताया है। इसकी उपपत्ति समझ में नहीं आती कि मार्गशीर्ष को ही अपना रूप क्यों कहा। उत्तरायण वा वसन्त सम्पात मार्गशीर्ष में मानना उपपत्ति से सिद्ध नहीं होता इसलिए कुछ विद्वान् इसका यही आशय निकालते हैं कि भगवान् कृष्ण का अवतार भूमि का भार उतारने के लिए हुआ था और

वह भार उतारने का कार्य महाभारत युद्ध में विशेष रूप से सम्पादित हुआ इसलिए अपने अवतार का मुख्य प्रयोजन मार्गशीर्ष में सिद्ध होने के कारण मार्गशीर्ष को उनने अपना रूप बताया। अस्तु इस युक्ति पर भी विद्वान् लोग विचार कर लें।

भीष्म ने माघ शुक्ल के तृतीयांश शेष रहने पर अपने आपको शरशैय्या में पड़े अठावन दिन बताये हैं। जिसका कि पूर्व श्लोक दिखाया जा चुका है। इसमें उक्त प्रक्रिया से कुछ बाधा आती है क्योंकि मार्ग शुक्ल एकादशी को युद्धारम्भ मानने पर भीष्म का पतन आगे के मास की कृष्ण पक्ष की पंचमी वा षष्ठी को मानना पड़ेगा। तब माघ शुक्ल अष्टमी वा दशमी को अठावन दिन नहीं होते। केवल सैतालीस वा अड़तालीस दिन होते हैं। इन सब बातों की उपपत्ति बैठाना कठिन है तथापि यही कहा जा सकता है कि युद्धारम्भ के दिन से ही गिनकर अठावन दिन की पूर्ति भीष्म ने की है। उनके कथन का जो श्लोक पूर्व लिखा गया है उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मुझे निद्रा लिए (सयन किए) आज अठावन दिन हो गये। इससे यह भी आशय निकल सकता है कि पहिले युद्ध के दस दिनों में सेना संचालन की चिन्ता के कारण नये-नये व्यूह बनाने आदि के विचारों में निद्रा का अवसर नहीं मिला और पतन के अनन्तर बाणों की वेदना से निद्रा नहीं आती है इसलिए निद्रालिए अठावन दिन हो गये यह बात बन जाती है। ये अठावन दिन कल्प के समान बीते हैं इत्यादि अग्रिम पद्यों का कथन भी स्वसंगत हो जाता है। इससे अच्छी और सब बातों की उपपत्ति बैठाना, कठिन बात है। कोई न कोई दोष सब प्रक्रियाओं में रह ही जायगा।

व्याख्याकारों ने ऐसा भी लगाने का प्रयत्न किया है, "अष्टपंच अशतम्" अर्थात् सौ में अठावन घटाने पर जो संख्या बचती है—अर्थात् बयालिश, उतनी रात्रि मुझे शरशय्या पर पड़े हो गये। किन्तु इससे भी संगति नहीं बैठती, क्योंकि वे व्याख्याकार माघ शुक्ल अष्टमी को भीष्म का स्वर्गारोहण मानते हैं। उससे बयालिश दिन पूर्व अमान्त मास के विचार से मार्ग शीर्ष कृष्ण दशमी, एकादशी, या द्वादशी आ सकती है। उस दिन भीष्म का पतन माना जाय तो द्रोणाचार्य के अभिषेक का चौथा दिन चतुर्दशी अमावस्या वा पौष शुक्ल प्रतिपद् अमान्त मास के अनुसार से आ सकेगी, यही जयद्रथ वध का दिन मानना होगा, और उस रात्रि को यदि अमा वा प्रतिपद् मानें तो चन्द्रोदय होगा ही नहीं और चतुर्दशी मानें तो भी चन्द्रमा का कोई प्रकाश ऐसा न होगा जिसकी प्रतीक्षा युद्धारम्भ के लिये की जा सके, और जिस प्रकाश का वर्णन महाभारत में बहुत अच्छा मिलता है—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्ड पाण्डुना
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्रीदिगलंकृता।

महा० द्रोण० १८४, ४६

हरवृषोत्तम गात्र समुद्युतिः
स्मर शरासन पूर्ण समप्रभः
नववधूस्मित चारुमनोहरः,
प्रविसृतः कुमदाकर बान्धवः
(महाद्रोण १८४।४८)

प्रति प्रकाशिते लोके दिवाभूते निशाकरे ।
विचेरुर्न विचेरुश्च राजन् नक्तंचरास्ततः । ५३

अर्ध रात्रि के पश्चात् योद्धाओं के शयन के अनन्तर कामिनियों के कपोल के समान पाण्डुवर्ण नेत्रों को आनन्द देनेवाले चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया ।

महादेव के वाहन वृषभ के समान श्वेत कान्ति वाले, कामदेव के धनुष के समान पूर्ण कान्ति फैलाने वाले युवति स्त्रियों के स्मित के समान सुन्दर और मनोहर कुमुद बान्धव चन्द्रमा फैलने लगा ।

जब चन्द्रमा के प्रकाश से लोक प्रकाशित हो गये और दिन जैसा प्रतीत होने लगा, तब रात्रि के विचरनेवाले जन्तु जिनको प्रकाश प्रिय हैं वे विचरने लगे और प्रकाश से डरने वाले जन्तुओं ने विचरना बन्द कर दिया ।

इस प्रकार का वर्णन नवमी दशमी के चन्द्रमा का हो सकता है कृष्ण चतुर्दशी के चन्द्रमा में तो ऐसी कान्ति ही नहीं होती, इसलिये यह बयालिश कठिन कल्पना ठीक नहीं उतरती ।

अब प्रश्न यह होता है कि महाभारत के अनुशासन पर्व में यह भी कहा गया है कि महाराज युधिष्ठिर भीष्म से उपदेश सुनकर उनकी आज्ञा से अपने नगर में चले गये और वहाँ पचास दिन निवास कर सूर्य के उत्तरायण का समय जानकर उनके दर्शन करने को दाह सामग्री साथ लेकर पुनः आये । उसी समय भीष्म ने उक्त वाक्य कहा था कि मुझे अठावन रात्रियाँ शर सय्या पर पड़े हो गयीं, अब विचारने की बात है कि यदि पूर्वोक्त रीति से युद्धारम्भ से ही अठावन रात्रियों की गणना की जाय तो अठारह दिन तो युद्ध में ही चले गये, तदनन्तर युधिष्ठर का राज्याभिषेक होकर भगवान् कृष्ण की प्रेरणा से उपदेश सुनने आये । इतने लम्बे उपदेश में ४-५ दिन अवश्य ही लगे होंगे । तब फिर पचास दिन नगर में रहने से तो तिहत्तर-चौहोत्तर दिन हो जाएँगे । फिर अठावन दिन की संगति कैसे होगी ? और पचास दिन युधिष्ठिर का नगर में न रहना मानने पर—

उषित्वाशर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे ।
समयं कौरवाग्रयस्य सस्मार पुरुषर्षभ ।। अनु० १६७।५

(नगर में पचास रात्रि निवास कर युधिष्ठिर ने भीष्म के देहत्याग के समय के आ जाने का स्मरण किया, इत्यादि)। इसका उत्तर यही होगा कि यहाँ सब वचनों की संगति तो बैठती ही नहीं; क्योंकि जिस समय युधिष्ठिर उपदेश सुनने आए, उस समय भगवान् कृष्ण का भीष्म के प्रति यह वचन महाभारत में प्राप्त होता है --

पंचाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तवजीवितस्य।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसेभीष्मविमुच्यदेहम् ॥

शा० ५१।१४

(अर्थात् हे भीष्म! तुम्हारे जीवन के अब छप्पन दिन शेष हैं)। इसके आगे छः दिन भीष्म का उपदेश हुआ। और पचास दिन वहाँ से लौट कर युधिष्ठिर हस्तिनापुर में रहे; यह संगति तो मिल जाती है। किन्तु भीष्म के पतन के अनन्तर आठ दिन तो युद्ध चला और अभिषेकादि में एक-दो दिन लगे ही होंगे; और उसके अनन्तर पूर्वोक्त रूप से छप्पन दिन और होने पर पैंसठ या छांसठ दिन हो जाते हैं। फिर भीष्म का अन्त अठावन दिन बताना किसी प्रकार संगत नहीं होता। इसलिए जैसा कि महाभारत मीमांसाकार ने लिखा है कि ये संख्याएं किसी गुप्त परिभाषा से दी गई हैं। यह संख्याओं के निर्देशक श्लोक महाभारत के कूट श्लोकों में से हैं, कि जिनका अर्थ अभी तक किसी की समझ में ठीक-ठीक नहीं आया है। अथवा लेखकों के प्रमाद से संख्याओं के निर्देश में अशुद्धियाँ हो गई हैं। ऐसा ही मानना पड़ेगा।

तब विस्पष्ट युद्धकालिक चन्द्रोदय के वर्णन और लोक में गीता जयन्ती की प्रसिद्धि के अनुसार यही मानना उचित है कि गीता का प्रादुर्भाव ईसवीं सन् के तीन हजार एक सौ एक वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को हुआ था, उसी दिन संसार को यह उपदेशरत्न मिला और वह दिन भारतवर्ष के लिए चमकते हुए सौभाग्य का चिरस्मरणीय दिन है।

———

सप्तम पुष्प

भगवद्गीता का प्रथमाध्याय केवल ऐतिहासिक उपोद्‌घात मात्र है यह सभी मानते हैं। सन्यास मार्ग को गीता का मुख्य लक्ष्य मानने वाले भगवान शंकराचार्य और उनके अनुयायी प्रथम अध्याय की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि शोक, मोह, दुःख आदि से आक्रान्त पुरुष ही ज्ञान, वैराग्य का अधिकारी होता है। इसलिए अधिकार सम्पत्ति बताने को प्रथमाध्याय में अर्जुन के शोक मोहादि का विवरण किया गया है। कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मानने वाले लोकमान्य तिलक आदि की संगति स्पष्ट ही है कि कार्य अकार्य की उलझन बताने के लिए प्रथमाध्याय का उपयोग है। इसलिए भक्ति मार्ग के अनुयायी भी संसार परिताप के विवरण के लिए इस अध्याय की आवश्यकता मान लेते हैं। इस प्रकार प्रथमाध्याय उपोद्‌घात रूप ही है। उपदेश का आरम्भ द्वितीयाध्याय के ग्यारहवें श्लोक से है। किन्तु इस उपोद्‌घात प्रकरण में भी आर्य-संस्कृति की अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश है। गीता के उपदेष्टा जगन्नियन्ता जगदीश्वर स्वयं भगवान् कृष्ण हैं और उपदेश्य है सब जीवों का प्रतिनिधि भूत अर्जुन। अर्जुन को लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण जीवों को भगवान् ने उपदेश दिया है यह प्रथम प्रवचन में कहा जा चुका है। पुराणों में अर्जुन और कृष्ण को नर और नारायण का अवतार माना जाता है, इस विचार से भी अर्जुन का सब जीवों का प्रतिनिधि होना सिद्ध है। अस्तु, जीव और ईश्वर में यही भेद है कि जीव सदा अनेक क्लेशों से आक्रान्त रहता है और ईश्वर सदा आनन्दमय। यही गीता के आरम्भ में अभिव्यंजित किया गया है। अर्जुन को यहां क्लेशमय रूप में चित्रित किया गया है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। वह एक प्रकार से जीव की अवस्था का चित्रण है। जीव प्रायः सदा ही शोक, भय, मोह से आक्रान्त होकर ऐसी ही दशा में रहा करता है। अब उपदेष्टा श्रीकृष्ण चन्द्र की ओर देखिए, जिनके पक्ष में अग्रसर होकर वे आये हैं, जो भरी कौरवों की सभा में धृतराष्ट्र के प्रति स्पष्ट घोषणा कर चुके हैं कि—

यस्तान्द्वेष्टि समांदेष्टि यस्तानन्नुस मामनु
"एकत्वं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः"

अर्थात् पांडवों के साथ द्वेष रखने वाला मेरा भी द्वेषी है और उनका अनुकरण करने वाला मेरा भी अनुगामी है, मैं धर्माचरण निरत रहने वाले पाण्डवों के साथ एक रूप हो चुका हूं, इतना ही नहीं, युद्ध के आरम्भ का बिगुल भी भगवान् कृष्ण ने ही पहिले बजाया। इस प्रकार जिस दल की प्रमुखता वे बार-बार घोषित कर चुके हैं, उसी दल का मुख्य योद्धा जो विजय पराजय का मुख्य आधार कहा जा सकता है वही धनुष फेंक कर बन में जाने को तैयार है। इस घटना

का क्या भगवान् कृष्ण पर भी कोई प्रभाव पड़ा ? क्या उनके चित्त में भी इससे कोई क्षोभ हुआ ? नहीं। गीता कहती है—

"तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥

अ० २-श्लोक १०

अर्थात् दोनों सेनाओं के बीच में दुःखाक्रान्त होकर गिरते हुए अर्जुन को हंसते हुए भगवान् ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। इस हास्य के द्वारा उनकी आनन्दमयता अभिव्यंजित होती है। ईश्वर नित्य आनन्दमय है, उसमें शोक, मोह का स्पर्शमात्र भी नहीं हो सकता।

इसी कारण आर्य संस्कृति में उपदेष्टा ईश्वर को ही माना जाता है। जीव जो स्वयं अज्ञान और शोक मोह से आक्रान्त है वह दूसरे को क्या उपदेश देगा। यह तो वही कहावत होगी कि कोई नेत्र का रोगी वैद्य के पास गया और उनसे बोला कि नेत्र दुर्बल हैं, इनको शक्ति देने की कोई औषधि दीजिए। वैद्य जी ने पूछा—कितनी दूर तक देख सकते हो। नेत्र रोगी ने कहा—सामने जो वृक्ष है वहां तक मुझे दिखाई देता है, आगे नहीं। तब वैद्य जी आंख फाड़कर कहने लगे क्या यहां कोई वृक्ष भी है ? रोगी ने अपना सिर ठोका कि अच्छे वैद्य के पास आया। इन्हें तो वृक्ष भी दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यही है कि स्वयं रोगाक्रान्त जीव दूसरे को उद्धार का मार्ग दिखलाने में समर्थ नहीं। इसलिए आर्य संस्कृति में ईश्वर द्वारा ब्रह्मा और महर्षियों के हृदय में प्रेरित वेदों को ही धर्माधर्म निर्णय का मुख्य आधार माना जाता है। उसी के अनुसार गीता में भी उपदेष्टा भगवान् और उपदेश्य जीव प्रतिनिधि रूप अर्जुन को रक्खा गया है।

दूसरी बात यह है कि आर्य संस्कृति में यह दृढ़ता से माना गया है कि जिसके हृदय में जिज्ञासा हो उसे ही उपदेश देना चाहिए। जिज्ञासा प्रश्न के द्वारा ही प्रकट होती है। अतएव भगवान् मनु ने लिखा है—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्—न चान्यायेन पृच्छतः
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् (मनुस्मृति)

अर्थात् बिना पूछे किसी को शास्त्र की बात नहीं कहना चाहिए और जो जिज्ञासा भाव से न पूछ कर किसी दुरभिसन्धि से पूछता हो—उसे भी नहीं कहना चाहिए। सब कुछ जानते हुए भी विद्वान् संसार में जड़ की तरह रहे, अनधिकारी को उपदेश न दे। इसका भी निर्वाह भगवद्गीता में पूर्ण रूप से हुआ है। जबतक अर्जुन अपने को विशेषज्ञ मानते हुए अपना ही शास्त्र ज्ञान प्रकट करते रहे, तबतक भगवान् ने उपदेश का आरम्भ नहीं किया। विशेष खिन्न होकर रथ के पीछे के भाग में गिरकर आंसू बहाते हुए अर्जुन को देखकर केवल चेतावनी दे दी। बस चेतावनी के अतिरिक्त और कोई उपदेश की बात भगवान् ने नहीं कही। वे मर्यादा के रक्षक थे, आर्य मर्यादा के विपरीत कैसे आचरण करते।

बात भी यही है कि जबतक मनुष्य अपने हठ पर दृढ़ रहे तबतक उससे कुछ भी कहना व्यर्थ है। जिज्ञासा रूप मुख के बिना उपदेश रूप अमृत कैसे भीतर प्रवेश करे। इसलिए जब जिज्ञासा हो, हृदय उपदेश ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो तभी उपदेश देना चाहिए। बिना जिज्ञासा के केवल चेतावनी पर्याप्त होती है। अनन्तर जब शरणागत होकर अर्जुन ने प्रश्न किया, अपनी शिष्यता प्रकट की, तभी भगवान् ने उपदेश का प्रारम्भ किया। इस प्रकार उपदेश की आर्य संस्कृति सिद्ध मर्यादा भी प्रथमाध्याय में चित्रित की गयी है। इसके अतिरिक्त अर्जुन के कथन में भी आर्य संस्कृति के बहुत तत्त्व हैं। इसलिए उस प्रथमाध्याय का भी विवरण आवश्यक समझकर प्रस्तुत किया जाता है।

"प्रथमाध्याय की व्याख्या"

प्रथमाध्याय पर श्री शंकराचार्य ने भाष्य नहीं लिखा है। उनका भाष्य द्वितीयाध्याय के ग्यारहवें श्लोक से ही विस्तृत रूप में आरम्भ होता है, जहां से कि दार्शनिक उपदेश का प्रारम्भ है। अन्य आचार्यों ने भी प्रायः प्रथमाध्याय की व्याख्या अति संक्षिप्त की है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने प्रथमाध्याय-पर भी व्याख्या लिखी है, और उसमें भिन्न भिन्न पदों का भी स्वारस्य बताया है। प्राचीन व्याख्याओं के अतिरिक्त वर्तमान में हमारे मित्र देहली के प्रभुदत्त शास्त्री जी ने एक "व्यंगय मन्दाकिनी" नाम की हिन्दी भाषा में टीका लिखी है। उनने प्रथमाध्याय के पदों का विशेष विवरण किया है। अस्तु, इन दोनों व्याख्याओं के कुछ अंशों का संग्रह कर हम प्रथमाध्याय का संक्षिप्त विवरण यहां देते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समेवता युयुत्सवः

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

महाभारत में पहले यह प्रसंग आ चुका है कि जब दोनों दल युद्ध के लिये कुरुक्षेत्र की विस्तृत भूमि में आ चुके थे, उस समय एक दिन श्री वेदव्यास जी धृतराष्ट्र के पास आये, तब धृतराष्ट्र ने कहा कि ऐसे महावीरों का युद्ध देखना भी सौभाग्य से प्राप्त होता है। मुझे तो नेत्र विहीन होने के कारण यह सौभाग्य भी प्राप्त नहीं है। तब श्री व्यासदेव ने कहा कि तुम देखना चाहो तो मैं अपने तपोबल से तुम्हें नेत्र दे सकता हूँ। इसपर धृतराष्ट्र ने फिर कहा कि "जन्म भर तो अन्ध रहे अब अपने और भाई के पुत्रों और उनके सहचारी अन्याय वीरों का नाश देखने को ही नेत्र प्राप्त करें यह तो उचित नहीं प्रतीत होता।" हाँ, यदि कोई युद्ध का वर्णन सुना दिया करे तो सुन लेना चाहते हैं। तब भगवान् व्यास ने वहाँ उपस्थित संजय को (जो कि धृतराष्ट्र का एक पुराना सहचारी और हितोपदेष्टा था) अपने तपः प्रभाव से दिव्यदृष्टि देकर इस कार्य में नियुक्त किया, और उससे कहा कि तुम हस्तिनापुर में बैठे हुए भी युद्ध की सब घटना देख सकोगे। और युद्ध स्थल में जाओगे। तब भी वहाँ अदृश्य

रूप में रहोगे किसी शस्त्र आदि का प्रभाव तुम पर न होगा, और वहाँ की सूक्ष्म बात भी दिव्य दृष्टि से जान सकोगे। तुम राजा को सब वृतान्त सुनाया करो। उस भगवान् व्यास के आदेश के अनुसार एक बार युद्ध भूमि में जाकर जब संजय लौटा, और उसने भीष्म के पतन की घटना संक्षेप में धृतराष्ट्र को सुना दी उस के अनन्तर विशेष विवरण की जिज्ञासा से धृतराष्ट्र का प्रश्न प्रारंभ होता है। इससे पूर्व अर्जुन की दुर्गास्तुति आ चुकी है। धृतराष्ट्र का प्रश्न है—कि "कहो संजय धर्म के क्षेत्र रूप कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से उपस्थित मेरे पुत्र और पाण्डवों ने क्या किया ? अर्थात् किस प्रकार युद्ध का आरंभ हुआ" इस पद्य में कुरुक्षेत्र को धर्म का क्षेत्र बताया है। इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार खेत में बीज डालने से वह हजारों गुना होकर प्रकट होता है उसी प्रकार कुरुक्षेत्र तीर्थ में किया हुआ बीजरूप संक्षिप्त धर्म भी अनन्त फल देता है। अथवा उस क्षेत्र में धर्म की ही खेती होती है—जैसा कि श्रुतियों में भी उसे देवताओं का यजन स्थान बताया गया है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि जैसे खेत में समय पर धान लहलहाते रहते हैं और वहाँ जाने वाले पुरुष का मन उसे देखकर ही प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही कुरुक्षेत्र में धर्म मानों चारों तरफ लहलहा रहा है। इससे धृतराष्ट्र का यह भी आशय अभिव्यक्त होता है कि यद्यपि मेरे पुत्र और पाण्डव वहाँ युद्ध की इच्छा से गये हैं, परन्तु संभव है कि उस क्षेत्र के धर्म भाव का प्रभाव पड़ा हो, और वे युद्ध की बात छोड़कर परस्पर सहयोग की बात करने लगे हों। इसीलिये "किमकुर्वत" (क्या करने लगे) यह सामान्य रूप प्रश्न है—अर्थात् युद्ध ही करने लगे वा मन में धर्म भाव जागरित हो जाने से युद्ध से विरत हो गये। इससे अर्जुन के हृदय में धर्म भाव जागरित हो जाने का जो प्रसंग आगे अनुपद ही आने वाला है उसकी ध्वनि निकल आती है। "मामका" और "पाण्डवाः" पृथक्-पृथक् कहने से धृतराष्ट्र का आन्तर भाव भी प्रकट हो जाता है कि उसे पाण्डवों पर किंचित् भी ममत्व नहीं है। वह उनको अपनेपन से पृथक् ही मानता है। "संजय" इस नाम ग्रहण पूर्वक संबोधन से यह आशय प्रकट होता है कि तुमने अपने मन इन्द्रियों पर सम्यक्—अच्छे प्रकार से विजय प्राप्त किया है। तुम सत्य बात ही मुझे बताओगे। मिथ्या भाषण की संभावना तुमसे नहीं है। आदि में धर्म शब्द का उच्चारण करने से भगवद्गीता शास्त्र का मंगल भी संपन्न हो गया। यद्यपि गीता महाभारत के अन्तर्गत है इसलिए महाभारत के मंगल से ही संपूर्ण ग्रन्थ का मंगल हो गया था किन्तु फिर भी गीता एक स्वतन्त्र शास्त्ररूप है इसलिए उसका भी मंगल संपन्न हो जाना एक उत्तम बात है। अस्तु।

संजय उवाच

यह प्रश्न सुनकर संजय वहां का वृतान्त कहने लगा—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

"पाण्डवों की व्यूह रचना की हुई सेना को देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के समीप जाकर नीचे लिखे वचन बोला"—यहां "तु" शब्द से यह सूचित किया जाता है कि पाण्डवों को तुम्हारी सेना देखकर कोई भय वा क्षोभ नहीं हुआ, किन्तु पाण्डवों की सेना व्यूह रचित सुसज्जित देखकर दुर्योधन के मन में भय का उदय हुआ। इसीलिये राजा होने पर भी उसने द्रोणाचार्य को अपने पास नहीं बुलाया किन्तु राजनीति कुशलता से आदर दिखाने को स्वयं द्रोणाचार्य के समीप गया। द्रोणाचार्य के ही समीप जाने का यह कारण है कि दुर्योधन को द्रोणाचार्य से शंका थी कि इनका अर्जुन पर विशेष स्नेह है। उस स्नेह के कारण ये कहीं धोखा न दे बैठें, इसलिये जहां तक हो पूर्ण आदर से इन्हें सुरक्षित रखना चाहिये। यही उसकी राजनीति कुशलता थी। राजा पद से यह भी सूचित किया जाता है कि आप परस्पर मेलजोल कर पाण्डवों को कुछ राज्य का अंश दे देने की शंका न कीजिये। दुर्योधन में राजापन का अभिमान कुरुक्षेत्र भूमि में जाकर भी बना हुआ है। वह अपने राजत्व का कुछ भी अंश छोड़ने को तैयार नहीं है "द्रोणाचार्य के समीप जाकर बोला" इतना कहने से ही बात स्पष्ट हो जाती है, फिर वचन बोला यह "वचन" शब्द तो निरर्थक ही प्रतीत होता है, किन्तु यहां व्याख्याकार वचन शब्द से यह तात्पर्य निकालते हैं कि कहने योग्य कोई खास बात नहीं थी, केवल कुछ कहना चाहिये इसीलिये अस्त व्यस्त वचन रूप से कुछ कहने लगा। दुर्योधन ने क्या कहा सो आगे के श्लोक में बताते हैं—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपद-पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य पाण्डु पुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, जिसकी व्यूह रचना आपके शिष्य द्रुपद के पुत्र बुद्धिमान् "धृष्टद्युम्न" ने की है"

इससे यह सूचित किया कि वनवासी पाण्डव भी इतनी बड़ी सेना इकट्ठी कर लेंगे यह आशा नहीं थी। किन्तु उनकी सेना भी बहुत बड़ी दिखाई देती है, इससे दुर्योधन के चित्त का भय स्पष्ट हो जाता है। धृष्टद्युम्न का नाम न लेकर द्रुपद पुत्र कहने का अभिप्राय यह है कि द्रुपद के साथ द्रोणाचार्य का जो पुराना वैर था, द्रुपद ने राज्य प्राप्त कर इनकी अवज्ञा की थी और उसका बदला लेने के लिए अर्जुन को भेजकर द्रोणाचार्य ने द्रुपद को बंधवा मंगाया था, उस सबका स्मरण करा दिया जाय, और यह सूचित किया जाय कि आपका मुख्य शत्रु ही उनकी सेना में प्रधान है, आप उनसे मिलने का कभी विचार न कीजियेगा। द्रुपद ने अवज्ञा से खिन्न होकर तपस्या द्वारा वरदान प्राप्ति कर धृष्टद्युम्न को द्रोणाचार्य के वध के लिये ही उत्पन्न किया था, उसका नाम लेने से द्रोणाचार्य को भय न हो जाय कि यह तो मेरा मारने वाला है इसलिये भी उसका नाम लेना उचित न समझा, आपका शिष्य और बुद्धिमान इन विशेषणों से यह भी सूचित कर दिया कि सेना कोई बड़ी नहीं है, किन्तु बुद्धिमत्ता से व्यूह रचना कर बड़ी दिखादी गयी है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन समायुधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस सेना में युद्ध करने में भीम और अर्जुन के सदृश बड़े-बड़े धनुष वाले अनेक वीर हैं। उनके नाम आगे गिनाये गये हैं—युयुधान, (सात्यकि) विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमशाली युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचो पुत्र ये सभी महारथी हैं।

सबके विशेषण "शूरा महेष्वासा महारथा" आदि देकर भी एक-एक के पृथक् विशेषण मध्य में दिये हैं वे उनका और उत्कर्ष दिखाने के लिये ही हैं। इससे यह सूचित किया कि सेना चाहे हमसे अल्प भी हो किन्तु वीर इनमें बहुत हैं। "भीमार्जुनसमाः" यह एक बोलने का मुहावरा है। भीम अर्जुन जैसे वीर इस सेना में उपस्थित हैं। इससे भीम अर्जुन का महावीर होना और प्रमुख योद्धा होना ही सूचित होता है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोतम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्येच बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

इससे द्रोणाचार्य यह न समझ लें कि दुर्योधन डर ही गया, इसलिये राजनीति की रक्षा के लिये वह आगे कहता है कि "हमारी सेना में भी बहुत से विशिष्ट वीर हैं जो कि मेरी सेना के नेता हैं आपके ही शिष्य प्रशिष्य सब हैं तथापि संकेत रूप से स्मरण कराने को कुछ नाम कह देता हूँ। "सबसे पहले आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ इत्यादि हैं। यहाँ अपने पितामह सर्वमान्य और सेनापति भीष्म की अपेक्षा भी द्रोणाचार्य को पहिले गिनाकर उनका अत्यन्त संमान अभिव्यक्त किया है। और कर्ण के अनन्तर कृपाचार्य का नाम लेने से कृपाचार्य को कुछ वैमनस्य न हो इसलिये उनका विशेषण "समितिंजय" देकर उनका भी अधिक सम्मान प्रकट किया गया। श्लोक के पूर्वार्द्ध में विशिष्ट चार

१२

महावीरों का नाम है, और उत्तरार्द्ध में सेना के नेता युवकों की गणना की गयी है, ऐसा भी कई व्याख्याकारों ने लिखा है। पाण्डवों की अपेक्षा अपने पक्ष के वीर कम गिनाये गये इसका यह तात्पर्य न समझा जाय कि हमारे यहाँ वीर कम हैं। इसलिये आगे अपना अभिमान अभिव्यक्त करता है कि "और भी बहुत से वीर हैं जिनने मेरे लिये अपने प्राणों को निछावर कर दिया है और जो बहुत से शस्त्रों से युद्ध करते हैं, और सभी युद्ध विद्या में पूर्ण निपुण हैं।" यहाँ इसके मुख से सरस्वती ने "त्यक्तजीविताः" कहलाकर सबका नाश सूचित कर दिया है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

इस श्लोक के अर्थ में व्याख्याकारों के बड़े मतभेद हैं। "पर्याप्त" और "अपर्याप्त" शब्दों का प्रयोग प्रायः समर्थ और असमर्थ अर्थों में देखा जाता है। उसके अनुसार इसका अर्थ होगा कि हमारी सेना भीष्म से अभिरक्षित होकर भी असमर्थ है, और पाण्डवों की सेना भीम से रक्षित है और समर्थ है। किन्तु यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। दुर्योधन जैसा अभिमानी पुरुष अपनी न्यूनता बतावे यह संभव नहीं और राजनीति मार्ग से भी यह अर्थ विरुद्ध होता है। इससे तो दुर्योधन का भय बिलकुल अभिव्यक्त हो जाता है। जो कि एक पूर्ण राजनीतिज्ञ पुरुष के लिये सर्वथा अनुचित बात है। कई विद्वान् इससे यह अभिप्राय निकालते हैं कि बड़ी सेना होने पर भी भीष्म के द्वारा रक्षित होने के कारण असमर्थ है और पाण्डवों की सेना छोटी होने पर भी भीम के द्वारा रक्षित है इसलिए समर्थ है। इससे यह सूचित किया कि भीष्म पाण्डवों पर भी कृपा करते हैं। वे दोनों पक्ष के पात्रों को समान समझते हैं, इसलिये रक्षक एक पक्ष का दृढ़ न होने के कारण हमारे पक्ष की दुर्बलता या असमर्थता है। इसी बात को सिद्ध करने के लिये कुछ व्याकरण के अनुसार भी कल्पना की गयी है कि भीम और भीष्म दोनों शब्द एक ही धातु और एक ही प्रत्यय से बनते हैं। किन्तु एक "षुक" का आगम हो जाने से भीष्म शब्द के आकार में भेद हो गया है। व्याकरण शिक्षा में प्रारम्भिक प्रवृत्ति करने वाले छात्र इस प्रकार बोला करते हैं कि "मित्रवदागमः, शत्रुवदादेशः" अर्थात् आगम मित्र के समान होता है, क्योंकि शब्द स्वरूप की वृद्धि करता है, और आदेश शत्रु के समान होता है, क्योंकि जिसके स्थान में आदेश होता है उसके स्वरूप को नष्ट कर देता है। यहाँ आगम सहित नाम निर्देश करने से सूचित किया कि भीष्म की दोनों तरफ मैत्री है। यह कल्पना यद्यपि चमत्कृति पैदा करती है फिर भी प्रकृत में उपयुक्त नहीं जँचती, क्योंकि आगे के ही पद्य में कहा जाता है कि आप लोग भीष्म की ही रक्षा कीजिये। यदि भीष्म पर ही कटाक्ष करना होता तो उनकी रक्षा पर ही इतना बल क्यों दिया जाता। इसके अतिरिक्त आगे के पद्यों से यह भी सिद्ध होता है कि दुर्योधन के इन उद्गारों को भीष्म भी

सुन रहे थे। फिर भीष्म के सुनते हुए और उनके अपनी सेना के सेनापति रहते हुए कोई सामान्य पुरुष भी ऐसी आक्षेप की बात व्यंग्य से भी नहीं कह सकता। महाभारत के युद्ध प्रकरण से भी सिद्ध है कि दुर्योधन भीष्म से डरता था उनके सामने कोई भी कटाक्ष की बात नहीं कह सकता था, उनका प्रताप ही ऐसा था। अस्तु, इसलिये प्रकृत श्लोक में "पर्याप्त" और "अपर्याप्त" शब्दों का प्रकरणानुसार परिमित और अपरिमित अर्थ करना चाहिये। ऐसा ही अधिकतर व्याख्याकारों ने किया है, और व्याकरण के अनुसार भी यह अर्थ घटित होता है। "परिआप्त" अर्थात् परिच्छिन्न, और उससे विरुद्ध, अर्थात् अपरिच्छिन्न। तब इस पद्य का स्पष्ट अर्थ है कि हमारी सेना अपरिमित है अर्थात् बहुत बड़ी है, और उसके रक्षक भी महाप्रतापी भीष्म है, और पाण्डवों की सेना परिमित है अर्थात् हमसे बहुत छोटी है, और उसका रक्षक भी भीम जैसा चंचल बुद्धि, विवेकहीन पुरुष है, इससे हमारी जीत निश्चित है। श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि व्याख्याकारों ने कुछ शब्दों को तोड़ मरोड़ कर भी इसका अर्थ लगाया है। उनने "अस्माकम्" और "एतेषाम्" इन दोनों षष्ठी विभक्तियों को चतुर्थी के अर्थ में मानकर दूसरा अर्थ निकाला है। जैसा कि विभक्ति विपरिणाम आर्ष वचनों में हो जाया करता है। "भीष्माभिरक्षितम्" और "भीमाभिरक्षितम्" इन दोनों पदों में इस अर्थ में बहुव्रीहि समास माना गया है। तदनुसार यह अर्थ निकलता है कि "तत्" अर्थात् वह पाण्डवों की सेना हमारे लिये असमर्थ है क्योंकि हमने उनको दबाने के लिये भीष्म की रक्षा मान रक्खी है। और "इदम्" अर्थात् यह हमारी सेना पाण्डवों के लिये अर्थात् उनका विजय करने के लिये पर्याप्त अर्थात् समर्थ है उनने हमारे पराभव के लिए भीम को रक्षक मान रक्खा है जो कि विवेकहीन और चंचल बुद्धि का है। ऐसा अर्थ करने से यह दोष भी हट जाता है कि अपनी सेना को "तत्" शब्द से और पाण्डवों की सेना को "इदम्" शब्द से क्यों कहा, क्योंकि शब्दों के नियमानुसार सन्निहित में "इदम्" शब्द का, और दूरस्थ वा परोक्ष में "तत्" शब्द का प्रयोग होता है। इस नियम के अनुसार अपनी सेना के लिये "इदम्" शब्द का और दूरस्थ पाण्डव सेना के लिए "तत्" शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त है, यह बात इस नवीन अर्थ में घट जाती है। किन्तु इसमें क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। यही मानना उचित है कि "तत्" शब्द को विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय मानकर "तस्मात्" के अर्थ में लगाया जाय, अर्थात् मेरे पक्ष में बहुत वीर हैं इसलिये मेरी सेना समर्थ है, और सामने दीखती हुई पाण्डव सेना के लिये "इदम्" शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं होता। इसीलिये अपने वचन के आरम्भ में "एताम्महतीं चमूम्" ऐसा "एतत्" शब्द का प्रयोग भी पाण्डवों की सेना के लिये किया गया है, जो कि अत्यन्त समीपवर्ती के लिये किया जाता है, और भी कई एक कल्पनाएँ इस श्लोक पर व्याख्याकारों की हैं, जिनका विवरण विशेष उपयोगी न होने से तथा विस्तार भय से छोड़ दिया जाता है।

उचित है कि यह श्लोक महाभारत के कूट श्लोकों की गणना में माना जाय। अस्तु।

एक यह भी शंका है कि पाण्डवों की ओर का प्रमुख योद्धा तो अर्जुन था यह बात सुप्रसिद्ध है, फिर यहां भीम की रक्षा उस दल पर विशेष रूप से क्यों बताई गयी। और पहिले भी "भीमार्जुन समायुधि" इस पद्य में भीम का नाम अर्जुन से पहिले क्यों लिया गया? इसका उत्तर यही है कि युद्ध के लिये उत्सुकता भीम में ही सबसे अधिक थी, और दुर्योधन को भीम से ही अधिक भय था, क्यों कि उसने ही इन सब भाइयों को मारने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। इसलिये भीम का ही नाम उसके मुख से बार बार निकलता था। भीम और भीष्म दोनों शब्दों में समानता होने के कारण साहित्य दृष्टि से भी यहां भीम का नाम उपयुक्त है। और उच्चारण में भीष्म शब्द के आगे भीम शब्द हलका पड़ता है इसलिये पाण्डवों का हलकापन दिखाने को भी यहां भीम शब्द उपयुक्त है। आगे दुर्योधन कहता है—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।११।

सब बातों का उपसंहार यह है कि आप लोग सभी मिलकर युद्ध के भिन्न भिन्न मोरचों पर उचित रूप से विभाग कर खड़े हो जाइये, और मुख्य रूप से सेनापति भीष्म की ही रक्षा कीजिये" यहां अन्त में "हि" शब्द अपनी बात पर बल देने के लिये प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् "आप समझें" आप लोगों को ऐसा ही करना चाहिये। इससे यही ध्वनित किया कि भीष्म के आधार पर ही हमारा जय निर्भर है। इसलिये भीष्म की रक्षा सबसे आवश्यक है।

दुर्योधन का कथन समाप्त कर आगे संजय कहता है कि—

तस्य संजयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

यह सब सुनकर दुर्योधन के हृदय में हर्ष पैदा करने के लिये कौरवों में वृद्ध सबके पितामह महा प्रतापी भीष्म ने सिंहनाद की तरह गर्जना करके बड़े जोर से अपना शंख बजाया"। दुर्योधन की बातों से सूक्ष्मदर्शी महा विद्वान् भीष्म ने समझ लिया कि इसके हृदय में भय का संचार हो गया है, और हृदय का हर्ष जाता रहा है। यह बुरा लक्षण है, इसलिये शीघ्र ही युद्ध का आरम्भकर इसका भय मिटाना चाहिये। और वीरता जगाकर हर्ष उत्पन्न करना चाहिये, इसलिये उनने सेनापति के रूप में युद्ध का बिगुल बजा दिया। उस युग में शंख ध्वनि ही "बिगुल" समझी जाती थी। यद्यपि आक्रमण करने वाले पाण्डव थे, उनको ही पहिले बिगुल बजाना चाहिये था, किन्तु वे शान्तिप्रिय थे। अब भी सोचते थे कि किसी तरह समझौता हो जाय तो उत्तम है। इस प्रकार उनको

ढीलढाल देखकर और दुर्योधन का भय देखकर भीष्म ने ही युद्ध आरम्भ की घोषणा कर दी। भीष्म यद्यपि बहुत वृद्ध थे तथापि क्षत्रियत्व का अभिमान उनमें बहुत अधिक था, इसलिये युद्ध की उत्सुकता भी उनमें पूर्ण थी, और अपने रक्षित राज्य पर आक्रमण होना वे सह नहीं सकते थे, इसलिये युद्धारम्भ का बिगुल सबसे पहले बजाना उपयुक्त ही था। दूसरी यह भी बात थी कि दुर्योधन के इतना कहने पर भी द्रोणाचार्य ने कुछ उत्तर नहीं दिया। इस उपेक्षा को देखकर दुर्योधन का हृदय और भी टूट जायगा, वह इन्हें सह्य नहीं था। क्योंकि ये सबके पितामह थे। बच्चों का हृदय टूटा नहीं सह सकते थे, इसलिये झटपट युद्धारम्भ ही उचित समझा। "सिंहनादं विनद्य" में "नद्" धातु की पुनरुक्ति नहीं है किन्तु "नादम्" में णमुल् प्रत्यय होकर व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार उसी धातु का अनुप्रयोग है।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

"सेनापति भीष्म के शंख बजाते ही सब सेना में शंख भेरी बड़े (नगारे) पणव (ढोल) आनक (नगारे) और गोमुख (रनसिंह) सहसा बज उठे, इससे बहुत बड़ा शब्द हुआ"। यहां बजाये गये न कहकर बज उठे कहने से शीघ्रता सूचित की जाती है, और बिना बजाये ही बाजे बज उठने से अमंगल भी सूचित होता है ऐसा व्याख्याकारों ने लिखा है। बहुत बड़ा शब्द हुआ" यह तो कहा, किन्तु पाण्डवों पर इसका कोई प्रभाव पड़ा ऐसा नहीं कहा गया, जैसा कि आगे पाण्डवों की शंख ध्वनि से धृतराष्ट्र का हृदय विदीर्ण होना कहा गया है। यह कौरवों की ओर से युद्धारम्भ की सूचना दी गयी।

अष्टम पुष्प

ततः श्वतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अब तक तो कुछ शान्ति के सन्देश की प्रतीक्षा थी, किन्तु जब विपक्ष की ओर से रणभेरी बज उठी तब पाण्डवों ने भी युद्ध का निश्चय दृढ़ कर लिया और "विपक्ष से संग्राम में बिगुल बज जाने के अनन्तर श्वेत घोड़ों वाले बड़े रथ में विराजमान कृष्ण और अर्जुन ने अपने दिव्य शंख बजाये। हृषीकेश भगवान कृष्ण ने अपना पांचजन्य शंख, अर्जुन ने अपना देवदत्त शंख, और भयंकर कर्म करने वाले भेड़िये के समान उदर वाले भीमसेन ने अपना पौण्ड्र नाम का महाशंख बजाया। दोनों भाई रण बिगुल बजा चुके तो कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना अनन्त विजय नाम का शंख बजाया। नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणि पुष्पक नाम के अपने शंख बजाये"। जिन जिन योद्धाओं के नाम यहाँ लिये गये हैं वे सभी रथों में बैठे हुए थे, किन्तु अर्जुन के ही रथ का विशेष वर्णन करने से उस रथ का कुछ विलक्षण महत्व बताया गया है। अतएव आगे युद्ध में सभी के घोड़े मरते थे, रथ टूटते थे किन्तु अर्जुन का यह रथ अक्षय था। न कभी रथ टूटा न घोड़े मरे यही महत्व सूचित करने के लिये यहाँ "महति स्यन्दने" कहा गया है। भगवान् कृष्ण यद्यपि युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करके युद्धभूमि में आये थे, किन्तु युद्ध का बिगुल पाण्डवों की ओर से सबसे पहिले इन्होंने ही बजाया। इससे विपक्ष को सूचित कर दिया कि शस्त्र न उठाता हुआ भी युद्ध का नेता मैं ही हूँ। उनके लिये यहाँ "माधव" पद दिया गया है, इससे यह सूचित किया कि लक्ष्मी के स्वामी जहाँ युद्ध के नेता हैं, वहाँ उनको छोड़कर विजयलक्ष्मी कहाँ जा सकती हैं। दूसरे श्लोक में उनके लिये "हृषीकेश" और उनके शंख के लिये "पांचजन्य" पद का प्रयोग किया गया है। "हृषीकेश" शब्द का अर्थ "इन्द्रियों" को वश में रखने वाला और "पांचजन्य" का अर्थ है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और वर्णसंकरों का प्रतिनिधि निषाद "इन पाँचों प्रकार के मनुष्यों का हित करने वाला अथवा देवता, पितृ, ऋषि, गन्धर्व, और असुर" इन पाँचों प्रकार की देवयोनियों का हित करने वाला है। जो इन्द्रियों को वश में रखता है वही हित कर सकता है। प्रकृत में पाँचों पाण्डवों का

हित करने वाला यह अर्थ भी बहुत उपयुक्त होता है। अर्जुन के लिये धनंजय शब्द और उनके शंख के लिये "देवदत्त" (खाण्डवदाह के समय अग्नि के द्वारा प्राप्त) शब्द भी विजय के सूचक हैं। यद्यपि संग्राम के लिये भीम सबसे अधिक उत्सुक था, किन्तु अर्जुन कहीं कृपावश पश्चात् पद न हो जाय इसलिये उसके द्वारा ही पहिले बिगुल बजवाना भीम ने उचित समझा, महाराज युधिष्ठिर यद्यपि सबसे बड़े थे, किन्तु शांतिप्रिय होने के कारण संग्राम की इच्छा उनमें बहुत ही कम थी। इसलिये वे चुप ही थे किन्तु दोनों भाइयों के बिगुल बजा देने पर उन्हें भी अपनी सुमति देनी ही पड़ी। उनका राजा विशेषण देने से और उनके शंख का "अनन्तविजय" नाम बताने से विजय अन्त में इनका ही वरण करेगी यह सूचित कर दिया गया। इधर भीष्म आदि के शंखों का कोई विशेष नाम नहीं है, किन्तु पाण्डवों के सबके शंखों के प्रभावशाली नाम हैं, इससे भी उनका महत्व सूचित किया।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

हे पृथिवीपति धृतराष्ट्र। बड़े धनुष वाले काशिराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और कभी न हारने वाला सात्यकि तथा द्रुपद, द्रोपदी के पाँचों पुत्र एवं महावीर सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु इन सबने भी अपने अपने शंख बजाये।

शिखण्डो कोई बड़ा वीर नहीं था, किन्तु भीष्म का पतन उसी के द्वारा होने वाला है, इसलिये यहाँ उसके लिये "महारथ" यह विशेषण दिया है। यहाँ संजय का धृतराष्ट्र को पृथिवीपति नाम से संबोधित करना एक प्रकार का कटाक्ष है कि अब यह पृथिवीपतित्व रहने वाला नहीं है। इसे हटाने के लिये रणभेरी बज चुकी।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

आकाश और पृथिवी को शब्द से प्रतिध्वनित करने वाले इस महान् शब्द ने धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधनादि के हृदयों को विदीर्ण कर दिया।

धृतराष्ट्र से ही धृतराष्ट्र के पुत्रों का हृदय विदीर्ण हुआ यह कहना अनुचित प्रतीत होता है, इसलिये कई विद्वान् यहाँ यही व्याख्या करते हैं कि पृथिवी और आकाश के दोनों के शब्दों से व्याप्त हो जाने के कारण आकाश में उड़ने वाले हंसों के भी हृदय विदीर्ण हो गये। धार्तराष्ट्र नाम हंसों के भी हैं। और सर्पों का भी नाम धार्तराष्ट्र है। पृथिवी के कांप उठने से सर्पों के भी हृदय विदीर्ण हो गये, यह अर्थ भी किया जा सकता है।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन् भयंकर शब्द सुनने के बाद भी दुर्योधन आदि को युद्ध करने के लिये सुसज्जित देखकर कपिध्वज अर्जुन ने शस्त्र प्रहार प्रारम्भ होने के समय अपना धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि हे अच्युत, इन दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कीजिये ।

यहाँ 'प्रवृत्त' शब्द में 'आदि कर्मणि निष्ठा' इस वचन से 'क्त' प्रत्यय हुआ है। इससे अर्थ निकलता है कि शस्त्र संपात का आरम्भ होने को ही था। अभी शस्त्र चलने नहीं लगे थे। 'अच्युत' पद से यह सूचित किया कि आप अडिग हैं। दोनों सेनाओं के बीच में खड़े होने पर भी आपको कोई भय नहीं है।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

क्योंकि—'युद्ध करने के लिये खड़े हुए लोगों को देख तो लूं कि इस रणभूमि में किन-किन के साथ मुझे लड़ना है'। आगे अर्जुन कहता है—'दुष्ट बुद्धि दुर्योधन का हित चाहने वाले जो इस युद्ध में आये हैं मैं देख रहा हूँ कि वे सब अवश्य युद्ध करेंगे ही।'

इन दोनों पद्यों में पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है। किन्तु वह पुनरुक्ति अपने चित्त का आवेग प्रदर्शित करने के लिये है। पहले पद्य में यह बताया कि मैं इस अभिप्राय से देखना चाहता हूँ कि मुझे किन-किन के साथ लड़ना है, इस बात को सतोल लूँ, और वैसी ही तैयारी कर लूँ। दूसरे में यह बताया है कि अब परस्पर सन्धि की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि दुर्योधन के पक्ष में बहुत से योद्धा आये हैं और निश्चय है कि वे लड़ेंगे।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

हे भारत (अर्थात् भरत वंश में उत्पन्न होने वाले) इस प्रकार गुडाकेश (अर्जुन) के कहने पर हृषीकेश-भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस उत्तम रथ को भीष्म, द्रोण और सभी राजाओं के सामने खड़ा कर कहा कि हे पार्थ (पृथा के पुत्र) इकट्ठे हुए इन सब कुरुओं को देख लो। 'गुडाकेश' और 'हृषीकेश' पदों में यहाँ कुछ विशेष ध्वनि है। अर्जुन 'गुडाकेश' है अर्थात् निद्रा आलस्य के वश में नहीं है इसलिये उसकी बात माननी ही चाहिये। भगवान् सब के नियन्ता होकर भी अर्जुन की आज्ञा मान रहे हैं इसका कारण है कि वे हृषीकेश हैं अपनी इन्द्रियों के स्वामी हैं, इसलिये अभिमानादि से शून्य हैं। भक्तों की आज्ञा मानने पर भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं। अर्जुन इन सबको देखो यह कहने में भगवान् का एक प्रकार का संकेत है कि देखते ही तुम्हारी दशा और हो जायेगी।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा मिलने पर पृथा पुत्र अर्जुन ने दोनों सेनाओं को देखा, तो और ही बात दीख पड़ी। देखता था इसलिये कि किन-किन के साथ मुझे लड़ना है किन्तु वहाँ सब अपने ही बान्धव दीख पड़े। कोई पिता कहने योग्य पिता के तुल्य हैं, जैसे काका के समान कुरु वंश के भूरिश्रवा आदि। स्वयं पितामह भीष्म और पितामह तुल्य सोमदत्त आदि। आचार्य द्रोण, कृप, आदि, मातुल-शल्य शकुनि आदि, भाई—दुर्योधन आदि, पुत्र—अर्थात् दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण आदि (और अपनी सेना में अपने पुत्र अभिमन्यु आदि) पौत्र अर्थात् कौरव के पुत्रों के पुत्र आदि, मित्र अर्थात् कृतवर्मा, अश्वत्थामा आदि, श्वशुर- अपनी सेना में द्रुपद आदि, सुहृद—अर्थात् जिनके साथ अपना परस्पर उपकार सम्बन्ध हो चुका है ऐसे अनेक राजा ये सब दोनों सेनाओं में दीख पड़े। इन अपने बान्धवों को दोनों में युद्धार्थ खड़े देखकर, अत्यन्त कृपा के वशीभूत होकर अर्जुन खिन्न हो गया और कृष्ण से कहने लगा।

दोनों सेनाओं के बान्धवों को गिनाने का अभिप्राय यह है कि चाहे इधर हो चाहे उधर, युद्ध में जो खड़े हैं उनका मरना तो एक प्रकार निश्चित ही है, तब अपनी ओर वाले को भी वियोग तो होगा ही। पहले कृपा का आवेश और उसके आगे विषाद बताया गया, अर्थात् अर्जुन के मन में पहिले बान्धवों के कष्ट की भावना हुई जो कि कृपा शब्द से कहने योग्य है और इसके अनन्तर उनके भावी वियोग का दुःख उपस्थित हुआ, वह विषाद शब्द से कहा गया। यद्यपि अपने सब बान्धव इधर या उधर युद्ध में उपस्थित हैं यह बात अर्जुन को अवि-

दित न थी, किन्तु तात्कालिक दर्शन से एक विशेष प्रकार का भाव मनुष्य के हृदय में आना स्वाभाविक है इसका विवरण हम प्रथम प्रवचन में कर चुके हैं।

अब आगे अर्जुन के मन के विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। पूर्व प्रवचन में कहा जा चुका है कि अर्जुन के विचार यहां सामान्य मनुष्य के जैसे अथवा घबराहट के नहीं, किन्तु अत्यन्त उदात्ततापूर्ण और धर्मभाव से ओतप्रोत हैं। इनमें आर्य संस्कृति स्पष्ट झलक रही है उनका आरम्भ इस प्रकार है—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

"हे कृष्ण इन स्वजन अर्थात् अपने बान्धवों को युद्ध की इच्छा से खड़े देखकर मेरे शरीर के अवयव टूटे से जा रहे हैं। और मुख सूखा जा रहा है सब शरीर कांपने लगा है, शरीर के सब रोम खड़े हो गये हैं। गांडीव धनुष हाथ से छूटा पड़ता है, सब शरीर की त्वचा मानो जल रही है। अजी महाराज! मैं तो खड़ा भी नहीं रह सकता। मेरा मन चक्कर खा रहा है। मुझे चारों ओर बुरे-बुरे शकुन दिखाई दे रहे हैं"।

आयुर्वेद के विद्वानों का कथन है कि भय और शोक के लक्षणों का यह पूर्ण चित्रण है। वे कहते हैं कि गीता आयुर्वेद की भी शिक्षा देती है। इन सबका मूल आरम्भ में बताया गया कि "स्वजन" अर्थात् अपने बान्धवों को युद्ध में खड़ा देखकर यह दशा उपस्थित हुई है। वैसे अर्जुन ने अपने जीवन में बहुत संग्राम किये हैं। बहुतों का वध किया है। हिंसा से यह घबराहट नहीं है, इसके मूल में स्व और पर का विभाग है। दूसरों को हमने मार दिया किन्तु अपने लोगों को कैसे मारें। इससे सिद्ध हुआ कि स्व और पर के भेद का ध्यान ही अर्जुन के मोह का मुख्य कारण है। इसी को हटाने के लिये आगे भगवान् को अद्वैतवाद कहना पड़ा कि आत्मा तो सबमें एक है तू स्व और पर का भेद लेकर क्यों बैठा है। यह भेद तो अज्ञान जनित काल्पनिक है। पंचदशी कार ने द्वैत विवेक प्रकरण में दिखाया है कि द्वैत अर्थात् भेद भाव दो प्रकार का है— एक ईश्वर का बनाया हुआ और दूसरा जीव का बनाया हुआ। एक स्त्री ईश्वर ने बनायी, किन्तु उसमें माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी, सखी, सपत्नी, आदि के शतशः भिन्न भाव जीव ने बना लिये, यह जीव का अपना बनाया हुआ द्वैत ही हटाने योग्य है। श्री वल्लभाचार्य के दर्शन में इन्हीं दोनों को प्रपंच और संसार के नाम

से कहा जाता है, ईश्वर का बनाया हुआ प्रपंच है, किन्तु जीव का अपना बनाया हुआ है संसार। अस्तु, इससे सिद्ध यही होता है कि स्व पर भेद जीव कल्पित है। यही मोह है, इसी को हटाने के लिये गीता का सम्पूर्ण उपदेश है।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तु मिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।

"युद्ध में अपने लोगों को मारकर कोई कल्याण नहीं देखता। हे कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता। और न राज्य तथा उससे होने वाले सुख की भी मुझे कामना है।"

हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या प्रयोजन! विषय भोग और जीवन से भी कोई प्रयोजन नहीं! क्योंकि जिनके लिये राज्य, भोग, तथा सुख की हमें चाह थी, वे ही ये अपने प्राण और धन को त्यागकर युद्ध में लड़ने के लिये खड़े हैं। इनमें मेरे आचार्य, पिता, पुत्र और पितामह, तथा मामा, श्वसुर, पौत्र, साले, संबंधी आदि हैं हे मधुसूदन! (मधु नामक राक्षस को मारने वाले) ये लोग भले ही मुझे मार ले पर मैं तो इनको मारने की इच्छा भी नहीं करता हूँ। चाहे मुझे इनके मारने से त्रैलोक्य का राज्य ही क्यों न मिल जाय। पृथिवी के राज्य की तो बात ही क्या! हे जनार्दन! धृतराष्ट्र सम्बन्धी लोगों को मारकर हमें कौन-सी प्रसन्नता होगी।

भारत में सम्मिलितकुटुम्ब प्रथा अनादि काल से प्रचलित है। इस सभ्यता में मनुष्य केवल अपने सुखभोग के लिये संपत्ति वा राज्य नहीं चाहता, किन्तु आप्त बान्धव, कुटुम्बी सबको सुख पहुंचाने के लिये संपत्ति की इच्छा रहती है। यही अर्जुन ने कहा कि जब सुख भोगने वाले कुटुम्बी ही न रहेंगे तो राज्य या सम्पत्ति से क्या लाभ होगा।

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धातराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

"इन आततायियों को मारने में हमें पाप ही लगेगा। इसलिये अपने बन्धु दुर्योधन आदि को हम मारना नहीं चाहते। क्योंकि अपने लोगों को मारकर हे माधव! हम कैसे सुखी हो सकते हैं"।

यद्यपि शास्त्र में आततायी कैसा भी हो उसे मार देने की ही आज्ञा है किन्तु अपने बान्धव तो आततायी भी हों तो भी उन्हें मारना उचित नहीं यह भाव अर्जुन ने प्रकट किया। आततायी को मारने में धर्मशास्त्रानुसार पाप है या नहीं इसका विवेचन हम प्रथम प्रवचन में कर चुके हैं।

प्रश्न होता है कि जिन बान्धवों के लिये तुम विकल हो रहे हो उन तुम्हारे बान्धव दुर्योधन आदि को भी तो यह सब सोचना चाहिये था, वे यह सब सोचकर तुम्हें राज्य का भाग देते तो यह युद्ध क्यों छिड़ता फिर जब वे नहीं सोचते तो तुम्हीं क्यों इसके लिये विकल हो रहे हो। इस प्रश्न की संभावना कर अर्जुन स्वयं ही उत्तर देता है—"हे जनार्दन! लोभ से दुर्योधन आदि का चित्त आक्रान्त है इसलिये उन्हें कुलक्षय के दोष, और मित्रद्रोह का पाप दिखाई ही नहीं देता। वे इन बातों पर ध्यान ही नहीं दे सकते उन्हें तो केवल राज्य का लोभ सता रहा है। किन्तु वे ध्यान नहीं देते इसलिये हम भी पाप में क्यों पड़े, हमें तो पाप से बचना चाहिये, हमारी दृष्टि में तो कुलक्षय का दोष स्पष्ट आ रहा है तब ऐसे दोष से हमें तो बचना चाहिये"।

"जनार्दन" शब्द से एक प्रकार का कटाक्ष किया कि आप भी भूमि का भार उतारने के लिये अवतार लेकर आये हो, इसलिये जनता का अर्दन अर्थात् विनाश ही अपना लक्ष्य मानकर आप भी इधर ध्यान नहीं दे रहे हो। किन्तु मेरा तो उधर ध्यान चला गया है इसलिये मुझे तो पाप से बचना चाहिये।

कितने उदात्त विचार हैं, और कैसा उच्चआदर्श है। यदि विपक्षी धर्म से विच्युत भी हो जाय तो भी विचारक को तो अपने धर्म पर दृढ़ रहना चाहिये। धर्मशास्त्रों का यही आदर्श है कि तुम अपना धर्म न छोड़ो। दूसरा अधर्म करेगा तो वह उसका फल पावेगा। तुम उसका अनुकरण कर क्यों पाप भागी बनते हो, पाप का तो अनुकरण भी बुरा है, यही आदर्श धर्म अर्जुन ने उपस्थित किया। इसी आधार पर हमने कहा कि अर्जुन की उक्तियां आदर्श धर्म से ओतप्रोत हैं।

कुलक्षय में तुम्हें क्या क्या दोष दिखाई दे रहे हैं इनका विवरण आगे अर्जुन ने प्रस्तुतकिया है, इसकी व्याख्या अगले प्रवचन में की जायगी।

नवम पुष्प

'पतिव्रत धर्म और वर्णसंकरता के दोष'

अर्जुन का युक्तिपूर्वक स्पष्टीकरण

आगे अर्जुन अपने मत का युक्ति और शास्त्र प्रमाणों से समर्थन करता हुआ कुलक्षय के दोषों का विशेष विवरण करता है—

> कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
> धर्मे नष्टे कुलंकृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

कुल का नाश होने पर सदा से चले आते हुए कुल के धर्म नष्ट हो जाते हैं। ठीक ही है, जब धर्माचरण करने वाले ही न रहेंगे तो धर्म कैसे बचेंगे। धर्म तो अनुष्ठानापेक्ष है। जब उनका अनुष्ठान करने वाले ही न रहेंगे तब धर्मों की स्थिति कहाँ। धर्मों का नाश होने पर सब कुल को अधर्म दबा लेता है। धर्म और अधर्म दोनों विरोधी शब्द हैं। धर्म न रहेगा तो अधर्म का प्रभुत्व बढ़े ही गा। यदि यह शंका हो कि धर्म का आचरण करने वाले न रहे तब यदि धर्म नहीं रह सकता तो कुलक्षय हो जाने पर अधर्म का आचरण करने वाले भी तो नहीं रहे, फिर अधर्म क्यों बढ़ेगा। तो इसका उत्तर है कि उचित धर्मों का पालन न होना भी तो एक अधर्म है, वह तो बढ़ता ही जायगा। स्मृतिकारों ने बताया है कि—

> विहितस्याननुष्ठानान् निन्दितस्य च सेवनात्
> अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति

अर्थात् जिन धर्मों का आचरण शास्त्रों में आवश्यक माना गया है, जो सन्ध्योपासन अग्निहोत्रादि नित्य धर्म माने जाते हैं उनका आचरण न होने से भी पातक अर्थात् अधर्म हो जाता है। जिन कर्मों का निषेध है उनके आचरण से भी अधर्म होगा, और इन्द्रियों को वश में न रखने से भी पातक अर्थात् अधर्म होता है। इससे कुल में उचित धर्मों का आचरण न होने पर भी अधर्म का आक्रमण सिद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि अधर्म स्वभाव से प्राप्त है और धर्म शिक्षा से प्राप्त होता है। कामचार (यथेच्छ कार्य करना) कामवाद (इच्छानुसार भाषण) और कामभक्ष (जो इच्छा हो सो खा लेना) की शिक्षा कोई नहीं देता। बाल्यावस्था से ही इनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। किन्तु इनको रोकने के लिए शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। किन्तु शिक्षा गुरु के उपदेश और पूर्वजों का आचरण देखकर प्राप्त होती है। अधिकांश कुल का क्षय हो जाने पर

जिनका अनुकरण किया जाय वे न रहेंगे और शिक्षा प्राप्त करना भी कठिन हो जायगा, तब जो बचेंगे उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अधर्म की ओर ही होगी। इससे भी अधर्म का आक्रमण बढ़ता जायगा।

शास्त्र शिक्षा या सदाचार शिक्षा से ही धर्म ज्ञान और कर्त्तव्यानुष्ठान सम्भव हो सकते हैं। कुलक्षय हो जाने पर दोनों के अभाव में अधर्म का आक्रमण और सम्पूर्ण कुल का अधर्म से दब जाना युक्ति सिद्ध है। आगे क्या होगा सो कहते हैं—

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

कुल में अधर्म बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। और स्त्रियों के दुष्ट हो जाने पर वर्ण संकरों की उत्पत्ति होने लगती है। स्त्रियाँ दूषित होकर व्यभिचार करेंगीं, और व्यभिचारी से वर्ण संकरों की उत्पत्ति अनिवार्य है। इस पद्य में दो बार दो शब्दों से 'कृष्ण' और वार्ष्णेय कहकर कृष्ण का सम्बोधन किया है—इसका तात्पर्य उनका विशेष ध्यान आकृष्ट करना है कि देखिये कैसे कैसे दोष इसमें हैं। आर्य जाति ने रक्त शुद्धि पर सदा से ही विशेष ध्यान रक्खा है। यह हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास दोनों से सिद्ध होता है। रक्त-मिश्रण अर्थात् वर्ण संकरता को धर्मशास्त्रों ने देश और समाज का घातक ठहराया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि—

यस्मिन्नेते हरिध्वंसा जायन्ते वर्ण दूषकाः
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति

(वर्णों को दूषित करने वाले ये वर्ण-संकर जिस देश में अधिक बढ़ जाते हैं वह सम्पूर्ण देश, देशवासियों स हत शीघ्र नष्ट हो जाता है)

इतिहासों में भी वर्णसांकर्य से बचने के यत्न सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। महाभारत में ही देखिए– कर्ण युद्ध कला में किसी से कम नहीं था, दान शक्ति भी उसकी अद्भुत रूप में वर्णित है, दिग्विजय यात्रा भी उसने की है, किन्तु संकर जाति में उत्पन्न होने के कारण ही वह समाज में पूर्ण प्रतिष्ठा न पा सका। द्रौपदी-स्वयम्वर में लक्ष्यवेध के लिए जब वह खड़ा होने लगा तो द्रौपदी ने स्वयं कह दिया कि संकर जाति के पुरुष का मैं वरण नहीं करूँगी। इसलिए उसें लज्जित होकर बैठ जाना पड़ा। परम पुरुषार्थी और ओजस्वी होने पर भी एकलव्य भिल्ल को गुरु द्रोणाचार्य ने धनुर्वेद की शिक्षा नहीं दी। इन सब बातों का लक्ष्य केवल समाज की रक्त शुद्धि रखना ही था, इन बातों में केवल राग द्वेष के बीज देखना एकान्ततः दोषदर्शियों का ही कार्य है, विचारकों का नहीं। संकर जाति के पुरुष भी यदि समाज में समान प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगें तो वर्णसंकरता बढ़ जायगी और सम्पूर्ण देश की पवित्रता नष्ट हो जायगी। इसी उद्देश्य से महापुरुषों द्वारा भी ये घटनाएँ सम्पादित होती थीं। इस वर्ण

संकरता को बचाने के लिए ही आर्य संस्कृति में 'पतिव्रत' धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। पतिव्रत धर्म की रक्षा स्त्रियों के चित्त शुद्ध और धर्मानुकूल रहने पर ही निर्भर है। अन्य किसी संस्कृति में पतिव्रत धर्म का यह गौरव दिखाई नहीं देता। इसकी रक्षा पूर्ण रूप से कर्म-प्रधान देश में ही सम्भव है। पतिव्रत धर्म के महत्व से हमारे श्रुति, स्मृति, आदि समस्त शास्त्र भरे पड़े हैं। श्रुति में एक मन्त्र है कि—

हविर्भिरेकै स्वरितः सचन्ते, सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्
शचीर्मदन्त उतदक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकंपताम

यह मन्त्र निरुक्त में उद्धृत हुआ है, और निरुक्त के भाष्यकार श्री दुर्गाचार्य ने इसका यही प्रसंग बताया है कि असुरों की स्त्रियाँ नारद के द्वारा प्रलोभित किये जाने पर यह कहती हैं कि कुछ विद्वान् 'हविर्योग' 'दर्शपौर्णमास' आदि करते हुए स्वर्ग लोक में जाने का उद्योग कर रहे हैं, और कुछ सवनों में सोमलता को कूटते हुए अर्थात् सोमयाग करते हुए स्वर्ग पहुँचते हैं, कोई वाणी से स्तुत्य द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हुए और कोई दक्षिणाओं के द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं, किन्तु हमारा आधार तो केवल यही पतिव्रत धर्म है। यदि हम कुटिलता करेंगी अर्थात् पतिव्रत धर्म छोड़ देंगी तो हमें नरक में जा गिरने का भय है। इसलिए हमें तो अपने इसी धर्म पर दृढ़ रहना चाहिए। जो महान शक्तियाँ बड़े-बड़े यज्ञ करने से या योगाभ्यास से और महादानों से प्राप्त होती थीं उनसे भी बहुत अधिक प्रबल शक्तियाँ पतिव्रत धर्म से प्राप्त होने का हमारे इतिहासों में पूर्ण विवेचन है। भगवान् वाल्मीकि ने रामायण के सुन्दरकाण्ड में लिखा है कि हनुमान की पूँछ में जब रावण की आज्ञा से अग्नि लगाई गई थी तब सीता ने ही अपने पतिव्रत धर्म की शक्ति से उस अग्नि को शीतल कर दिया था। हनुमान उस समय विचार करते हैं कि—

'दृश्यंते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्
शिशिरस्येव संपातो लांगूलाग्रे प्रतिष्ठितः'

सुन्दरकाण्ड ५३ सर्ग

अर्थात् अग्नि की ज्वाला तो बड़ी प्रबल दिखाई देती है किन्तु मुझे उत्ताप जरा भी नहीं हो रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि पूँछ के ऊपर किसी ने बहुत बड़ा बरफ का ढ़ेला बाँध दिया है। आगे उन्होंने अपनी बुद्धि से यही निश्चय किया कि यह सीता देवी के पातिव्रत्य का प्रभाव है। इस प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ पतिव्रताओं की पुराणेतिहासों में शतशः स्थानों पर वर्णित हैं। सावित्री ने मृत्यु देव यमराज से अपने पति को छुड़वा लिया था। एक पतिव्रता को जब एक ऋषि ने शाप दिया कि सूर्योदय होते ही तेरा पति मर जायगा तब उसने यहाँ तक प्रतिज्ञा की थी कि मैं सूर्योदय ही न होने दूँगी। अस्तु, ऐतिहासिक काल में भी ऐसी घटनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं कि पद्मिनी आदि ने अपना

सुकुमार शरीर जीवित दशा में ही अग्नि में जला दिया किन्तु पर पुरुष का स्पर्श न होने दिया। राजस्थान की भाषा में इसे जौहर व्रत कहा गया है और राजस्थान के इतिहास में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। वर्तमान युग में भी अभी प्रत्यक्ष देखा गया कि पंजाब प्रान्त की शतशः स्त्रियों ने देश विभाजन के समय कुओं में गिरकर मृत शरीरों से कुएँ भर दिए किन्तु अपने पर परपुरुषों का आक्रमण होने का अवसर नहीं दिया। इसी प्रकार काश्मीर की शतशः स्त्रियों ने परपुरुषों से घेरे जाने पर झेलम नदी में गिर कर प्राण त्याग किया। ये सब आज भी जौहर व्रत की पुनरावृत्तियाँ हुई हैं। इसी प्रकार पंजाब और सिन्ध प्रान्त के सहस्रों मनुष्यों ने अपना धन, जन सम्पत्ति छोड़कर देशान्तरों में दीन क्षीण वृत्ति से निर्वाह करना स्वीकार किया किन्तु धर्म परिवर्तन द्वारा अपनी रक्त शुद्धि को न बिगड़ने दिया। ये सब भारत की धर्म प्रधानता के ज्वलन्त दृष्टान्त आज भी उपस्थित हैं जो अन्य देशों में दुर्लभ हैं, और भारत का मस्तक ऊँचा कर रहे हैं। इन सब बातों को प्रत्यक्ष देखकर भी जिन ऐतिहासिक विद्वानों ने आर्यों में रक्त मिश्रण की कल्पनाएँ की हैं वे उनकी मनगढ़न्त, निष्प्रमाण कल्पनाएँ हैं। भारतीय इतिहास उनका साथ नहीं देता। धर्म शास्त्र तो पतिव्रत धर्म के उपदेशों और वर्ण संकरता के दोष प्रदर्शनों से भरे पड़े हैं।

रक्त शुद्धि और पतिव्रत धर्म रक्षा के लिए ही आर्य जाति में विवाह एक संस्कार माना गया है। संस्कार हमारे धर्म के प्रधान अंग हैं। संस्कार शब्द के अर्थ का और अन्यान्य संस्कारों का विवरण हम प्रथम प्रवचन में ही कर चुके हैं। यहाँ विवाह संस्कार पर भी कुछ कहना प्रसंग संगति के अनुकूल होगा। विवाह संस्कार भी अतिशयाधान रूप संस्कार है। यह स्त्री का संस्कार है। वर संस्कार करने वाला होता है। उस संस्कार का फल धर्मशास्त्रों में यह बतलाया गया है कि स्वभावतः प्राणी का अपने उत्पादक कुल के साथ सूत्र सम्बन्ध बँधा रहता है। जिनके अंशभूत रजवीर्य से शरीर की उत्पत्ति हो उस शरीर का उन माता पिताओं से सूत्र सम्बन्ध रहना प्रकृति नियम से सिद्ध है। अंश का अपने अंशी से सम्बन्ध रहता ही है। इसी प्रकार माता पिताओं का भी शरीर जिन पितामह पितामही नाना आदि के अंश से बना था, उनके साथ भी परम्परा सम्बन्ध पौत्र आदि का रहता है। यह सम्बन्ध की परम्परा सप्तम पुरुष तक जाती है, ऐसी अध्यात्म दृष्टि से देखकर धर्म शास्त्रकारों ने व्यवस्था की है। सप्तम पुरुष से आगे यह सूत्र सम्बन्ध नहीं रहता, बहुत अल्प लेप सम्बन्ध रहता है, जो कि नगण्य है। अस्तु, स्त्री का भी इसी प्रकार का अपने मातृ पितृ कुल में जो सूत्र सम्बन्ध बंधा हुआ है उसका वहाँ से विच्छेद कर पतिकुल में उसका सम्बन्ध सूत्र जोड़ देना यही विवाह संस्कार का उद्देश्य है। धर्मशास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि विवाह की सप्तपदी के सप्तम पद में स्त्री अपने कुल गोत्र से विछिन्न हो जाती है और पति के शरीर, मन, वाक्, प्राण,

के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। सम्बन्ध विच्छेद का मुख्य कारण प्रदान है, दा धातु का अर्थ ही दाता के स्वत्व की निवृत्ति और प्रतिग्रहीता के स्वत्व का उत्पादन है। पिता दान करता हुआ अपने स्वत्व को उससे हटा लेने की भावना करता है। अन्य वैज्ञानिक क्रियाओं के साथ पिता की इस भावना से उस कुल से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यह अद्भुत शक्ति वेदमन्त्रों और विवाह की वैज्ञानिक क्रियाओं की है कि वे एक जगह से सम्बन्ध सूत्र विछिन्न कर दूसरी जगह जोड़ देते हैं। विवाह में जिन मन्त्रों का प्रयोग होता है, उनका अर्थ भी यही है। वेद[1] कहता है कि मैं अपने प्राणों से तेरे प्राणों का सम्बन्ध जोड़ता हूँ, मन से मन का, वाक् से वाक् का, इन्द्रियों से इन्द्रियों का इत्यादि। वेद वाक्यों की अलौकिक शक्ति और मन की तदनुकूल भावना से यह सब संगठित हो जाता है ऐसा आर्य जाति का विश्वास है। अग्नि[2] में लाजा होम करते समय भिन्न-भिन्न देवताओं से यही प्रार्थना है कि वे देवता इस कुल से इसका विच्छेद कर दें और वर के नये कुल में ऐसा दृढ़ सम्बन्ध स्थापित कर दें कि जिसका कभी विच्छेद न हो। देवता सूक्ष्म जगत के तत्व और स्थूल जगत के परिचालक हैं। वे जैसा चाहे वैसा स्थूल जगत को घुमा सकते हैं। इन देवताओं का विवरण जहाँ-जहाँ प्रसंग आवेगा वहाँ गीता के प्रवचनों में होता रहेगा। इसलिए स्मृतियों में कहा गया है कि पति अपनी इच्छा से भार्या को प्राप्त नहीं करता किन्तु देवताओं की दी हुई प्राप्त करता है।

'देवदत्तां द्विजो भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः'

विवाह में जो वैज्ञानिक क्रियाएँ होती हैं उनका भी लक्ष्य पति के प्राणादि के साथ स्त्री के प्राणादि का जोड़ना ही है, जैसा कि प्रथमतः पाणिग्रहण में दोनों के हाथों का परस्पर सम्बन्ध कर उन पर जलधारा दी जाती है। हाथ मिलने से परस्पर प्रेम से विद्युत का संक्रमण होता है यह मानी हुई बात है। इसलिए जिनमें परस्पर प्रेम हो उनके हाथ मिलाने की प्रथा भी प्रचलित हुई है। यों हस्त मेलन से परस्पर की प्राण शक्ति रूप विद्युत का सम्बन्ध जोड़कर जल और अग्नि के द्वारा उस सम्बन्ध को दृढ़ कर दिया जाता है। इसीलिये विवाह संस्कार में जलधारा और अग्नि का बार-बार उपयोग होता है। हवन के द्रव्य लाजा आदि भी ऐसे ही उपयोग में लाये जाते हैं, जो परस्पर सूक्ष्म शरीरों का सम्बन्ध जोड़ने में सहायक हों। वर वधू का मिलकर अग्नि प्रदक्षिणा करना, जहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से सम्बन्ध की दृढ़ता संपादित करने में सहायक है, वहाँ शिला पर वधू का आरोहण कराते हुए 'अश्मेवत्वं स्थिराभव' तू पत्थर की तरह स्थिर हो जा, इत्यादि कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थिरता का दृढ़ करने वाला है। कम से कम सात पावों तक भूमि में साथ-साथ चलना भी शास्त्रों में

---

[1] प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि इत्यादि

[2] स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुंचातु मामुत इत्यादि

मित्रता का कारण माना गया है। 'प्राहुः साप्तपदं सख्यम्'—'सात पावों तक साथ-साथ चलने से मित्रता हो जाती है' ऐसा कई वचनों में कहा गया है। भगवान् पाणिनि ने भी व्याकरण सूत्रों में 'साप्तपदीनं सख्यम्' कहा है। अर्थात् मित्रता का नाम 'साप्तपदीन' है। 'सप्तभिः पदैरवाप्यते इति साप्तपदीनम्' (सात पावों तक साथ चलने से प्राप्त होती है इसीलिये मित्रता को 'साप्तपदीन' कहा जाता है) एक साथ शरीर के अवयव हाथ पैरों का परस्पर सम्बन्ध कर सात पाँव तक चलने से परस्पर की विद्युत शक्ति का संक्रमण होता है, और वही परस्पर स्नेह रूप मित्रता का वैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादक है। यह क्रिया भी विवाह में प्रधान रूप से मानी गई है, जिसे 'सप्तपदी' नाम से कहा जाता है, और भी परस्पर के अनेक कार्य दृढ़ सम्बन्ध के सम्पादक विवाह में किये जाते हैं। एवं सब इष्ट सम्बन्धियों का एकत्र होकर वधूवर दोनों के मन पर परस्पर सम्बद्ध होने का प्रभाव डालना मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्व का है। इन्हीं सब कारणों से आर्य जाति का यह दृढ़ विश्वास है कि वधू, वर के साथ ऐसी दृढ़ता से सम्बद्ध हो जाती है कि वह सम्बन्ध कई जन्मों तक नहीं टूटता। अन्य जातियों में केवल स्थूल शरीर का सम्बन्ध होता है और वह भी अस्थिर, किन्तु आर्य जाति में दोनों के सूक्ष्म शरीरों को भी परस्पर सम्बन्ध बनाया जाता है। इसलिये आर्य जाति का विवाह संस्कार अन्य जातियों की अपेक्षा एक विलक्षण प्रभाव रखता है।

सभ्यता की दृष्टि से भी विचार करने पर आर्य जाति की सभ्यता इस सम्बन्ध में बहुत उच्च प्रमाणित होती है। सन्तान उत्पन्न करने के लिये स्त्री पुरुष का परस्पर संबंध तो प्राणिमात्र में स्वतः सिद्धहोता है, किन्तु मनुष्य से अवरकक्षा के प्राणि पशु केवल संतानोत्पादन की क्रिया तक ही सम्बद्ध रहते हैं, न आगे कोई सम्बन्ध रहता है न कोई परस्पर की पहचान। पक्षियों में जोड़े मिलकर कुछ काल तक साथ रहने की प्रथा देखी जाती है, किन्तु एक स्थान से बिछुड़ने पर सम्बन्ध टूट जाता है, और अन्य से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों की भी अशिक्षित असभ्य प्राय जातियों में बहुत जगह अल्प काल का स्त्री पुरुषों का संबंध रहने की प्रथा आज भी देखी जाती है। जिन जातियों में जैसे जैसे सभ्यता की उन्नति होती गई, उनमें उतना ही यह सम्बन्ध स्थिरता पकड़ता गया। इस प्रकार दोनों के जीवन काल तक कोई विशेष बाधक न होने पर सम्बद्ध रहने की प्रथा सभ्य जातियों ने अपनायी। किन्तु दोनों में से एक की मृत्यु हो जाने पर भी सम्बन्ध विच्छेद न हो, अर्थात् जन्मान्तर तक भी वा अन्य लोक तक भी सम्बन्ध की स्थिरता केवल आर्य जाति ने ही मानी। इतने उच्च स्तर की सभ्यता कोई अन्य जाति न अपना सकी, न किसी अन्य जाति ने इस स्त्री पुरुषों के सम्बन्ध को धर्म रुप से ग्रहण किया। केवल आर्य जाति ने ही इस सम्बन्ध को धर्म रूप से माना, इसलिये इस जाति में इस सम्बन्ध की दृढ़ता स्थापित हुई, और उसके बड़े-बड़े फल प्राप्त हुए, यह हम पूर्व दिखा चुके हैं। दृढ़ सम्बन्ध स्थापन के लिये भी पहिले से कुल गोत्र आदि का विचार और

जन्मपत्रों का मेलापक आदि आर्य जाति में प्रचलित है। जिन जिन में सम्बन्ध जुड़ जाने की योग्यता देखी जाती है उनका ही विवाह सम्बन्ध किया जाता है। जन्म पत्र से यही विदित होता है कि किसका भविष्य क्या है और उसकी प्रकृति कैसी है। सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव मनुष्य आदि प्राणियों पर पड़ता है, इस बात को तो आजकल का भौतिक विज्ञान भी मानने लगा है। अभी तक भौतिक विज्ञान स्थूल प्रभावों को ही पकड़ सका है। किन्तु आर्य जाति बहुत काल पूर्व से ही सूक्ष्म प्रभाव का भी पता लगा चुकी थी। इसने सात ग्रह और दो तमो ग्रहों का भी प्रभाव मनुष्य के स्थूल सूक्ष्म शरीरों पर पड़ना निश्चित रूप से जान लिया था। अन्य काल में ग्रहों की जैसी स्थिति हो, उसका प्रभाव जानकर मनुष्य की भविष्य शरीर स्थिति, आर्थिक स्थिति, मानस प्रकृति आदि का ज्ञान जन्म पत्रों से होता है। इस अप्रकृत विषय का विस्तार हम यहां नहीं करेंगे, यहां कहना केवल इतना ही है कि जन्म पत्रों द्वारा जिसमें प्रकृति आदि का सम्बन्ध जुड़ने की योग्यता प्रतीत हो, उन्हीं का विवाह सम्बन्ध आर्य जाति में किया जाता है।

इसी प्रकार जाति गोत्र आदि का विचार भी विवाह सम्बन्ध में होता है। जो स्त्री पुरुष अत्यन्त सन्निकट अर्थात् एक गोत्र वा एक कुल के हैं उनका पूर्व सिद्ध वह सूत्र सम्बन्ध सन्तति के लिये लाभदायक नहीं होता। इसलिये दूरतक का कुटुम्ब सम्बन्ध बचाने की आर्य जाति में प्रथा है। साक्षात् भाई बहन का परस्पर विवाह सम्बन्ध तो अन्य सभ्य जातियों में भी अनुचित माना जाता है, किन्तु आर्य जाति में पितृकुल में सात और मातृकुल में पांच पुरुषों तक जिनका सम्बन्ध सूत्र मिलता हो उनका भी विवाह सम्बन्ध नहीं किया जाता। गोत्र भी जिनका एक है उसमें एक ऋषि से उत्पन्न होने का अभिमान है इसलिये उनका भी सम्बन्ध छोड़ देते हैं। इसी प्रकार जो स्त्री पुरुष अत्यन्त दूर के अर्थात् भिन्न भिन्न वर्ण जाति के हैं, उनका भी सम्बन्ध जुड़ नहीं सकता। अत्यन्त भिन्नता रखने वालो वस्तुओं को कोई भी वैज्ञानिक क्रिया नहीं मिला सकती, इसलिये ऐसे विवाह सम्बन्ध भी आर्य जाति में स्वीकृति नहीं। जो न अत्यन्त सन्निकट हैं, न अत्यन्त दूर हैं उन मध्यम श्रेणी के वर वधू को ही विवाह सम्बन्ध के द्वारा जोड़ा जाता है।

आर्य जाति की यह प्रथा कितनी उपयुक्त है, इसकी परीक्षा भिन्न भिन्न देशों के वैज्ञानिकों के द्वारा भी हुई है। वि० सं० १९९३ के संस्कृत रत्नाकर नाम के संस्कृत मासिक पत्र के वेदांक नाम से प्रसिद्ध विशेषांक में गोवर्धन पीठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य पद पर आसीन महाविद्वान् श्री भारती तीर्थ स्वामी जी का वैदिक वर्ण व्यवस्था आदि के समर्थन में एक विस्तृत लेख है। उसमें उनने बताया है कि यूरोप, अमेरिका आदि के लान्डस मेनन्, हेस्, चिकागो के डाक्टर अर्नेस्ट अलबर्ट, एब्राम्स, डाक्टर एलेग् जेन्ट वीरेर, (बूलेस्न न्यूयार्क) डा० आसिलोमिटर आदि अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने वर्ण व्यवस्था की वैज्ञानिक

रीति से परीक्षा की है। और ओसलोग्राफ, ओसलोफोन आदि यन्त्रों का निर्माण किया है। जो यन्त्र उन देशों में अदालतों में भी काम देते हैं। इन यन्त्रों से परीक्षा कर उन विद्वानों ने सिद्ध किया है कि प्राणिमात्र के रक्त में चार प्रकार के विभाग पाये जाते हैं। जिनके नाम उनने ओ० ए० बी० और एबी कल्पित किये हैं। इन रक्तों की परीक्षा से मनुष्य वा अन्य प्राणियों की प्रकृति, रुचि, व्यवहार आदि का पता लगाया जा सकता है, और यह भी निश्चय किया जा सकता है कि यह किसकी सन्तान है, जिस माता पिता के पुत्ररूप से वह अपने को प्रकट करता है, वास्तव में यह उनकी सन्तान है कि नहीं, इस बात का ठीक पता वे यन्त्र दे देते हैं। इसीलिये उन देशों की अदालतों में इनका उपयोग होता है। अस्तु उन यन्त्रों के द्वारा उन विद्वानों ने अपने भिन्न भिन्न लेखों में (जिन लेखों और पत्रों की संख्या पृष्ठ आदि का पूरा पता भी श्री शंकराचार्य ने अपने उक्त लेख में दिया है) यह भी निष्कर्ष निकलता है कि भिन्न भिन्न रक्तों के संमिश्रण से जो एक शरीर पैदा होगा, वा भारतीय संस्कृति के शब्दों में यों कहिये कि जो वर्णसंकर होगा उसमें माता और पिता दोनों के दोष ही प्रचुर मात्रा में आवेंगे गुण किसी का भी न आवेगा। वह सन्तति उन्मत्त, विक्षिप्त वा नीच प्रकृति की ही प्रायः सिद्ध होगी। हमारे यहां भगवान् मनु ने भी बहुत पूर्व काल में यही लिखा था—

पित्र्यं वा भजते शीलं मात्र्यं वोभयमेव वा
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति।

अर्थात् वर्णसंकर में पिता वा माता का वा दोनों के दुष्ट स्वभाव की अनुवृत्ति होती है। वह दुष्ट योनि वाला वर्णसंकर अपनी आदत को नियम में नहीं ला सकता। इससे चमत्कृत रूप में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे धर्मशास्त्रों की बातें कितनी वैज्ञानिक कसौटी पर कसी हुई हैं। अस्तु, उन विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि रुधिर के इन चार भेदों के उपभेद भी बहुत हैं, और देश के अनुसार भी इन रुधिरों के प्रभाव में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। उन एक ही उपभेद वाले रक्तों का परस्पर सम्बन्ध होने से सन्तति या तो होगी ही नहीं या चलकर शीघ्र विच्छिन्न हो जायगी, और यदि सन्तति आगे चलेगी भी तो विकृत मस्तिष्क के ही पुरुष उसमें उत्पन्न होंगे इत्यादि। इससे आर्य जाति की विवाह व्यवस्था पूर्ण वैज्ञानिक है यह सिद्ध हो जाता है। अस्तु, उक्त प्रकार के विवाह सम्बन्ध से जिस स्त्री की मन प्राण आदि एकता संपादित कर ली गई है, उसमें उत्पन्न की गई हुई सन्तान ही गुणवती होती है, यह हमारे धर्मशास्त्रों में निश्चय किया गया है।

आर्य जाति की स्पृश्यास्पृश्यता (छुआछूत) की व्यवस्था भी वर्णसंकर से बचाने के लिए ही व्यवस्थित की गई है। स्मरण रहे कि हम वर्तमान राजनीति क्षेत्र में नहीं जा रहे हैं। वर्तमान विधान का विरोध भी हमारा यहां लक्ष्य नहीं

है। यह भी हम मानते हैं कि समय के दोष से स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था का कई देशों में कई अंशों में दुरुपयोग भी हुआ था। किन्तु यहां हमें यही संक्षेप में दिखाना है कि शास्त्रों में इस व्यवस्था के मूल में जातियों का परस्पर द्वेष नहीं था, केवल पवित्रता की रक्षा ही इसका उद्देश्य था। आजकल के कई सज्जन जो यह कल्पना करते हैं कि "अन्य देशों से आये हुए आर्यों ने द्वेष वश यहां की पुरानी जातियों को अस्पृश्य बना दिया" यह केवल यूरोपियन विद्वानों की कल्पना थी, और इसके मूल में राजनीति थी कि हमारा इस देश पर ममत्व दृढ़ न रहे, और परस्पर हम लड़ते रहे, विदेशियों का राज्य स्थिर रहे। आर्यों का (हमारे पूर्वजों का) विदेशों से आना किसी ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इस विचार के खण्डन में अनेक विद्वानों ने (एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के प्रमुख सदस्य अन्वेषक विद्वान् सत्यव्रत सामश्रयी) वेद रहस्य के उद्घाटक गुरुवर श्री मधुसूदन जी ओझा विद्यावाचस्पति, उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्य मन्त्री साहित्य क्षेत्र में भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त श्री सम्पूर्णानन्द जी आदि ने अपनी लेखनी उठाई है और इस विचार को निःसार सिद्ध कर दिया है। स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था भी द्वेषमूलक किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है। जिन धर्मशास्त्रों में इस व्यवस्था पर दृढ़ बल दिया है, उनमें ही आपत्काल में अस्पृश्यों की सब प्रकार की सहायता का भी विधान मिलता है। वैद्य रोगी को देखते समय अस्पृश्यता का विचार न करे, दुर्भिक्ष वा राष्ट्र विप्लव में अस्पृश्यता न मानी जाय, अति अस्पृश्य के घर में भी अग्नि लगने पर उसकी रक्षा के लिये उत्तम वर्ण के सब लोग जाँय—ऐसे वचन धर्मग्रन्थों में स्पष्ट मिलते हैं। तब इसमें द्वेष का स्थान ही कहाँ रहा। शास्त्रों से तो यही स्पष्ट होता है कि निकृष्ट वर्णसंकर जातियों को ही अस्पृश्य माना गया है। जिसमें पिता उच्च वर्ण का और माता छोटे वर्ण की होती है—वे "अनुलोमसंकर" कहे जाते हैं। उन्हें अधिक दूषित नहीं माना जाता, क्योंकि बीज की प्रधानता देखी जाती है। भूमि में दोष होने पर भी उत्तम बीज से उत्तम ही अन्न होगा, कुछ न्यूनता उसमें भले ही हो। किन्तु जहां माता उच्च वर्ण की और पिता छोटे वर्ण का है—वे प्रतिलोम संकर माने जाते हैं—उसमें से ही कुछ निकृष्ट जातियां—जिनकी उत्पत्ति में बीज बहुत ही छोटे वर्ण का है—उन्हें अस्पृश्य माना गया है। निकृष्ट बीज भूमि को भी सदा के लिये दूषित कर देता है—और ऐसी सन्तति में दोष ही विशेष आते हैं, गुण माता वा पिता किसी के भी नहीं आते—इससे इनके संसर्ग से भी हानि समझकर उच्च वर्णों को इनके संसर्ग से बचाया गया है। संसर्ग से दोषों का संक्रमण आधुनिक विज्ञान भी मानता है—इसीलिये संक्रामक रोग वाले का स्वस्थ पुरुष से सम्बन्ध बचाने की विज्ञ डाक्टर भी सदा सलाह देते हैं। एक साथ एक शय्या वा आसन पर बैठना, एक साथ भोजन करना, एक पात्र से भोजन, पान आदि जैसे रोगी के साथ संसर्गों का डाक्टर लोग निषेध करते हैं—वैसे ही संसर्गों का अस्पृश्यों के साथ धर्मशास्त्रों में भी निषेध किया गया है। इससे यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि आधुनिक विज्ञान केवल शरीर के स्थूल दोषों को ही संक्रमण समझ पाया है—इसलिये शरीर दोष

वालों के संसर्ग का ही उसने निषेध किया, किन्तु अध्यात्मवेत्ता ऋषि अन्तःकरण की भी पूर्ण परीक्षा जानते थे—और अन्तःकरण के दोषों का भी संक्रमण जिनकी दृष्टि में प्रत्यक्ष था, वे दूषित अन्तःकरण वालों के संसर्ग से भी पवित्र अन्तःकरण वालों को बचाते थे। संसर्ग के दोषों का संक्रमण सब ही मानते हैं—जो जितने दोष समझता है उतने ही दोष वालों के संसर्ग का वह निषेध करता है। रोगी के साथ स्वस्थ पुरुष यदि संसर्ग करे तो इससे रोगी का कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि रोग का अभाव कोई वस्तु नहीं है—जिसका स्वस्थों से उसमें संक्रमण हो जाय, किन्तु स्वस्थों की हानि अवश्य होगी, क्योंकि रोग एक दूषित प्रभाव है—वह उसमें संक्रान्त हो जायेगा। इस प्रकार उच्च वर्ण के पुरुष यदि दूषित जातियों से संसर्ग करें तो इससे उन जातियों का कोई लाभ नहीं। उच्च जातियों की हानि है, उसमें अतःकरण के तामस भाव आ जायेंगे। इसलिये केवल हानिकारक समझकर संकर जातियों का संसर्ग रोका गया है। यहां यह भी प्रश्न होता है कि वर्तमान अस्पृश्य जातियों के पूर्वजों को वर्णसंकर मान भी लिया जाय, तो वर्तमान में जो अस्पृश्य माने जाते हैं इनमें तो कोई संकरता का दोष नहीं है—न इनका कोई अपराध है, फिर बिना दोष और किसी अपराध के इन्हें क्यों दण्ड दिया जाय। तो इसका भी उत्तर स्पष्ट है कि पूर्वजों के दोष का फल उसकी सन्तान भी भोगती है—यह प्रकृति सिद्ध नियम है। आयुर्वेद के विद्वान् स्पष्ट बताते हैं कि जिनके पिता कुकर्म के कारण बुरे रोगों से अक्रान्त हुए—उनकी संतति में भी उन रोगों का अनुवर्तन रहता है—और कुल क्रमागत रोग प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जब स्थूल रोगों का ही संक्रमण प्रत्यक्ष सिद्ध है, तो सूक्ष्म रजोगुण, तमोगुण का तो संक्रमण बराबर चलेगा—इसमें आश्चर्य ही क्या है? इससे कर्म सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। जो करता है, वही पाता है यह कर्म सिद्धान्त ठीक है, किन्तु जन्म भी तो कर्मानुसार ही मिलता है। जिनके पूर्व कर्म जघन्य हैं वे ही ऐसी जातियों में वैसे माता पिताओं से जन्म लेते हैं—अच्छे कर्म वालों का उन जातियों में जन्म ही क्यों होने लगा। इस अप्रकृत विषय का यहां विस्तार अनुपयुक्त है। यहां यही कहना था कि संकर जातियों को अस्पृश्य मानना भी समाज की रक्त शुद्धि रखने के आशय से ही नियत किया गया था। "समाज में इस प्रकार कुल परम्परागत दण्ड मिलेगा"—इस भय से अपना समाज वर्ण संकरता के दुर्व्यवहारों से बचा रहे—और ऐसी सृष्टि बढ़ने ही न पावे। यह रक्त शुद्धि ही इसका उद्देश्य रहा है। आत्मसंयम अपने आपको अपवित्रता से बचाना और समाज में रक्तमिश्रण न होने देने के लिये ही आर्य जाति के ये सब गम्भीर उपाय प्रवृत्त हुए थे। अस्तु स्त्रियों के अपवित्र हो जाने पर इन सब भारत के गौरव पूर्ण धर्मों का नाश हो जायगा—यही अर्जुन ने उक्त श्लोक ४० में बताया है। आगे और इसी का विवरण है कि—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

वर्ण संकर अपने कुल का नाश करने वाले को नरक में पहुँचाता है। क्यों ? इसका कारण उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि वर्ण संकर का दिया हुआ पिण्ड वा जल पितरों को प्राप्त नहीं होता, इसलिये पिण्डोदक का लोप होने पर वे स्वर्ग से पतित होकर नरक में चले जाते हैं। और जिनने कुल का नाश किया है वे भी यदि इसी कुल के हैं तो उनका भी पिण्डोदक लुप्त होने से नरक वास होगा ही, यदि भिन्न कुल के भी हों तो कुलनाश के पातक से नरक में चले जायेंगे। पिण्डोदक के अभाव में नरक क्यों होता है यह श्राद्ध विज्ञान का विषय है। इसका विवरण हम गीता के अष्टम अध्याय में उर्ध्वगति के प्रकरण में करेंगे।

आगे कहा जाता है कि इस प्रकार वर्ण संकरता फैलाने वाले उन दोषों से वर्णसंकरों की प्रचुरता होने पर कुल धर्म और जातिधर्म मूलतः उखाड़ दिये जाते हैं। अथच कुल धर्मों का नाश होने पर वर्णसंकरता उत्पन्न करने वालों को अनन्त काल तक नरक में रहना पड़ता है। ऐसा शास्त्रों में हमने सुना है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अर्जुन की ये शंकाएँ आगे चलकर बिलकुल सत्य सिद्ध हुईं। महाभारत के प्रचंड युद्ध में देश के अधिकांश वीरों का नाश हो जाने पर क्रम से वर्णसंकरता बढ़ती गई और वर्ण व्यवस्था बिगड़ती गई। जिसका कि परिणाम आगे चलकर देश की परतन्त्रता के रूप में प्रकट हुआ। इन दोषों का विवरण करता हुआ अर्जुन एकान्ततः काँप उठा कि—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५॥

(बड़े अनर्थ और खेद की बात है कि हम इतना बड़ा पाप करने को तैयार हो गए, केवल राज्य से थोड़ा सुख प्राप्त करने के लोभ से अपने बान्धवों को मारने को हम प्रस्तुत हैं)। अन्तिम निश्चय अर्जुन ने अपना यही प्रकट किया कि—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

मैं तो नहीं लड़ूँगा, शस्त्र भी नहीं उठाऊँगा, अपने ऊपर प्रहार करने वालों को कोई उत्तर भी न दूंगा। ऐसी स्थिति में यदि शत्रु लोग शस्त्र उठाकर मुझे मार देंगे तो भी मेरे लिए बड़े कल्याण की बात होगी क्योंकि इस चिन्ता के

झंझट से छूट जाऊँगा। अस्तु, हमने पिछले प्रवचन में प्रसंग यही उठाया था कि प्रथमाध्याय के अर्जुन के पूर्व पक्ष में भी आर्य संस्कृति के तत्व झलक रहे हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि जब अर्जुन के विचार इतने उदात्त, स्वार्थ त्याग पूर्ण, और आर्य संस्कृति और धर्म से ओतप्रोत थे तो भगवान् कृष्ण ने उनका निराकरण क्यों किया? कई सज्जन यह भी शंका करते हैं कि अर्जुन के इन पूर्व पक्षों का उत्तर भी आगे भगवान् की ओर से कुछ भी नहीं दिया गया। इससे यह उपदेश अधूरा प्रतीत होता है। क्योंकि पूर्व पक्ष का निराकरण पूर्णरूप से अवश्य होना चाहिए यह भारतीय ग्रन्थों की शैली है। इसका उत्तर यही है कि उपदेश के आरम्भ में ही—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'

इस छोटे से वाक्य में ही सब बातों का उत्तर दे दिया है। उसका गंभीर आशय यही है कि "तुम बुद्धिमानों की सी बातें करते हुए भी जिन बातों पर विचार नहीं करना चाहिए उनका विचार करते हो।" अर्थात् मनुष्य को अपना कर्तव्य सोचना चाहिए। दूसरे लोग क्या करेंगे और इससे जाति या देश पर क्या परिणाम होगा यह सब सोचना अपनी कल्पना शक्ति को व्यर्थ परिश्रम देना है। यद्यपि शास्त्रों में परिणाम दर्शित को बहुत महत्व दिया है, किन्तु अपने कर्तव्य की ही परिणाम दर्शिता होनी चाहिए। कर्तव्य पालन को मुख्य रखना चाहिए। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने-अपने कर्तव्य पालन में दृढ़ हो जाँय तो जाति या देश में कभी कोई आपत्ति न उठे। दूसरों की त्रुटि देखने से कोई लाभ होना सम्भव नहीं क्योंकि यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है कि हम दूसरों की त्रुटियों को सुधार दें। हमें अपनी त्रुटि सुधार कर आदर्श रूप बनना चाहिए जिससे कि हमारे दृष्टान्त से अन्य लोग भी अपनी त्रुटि सुधार सकें। भगवान् के उपदेश का यही सार है कि तुम अपने कर्तव्य की ओर देखो। अन्य बातों को न सोचो। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रिय का मुख्य कतव्य है। उससे तुम विच्युत हो रहे हो। धर्मसंकट में प्रत्येक मनुष्य का यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपना कर्तव्य सोचे।

जिस प्रकार अर्जुन ने बान्धवों के वध के दोषों की एक शृंखला उपस्थित की उसी प्रकार दूसरी ओर भी कहा जा सकता है कि यदि अन्याय मार्ग में प्रवृत्त होने वाले को उचित दण्ड न दिया जायगा तो अन्यायी पुरुषों का अभ्युदय देखकर जनता अन्याय को अपना आदर्श मानने लगेगी और अन्याय वा अधर्म की वृद्धि होने पर देश और राष्ट्र का नाश अवश्यंभावी है और उस दशा में भी वे सारे दोष बहुत बड़ी मात्रा में उपस्थित होंगे जिनका विवरण अर्जुन ने किया है। यों दोनों ओर आपत्ति उपस्थित होना ही धर्म संकट है। इस प्रकार के धर्म संकट में अपना कर्तव्य पालन ही मुख्य रूप से सोचना चाहिए।

दूसरे प्रतिपक्षी लोग धर्म से विच्युत भी हों तो भी हमें अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए यह अर्जुन का कथन व्यक्तिगत रूप से आदर्श अवश्य है। किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से समाज विप्लव उपस्थित हो जाना इसमें अवश्य सम्भव है। इसीलिए भगवान् कृष्ण का अन्यत्र भी ऐसा लक्ष्य देखा जा सकता है कि अधार्मिकों के प्रति धर्म परायण होकर रहना उन्हें बढ़ावा देना है और वह अनुचित व समाज विप्लव कारक है, इस सबसे भगवान् कृष्ण का अभिमत यही प्रतीत होता है कि जहाँ प्रतिपक्ष से धर्म विरोध होता हो वहाँ नीति मार्ग से चलना ही समाज के लिए लाभदायक है। आदर्श धर्म का पालन आदर्श धार्मिकों के बीच में ही होना चाहिए समाज नीति यही है। व्यक्तिगत कार्यों में हम आदर्श धर्म का पालन करते हैं किन्तु सामाजिक कार्यों में उचित स्थान पर नीति को भी प्रश्रय देना ही चाहिए। भगवान् कृष्ण के इस उपदेश का आगे चलकर भारत ने स्मरण नहीं रक्खा इसीलिए अधार्मिकों के साथ भी आदर्श धर्म का व्यवहार करने से देश की बहुत कुछ दुर्गति हुई जिसका इतिहास साक्षी है। इसके अनन्तर का वृतान्त संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि—

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

यह कहकर अर्जुन ने संग्राम में अपना धनुष बाण छोड़ दिया और अत्यन्त शोक से घबराया सा होकर रथ के पीछे के भाग में बैठ गया। युद्ध के रथ इस प्रकार के होते थे कि योद्धा सारथी के पास आगे खड़ा रहता था, उसके चारों ओर शस्त्र अस्त्र रखे रहते थे और पीछे का भाग विश्राम के लिये खाली रहता था, वही 'रथोपस्थ' कहलाता था। अभीतक अर्जुन धनुष लिये खड़ा था किन्तु अब धनुष छोड़कर विश्राम स्थान में जा बैठा। इस प्रकार इतिहास की घटना बताता हुआ भूमिका रूप गीता का प्रथमाध्याय समाप्त हुआ।

दशम पुष्प

(द्वितीयाध्याय का आरम्भ)

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

प्रथमाध्याय के आरम्भ के श्लोक में धृतराष्ट्र का आशय हमने प्रकट किया था कि कुरुक्षेत्र धर्म का क्षेत्र है। इसलिए कदाचित् उस स्थान में पहुँच कर पाण्डवों को भी धर्म बुद्धि आई हो और उनने युद्ध बन्द करने की बात सोची हो। जब संजय के मुख से अर्जुन का इस प्रकार धनुष बाण फेंक देना सुना तो धृतराष्ट्र को हर्ष हुआ कि वास्तव में कुरुक्षेत्र का फल हुआ। अर्जुन ने धनुष छोड़ा इस आशय से हर्ष में मग्न धृतराष्ट्र का वह हर्ष मिटाता हुआ संजय आगे कहने लगा कि इस प्रकार करुणा से आविष्ट अश्रुजल से जिसके नेत्र व्याकुलता को स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं और जो अत्यन्त दुःख में पड़ा हुआ है, ऐसे अर्जुन को भगवान् मधुसूदन नीचे लिखे वाक्य कहने लगे।

यहाँ "कृपया आविष्टम्" इन पदों में कृपा को कर्त्ता बताया गया है। और अर्जुन को उससे आविष्ट कहकर कर्म बताया गया। अर्थात् वह कृपा को बुलाने नहीं गया कृपा ने स्वयं उस पर आवेश किया है। इससे यह सूचित होता है कि अर्जुन में कृपा आगन्तुक नहीं है। स्वभाव सिद्ध है। महापुरुषों में कृपा स्वभाव सिद्ध होती है। वही कृपा यहाँ बान्धवों के दुःख का अनुमान कर प्रकट हो गई है। और "विषीदन्तम्" इस पद से अर्जुन को ही विषाद का कर्ता बताया गया है। इससे विषाद की आगन्तुकता सिद्ध होती है। यद्यपि अर्जुन ने बहुत कुछ कहा किन्तु अपने युक्तिवाद पर ही वह दृढ़ रहा। भगवान् से अपने कर्तव्य के विषय में कुछ पूछा नहीं। इसलिए धर्म मर्यादा के अनुसार अभी उपदेश देना भगवान् ने उचित न समझा। धर्म मर्यादा के रक्षक भगवान् धर्म मर्यादा का अतिक्रमण कैसे करते? धर्म की मर्यादा है कि "नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्" अर्थात् बिना पूछे किसी को उपदेश न देना। आरम्भ के प्रवचन में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जब तक सुनने वाले को जिज्ञासा न हो तब तक उपदेश देना व्यर्थ है किन्तु अपने आप्त. मित्र को शोक ग्रस्त देखकर चुप रहना भी बड़ी अनुचित बात होती; कहा भी है कि अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात् यस्यनेच्छेत् पराभवम्। अर्थात् जिसका जगत् में तिरस्कार होना इष्ट न हो उससे बिना पूछे भी कहना चाहिए। इसलिए भगवान् उपदेश तो नहीं किन्तु चेतावनी देने लगे।

यही बात "वाक्यमुवाच" इन पदों से अभिव्यंजित की गयी है। अर्थात् उपदेश न देकर केवल कुछ वाक्य कहने लगे।

श्री भगवान् उवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

गीता में सर्वत्र वक्ता कृष्ण को भगवान् शब्द से ही कहा गया है। इस कारण से ही इस ग्रन्थ का नाम ही भगवद्गीता हुआ है। भगवान् शब्द का अर्थ पूर्व लिख चुके हैं कि जिसमें ऐश्वर्य, वैराग्य, ज्ञान आदि ५ गुण हों वह भगवान् कहा जाता है। इससे यह सूचित होता है कि वे अपने पूर्ण ज्ञान से सबके मन की बात जानकर तदनुकूल उपदेश देकर उसका हठ छुड़ा सकते हैं। अपने ऐश्वर्य के कारण भी मनुष्य की चित्त-वृत्ति को बदल सकते हैं और रागद्वेष न होने के कारण किसी के उपालम्भ पात्र भी नहीं बन सकते। ऐसे भगवान् जब कहने लगे तो अवश्य ही अर्जुन की चित्त-वृत्ति बदलेगी। यह सूचित करता हुआ संजय आगे भगवान् के कथन का अनुवाद करता है—हे अर्जुन! अत्यन्त अनुपयुक्त समय में यह मोह तुममें कहाँ से आ गया? यह तो आर्य पुरुषों के द्वारा सेवित नहीं है अर्थात् सदाचार सिद्ध नहीं है। स्वर्ग का विरोधी है। और संसार में अकीर्ति करने वाला है। हे पार्थ? तुम क्लीबता (मन की दुर्बलता रूप नपुंसकता में) मत जावो, यह दुर्बलता तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। जो कुछ तुम कर रहे हो वह हृदय की दुर्बलता मात्र है। और यह दुर्बलता आगन्तुक होने के कारण बहुत छोटी वस्तु है। इसे झट-पट छोड़ दो और खड़े हो जाओ। तुम सदा से परन्तप अर्थात् शत्रुओं को क्लेश देने वाले रहे हो। अपने प्रताप का स्मरण करो जब पराक्रम का मुख्य अवसर आया तब ऐसी कातरता क्यों दिखाते हो?

यह एक चेतावनी है। विशेषणों से यहाँ यह किया कि तुम जो संग्राम छोड़ने की इच्छा कर रहे हो वह शिष्टाचार समझ कर कर रहे हो वा धर्म समझ कर वा संसार में बान्धवों को न मारने का सुयश प्राप्त करने की इच्छा से?। तीनों ही बातें नहीं हैं। क्षत्रिय का युद्ध छोड़ देना स्मृति शास्त्र विरुद्ध है इसलिए शिष्टाचार भी नहीं हो सकता। आज तक किसी शिष्ट ने ऐसा किया भी नहीं कि संग्राम में खड़ा होकर समय पर भाग जाय। और स्मृति शास्त्र विरुद्ध होने से धर्म तो यह है ही नहीं। फिर इससे स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा ही व्यर्थ है। सुयश भी तुम्हारा इससे नहीं होगा प्रत्युत संसार में भीरु कहला कर अपयश के ही पात्र बनोगे। इसलिए यह तुम्हारा उपक्रम विचार पूर्ण नहीं

कहा जा सकता। केवल हृदय की दुर्बलता मात्र है। साधारण मनुष्यों को भय आदि के कारण ऐसी दुर्बलतायें आ जाया करती हैं। किन्तु तुम जैसे वीर को यह शोभा नहीं देती।

जब इस प्रकार की चेतावनी भगवान् ने दी तो अर्जुन अपना आशय प्रकट करने लगा कि महाराज मेरे हृदय की दुर्बलता नहीं है। मेरे मन में धार्मिक विचार हैं—

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

मैं भीष्म और द्रोण के साथ युद्ध में बाणों से कैसे संघर्ष करूँगा। एक मेरे पितामह हैं और दूसरे शिक्षा देने वाले आचार्य हैं। इसलिए दोनों पूजा के योग्य हैं। इनके साथ तो केवल वाणी से सामना कर लेना भी अनुचित है। धर्मशास्त्रों में गुरू के संमुख 'हुं' कार वा 'त्वम्' शब्द का उच्चारण भी पाप बताया गया है। फिर संमुख संग्राम में खड़े होकर उन पर बाण चलाना कैसे हो सकता है? मान लो कि उन पर बाण न चलाऊँ औरों से ही लड़ता रहूँ किन्तु वे प्रतिपक्ष सेना के प्रमुख है इसलिए मुझ पर वे बाणों का प्रहार करेंगे तो उसका प्रत्युत्तर रूप प्रति युद्ध तो करना ही होगा। उनके प्रहार का निवारण करने के लिए तो शस्त्र चलाना ही होगा वह भी अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि गुरु पितामह आदि की तो पूजा करनी चाहिए। उन पर प्रहार वा उन प्रहारों का निवारण कैसे उचित हो सकता है। यहाँ मधुसूदन और अरि-सूदन ये दोनों संबोधन प्रायः एक सा ही अर्थ रखते हैं। इसलिए श्लोक में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। किन्तु श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यह पुनरुक्ति अर्जुन की विकलता की सूचक है। इसलिए दोषाधायक नहीं। विकलता में मनुष्य अवधान न रहने से एक ही बात को कई बार कह जाता है। इससे उसकी विकलता प्रकट होती है। व्यंग्य मन्दाकिनी में यह भी अभिप्राय निकाला गया है कि आपने मधुदैत्य को मारा है और शत्रुओं का भी नाश किया है किन्तु ये भीष्म द्रोण दो दैत्य नहीं हैं बड़े शिष्ट संसार में पूजित हैं। और न ये शत्रु कहे जा सकते हैं। पितामह वा गुरु को शत्र कैसे कहा जाय?

महाभारत युद्ध में प्रसंग आता है कि जब अर्जुन ने सूर्यास्त से पहिले जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा की थी तब द्रोणाचार्य ने जयद्रथ की रक्षा के लिये एक बड़ा लम्बा व्यूह बनाया था और उसके द्वार पर स्वयं खड़े थे। जब अर्जुन व्यूह में प्रविष्ट होने लगा तो पहिले द्रोणाचार्य ही रोकने को खड़े हुए और उनसे युद्ध आरम्भ हुआ। द्रोणाचार्य को परास्त कर देना तो कोई हंसी

खेल की बात नहीं थी उनके साथ युद्ध में ही दिन पूरा हो जायगा तो जयद्रथ कैसे मरेगा इस विचार से भगवान् कृष्ण ने कहा कि इनके साथ क्यों उलझता है। इनको तो प्रणाम कर आगे बढ़ नहीं तो इतने दूर पहुँच कर जयद्रथ मारा न जा सकेगा। अर्जुन अपने रथ से उनके रथ की प्रदक्षिणा द्वारा पूजा कर जब आगे बढ़ने लगा तो द्रोणाचार्य ने जोर से कहा कि तुझे लज्जा नहीं आती शत्रु को बिना जीते आगे भाग रहा है तब भी अर्जुन ने यही उत्तर दिया था कि शत्रु को बिना जीते छोड़ना लज्जा कारक है आप तो मेरे गुरु हैं शत्रु नहीं। शिष्य और पुत्र तो समान ही होता है उन दोनों को तो पिता को छोड़ कर आगे बढ़ जाने का भी अधिकार है। इससे सिद्ध है कि अर्जुन का भीष्म और द्रोण में शत्रुभाव नहीं था।

आगे अर्जुन कहता है कि यदि यह प्रश्न हो कि भीष्म द्रोण जब प्रतिपक्ष सेना के नेता होकर खड़े हैं। तब उनसे युद्ध न करोगे तो आखिर करोगे क्या? राज्य तो बिना युद्ध के मिलेगा नहीं और बिना भूमि सम्पत्ति के भोजन भी कैसे चलेगा। मान लो कि विलास सामग्री तुम्हें नहीं चाहिए किन्तु भोजन सामग्री तो जीवन के लिये सबको ही अपेक्षित है वह भी कहाँ से मिलेगी? तुम कहते हो कि शस्त्र छोड़ हुए मुझे दुर्योधनादि मार देंगे तो मेरा कल्याण हो जायगा किन्तु मान लो कि निःशस्त्र पर प्रहार करना अनुचित समझ उनने तुम्हें न मारा तब क्या होगा? आत्महत्या तो तुम करोगे नहीं क्योंकि वह महापाप है तब भोजन कहाँ से लावोगे? अपने मन में ही इस प्रश्न की उद्भावना कर अर्जुन उत्तर देता है—

गुरूनहत्वाहि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्मपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिर प्रदिग्धान्॥५॥

महान् प्रभाव वाले प्रतिष्ठित गुरुओं को यदि न मारना पड़े तो संसार में भिक्षा करके खा लेना भी कल्याण कारक है और धन की तृष्णावश प्रतिपक्षियों से फसे हुए भी गुरुओं को मार कर भोजन करना तो ऐसा होगा मानों उनके रुधिर से लिपटे हुए अन्न को हम खा रहे हैं। यह कैसे उचित होगा सो आप ही बतलाइये। इसका तात्पर्य यही है कि चाहे भिक्षा करके जीवन निर्वाह कर लेना पड़े किन्तु गुरुओं को मार कर अच्छे भोजन करना तो इतना ही अनुचित है जितना कि गुरुओं के रुधिरों से सान कर भोजन करना। अतः कुछ भी न मिलेगा तो मैं भिक्षा करके ही खा लूँगा। यहाँ कई व्याख्याकार अर्जुन पर यह दोष लगाते हैं कि वह मोह वश अपना क्षत्रियोचित धर्म छोड़कर ब्राह्मणोचित भिक्षा करना चाहता था। क्योंकि भिक्षा ब्राह्मणों का ही धर्म है। इससे वर्ण परिवर्तन का दोषी समझ कर ही भगवान् ने उसके विचारों का निराकरण कर उसे अपने धर्म पर दृढ़ किया। किन्तु यह व्याख्याकारों का कथन उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि गृहस्थ ब्राह्मणों का धर्म भिक्षा करना

कहीं नहीं बताया गया है। प्रतिग्रह अवश्य ब्राह्मणों के धर्म में आता है किन्तु प्रतिग्रह और भिक्षा में बहुत बड़ा भेद है। प्रतिग्रह सम्मान पूर्वक शास्त्रीयविधि से प्राप्त होता है और भिक्षा सम्मान खोकर याचना कर ली जाती है। भिक्षा का विधान तो शास्त्र में ब्रह्मचारी और सन्यासी के लिए है। सो तीनों वर्णों के लिए है। ब्राह्मणों का भिक्षा बताना तो अर्वाचीन युग में ब्राह्मणों की अवज्ञा के कारण प्रचलित हुआ है। प्राचीन युग में तो ब्राह्मणों को भिक्षुक बताने वाले को कड़े दण्ड मिले हैं। दानवराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को भिक्षुक की पुत्री कह दिया था इससे रुष्ट होकर शुक्राचार्य जी ने असुरों का पौरोहित्य छोड़ दिया और उनको मनाने के लिये दैत्य राज वृषपर्वा अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को दासी बना कर देवयानी के साथ उसके पति ययाति राजा के यहाँ भेजना पड़ा। यह परिणाम भिक्षु कहने का हुआ। इसी प्रकार द्रुपद राजा ने द्रोणाचार्य को भिक्षुक कह दिया था उसके परिणाम स्वरूप उसे बाँधकर अर्जुन ने द्रोणाचार्य के चरणों में उपस्थित किया। ऐसे परिणाम भिक्षु कहने के हुए हैं। किन्तु आज तो ब्राह्मण निर्बल हैं उन्हें कोई कुछ भी कह ले उनमें से बहुतेरे स्वयं ही अपने हाथ में भिक्षा का कटोरा बताते हुए गौरव का अनुभव करते हैं। अस्तु हमारा तात्पर्य यही है कि भिक्षा की इच्छा द्वारा अर्जुन ने ब्राह्मणोचित व्यवहार करने की इच्छा प्रकट की यह शास्त्र सिद्ध नहीं। अर्जुन का अभिप्राय यही कहा जा सकता है कि मैं सन्यास ले लूँगा और भिक्षा करके खा लूँगा। इस कथन में दोष यही है कि विना उत्कट वैराग्य के सन्यास का शास्त्र में विधान नहीं है। इसलिये भगवान् ने उसे आगे चलकर समझाया है कि तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गुरु लोग जब अर्थ के दास होकर अन्यायी दुर्योधन के साथ लगे हुए हैं तब उनमें गुरुत्व कहाँ रहा। शास्त्र में कहा है कि दुष्ट गुरु से तो गुरुत्व निवृत्त हो जाता है। इसका उत्तर अर्जुन ने दिया कि यद्यपि वे अर्थ काम में हैं अर्थात् धन चाहते हुए अन्यायी के साथ बद्ध हैं किन्तु वे मेरे लिए तो गुरु ही हैं। मुझे तो उनकी अवज्ञा करना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त वे महानुभाव हैं। लोक में प्रतिष्ठित हैं। अथवा "हि महानुभाव" हैं अर्थात् हिमाहा सूर्य के समान प्रभाव रखते हैं। इसलिए ऐसे तेजस्वी पुरुषों को अर्थ लिप्सा का सामान्य दोष गिरा नहीं सकता। भागवत में श्री शुकदेवजी ने यही बताया है कि—

धर्मव्यतिक्रमोदृष्ट ईश्वराणांच साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वन्हेः सर्व भुजोयथा॥

अर्थात् समर्थ तेजस्वी लोग साहस से धर्म का कहीं अतिक्रमण भी कर लेते हैं तो उन्हें दोष नहीं लगता जैसे कि अग्नि अपवित्र पदार्थ को खाकर भी दूषित नहीं होता है इत्यादि।

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदिवा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

आगे अर्जुन कहता है कि राज्य प्राप्ति की आशा से ही तो युद्ध किया जा रहा है किन्तु यह भी तो निश्चय नहीं कि दोनों पक्षों में प्रबल कौन सा पक्ष है ? हम जीतेंगे या प्रतिपक्षी हमें जीत लेंगे। मानों कि प्रतिपक्षियों ने हमें ही जीत लिया तो हमने पाप भी किया और राज्य भी न मिला फिर भी तो अन्त में भिक्षाटन की ही शरण लेनी पड़ेगी। तब बिना पाप किये पहिले ही भिक्षाटन की ओर क्यों न झुक जायें ? मान भी लिया जाय कि हम ही जीतेंगे तो भी दुर्योधन आदि को मार कर ही तो विजय मिलेगी। बान्धवों को मार कर तो हम जीने की भी इच्छा नहीं करते और वे बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्र ही सामने खड़े हैं तब युद्ध कैसे उचित हो सकता है ?

अन्ततः अर्जुन के मन में विचार आया कि कृष्ण मुझे मोह ग्रस्त क्यों बता रहे हैं और मेरे हृदय की दुर्बलता क्यों कह रहे हैं। इसलिये उसके मन में यह भाव हुआ कि क्या वास्तव में मैं गल्ती पर हूँ। तब जिज्ञासा हुई कि कृष्ण बड़े बुद्धिमान हैं। इन्हें बड़े लोग ईश्वरावतार भी मानते हैं। इसलिए इनसे ही निर्णय क्यों न पूछूँ। इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह कहता है कि—

कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः
पृच्छामित्वांधर्मसंमूढ़चेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

आप कहते हैं कि तेरे हृदय की दुर्बलता है किन्तु मुझे स्पष्ट धर्म संकट दिखाई दे रहा है। अच्छा मैं मान लेता हूँ कि मेरा स्वभाव अर्थात् बुद्धि वृत्ति रूप विचार इस समय कार्पण्य अर्थात् दीनता के दोष से दब गया है। इसलिये मेरा चित्त धर्म-अधर्म का निर्णय करने में असमर्थ है। तब आप से ही पूछता हूँ कि आप जो मेरे लिए निश्चित कल्याण मार्ग हो वह बता दीजिये। मैं आप का शिष्य हूँ और शरणागत हूँ इसलिए आप मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए।

शिष्य के हृदय में जैसी जिज्ञासा होनी चाहिए वैसी ही यहाँ अर्जुन ने प्रकट कर दी। मैं विचार करने में असमर्थ हो रहा हूँ। मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है यह भी स्पष्ट कह दिया। इससे उपदेश की योग्यता अपने में स्पष्ट प्रकट कर दी और बिना शिष्यत्व के उपदेश नहीं मिल सकता। इसलिए शिष्यत्व को भी स्वीकार कर लिया। यहाँ अर्जुन ने 'आपका शिष्य' कहकर सिद्ध रूप से अपना शिष्यत्व प्रकट किया। यह नहीं कहा कि शिष्य बन रहा हूँ किन्तु कहा कि शिष्य हूँ। इससे पूर्व जन्म में नर नारायण रूप से जो नर को नारायण

की शिष्यता प्राप्त थी उसका भी स्मरण करा दिया और शरणागति भी स्वीकार कर ली। यहाँ अर्जुन ने केवल इस समय कर्तव्य ही नहीं पूछा किन्तु सामान्य रूप से पूछा कि 'जो निश्चित रूप से मेरे लिए कल्याण मार्ग हो उसका उपदेश दीजिए'। यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है। कल्याण का मार्ग पूछा जा रहा है। इसी लिए भगवान् को सब शास्त्रों का सिद्धान्त भगवत् स्वरूप, भक्तिमार्ग, एवं भागवत धर्म का उपदेश देना पड़ा। क्योंकि इनके बिना कल्याण सम्भव नहीं। शिष्ट संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि कोई मनुष्य कार्य-अकार्य की उलझन के समय इस श्लोक का जप करता हुआ सो जाय तो उसे स्वप्न में भगवान् का उपदेश मिल जाता है।

नहि प्रपश्यामिममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्-
अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं राज्यंसुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

आप यह विचार मत करना कि राज्य मिलने पर ये सब दुःख अपने आप विलीन हो जायेंगे क्योंकि मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि यदि मुझे सम्पूर्ण भूमि का ऐसा राज्य मिल जाय कि जिसमें कोई शत्रु न रह जाय और जो पूर्ण समृद्धशाली हो अथवा इतना ही क्यों देवताओं का स्वामित्व रूप इन्द्र पद भी मुझे प्राप्त हो जाय तो भी इन्द्रियों को सुखा देने वाला यह शोक मेरा दूर न होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

अर्जुन कृष्ण से इतना कहकर 'नहीं लडूँगा' यह कहता हुआ चुप हो गया। पहिले तो प्रश्न फिर न लड़ने की प्रतिज्ञा कैसी इसका आशय यही है कि जब तक आप समझा न देंगे तब तक नहीं लडूँगा—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

इस प्रकार दोनों सेनाओं के मध्य में विषाद प्राप्त अर्जुन को हँसते हुए भगवान् कृष्ण ने नीचे लिखे वचन कहना प्रारम्भ किया। यहाँ से आगे उपदेश का आरम्भ है। भगवान् ने हँसते हुए उपदेश दिया इसका तत्व पूर्व प्रवचन में बता चुके हैं।

एकादश-पुष्प

उपक्रम का प्रकरण पूर्व प्रवचनों में कह चुके हैं। अब द्वितीयाध्याय के ग्यारहवें श्लोक से उपदेश का प्रारम्भ होता है। भारतीय संस्कृति में ईश्वर की प्रेरणा से उपदेश प्राप्त कर जीव अपना कर्तव्य निर्धारण कर सकता है यह पूर्व प्रवचनों में स्पष्ट कर दिया गया है। हमारी संस्कृति के मूलभूत वेद भी इसी प्रकारण के उपदेश हैं। जो ईश्वर प्रेरणा से ऋषि-महर्षियों को प्राप्त हुए हैं और उनके द्वारा वे जन साधारण में प्रसृत हुए हैं। वेदों को ही आधार बनाकर मुनियों ने स्मृति, सूत्र आदि के उपदेश किये हैं। आज भी भारतीय संस्कृति उपदेशों के आधार पर ही चल रही है। यहाँ तो श्रुति की स्पष्ट घोषणा है कि—

"नैषा तर्केण मतिरपनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" : कठ उपनिषद् :

अर्थात् तर्क से शास्त्र जनित बुद्धि का निराकरण नहीं करना चाहिए, गुरु के उपदेश से ही सम्यक् ज्ञान होता है।

"उपदेश त्रैविध्य"

अलंकार शास्त्र में उपदेशों के तीन भेद किये हैं, प्रभुसंमित–उपदेश, सुहृत्संमित–उपदेश, और कान्तासम्मित–उपदेश। स्वामी अपने भृत्यों को केवल आज्ञा देता है कि अमुक कार्य करो। कहीं उसकी इच्छा हो तो उसका फल या उद्देश्य भी बतला देता है किन्तु सर्वत्र वह बताना आवश्यक नहीं। भृत्यों को वैसा पूछने का अधिकार भी नहीं कि हम यह कार्य क्यों करें ? केवल प्रभु की आज्ञा है इसलिए काम करना ही पड़ता है। इसी प्रकार उपदेश को प्रभु संमित उपदेश कहते हैं। वेदों का उपदेश इसी श्रेणी का माना जाता है। वहाँ केवल आज्ञा होती है कि प्रतिदिन संध्या करो। सायं प्रातः अग्निहोत्र करो और उस आज्ञा को ही शिरोधार्य कर आर्य संस्कृति के अनुयायी उन कार्यों का करना आवश्यक मानते हैं। यद्यपि परम कृपालु वेद ने उन बहुत से कर्मों की उपपत्ति अर्थात् उनका उद्देश्य और फल भी समझाया है इस विचार से आर्य संस्कृति में केवल प्रभु संमित उपदेश कोई नहीं है। इसी आशय से भगवान् मनु ने कहा भी है कि—

"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः" ॥ : मनुस्मृति :

अर्थात् वेदोक्त और धर्मशास्त्रोक्त उपदेश को जो वेद-शास्त्र के अविरोधी तर्क से ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करता है वही धर्म का मर्म समझ सकता है और कोई नहीं समझ सकता है। तथापि वेद को प्रभु संमित उपदेश बताने

का आशय यही है कि एक तो सब आज्ञाओं में इस प्रकार की उपपत्ति नहीं बतलाई गई। बहुत से कर्म केवल आज्ञा पर ही अवलम्बित रक्खे हैं। दूसरे जिनकी उपपत्तियाँ बतलाई भी है उन उपपत्तियों को मीमांसकों ने गौण रूप देकर "अर्थवाद" की श्रेणी में डाल दिया है। विधि वाक्यों को ही उन्होंने प्रधानता दी है। मीमांसा को ही वेदार्थ का मुख्य निर्णायक माना गया, इसलिए भी ऐसी प्रसिद्ध हो गई कि वेद आज्ञा प्रधान ही है। तीसरी बात यह भी है कि वेदोक्त आज्ञा को तर्क की अपेक्षा प्रधानता दी गई है। मनुष्य बुद्धि की अल्पता के कारण यदि हम किसी कर्म का उद्देश्य या फल स्पष्ट न भी समझ सकें तो न समझना अपनी बुद्धि का ही दोष मानकर वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान कभी न छोड़ना आर्य संस्कृति है। इसीलिए भगवान् मनु ने भी वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क को ही स्थान दिया है। तर्क के द्वारा वेद शास्त्र का विरोध करने की आज्ञा नहीं दी। इन कारणों से वेद को प्रभु संमित उपदेश कहना ही उचित है। मनुष्य अपनी अल्प बुद्धि द्वारा ईश्वर के द्वारा प्रदत्त ज्ञान की अवहेलना कर श्रेय मार्ग से वंचित न हो जाय यही इसका उद्देश्य है।

दूसरा उपदेश का प्रकार यह है जैसे एक मित्र दूसरे मित्र को उपदेश देता है उसमें आज्ञा की प्रधानता नहीं होती। कार्य-कारण भाव प्रदर्शित कर कर्तव्य मार्ग के गुण-दोष बता दिये जाते हैं। इससे श्रोता अपने कर्तव्य का निश्चय कर लेता है। पुराणेतिहास इसी प्रकार का उपदेश दिया करते हैं। वे एक प्राचीन घटना को उपस्थित कर समझा देते हैं कि इस कार्य का परिणाम अच्छा है और इसका बुरा। जैसे कि संपूर्ण रामायण का तात्पर्य यह निकाला जाता है कि—

"यान्ति न्याय प्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छंतं सोदरोऽपि विमुंचति" ॥

अर्थात् न्याय मार्ग में चलने वाले के सहायक मनुष्य ही क्या तिर्यक् योनि के जन्तु भी हो जाते हैं, जैसे कि वानर, ऋच्छ आदि ने भी भगवान् की सहायता की। और अन्याय मार्ग से चलने वाले को अपना सगा भाई भी छोड़ देता है, जैसा कि रावण को बिभीषण ने भी छोड़ दिया। इससे न्याय मार्ग पर चलने का उपदेश मिल जाता है। यह उपदेश का मार्ग पूर्व की अपेक्षा अधिक व्यापक और प्रशस्त है। जो उद्दण्ड प्रकृति वाले आज्ञा मानना नहीं चाहते, वे भी घटना चक्र से कार्य-कारण भाव समझ कर रास्ते पर आ सकते हैं। इससे भी व्यापक और सुकुमार एक तीसरा उपदेश का प्रकार और माना गया है जिसे "कान्ता संमित" उपदेश कहते हैं। अपनी अत्यन्त प्रेयसी सती साध्वी स्त्री भी अपने पति को कर्तव्य—अकर्तव्य का संकेत देती है। किन्तु उसका प्रकार बहुत सुकुमार होता है। वह प्रेम बन्धन में बाँधकर सरसता से कर्तव्य अकर्तव्य का संकेत देती है। इस प्रकार के उपदेश काव्य और नाटकों द्वारा

दिये जाते हैं। हमारे यहाँ के काव्य—नाटकादि भी उपदेश के अभिप्राय से ही लिखे गए हैं। यदि कोई भी शास्त्र या ग्रन्थ कर्तव्य मार्ग में हमें कुछ भी शिक्षा न दें तो वह व्यर्थ माना जाता है। और ऐसा ग्रन्थ लिखने में आर्य संस्कृति के अनुयायी ग्रन्थ—कर्त्ता की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। किन्तु काव्य नाटकादि का प्रकार यह रक्खा गया है कि उपदेश के नाम से भी चिढ़ने वाले मनोविनोद और आनन्द प्राप्ति के लिए उनमें प्रवृत्त हो जाते हैं और वे काव्य नाटकादि विनोद के साथ ही उनके चित्त में उपदेश का बीज भी डाल देते हैं। जैसा कि हमारे काव्य नाटकों का अध्ययन करने वाले स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं। अस्तु, भगवत्गीता पुराणेतिहास के अन्तर्गत लिखी गई है इसलिए इसे द्वितीय कोटि का उपदेश ही कहना चाहिए। इसमें केवल आज्ञा नहीं दी गई। प्रत्येक स्थान में युक्ति पूर्वक कार्य-कारण भाव समझाया गया है और श्रोता के सन्देशों का पूर्ण रूप से निराकरण किया गया है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

अच्छा तो अब देखिए, उपदेश का पहिला श्लोक है—

"अशोच्यानन्वशोचसत्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः" ॥—११ः

श्लोक का वाक्यार्थ तो इतना ही है कि अर्जुन! तुम शोक करने के अयोग्य भीष्मादि का शोक अपने मन में स्थापित कर बुद्धिमानी से भरे तर्क-पुष्ट वाक्यों से उसे प्रकट कर रहे हो। "अशोचः" यह भूतकाल की क्रिया है, और "भाषसे" वर्तमान काल की, इसी कारण व्याख्याकारों ने यह आशय निकाला है कि पहिले तुमने मन में अनुशोचन किया और फिर बुद्धिमानों के योग्य तर्क युक्त वचनों से उस अनुशोचन को प्रकाशित कर रहे हो यह परस्पर विरुद्ध बात है। वचन तो बुद्धि-गर्भित बोलना, और काम बुद्धि-विरुद्ध करना यह असमंजसता तुमने प्रकट की है। "प्रज्ञावादान्" का अर्थ कई व्याख्याकार ऐसा भी करते हैं कि तुम्हारा कथन केवल अपना बुद्धिवाद है। अर्थात् अपने कपोल कल्पित तर्क तुमने उपस्थित किये हैं। ये शास्त्र सम्मत तर्क नहीं हैं। क्योंकि शास्त्र तो वर्णाश्रम मर्यादानुसार अपने कर्तव्य पालन को ही मुख्य मानता है। तदनुसार तुम जैसे वीर क्षत्रिय को युद्ध में ही प्रवृत्त होना चाहिए, युद्ध से उपरत नहीं होना चाहिए। इसलिए जैसा शोक के अयोग्य पुरुषों का अनुशोचन बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल है इसी प्रकार अपने तर्कों से ही कर्तव्य का निर्णय करना भी बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल ही है। वस्तुतः यह एक प्रकार का उपालम्भ है कि बातें तो बुद्धिमानों की सी करना और न सोचने योग्य पुरुषों का अनुशोचन करना। इसलिए ऐसा करना तुम्हें अनुचित है। भीष्म, द्रोण आदि क्यों अशोच्य हैं? उसका कारण श्लोक के उत्तरार्ध में इस प्रकार बताया गया है कि पंडित लोग गतप्राण या अगत-प्राण अर्थात् मरे हुए और जीवितों का अनुशोचन नहीं किया करते।

यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि "अगतासु" अर्थात् जीवितों का अनुशोचन तो अर्जुन ने नहीं किया था और जीवितों का अनुशोचन कोई भी नहीं करता है, फिर "गतासु" और "अगतासु" दोनों को एक श्रेणि में लेकर उनके शोकाभाव का प्रतिपादन भगवान् ने क्यों किया। केवल यही कहना चाहिए था कि मृत पुरुषों का अनुशोचन विद्वान् लोग नहीं करते। इसका समाधान व्याख्याकार अनेक प्रकार से करते हैं। एक यह प्रकार है कि भीष्मादि जैसे जीवित अवस्था में अशोच्य हैं, वैसे ही मृत अवस्था में भी अशोच्य होंगे। जीवित अवस्था में शोच्य वही होता है जो अनाचारी हो वा संसार के लिए अहितकारक हो। भीष्मादि ऐसे नहीं। इसलिए वे जीवित अवस्था में भी अशोच्य ही हैं और मृत्यु के अनन्तर भी वे उत्तम लोक वा मोक्ष गति को प्राप्त करेंगे। इसलिए उस अवस्था में भी वे शोच्य नहीं। यह भीष्मादि का सम्बन्ध लगा कर समाधान हुआ। यदि इस कथन को सामान्य रूप से सब प्राणियों पर लगाया जाय तो यह आशय कहना होगा कि जैसे जीवित पुरुषों का अनुशोचन कोई नहीं करता इसी प्रकार मृत पुरुषों का भी अनुशोचन पंडित लोग नहीं करते। जीवित पुरुषों के सम्बन्ध में दूसरे के कर्तव्य का अनुशोचन दूसरे के लिए व्यर्थ है। सबको अपने-अपने कर्तव्य का विचार करना चाहिए। वस्तुतः यह एक कथन की शैली (मुहावरा) मात्र है कि मरे और जीवितों का अनुशोचन समझदार लोग नहीं किया करते। इसलिए "अगतासु" अर्थात्-जीवितों के शोक करने की शंका उठाना ही व्यर्थ है। प्रमुख व्याख्याकारों ने दार्शनिक प्रक्रिया के अनुसार इसका यह भी तात्पर्य लगाया है कि जिसमें असु अर्थात् प्राणों का आगमन-निर्गमन होता है, वे शरीर "गतासु" शब्द से कहे गए और जो सदा एक रस रहता है, जिसमें प्राणों के आवागमन का कोई सम्बन्ध नहीं, वह आत्मा "अगतासु" शब्द से कहा गया। इससे यह तात्पर्य निकाला जाता है कि आत्मा पर दृष्टि रखकर भी शोक अनुचित है और शरीर पर दृष्टि रखकर भी। इस सूत्र रूप कथन का आगे के श्लोकों में स्पष्टीकरण है कि आत्मा तो नित्य है इसलिए अशोच्य है और शरीर का विनाश अवश्यंभावी है, इसलिए उसका अनुशोचन भी व्यर्थ है।

पूर्व प्रवचन में कहा जा चुका है कि प्रथम भूमिकाध्याय में अर्जुन ने जिन उद्गारों को प्रकट किया है उनमें कई बातें मुख्यतया प्रकट होती हैं। एक यह कि आप्त बान्धवों के भावी वियोग का शोक अर्जुन को सता रहा है कि जिनके साथ हिलमिल कर हमें रहना चाहिए उनसे वियुक्त हम कैसे सुख से जीवन बिता सकेंगे। यह एक प्रकार का मोह है। जो सभी प्राणियों को होता है कि अपने प्रिय बान्धवों से हमारा कभी वियोग न हो। और दूसरी बात यह लक्षित होती है कि पूज्य गुरुजनों और आप्त बान्धवों के मारने में बड़ा पाप लगेगा। जिसका फल हमें परलोक में बहुत बुरा भोगना पड़ेगा। दोनों ही बातों का समाधान भगवान् को करना है। उनमें प्रथमोपस्थित शोक-मोह का

समाधान आत्मतत्त्व ज्ञान से ही हो सकता है। इसलिए उपदेश में सबसे पहिले भगवान् ने आत्मतत्व ज्ञान का ही विषय उठाया है और अन्त तक भिन्न-भिन्न प्रकारों से बार-बार उसे दोहराया है। अज्ञान जनित शोक-मोह सहसा नहीं हटाये जा सकते। उनके हटाने के लिए अनेक प्रकार से मनन और निदिध्यासन आवश्यक होता है। आत्मा का निरूपण भी सबके मूलभूत परमात्मा के निरूपण के बिना परिपूर्ण नहीं होता। इसलिए आगे चलकर परमात्मा का स्वरूप और परमात्मा का जीवात्मा के साथ सम्बन्ध, यह सब जटिल विषय भी कहना पड़ा है। इसी कारण गीता का उपदेश इतना विस्तृत हो गया। उसी आत्मतत्त्व निरूपण का आरम्भ इस प्रथम श्लोक में ही हो गया है आत्मज्ञान के बिना अशोच्यता नहीं बन सकती। इसलिए सबको अशोच्य बताते हुए भगवान् ने आत्म तत्व ज्ञान का सूत्रपात कर दिया। और उसका ही विस्तार आगे युक्ति और प्रमाणों से होता जायगा। इस श्लोक का विस्तृत आशय हम प्रथमाध्याय के नवम प्रवचन में बता चुके हैं कि जितने विचार अर्जुन ने अभिव्यक्त किये थे उन सबका उत्तर भगवान् ने बातों को "अविचार्य" कह कर एक ही श्लोक खण्ड में दे दिया। वे सारे विषय अविचार्य क्यों हैं, इसका विवरण भी पूर्व प्रवचन में किया जा चुका है। सब विषयों का सूत्र रूप होने के कारण यह आरम्भ का श्लोक बहुत महत्व का है।

द्वादश-पुष्प

"न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥" अ० २ श्लो० १२

पूर्व प्रवचन में उपदेश आरम्भ के श्लोक द्वारा भीष्मादि की अशोच्यता कही गई। वह अशोच्यता क्यों है ? इसका विवरण यहाँ से आरम्भ किया जाता है। प्रथमतः यह स चना चाहिए कि आप्त बान्धवों के नाश का जो अनुशोचन है वह आत्मा पर दृष्टि रखते हुए है या शरीर को लक्ष्य करके। आत्मा पर दृष्टि रख कर यदि अनुशोचन किया जाय तो वह बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा नित्य है। उसकी उत्पत्ति या विनाश होता ही नहीं, फिर अनुशोचन किस बात का। नित्यता का लक्षण शास्त्रों में यही किया जाता है कि जिसकी भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालों में सत्ता हो अर्थात् उत्पत्ति से पहिले रहने वाला प्रागभाव भी जिसका न हो और विनाश के उपरान्त होनेवाला प्रध्वंसाभाव भी जिसका न हो वही नित्य कहलाता है। इनमें वर्तमान की सत्ता तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, उस पर किसी का विवाद नहीं, इसलिए भूत और भविष्यत् की सत्ता भगवान् ने श्लोक में प्रदर्शित की है। व्यवहार में तीन भेद रहते हैं, वक्ता, बोध्य और तटस्थ। वक्ता को "अहं" शब्द से, बोध्य अर्थात् जिसके प्रति कहा जाय उसे "त्वं" शब्द से और अन्य सारे तटस्थ व्यक्तियों को "इदम्" शब्द से संस्कृत में कहा जाता है। इन्हीं का नाम संस्कृत व्याकरण की परिभाषा में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और प्रथमपुरुष होता है। भाषान्तरों में यह तीनों प्रकार का व्यवहार इसी तरह चलता है। इसी व्यवहार के अनुरोध से गीता के वचन में भी तीनों को पृथक्-पृथक् गिनाकर तीनों की नित्यता स्थापित की गई है। मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं था, अर्थात् सर्वदा ही था। तुम कभी नहीं थे, यह भी नहीं, अर्थात् सदा ही थे, ये सारे राजा भी कभी नहीं थे, ऐसा नहीं, यह भी थे और हम सब आगे कभी न होंगे यह भी नहीं कहा जा सकता अर्थात् सदा ही रहेंगे। जैसे वर्तमान में हैं, ऐसे ही पहिले भी थे और आगे भी रहेंगे। इसलिए त्रिकाल सत्तावाली नित्यता सिद्ध हो जाती है। इस अंश में कई प्रकार की युक्तियाँ भी इस वचन में सूचित कर दी गई हैं। पहिली युक्ति यही है कि हम सब यदि पहिले न होते तो आज भी न होते। बिना बीज और प्रयोजन के किसी की उत्पत्ति नहीं होती, यह संसार का स्थिर नियम है। पूर्व कृत कर्म ही हम सबकी उत्पत्ति का बीज है। साथ ही पूर्व कृत कर्मों का फल भोग ही इस जन्म का प्रयोजन है। यदि पूर्व कृत कर्म न होता तो यह जीवन न मिलता, इससे पूर्व जन्म सिद्ध हुआ। उस पूर्व जन्म से भी पहिले यदि शरीर न होता तो वह जीवन भी न मिलता, इसी क्रम

से जन्म परंपराओं पर दृष्टिपात करते करते कहीं अन्त न होने पर अनादिता सिद्ध हो जाती है। साथ ही जैसे पूर्वकृत कर्मों के अनुसार उनका फल भोग करने को यह जन्म मिला इसी प्रकार इस जन्म के कर्मों को बीज बनाकर उनके फल भोग के लिए आगे का और उसके कर्मों का बीज बनाकर उससे आगे का, इस प्रकार भविष्य जन्मों की भी परंपरा सिद्ध होकर अनन्तता भी निश्चित हो जाती है।

दूसरी युक्ति यह है कि यहाँ उपदेष्टा भगवान् हैं। वे अपने ही दृष्टान्त से जीवों की नित्यता स्थापित कर रहे हैं कि जैसे मैं सर्व नियन्ता सर्वेश्वर कभी नहीं था ऐसा नहीं हो सकता। सभी ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर नित्य है, सदा ही रहता है। यदि ईश्वर भी किसी समय में नहीं था और फिर उत्पन्न हुआ तो उसको उत्पन्न करने वाला दूसरा ईश्वर सिद्ध होगा तब वही मुख्य ईश्वर माना जा सकेगा। प्रथम ईश्वर में से ईश्वरता जाती रहेगी। इसी प्रकार यदि उस पूर्व के ईश्वर को भी किसी पहिले ईश्वर ने पैदा किया तो वह तृतीय ईश्वर ही ईश्वर रह जायेगा। यों कहीं विश्राम न होने से "अनवस्था" दोष आ जायगा। जिस विचार में कहीं स्थिरता न हो उसे अनवस्था कहते हैं। इसलिए ईश्वर को नित्य मानना तो सभी ईश्वरवादियों को आवश्यक होता है। उसी दृष्टान्त से भगवान् कहते हैं कि जैसे मैं नित्य हूं, इसी प्रकार तुम सब भी नित्य हो। आगे चलकर गीता में बताना है कि जीव ईश्वर का ही एक अंश है। ऐसी स्थिति में अंशी के नित्य रहने पर अंश न रहे ऐसा नहीं हो सकता। जो लोग अंशांशिभाव न समझें या न मानें उन्हें भी यह तो मानना होगा कि ईशन अर्थात् नियन्त्रण करने वाला ही ईश्वर कहलाता है। जिनका नियन्त्रण करे वे यदि न हों तो नियन्त्रण किसका करेगा और बिना नियन्त्रण के ईश्वर शब्द की उपपत्ति भी उसमें कैसे होगी। इसलिए यदि ईश्वर है नित्य तो उसके नियन्त्रणीय जीव भी नित्य ही हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि कर्म भोग परंपरा या ईश्वर द्वारा विश्व की रचना पहिले मान ली जाय तो ये युक्तियां काम की होती हैं। किन्तु यदि इन दोनों सिद्धान्तों को ही न माना जाय और यही माना जाय कि अकस्मात् किसी व्यक्ति का कहीं भी जन्म हो जाता है। उसमें पूर्व कर्म वा ईश्वर का अड़ंगा लगाने की कोई आवश्यकता नहीं। तब आत्मा की नित्यता कैसे सिद्ध की जा सकेगी। इस पर वक्तव्य यह है कि जैसे इस समय अकस्मात् जन्म हो गया ऐसे पूर्व काल में भी क्यों न हुआ, अथवा उससे भी पहिले क्यों न हुआ और आगे भी ऐसे ही अकस्मात् क्यों न होगा। इसी क्रम से पीछे और आगे की ओर चलने से भी अनादिता और अनन्तता आ जायगी। दूसरी बात यह है कि यदि बिना कारण अकस्मात ही सब प्राणियों का जन्म होता है तो कोई रोगी, और कोई पूर्ण स्वस्थ, कोई बुद्धिमान् और कोई निर्बुद्धि, कोई बलिष्ट और कोई निर्बल, जन्म काल से ही ऐसी विषमताएँ क्यों होती हैं। ये भी अकस्मात्

होती हैं ऐसा कहना अपनी अनभिज्ञता का ही प्रकाशन करना है। जो अशिक्षित लोग जिस मशीनरी आदि का तत्व नहीं जानते वे मशीनों को, मोटर को, या ट्रेन को, अपने आप चलने वाली कहकर आत्मा का सन्तोष वा वंचना कर लिया करते हैं। शिक्षित मनुष्य तो शिक्षा द्वारा समझ जाते हैं कि संसार में जो कुछ होता है उसका कार्य-कारण भाव नियत है। अकस्मात् कोई बात कहीं नहीं होती। जैसे आज शुद्ध व्यवहार, गुरु के उपदेश या अपने परिश्रम से बुद्धि परिमार्जित होती है उसी प्रकार जन्मकाल में जिनकी बुद्धि परिमार्जित या अपरिमार्जित है उसके भी पूर्वोक्त ही कारण है। ऐसा विचार करने पर पूर्व जन्म परंपरा और उत्तर जन्म परंपरा मान ही लेनी पड़ती है। बिना कर्म किये किसी को फल नहीं मिलता और किये हुए कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है यह संसार दशा में ही प्रत्यक्ष अनुभव में आ जायगा। तदनुसार ही पूर्व जन्म और अग्रिम जन्म की कल्पना भी कर ही लेनी होगी और यों आत्मा की नित्यता सिद्ध हो जायगी।

जो धर्म या सम्प्रदाय पुनर्जन्म नहीं मानते उनकी ओर से इस व्यवस्था पर कई शंकाएँ उठाई जाती हैं। उनमें एक यह है कि जब कोई शासक राजा या कोई अदालत हमें किसी अपराध का दण्ड देते हैं तो यह स्पष्ट घोषित कर देते हैं कि तुमने अमुक अपराध किया था उसका यह दण्ड तुम्हें दिया जा रहा है। किन्तु जिन हमारे सुख दुःखों का पूर्वजन्म कृत पुण्य पाप का फल माना जाता है और ईश्वर को फल प्रदाता कहा जाता है वहाँ ईश्वर की ओर से कभी कोई ऐसी चेतावनी हमें नहीं मिलती कि तुम्हारे अमुक कर्म का यह फल दिया जा रहा है। तब बिना स्पष्ट ज्ञान के इन सुख दुःखों को पूर्व कृत कर्मों का फल कैसे माना जाय। इसका उत्तर होगा कि कर्म के फल दोनों प्रकार से मिलते हैं। एक शरीरधारी व्यवस्थापक के द्वारा दूसरे को फल मिलना यह भी एक प्रकार है। उसमें चेतावनी दे दी जाती है। किन्तु प्रकृति के द्वारा वा ईश्वरीय नियमों द्वारा जो फल मिलता है उसमें चेतावनी नहीं होती किन्तु केवल चेतावनी न होने से ही उसे कर्मफल न माना जाय यह नहीं हो सकता। पूर्व जन्म की बात जाने दीजिए इसी जन्म में अनेक आचरण या व्यवहार ऐसे हैं जिनका फल बहुत शीघ्र मिल जाता है और मनुष्य को अनुसन्धान भी हो जाता है कि मेरे अमुक कर्म का यह फल है। जैसे पहिले दिन भोजन के मात्रा से अधिक कर लेने पर तथा उसके दूसरे दिन खट्टी डकार या विरेचन आने पर वहाँ चेतावनी तो कोई नहीं देगा कि पहिले दिन अधिक भोजन का यह फल है किन्तु प्रकृति द्वारा फल अवश्य ही मिलेगा। हाँ, यहाँ मनुष्य के अनुभव में यह कार्य-कारण भाव आ जाता है कि पहिले दिन के अधिक भोजन का यह फल है किन्तु उत्कट कर्म न होने के कारण जहाँ शीघ्र फल नहीं मिलता, जैसा किन्तु धीरे धीरे रसांश बढ़ता जाता है और आगे कई दिन या कई महीनों के बाद जब उससे आमातिसार आदि रोग हो जाते हैं तब न कोई चेतावनी देता है न मनुष्य को अनुभव होता है कि किस किस दिन के अपथ्य का यह फल है किन्तु

वैद्य या डाक्टर बता देते हैं कि अमुक अमुक समय में जो इस इस प्रकार का अपथ्य हुआ उसका यह फल मिल रहा है। यहाँ तक कि बाल्यावस्था में किसी को किसी अंग में कोई चोट लग गई उसके प्रतिफल रूप में युवावस्था या वृद्धावस्था में दर्द होता है, इसे भी वैद्य या डाक्टर ही जान सकता है, इसलिए यह कोई आवश्यक बात नहीं कि चेतावनी होकर ही फल मिले। प्राकृतिक नियमों द्वारा फल मिलने में चेतावनी कहीं नहीं होती किन्तु कार्य-कारण भाव तो माना ही जाता है। इसी प्रकार जन्मान्तर के कर्मों का फल भी प्राकृतिक नियमानुसार मिलता है और वहाँ जैसे वैद्य या डाक्टर समझ लेते हैं उस प्रकार यहाँ भी कर्मविपाक शास्त्र के वेत्ता जान लेते हैं कि अमुक अमुक कर्म का यह फल है। इसलिए यह कोई युक्ति नहीं कि विना चेतावनी के कर्मफल ही न माना जाय। एक शंका यह भी की जाती है कि कुछ कीट जन्तु ऐसे होते हैं जिन्हें बीच में से काट देने पर उनके दो जन्तु बन जाते हैं। तब उन दोनों देहों में एक कर्म के द्वारा सुख दुःख कैसे होगा। किन्तु यह शंका भी उन्हीं के प्रति हो सकती है जो जीव को अणु या परिच्छिन्न मानते हों। व्यापक जीववाद में यह शंका उठ ही नहीं सकती क्योंकि कर्म का फल जीव के साथ सम्बद्ध रहता है। वह किसी भी शरीर में उसे प्राप्त हो सकता है। जीव व्यापक है। वह अनेक शरीरों में भी फल भोग सकता है। जैसे योग दर्शन में यह भी माना जाता है कि योगी अपने बहुत काल के भोग्य कर्मों को शीघ्र समाप्त कर देने के लिए अपने अनेक शरीर बना लेता है और उनके द्वारा शीघ्र सारे कर्मों का भोग समाप्त कर मुक्ति में चला जाता है। इस कारण कर्म फल भोग के इस दृढ़ सिद्धान्त में इन तुच्छ शंकाओं का कोई मूल्य नहीं। इस श्लोक में "अहं" "त्वं" और "इमे जनाधिपाः" यह भेद निर्देश देखकर द्वैतवादी टीकाकार इससे अद्वैतवाद का विरोध प्रदर्शित किया करते हैं कि भगवान् ने उपदेश के आरम्भ में ही जब ईश्वर और जीव का और जीवों का भी परस्पर भेद निर्देश किया तब गीता में अद्वैतवाद को कैसे मुख्य माना जा सकता है। किन्तु यह शंका भी व्यर्थ है क्योंकि जिसको उपदेश दिया जाता है वह तो अभी व्यवहार मार्ग में ही है, अद्वैत का निश्चय उसे कहाँ हुआ। अद्वैत का निश्चय हो जाने पर तो उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। फिर शोक मोहादि समूल नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जब तक शोक मोह है तबतक तो उपदेश्य जीव और व्यावहारिक द्वैतवाद में ही स्थित है, यह मानना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि से ही गुरु को भी उपदेश देना पड़ेगा। तभी वह समझेगा। धीरे धीरे समझा कर उसे अद्वैत मार्ग में लिया जायगा। इसलिए इस पथ में जो ईश्वर जीव का वा परस्पर जीवों का भेद भासित होता है वह व्यावहारिक दृष्टि का अनुवाद मात्र है। गीता के उपदेश का विधेय नहीं। विधेयांश तो इस पद्य का यही है कि जीव नित्य है। उसकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। इसलिए जीवात्मा की दृष्टि से मृतों और जीवितों का अनुशोचन अनुचित है।

द्वैतवादी व्याख्याकार यह भी शंका करते हैं कि यदि अद्वैत ही गीता को इष्ट हो तो उपदेश ही कैसे बने। क्यों कि उपदेश भी तो उपदेष्टा और उपदेश्य का भेद समझकर ही दिया जाता है। अपने आपको तो कोई उपदेश नहीं देता। यदि कहा जाय कि जिसे उपदेश देते हैं वह द्वैतमार्ग में है इसलिए उपदेश दिया जाता है तो यह बात भी नहीं बनती। क्योंकि उपदेष्टा भगवान् तो सर्वज्ञ हैं। उनमें तो अविद्या का स्पर्श भी नहीं। फिर वे क्यों द्वैत मानने लगे और क्यों उपदेश देने लगे। इसलिए ईश्वर और जीव का या परस्पर में जीवों का अद्वैत गीता को इष्ट नहीं। यही मानना पड़ेगा। किन्तु यह कथन भी एक आग्रह मात्र है। यह तो संसार में सर्वत्र देखा जाता है कि जो जिस विषय का पारंगत विद्वान् है वह उस विषय के अनभिज्ञ को शिक्षा देकर अपने समान अभिज्ञ बनाना चाहता है। जो स्वयं तैरने का पंडित है वह तैरना न जानने वाले को सिखाता है। इसलिए भगवान् की दृष्टि में अद्वैत है किन्तु अर्जुन की दृष्टि में अभी अद्वैत नहीं। अतः अर्जुन को शिक्षा देकर अद्वैत में लेना है इसमें अनौचित्य क्या हुआ? भगवान् सर्वज्ञ हैं तो वे यह भी तो जानते हैं कि ये जीव अभी अद्वैत से अनभिज्ञ हैं। जीवों की अनभिज्ञता यदि भगवान् न जानेंगे तो फिर वे सर्वज्ञ क्या हुए। यदि कहो कि अपने को सर्वज्ञ और जीवों को अनभिज्ञ मान लेने पर भी तो द्वैत हो गया। एक में दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। यदि एक में सर्वज्ञता और एक में अनभिज्ञता है तो अवश्य ही वे दो हैं, किन्तु विचार करने पर इस शंका का भी कोई स्थान नहीं। मायाकृत द्वैत तो सभी संप्रदाय मानते हैं। इसलिए माया में जो निबद्ध हैं उनकी दृष्टि में मायाकृत द्वैत है। वास्तविक ज्ञान अभी उन्हें प्राप्त ही नहीं। माया द्वैत फैलाती है इस बात को भगवान् जानते हैं। जानते क्या हैं, उन्हीं की आज्ञा से तो प्रपंच चलाने के लिए माया ने द्वैत विस्तार किया है। तब अनुग्रहवश माया के बन्धन से निकाल कर शोक मोह से विमुक्त करने के लिए यदि जीवों को अद्वैत मार्ग का उपदेश भगवान् देते हैं और उसमें उनकी दृष्टि के अनुसार ही पहिले द्वैत का अनुवाद यदि कर देते हैं तो इसमें कोई विरोध नहीं होता, न इससे यही सिद्ध हो सकता है कि भगवद्गीता अद्वैत की विरोधिनी है। तात्पर्य यह कि यह आरम्भ का पद्य न अद्वैत का प्रतिपादक है न उसका विरोधी है। यह तो केवल शोक मोह निवारणार्थ जीव की नित्यता बताता है। आगे क्रम से अद्वैत में प्रवेश कराया जायगा।

त्रयोदश-पुष्प

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ अ० २ श्लो० १३

पूर्व प्रवचन में कहा गया कि आत्मा के नित्य होने के कारण अपने बान्धवों को मारने का अनुशोचन व्यर्थ है। अब यदि यह प्रश्न हो कि आत्मा नित्य सही, किन्तु शरीर से तो वियोग होता ही है। इसी के लिए अनुशोचन किया जाता है। मनुष्य लोक में हम लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध तो शरीर के साथ ही हैं। आत्मा जब शरीरान्तर ग्रहण करेगा तो उसके साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। कदाचित् कहा जाय कि मृत शरीर के साथ भी तो सम्बन्ध नहीं रहता तो मानना होगा कि आत्म-विशिष्ट शरीर के साथ सम्बन्ध है। जब शरीर जाता रहा तो विशिष्ट का भी अभाव हो ही गया। इसलिए अपना सम्बन्ध विच्छिन्न होने से अनुशोचन व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। इसका उत्तर इस श्लोक से देते हैं। श्लोक का आशय है कि शरीर तो सदा ही परिवर्तनशील है। उसका विनाश और उत्पत्ति तो एक ही जीवन में भी होते रहते हैं। बाल्यावस्था का शरीर युवावस्था में नहीं रहता। युवावस्था का वृद्धावस्था में नहीं रहता। कदाचित् कहो कि बढ़ना घटना मात्र होता है, शरीर तो एक ही है तो यह कहना युक्ति सिद्ध नहीं। उत्पन्न होने के समय का एक वितस्ति मात्र का शरीर और युवावस्था का साढ़े तीन हाथ का शरीर एक कैसे हो सकते हैं। एक अवस्था के कोई भी अवयव दूसरी अवस्था में पहिचाने नहीं जा सकते। शरीर-शास्त्र के विद्वान् वैद्य, डाक्टर आदि भी परीक्षा द्वारा निश्चित कर सकते हैं कि शरीर के सारे अवयव रस रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा आदि पहिले-पहिले तो विनष्ट होते रहते हैं और नवीन, अन्न पानादि से, उत्पन्न होते रहते हैं। तब किस आधार पर शरीर को एक कहा जायगा। ऐसी स्थिति में भी पूर्व शरीर का नाश और शरीर की उत्पत्ति होते रहने पर भी बालक से युवा होता देखकर या युवा से वृद्ध होता देखकर कोई अनुशोचन नहीं करता, प्रत्युत आनन्द मनाते हैं कि अब हमारा बन्धु इतनी अवस्था का हो गया। तब फिर मृत्यु में ही अनुशोचन क्यों ? जैसे जीवित दशा में पहिले-पहिले शरीरों का नाश और उत्तरोत्तर शरीरों को उत्पत्ति होती रही थी वैसा ही तो मृत्यु में भी होता है। यहां भी एक शरीर हट जाता है और दूसरा मिल जाता है। तब यदि अवस्था परिवर्तन में अनुशोचन नहीं है तो शरीर परिवर्तन में भी वह कैसे उचित माना जायगा। यदि कहा जाय कि बाल्य यौवन आदि में तो "यह वही शरीर है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती रहती है, अतः उसे एक कहा जा सकता है। किन्तु मृत्यु के अनन्तर शरीरान्तर ग्रहण होने पर वैसी

प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, अतः वहाँ नाश माना जाता है। तो उत्तर होगा कि यह तो अपना ही दोष है। प्रत्यभिज्ञा तो एक प्रकार के ज्ञान का नाम है। बुद्धि की निर्मलता में प्रत्यभिज्ञा होती है, मलिनता में नहीं होती। जिसकी बुद्धि अधिक मलिन हो जाती है वह बाल, युवा, वृद्ध आदि में भी पहिले की स्मृति नहीं कर सकता और उसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। जिसने उत्तम आचरण तथा योग और उपासना आदि के द्वारा बुद्धि को अति निर्मल कर लिया उसे शरीरान्तर ग्रहण होने पर भी प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। इसी से बहुत से व्यक्ति पूर्व जन्म का स्मरण कर लेते हैं। उन्हें संस्कृत में "जाति स्मर" कहा जाता है। वस्तुतः शरीर के परिवर्तनशील होने पर भी जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसका कारण आत्मा की एकता ही है। एक आत्मा से परिगृहीत होने के कारण शरीर भेद होने पर भी प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। वह एक आत्मा का परिग्रह शरीरान्तर होने पर भी बना रहता है, इसलिए वहाँ प्रत्यभिज्ञा न होना अपना ही बुद्धि मालिन्य रूप दोष है। अतः इस प्रकार का अनुशोचन स्व-बुद्धि मालिन्य के ही कारण होगा, वह वास्तविक नहीं कहा जा सकता। यही बात श्लोक के "देहिनः" पद से कही गई है। "देही" का अर्थ है आत्मा। उस आत्मा की एकता के कारण जैसे बाल्य यौवन, वार्द्धक्यादि अवस्थाओं में एकता का प्रतिभास है वैसा जिन धीर तथा विद्वान् पुरुषों को देहान्तर प्राप्ति में बुद्धि की स्वच्छता के कारण एक रूपता का प्रतिभास रहे वे इस मोह रूप अनुशोचन में नहीं पड़ सकते।

जो इस बात के आग्रही हों कि जब तक एक शरीर है तब तक तो एकता का प्रतिभास उचित ही है। देहान्तर में विनाश और उत्पत्ति के सर्व जनानुभव में प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण वहाँ एकता नहीं बन सकती, उनके लिए यह युक्ति भी संस्कृत के ग्रन्थकार उपस्थित करते हैं कि स्वप्न में अनेक बार मनुष्य अपने आपको रीछ या वानर के रूप में देखा करता है और जागृत होने पर उस शरीर का अनुभव नहीं रहता, तब भी स्वप्न में देखे हुए अपने शरीर के नष्ट होने का कोई अनुशोचन उसे नहीं रहता। फिर देहान्तर प्राप्ति में जो अनुशोचन है वह अज्ञान-जनित ही कहा जायगा।

इसी बात से शरीर के अतिरिक्त आत्मा मानना भी युक्ति पूर्वक सिद्ध हो जाता है। क्योंकि बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य में जब पूर्वोक्त युक्तियों से शरीर भेद सिद्ध हो गया तब यदि शरीर ही आत्मा होता तो बाल्यदशा के अनुभव का स्मरण यौवन और वार्द्धक्य में नहीं हो सकता था। क्योंकि जो अनुभव करता है उसे ही स्मरण हो सकता है। दूसरे के अनुभव का स्मरण दूसरे को कभी नहीं होता स्मरण सबको होना अनुभव सिद्ध है। "मैं बाल्यावस्था में पिता, माता, बाबा आदि की गोद में खेलता था, आज पुत्र, पौत्रों को अपनी गोद में खिलाता हूँ" इस प्रकार का अनुसन्धान सभी किया करते हैं। शरीर ही यदि ज्ञान का आश्रय माना जाय तो यह स्मरण कैसे हो सकता है। क्षणिक विज्ञान को ही जो आत्मा मान लेते हैं, उन बौद्धों के सामने भी सबसे बड़ी

आपत्ति यही उपस्थित होती है कि देखने वाला विज्ञान दूसरा था और स्मरण करने वाला दूसरा है, तब स्मृति कैसे होगी। इसके समाधान के लिए विज्ञान की एक धारा अर्थात् उसका प्रवाह माना जाता है। किन्तु वहाँ भी पूछा जाता है कि वह धारा या प्रवाह इन क्षणिक विज्ञानों से अलग कोई वस्तु है या एतद् रूप ही है। यदि अलग कहा जाय तो दूसरे शब्दों में आत्मा को ही स्वीकार कर लिया गया। विज्ञान प्रवाह या आत्मा यह नाम मात्र का भेद रहा जो अकिंचित् कर है। नाम रखना तो स्वेच्छाधीन है। वस्तु तो पृथक् सिद्ध हो गई। यदि प्रवाह को भी विज्ञान रूप या क्षणिक ही कहा जाय तो वही दोष यहाँ भी आ गया कि दूसरे के देखे हुए दृश्य का स्मरण अन्य को क्यों होगा? अतः यह अवस्थान्तर में होने वाली स्मृति शरीर से अतिरिक्त आत्मा को अवश्य सिद्ध कर देती है, और वह अतिरिक्त आत्मा नित्य ही सिद्ध होता है। तभी पूर्वावस्था का स्मरण उत्पन्न होता है। यदि यह शंका हो कि फिर जन्मान्तर में भी आत्मा की एकता के कारण सबको स्मृति क्यों नहीं हो जाती तो वही पूर्वोक्त उत्तर होगा कि बुद्धि की मलिनता के कारण संस्कार नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए स्मृति नहीं होती। जो बुद्धि को स्वच्छ बना लेते हैं उन्हें स्मृति हो ही जाती है। इस प्रकार यह उपदेश वाक्य दोनों काम करता है, शरीर से अतिरिक्त आत्मा को बतला देता है उसकी नित्यता के कारण अनुशोचन को व्यर्थ बता देता है और शरीर मात्र पर निर्भर रहने पर भी प्रतिक्षण उसका उत्पाद तथा विनाश होते रहने के कारण दुःख करना व्यर्थ है, यह स्पष्ट कर देता है।

यहाँ "देहिनः" इस एक वचन से समस्त देहों में एक ही आत्मा है यह ध्वनि अनेक अद्वैतवादी व्याख्याकारों ने निकाली है। किन्तु वह दुर्बल ही प्रतीत होती है, क्योंकि आगे "अस्मिन् देहे" यह के लिए भी एक वचन ही प्रयुक्त हुआ है। एक देह में एक आत्मा का होना तो सभी मानते हैं। समस्त देहों में एक ही आत्मा है ऐसा इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध नहीं होता। वह तो आगे के वचनान्तरों से ही सिद्ध करना होगा। अब आगे पुनः नई जिज्ञासा का उदय होता है कि युक्तियों से आत्मा को नित्य मान लिया जाय और शरीर को प्रतिक्षण विनाशी मान लिया जाय यह सब कुछ सही, किन्तु बन्धुओं के वियोग में दुःख तो सबको होता है। वह दुःख तो भीष्म दुर्योधनादि के निधन में होगा ही। ऐसी स्थिति में यह नित्यता या देह की क्षणिकता का उपदेश वहाँ क्या कर सकेगा। इसका उत्तर भगवान् अग्रिम पद्य से देते हैं कि—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥" अ० २ श्लोक १४

इसका आशय है कि ऐसे दुःख तो शरीर रहते तुम्हें सदा ही होते रहेंगे। उनका तो सहन कर लेना ही एकमात्र उपाय है। हाँ, तत्वज्ञान एक ऐसी वस्तु

है कि जिसके प्राप्त हो जाने पर यह दुःख नहीं हो सकते। ये ही क्या, संसार के भिन्न भिन्न प्रकारों के कोई भी दुःख तत्व ज्ञानी के पास नहीं आ सकते। उस तत्व ज्ञान का ही प्रकार इस पद्य में भगवान् बतलाते हैं कि पहिले इन सुख तथा दुःखों की उत्पत्ति का कारण सोचना चाहिए। यहाँ "मात्रा" शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने इन्द्रिय ही किया है। इन्द्रियों का विषयों के साथ स्पर्श अर्थात् सम्बन्ध होने पर शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि की उत्पत्ति होती है। इस लिए संयोगज होने के कारण इन्हें वास्तविक नहीं कहा जा सकता। जो वस्तु दो के सम्बन्ध से बनती है वह नित्य नहीं हो सकती। संयोगज वस्तु के नित्य होने का कोई दृष्टान्त नहीं है। जो वस्तु दो के संयोग होने पर पैदा होगी वह उन दोनों का वियोग होने पर नष्ट भी हो जायगी। ऐसी आने और जाने वाली वस्तुओं के लिए कोई अनुशोचन व्यर्थ है। तात्विक विचार से उन वस्तुओं की कोई सत्ता ही नहीं और क्षणिक अनुभव मात्र के विचार से यदि उनकी सत्ता मान ली जाय तो उनका कोई प्रतीकार नहीं। इसलिए सहन कर लेना ही एक मात्र उपाय हो सकता है।

तात्पय यह कि जब तक तुम्हारे शरीर इन्द्रिय आदि हैं तब तक इनका विषयों के साथ सम्बन्ध भी अवश्य होता ही रहेगा। अथच उस सम्बन्ध की अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख भी होता ही रहेगा। यह सुख दुःख की धारा शरीर और इन्द्रियों के रहते दूर नहीं की जा सकती। किसी के वियोग का दुःख न भी हो तो भी शीत उष्ण आदि का सुख दुःख तो अनिवार्य ही है। उसका क्या प्रतीकार किया जा सकता है। सहनशीलता ही उसका एकमात्र उपाय है। ऐसा देखा भी जाता है कि सहन कर लेने से ही वे दुःखादि निवृत्त हो जाते हैं। शीतोष्ण वा बन्धु वियोग आदि का दुःख जो आरम्भ में उत्कट रूप से प्रतीत होता है वह उसकी उत्कटता आगे चलकर नहीं रहती। धीरे धीरे वह दुःख शिथिल होता जाता है। इसी प्रकार सुख जनित उल्लास भी जो आरम्भ के क्षण में होता है वह आगे वैसा नहीं रहता। इससे सिद्ध है कि सुख दुःख दोनों ही सहन करने से शिथिल होते हुए अन्त में विलीन हो जाते हैं। तब सहनशीलता ही इनका एकमात्र उपाय है, यह सिद्ध हो जाता है। सहनशीलता के साथ तत्व विचार करते करते वह अवस्था भी आ जाती है कि फिर इन शीतोष्ण, बन्धु-वियोग, आदि के कारण सुख दुःख उत्पन्न ही नहीं होते। वही अवस्था प्राप्त करना अपना ध्येय रखना चाहिए तथा उसके उपाय के लिए प्रथमतः "तितिक्षा" अर्थात् सहनशीलता का अभ्यास करना चाहिए जिस प्रकार शीत उष्ण आदि का सहनशीलता ही एकमात्र उपाय है, उसी प्रकार बन्धु वियोगादि का भी सहनशीलता ही उपाय है। क्योंकि बान्धवादि का संयोग तथा वियोग भी अनिवार्य है। किसी के साथ सदा समागम रह नहीं सकता। तब अवश्यंभावी अर्थ में अनुशोचन व्यर्थ ही है।

इस पद्य में एक यह भी विज्ञान प्रकट किया गया है कि शीत उष्ण आदि

भी किसी वस्तु के धर्म नहीं, अपितु संयोगज हैं। किसी वस्तु का हमारी त्वगिन्द्रिय के साथ संयोग होने पर चर्म में व्याप्त त्वगिन्द्रिय में यदि संकोचन हो तो उसे हम शीत कहा करते हैं और यदि किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध होने पर चर्म का विकास या फैलाव होने लगे तो उसे उष्ण कहा जाता है। इसी प्रकार रूप रस आदि की भी स्थिति समझना चाहिए। भिन्न भिन्न वस्तुओं में रहने वाली प्राणशक्ति प्रकाश किरणों के साथ मिलकर जब हमारी चक्षु का स्पर्श करती है तब हमें रूप की अभिव्यक्ति हो जाया करती है। उस प्राण शक्ति की विभिन्नता से ही भिन्न-भिन्न रूप अभिव्यक्त होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जो यह मानते हैं कि प्रकाश किरणों में सातों रूप हैं उनमें से और सबको खाकर जो वस्तु जिस रूप को उगलती है वही रूप हमें प्रतीत होता है। इस कल्पना में भी कौन वस्तु किन रूपों को खा जाती है और किस रूप को उगलती है इस के लिए वस्तु शक्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी। तब वह वस्तुशक्ति ही प्रकाश किरणों में मिलकर रूप की अभिव्यक्ति करा देती है ऐसा मानना ही विशेष युक्तियुक्त होगा। इसी प्रकार भिन्न भिन्न वस्तुओं का रसनेन्द्रिय के साथ संयोग होने पर जो अभिव्यक्ति होती है उसे रस कह दिया जाता है। इस प्रकार यह रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द सब संयोग जन्य हैं। किसी वस्तु के धर्म नहीं। यह इस पद्य में उपदेश दिया गया है। यह मात्रा शब्द का अर्थ यदि सांख्य दर्शनोक्त शब्द स्पर्शादि पाँच तन्मात्राओं से किया जाय तब भी पद्य का तात्पर्य यही होगा कि वे तन्मात्राएँ शीत उष्ण रूप रसादि की अभिव्यक्ति करने वाली नहीं। अभिव्यक्ति तो उनका इन्द्रियों के साथ संयोग होने पर ही होती है। सांख्योक्त पाँच तन्मात्राएँ शक्ति विशेष रूप हैं। उनका इन्द्रियों से सम्बन्ध ही रूप रस गन्ध आदि की अभिव्यक्ति कराता है। इसलिए शीत उष्ण या उनके द्वारा उपलक्षित रूप रस आदि को संयोगज और आने जाने वाली इस श्लोक में बताया गया है। संयोगज पदार्थों की अनित्यता और अवास्तविकता का अनुसन्धान करते हुए सहनशीलता से इनकी व्यथा निवृत्त हो जाती है। उस व्यथा निवृत्ति का फल आगे के श्लोक में बताया गया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ अ० २ श्लोक १५

अर्थात् सब प्रकार के शीत उष्ण सुख दुःख आदि की सहनशीलता और तत्व ज्ञान से जब मन में व्यथा अर्थात् पीड़ा न हो और सुख और दुःख में मन एकसा बना रहे, इतनी धीरता हो जाने पर यह सहनशीलता मोक्ष का रूप बन जाती है। इसलिए तितिक्षा या सहनशीलता बहुत उच्च कोटि की वस्तु है। उसी का अभ्यास करना चाहिए। अनुशोचन करना व्यर्थ है।

चतुर्दश-पुष्प

संयोगज होने के कारण शीत उष्ण सुख दुःखादि अनित्य हैं, उनकी वास्तविक सत्ता भी नहीं, अतः उनका अनुशोचन व्यर्थ है यह पूर्व पद्यों के प्रवचन में कहा गया। यहाँ यह प्रश्न होता है कि संयोगज होने के कारण अनित्यता मान लेना तो ठीक हो सकता है, किन्तु वास्तविक सत्ता इनकी क्यों नहीं यह समझ में नहीं आता। संसार में बहुत से पदार्थ संयोग जन्य हैं और वे अपनी वास्तविक सत्ता रखते हैं। बहुत से कार्य उनसे चलते हैं और उनका अनुशोचन भी बुद्धिमान् और मन्दमति सभी करते हैं। पहिले शरीर को ही लीजिए यह रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है, इस बात को सभी जानते हैं और उसकी वास्तविक सत्ता का अनुभव भी सभी करते हैं। अनुशोचन भी जगत् में उसी का सम्बन्ध लेकर होता है। कोयला और शोरा मिलाकर बारूद तैयार होती है। वह संयोगज है और बड़े-बड़े पहाड़ भी उससे उड़ा दिये जाते हैं, तब उसकी वास्तविक सत्ता न मानना तो एक उपहासास्पद बात होगी। दूध की मलाई वायु और दुग्ध के संयोग से उत्पन्न है। ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त हैं जिनकी वास्तविक सत्ता न होना कोई भी बुद्धिमान स्वीकार न करेगा और वास्तविक सत्ता उनकी यदि है तो सर्वथा अशोच्यता कैसे सिद्ध होगी। इसे सन्देह के निराकरण के लिए भगवान् दर्शनों के सार को एक पद्य में कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥ अ० २ श्लो० १६

यह पद्य दर्शनों का सर्वस्व है। अपनी-अपनी प्रक्रिया के भेद से सांख्य और वेदान्त दोनों ही इसे अपना आधार बनाते हैं। इसका अर्थ है कि "जो असत् वस्तु है उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती और जो सत् वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। तत्व द्रष्टा लोग इन दोनों बातों का अन्ततक विचार कर सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं।" तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी सत्ता है उसकी भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में ही सत्ता रहेगी और किसी एक काल में जिसकी सत्ता न रही, उसकी किसी काल में भी न समझो। इससे त्रैकालिक सत्य ही वास्तविक सत्य पदार्थ है। कभी-कभी भासित होने वाले पदार्थ वास्तविक सत्ता नहीं रखते।

सांख्य दर्शन में इसी के आधार पर सत्कार्यवाद माना जाता है। उनका कहना है कि नया कार्य कोई भी उत्पन्न नहीं होता। जो पहिले से है उसकी ही अभिव्यक्ति मात्र होती रहती है। तिलों में तैल पहिले से है, उसे ही यंत्र में पेल कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। दही में मक्खन व्याप्त है, उसे ही

बिलो कर प्रकट कर दिया जाता है। जब आप किसी शिल्पी से एक राम या कृष्ण की या शेर, हिरण आदि की प्रतिमा बनाने को कहते हैं तो वह एक बड़ा पत्थर लेता है और अपने औजारों से पत्थर के अंशों को टांच कर आपकी पसन्द की प्रतिमा को उसी पत्थर में से प्रकट कर देता है। बाहर से कुछ नहीं लाता। इससे यही सिद्ध होता है कि तैल, घृत, प्रतिमा आदि पहिले से ही उन पदार्थों में विद्यमान थे, उन पर अन्य अवयवों का एक आवरण पड़ा हुआ था। उस आवरण को हटाकर उन्हें प्रकट कर दिया गया। नई वस्तु कोई नहीं बनाई गई। इन्हीं दृष्टान्तों से सर्वत्र सत्कार्यवाद समझ लेना चाहिए। मृत्तिका से घड़ा या सुराई बनाने में भी नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती अपितु मृत्तिका की चूर्ण, पिण्ड, घट, शराव आदि अनेक अवस्थाएँ हैं, एक अवस्था जब तक रहे, वह दूसरी अवस्थाओं को दबाये रहती है अर्थात् उनको ढांके रखती है, बनाने वाले एक अवस्था को हटाकर दूसरी अवस्था को प्रकट कर देते हैं। इसी प्रकार तन्तु से पट बनाना, स्वर्ण-पिण्ड से कटक कुण्डल, हार आदि का निर्माण करना भी एक अवस्था को दबाकर दूसरी अवस्था प्रकट कर देना मात्र ही है। असत् वस्तु का उत्पादन कहीं नहीं है। संयोगज पदार्थों के जो दृष्टान्त दिये गए हैं उनमें भी अंशतः जो तत्व या शक्ति कई जगह बिखरी हुई थी उनको एक जगह एकत्रित कर प्रकट कर दिया जाता है। नई वस्तु नहीं बनाई जाती। रज और शुक्र में अंशतः रहने वाले शरीर के अवयवों को एकत्रित कर दिया है, बारूद में भी कोयले और शोरे में अंशतः रहने वाली ध्वंसक शक्ति को एकत्रित कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। मलाई में भी प्रखरता वायु का अंश है और द्रवता दुग्ध का अंश अब भी बना हुआ है। दोनों का सम्मिश्रण मात्र हुआ है, नई वस्तु कोई उत्पन्न नहीं हुई। इसी प्रकार विनाश जिसे कहते हैं वहाँ भी वस्तु का अभाव नहीं होता; अवस्था परिवर्तन मात्र हो जाता है। जैसा कि शीतकाल में सरोवर में जो जल भरा हुआ था वह ग्रीष्म में सूख गया, इससे उसका अभाव नहीं समझा जा सकता; किन्तु वह द्रवावस्था से वाष्प (भाप) की अवस्था में चला गया; फिर वर्षा में घनीभूत होकर द्रवावस्था में आ जायगा। यही अवस्थाओं का चक्र चलता रहता है। सत् का अभाव वा असत् उत्पत्ति नहीं होती।

न्याय दर्शन में जो घट पटादि नये अवयवी अवयवों से उत्पन्न माने जाते हैं वह प्रारंभिक दशा में सिखाने की प्रक्रिया मात्र हैं। उनकी जो युक्ति है कि नाम, रूप और क्रिया तीनों नये बन जाते हैं, इसलिए नये पदार्थ की उत्पत्ति मान लेना चाहिए। घट का जैसा रूप अर्थात् आकार घटावस्था में बना वैसा पहिले नहीं था। आगे घड़ा फूट जाने पर भी न रहेगा। "घट" यह नाम भी न पहिले था न उसके नष्ट होने पर ही रहेगा। जल भर कर लाना यह कार्य भी घट से ही होता है, पूर्व सिद्ध मृत्तिका से नहीं। शरीर को ढक कर शीत निवारण करना वस्त्र का ही काम है सूत का नहीं। इसलिए घट पट

आदि नई वस्तु बनी यही मानना उचित है। "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः" वाला सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता! इसका अर्थ यदि किया जाय तो इतना ही हो सकता है कि भाव और अभाव दोनों अलग अलग वस्तु हैं। वे एक दूसरे के रूप में परिणत नहीं हो सकतीं। अर्थात् भाव कभी अभाव के रूप में नहीं जा सकता और अभाव भाव के रूप में नहीं आ सकता। किन्तु नये नये भाव तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनका अभाव अर्थात् विनाश भी होता ही रहता है। इसका उत्तर सांख्य सिद्धान्त में यह दिया जाता है कि एक एक मनुष्य में सेना शब्द का व्यवहार नहीं होता, किन्तु उनका समुदाय होने पर वह सेना शब्द से कहा जाता है। एक मनुष्य उतना स्थान नहीं घेर सकता किन्तु सेना बहुत बड़ा स्थान घेर लेती है। इससे रूप अर्थात् सन्निवेश का भेद भी सिद्ध है और एक मनुष्य किसी बड़े पत्थर या छप्पर को नहीं उठा सकता परन्तु समुदाय मिलकर यह कार्य कर लेता है। इस प्रकार नाम, रूप, कर्म तीनों नये होने पर भी सेना या समुदाय मनुष्यों से भिन्न कोई अलग वस्तु है—यह कोई बुद्धिमान व्यक्ति शायद स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार वृक्ष वन को भो समझा जा सकता है। नैयायिक भी सेना और वन को मनुष्यों या वृक्षों से पृथक नहीं मानते। बस, यही बात घट पट आदि पदार्थों में भी है। वहाँ भी सन्निवेश रूप अवस्था से नये नाम रूपों का व्यवहार हो जाता है। एक मृत्तिका का कण भी जल का कुछ अंश धारण कर ही लेता था, समुदाय हो जाने पर अधिक जल का आहरण उसके द्वारा हो जाता है। एक तन्तु भी शरीर के कुछ हिस्से को ढाँक सकता था, समुदाय हो जाने पर संपूर्ण शरीर का ढँकना उनके द्वारा संभव हो जाता है। इससे मृत्तिका या तन्तु की अपेक्षा घट और वस्त्र का उसी प्रकार भेद सिद्ध नहीं होता जिस प्रकार मनुष्य और सेना का या वृक्ष और वन का।

इस पर नैयायिक फिर एक प्रबल युक्ति देते हैं कि छोटे से बड़ा बनना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारण धारा का अन्वेषण करने पर अन्त में एक ऐसा पदार्थ मानना पड़ता है कि जिससे छोटा कोई हो ही न सके। अर्थात् जिसके अवयव न हों, उसकी परमाणु संज्ञा है। वह अतिसूक्ष्म होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता इसलिए उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। आगे उनके मिलने से क्रमशः जो बड़े बड़े पदार्थ बनते हैं वे अवयवी कहलाते हैं। अब यदि नवीन पदार्थ की उत्पत्ति न मानी जाएगी तो घट, पट, वृक्ष, पर्वत आदि सभी को परमाणुओं का एक एक पुंज कहना होगा और परमाणु के अतीन्द्रिय होने के कारण उनके समूह भी अतीन्द्रिय होंगे। तब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। किन्तु प्रत्यक्ष तो सभी पदार्थों का होता है, इसलिए परमाणुओं से दृश्य पदार्थ अतिरिक्त बने यह मानना ही पड़ेगा। दूसरी प्रबल युक्ति वे यह देते हैं कि यह एक घट है, एक पट है, इत्यादि रूप से जो एकत्व की प्रतीति होती है उसका फिर आधार क्या होगा। क्योंकि अवयव

तो एक हैं नहीं, वे तो बहुत हैं। तब यही मानना होगा कि बहुतों से मिलकर कोई एक वस्तु बनी है जिसमें एकत्व की हमें प्रतीति हो रही है। किन्तु इन सारी युक्तियों को भी सांख्य और वेदान्त के विद्वान् नहीं मानते। वे कहते हैं कि आरम्भवाद अर्थात् छोटे से बड़ा बनना यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। परिणाम के द्वारा भी वस्तु से दूसरी वस्तु की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसा कि दूध से दही का निर्माण। यहाँ भी यह कल्पना करना कि दूध के परमाणु अलग अलग होकर दूध का विनाश हो गया और फिर उनमें उष्णता के संयोग से नये रूप रसादि उत्पन्न होकर दही के परमाणु प्रकट हुए, तब दही उत्पन्न हुआ, इस प्रकार की कल्पनाएँ बिलकुल निस्सार और प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। एक व्यक्ति निरन्तर अपनी दृष्टि जमाकर उस दूध को देखता रहे तो ऐसा कोई अवसर उसकी दृष्टि के सामने नहीं जावेगा जब दूध परमाणु रूप होकर अतीन्द्रिय हो गया हो। वह देखेगा कि दूध ही धीरे धीरे दधि रूप में परिणत हो रहा है। इसलिए यह मूलभित्तिरूप परमाणुवाद ही युक्ति सिद्ध नहीं ठहरता और परमाणुओं को अतीन्द्रिय मान लेना भी एक अपनी परिभाषा मात्र है। सूक्ष्मता के कारण एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो सके तो भी समूह होने पर उनका प्रत्यक्ष हो सकेगा। जैसे हमें दूर से एक केश या एक चींटी दिखाई नहीं देती, किन्तु समूह होने पर वे दिखाई दे जाती हैं। इसी प्रकार परमाणु पुंज रूप घट पट वृक्ष पर्वत आदि का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष में महत्व (बड़ापन) कारण है। इस महत्व का आधार क्या मानेंगे ? क्योंकि परमाणुओं के अतिरिक्त कोई द्रव्य आप स्वीकार नहीं करते और परमाणुओं में महत्व है नहीं तो यह शंका भी निराधार है। क्योंकि अणुत्व या महत्व कोई खास गुण नहीं। वे तो प्रदेशावगाह के एक नाम विशेष हैं। जो अधिक प्रदेश में फैले उसे महान् कह दिया जाता है और अल्प प्रदेश में रहे उसे अणु कह दिया करते हैं। समूह जब अधिक प्रदेश में फैलेगा तब वही महान् कहला जायगा और प्रत्यक्ष की योग्यता भी उसमें हो जायगी। इसी प्रकार समूह के एक होने के कारण एकत्व बुद्धि भी बन जाती है। एक सेना है, एक वन है, यह भी तो प्रतीति होती ही है, वहाँ तो कोई एक नई वस्तु नहीं बनी। समूह को एक बुद्धि में गृहीत घट पट आदि समूहों में भी एकत्व बुद्धि बन जायगी। इस पर नैयायिक कहते हैं कि तुम्हारे मत से यह एकत्व प्रतीति काल्पनिक हुई और कल्पना उसी वस्तु की हो सकती है जो कहीं अपने असली रूप में विद्यमान भी हो। जैसा कि सिंह एक प्राणी संसार में है। उसके आधार पर हम एक वीर पुरुष को भी सिंह कह देते हैं। किन्तु वास्तविक सिंह यदि संसार में होता ही नहीं तो किसी मनुष्य को सिंह कहने का भी अवसर हमें नहीं मिलता। आपके मतानुसार एकत्व की प्रतीति कहीं भी वास्तविक नहीं है क्योंकि परमाणु का तो प्रत्यक्ष नहीं इसलिए उसमें एकत्व प्रतीति नहीं हो सकती। उसके अतिरिक्त नवीन वस्तु की उत्पत्ति आप मानते

नहीं, तब मुख्य एकत्व का ज्ञान कहीं भी नहीं होगा और मुख्य के बिना काल्पनिक ज्ञान भी युक्तियुक्त न हो सकेगा। इस शंका का भी सांख्य और वेदान्त दर्शन यह समाधान कर देते हैं कि मुख्य प्रतीति होने पर ही काल्पनिक प्रतीति हो, ऐसा कोई नियम नहीं। कल्पनाओं की परम्परा से भी काम चल जाता है। उत्तरोत्तर कल्पनाओं में पूर्व की काल्पनिक प्रतीति कारण बनती जाती है। जैसा की बीज गणित आदि में कोई अंक वास्तव में "अ" "ब" रूप नहीं होता किन्तु उनमें "अ" "ब" आदि की कल्पना से ही बहुत बड़ा शास्त्र बना लिया गया। इसलिए न्याय दर्शन की युक्तियाँ केवल प्रारंभिक शिक्षा के लिए उपयुक्त हैं, आगे गम्भीर विचार में वे सब युक्तियाँ नहीं ठहरतीं और "असत् की उत्पत्ति नहीं होती व सत् का विनाश नहीं होता" यह सिद्ध सुस्थिर बन जाता है। संयोगज पदार्थ भी अतिरिक्त नहीं ठहरते और उत्पत्ति तथा विनाश के अभाव में उनके आधार पर होने वाला अनुशोचन व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

पंचदश-पुष्प

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार उक्त पद्य के आशय का वर्णन विगत प्रवचन में हुआ। वेदान्त दर्शन के आचार्य इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते। वे आगे विचार करते हैं कि उक्त सिद्धान्त में अवस्थाओं का परिवर्तन माना गया है। तब यह विचार भी उपस्थित होगा कि अवस्थावान् द्रव्य से पृथक् हैं या तद्रूप। यदि पृथक् हैं तो नई नई अवस्थाओं की उत्पत्ति मानने से असत् का प्रादुर्भाव और पूर्वावस्था की निवृत्ति मानने से सत् का विनाश सिद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में उक्त सिद्धान्त की दृढता कहाँ रही और अवस्थावान् द्रव्य के साथ उनकी एकता मान ली जाय तब फिर नये नये घट-पटादि द्रव्यों की उत्पादना के लिए कारण व्यापार व्यर्थ हो जाता है। तैलावस्था भी यदि तिल से अभिन्न है तो तिलों के निष्पीड़न का प्रयोजन क्या? सांख्य वाले इसका समाधान भेदा-भेद मानकर करते हैं कि अवस्था भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त यही कहता है कि भेद और अभेद एक साथ रह नहीं सकते। इसलिए वे मानते हैं कि अवस्थाओं को अनिर्वचनीय कहना चाहिए। भेद या अभेद निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जैसे भिन्न या अभिन्न रूप से वे अनिर्व-चनीय हैं उसी तरह सत्व या असत्व रूप से भी अनिर्वचनीय ही हैं। अवस्थाओं को न सत् ही कहा जा सकता है, न सर्वथा असत् ही। सत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अवस्थावान् द्रव्य को छोड़ कर स्वतन्त्र उपलब्धि उनकी कभी नहीं होती, और द्रव्य के एक होने पर भी अवस्थाओं के द्वारा भेदावभास होता है इसलिए असत् भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी परतन्त्र अनिर्वचनीय वस्तु की वास्तविक सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिए वास्तविक सत् तो एक ही मूलतत्व है, वह कभी असत् नहीं हो सकता और अनिर्वचनीय रूप वास्तविक सत्ता न रखने वाली अवस्थाएँ जो सत् से पृथक् होने के कारण असत् ही कही जा सकती हैं वे वास्तविक सत् नहीं हो सकतीं। यही गीता के उक्त पद्य का मुख्य तात्पर्य है। व्यवहार में भी अवस्थाओं की वास्तविक सत्ता नहीं मानी जाती। इसका एक बहुत अच्छा दृष्टान्त लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में दिया है कि किसी धनिक ने स्वर्ण का एक बहुत सुन्दर आभूषण बनवाया। सौन्दर्य के लिए उसको गढ़ाई और जड़ाई में सुवर्ण के मूल्य से भी अधिक धन लगा दिया। दैवात् वह धनिक निर्धन हुआ और उस आभूषण को विक्रय के लिए सर्राफ के पास ले गया। उसे आभूषण का व्यय बताया तो सर्राफ ने यही कहा कि महाशय! गढ़ाई जड़ाई के व्यय की बात तो जाने दीजिए, सोने का असली दाम ले लीजिए। इससे स्पष्ट होता है कि व्यवहार में भी असली वस्तु सुवर्ण आदि द्रव्यों को ही माना जाता है। कटक कुंडल आदि उसकी

बनावटी अवस्थाएँ वास्तविक सत्य नहीं मानी जातीं। वे काल्पनिक मात्र हैं। यहाँ सुवर्ण की वास्तविक सत्ता मानी गई किन्तु जैसे कटक कुंडल आदि सुवर्ण की कल्पनाएँ हैं ऐसे ही सुवर्ण पर भी यदि विचार किया जाय तो वह तेज और पृथ्वी के अंशों से मिलकर बना है। वह भी वास्तविक नहीं, तेज और पृथ्वी के अंश ही वास्तविक सिद्ध होंगे। इस प्रकार क्रम से देखते चलिए जब कार्य अपने कारण से पृथक् सत्ता नहीं रखता तो पृथ्वी जल से जल तेज से तेज वायु से और वायु आकाश से पृथक् सिद्ध न होंगे। मूलतत्वान्वेषण में आगे बढ़ते बढ़ते आकाश अहंकारतत्व से अहंकार महत्तत्व से वह प्रकृति से और प्रकृति भी अपने मूल तत्व से पृथक् सिद्ध नहीं होगी। अतः अन्त में एक ही मूलतत्व सत् सिद्ध हो जाता है।

वर्तमान विज्ञान भी पहिले पृथक्त्व की परीक्षा करता हुआ तत्वों का विस्तार करता गया। भारतीय पंचभूतवाद को उसने अवास्तविक ठहराया। क्योंकि इन पाँच तत्त्वों में जिन अग्नि, जल, पृथ्वी आदि की गणना है वे परीक्षण करने पर मौलिक तत्व सिद्ध नहीं होते। जल आक्सीजन और हाईड्रोजन के मिश्रण से बना है। पृथ्वी तो बहुत से तत्वों के सम्मिश्रण से बनती है, अग्नि वायु भी संयोगज हैं इसलिए उसने मूलतत्व आक्सीजन हाईड्रोजन आदि को माना। इनकी संख्या बढ़ती गई और पचास नब्बे तथा धीरे धीरे सौ से भी ऊपर पहुँच गई। किन्तु विचार करते करते आज सिद्ध हो गया कि ये सब भी मूलतत्व नहीं, संयोगज या अवस्था विशेष ही हैं। इनमें भी परस्पर परिवर्तन होता है। मूलतत्व तो केवल दो हैं—इलैक्ट्रोन और प्रोट्रोन। ये भी दोनों एक ही मूलतत्व से निकले हैं यह भी अब मान लिया गया। भारतीय श्रुति शास्त्र तो "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" : प्रपंच विस्तार से पूर्व एक ही "सत्" था जो सजातीय विजातीय और स्वगत, इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित था: ऐसी घोषणा अनादिकाल से कर रहे हैं। आज घूमता घूमता पाश्चात्य विज्ञान भी वहीं पहुँचा। यह भारतीय सिद्धान्त का ही गांभीर्य है। किन्तु आर्ष विज्ञान जिसे एक मूलतत्व कहता है, वह अभी पाश्चात्य साइन्स की दृष्टि से बहुत दूर है। इलैक्ट्रोन और प्रोट्रोन के जो लक्षण बताये जाते हैं उनके अनुसार तो ये शतपथ ब्राह्मण में कहे हुए "यत्" और "जूः" नामक तत्व सिद्ध होते हैं। जिन्हें उक्त ब्राह्मण श्रुति ने यज्जुः नामका वेद, एक प्रकार का प्राण बताया है, और इन्हें वायु और आकाश की पूर्वावस्था रूप कहा है। वैदिक विज्ञान में ये सब क्षर पुरुष के रूप हैं। ये अक्षर से बनते हैं, अक्षर अव्यय से बनता है और अव्यय उस एक मूल तत्व का माया विशिष्ट रूप है। इसलिए भारतीय विज्ञान की बहुत श्रेणियाँ अभी बाकी हैं जिनका आभास अभी तक आधुनिक विज्ञान को नहीं मिला और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक विज्ञानो को साथ लिये बिना केवल भौतिक विज्ञान से मिल भी नहीं सकता। अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही है कि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वही एक मूल तत्व जो कि वाक् और मन से परे है वही वास्तविक सत्ता रखता

है जगत् या प्रपंच की सत्ता उसी के आधार पर काल्पनिक है। हमारी वाणी उस तत्व को नहीं कह सकती और मन भी उसे नहीं पहिचान सकता क्यों कि ये किसी गुण धर्म वाले पदार्थ को ही पहिचानते और कहते हैं, उस मूल तत्व में कोई गुण धर्म नहीं। गुण धर्म तो सब अवस्था विशेष रूप हैं। जो आगे पैदा होते हैं। इसमें शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी ने कर्पास सूत्र का दृष्टान्त दिया है। जैसे कपास में सूत नहीं, किन्तु सूत उसी से निकलते हैं। इसी प्रकार मूल तत्व में कोई गुण धर्म नहीं, किन्तु वे गुण धर्म कहीं बाहर से आते भी नहीं उसी में से प्रकट होते हैं। इसीलिए उनकी वास्तविक सत्ता नहीं कही जा सकती।

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि संसार में हमें जिन जिन पदार्थों की प्रतीति होती है उनका तो विनाश होने पर अभाव भी प्रतीत हो जाता है। इसलिए उक्त न्याय से उन्हें तो असत् कह दिया जायगा और जो एक मूल तत्व सत् कह कर माना गया उसकी प्रतीति होती नहीं तब किसी की भी सत्ता सिद्ध न होने से "शून्यवाद" का प्रसंग आ जायगा। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर इस प्रश्न का समाधान हो जाता है और शून्यवाद का प्रसंग नहीं आता। यद्यपि सत् पदार्थ की प्रतीति हमें पृथक् रूप से नहीं होती क्योंकि गुण धर्म न होने के कारण इन्द्रिय मन आदि की गति वहाँ नहीं है किन्तु जो पदार्थ प्रतीत होते हैं उन सब में अनुगतरूप से सत् की प्रतीति अवश्य हो रही है। "अस्ति घटः", "अस्ति पटः" : घट की सत्ता है, पट की सत्ता है : इस प्रकार "अस्ति" अर्थात् सत्ता सब में अनुगत प्रतीत होती है। इनमें घटपट आदिबुद्धियों का परिवर्तन होता है, किन्तु सत्ता बुद्धि का कभी परिवर्तन नहीं होता। यदि घड़ा फूट गया तो उसके खंड खंड हैं, इस प्रकार अस्ति बुद्धि खण्डों के साथ लग जाती है और उन्हें भी चूर चूर कर दिया जाय तो मृत्तिका है, इस प्रकार मृत्तिका के साथ अस्ति बुद्धि लग जाती है। मृत्तिका को भी पानी में गला दिया जाय तो कीच है यह अस्ति बुद्धि कीच के साथ लग जाती है। अन्ततः कुछ भी प्रतीति नहीं तो भी "नहीं है" यहाँ अभाव के साथ भी अस्ति बुद्धि लग जाती है। इसलिए अस्ति बुद्धि अर्थात् सत्ता का कभी अभाव नहीं होता और वह सत्ता ज्ञान से सिद्ध होती है, जब हम जानते हैं तब "है" यह कह सकते हैं। इसलिए ज्ञान का भी अभाव सिद्ध नहीं होता एवं सत्ता और ज्ञान दोनों हमें प्रिय हैं क्योंकि प्रत्येक प्राणी पदार्थों के संग्रह की भी सदा इच्छा रखता है और प्रत्येक वस्तु को जानने की भी उत्कण्ठा रखता है। इसलिए सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीनों मूल तत्व अर्थात् ब्रह्म के रूप सर्वत्र व्याप्त हैं और सदा अपरिवर्तनीय हैं। उन्हें ही "सत्" कहा जा सकता है। उनके साथ जो घट पटादि की दूसरी बुद्धि लगती हैं वे परिवर्तनशील होने के कारण मुख्य सत्ता नहीं रखतीं। उनकी सत्ता काल्पनिक है। सार्वाधार सत् पर ही वे सब कल्पित हुए हैं। ये तीनों एक के ही रूप हैं पृथक् पृथक् नहीं क्योंकि इनमें परस्पर भिन्नता प्रतीत नहीं होती। जो "है" वही जाना जाता है और जो जाना जाता है वही "है,"

कहलाता है। जो जाना जाता है या है वही प्रिय भी है, इसलिए तीनों की एकता ही सिद्ध होती है। इस प्रकार एक मूल तत्व सिद्ध हो जाने पर शून्यवाद का कोई प्रसंग नहीं आता।

सब का विचार करने पर तात्पर्य यह निकाला कि जो किसी देश में है किसी में नहीं, वा किसी काल में है किसी काल में नहीं, उस पदार्थ की मुख्य सत्ता नहीं माननी चाहिए। उसकी मुख्य सत्ता मानने पर सत् का अभाव मान लेना पड़ेगा। और जो किसी काल में नहीं था उसकी उत्पत्ति मान लेने पर असत् भी सत् होता है ऐसा मानना पड़ेगा। ये दोनों बातों सिद्धान्त विरुद्ध हैं, इसलिए मुख्य सत्ता उसी की है जिसका किसी देश वा किसी काल में अभाव न हो। अर्थात् जो व्यापक और नित्य हो तथा जो देश काल परिच्छेद रखते हैं अर्थात् कहीं हैं कहीं नहीं या कभी हैं कभी नहीं उनकी कल्पनिक सत्ता है मुख्य सत्ता नहीं फिर प्रश्न होगा कि जिसे आप आत्मा ब्रह्म वा सत् कहते हैं उसकी भी तो सुषुप्ति दशा में प्रतीति नहीं होती। तब त्रिकाल सत्ता तो उसकी भी सिद्ध नहीं हुई और अन्ततः शून्यवाद ही आ गया। इसका उत्तर शास्त्रों में दिया जाता है कि सुषुप्तिकाल में भी प्रतीति का सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि जाग जाने पर ऐसा स्मरण होता है कि "मैं खूब आनन्द से सोया, उस समय मुझे कुछ भी नहीं प्रतीत हुआ।" यह आनन्द और विज्ञान का स्मरण है। यदि प्रतीति न होती तो स्मरण कैसे होता। इसलिए यही मानना होगा कि इन्द्रिय मन आदि के प्रलीन हो जाने के कारण सुषुप्ति में वृत्यात्मक ज्ञान अर्थात् प्रतिभास नहीं रहता, किन्तु आत्म स्वरूप मुख्य ज्ञान तो सदा ही रहता है। इसलिए असत् की उत्पत्ति वा सत् का अभाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धान्तों में इस पद्य की व्याख्या बहुत विस्तृत हो जाती है। किन्तु अधिक सूक्ष्म विषय की सब पाठकों को रुचि न होगी इसलिए अधिक विस्तार करने से विराम लेते हैं।

यह तो सिद्ध हो ही गया कि उक्त पद्य से मुख्यतया अद्वैतवाद ही सिद्ध होता है। अर्थात् एक ही तत्व है, सारा जगत् उसी पर कल्पित है। अब जो ऐसा अद्वैत नहीं मानते, वे इस श्लोक में सत् और असत् शब्द का अर्थ केवल नित्य या अनित्य कर देते हैं। अर्थात् जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता और जो अनित्य है वह नित्य नहीं हो सकता। किन्तु इतने मात्र से शीत उष्ण सुख दुःख आदि की सहिष्णुता का पूरा कारण प्राप्त नहीं होता और आरम्भ में जो अशोच्य बताकर उसका उपपादन करने लगे थे वह भी पूरा नहीं उतरता इसलिए अधिकतर व्याख्याकारों की सम्मति में अद्वैतवाद ही इस पद्य का मुख्य प्रतिपाद्य माना जाता है।

षोडश-पुष्प

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ अ० २, १७
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ अ० २, १८

पूर्व पद्य में जो कहा गया कि सत् का विनाश नहीं हो सकता और असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी का स्पष्टीकरण इन दो पद्यों में है। वह सत् कौन है जिसका अभाव नहीं हो सकता? यहाँ के प्रथम पद्य में स्पष्ट किया है कि अविनाशी, कभी विनष्ट न होने वाला एक ही तत्व है जिसने इस संपूर्ण प्रपंच को फैला रक्खा है, अर्थात् जो इस सम्पूर्ण प्रपंच का मूल तत्व है। वही वास्तविक सत्ता रूप है। उस अव्यय का विनाश कोई नहीं कर सकता। यहाँ "अव्यय" शब्द का अर्थ "अविनाशी" ही प्रायः सब व्याख्याकार करते हैं, अर्थात् इसे विशेषण पद मानते हैं। परन्तु भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में जो तीन पुरुषों का निरूपण किया गया है उसी का सूत्रपात यहाँ मानना उपयुक्त होगा। श्री मधुसूदन सरस्वती आदि व्याख्याकारों ने यह तो स्पष्ट माना है कि द्वितीय अध्याय सूत्र रूप है। वक्तव्य अर्थ संक्षेप से इसमें कह दिये गए हैं। आगे के अध्यायों में उनका ही विस्तार है। इसलिए भगवद्गीता के मुख्य प्रतिपाद्य अव्यय पुरुष का यहाँ संकेत कर दिया गया और पन्द्रहवें अध्याय में इसका स्पष्ट विवरण हुआ यह मानना ग्रन्थ शैली के अनुसार बहुत उपयुक्त होगा। अव्यय पद को विशेषण वाचक मानने पर अविनाशी पद से पुनरुक्ति भी होती है, क्योंकि "अव्यय" और "अविनाशी" शब्दों का अर्थ एक ही है। तब यहाँ व्याख्याकारों को अव्यय पद का सर्व विकास शून्य या अव्यक्त आदि अर्थ करने की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसंग आया है वहाँ भगवद्गीता में अव्यय पद को कहीं भी नहीं छोड़ा गया।

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" अ० ४, श्लोक ६
"परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्" अ० ७, श्लोक २४
"मूढोऽयं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्" अ० ७, श्लोक २५
"यो लोकत्रयमाविष्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" अ० १५, श्लोक १७

इत्यादि बहुतर प्रसंगों में ईश्वर वा मूलतत्व के लिए अव्यय शब्द का उपादान नियत रूप से हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि मूल तत्व के लिए अव्यय पद गीता में रूढ़ है और वक्ता भगवान् कृष्ण ने सर्वत्र अपने को अव्यय रूप ही कहा है। क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनों पुरुषों में अव्यय

सबसे उत्कृष्ट वा सर्व प्रथम है। इसलिए उसके लिए पुरुषोत्तम शब्द भी गीता में आया है। यदि उत्तम शब्द का अर्थ अन्तिम माना जाय जैसा कि प्रायः संस्कृत भाषा में होता है। तो भी क्षति नहीं क्योंकि संसार की ओर से मूलतत्व की ओर चलने पर प्रथम क्षर पुरुष, उसके उपरान्त उसमें अनुस्यूत अक्षर, और उससे भी आगे सब के अन्त में अव्यय का प्रसंग आवेगा। इसलिए उसे सबसे अन्तिम भी कह सकते हैं। क्षर पुरुष जगत् का उपादान कारण अक्षर पुरुष निमित्त कारण और अव्यय साक्षी रूप से रहने वाला सबका आधार तटस्थ रूप है। इन तीनों पुरुषों का स्पष्ट रूप से स्वरूप निरूपण पन्द्रहवें अध्याय में ही किया जायगा, जहाँ कि भगवद्गीता में इनका स्पष्टीकरण है। यहाँ इतना ही कहना था कि भगवद्गीता में अव्यय पद को केवल यौगिक न मानकर सर्व पुरुषों के आदि भूत उत्तम पुरुष के लिए निरूढ़ मानना ही उचित है। इसकी विस्तृत व्याख्या विद्या वाचस्पति श्री मधुसूदन जी के विज्ञान भाष्य में की गई है। अस्तु, तब इस पद्य का आशय होगा कि सब का मूलभूत अव्यय पुरुष ही वास्तविक सत् है। अक्षर और क्षर उससे प्रादुर्भूत होकर उसी में लीन होते हैं। किन्तु जिसका नाम ही "अव्यय" है, उसका विनाश कोई नहीं कर सकता। "कोई नहीं कर सकता" इस दृढ़ कथन से भगवान् यह सूचित करते हैं कि विनाश की योग्यता ही उसमें नहीं है। न्याय दर्शन के मत से विनाश अवयवों के विभाग अथवा उनके नाश के द्वारा हुआ करता है। अवयवों के संयोग से जो वस्तु बनी है उसके अवयवों को यदि अलग कर दिया जाय तो वह वस्तु नष्ट हो जायगी। जैसा कि तन्तुओं के संयोग से बना हुआ वस्त्र, तन्तुओं के अलग-अलग कर देने पर नष्ट हो जायगा। अथवा यदि तन्तुओं को जला दिया जाय तो भी नष्ट हो जायगा। किन्तु ये बातें मूल तत्व में घटित नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसमें अवयव ही नहीं हैं जिनका कि विभाग या नाश हो सके। अव्यय की कला जो आनन्द, विज्ञान और सत्ता मानी जाती है वे भी पृथक् पृथक् नहीं, एक रूप ही हैं। व्याप्ति समझने के लिए उन्हें पृथक् पृथक रूप में गिना जाता है यह पूर्व पद्य के व्याख्या में आ चुका है। इन तीनों की सर्वत्र व्याप्ति भी पूर्व प्रवचन में ही स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए न्याय सिद्धान्तानुसार विनाश की योग्यता वहाँ सिद्ध नहीं होती। सांख्य सिद्धान्तानुसार परिणाम अर्थात् अवस्था का परिवर्तन ही विनाश कहा जाता है व्याकरण के आचार्य भगवान् पाणिनी ने भी जनन और नाश शब्दों के मूल धातुओं का अर्थ यही किया है कि "जनी प्रादुर्भावे" और "णशअदर्शने", अर्थात् आवरण रूप पूर्वावस्था को हटाकर नई अवस्था का प्रकट हो जाना ही जनन या उत्पत्ति है और दूसरी अवस्था से आवृत होकर दिखाई न देना ही नाश है। इन धातुओं के अर्थ निर्देश से ही सांख्य दर्शन का सत्कार्य वाद सिद्धान्त प्रस्फुट हो जाता है। यही संस्कृत भाषा का महत्व है कि उसके छोटे छोटे शब्द ही गम्भीर दार्शनिक विज्ञान बतला देते हैं। अस्तु, कहना यह है कि सांख्य सिद्धान्त में परिणाम का ही नाम विनाश है। गुण धर्मों का परिवर्तन ही परिणाम कहलाता है,

जैसे दुग्ध का द्रवत्व मधुरता आदि तिरोहित हो गए और नवीन गुण कुछ अम्लता घनता आदि प्रकट हो गए। इसीसे दुग्ध का परिणाम दधि कहलाया। इस प्रकार के परिणाम की योग्यता भी उस मूल तत्व में नहीं क्योंकि वहाँ गुण धर्म हैं ही नहीं। गुण धर्मों की उत्पत्ति तो संसार निर्माण दशा में बाद में होती है। इसलिए परिणाम रूप विनाश भी मूल तत्व का संभव नहीं।

वेदान्त दर्शन की प्रक्रिया में अज्ञान से आवृत हो जाने का नाम ही विनाश है। वह भी मूल तत्व में संभव नहीं क्योंकि वह सदा ज्ञान रूप है अज्ञान उस पर अपना प्रभाव कभी नहीं डाल सकता। अनेक सिद्धान्तों में विकास और संकोच को ही उत्पत्ति और विनाश कहा जाता है। वह भी वहाँ नहीं हो सकते क्योंकि वह मूल तत्व सदा अविकृत रहता है। संसार रूप विकास दशा में भी सत्ता, ज्ञान, और आनन्द रूपों में कोई परिवर्तन नहीं होता यह पूर्व प्रवचन में कह चुके हैं। इसलिए विनाश की कोई भी योग्यता अव्यय पुरुष नामक मूल तत्व में नहीं हो सकती। इसीलिए यहाँ पूर्ण बल देकर कहा गया है कि "उस अव्यय का विनाश कोई नहीं कर सकता।" "कोई नहीं कर सकता" इस कथन से भगवान् यह भी सूचित करते हैं कि वह मूल तत्व एक ही है। दूसरा कोई है ही नहीं जो इसका विनाश करे और वह स्वयं का विनाश करे हीगा क्यों। इसलिए वह अव्यय ही रहता है। अव्यय पुरुष की कलाएँ जो सत्ता, ज्ञान और आनन्द रूप मानी जाती हैं उनमें भी विनाश की योग्यता सिद्ध नहीं होती। सद् बुद्धि भाव और अभाव दोनों के साथ लगी रहती है अर्थात् दोनों में अनुस्यूत रहती है। अभाव में भी "न अस्ति" "नहीं है" यह "न" के साथ अस्ति-बुद्धि लगी रहती है, यह कह चुके हैं। इसलिए अभाव में सत्ता अनुस्यूत है, सत्ता का अभाव नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि सत्ता का यदि अभाव हो तो उस अभाव का ग्रहण कौन करेगा, क्योंकि ग्रहण करने वाला स्वयं कोई सद्रूप होगा तभी तो ग्रहण कर सकेगा और ग्रहण करनेवाला सत् जब उपस्थित रहा तो फिर सत्ता का अभाव कहाँ रहा। यही स्थिति ज्ञान की भी है! ज्ञान सामान्य का यदि विनाश मान लिया जाय तो उस विनाश को जाना किसने। असाक्षिक वृत्ति तो नहीं बन सकती और जो साक्षी रहेगा वह ज्ञान रूप ही रहेगा। आनन्द भी इन दोनों से अलग नहीं है, ये दोनों ही आनन्द रूप हैं, यह भी पूर्व प्रवचन में कह चुके हैं।

"ज्ञान की नित्यता"

वर्त्तमान युग में सत्ता की नित्यता को स्वीकार कर लेने पर भी बहुत से विद्वान् ज्ञान की नित्यता मानने को तैयार नहीं हैं। प्राचीन भारत के चार्वाक और बौद्ध दर्शन भी ज्ञान की नित्यता में विप्रतिपन्न थे। इन लोगों का कहना है कि ज्ञान या आत्मा कोई नित्य वस्तु नहीं। गुड़ और बबूल की छाल आदि

मिलकर जैसे मादकता शक्ति को उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार पंच भूतों के विलक्षण प्रकार के संयोग से एक चैतन्य शक्ति प्रकट हो जाया करती है। लोकान्तर से किसी आत्मा का आना जाना इत्यादि कल्पना व्यर्थ है, रूढ़ि मात्र है। प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि फल या अन्न को चिरकाल रखकर सड़ा देने से उसमें कीट ही कीट हो जाते हैं। इसी प्रकार शुक्र शोणित के सड़ जाने से कीटाणु उत्पन्न होकर उनके एक दूसरे के भक्षण से एक बड़ा कीड़ा बन जाता है, वही आगे अन्न पानादि से बढ़कर मनुष्य पशु आदि के रूप में आ जाता है। इस पर भारतीय दर्शनों का कहना है कि शरीर की उत्पत्ति का प्रकार जो आप बतलाते हैं वह ठीक हो सकता है, किन्तु चैतन्य या नित्य ज्ञान उसमें उत्पन्न नहीं होता। वह आविर्भूत अर्थात् प्रकट होता है। यदि पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न हुए शरीर में चैतन्य या ज्ञान की भी उत्पत्ति मानी जाय तो प्रश्न होगा कि मद शक्ति जैसे मद्य के प्रत्येक अवयव में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव में पृथक् पृथक् ज्ञान शक्ति उत्पन्न होती है या सारे शरीर में व्याप्त एक ही ज्ञान शक्ति उत्पन्न होती है। यदि प्रत्येक अवयव में पृथक् पृथक् ज्ञान शक्ति की उत्पत्ति मानी जायगी तो एक अवयव के कार्य का दूसरे को प्रतिसन्धान नहीं होगा। "मैंने ही इस वस्तु को दूर से देखा, और मैं ही अब इसका स्पर्श कर रहा हूँ," यह दोनों का संबंध करने वाली कौन सी शक्ति होगी। यदि सारे शरीर में एक ही ज्ञान शक्ति का उत्पन्न होना मान लिया जाय तो आँख से रूप का ही ज्ञान होता है, और त्वचा से स्पर्श का ही, रसना से रस का ही, यह व्यवस्था कैसे हो सकेगी। एवं पूर्व की घटनाओं से वर्तमान घटना का संबंध जोड़ने वाला कौन होगा। क्योंकि शरीर के प्रत्येक अवयव सदा परिवर्तित होते रहते हैं, यह पहिले के प्रवचनों में सिद्ध कर चुके हैं। तब अनुभव दूसरे ने किया था और स्मरण दूसरा कर रहा है यह घटना संभव नहीं है। पाश्चात्य वैज्ञानिक जो यह कहते हैं कि मस्तिष्क में हजारों लाखों अणु हैं। उनमें एक-एक के प्रज्वलन का ही नाम एक एक ज्ञान है। उसमें भी यही आपत्ति उपस्थित होती है कि एक प्रज्वलन दूसरे प्रज्वलन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जान सकता। तब भिन्न भिन्न ज्ञानों का समन्वय कैसे होगा। कदाचित् यह कहा जाय कि समन्वय भी एक ज्ञान ही है और वह भी एक अणु का प्रज्वलन है, तब भी प्रश्न यही होगा कि वह प्रज्वलन किस कारण से हुआ। इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उनमें तो आपका कहना युक्ति संगत हो सकेगा कि रूप स्पर्शादि जो इन्द्रिय द्वार से आये उन्होंने किसी अणु विशेष का प्रज्वलन कर दिया। किन्तु उनका समन्वय करने वाला प्रज्वलन किसने किया। जो ज्ञान या अणु प्रज्वलन जिस समय हुआ वह उसी समय नष्ट हो गया। कालान्तर के ज्ञान या प्रज्वलन के साथ उसका समन्वय होने की कोई आशा नहीं। भारतीय दर्शन तो भिन्न भिन्न वृत्ति रूप ज्ञानों का एक-एक संस्कार मानते हैं और वह संस्कार एक स्थिर आत्मा में रहता है, उसी के आधार पर पूर्वापर प्रतिसन्धान हो जाता है।

यदि ऐसा ही आप भी मान लें कि प्रत्येक ज्ञान का संस्कार होता है तो वह संस्कार कहाँ रहता है इसका कोई आधार मानना पड़ेगा और स्मरण या अनुसन्धान बाल्यावस्था तक होते रहते हैं। इसलिए उस संस्कार के आधार को स्थिर भी मानना पड़ेगा। शरीर के अवयवों के परिवर्तित हो जाने पर भी उसका परिवर्तन नहीं होता यह भी स्वीकार करना होगा। तब तो नाम मात्र का विवाद रह गया। हम उसे आत्मा कह देते हैं, आप उसे चैतन्य शक्ति या प्रज्वलन शक्ति कह लीजिए, तत्व तो वैसा मान ही लेना पड़ा। बौद्धों ने जो इस आपत्ति को मिटाने के लिए क्षणिक ज्ञानों का एक सन्तान "सिलसिला" मान लिया है उसमें भी यही आपत्ति होती है कि वह ज्ञान धारा स्थिर है या प्रत्येक ज्ञान की तरह वह भी क्षणिक है। यदि स्थिर मान ली जाय तो वही नाम मात्र का विवाद रह गया। आत्मा का नाम ज्ञान धारा या ज्ञान सन्तान रख दिया गया। स्थिर तत्व मान ही लिया, और यदि वह भी क्षणिक है तो फिर पूर्वापर काल का प्रतिसन्धान नहीं बनेगा। अतः आत्मा एक है और सदा स्थिर अर्थात् नित्य है। मन इन्द्रिय आदि उसके जानने के द्वार हैं। वही भिन्न भिन्न ज्ञानों का अनुसन्धान या परस्पर समन्वय करता रहता है। इस अनुभव सिद्ध सिद्धान्त का स्वीकार ही एकमात्र मार्ग है, अन्य कल्पना इस पर नहीं ठहर सकती। न्याय दर्शन में उस नित्य स्थिर तत्व को आत्मा और क्रमिक उत्पन्न होने वाले ज्ञान आदि को उसके गुण कह दिया जाता है। सांख्य तथा वेदान्त दर्शन में एक स्थिर नित्य ज्ञान और अन्तः करण की क्षणिक वृत्तियों में उसके प्रतिबिम्बन से अनन्त क्षणिक ज्ञान मान लिये जाते हैं। यह भी नाम मात्र का विवाद है। सांख्य तथा वेदान्त आत्मा को निर्गुण कहते हैं, इसलिए वृत्तियों को अन्तः करण का धर्म मान लेते हैं और न्याय दर्शन उन वृत्तियों को आत्मा का गुण कहकर आत्मा को सगुण मान लेता है। यह कथन मात्र का भेद है, बात एक ही है उसी नित्य ज्ञान को भगवान् ने यहाँ अव्यय नाम से अविनाशी और मूल तत्व बतलाया है।

अब असत् कौन है, जिनकी वास्तविक सत्ता नहीं हो सकती? उसका स्पष्टी करण दूसरे पद्य में किया जाता है कि "उस अविनाशी, अप्रमेय व्यापक नित्य आत्मा के जो भिन्न भिन्न देह हैं वे अन्तवान् हैं, अर्थात् उनका विनाश प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिए वे उत्पत्ति से पहिले और विनाश के अनन्तर असत् सिद्ध हुए। इसलिए प्रतीति काल में भी उनकी वास्तविक सत्ता नहीं। यही उक्त सिद्धान्त के अनुसार मानना होगा। क्योंकि यदि वे सत् होते तो उनका उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकता था। उत्पत्ति और विनाश यदि होते हैं तो प्रतीति काल में भी उनकी वास्तविक सत्ता नहीं, काल्पनिक सत्ता मात्र है। इस पद्य में वह बात पूर्ण रूप से घटती है कि यहाँ शरीरी आत्मा को नित्य कहा है और उसके लिए एक वचन का प्रयोग किया है। देहों में बहुवचन का प्रयोग है, इसलिए यह तत्व यहाँ स्पष्ट होता है कि अनन्त देहों में व्याप्त

रहने वाला आत्मा एक ही है। जैसे एक ही सूर्य का सहस्रों जलाशयों में पृथक् पृथक् प्रतिबिम्ब चमकता है और जल के अनुसार उसमें मलिनता, स्वच्छता, छोटा बड़ापन या प्रकम्पन भी प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार देह और अन्तःकरण के धर्म एक मुख्य आत्मा के भिन्न भिन्न प्रतिबिम्बों में प्रतीत हो जाया करते हैं। बिंब रूप आत्मा सूर्य की तरह एक ही है।

यह दार्शनिक मुख्य तत्व समझाकर भगवान् उपसंहार करते हैं कि जब मुख्य आत्मा का नाश कोई कर नहीं सकता और शरीरों की कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है तो फिर तुम शोक, मोह किसके लिए कर रहे हो। न आत्मा की दृष्टि से शोक मोहादि युक्ति युक्त है, न शरीर की दृष्टि से। इसलिए शोक मोह जो तुम्हें अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है उसे अवास्तविक समझकर छोड़ दो और जिस काम के लिए आए हो उस युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ—

"तस्माद् युध्यस्व भारत।"

यह भी इस पद्य में स्पष्ट हो गया कि मुख्य आत्मा अव्यय पुरुष ही है। क्षर अक्षर उसकी प्रकृति है। इन सूत्र कथनों का स्पष्टीकरण पन्द्रहवें अध्याय में विस्पष्ट होगा। यह भी विशेष कर ध्यान देने की बात है कि यहाँ पूर्वार्ध में मूल तत्व का उपक्रम है। क्योंकि वहाँ "येन सर्वमिवं ततम्" कहा गया है। अर्थात् जो सब का उत्पादक है। और उसका "तत्" शब्द से निर्देश किया गया है क्योंकि वह मूल तत्व परोक्ष ही रहता है, उसका सर्वकारणत्व रूप से प्रत्यक्ष जीवन ही कर सकता। इसलिए परोक्ष वाचक "तत्" शब्द का ही निर्देश वहाँ उपपन्न है। आगे उत्तरार्ध में उसे ही "इदम्" शब्द से कहकर उसकी प्रत्यक्ष रूपता दिखा दी गई है और आगे के पद्य में उसे ही शरीरी कहकर अनित्य देह सम्बन्ध उसी को बताया है। इससे परब्रह्म और जीव का एकत्व रूप अद्वैत इस पद्य में स्पष्ट हो गया है। जो वैष्णव आचार्य अद्वैत नहीं मानते वे क्लिष्ट कल्पना रूप से इस पद्य की व्याख्या करते हैं। श्री रामानुजाचार्य ने "ततम्" का अर्थ केवल व्याप्ति मात्र किया है उत्पादन नहीं, अर्थात् जो तत्व सर्वत्र व्यापक है। किन्तु जीवात्मा की व्यापकता भी वे नहीं मानते इसलिए व्यापकता का अर्थ भी सूक्ष्मत्व मात्र करते हैं और श्लोक का तात्पर्य केवल नित्यता में ही पर्यवसित मानते हैं, इत्यादि।

सप्तदश-पुष्प

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ अ० २, श्लो० १९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

पूर्व पद्यों के प्रवचन में कहा गया कि आत्मा अमर है, उसका नाश नहीं हो सकता और शरीरों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है। इसलिए जो स्वभावतः असत् है उनका विनाश कहना या मानना भी कोई अर्थ नहीं रखता। इस पर यह शंका हो सकती है कि फिर अमुक व्यक्ति ने अमुक व्यक्ति को मारा यह व्यवहार किस आधार पर होता है। इसका उत्तर–"य एनं वेत्ति" इत्यादि पद्य से देते हैं। इसका अर्थ है कि "आत्मा को जो मारने वाला कहता है और जो मारा गया कहता है, वे दोनों ही नहीं जानते। क्योंकि न यह मारने वाला है, न मारा जाने वाला है। इससे तात्पर्य यह हुआ कि मारने व मरने का व्यवहार अज्ञान की अवस्था में है, वास्तविक ज्ञान होने पर ऐसा व्यवहार नहीं रहता। दूसरा इस पद्य के कथन का यह भी आशय हो सकता है कि भगवद्गीता एक स्मृति है, और स्मृतियों को श्रुति के आधार पर ही आर्य संस्कृति में प्रमाण माना गया है। इस लिए आत्मा की अमरता का जो उपदेश दिया गया, उसे श्रुति से प्रमाणित करने के लिए कठोपनिषद् के दो मन्त्रों को किंचित पाठ भेद से यहाँ कहा गया है। उपनिषद् का पाठ इस प्रकार है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(कठोप० ३–१८)

यहाँ इन मन्त्रों का क्रम भी बदल दिया गया है। श्रुति में जो मन्त्र आगे था उसे पहिले पढ़ दिया गया और जो पहिले था उसे अनन्तर कहा गया। पूर्वार्ध में कुछ पाठ भेद भी कर दिया गया। इससे यह सूचित किया जाता है कि श्रुति में तो शब्द और क्रम दोनों नियत हैं, उनका परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु स्मृति में अर्थ नियत रहना चाहिए, शब्द और क्रम बदले भी जा सकते हैं। इसलिए श्रुति का स्मृति में उद्धरण करते समय अर्थ की एक रूपता पर ही ध्यान रक्खा गया। शब्दों को परिवर्तित कर कुछ सुगमता कर दी गई। ऐसा करने का यह आशय भी विद्वान् लोग बतलाते हैं कि श्रुति को पढ़ने का उपनयन संस्कार के अनन्तर केवल द्विजों को ही अधिकार होता है।

किन्तु भगवद्‌गीता का पाठ अनुपनीत, कुमार, स्त्री वा द्विजों के अतिरिक्त व्यक्ति भी कर सकें, उन्हें कोई दोष न हो, इसलिए पाठ को किंचित परिवर्तित कर दिया गया। जिससे उसमें श्रुतित्व न रहा। अन्यत्र भी गीता में कई उपनिषदों के मन्त्र उद्‌धृत हुए हैं, वे किंचित् पाठ भेद से ही उद्‌धृत हैं। जैसा का तैसा मन्त्रों का उद्धरण नहीं हुआ है। अस्तु, श्रुति के मन्त्र का भी अभिप्राय वही है कि मारने वाला यदि आत्मा में हनन क्रिया मानता है और मरने वाला अपने को हनन क्रिया का कर्म मानता है, वे दोनों ही अनभिज्ञ हैं। वास्तविकता यही है कि आत्मा न मारता है न मरता है। हनन का निषेध करने से आत्मा को क्रिया रहित भी सिद्ध किया जाता है। आत्मा जब विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है, तो व्यापक में क्रिया नहीं बन सकती। देश के त्याग और स्थानान्तर गमन ही क्रिया शब्द के बोध्य होते हैं। व्यापक तत्व कैसे देश त्याग करेगा। तेज, वायु आदि एक आकाश प्रदेश को छोड़कर आकाश के दूसरे प्रदेश में चले जाते हैं, यही उनकी क्रिया है, इसीलिए वे क्रियाश्रय तत्व हैं। परन्तु जो आकाश व्यापक है वह अपना स्थान छोड़कर कहाँ हटेगा। वह कहाँ नहीं है जहाँ जायगा, और भी प्रदेश छोड़ देने पर उसकी व्यापकता समाप्त हो जाती है। किसी प्रदेश में अभाव न होना ही व्यापकत्व या विभुत्व होता है। यदि एक प्रदेश छोड़ेगा तो वहाँ उसका अभाव होगा, ऐसी स्थिति में विभुत्व कहाँ रहा। इसलिए सिद्धान्त यही है कि विभु में क्रिया नहीं होती। हनन क्रिया में यद्यपि देश त्याग स्पष्ट प्रतीत नहीं होता तथापि शस्त्रादि उठाने, फेंकने में अवयवों का देश त्याग तो स्पष्ट ही है। क्रिया मात्र में ही किसी न किसी रूप में देश त्याग आ ही जाता है। अतः यहाँ हनन क्रिया के निषेध से समस्त क्रियाओं का आत्मा में निषेध श्रुति और गीता में बता दिया।

न्याय दर्शन में भी आत्मा में क्रिया तो नहीं मानी जाती किन्तु ज्ञान, इच्छा आदि गुणों को वहाँ आत्मा में मान लिया गया है। अन्य सांख्य, वेदांत आदि दर्शन कहते हैं कि गुण भी क्रिया के रूप हैं। क्रिया जब धारावाहिक होकर स्थिर सी प्रतीत होने लग जाती है तो उसे ही "गुण" की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। जैसे धर्म और अधर्म विहित और निषिद्ध क्रियाओं का नाम है। किन्तु उन क्रियाओं का प्रभाव जब आत्मा में धारावाहिक हो जाता है तब उसे संस्कार नाम देकर आत्मा का गुण मान लेते हैं। इसी प्रकार चक्षु की धारावाहिक क्रिया ही रूप नाम से, और त्वचा की धारावाहिक क्रिया स्पर्श नाम से व्यवहार में आ जाती है। यह "मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय" इत्यादि श्लोकों के व्याख्यान में कह चुके हैं। ज्ञान, इच्छा आदि यदि पहिले आत्मा में नहीं थे और फिर उत्पन्न हुए तो यह भी एक प्रकार की हलचल ही हुई। विषय का सम्बन्ध आत्मा के साथ हुआ, तब ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसे क्रिया कैसे न कहा जायगा। पहिले आत्मा किसी विषय को नहीं पकड़ता था, अब उसका ग्रहण करने लगा, इसी को तो ज्ञान कहा जाता है। तब ग्रहण और अग्रहण ये

क्रिया कैसे न हुई। न्याय दर्शन की प्रक्रिया में यह बताया जाता है कि विषयों को आत्मा नहीं पकड़ता, इन्द्रियाँ या मन उनका ग्रहण करती हैं। इसलिए इन्द्रियों या मन में क्रिया है, आत्मा में नहीं। किन्तु इस पर फिर तर्क हो जायगा कि यदि आत्मा क्रिया शून्य तटस्थ है, तो ज्ञान, इच्छा आदि गुण आत्मा में क्यों पैदा हुए। जहाँ क्रिया है उन मन आदि का गुण ही ज्ञान, इच्छा आदि को मानना चाहिए। आत्मा का गुण उन्हें क्यों कहा जाय ? यदि कहो कि मन आदि को आत्मा ही प्रेरित करता है तो प्रेरणा भी एक क्रिया हो गई, फिर आत्मा निष्क्रिय कहाँ रहा। लोक में तो ऐसा ही देखा गया है कि वाणी, हाथ आदि का व्यापार करके ही एक दूसरे को प्रेरणा किया करता है। तब बिना क्रिया की प्रेरणा आत्मा में किस आधार पर मानी जायगी। जैसा देखने या सुनने में आता है उसी के अनुसार तो अदृष्ट में भी कल्पना होती है। जब बिना क्रिया या व्यापार के प्रेरणा देखी नहीं जाती तो आत्मा में निष्क्रिय प्रेरणा की निराधार कल्पना नहीं की जा सकती। कई सज्जन इस पर यह कल्पना प्रस्तुत करते हैं कि जैसे किसी बाह्य वस्तु पत्थर कपड़े आदि को उठाने में हाथ की आवश्यकता है, किन्तु हाथ को उठाने में किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं। वह आत्मा की प्रेरणा से ही उठ जाता है। ऐसे मन आदि की प्रेरणा बिना क्रिया के ही सिद्ध हो जायगी। सारांश यह है कि निष्क्रिय प्रेरक भी नहीं हो सकता। उसमें गुणों की उत्पत्ति भी नहीं बनती। इसलिए आत्मा जैसे निष्क्रय है वैसे निर्गुण भी है। न्याय दर्शन में गुणों की प्रतिपादन केवल पूर्व भूमिका में शिक्षा देने के लिए ही हैं। सूक्ष्म तत्व को क्रम-क्रम से ही दर्शनों ने समझाया है। न्याय ने पहिले निष्क्रिय कहा। आगे सांख्य वेदान्त ने निर्गुण भी बता दिया। किन्तु उनका यह तर्क भी निरी स्थूल बुद्धि का है। हाथ को उठाने में भी प्राण आदि की क्रिया अपेक्षित है जो स्थूल बुद्धियों में नहीं आती। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि मन प्राण आदि का प्रेरक तो आत्मा को—"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इत्यादि श्रुतियों में भी माना है, फिर प्रेरणा का निषेध करना श्रुति विरुद्ध होगा। इसका उत्तर है कि श्रुतियों में शुद्ध आत्मा और व्यावहारिक आत्मा दोनों का ही निरूपण भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलता है। "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इत्यादि श्रुतियों ने इच्छा शक्ति सहित व्यावहारिक आत्मा का ही प्रतिपादन किया है। शुद्ध आत्मा तो निर्गुण और निष्क्रिय है, यही वेदान्त का सिद्धान्त है और यही श्रुति-प्रमाण से यहाँ गीता में द्योतित किया गया है।

पुनः प्रश्न होगा कि आत्मा में गुण-क्रिया नहीं हैं तो उसका लोकान्तर में गमन या आगमन श्रुति शास्त्रों में कैसे बताया गया। इसका उत्तर यही है कि गमन वा आगमन आत्मा का नहीं सूक्ष्म शरीर का होता है। जिस प्रकार एक घट को एक स्थान से उठाकर हम दूसरे स्थान में ले जाँय तो उस घट के भीतर के आकाश पर भी चलने का व्यवहार हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर

के जाने-आने से उसमें व्यापक रूप से स्थित आत्मा का भी क्रियामय व्यवहार शास्त्र वा लोक में प्रसिद्ध हो गया है। आत्मा में क्रिया नहीं हो सकती।

पुनः प्रश्न होता है कि यदि आत्मा न मारता है, न मरता है तो हिंसा करने पर पाप धर्मशास्त्रों में क्यों बताया गया। इसका उत्तर वेदान्त के विद्वान् यही देते हैं कि धर्मशास्त्रों में के नियम व्यवहार दशा के लिए ही हैं, और अज्ञान दशा का ही एक प्रतिष्ठित नाम "व्यवहार दशा" है। इसलिए जैसा सर्वसाधारण लोगों का ज्ञान है उस व्यवहार दशा के आधार पर ही धर्मशास्त्रों के विधि-निषेध चलते हैं। वास्तविक आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो विधि-निषेध, पाप-पुण्य सभी समाप्त हो जाते हैं। जब तक हमने आत्मा के शरीर अन्तःकरण आदि से पृथक् होने का दृढ़ अनुभव प्राप्त नहीं किया तब तक धर्मशास्त्र के विधि-निषेध हमको मानने पड़ेंगे। तथा उन विधि और निषेधों का पालन वास्तविक आत्मा के ज्ञान में सहायक होता है। जैसे "क" "ख" आदि वर्णों का लिपि में बनाया जाने वाला आकर कल्पित है, यह सभी मानते हैं किन्तु उस कल्पित आकार के आधार पर ही हमें सब सत्य विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं। अथवा जो मनुष्य काशी जाना चाहता है, उसका उद्देश्य काशी है, मार्ग के स्थान उसके उद्देश्य नहीं। उनमें जाना उसका लक्ष्य नहीं। किन्तु बिना उनमें गए काशी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी तरह मुख्य लक्ष्य आत्मज्ञान, मार्ग रूप विधि और निषेधों से बोधित आचरणों के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए विधि-निषेधों के द्वारा बोधित आचारों का पालन और अनाचारों का परित्याग आवश्यक है। आत्मज्ञान हो जाने पर तो मरना और मारना कोई वस्तु ही नहीं रहती; यह आगे "कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्" इत्यादि उपदेश में भगवान् ने ही स्पष्ट कर दिया है। अस्तु—इस पद्य का संक्षिप्त तात्पर्य यही है कि मरना और मारना आदि कल्पनाएँ व्यवहार दशा वा अज्ञान दशा की हैं। आत्मा का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ये कल्पनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं। इनके आधार पर अनुशोचन व्यर्थ है। इसलिए अनुशोचन के कारण युद्ध से निवृत्ति तुम्हारी उचित नहीं, यही अर्जुन को समझाया गया।

व्याकरण में क्रिया के दो रूप माने जाते हैं—फल और व्यापार। व्यापार के आश्रय को कर्त्ता और फल के आश्रय को कर्म कहा जाता है। यहाँ "नायं हन्ति न हन्यते" कहकर दोनों का ही आत्मा में निषेध किया गया है। हनन व्यापार भी उसमें नहीं होता और हनन रूप फल का आश्रय भी वह नहीं बनता। इससे क्रिया का किसी भी प्रकार का सम्पर्क आत्मा के साथ नहीं है यह बताया गया।

इस प्रकार आत्मा के विभु होने के कारण क्रिया और गुणों का वहाँ अभाव बताया गया। किन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि आत्मा को विभु मानने में ही क्या प्रमाण। इसलिए विभुत्व का विचार भी यहाँ कर लेना उचित है। आत्मा के सम्बन्ध में दर्शन शास्त्रों में तीन मत पाये जाते हैं। वैष्णव दर्शनों

में आत्मा को अणु, अतिसूक्ष्म माना जाता है। जैन दर्शन उसे शरीर परिमाण का कहता है और न्याय सांख्य और वेदान्त आत्मा को विभु अर्थात् सर्व व्यापक कहते हैं। अणु मानने में आपत्ति यह आती है कि सर्व शरीर व्यापी चेतना का ग्रहण कैसे हो सकेगा। गंगा के सुशीतल जल में डुबकी लगाने वाला मनुष्य सर्वांग व्यापी शैत्य का अनुभव करता है। किन्तु शरीर के एक छोटे प्रदेश में बैठा हुआ अणु आत्मा सारे शरीर में शैत्य के आह्लाद का अनुभव नहीं कर सकता। इसका उत्तर कुछ दार्शनिक विद्वान् यह देते हैं कि उसमें अति शीघ्र गति है। इसलिए शीघ्रता से घूमता हुआ सारे शरीर के शैत्य का अनुभव वह कर लेता है। किन्तु बात ठीक नहीं बैठती। शरीर के एक-एक अवयव पर एक-एक बिन्दु डालें, उस समय के आह्लाद में और सहसा डुबकी लगाने के आह्लाद में बड़ा भारी भेद अनुभव सिद्ध है। घूमता हुआ प्रत्येक अवयव के शैत्य का अनुभव अति सूक्ष्म क्षण भेद से भी करे तो भी उक्त दोनों प्रकारों में कोई भेद नहीं होना चाहिए। कुछ दार्शनिक उसका यह भी उत्तर देते हैं कि आत्मा तो अति सूक्ष्म एक प्रदेश में ही स्थित रहता है। किन्तु उसकी ज्योति सारे शरीर में व्याप्त रहती है। जैसे घर के एक प्रदेश में जलते हुए दीपक की ज्योति सम्पूर्ण घर में व्याप्त रहती है। किन्तु यह उत्तर तो दार्शनिक प्रक्रिया से बिलकुल ही दूर है। दीपक की लौ में प्रकाश के घनीभूत अवयव हैं और फैले हुए प्रकाश में वे अवयव विरल हो गए हैं। यह घटना सावयव द्रव्य में ही संभव है। नित्य आत्मा को निरयव कहा जाय तो उक्त घटना वहाँ संभव नहीं। क्योंकि फैलने वाले अवयव कहाँ से आयेंगे। यदि सावयव मान लें तो दीपक की तरह ही उसकी नित्यता स्थापित नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त विभुत्ववादी यह भी आपत्ति देते हैं कि शरीर के एक प्रदेश में बैठा हुआ अणु आत्मा बाह्य पदार्थों का स्पर्श कथमपि नहीं कर सकता और बिना आत्मा के सम्बन्ध के उन बाह्य जड़ पदार्थों का प्रकाश नहीं हो सकता। आधुनिक विज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि बाह्य पदार्थों को छूकर प्रकाश की रश्मियाँ मस्तिष्क के भीतर पहुँचती हैं, इसी से उनका प्रकाश होता है। किन्तु यह बात भी अनुभव के विरुद्ध है। हम उन वस्तुओं का अनुभव अपने शरीर से दूर पर करते हैं न कि शरीर के भीतर। वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि की दूरी का अनुभव तो आधुनिक वैज्ञानिकों की प्रक्रिया में बनता ही नहीं। रंगों की विभिन्नता से वे दूरी का अनुमान मात्र कहते हैं। किन्तु उनके कथन का साक्ष्य अनुभव नहीं देता। इसलिए अणुत्ववाद निरापद नहीं। जैन दर्शन में जो शरीर परिमाण का आत्मा माना गया है उसमें तो प्रत्यक्ष ही दोष है कि पुनर्जन्म वे भी मानते हैं। तब एक युवा वा वृद्ध का आत्मा जब शरीर से निकला था तब कई हाथ लम्बा चौड़ा था। अब उत्पन्न होते समय बालक को वितस्तिमात्र शरीर में वह कैसे समावेगा और उस बालक का शरीर जब बड़ा हो जायेगा तब आत्मा के नये अवयव कहाँ से आ जायगे जिनसे कि वह सारे शरीर में व्याप्त हो सके। अवयवों का टूटना और बढ़ना मानने पर वे अवयव कहाँ गए

और कहाँ से आये इसकी कोई उपपत्ति वे नहीं बता सकते। इसके उत्तर में वे आत्मा को संकोच-विकास वाला मानते हैं। किन्तु यह कल्पना भी दार्शनिकता से दूर चली जाती है क्यों कि संकोच-विकास सावयव वस्तु के ही होते हैं और संकोच-विकास वाली सावयव वस्तु नित्य नहीं हो सकती। जिस मनुष्य का हाथ कट गया और उस हाथ के साथ उसमें रहने वाले आत्मा के अवयव भी पृथक् हो गए वा संकुचित होकर शेष अवयवों में लीन हो गए तो उस हाथ के किये हुए कार्यों का स्मरण फिर नहीं होना चाहिए। किन्तु स्मरण बराबर होता है। इसी प्रकार पुनर्जन्मवाद में मान लीजिए कि एक हाथी को कर्मवश चींटी का शरीर मिला तो हाथी का आत्मा उसमें कैसे समावेगा। छोटे कीड़े मकोड़ों ने यदि हाथी-घोड़े का जन्म प्राप्त किया तो उनका आत्मा उस बड़े शरीर में कैसे व्याप्त हो सकेगा। इसलिए शरीर परिमाणवाद भी युक्ति से पूरा नहीं उतरता। सुतरां आत्मा का विभुत्ववाद ही उपयुक्त बैठता है। विभुत्ववाद में भी यह दोष आता है कि आत्मा यदि सर्व व्यापक है तो अनुभूति में शरीर की आवश्यकता क्यों रहती है और जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं उन्हें अपने से बाहर क्यों समझते हैं ? क्योंकि विभुत्ववाद में तो वे जगत् की सारी वस्तुएँ आत्मा के भीतर ही रहीं। इसका उत्तर विभुत्ववादियों की ओर से यह दिया जाता है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर आत्मा के भोग साधन हैं। उनकी सहायता के बिना इसे अनुभूति नहीं हो सकती। जितना बड़ा-छोटा और जैसा शरीर मिलता है उसी के द्वारा यह अनुभव किया करता है और उस शरीर से बाहर रहने के कारण ही वस्तुओं को बाह्य समझता है। वृत्ति-लाभ इस शरीर में ही होता है। किन्तु है यह सर्व व्यापक। कदाचित् कहो कि अणुत्व वाद वाला दोष तो यहाँ भी आ जायगा। इतने दूर वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि की अनुभूति बिना शरीर के कैसे हुई, क्योंकि शरीर से तो उन वस्तुओं का संबंध हो नहीं सकता और बिना शरीर के आत्मा अनुभूति नहीं कर सकता। इसके लिए सांख्य और वेदान्त इन्द्रिय, मन आदि को अहंकार द्रव्य से जन्य मानते हैं। वह द्रव्य भी अति शीघ्रगामी और अति विस्तृत है। उसके संबंध से आत्मा बाह्य वस्तुओं की अनुभूति कर लेता है। अस्तु, विषय बहुत गंभीर और विस्तृत है। भगवान् के उपदेश के इस पद्य के द्वारा आत्मा का विभुत्व ही ध्वनित होता है, इतना ही यहाँ कहना उचित होगा। अणु या मध्यम परिमाण का मान लेने पर आत्मा में क्रिया के अभाव का उपपादन बहुत क्लिष्ट कल्पना से करना पड़ेगा। अतः विभुत्व ही गीता को अभिप्रेत प्रतीत होता है। दूसरे पद्य का व्याख्यान अग्रिम प्रवचन में होगा और आत्मा को अणु मानने वाले या निष्क्रिय न मानने वाले वैष्णव आचार्य वा उनके अनुयायी व्याख्याकार इस पद्य का क्या आशय लगाते हैं, यह भी अग्रिम प्रवचन में ही स्पष्ट किया जा सकेगा।

अष्टादश-पुष्प

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ः २।२० ः

यह पद्य पूर्व प्रवचन के शीर्षक पर भी दिया जा चुका है। इसका शब्दार्थ है कि "आत्मा कदाचित् अर्थात् कभी भी उत्पन्न नहीं होता और कभी भी मरता नहीं। उत्पन्न होकर फिर अभावग्रस्त होना इसका धर्म ही नहीं है। यह तो अजन्मा है, नित्य अर्थात् विनाश रहित है, शाश्वत अर्थात् सदा एक रूप रहने वाला है—कभी क्षीण न होने वाला है, और सबसे पुराना होने पर भी एक ही रूप है अर्थात् शरीर की तरह इसकी वृद्धि भी नहीं होती। अतः शरीर का हनन होने पर भी इसका हनन नहीं होता।"

यहाँ श्री शंकराचार्य "भूत्वा अभविता" ऐसा अकार सहित पदच्छेद मानते हैं। अनित्य पदार्थ "भूत्वा" अर्थात् पैदा होकर "अभविता" अर्थात् अभावग्रस्त हो जाया करते हैं। किन्तु यह ऐसा नहीं। यह पूर्वोक्त जनन-मरण क्रिया के निषेध का ही अनुवाद हुआ। "न जायते" के "न" का "म्रियते" के साथ भी सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध "वा" शब्द ने स्पष्ट किया है। "वा" शब्द यहाँ "च" के अर्थ, समुच्चयार्थक ही मानना होगा। विकल्प अर्थ यहाँ किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। अस्तु, "न जायते", "न म्रियते" इन पदों से वर्तमान काल में जनन-मरण क्रियाओं का निषेध किया गया और "भूत्वा अभविता" के द्वारा आत्मा में सदा रहने वाला धर्म बतलाया जाता है कि उत्पन्न होकर अभावग्रस्त होना इसका धर्म ही नहीं है। इसलिए भूत भविष्यत् कालों में भी इसके उत्पत्ति विनाश की शंका नहीं हो सकती। "भविता वा" उस पद में आए हुए दूसरे "वा" शब्द से और "नायं भूत्वा" के "न" शब्द को भूत्वा के साथ जोड़ देने से तथा "अभविता" ऐसा पदच्छेद न कर केवल "भविता" ही रखने से यह अर्थ भी आ जाता है कि "अयं न भूत्वा भविता न" अर्थात् यह पहिले न होकर पीछे होने वाला भी नहीं है। इससे सिद्ध हो गया कि जन्म होना भी इसका धर्म नहीं है। अतएव यह आत्मा शास्त्रों में "अज" और "नित्य" कहा गया है। इस प्रकार तीन बार कहने में पुनरुक्ति समाधान हो जाता है। अथवा "न जायते न म्रियते" यह प्रतिज्ञा वाक्य हुआ "नायं भूत्वा भविता" यह स्वभाव प्रदर्शन द्वारा हेतु बतलाया गया और "तस्मात् अजः नित्यः" यह निगमन रूप से उपसंहार किया। इस प्रकार न्याय की पंचावयव वाक्य प्रक्रिया से भी पुनरुक्ति का समाधान हो जाता है—अस्तु।

जगत् के पदार्थों में निरुक्तकार यास्क ने ६ प्रकार के विकास बतलाये हैं—"जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।" अर्थात् प्रत्येक

दृश्यमान पदार्थ पहिले उत्पन्न होता है, अर्थात् सत्ता ग्रहण करता है वा प्रकट होता है। फिर "है" शब्द से कहा जाता है अर्थात् सत्ता धारण करता है, फिर बढ़ता है, आगे परिवर्तित होता है अर्थात् ह्रास की ओर जाने लगता है, तब क्षीण होता है और अन्त में नष्ट हो जाता है। इन छः क्रियाओं में सब क्रियाओं का अन्तर्भाव निरुक्तकार ने माना है। यद्यपि आरम्भ की जनन क्रिया और अन्त की विनाश क्रिया का निषेध होने पर अन्य क्रियाओं का निषेध भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि ये सारे विकार उत्पन्न होने वाले पदार्थों में ही होते हैं। नित्य आकाश आदि में इन विकारों की संभावना नहीं। तथापि शंका निवृत्ति के लिए स्पष्ट रूप से सब विकारों का निषेध भी यहाँ भिन्न-भिन्न विशेषणों द्वारा कर दिया जाता है। "शाश्वतः" शब्द से "अपक्षय" रूप विकास का निषेध किया। शाश्वतः का अर्थ है सदा रहने वाला। यदि अपक्षय हो जायगा तो सदा रहने वाला कहाँ हुआ? कदाचित् यह शंका हो कि "शाश्वतः" शब्द से स्वरूप नाश का ही निषेध होता है। क्षीण होकर स्वरूप बना रहे, इस अपक्षय का निषेध तो इससे नहीं होता तो इसका उत्तर है कि अपक्षय अवयव विनाश वा गुण विनाश का ही नाम है। इसलिए किसी प्रकार भी विनाश हो गया तो वह शाश्वतः नहीं कहा जा सकता। इसलिए एक रूप रहने वाले को ही शाश्वत कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा जब निरवयव है और निर्गुण है तब अवयव विनाश की वहाँ संभावना ही नहीं। इसलिए "शाश्वत" शब्द से "अपक्षय" रूप विकास का अभाव मानना युक्तियुक्त है। आगे "पुराण" शब्द से "वृद्धि" रूप विकास का भी निषेध किया गया है। "पुराण" शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने की है कि—"पुरा नव भवति"—अर्थात् जो प्राचीनकाल में भी नया ही था। इससे सिद्ध हो जाता है कि जैसा इस समय है वैसा ही प्राचीनकाल में भी था। तब वृद्धि का निषेध स्पष्ट हो जायगा। "न हन्यते" यहाँ "हन्" धातु का अर्थ परिणाम ही मानना चाहिए। क्योंकि नाश का निषेध तो "न म्रियते" इस वाक्य से ही किया जा चुका है। तब "हन्" धातु से यहाँ ताड़न वा अभिभव ही अर्थ विवक्षित मानना युक्तियुक्त है। ताड़न वा अभिभव न होने पर परिणाम रूप विकास का निषेध सिद्ध हो गया। इस प्रकार पाँच विकारों का निषेध कर देने पर जो "अस्ति" बचता है, वह विकार रूप नहीं रहता किन्तु स्वरूप सत्ता का ही बोधक रह जाता है। विकारों के मध्य में "अस्ति" कहा जाने पर वह भी एक अवस्था विशेष का बोधक होता है। जैसा कि पहिले कह चुके हैं कि "जायते" से सत्ता ग्रहण और अस्ति से सत्ता धारण बतलाया गया। ऐसी स्थिति में प्रवाह पतित होने से वह सत्ता धारण भी एक अवस्था रूप ही रहा। किन्तु जब अन्य विकारों के प्रवाह में अस्ति को न डाला जाय तब केवल अस्ति सत्ता मात्र का ही बोधक रह जाता है जो कि नित्य पदार्थों का स्वरूप ही है, सत्ता धारण रूप क्रिया वहाँ बोधित नहीं होती। इसलिए "अस्ति" का निषेध नहीं किया गया, अस्तित्व तो इष्ट ही है।

अथवा विकार पतित अस्तित्व का निषेध शाश्वत पद से ही हो जाता है। आत्मा ने नया सत्ता धारण नहीं किया किन्तु यह सदा ही अस्तित्व रखता है। इसलिए विकार रूप छहों क्रियाओं का निषेध इस पद्य के द्वारा बतलाकर आत्मा को निर्विकार सिद्ध किया गया।

अब यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि आत्मा का हनन है ही नहीं तो श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों में "न हन्तव्यः" किसी को मारना नहीं चाहिए यह निषेध क्यों किया जाता है। जो संभव हो उसी का तो निषेध उपयुक्त हो सकता है। संभव ही नहीं उसका निषेध करने का तो कोई प्रयोजन नहीं—"सोने के पंख मत लगाओ" ऐसा निषेध तो मनुष्य को कोई नहीं करता क्योंकि सोने के पंख लगाना संभव ही नहीं है। इसी प्रकार जब हनन संभव ही नहीं तब निषेध क्यों? और न केवल निषेध ही, किन्तु हिंसा करने पर प्रायश्चित भी न करने पर नरकपात भी शास्त्रों में वर्णित है। जब हिंसा असंभव ही हो गई तो प्रायश्चित किस बात का और नरक पतन किस कारण से इन बातों का उत्तर देने के लिए कहा जाता है कि "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" अर्थात् शरीर का हनन करने पर भी आत्मा का हनन नहीं होता। इससे यह अभिव्यंजित किया गया कि शरीर का हनन होता है और शास्त्रों में उसी का निषेध और प्रायश्चित आदि बताया गया है। पुनः प्रश्न होगा कि शरीर तो जड़ है और अवश्य विनाश शील है, एवं प्रतिक्षण परिवर्तन शील भी है। शरीर का बढ़ना घटना प्रत्यक्ष देखा जाता है। वह वृद्धि वा क्षय किसी एक खास वर्ष, मास, दिन या क्षण में नही होता किन्तु प्रतिक्षण ही होता रहता है। यह बात विचारशीलों को माननी ही पड़ेगी। तब जो स्वयं विनाश शील है उसके नाश करने का निषेध भी व्यर्थ है और उसका प्रायश्चित्त ही क्या। मार्ग में चलते समय हमारे पैर की ठोकर से कोई मिट्टी का ढेला टूट जाय तो इसका तो प्रायश्चित्त कोई भी शास्त्र नहीं बतलाता। तब मिट्टी का ढेला तोड़ देने में और एक शरीर का हाथ, मस्तक आदि काट देने में क्या भेद हुआ कि जिसका निषेध और प्रायश्चित्त शास्त्र पुकार पुकार कर कह रहे हैं। तो उसका उत्तर होगा कि शरीर यद्यपि जड़ है किन्तु आत्मा के सम्बन्ध के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब होगया है। इसी कारण शरीर में अपने पन का और चेतनता का अभिमान भी सबको है। शरीर या शरीर के अवयवों का हनन करने पर आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब वहाँ से हट जाता है। इसे ही आत्म शरीर वियोग वा मरण शब्द से लोक में कहा जाता है। इसी का निषेध और प्रायश्चित्त शास्त्रों में वर्णित है। तात्पर्य यह कि आत्मा का हनन नहीं होता किन्तु शरीर के हनन से आत्मा और शरीर के स्वत्व संबंध का विच्छेद हो जाता है। आत्मा को अणु मानने वालों के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है कि शरीर और आत्मा का संयोग विच्छेद हो जाता है। अर्थात् अणु आत्मा उस शरीर को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। इसी का नाम मृत्यु है और ऐसा ही करने का शास्त्रों में निषेध और प्रायश्चित्त वा नरक

पतन आदि दण्ड वर्णित है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारना चाहिए कि मिट्टी का ढेला यदि हमारी ठोकर से टूट जाता है तो इससे उस ढेले को किसी प्रकार का कष्ट होना प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि उसमें चैतन्य नहीं है वा चैतन्य को व्यापक मानने वालों के मतानुसार चैतन्य आवृत अर्थात् ढका हुआ है प्रस्फुट नहीं। इसलिए वह ढेला कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु शरीर में इन्द्रियों का विकास होने के कारण चैतन्य प्रस्फुट है और हमें सब प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव होता है। यही शरीर और मिट्टी के ढेले आदि में विलक्षणता है, किसी को कष्ट का अनुभव कराना ही पाप है। उसी का निषेध प्रायश्चित्त और नरक पतन आदि शास्त्रों में वर्णित है। यह तो पूर्व पद्य की व्याख्या में ही कहा जा चुका है कि यह सब विधि-निषेध अविद्या अवस्था में ही लागू होते हैं जो विद्या अवस्था में पड़े हुए हैं वे शरीर में आत्म-भाव भी मानते हैं, कष्ट का अनुभव भी करते हैं और हमने अमुक व्यक्ति को मारा वा उसे कष्ट दिया यह अनुभव भी उन्हें बना रहता है। बस इसी अभि-मान की अवस्था में दूसरे को कष्टानुभव कराने का निषेध प्रायश्चित्त आदि सब कुछ है। इसलिए आत्मा के इस स्वरूप-ज्ञान से शास्त्रों के विधि-निषेधों का कोई परस्पर विरोध नहीं होता। सभी दार्शनिकों को हिंसा-निषेध की तो इसी प्रकार संगति माननी पड़ेगी। क्योंकि वेदानुयायी दर्शनों में आत्मा का नाश तो कोई भी नहीं मानता। इसलिए आत्मा के हनन का निषेध धर्मशास्त्रादि में किसी भी दार्शनिक के मत से उपपन्न नहीं हो सकता। सभी को यही तात्पर्य मानना पड़ेगा कि आत्मा और शरीर का विच्छेद करना ही हनन है। उसी का निषेध शास्त्रों में किया गया है। विच्छेद शब्द से भी संयोग का अभाव न्याय और सांख्य मत में भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन सिद्धान्तों में भी आत्मा को व्यापक माना गया है। व्यापक के संयोग का अभाव कहीं हो ही नहीं सकता। इसलिए विच्छेद का भी अर्थ स्व स्वामिभाव रूप सम्बन्ध का हटना ही उन मतों में भी कहना होगा। अर्थात् स्व कर्मवश जिस शरीर के साथ आत्मा का स्व स्वामिभाव सम्बन्ध अब तक रहा है, वह सम्बन्ध आगे टूट जायगा, इसी का नाम मृत्यु है और इसी का निषेध या प्रायश्चित्त शास्त्रों में कहा गया है। वेद बाह्य दर्शनों में भी जैन दर्शन शरीर के साथ आत्मा का नाश नहीं मानता। हिंसा का निषेध वहाँ भी प्रबल रूप से है। जैनी भी हिंसा का अर्थ शरीर से आत्मा का वियोग ही लगा सकते हैं। अथवा उस वियोग के कारण जो दुःख आत्मा को होता है उसे ही हिंसा शब्द का अर्थ मानकर उसका निषेध माना जा सकता है। हाँ, आत्मा के भी भिन्न-भिन्न पर्याय उस सिद्धान्त में माने जाते हैं। एक जन्म एक पर्याय रूप माना जाय तो उस पर्याय का अभाव कर देना भी हिंसा शब्द का अर्थ उनके मत में हो सकता है, क्योंकि पर्याय उनके मत में विनाशी वा अनित्य ही है। बौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ प्रतिक्षण विनाशी माने जाते हैं। वहाँ आत्मा भी प्रतिक्षण विनाशी है और वह प्रतिक्षण विनाश सबका स्वभाव सिद्ध है, उसमें किसी विनाश करने वाले

की आवश्यकता नहीं। जन्म, मृत्यु शब्द का अर्थ उनके मत में यही होता है कि क्षणिक पदार्थों का प्रवाह सनातन चलता रहता है, उसी के कारण यह वही वस्तु है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भ्रम से हो जाती है। तब एक जगह उस प्रवाह सनातन का विच्छेद हो जाना ही इस मत में मृत्यु शब्द से कहा जायगा और दूसरी जगह प्रवाह सनातन का प्रवृत्त हो जाना जन्म कहा जायेगा। इस प्रकार का प्रवाह विच्छेद कर देना हिंसा है। इस प्रकार से ही हिंसा निषेध का उपपादन इस मत में भी करना होता है। यद्यपि सब पदार्थ क्षणिक हैं और उनका विनाश स्वतः सिद्ध है किन्तु उसमें अपने को निमित्त बना लेना ही पाप का कारण कहा जा सकता है। स्वसिद्धान्त में भी पूर्वोक्त इस शंका का कि शरीर जब स्वयं विनाशशील है तब उसका नाश करने में पाप का क्या सम्बन्ध हुआ. इसका उत्तर यही है कि वे चाहे विनाशशील रहे किन्तु उनके विनाश में अपना सम्बन्ध जोड़ना यही पाप है। मृत्यु तो सबकी अवश्यंभावी है। किन्तु उस मृत्यु का कारण जो अपने आपको बनावे वह पाप का भागी होता है। स्वभावतः जो होता है, वह होता रहे, हम उसमें निमित्त क्यों बनें। अपने निमित्त बनने के कारण अपने चित्त में विनाश करने का अभिमान होता है और वह अभिमान ही पाप और पुण्य का कारण है यही भगवद्गीता में स्पष्ट किया गया है। अस्तु, केवल चार्वाक दर्शन में ही आत्मा का विनाश कहा जा सकता है, क्योंकि उनके मत में शरीर ही आत्मा है। शरीर का नाश ही आत्मा का विनाश हुआ। किन्तु उस मत में पुण्य पाप की कोई व्यवस्था ही नहीं, क्योंकि कर्म फल भोगने वाला आगे कोई नहीं रहता, अतः अदृष्टवादी सभी शास्त्र उनके मतानुसार मान्य हो नहीं ही सकते। तब जो शास्त्र मानते हैं उनके मत में हिंसा का पूर्वोक्त ही अर्थ करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कोई गति नहीं।

कहा जा चुका है कि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त में जीवात्मा को व्यापक नहीं माना जाता, अणु माना जाता है। तब पूर्वोक्त प्रकार से सब क्रियाओं का अभाव उनके मत में नहीं बन सकता। क्योंकि अणु में क्रिया हो सकती है, इसलिए शरीर की क्रियाओं का प्रेरक स्वयं क्रियाशील होकर आत्मा होता है ऐसा मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं। इसलिए "नायं हन्ति न हन्यते" इस पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में वे हनन क्रिया को सब क्रियाओं का उपलक्षण नहीं मानते। केवल इस श्लोक का इतना ही अर्थ लगाते हैं कि आत्मा की नित्यता के कारण उसका हनन नहीं हो सकता। जब हनन ही नहीं हो सकता तो हनन का कर्ता भी कोई कैसे सिद्ध होगा। हनन हो तभी तो हनन का कर्ता बने इस लिए जो आत्मा का हन्ता किसी को मानता है वह भ्रम में है। यही पूर्व श्लोक का आशय उनके मतों में होता है। श्रीरामानुजाचार्य ने "य एनं वेत्ति हन्तारम्" में "एनम्" के आगे "प्रति" का अध्याहार कर आत्मा के प्रति जो किसी को हन्ता अर्थात् मारने वाला मानता है वह अज्ञानी है यही अर्थ लगाया है और हनन का अर्थ भी शरीर और आत्मा का वियोग ही किया है। मध्वाचार्य कहते हैं कि जीवात्मा तो परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रतिबिम्ब में कोई

क्रिया नहीं होती। बिम्ब की क्रिया ही प्रतिबिम्ब में भासित हो जाया करती है। इसलिए जीवात्मा में हनन का व्यवहार भ्रान्ति से ही चला है। जीव की प्रतिबिम्ब रूपता का तात्पर्य उनके मत में यही है कि जीव सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। ईश्वर प्रेरणा से ही उसके सब कार्य होते हैं। जैसे प्रतिबिम्ब स्वतः कुछ नहीं कर सकता। उसमें जो क्रिया प्रतीत होती है वह बिंब की ही क्रिया होगी अथवा जिस पर प्रतिबिम्ब हुआ उन दर्पण जल आदि की क्रिया भी उसमें प्रतीत होसकती है। किन्तु स्वतः प्रतिबिम्ब में कोई क्रिया होना संभव नहीं। अतः जीव को हनन आदि क्रियाओं का कर्ता मानना अज्ञान ही भगवान् ने बतलाया। इनके मत में सभी क्रियाओं का निषेध जीवात्मा में पूर्वोक्त प्रकार से उपपन्न हो जाता है। इस श्लोक भाष्य में मध्वाचार्य ने यह प्रतिबिंब वाद स्पष्ट लिखा है। पाणिनि मुनि ने कर्ता का लक्षण "स्वतन्त्रः कर्ता" ही किया है। जीव में जब स्वातन्त्र्य नहीं तब कर्तृत्व भी कैसे कहा जायगा। इसी आशय से भगवान् ने कर्तृत्व माननेवालों को अज्ञानी बतलाया है। इस मत में यद्यपि हिंसा के निषेध वाक्यों का तात्पर्य लगाना कठिन है। क्योंकि जीव जब सर्वथा परतन्त्र है, किसी क्रिया का कर्तृत्व जब उसमें हो ही नहीं सकता तब उस क्रिया के द्वारा होने वाले पाप-पुण्य का दायित्व उस पर कैसे लादा जाय और वह पाप-पुण्य का भागी कैसे हो। तथापि यही उत्तर दिया जा सकता है कि कौषीतकी उपनिषत् में—

"एष ह्येवैनं साधु कर्मकारयति तम, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते— एषह्येवासाधु कर्म कारयति तम्, यमधो निनीषते—"

: कौषीतकी ३, ६ :

ऐसा कहा है। अर्थात् ईश्वर जिसे उन्नत करना चाहता है उससे उत्तम कार्य करवाता है और जिसे अधोगति में ले जाना चाहता है उससे अनुचित कर्म करवाता है। इस पर वेदान्त दर्शन में प्रश्न उठाया गया है कि तब तो ईश्वर में विषमता आ गई। क्योंकि वह किसी को उन्नत तथा किसी को अवनत करना चाहता है। इसी का नाम विषमता है। इसका उत्तर वेदान्त सूत्र अध्याय २, पाद ३, सूत्र ४२ में यह दिया गया है कि पूर्व कर्मों को लक्ष्य में रखकर ही ईश्वर अग्रिम कर्मों में प्रेरणा करता है। इसलिए उसमें विषमता नहीं आ सकती और संसार चक्र अनादि है, इसलिए सबसे प्रथम प्रेरणा किस आधार पर हुई यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता। क्योंकि इस चक्र का आदि कहीं है ही नहीं। अतः पूर्व पूर्व कर्मानुसार उत्तरोत्तर कर्म में प्रेरणा होती रहती है। इससे ईश्वर में विषमता नहीं आती। उक्त सूत्र के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने कहा है कि ईश्वर मेघ वर्षा के समान सामान्य कारण है। जैसे मेघ वृष्टि सर्वत्र होती है, उसमें कोई विषमता नहीं। किन्तु जिस क्षेत्र में धान बोया गया है, वहाँ चावल ही पैदा होगा, और जहाँ बाजरा आदि सामान्य अन्न बोया गया है वहाँ वही पैदा होगा। इसमें मेघ की कोई विषमता नहीं

कही जा सकती। इसी प्रकार ईश्वर की प्रेरणा मेघ वृष्टि के समान है उस प्रेरणा से जिसके अन्तः करण में पूर्व कर्मानुसार जैसे संस्कार हैं तदनुकूल ही उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, इसमें ईश्वर पर कोई विषमता नहीं आती। पुनरपि प्रश्न होगा कि ईश्वर में विषमता न सही किन्तु विधि प्रतिषेधशास्त्र तो फिर भी व्यर्थ ही होंगे क्योंकि पूर्व संस्कारानुसार ईश्वर प्रेरणा से जीव कर्म करता जायगा। विधि-निषेध शास्त्र उसमें क्या कर सकते हैं, इसका भी उत्तर उक्त वेदान्त सूत्र में यही दिया गया है कि सामान्य रूप से प्रेरणा कर्ता ईश्वर भले ही रहे किन्तु कर्तृत्व तो जीव का ही है। प्रयोजक कर्ता और स्वतन्त्र कर्ता इन दोनों को व्याकरण शास्त्र में भिन्न-भिन्न ही माना जाता है। जब जीव में कर्तृत्व रहा तो उसके प्रति विधि-निषेध शास्त्रों की सफलता भी सिद्ध ही है। जैसे पूर्व संस्कारों का प्रभाव है, वैसे ही विधि-निषेध शास्त्रों का भी प्रभाव होता ही है। उन्हें व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। यही समाधान प्रकृत में श्री मध्वाचार्य के मत में भी हो सकेगा। इस कर्तृत्व का विवेचन भगवद्गीता के १८ वें अध्याय के "अधिष्ठानं तथा कर्ता" इत्यादि श्लोक १४, १५ में होगा। वहीं इस विषय का अधिक स्पष्ट विवरण करेंगे। अस्तु।

श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त की अनुगामिनी तत्व प्रकाशिका टीका ने भी प्रायः श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार ही व्याख्या की है। श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्तानुसार की गई व्याख्या में भी इसी प्रकार जीव की नित्यता के कारण मरने-मारने की बुद्धि को अज्ञान जनित कहा गया है, और सब कुछ भगवदिच्छानुसार ही होता है, इसलिए विधि-निषेध शास्त्र भी उनकी क्रीड़ा मात्र ही हैं। हनन का अर्थ भी देह और जीव का वियोग ही है, इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से ही व्याख्या की गई है।

इनके सिद्धान्त में जीव की परमात्मा से उत्पत्ति मानी जाती है। इसलिए "न जायते" कहना भी विरुद्ध सा प्रतीत होता है। किन्तु इसका भी समाधान उनके अनुयायी यही करते हैं कि भगवदिच्छा से उसे जीव भाव प्राप्त होगया। वास्तव में तो वह भगवान् का अंश ही है। इसलिए भगवदंशरूपता से "न जायते" कहना उपपन्न हो जाता है। भगवान् ने अपनी इच्छा से चाहे जीव को पृथक् कर दिया। किन्तु वास्तव में तो वह जन्ममरणशून्य भगवद्रूप ही है। इसलिए वैसे ही विशेषणों से उसका विवरण यहाँ गीता में किया गया है। "नायं भूत्वा भविता वा न भूयः" इसका यह भी एक आशय है कि आकाशादि कई तत्व वा सनत्कुमारादि भगवत्पार्षद कई जगह ऐसे माने गए हैं कि जो सृष्टि के आदि में एक बार उत्पन्न हो जाते हैं। फिर यावत्कल्प बने रहते हैं। उन्हें बार-बार जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। इसलिए वे "भूत्वा भूयः न भविता" हैं—अर्थात् उत्पन्न होकर फिर बार-बार उत्पन्न होने वाले नहीं हैं। किन्तु यह आत्मा वैसा भी नहीं। उनसे भी विलक्षण है। अर्थात् उसके उत्पत्ति विनाश कभी भी नहीं होते।

उन्नीसवां-पुष्प

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ अ० २।२१

पूर्व के दो पद्यों से आत्मा में विकार की संभावना न होना बतलाया गया है। उसी विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि "जो इस प्रकार आत्मा को नित्य, अविनाशी (नष्ट न होनेवाला) अज, (जन्म न लेनेवाला) और अव्यय अर्थात् न्यूनाधिक भाव से न रहने वाला—उस रूप में जान लेता है वह पुरुष किसको मार सकता है और किसके प्रति अन्य पुरुष को मारने की प्रेरणा कर सकता है।"

यहाँ "अविनाशी" "नित्य" "अज" और "अव्यय" इन शब्दों में पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है। उसका समाधान व्याख्याकार इस प्रकार करते हैं कि पूर्व पद्य में जो छहों भाव विकारों का अभाव आत्मा में बताया गया उसी की आवृत्ति उपसंहार में की गई है। "अज" शब्द से उत्पत्ति-रूप विकार का, "अव्यय" शब्द से वृद्धि और अपक्षय का, "अविनाशी" शब्द से विनाश रूप अन्तिम विकार का और "नित्य" शब्द से परिणाम रूप विकार का निषेध किया गया है। इस प्रकार पाँचों विकारों का निषेध हो जाने पर केवल सत्ता ही रह जाती है जो कि विकार रूप नहीं है, स्वरूप ही है। अथवा "नित्य" शब्द से स्वाभाविक नाश का निषेध किया गया और "अविनाशी" शब्द से नैमित्तिक विनाश का निषेध किया गया। बौद्ध दर्शन में सब वस्तुओं का स्वभावतः विनाश माना जाता है और न्याय दर्शन में उत्पत्ति और विनाश दोनों किसी निमित्त से होते हैं। दोनों ही प्रकार का प्रसंग यहाँ नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक विनाश मानने वाले स्वाभाविक ही उत्पत्ति भी मानते हैं। जब यह "अज" अर्थात् उत्पत्ति से रहित है तो विनाश का प्रसंग भी नहीं आ सकता। और "अव्यय" अर्थात् अविकारी होने के कारण किसी निमित्त से भी विनाश का प्रसंग नहीं। किसी पुरुष के दुष्ट हो जाने पर भी "यह नष्ट होगया" ऐसा लोक में व्यवहार होता है। वैसा विनाश भी आत्मा का संभव नहीं, क्योंकि अविकारी होने के कारण दोष की यहाँ कोई संभावना नहीं। इसलिए यह सर्वरूप से नित्य ही है इत्यादि रूप से भिन्न-भिन्न विशेषणों का पृथक् पृथक् अभिप्राय होने के कारण विशेषणों में पुनरुक्ति नहीं है। अर्जुन को दोनों प्रकार की शंका थी कि मैं गुरुजनों को मारूँगा इसलिए भी मुझे पाप होगा और सेना का नायक, परिचालक होने के कारण औरों के द्वारा भी बहुतों का नाश करवाऊँगा इसलिए प्रेरणा का भी पाप मुझे होगा। अथवा अर्जुन को यह भी शंका हो सकती है कि भगवान् कृष्ण

मुझे भीष्म द्रोणादि के मारने की प्रेरणा कर रहे हैं तो पाप की प्रेरणा का पाप इनको भी होगा। इन दोनों शंकाओं का निवारण करने के लिए "कं घातयति," और "कं हन्ति", दोनों पदों से हनन क्रिया और प्रेरणा क्रिया, दोनों का ही निषेध भगवान् ने किया है। संस्कृत भाषा में "किम्" शब्द का प्रयोग प्रश्न अर्थ में भी होता है और आक्षेप अर्थ में भी। यहाँ भगवान् स्वयं उपदेश दे रहे हैं, प्रश्न का कोई प्रसंग नहीं है, इसलिए आक्षेप ही "किम्" शब्द का अर्थ है। अर्थात् हनन या प्रेरणा आत्मा में संभव नहीं हो सकती। कदाचित् प्रश्न हो कि हनन, प्रेरणा आदि सब क्रियाओं का व्यवहार तो आत्मा में स्पष्ट देखा जाता है। अमुक पुरुष ने अमुक को मार दिया या अमुक पुरुष को किसी के द्वारा मरवा दिया ऐसा अन्य लोग भी व्यवहार करते हैं, और स्वयं भी मनुष्य के हृदय में ऐसा अनुभव होता है कि मैं इसे मार रहा हूँ, मैं मारने की प्रेरणा कर रहा हूँ, इत्यादि। इसका उत्तर होगा कि आत्मा के स्वरूप को जो नहीं जानते वे ही ऐसा व्यवहार करते हैं। जो आत्मा के स्वरूप को जान गए कि आत्मा सर्व विकार रहित और व्यापक तत्व है वे ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते क्योंकि व्यापक तत्व में क्रिया हो ही नहीं सकती इसका विशेष विवरण "य एनं वेत्ति हन्तारम्" इत्यादि पूर्व श्लोक में कर चुके हैं। कदाचित् प्रश्न हो कि यह उपदेश सुनकर आत्मा के नित्यत्व और व्यापकत्व का ज्ञान तो हमें हो गया किन्तु हनन आदि सब क्रियाओं का अपने में या दूसरे में भान तो अब भी होता ही है तो इसका उत्तर है कि शब्द सुनकर जो ज्ञात होता है वह परोक्ष ज्ञान है। वह अनादि काल से चली आ रही कर्तृत्व आदि भ्रम की वासना को निवृत्त नहीं कर सकता। अनादि काल का भ्रम बद्धमूल है, अपनी जड़ जमाए बैठा है, उसे एक बार सुनने से जो अल्पकालिक ज्ञान होगा वह कैसे हट सकेगा। लोक में एक कहावत प्रसिद्ध है कि किसी हिन्दू जाति के मनुष्य ने अपनी चालीस वर्ष की अवस्था में धर्म परिवर्तन कर मुस्लिम धर्म को ग्रहण कर लिया और एक मौलवी साहब की देखरेख में रहने लगा। दूसरे दिन प्रातःकाल जब उठा तो अपने पूर्व संस्कार के अनुसार "हरे कृष्ण गोविन्द दामोदर" इत्यादि स्मरण करने लगा। जब मौलवी साहब ने उसे डाँटा कि यह क्या करता है, तुझे "अल्ला; खुदा", का नाम लेना चाहिए, तब उसने उत्तर दिया कि मौलवी साहब! आपका अल्ला और खुदा मेरे हृदय में अभी एक दिन हुए तब आया है, वह चालीस वर्ष से हृदय में बैठे हुए "कृष्ण-गोविन्द" को इतना जल्दी कैसे हटा सकेगा। वही बात यहाँ भी है। अनादि काल की भ्रम वासना एक बार के शब्द जन्य परोक्ष ज्ञान से दूर नहीं हो सकती। जब चिरकाल तक इस उपदेश का मनन और निदिध्यासन होकर आत्मा के व्यापकत्व, अकर्तृत्व आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होगा तब ही वह भ्रम वासना निवृत्त होगी और ऐसा प्रत्यक्षानुभव करने वाला पुरुष ही विद्वान् या आत्मवित् कहलाने का अधिकारी हो सकता है। उसी के लिए भगवान् ने यहाँ कहा है कि वह किसको मारता है और किसको मारने की प्रेरणा कर सकता है। प्रत्युत् इस पद्य में यह भी भाव निकल

सकता है कि "स कथं पुरुषः", अर्थात् वह जीवन्मुक्त पुरुष पद से भी क्यों कहा जाय। क्योंकि "पुरुष" शब्द का अर्थ भी तो वही है कि जो शरीर आदि पुर में शयन करे वह पुरुष कहलाता है। ईश्वर के लिए जो पुरुष पद का व्यवहार श्रुतियों में हुआ है वह भी माया रूप पुर में शयन करने के कारण ही है। शुद्ध निष्कल ब्रह्म को पुरुष नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जब स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में बद्ध रहने की भावना रहे तब ही जीव भी पुरुष कहलाता है। जिसने आत्मा को तीनों शरीरों से पृथक् या यह कहो कि उनसे कोई सम्बन्ध न रखने वाला, समझ लिया वह पुरुष भी किस आधार से कहा जाय। इस लिए जीवन्मुक्त को पुरुष भी भूतपूर्व गति से ही कह सकते हैं। वस्तुतः वह पुरुष नहीं है।

श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार इस पद्य से "कर्म संन्यास" का प्रभाव प्रकट होना कहते हैं। यहाँ यद्यपि हनन क्रिया और हनन क्रिया के फल का ही निषेध किया गया है। किन्तु वह एक उपलक्षण मात्र है। आत्मा में कोई क्रिया नहीं हो सकती और न उसका कोई फल आत्मा पर संभव हो सकता है। क्योंकि आत्मा व्यापक और निर्विकार है। व्यापक में क्रिया और निर्विकार में क्रिया के फल का होना संभव नहीं यह बात पूर्व के दो पद्यों के व्याख्यानों में स्पष्ट की जा चुकी है। जब आत्मा में क्रिया वा क्रिया का फल होना संभव ही नहीं तो फिर सब क्रियाएँ जल ताड़न के समान निष्फल ही कही जायेंगी। इसलिए आत्मज्ञ विद्वान् कोई क्रिया नहीं करता। वह समस्त कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग कर देता है, यही इस पद्य का आशय स्पष्ट होता है। इससे कर्म संन्यास का विधान यहाँ सिद्ध होता है। इस पर प्रश्न यह होता है कि यदि किसी क्रिया का फल आत्मा पर नहीं माना जाय तो शास्त्रों में जो विधि और निषेध हैं वे सब व्यर्थ हो जायेंगे। विधि वाक्यों का तात्पर्य यही है कि यज्ञादि कर्म करने से अभ्युदय होता है और प्रतिषेध वाक्यों का तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि कर्म करने से आत्मिक पतन होता है। जब आत्मा के अभ्युदय और पतन हो ही नहीं सकते तो वे विधि और निषेध सर्वथा व्यर्थ होंगे। इसका उत्तर संन्यास मार्ग के अनुयायी यह देते हैं कि विधि-निषेध आदि सारे शास्त्र अविद्वान् के लिए हैं। जब तक पूर्वोक्त रूप से आत्मा का साक्षात्कार अर्थात् विस्पष्ट अनुभव नहीं हुआ तब तक वह अविद्वान् पुरुष व्यवहार दशा में अपना ही अभ्युदय और पतन समझता रहता है, और उसकी प्राप्ति या उससे बचने के उपाय भी आवश्यक समझ कर करता रहता है। उसी के लिए उपाय रूप से विधि और निषेध शास्त्रों में बताये गए हैं। आत्मज्ञ विद्वान् के लिए कोई विधि है न कोई निषेध। वह विधि-निषेध से अलग हो गया है। उसका तो केवल आत्मज्ञान में अधिकार है। इसीलिए अभियुक्तों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—

"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः"

अर्थात् गुणत्रय के मार्ग से जो पृथक् हो गया उसके लिए विधि और निषेध कुछ भी नहीं। यह सब पूर्व प्रवचन में भी स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ उसे प्रसंगागत पुनः कहा गया। तब पुनः शंका होती है कि ज्ञान का विधान भी तो अविद्वान् के लिए ही है। जिसे ज्ञान प्राप्त हो चुका उसे ज्ञान में प्रवृत्त कराने की क्या आवश्यकता? उत्तर है कि ठीक है, जब तक ज्ञान परिपक्व न हो तभी तक ज्ञान के उपाय श्रवण, मनन आदि भी कर्तव्य रहते हैं। ज्ञान का परिपाक हो जाने पर तो इनकी भी कोई आवश्यकता नहीं। इसीलिए वहाँ सर्व कर्म संन्यास कहा जाता है फिर प्रश्न होता है कि यदि अविद्या की दशा में अविद्वान् के लिए ही सारे शास्त्रों का उपयोग होता है तो वे भी एक प्रकार से अविद्या के ही अन्तर्गत हुए। फिर उनमें प्रामाण्य शिष्ट लोग क्यों मानते हैं? इसका भी उत्तर इस मार्ग के अनुयायी यही देते हैं कि जब सब व्यवहार अविद्या के ही अन्तर्गत चलते हैं तो उनके प्रतिपादक शास्त्र भी अविद्या से बहिर्भूत कैसे हो सकेंगे। अविद्या की दशा में अर्थात् व्यवहार दशा में ही उनका प्रामाण्य है। शारीरिक भाष्य की अवतरणिका में श्री शंकराचार्य ने संपूर्ण प्रमाण प्रमेय व्यवहार को अविद्यावान् के लिए ही उपयोगी सिद्ध किया है। आत्मज्ञ विद्वान् के लिए तो स्पष्ट कहा गया है कि—"नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विलपनं हि तत्" अर्थात् बहुत से शब्दों के विचार में नहीं पड़ना चाहिए, वह प्रमाणभूत शब्दों का अभ्यास भी वाणी को ग्लानि में डालता है। अन्यत्र कहा गया है—"अन्या वाचो विमुञ्चथ" अर्थात् आत्मानुचिन्तन के अतिरिक्त अन्य वाणी मात्र को छोड़ दो। इसी आधार पर उपनिषदों में परा और अपरा नाम से विद्याओं के दो भेद प्रस्तुत कर वेद-वेदांग आदि सब को अपरा विद्या की कोटि में ही गिनाया गया है। केवल आत्म प्रतिपादक शास्त्र ही परा विद्या माने गए हैं। उनका भी मनन ज्ञान के परिपाक होने तक ही आवश्यक है। परिपाक हो जाने पर उनका भी प्रयोजन न रहने से त्याग ही करना होगा। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने इष्ट स्थान में पहुँचने के लिए किसी सवारी का उपयोग करता है और नियत स्थान पर पहुँच जाने के अनन्तर उसका त्याग ही करना आवश्यक होता है। यदि उपयोगी समझ कर फिर भी सवारी को न छोड़े तो उस पर सदा बैठा इधर-उधर चक्कर ही काटता रहेगा, अपना इष्ट स्थान उसे कभी प्राप्त न होगा। इसी प्रकार शास्त्र या उनके प्रतिपादित कर्म विस्पष्ट आत्मज्ञान तक पहुँचा देने में ही उपयोगी हैं। आत्मज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर भी उनका यदि त्याग न किया जाय तो आवागमन के चक्र में ही पड़ा रहना होगा। मुक्ति कभी न मिलेगी। इसलिए मुक्ति तो सर्वकर्म संन्यास से ही साध्य है।

इस पर बहुत बड़ी शंका यह उपस्थित होती है कि प्रथम अध्याय के आलोचन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अर्जुन अपना कर्म छोड़कर भिक्षान्न भोजन रूप संन्यास धर्म में ही प्रवृत्त होना चाहता था। उसे कर्म संन्यास से हटाकर कर्म में प्रवृत्त करने के लिए ही तो गीता के उपदेश का समारंभ है। तब

इस उपदेश में भी यदि कर्म संन्यास की मुख्यता बता दी जाय तो अर्जुन जो कुछ करने लगा था वही ठीक था। फिर उपदेश की आवश्यकता ही क्या थी ? इसका भी उत्तर इस मार्ग के अनुयायी यही देते हैं कि अर्जुन अभी परिपक्व ज्ञान संपन्न नहीं था। वह यदि कर्म छोड़ देता तो "इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः" हो जाता। जैसे मार्ग के मध्य में ही यदि कोई सवारी छोड़ दे तो वह इधर या उधर कहीं का नहीं रहता। इसीलिए भगवान् को यह उपदेश देना पड़ा कि तुम्हारा अधिकार अभी कर्म में ही है। तुम कर्म छोड़ देने से मार्ग भ्रष्ट हो जाओगे। किन्तु अज्ञान रूप मोह दूर करने के लिए आत्मा का स्वरूप भी बतलाना आवश्यक था। उसके संबन्ध से कर्म संन्यास की बात भी प्रसंग में आ ही जाती है और इसलिए भी भगवान् उसे प्रकट कर देते हैं कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य वही है। इसलिए यहाँ भी कर्म-संन्यास का प्रतिपादन हो जाना अनुपयुक्त नहीं है।

अन्यान्य वैष्णव आदि संप्रदायों के अनुयायी व्याख्याकार यहाँ कर्म संन्यास का प्रतिपादन नहीं मानते। उनका आशय यही है कि यहाँ तो आत्मा की नित्यता का ही प्रकरण चल रहा है। इसलिए "न हन्यते" कहने का ही भगवान् का तात्पर्य है। जब हनन होता ही नहीं तो आत्मज्ञ विद्वान् हनन करना वा कराना भी कैसे मानेगा। इस प्रकार हनन क्रिया और उसके फल के निषेध में ही यहाँ तात्पर्य है। हनन को समस्त क्रियाओं का उपलक्षण समझ लेना प्रकरण और युक्ति दोनों के विरुद्ध है। वैष्णव संप्रदायों के आचार्य आत्मा को अणु मानते हैं। अणु का विभाग नहीं हो सकता, इसलिए उसमें नित्यता युक्तियुक्त है। किन्तु अणु में क्रिया भी न हो सके इसकी कोई युक्ति नहीं। इस लिए सर्वक्रिया निषेध युक्ति सिद्ध नहीं होता। इसीलिए शास्त्रोक्त विधि-निषेध भी उपपन्न हो जाते हैं, और कर्म करना व उसका फल भोगना दोनों ही बातें जीव में उपपन्न हो जाती हैं। फल भोक्ता होने पर भी स्वरूप नाश नहीं होता यही इस मत में निर्विकारता का तात्पर्य है। जैसा कि न्यायशास्त्र के सिद्धान्त में बुद्धि सुख-दुःख आदि गुणों के आत्मा में उत्पन्न विनष्ट होते रहने पर भी स्वरूप नाश न होने के कारण आत्मा की नित्यता बनी रहती है उसी प्रकार वैष्णव सिद्धान्तों में भी आत्मा की नित्यता जान लेनी चाहिए।

लोकमान्य तिलक यद्यपि दार्शनिक विषयों में श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के अनुयायी हैं तथापि वे गीता का प्रतिपाद्य कर्म संन्यास नहीं मानते। उनका मत है यद्यपि आत्मा निर्विकार है उसमें क्रिया वा क्रिया का फल संभव नहीं। किन्तु उसकी प्रेरणा से मन, वाक् शरीर आदि में तो कर्म होते ही हैं। वे जैसे संसारी पुरुष के होते हैं वैसे ही ज्ञानी पुरुष के भी होते रहेंगे और फल भोग की इच्छा तो होनी ही न चाहिए। यही गीता का सिद्धान्त है कि फल भोग की इच्छा न रहने पर भी कर्तव्य बुद्धि से वा लोक संग्रहार्थ कर्म करना उचित है। यह आगे कर्म योग के प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जायगा। यहाँ मत-

भेद का प्रदर्शन मात्र कर दिया गया है। यहाँ श्री विद्यावाचस्पति जी के पूर्वोक्त सिद्धान्त का भी स्मरण कर लेना चाहिए कि अव्यय शब्द केवल विशेषण रूप नहीं किन्तु परमात्मा और उसके अंश भूत निर्विकार आत्मा के लिए निरूढ़ है। अतएव जहाँ जहाँ ऐसा प्रसंग आता है वहाँ अव्यय शब्द गीता में अवश्य प्रयुक्त हुआ है। यह सब विषय पूर्व—"अविनाशि तु तद्विद्धि" इत्यादि श्लोक के प्रचवन में स्पष्ट कर चुके हैं! यहाँ भी उसका स्मरण करा देना आवश्यक था।

———

बीसवां-पुष्प

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। २-२२

अब प्रश्न होता है कि यदि जन्म-मृत्यु आत्मा के हैं ही नहीं तो संसार में "बालक का जन्म हुआ", "अमुक व्यक्ति मर गया" आदि व्यवहार किस आधार पर प्रचलित होते हैं। इसका उत्तर इस पद्य से दिया जाता है कि जिस प्रकार कोई भी मनुष्य फटे वस्त्रों को छोड़कर, नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार देही आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में चला जाया करता है। यह नये शरीर का परिग्रह ही जन्म नाम से व्यवहृत होता है और जीर्ण शरीर के परित्याग को ही मृत्यु कहते हैं।

यहाँ जीर्णता से अभिप्राय केवल वृद्धावस्था के कारण अशक्त हो जाने का ही नहीं है किन्तु जिन कर्मों के कारण यह शरीर मिला है उन प्रारब्ध कर्मों का समाप्त हो जाना ही जीर्णता है। इसलिए युवावस्था में या बाल्यावस्था में भी मृत्यु होना उपपन्न हो जाता है। जितने कर्मों के फल भोग के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ उतने कर्मों का फल भोग समाप्त हो जाने पर वह शरीर आगे कार्य करने में अशक्त हो जायगा क्योंकि पूर्व कर्म ही आगे के कर्म कराने में सहायक होते हैं यह गीता के अन्तिम अध्यायों में स्पष्ट हो जायगा। जब पूर्व कर्म का संस्कार नहीं रहा तो आगे कर्म करने में अशक्ति होगी। यही अशक्ति यहाँ जीर्णता पद से कही गई है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि जैसे शरीर के लिए शोभाकारक वा शीतादि निवारक वस्त्र हैं इसी प्रकार जीवात्मा के लिए कर्म साधन वस्त्र स्थानीय शरीर हैं। जैसे वस्त्र बदल देने पर भी शरीर के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता वैसे ही शरीर बदल देने पर भी आत्मा के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। यहाँ प्रश्न उपस्थित होगा कि आत्मा को जब विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक माना जाता है तब एक शरीर छोड़ना और दूसरा ग्रहण करना यह क्रिया आत्मा में कैसे संभव हो सकेगी। क्योंकि जो तत्व सर्वत्र व्यापक है उसमें तो देश त्याग रूप क्रिया संभव ही नहीं हो सकती। आकाश अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर कैसे जा सकता है। इसी प्रकार व्यापक आत्मा एक स्थान से दूसरे स्थान में कैसे चला जायगा। इसका उत्तर है कि हमारे दर्शन शास्त्रों में शरीर तीन प्रकार के माने गए हैं, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, और कारण शरीर। इनमें एक स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर दूसरे स्थूल शरीर में चला जाता है। इसी का नाम मृत्यु या जन्म है।

जैसे एक घड़े को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में रख देने पर घड़े के चलने के कारण घटाकाश का ही चलना मान लिया जाता है, तभी तो उस घट के आकाश में भरा हुआ अन्न, घृत, जल आदि भी अब दूसरे स्थान में मिलने लगता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के चलने के कारण उसमें परिच्छिन्न आत्मा का भी चलना मान लिया जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ "देही" शब्द का अर्थात् आत्मा का जाना कहा गया। अथवा यहाँ "देही" शब्द का अर्थ सूक्ष्म शरीर ही कर लेना चाहिए। हमारे इस स्थूल शरीर का स्वामी होने के कारण सूक्ष्म शरीर को ही "देही" कहना युक्ति युक्त है। इस सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ नाश नहीं होता किन्तु वह संपूर्ण सृष्टि के प्रलय पर्यन्त बना रहता है और भिन्न भिन्न देहों में जाता रहता है। प्रलय दशा में इसका भी नाश हो जाता है तब भी वासनाओं का आधार अविद्या रूप "कारण शरीर" बना रहता है। इसलिए प्रलय का अवसान होने पर पुनः सृष्टि में फिर वे ही जीव शरीर ग्रहण करने लगते हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन प्रतिदिन की तीन अवस्थाओं में भी जागृत में स्थूल शरीर का भी क्रियाकलाप चलता है, स्वप्न में केवल सूक्ष्म शरीर का और सुषुप्ति में दोनों का लय हो जाने पर केवल कारण शरीर रहता है। इसलिए जागते ही हमें पूर्व की सब बातों का स्मरण हो आता है और अपने अधूरे कामों को पूरा करने में हम लग जाया करते हैं। इस सूक्ष्म शरीर में कितने तत्व सम्मिलित हैं और देहान्तर में जाने के लिए उसकी गति किस प्रकार होती है इन सब बातों का निरूपण भगवद्गीता के अष्टम अध्याय के व्याख्यान में होगा।

इस पद्य से यह आशय प्रकट होता है कि पहिले पुराना शरीर छोड़ दिया जाता है और उसके अनन्तर दूसरा शरीर प्राप्त किया जाता है। किन्तु श्रीमद्-भागवत में एक दूसरा दृष्टान्त आया है—

"व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथातृणजलौकैवं देही कर्म गतिं गतः" ॥ ः स्कन्ध १० अ० १ श्लोक ४० ः

अर्थात् जलूका (जोंक) किसी तिनके पर चलती हुई एक चरण से तिनके को पकड़े रहती है और दूसरे अग्रभाग रूप चरण से दूसरे तृण को जब पकड़ लेती है तो पहिले तृण को छोड़ती है। यही स्थिति कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में जाने वाले जीव की है। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि पहिले दूसरे देह को पकड़कर तब जीवात्मा वा सूक्ष्म शरीर पहिले देह को छोड़ता है। इन दोनों बातों में कुछ विरोध प्रतीत होता है। एक वस्त्र को उतार कर अनन्तर दूसरा वस्त्र धारण करने की तरह पहिले एक शरीर को छोड़कर तब दूसरा शरीर लिया जाता है या जलूका के दृष्टान्त के अनुसार पहिले दूसरा शरीर ग्रहण कर तब पहिले शरीर का त्याग किया जाता है। इसका ठीक समाधान नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक यह भी प्रबल शंका उठती है कि ऐसे हजारों लाखों शरीरों

के खजाने कहाँ भरे हुए हैं जिन्हें सूक्ष्म शरीर पकड़ता जाता है। वस्त्र तो सिले सिलाए धुले धुलाए हमारे बक्सों में रक्खे रहते हैं इसलिए पुराना जीर्ण वस्त्र छोड़कर हम नया पहिन लेते हैं। जलूका के सामने भी अन्य तिनका उपस्थित है जिसे पकड़ कर वह पहिले तिनके को छोड़ देती है किन्तु भिन्न-भिन्न योनियों के ऐसे लक्षावधि शरीर कहाँ भरे हुए हैं जिन्हें प्रत्येक सूक्ष्म शरीर पकड़ता जाय या पहिनता जाय। शरीर तो इसके गर्भ में प्रवेश करने पर पीछे तैयार होता है। तब उक्त दोनों ही दृष्टान्तों की संगति कैसे बैठाई जाय या शरीरान्तर प्राप्ति का क्रम कैसे समझा जाय ? शारीरिक दर्शन के तृतीयाध्याय प्रथम सूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने इस पर विचार किया है। और अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि शरीरान्तर परिग्रह न देह त्याग से पहिले होता है और न कपड़े की तरह तत्काल ही हो जाता है किन्तु वह उपनिषदों में चर्चित पंचाग्नि क्रम से होता है। भागवत में कहे गए जलूका के दृष्टान्त का आशय तो इतना ही है कि कर्म के अनुसार जो देह आगे प्राप्त करना है उसकी भावना शरीर त्याग से पहिले ही सूक्ष्म शरीर में उपस्थित हो जाती है और वह भावना तब तक बनी रहती है जब तक कि वह शरीर स्थूल रूप में बनकर प्राप्त न हो जाय। श्री शंकराचार्य के भाष्य की यह पंक्ति है कि—"कर्मोपस्थापित प्रतिपत्तव्य देह विषयक भावना दीर्घाभावमात्रं जलूकया उपमीयते"। अर्थात् प्रयाण के समय आगे का जन्म दिलाने के लिए जो प्रधान कर्म अग्रसर होता है वह आगे के प्राप्तव्य शरीर की भावना को उसी समय उपस्थित कर देता है। उस भावना का दीर्घीभाव अर्थात् दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त होने तक बना रहना ही जलूका की उपमा से बताया गया है। पहिले ही दूसरा शरीर पकड़ लिया, इसका आशय यही है कि उस शरीर की भावना पहिला शरीर छोड़ने से पहिले ही उपस्थित हो गई। अर्थात् साँचा बनकर तैयार हो गया अब उसमें ढलकर मूर्ति क्रम से तैयार होती रहेगी। भगवद्गीता के इस वस्त्र के दृष्टान्त का आशय भी इतना ही है कि एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर आत्मा लेता रहता है। तत्काल ही लेता है ऐसा बताने में इस पद्य का आशय नहीं। अष्टमाध्याय में यही बतलाया जायगा कि जिस भाव का स्मरण करता हुआ प्राणी शरीर छोड़ता है उसी भाव के शरीर को आगे प्राप्त करता है और तब तक उस भाव से भावित रहता है। इसलिए शास्त्रों में परस्पर विरोध कुछ नहीं, भावना रूप से आगे के शरीर का साँचा पहिले ही तैयार हो गया। इसे ही दूसरे शरीर का पकड़ना मान कर श्री भागवत में जलूका का दृष्टान्त दे दिया गया और स्थूल रूप से शरीरान्तर प्राप्ति पूर्व शरीर छोड़ने के अनन्तर ही होती है इस आशय से वस्त्र का दृष्टान्त यहाँ गीता में दिया गया है। भावुक सज्जन विचार पूर्वक दोनों का अविरुद्ध आशय समझ लिया करते हैं। पंचाग्नि क्रम से शरीर प्राप्ति किस प्रकार उपनिषदों में बतलायी गई है और वह किस प्रकार वैज्ञानिक है यह सब विवेचन अष्टम अध्याय के व्याख्यान में ही किया जायगा। इससे यह भी सूचित किया कि जीर्ण शरीर

को छोड़कर नया शरीर लेना एक प्रकार से हर्ष का कारण हो सकता है। पुरानी वस्तु को छोड़कर नई लेने में सबको आनन्द ही देखा जाता है फिर देहान्तर प्राप्ति में शोक करना तो अज्ञान ही कहा जायगा।

उक्त आत्मा की नित्यता का ही उपसंहार रूप वर्णन स्पष्टता के लिए आगे के तीन पद्यों में किया जाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २-२३,

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २-२४,

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २-२५,

"इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल इसे गलित नहीं कर सकता, वायु इसे सुखाता नहीं।" कदाचित् शंका हो कि इस समय चाहे न काटते जलाते हों किन्तु कालान्तर में तो ऐसा होना संभव है। इसका भी निषेध करते हैं कि—"आत्मा काटने के योग्य ही नहीं है, जलाने गलाने-सुखाने के भी योग्य नहीं है क्योंकि यह तो नित्य है, सर्वत्र व्याप्त है, सदा स्थिर है, अचल है अर्थात् कभी अपना स्थान भी नहीं छोड़ता और सनातन अर्थात् सदा रहने वाला है।" "अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है, अचिन्त्य अर्थात् मन के विचारों में भी नहीं आ सकता, यह तो सर्वथा विकार रहित कहा जाता है, इस प्रकार आत्मा को समझकर शोक करना तुम्हें सर्वथा उचित नहीं।"

यद्यपि यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि जब अविनाशी और नित्य कह दिया तो कटने-जलने आदि सब बातों का निषेध सिद्ध हो ही गया। फिर बार-बार इन बातों को दुहराना तो पिष्टपेषण मात्र है और व्यर्थ ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना है। किन्तु जो बात लोक सिद्ध न हो और जैसा हम आज तक समझते आए हैं उससे सर्वथा विपरीत हो उसे बुद्धि में बैठाने के लिए अनेक प्रकार से बार-बार कहना ही पड़ता है। सूक्ष्म तत्व वा नई बात को हृदय में बैठाने के लिए यह आवश्यक है। इसलिए सूक्ष्म तत्व के प्रतिपादन में पुनरुक्तिदोष शिष्ट परम्परा में नहीं माना जाता। आत्मा की नित्यता बता देने पर भी यह शंका उठ सकती है कि आत्मा चाहे नित्य हो किन्तु रहता तो वह शरीर रूप गृह में ही है। तब घर जलने पर जैसे घर के भीतर की सब वस्तुएँ जल जातीं हैं उसी प्रकार शरीर के छेदन दाह आदि से आत्मा के भी छेदन दाह आदि का प्रसंग क्यों न होगा? यदि कहो कि घर जलने पर भी घर के भीतर का आकाश तो

नहीं जलता। इसी प्रकार आत्मा का दाह आदि न होगा तो इस पर भी प्रश्न होगा कि आकाश में भी घर के जलने पर उष्णता तो व्याप्त हो ही जाती है तब आकाश भी निर्विकार तो नहीं रहा। इसी शंका के निराकरण के लिए आगन्तुक विनाश का अभाव भी भगवान् बतलाते हैं। आगन्तुक विनाश भूतों के द्वारा ही संभव हो सकता है। उनमें भी आकाश तो निस्तब्ध है, उदासीन है। वह तो विनाश का साधन बन ही नहीं सकता। तब ४ भूत रहे, उन चारों के द्वारा विनाश या विकार का अभाव इन पद्यों में बतलाया गया। शस्त्र नहीं काट सकते इससे पृथिवी द्वारा विनाश का अभाव बतलाया गया है। उसका कारण अच्छेद्यता को बतलाया। आशय यह है कि पार्थिव शस्त्र बाण खड्ग आदि सावयव वस्तु का छेदन कर सकते हैं। अवयवों का विभाग कर देने का नाम ही छेदन है, तब निरयव आत्मा पर इनका क्या प्रभाव हो। जल नहीं गला सकता इससे जल के द्वारा विनाश का अभाव बतलाया गया। क्योंकि जल के द्वारा गलाना स्पर्श वाले द्रव्य का ही हो सकता है। आत्मा जब स्पर्शवान् नहीं तो जल इसे कैसे विकृत कर सकता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु के द्वारा भी विकार का अभाव "अदाह्यः" और "अशोष्यः" पदों के द्वारा बतलाया गया। इन सब बातों का अर्थात् स्वतः विनाश न होने का और आगन्तुक दोषों से भी विनाश का प्रसंग न होने का मुख्य कारण चौबीसवें श्लोक के उत्तरार्ध और पचीसवें श्लोक के पूर्वार्ध में बताया गया है। इन में आत्मा के इतने विशेषण हैं—नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य। इन विशेषणों में भी कई में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, उसका परिहार व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार से किया है। एक प्रकार यह है कि क्रिया का प्रभाव चार प्रकार से भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर हुआ करता है जिस पर क्रिया का प्रभाव हो उसे व्याकरण शास्त्र में कर्मकारक कहते हैं। चार प्रकार का प्रभाव होने के कारण कर्म के चार भेद व्याकरण में जाते हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य। "कुम्भकार घट का निर्माण करता है" इत्यादि वाक्यों में "घट" उत्पाद्य कर्म है। क्योंकि घड़ा पहिले नहीं था, वह उत्पन्न किया जाता है। "रंगरेज कपडा रंगता है" इत्यादि वाक्यों में कपड़ा "विकार्य" कर्म है। कपड़ा पहिले भी है और पीछे भी है, उसका उत्पादन नहीं किया जाता किन्तु उसका रूप परिवर्तन कर पूर्वावस्था से भिन्न अवस्था लाई जाती है। इसलिए यह विकार्य कर्म कहलाता है। "पाचक चावल पकाता है" यहाँ चावल "संस्कार्य" कर्म है, क्योंकि उसकी कठोरता हटाकर कोमलता लाई जाती है। यह एक प्रकार का संस्कार है। विकार में किसी एक गुण या विशेषता का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है किन्तु संस्कार में गुण का स्वरूप पतिवर्तन मात्र किया जाता है। जैसा कि चावल के स्पर्श को कठोर से कोमल कर दिया गया इस अल्प भेद से ही विकार्य और संस्कार्य में भेद मान लिया जाता है। वस्तुतः संस्कार्य का उदाहरण शास्त्रीय रूप में प्राप्त होता है जैसा बालक को उपनीत किया जाता है,

यहाँ बालक के वाह्य स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु उसकी बुद्धि में एक प्रकार का अतिशय डाल दिया गया। वह संस्कार्य कर्म है। संस्कारों का विवरण हम प्रथमाध्याय के प्रथम प्रवचन में ही कर चुके हैं—वहाँ इसके लौकिक उदाहरण भी दिये गये हैं। अस्तु! ये संस्कार जिसके हों वह संस्कार्य कर्म कहलाता है। विकार्य में वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन किया जाता है किन्तु संस्कार्य में आगन्तुक दोषों को हटाया जाता है वा नए गुणों का आधान होता है। वस्तु के स्वरूप में विकार नहीं होता यही उनमें भेद है। "मनुष्य ग्राम जाता है" यहाँ ग्राम प्राप्य कर्म है। ग्राम पहिले उसे अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कर ली जाती है। यहां कर्म के स्वरूप में कोई विलक्षणता प्रतीत नहीं होती। मनुष्य को उसकी प्राप्ति हो जाती है। यही मनुष्य की क्रिया का फल है। अस्तु इन चारों ही प्रकार के क्रिया फल का आत्मा में अभाव चार विशेषणों से बतलाया गया है। "नित्य" शब्द से आत्मा उत्पाद्य कर्म नहीं है, यह कहा गया। "सर्वगत" शब्द से वह सर्वत्र व्याप्त है, किसी को अप्राप्त नहीं, जिसकी प्राप्ति की जाय, इस विशेषण से प्राप्त कर्मता का अभाव बतलाया। "स्थाणु" अर्थात् सर्वदा एक रूप से स्थिर है इस विशेषण से विकार्य कर्मता का अभाव बतलाते हैं और "अचल" विशेषण से संस्कार्य कर्मता का अभाव बतलाते हैं। कोई वस्तु स्वयं स्थिर रहने पर भी अन्य के संबंध से विचलित हो जाया करती है। जैसे स्थाणु स्वयं चलित नहीं होता किन्तु किसी शकटी आदि पर लाद कर उसे ले जाया जा सकता है। यह आगन्तुक क्रिया हुई। "अचल" पद से आगन्तुक क्रिया का भी अभाव बताया जाता है। इसलिए न तो आत्मा में कोई आगन्तुक दोष है जिनका मार्जन किया जाय और न आगन्तुक गुणों का आधान उस पर किया जा सकता है, न किसी अंग की उसमें हीनता है। इसलिए वह संस्कार्य भी नहीं हो सकता। इस प्रकार इन चार विशेषणों से चारों प्रकार के क्रिया सम्बन्धों का अभाव बतलाया गया। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि जहाँ क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं उसकी तो सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। क्योंकि कई दर्शनकारों ने सत्ता का लक्षण अर्थक्रियाकारिता ही किया है। अर्थात् जो किसी वस्तु का उत्पादन करता हो वा कोई क्रिया करता हो वही सत् कहा जा सकता है। जो कुछ न करे उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सनातन पद दिया गया है। अर्थात् वह आत्मा तो सदा रहने वाली वस्तु है। उस पर सत्ता या असत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। वह स्व प्रकाश है। कभी किसी मनुष्य को यहाँ तक कि विक्षिप्त को भी यह भ्रम नहीं होता कि "मैं नहीं हूँ"। अथवा "मैं हूँ या नहीं हूँ" ऐसा संशय भी किसी को कभी नहीं होता। इसलिए आत्मा के विषय में जब संशय, विपर्यय अर्थात् भ्रम कभी होता ही नहीं तब यह तो सनातन नित्य सिद्ध हुआ। इसमें सत्ता असत्ता का प्रसंग ही क्या रहा? पुनः प्रश्न हो सकता है कि अच्छा फिर आत्मा 'अहं' ज्ञान इसका विषय तो हुआ। विषयता भी एक प्रकार का

पांचवां कर्म है। मैं अमुक वस्तु को जानता हूँ यहां वस्तु में कर्मकारक रूपता व्यवहृत होती है। किन्तु वह पूर्वोक्त कर्म कारक के चारों प्रकारों में से कहीं भी नहीं आती। इसलिए इसे पांचवें प्रकार का कर्म कहना पड़ेगा। ज्ञान इच्छा आदि मनोवृत्ति भी मन की क्रियाएँ ही मानी जाती हैं। उन क्रियाओं का सम्बन्ध तो ज्ञान का विषय होने के कारण आत्मा के साथ हो ही गया इसका भी निराकरण "अव्यक्तोऽयम्" इत्यादि विशेषणों से किया जाता है। "अव्यक्त" पद का आशय है कि वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है और "अचिन्त्यः" शब्द से यह कहा गया कि अनुमान के द्वारा भी वह ग्राह्य नहीं है। चिन्तन पदार्थ में अनुमान भी अन्तर्भूत होजाता है। इसलिए "अचिन्त्य" पद से अनुमान की भी आत्मा के विषय में प्रवृत्ति न होना स्पष्ट सिद्ध है। अब रहा शब्द प्रमाण वह भी अविकार्यता आदि निषेधात्मक धर्मों के द्वारा ही आत्मा का परिचय कराता है। निधर्मक होने के कारण साक्षात् आत्मा को वह नहीं कह सकता। अनुमान का भी विषय वही हो सकता है जिसका व्याप्ति ग्रह हेतु के साथ हुआ हो। जब आत्मा का प्रत्यक्ष ही नहीं तो उसका व्याप्तिग्रह भी किसी के साथ कैसे संभव है? सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी किसी सामान्य धर्म के द्वारा व्याप्तिग्रह पर ही अनुमान होता है किन्तु आत्मा में कोई सामान्य विशेष धर्म नहीं। इसलिए सामान्यतोदृष्ट अनुमान का भी वहाँ प्रसंग नहीं। शब्द भी बिना धर्म के किसी पदार्थ का अभिधान नहीं कर सकता। आत्मा को जो वेदैकवेद्य कहा जाता है उसका आशय इतना ही है कि धर्मों के निषेध द्वारा वेद उसे उपलक्षित कर देता है। अभिधान आत्मा का वह भी नहीं कर सकता। सुतरां जब किसी प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती तब ज्ञेयता के कारण भी क्रिया सम्बन्ध वहाँ नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो स्वतः प्रकाश है। वह किसी प्रमाण या ज्ञान का विषय नहीं। ज्ञान की विषयता माया शबलित आत्मा में ही होती है। शुद्ध आत्मा तो स्वतः प्रकाश ही है, ज्ञेय नहीं। इसीलिए बृहदारण्यक श्रुति में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश दिया है कि "विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्" अर्थात् जो सबका ज्ञाता है उसको जानने वाला अन्य और कौन होगा। अस्तु, इन विशेषणों में पुनरुक्ति के परिहार की एक प्रक्रिया हुई।

दूसरी प्रक्रिया यह है कि नित्य पद से अविनाशिता बताने पर भी यह सन्देह हो सकता है कि नित्य तो नैयायिक मत में परमाणु भी हैं। वैसा ही आत्मा भी होगा। इसलिए सर्वगत विशेषण से व्यापकता बतलाई गई। परमाणु व्यापक नहीं होता, अतः परमाणु से आत्मा का भेद सिद्ध कर दिया गया। इस पर पुनः सन्देह होगा कि काल नित्य भी है तथा वह व्यापक भी है। वही संभवतः आत्मा का स्थान ग्रहण करले, अतः स्थाणु विशेषण देकर काल से भी भिन्नता बतलाई जाती है। क्योंकि काल में व्यवहार के लिए घटी, दिन मास आदि का भेद आरोपित होता है और वे दिन मास घटी आदि स्थिर नहीं

हैं। जो दिन आज है वह कल न रहेगा। इसलिए स्थाणु पद से काल की अपेक्षा भी भिन्नता सिद्ध की गई। फिर सन्देह होगा कि सांख्य दर्शन के द्वारा स्वीकृत प्रकृति तत्व या प्रधान तो नित्य भी है सर्वगत भी है और स्थिर भी है। उससे भेद तो आत्मा का सिद्ध नहीं हुआ। इसलिए एक और "अचल" विशेषण दिया गया। प्रकृति में देश त्याग न होने से स्थिरता कही जा सकती है, किन्तु परिणामरूप क्रिया तो उसमें होती ही है। तभी तो महत् अहंकार आदि के द्वारा जगत् बनता है। इसलिए उसे क्रिया शून्य वा अचल नहीं कहा जा सकता। इस विशेषण से आत्मा की प्रकृति से भी भिन्नता सिद्ध कर दी गई। पुनः सन्देह होगा कि आकाश तो इन सब विशेषणों से युक्त है, उसमें तो स्वतः वा परतः कोई क्रिया नहीं देखी गई। वह व्यापक भी है और नित्य भी। इसलिए "सनातन" विशेषण और दिया गया। अर्थात् आकाश में व्यवहारिक नित्यता मानी जाती है किन्तु वह सदा रहने वाला नहीं। श्रुति ने उसकी भी उत्पत्ति बतलाई है। इस प्रकार सबसे विलक्षणता आत्मा की बतलाने के लिए सब विशेषणों की चरितार्थता हो जाती है। इस प्रकार का आत्मा लोक व्यवहार में तो प्रसिद्ध नहीं फिर यह नई बात कैसे कही जारही है? अतः अव्यक्त आदि विशेषण दिये गए हैं कि लौकिक प्रमाणों के द्वारा ज्ञेय न होने से जन साधारण आत्मा का तत्व नहीं समझ पाते। किन्तु वस्तुतः आत्मा का स्वरूप सबसे विलक्षण ही है और इसीलिए श्रुति ने भेद द्वारा ही आत्मा का उपपादन किया है, इत्यादि।

तीसरा प्रकार पुनरुक्ति निवारण का यह है कि आत्मा का आवरण करने वाले तीन शरीर हैं जिन्हें स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर कहा जाता है। साधारण लोग भ्रम में पड़कर इन शरीरों को ही आत्मा मान बैठते हैं। इसलिए आत्मा का तत्व बताने के लिए इन तीनों से भेद बतलाना आवश्यक है। अच्छेद्य है, अदाह्य है इत्यादि विशेषणों से स्थूल शरीर से भेद बता दिया गया। इनका अभिप्राय पहिले कहा जा चुका है कि चारों भूत तत्वों का प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है, आत्मा पर नहीं। आगे नित्य, सर्वगत और स्थाणु इन विशेषणों से सूक्ष्म शरीर से भेद बता दिया गया। न्याय आदि शास्त्रों में मन को नित्य मान लिया गया है। इसलिए उससे पार्थक्य बतलाने के लिए "सर्वगत" विशेषण दिया गया। मन एक देश में रहता है, वह सर्वगत नहीं हो सकता। इसी प्रकार बुद्धि को भी कोई दार्शनिक नित्य और सर्वगत मान ले तो इसके लिए स्थाणु विशेषण भी दे दिया। बुद्धि की चलता प्रसिद्ध है अतः अचल पद से उससे आत्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है। आगे कारण शरीर से भी भेद बतलाने के लिए अचल शब्द का उपादान किया। कारण शरीर वासनामय है और वासनाओं का परिवर्तन और विनाश स्पष्ट ही प्रतीत होता है। सुख या दुख का भोग कराकर कर्म जनित संस्कार रूप वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ऐसा सभी शास्त्र मानते हैं और ज्ञान जनित वासनाओं में भी परि-

वर्तन देखा जाता है। वृद्धावस्था में स्मृति शक्ति परिक्षीण हो जाती है, इससे वासनाओं की दुर्बलता का अनुमान होगा अस्तु, संपूर्ण कारण शरीर का विनाश न होने के कारण उसे भले ही नित्य कहा जा सके और समष्टि रूप से व्यापक होने के कारण सर्वगत भी कहना उपपन्न हो, प्रलय में भी रहने के कारण स्थाणु भी उसे कहा जाय, किन्तु आवान्तर परिवर्तन होने रहने से अचल नहीं कह सकते। इसलिए अचल शब्द से कारण शरीर का भी आत्मा से भेद स्पष्ट हो जाता है। आगे सनातन शब्द का अर्थ है सदा एक रूप रहने वाला। इससे भेद की व्यावृत्ति करते हैं अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगत तीनों प्रकार के भेद उसमें नहीं है। जैसा कि एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से जो भेद है वह सजातीय भेद है, वृक्ष में पत्थर आदि का भेद विजातीय भेद है और वृक्ष की शाखाओं का परस्पर भेद स्वगत भेद है। तीनों ही प्रकार के भेद आत्मा में नहीं हैं। न तो आत्मा अनेक है और न आत्मा से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु है और न आत्मा सावयव है। इसलिए तीनों ही प्रकार के भेदों का अभाव यहाँ बतलाया गया। यह व्याख्या शांकर सिद्धान्त के अनुसार है। उसी अद्वैत सिद्धान्त में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार का माना जाता है। अन्य मतों में सनातन शब्द का पूर्वोक्त ही आशय है कि वह सदा से सबका अनुभव गोचर होने के कारण स्वतः सिद्ध है। आगे के विशेषणों का आशय यह है कि आगे पन्द्रहवें अध्याय में जिन क्षर, अक्षर आदि आत्माओं का विवेचन होगा वे सब जगत् के कारण हैं किन्तु यह व्यष्टि रूप जीवात्मा उन समष्टिरूप पुरुषों से भी पृथक् होकर अपना तन्त्र चला रहा है। अव्यक्त पद से क्षर की व्यावृत्ति कर देते हैं, अचिन्त्य पद से अक्षर से भेद बतलाया गया क्योंकि अक्षर पुरुष किसी प्रकार अनुमान गम्य हो सकता है। जीवात्मा शुद्ध निर्विशेष होने से अनुमानादि का भी विषय नहीं हो सकता और प्रकृति से विरहित होने पर किसी प्रकार का विकार इसमें नहीं। इसलिए उपसंहार में अविकार्यता स्पष्ट कर दी गई। इस प्रकार विशेषणों की पुनरुक्तता का परिहार भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में प्राप्त होता है। किन्तु यह तो मानना ही होगा कि आत्मा की नित्यता को ही बुद्धि में पूर्ण रूप से जमा देने के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में यह वर्णन हुआ है। इन सबका अभिप्राय आत्मा को नित्य बताने का ही है। इसीलिए उपसंहार में कह दिया गया है कि आत्मा को इस प्रकार का जान कर तुम्हें किसी आप्त बान्धव की मृत्यु का अनुशोचन नहीं करना चाहिए।

इस पद्य में एक विचार और है कि यहाँ आत्मा को सर्वगत अर्थात् व्यापक कहा गया है। यह जीवात्मा का ही प्रकरण है यह तो सिद्ध ही है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य जीवात्मा को व्यापक नहीं मानते। उनके सिद्धान्तों में जीवात्मा अणु कहा गया है। इसलिए सर्वगत पद का आशय उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाना पड़ा है। श्री रामानुजाचार्य का कथन है कि सर्वगत पद से यह सूचित किया है कि आत्मा अतिसूक्ष्म होने के कारण जगत के सब पदार्थों

में अनुप्रविष्ट होने की योग्यता रखता है किन्तु अन्य स्थूल तत्व उसमें प्रविष्ट होने की योग्यता नहीं रखते। इसीलिए शस्त्र, अग्नि, वायु आदि का प्रभाव इस पर नहीं हो सकता। अतिसूक्ष्मता के कारण वे स्थूल तत्व इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। अस्तु! अच्छेद्यता, अभेद्यता का समर्थन ही सूक्ष्मता बतला कर इस विशेषण से किया गया है। व्यापकता में इसका तात्पर्य नहीं। श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त में जीवात्मा परब्रह्म से उत्पन्न और अणु रूप है। किन्तु भगवदनुग्रह से इसमें भगवान् के धर्मों की प्रकटता हो जाया करती है। उस दशा में इसमें भगवान् के समान व्यापकता आ जाती है। इसी की सूचना सर्वगत शब्द से दी गई है। श्री मध्वाचार्य ने भी चेतन स्वरूप और भगवान् के अति सन्निहित होने के कारण भगवान् का प्रतिबिंब जीव पर होना इस पद्य की व्याख्या में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है—

"युक्ताश्च विंबधर्मा प्रतिबिंबे अविरोधे, तत्ताच" रूपं रूपं प्रतिरूपो। बभूव, आभास एव च, "इत्यादि श्रुति स्मृति सिद्धा ॥" अर्थात्

जीव में भगवत्प्रतिबिंब होना श्रुति-स्मृति से सिद्ध है और प्रतिबिंब में अविरूद्ध बिंब के धर्म मान लिये जाते हैं। अतः प्रतिबिंब रूप से सर्वगतत्व आदि ईश्वरीय धर्मों का यहाँ जीव में कथन किया गया। श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त में भेदाभेद होने के कारण अभेदांश से सर्वगतत्व की उपपत्ति हो सकती है, अथवा उनके अनुयायी व्याख्याता भी श्री रामानुजाचार्य के समान सूक्ष्मता का अभिव्यंजन ही इस विशेषण से मानते हैं। अन्य विशेषण तो सब मतों में उपपन्न हो ही जाते हैं। श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त में उत्पत्ति होने पर भी नित्यत्व किस प्रकार है इसका विवरण पूर्व पद्य में "अजो नित्यः" इत्यादि विशेषणों की व्याख्या में कर चुके हैं। अवश्य जन्म, अवश्य मरण वा नियम से जन्म मरण मानते हो तो शोक नहीं करना चाहिए। यहाँ भगवान् का यह भी आशय है कि यदि उपनिषत् के अनुसार निर्विकारी आत्मा नहीं मानते हो तो अन्ततः तुम आत्मा कैसा मान रहे हो। कोई स्वरूप तो आत्मा का तुम्हें मानना ही पड़ेगा। आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के जो भिन्न-भिन्न मत हैं उनमें से कोई भी मान लो। किसी प्रकार भी शोक करना उपयुक्त नहीं हो सकता। यहाँ उन सब दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मतों की ओर संकेत किया गया है। चार्वाक् देह को ही आत्मा कहता है। उस मत में देह की उत्पत्ति ही आत्मा की उत्पत्ति है और देह का विनाश ही आत्मा का विनाश है। बौद्ध मत में देह, आत्मा आदि सभी क्षणिक माने जाते हैं, अर्थात् उनकी प्रतिक्षण उत्पत्ति और प्रतिक्षण विनाश होता रहता है। इस मत के अनुसार नित्य शब्द का अर्थ ठीक ठीक घटित हो जाता है, नित्य ही अर्थात् सर्वदा ही उत्पन्न विनष्ट होने वाले आत्मा को यदि तुम मानते हो। जैन दर्शन में यद्यपि आत्मा को शरीर से पृथक् माना जाता है किन्तु वह शरीर के आकार का ही होता है। इससे

शरीराकार आत्मा शरीर के साथ ही उत्पन्न हुआ और शरीर के साथ ही नष्ट हो गया। आगे दूसरे आकार में चला जायगा यही फलित हुआ। नित्यत्व भी जैन मत में निश्चित नहीं। वह द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याप्त रूप से अनित्य भी है। इसलिए पर्यायरूप से उसे जन्म मरणशील इस मत में कहा जायगा। किसी सिद्धान्त में ऐसा भी माना जाता है कि सृष्टि के आदि में आकाश आदि के समान आत्मा उत्पन्न होता है और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलयावस्था में नष्ट हो जाता है। मध्यकाल में भिन्न-भिन्न देहों में घूमता रहता है। इस मत में श्लोक का अर्थ यह होगा कि इस प्रकार से आत्मा "नित्यजात" है, अर्थात् नित्य परमात्मा से उत्पन्न है और प्रलय तक ठहरने के कारण एक प्रकार से आकाशादिवत् नित्य होने पर भी तुम आत्मा का जन्म मरण पूर्वोक्त प्रकार से मानते हो। न्याय मत में नवीन देह इन्द्रिय मन आदि के साथ स्व स्वामिभाव संबंध होना ही जन्म है और एक प्रकार के सन्निवेश युक्त देहेन्द्रियादि के साथ संबन्ध विच्छेद ही मरण है। आत्मा स्वस्वरूप से नित्य है।

इक्कीसवां-पुष्प

अथ चैनं नित्य जातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ : २।२६ :
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ : २।२७ :

"यदि तुम आत्मा को नित्य पैदा होने वाला और नित्य मरने वाला मानते हो तो भी हे महाबाहो! तुम्हें इसके सम्बन्ध में शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मृत हुआ है उसका पुनर्जन्म अवश्य होगा। इसलिए जब यह क्रम अपरिहार्य है अर्थात् हटाया नहीं जा सकता तब उस पर शोक करना उचित नहीं।"

शास्त्र में परस्पर विचार के समय एक "अभ्युपगमवाद" होता है। उसका तात्पर्य है कि एक पक्ष का वक्ता अपनी शक्ति का उत्कर्ष दिखाने के लिए दूसरे पक्ष की किसी बात को बिना परीक्षा के ही मान लेता है और ऐसा मान लेने पर भी तुम्हारा मुख्य पक्ष सिद्ध नहीं होता यह कह कर प्रतिवादी के मुख्य पक्ष का खण्डन कर देता है, वही अभ्युपगमवाद है। अभ्युपगम का अर्थ है स्वीकार। ऐसे ही प्रसंग पर लोक में ही कहा जाता है कि "अच्छा हम तुम्हारी इस बात को मान लेते हैं।" इसी अभ्युपगमवाद से यहाँ भगवान् काम लेते हैं कि यदि उपनिषद् के अनुसार जो हमने तत्व बतलाया वह यदि तुम्हारी समझ में नहीं आता और तुम आत्मा को देह के साथ ही पैदा होने वाला और देह के साथ ही नष्ट हो जाने वाला मानते हो तो भी तुम्हारा शोक करना उपयुक्त नहीं होगा। यहाँ नित्य शब्द का प्रयोग कथन की एक शैली के अनुसार है। अर्थात् जल्दी जल्दी देह के साथ पैदा होना और मरना माना गया तो एक प्रकार से नित्य ही जन्म लेना और मरना ठहरा। अथवा नित्य शब्द आवश्यकता वा नियतता का बोधक है, अर्थात् यदि आत्मा का इस मत के अनुसार भी पद्य का अर्थ होगा कि नित्य होने पर भी आत्मा को उत्पन्न वा विनष्ट माना जाय अथवा सांख्य आदि के अनुसार यह पक्ष हो कि आत्मा स्वयं तो नित्य है परन्तु प्रकृति रूप उपाधि के कारण उसका औपाधिक जन्म मरण होता है। इन सभी पक्षों का यहाँ संकेत किया गया कि किसी भी पक्ष में तुम्हारा शोक करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि सब ही पक्षों के अनुसार देह त्याग रूप मरण निश्चित है और मृत का नवीन देह ग्रहण रूप जन्म भी निश्चित है। तब जो बात हटायी नहीं जा सकती उसके लिए शोक करना निरर्थक ही है। वह शोक युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

यहाँ यह एक बड़ी शंका उपस्थित होती है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु आवश्यक है यह तो ठीक है, किन्तु मरने वाले का पुनर्जन्म भी "ध्रुव" अर्थात् अत्यावश्यक है, यह भगवान् ने कैसे कहा ? क्योंकि मुक्त हो जाने वाले पुरुष का तो पुनर्जन्म कोई भी नहीं मानता ? तब मृत का जन्म आवश्यक कैसे हुआ। मुक्त पुरुष में आवश्यकता का नियम बाधित हो गया। यदि यह कहा जाय कि आत्मा को अनित्य मान लेने के अभ्युपगमवाद में मोक्ष का प्रसंग ही क्या, मोक्ष तो पूर्वोक्त उपनिषद् के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के नित्यत्व पक्ष में ही उपपन्न होता है। जो आत्मा को अनित्य मानते हैं, ऐसे पूर्वोक्त अनेक पक्षों में मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, तब यह प्रश्न होगा कि आत्मा को सर्वथा अनित्य मानने वाले उन पक्षों में पुनर्जन्मवाद भी कहाँ रहा ? तब मृत का पुनर्जन्म आवश्यक कहना कथमपि संगत नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यहाँ तो भीष्मादि का अनुशोचन व्यर्थ है यह बतलाने के लिए केवल उत्पन्न होने वाले की मृत्यु अवश्यंभावी है, यही बतलाना पर्याप्त था, मृत के पुनर्जन्म की आवश्यकता बताना यहाँ निष्प्रयोजन भी है। इस शंका का उत्तर श्री रामानुजाचार्य अपने भाष्य में इस प्रकार देते हैं कि यदि शरीरात्मवाद ही मानोगे तो भी यह तुम्हें मानना पड़ेगा कि शरीर एक भूतों की अवस्था विशेष है और द्रव्य में अवस्था परिवर्तन अवश्य होता रहता है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार एक ही, सुवर्णादि द्रव्य नाना अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है, यह अटल नियम है। इस जड़ चेतन सर्वसाधारण में परिव्याप्त नियम के अनुसार शरीर की इस जीवितावस्था का मरणावस्था में परिवर्तन अवश्यंभावी है। और वह मरणावस्था भी स्थायी नहीं हो सकती, इसलिए पुनरपि दूसरी अवस्था अर्थात् अन्यत्र कहीं जन्म ग्रहण की अवस्था अवश्य प्राप्त होगी। इसलिए निरात्मवादी को भी शरीर का पुनः पुनः संघटन रूप बार-बार जन्म और बार बार मरण मानना दार्शनिक नियम के अनुसार आवश्यक होगा। इसी सिद्धान्त को सूचित करने के लिए यहाँ मृत के पुनर्जन्म की आवश्यकता का भी उल्लेख भगवान् ने कर दिया और इस अवस्था का परिवर्तन अपरिहार्य है, कोई भी द्रव्य एक अवस्था में रहता हुआ देखा नहीं जाता, इसलिए इसका अनुशोचन व्यर्थ है यह सूचित कर दिया। श्री मधुसूदन सरस्वती ने इसका समाधान किया है कि यहाँ जन्म मरण के प्रवाह में पतित कर्म का अनुशय रखने वाले संसार के जीवों का ही प्रसंग है। मुक्त आत्मा के विचार का यहाँ प्रसंग ही नहीं। इसलिए संसार गत पुरुषों के विषय में यह आवश्यक नियम भगवान् ने बतला दिया कि उनका जन्म मरण प्रवाह अपरिहार्य है। जिसने जन्म ग्रहण किया है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और मृत्यु के अनन्तर पुनर्जन्म होगा। इसलिए अनुशोचन करना व्यर्थ है। अन्य व्याख्याकार ऐसा भी कहते हैं कि जो अनेक मत पूर्व पक्ष की व्याख्या में हमने दिखाये हैं उनमें किसी किसी मत में मृत्यु के अनन्तर जन्म भी आवश्यक हो जाता है। उसी मत के अभिप्राय से भगवान् ने यहाँ मृत्यु के अनन्तर जन्म की भी अवश्यंभाविता कह दी। जैसा कि सृष्टि के प्रारम्भ में

आकाशादि की तरह जीव भी उत्पन्न हुआ और कल्पान्त में प्रलय होने पर यह भी लीन होगा, यह जो एक मत बतलाया गया है उसमें सृष्टि के आदि में और प्रलय होने पर जन्म मरण प्रवाह अवश्यंभावी है। अथवा जैन दर्शन का सिद्धान्त जो लिखा गया है कि आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है किन्तु पर्याय रूप से अनित्य। इस मत में भी एक पर्याय के अनन्तर दूसरा पर्याय ग्रहण आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बिना पर्याय के द्रव्य कभी रह नहीं सकता। इसलिए इस मत में भी जन्म के अनन्तर मृत्यु और मृत्यु के अनन्तर जन्म ये दोनों आवश्यक ही होते हैं। यद्यपि जैन दर्शन में भी मुक्ति मानी गई है किन्तु मुक्ति का स्वरूप वहाँ सिद्ध शिला में जाकर स्थिर हो जाना ही माना जाता है। इसलिए एक शरीर रूप पर्याय के त्याग के अनन्तर सिद्ध शिला में जाने योग्य पर्याय का ग्रहण आवश्यक होता है। इसलिए मुक्ति में जाने वाले जीव का पर्यायान्तर ग्रहण रूप जन्म आवश्यक होगया। अथवा आगे "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" की व्याख्या में जिन अठारह प्रकार के व्यावहारिक आत्माओं का निरूपण किया जायगा उनमें से कई व्यावहारिक आत्माओं को मान लेना युक्ति सिद्ध होने के कारण निरात्मवादी को भी आवश्यक है। मुक्ति हो जाने पर भी उन आत्माओं का एक सूत्र बद्धता रूप सम्बन्ध हट जाता है किन्तु किसी न किसी रूप में तो वे व्यावहारिक आत्मा बने ही रहते हैं, किसी अन्य आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं इस आशय से मृत का पुनर्जन्म भी आवश्यक बतलाया गया। कई विद्वान् यह भी समाधान करते हैं कि मृत्यु शब्द का अर्थ प्राणों का उत्क्रमण है। किन्तु विदेहकैवल्य प्राप्त करने वाले के प्राणों का उत्क्रमण ही नहीं होता। जैसा कि उपनिषत् में कहा है कि—न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति "इहैव समवलीयन्ते" अर्थात् उसके प्राण यहीं सब में लीन हो जाते हैं, उत्क्रान्त नहीं होते। उससे वह मृत की परिभाषा में ही नहीं आता। जब मृत ही नहीं तो पुनर्जन्म कैसा। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" में मृत्यु का आशय शरीर में स्वत्व छोड़ देने से ही है इसलिए उसका भी विरोध नहीं होता। यों अनेक प्रकार से इसके समाधान किये जाते हैं। वस्तुतः यही यहाँ युक्त प्रतीत होता है कि जन्म मरण प्रवाह पतित जीवात्मा के सम्बन्ध में ही ये सामान्य नियम बतलाए गए हैं। मुक्ति एक विशेष अपवाद स्थल है, वहाँ सामान्य नियम लागू नहीं होता। इसी प्रकार रसेश्वर दर्शन वा आगम शास्त्र के सिद्धान्त में पिण्ड का स्थैर्य भी प्राप्त होना माना जाता है और उसके निदर्शन भी पुराणों में बतलाए जाते हैं। वह "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" का भी अपवाद स्थल है। अपवाद स्थल में सामान्य नियम की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार इसका समाधान करना चाहिए। अब रही यह बात कि मृत का पुनर्जन्म बतलाने की यहाँ आवश्यकता क्या थी, यहाँ तो अनुशोचन मिटाने के लिए उत्पन्न होने वाले की मृत्यु अवश्यंभावी है इतना ही कहना पर्याप्त था। फिर मृत का भी पुनर्जन्म होता ही है इस पचड़े को भगवान् ने उठाया ही क्यों? इसका भी उत्तर हो सकता है कि नित्य आत्मा यदि नहीं माना जाय, जैसा कि

अभ्युपगमवाद में कहा गया है तब शरीर ही आत्मा ठहरा। उसका नाश ही भीष्मादि का नाश है। तो अनुशोचन उचित हो जाता है। माना कि यह अर्थ अवश्यंभावी है। किन्तु अवश्यंभावी होने पर भी नष्ट का अनुशोचन तो होता ही है। मान लो कि किसी मनुष्य के पास किसी दूसरे की धरोहर रक्खी है। उसका लौटाया जाना आवश्यक है, यह सभी जानते हैं। किन्तु अपने पास से उसे लौटाने के समय कष्ट का अनुभव तो होता ही है। इसलिए इसका भी समाधान भगवान् ने कर दिया कि शरीर के नष्ट होने का शोक भी व्यर्थ है क्योंकि यह तो फिर उत्पन्न हो जायगा। जैसे उत्पन्न की मृत्यु आवश्यक है, इसी प्रकार मृत का पुनर्जन्म भी आवश्यक है। इसलिए यह तो अवस्था परिवर्तन मात्र है। नष्ट कोई वस्तु नहीं होती। इसलिए अनुशोचन व्यर्थ है।

यहाँ पूर्व पद्य में जो महाबाहो सम्बोधन दिया है उसका भी आशय है कि तुम महाबाहु अर्थात् वीर पुरुष हो। साधारण अज्ञानी मनुष्य परिहार्य विषय में भी यदि शोक करते हैं तो यह उनका अज्ञान है। किन्तु तुम जैसे वीर पुरुष को तो ऐसे अपरिहार्य विषय में शोक करना सर्वथा उचित नहीं हो सकता। शोक या चिन्ता तो ऐसे विषय की करना चाहिए जिसका हम प्रतीकार कर सकें। जो अवश्यंभावी है, जिसका प्रतीकार ही कुछ नहीं हो सकता उस विषय में चिन्ता या शोक करने से लाभ ही क्या? ऐसे निरर्थक शोक में बुद्धिमान् लोग नहीं गिरा करते। अब यदि पुनर्जन्म-परम्परा पर भी विश्वास न किया जाय, यह शरीर जितने समय तक है उतने समय तक ही उस व्यक्ति की सत्ता है, ऐसा यदि मान लिया जाय, तब तो भीष्म आदि की सत्ता के नाश का शोक उपयुक्त ही होगा। तब भी भगवान् कहते हैं कि ऐसा मानने पर भी शोक अनर्थक है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २, २८ ॥

"प्राणियों के भूतात्मक शरीर उत्पत्ति से पहिले भी अव्यक्त थे, अर्थात् ये कहां थे, कहां से आये, इसका कोई पता किसी को नहीं। केवल मध्यकाल में अर्थात् जन्म से मरण पर्यन्त वे प्रकट दिखाई देते हैं। अन्त में निधन होने के अनन्तर भी अव्यक्त हो जाते हैं अर्थात् कहाँ चले गए इसका कोई पता किसी को नहीं रहता। जब कहाँ से आया इसका भी पता नहीं तो जहाँ से आया वहाँ ही गया ऐसा समझ लो, फिर उसमें परिदेवना अर्थात् विलाप शोक आदि का कोई कारण नहीं।

जिस वस्तु का उद्भव स्थान भी तुम नहीं जानते उसके जाने पर शोक क्यों करते हो? जैसे आया वैसे ही गया यह आवागमन का चक्र तो पुनर्जन्म न मानने वालों को भी मानना ही पड़ेगा। फिर उसके जाने में आश्चर्य और शोक ही क्या? कदाचित् प्रश्न उठे कि उत्पत्ति का स्थान अव्यक्त क्यों है?

प्रत्येक प्राणी माता के गर्भ से उत्पन्न होता है। तब उत्पत्ति का स्थान तो स्पष्ट ही है। इस प्रश्न पर कहना होगा कि माता के गर्भ में कहाँ से आया, यह तो अव्यक्त ही है। इसलिए अव्यक्त से उत्पन्न होना कहने में कोई शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। माता के गर्भ में भी पिता के द्वारा निषिक्त हुआ ऐसा यदि कहा जाय तो भी युक्तियुक्त नहीं होगा क्योंकि जिस प्रकार का प्राणियों का आकार देखते हैं वैसा आकार पिता के द्वारा निषिक्त नहीं होता। इसलिए उस आकार का शरीर तो पूर्वावस्था में अव्यक्त अर्थात् अप्रकट ही था, यही कहना होगा। यदि कथंचित् मान भी लिया जाय कि सूक्ष्म रूप से पिता के शुक्र में भी वह शरीर विद्यमान है तो भी वहाँ वह कहाँ से आया, इसका उत्तर तो केवल दृष्ट प्रमाणवादी कुछ भी नहीं दे सकते। चन्द्र मण्डल से उतर कर मेघजल के द्वारा अन्नादि में प्रविष्ट होकर, अन्न, रस, रूप से शुक्र में प्रविष्ट हुआ है ऐसा मान लेने पर तो पञ्चाग्नि प्रक्रिया रूप शास्त्र का प्रामाण्य मान लेना पड़ा क्योंकि उक्त क्रम प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो केवल शास्त्रगम्य ही है। शास्त्र मान लेने पर पुनर्जन्म और आत्मा की नित्यता आदि सभी सिद्ध हो जाते हैं। तब फिर पूर्वोक्त रीति से ही शोक का समाधान हो जायगा। केवल दृष्ट-वादी तो शरीर कहाँ से कैसे उत्पन्न हो गया इसका कोई उत्तर नहीं दे सकता। तब जिस वस्तु का उद्भव ही हमें प्रतीत नहीं वह हमारी है यह हम कैसे कह सकते हैं। शोक मोह जो कुछ होता है वह "यह हमारा है" यह जानकर ही होता है। अपरिचित मनुष्यों वा प्राणियों की मृत्यु में कोई हर्ष शोक किसी को नहीं होता। इसलिए जिनमें स्वीयत्व अर्थात् अपनेपन का भाव है उन्हीं के जन्म मरण में हर्ष शोक देखे जाते हैं। किन्तु वह स्वीयत्व का भाव सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि अकस्मात् प्रादुर्भूत देह में स्वीयत्व कहाँ से आगया। यह केवल कल्पना मात्र है। इसलिए काल्पनिक वस्तु में बुद्धिमान् पुरुष को कोई हर्ष या शोक नहीं हो सकता। इसी बात को स्पष्ट रूप से महाभारत में अन्यत्र कहा गया है कि—

"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनंगतः।
नासौ तव न तस्य त्वं, वृथा का परिदेवना॥" : महाभा० ११, २, १३ :

अर्थात् कहाँ से आ गया यह भी अविदित था। पूर्व का स्थान अज्ञात है और फिर अदर्शन में अर्थात् अज्ञात स्थान में हीं चला गया तब वह तुम्हारा कैसे हुआ और तुम उसके कैसे हुए ? फिर यदि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नहीं तो शोक और विलाप का कोई कारण नहीं। तात्पर्य यह कि इस पद्य से मनुष्यों का परस्पर सम्बन्ध केवल कल्पना मूलक सिद्ध होता है, यह दिखाया गया। क्योंकि प्रत्येक प्राणी का शरीर कहाँ से आया यह भी हम नहीं जानते और कहाँ चला गया यह भी नहीं जानते तब दर्शनमात्र के समय उसे अपना मान लेना यह केवल कल्पना ही कही जा सकती है। और केवल कल्पना के आधार पर हर्ष शोक मानना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं।

शांकर सम्प्रदाय के अनुयायी कई व्याख्याकार इससे जगत् के मिथ्यात्व का आशय भी निकालते हैं। उनका कथन है कि भगवान् ने यही न्याय प्रदर्शित किया कि—"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा", अर्थात् जो न पहिले है, न पीछे है उसे मध्य में अर्थात् वर्तमान काल में भी असत् ही मानना चाहिए। तब जो शरीर उत्पत्ति से पूर्व भी नहीं था और नाश के अनन्तर भी नहीं है वह मध्य में भी सिद्ध नहीं होता केवल कल्पना मात्र ही माना जा सकता है। क्योंकि पूर्व—"नासतो विद्यते भावः" इत्यादि श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि असत् की सत्ता और सत् का अभाव कभी नहीं होता। शरीरादि जगत् के समस्त पदार्थ यदि पहिले अदृष्ट अर्थात् असत् थे तो उनकी सत्ता मध्यकाल में नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि अव्यक्त शब्द से भगवान् ने पहिले और पश्चात् अदर्शन ही कहा है, असत्ता तो नहीं बतलाई, तो विचार करना होगा कि अव्यक्त अर्थात् अप्रकट की सत्ता मानने में प्रमाण क्या ? अव्यक्त भी किसी सूक्ष्म रूप से अपने कारण में स्थित रहता है ऐसा मान लेने पर तो फिर वही सत्कार्यवाद आदि की शास्त्रीय प्रक्रिया आ जाती है, और उस प्रक्रिया में अद्वैत ही सिद्ध होता है यह पहिले उक्त श्लोक की व्याख्या में विस्तार से कहा जा चुका है। इसलिए विकारभूत जगत की वस्तुओं की अपने रूप में सत्ता तो केवल मध्य काल में ही गृहीत होती है। आदि अन्त में उनका अभाव ही लौकिक प्रतीति में माना जाता है। इसलिए जो पहिले असत् हैं वे विकार भूत पदार्थ मध्य में भी सत् नहीं कहे जा सकते और यदि वे मध्य में सत् मान लिये जांय तो फिर उनका अन्त में भी असत्व अर्थात् अभाव नहीं बन सकता। क्योंकि सत् का अभाव नहीं होता है यह सिद्ध किया जा चुका है। अतः आदि और अन्त में अव्यक्तता बतलाकर भगवान् ने शरीर के निदर्शन से जगत् के विकार भूत समस्त पदार्थों की असत्ता ही बतलाई और आदि अन्त में असत्ता होने पर मध्य में भी वास्तविक सत्ता नहीं कही जा सकती। इसलिए जगत् के शरीरादि सभी पदार्थों की केवल काल्पनिक अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता है, वास्तविक सत्ता नहीं, यही भगवान् का अभिप्राय इस पद्य से प्रकट होता है : इसी कारण शोक विलाप आदि की निरर्थकता भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं ऐसी स्वप्न वा इन्द्रजाल आदि की वस्तुओं का तो कोई भी शोक नहीं करता। फिर शरीर आदि का ही शोक करना केवल अविवेक ही कहा जा सकता है।

अन्य अनेक व्याख्याकार अव्यक्त का अर्थ प्रकृति मानते हैं। उनके मतानुसार यह अर्थ है कि शरीर आदि सारे पदार्थ प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति से पहिले वे अव्यक्त रूप से प्रकृति में लीन रहते हैं। मध्य में व्यक्त होते हैं और अन्त में फिर प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं। तब अपने कारण में लीन होना सब पदार्थों का स्वाभाविक है और कारण रूप में जाकर तो इन्हें महत्त्व ही प्राप्त होता है। वहाँ शोक या विलाप का प्रसंग ही क्या।

श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार लिखी गई व्याख्या में यहाँ दोनों भाव प्रदर्शित किये गए हैं। यदि भूत पद से शरीर आदि भौतिक पदार्थ लिये जाँय तो "अव्यक्त" पद का अर्थ प्रकृति ही होना उचित है क्योंकि ये पदार्थ प्रकृति से ही प्रादुर्भूत होते हैं और अन्त में उसी में लीन होते हैं। यदि भूत शब्द से प्राणी अर्थात् जीव लिया जाय तब अव्यक्त शब्द का अर्थ अक्षर पुरुष होता है। "अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः" इत्यादि श्लोक में अक्षर पुरुष का भी अव्यक्त पद से निर्देश किया है। तब यह अर्थ होगा कि प्राणी अर्थात् प्राण धारण करने वाले जीवात्मा अक्षर पुरुष से ईश्वरेच्छानुसार प्रादुर्भूत होते हैं और ईश्वरेच्छानुसार ही नियत काल तक व्यक्त अर्थात् प्रकट दशा में रहते हैं। पुनः समय पर अव्यक्त में ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर स्वरूप अव्यक्त पुरुष में लीन होना तो एक अत्यन्त हर्ष का अवसर है। इसमें विलाप और शोक का प्रसंग ही क्या। शरीर पक्ष में भी ईश्वरेच्छानुसार उनकी अव्यक्त से प्रकटता और अव्यक्त में लीनता है। तब ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में शोक मोह सर्वथा व्यर्थ है।

बाईसवां-पुष्प

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २,२९ ॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २, ३० ॥

"कोई पुरुष इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है, अन्य पुरुष आश्चर्य के समान ही कहता है और कोई आश्चर्य के समान सुनता है तथा अन्य तो सुनकर भी इसको नहीं जान पाता।"

अर्जुन के मन में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त पद्यों में निर्दिष्ट इतने भेद आत्मा के सम्बन्ध में क्यों हो गए ? "सौ सौ सयाने एक मत" इस लोकोक्ति के अनुसार विचारक दार्शनिकों के सिद्धान्त तो एक रूप ही होने चाहिए। उनमें अनेकों भेद क्यों ? ऐसे सन्देह की संभावना समझ कर भगवान् इस पद्य के द्वारा यह उपदेश करते हैं कि आत्मा का स्वरूप ही दुर्बोध है। इसका जानना तथा कहना, सुनना और सुनकर समझ लेना सभी बातें कठिन हैं। ऐसे दुर्बोध गंभीर तत्व के सम्बन्ध में मत भेद हो जाना अनिवार्य है।

अथवा यह विचार अर्जुन के मन में उठना ही स्वाभाविक है कि भगवान् बार-बार शोक-मोह को निरर्थक कह रहे हैं किन्तु संसार में तो प्रायः विवेकी पर्यन्त सभी पुरुष शोक-मोह ग्रस्त देखे जाते हैं। तब मेरा भी यह शोक-मोह मनुष्य साधारण होने से स्वाभाविक ही है। यह अभिप्राय समझकर भगवान् कहते हैं कि भाई ठीक है, तुम पर ही इसका कोई विशेष उपालम्भ नहीं ! आत्म तत्व ही ऐसा है कि इसका जानना, कहना, सुनना और सुनकर समझना सभी बातें बहुत कठिन हैं। इसलिए सबको शोक-मोह होता है किन्तु विवेक पूर्वक हटाना चाहिए।

इस पद्य में निम्नलिखित श्रुति का आशय प्रकट किया गया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता, कुशलानुशिष्टः ॥

: कठोपनिषद् १ अ० २ वल्ली, ७ मन्त्र :

अर्थात् आत्मा सुनने को भी बहुतों को नहीं मिलता और सुनते हुए भी बहुत से नहीं समझ सकते। इसका कहने वाला भी आश्चर्य रूप है अर्थात् जैसे कोई अद्भुत बात कभी कभी ही दिखाई देती है, इस प्रकार आत्म-तत्व का

उपदेष्टा भी कहीं कहीं कभी प्राप्त होता है, और प्राप्त करने वाला तो उनमें भी कोई ही चतुर निकलता है। अतिचतुर मनुष्य के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने पर भी पूरा जानने वाला भी आश्चर्य रूप ही है अर्थात् कहीं कदाचित् उपलब्ध हो सकता है।

इस श्रुति के साथ समान भाव रखने को कुछ व्याख्याकारों ने इस पद्य के "आश्चर्यवत्" पद में "वत्" प्रत्यय को स्वार्थ प्रत्यय माना है। किन्तु स्वार्थ में "वत्" प्रत्यय व्याकरण में विहित नहीं है। इसलिए "आश्चर्य के समान है" ऐसा कहने में भी कोई हानि नहीं। यहाँ "वत्" के द्वारा श्रुति का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार अद्भुत वस्तु कहीं कहीं प्राप्त होती है, वैसा ही आत्म तत्व का द्रष्टा और वक्ता आदि भी है, इसलिए आश्चर्य के समान है। यहाँ "आश्चर्यवत्" को "कश्चित्" का विशेषण मानकर वक्ता, द्रष्टा, और श्रोता को आश्चर्य के सदृश कहा गया ऐसा भी अर्थ हो सकता है और आत्मनं का विशेषण मानकर कोई पुरुष आत्मा को आश्चर्य की तरह देखते हैं अर्थात् जैसे किसी अद्भुत वस्तु को देखकर उसका तत्व न समझते हुए मनुष्य अप्रतिबुद्ध सा हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की बात सुनकर और जानकर भी बहुत से साधारण विद्वान् आश्चर्य में डूब जाते हैं, यह अर्थ भी प्रकट होता है।

श्री मधुसूदन सरस्वती आदि ने तो "आश्चर्यवत्" शब्द को तीनों में विशेषण माना है। उनके अनुसार "एनम्" (आत्मानम्) के साथ भी इसका सम्बन्ध हो सकता है, कश्चित् के साथ भी और क्रिया विशेषण बन कर यह पश्यति, वदति, शृणोति के साथ भी सम्बन्ध हो सकता है। आत्मा का विशेषण होने पर "आश्चर्यवत्पश्यति" का यह अर्थ होगा कि जैसे अद्भुत वस्तु को देखकर उसका तत्व न समझते हुए मनुष्य उस पर नाना विरुद्ध धर्मों की कल्पना किया करते हैं, इसी प्रकार आत्मा यद्यपि सर्व रूप से सत्य है, तो भी इसे कई दार्शनिक और साधारण लोग असत् ही मान बैठे हैं। यह चैतन्य रूप होने से स्व प्रकाश है। किन्तु नैयायिक आदि ने इसे स्वतः जड़ मान लिया है। मन के सम्बन्ध से आत्मा में ज्ञान पैदा होता है। ऐसा मान लेने पर स्व स्वरूप से आत्मा को जड़ ही माना गया। इसी प्रकार यह आनन्दघन है तो भी बौद्ध आदि ने दुःख रूप इसे मान लिया है। निर्विकार को भी साधारण लोग सविकार मानते हैं। नित्य को भी अनित्य अर्थात् जन्म मरणशील मानते हैं। ब्रह्मरूप होने पर भी ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं। नित्य मुक्त होने पर भी बन्धन में पड़ा हुआ समझते हैं, इत्यादि। "कश्चित्" का विशेषण होने पर इसका अर्थ यह होगा कि जैसे अद्भुत वस्तु किसी किसी को ही दिखाई देती है इसी प्रकार शास्त्र और आचार्यों के उपदेश प्राप्त कर अविद्या जनित द्वैत को हटाता हुआ वेदान्त के महावाक्यों से उत्पादित शुद्ध परमात्मा स्वरूप अन्तःकरण की वृत्ति में—जो कि वृत्ति अनेक जन्मार्जित पुण्यों का फल कही जा सकती है—उसमें

प्रतिफलित आत्मा की समाधि का परिपाक होने पर कोई विरल व्यक्ति ही देख सकता है ! क्रिया विशेषण मानने पर इसका अर्थ होगा कि इसका देखना भी आश्चर्यरूप ही है। क्योंकि उक्त प्रकार की जिस अन्तःकरण वृत्ति में आत्मा का भान होता है वह स्वयं अन्तःकरण का विकार होने के कारण मिथ्या है। किन्तु स्वयं मिथ्या होती हुई भी सत्य आत्मा को अभिव्यञ्जित कर देती है। जैसे मिथ्या भूत स्वप्न किसी सत्य भावी अर्थ को सूचित कर देता है, जैसा कि वेदान्त सूत्र और शकुन ग्रन्थ तथा आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र आदि में माना गया है। इसी प्रकार "आश्चर्यवद्वदति" इस वाक्य में भी तीनों प्रकार के अर्थ प्राप्त होते हैं। कर्ता का विशेषण मानने पर इसका अर्थ होगा कि आत्मा का वक्ता आश्चर्य रूप है। क्योंकि जो जिस विषय को जानता है वही तो उस विषय को कह सकेगा। अज्ञ पुरुष उस विषय का वक्ता कैसे हो सकता है। कदाचित् कोई अज्ञ भी प्रपंच रच कर बहुत लोगों को अपना अनुयायी भक्त बनाने के लिए कहने लगे तो उसके लिए पद्य में विशेषण दिया गया है कि—"अन्यः तथैव वदति स आश्चर्यवत्", अर्थात् जो पुरुष जैसा जानता है वैसा ही कहै यह बात आत्मा के विषय में आश्चर्यरूप ही है। वंचक रूप से कहने वाले अनेकों प्राप्त हो जायेंगे किन्तु यथार्थ जानकर जैसा का तैसा कहने वाला आश्चर्य रूप है। क्योंकि जो आत्मा को पहिचान जायगा वह स्वयं समाधि में मग्न हो जायगा। अपने आनन्द के अनुभव में डूबा रहेगा। तब उसे दूसरे के प्रति उपदेश देने का अवसर ही कहाँ प्राप्त होगा। प्रसिद्धि, पूजा आदि की इच्छा न रहने के कारण उपदेश में उसकी प्रवृत्ति होनी भी कठिन है। वह तो केवल प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति पर्यन्त अनिच्छा से शरीर धारण करता है। उसे संसार के किसी व्यवहार से कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब केवल अन्य मनुष्यों का भी कल्याण हो, इस अभिप्राय से परोपकार की दृष्टि से अपने आनन्दानुभव को छोड़कर भी कोई उपदेश में प्रवृत्त हो वह आश्चर्यरूप विरल ही होगा।

दूसरे वाक्यों में भी आश्चर्यवत् पद को आत्मा का विशेषण बनाने पर आत्मा की आश्चर्यरूपता ही कही जायगी। जो कि पूर्व वाक्य में विस्तार से कही जा चुकी है। क्रिया विशेषण बनाने पर इसका तात्पर्य होगा कि आत्मा का कहना भी आश्चर्य रूप ही है। क्योंकि जब श्रुति स्वयं कहती है कि आत्मा, मन और वाक् का विषय नहीं—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" मन के साथ वाणी आत्मा को बिना प्राप्त किये ही लौट आती है तब उसका किसी पुरुष के द्वारा कथन कैसे संभव हो सकता है ? इसके अतिरिक्त शब्द मर्यादा से भी यदि विचार करें तो भी आत्मा का कथन बन नहीं सकता। क्योंकि शब्द किसी धर्म को आगे रखकर ही किसी पदार्थ का प्रतिपादन करता है। वह निर्धर्मक आत्मा को कैसे बतला सकता है ? जब आत्मा का सर्व साधारण को ज्ञान ही नहीं तो उसके साथ शब्द का शक्तिग्रह भी कैसे हो सकता है ? लक्षणा भी बिना किसी धर्म के ज्ञान के प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसलिए अखण्डरूप

से अखण्ड अर्थ को केवल तात्पर्य के अभिव्यञ्जक के द्वारा बतला देना एक आश्चर्य की ही घटना है। शब्दात्मक श्रुति बिना शक्ति लक्षणा के आत्मा को कैसे बतलाती है इस सम्बन्ध में कई वेदान्ताचार्य का मत है कि भाग त्याग लक्षणा से और बिना. लक्ष्यातावच्छेदक के ही कल्पित सम्बन्ध से किसी प्रकार श्रुति उसे संकेतित कर देती है। प्रायः श्रुति अभाव रूप से ही उपलक्षित कर "नेति नेति", "इदं न इदं न", :"ऐसा नहीं, ऐसा नहीं": इत्यादि रूप से ही आत्मा वा ब्रह्म को संकेतित किया करती है। किन्तु "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों में अभावरूपता का प्रसंग नहीं। इसलिए वहाँ ऐसी कल्पना आचार्यों को माननी पड़ती है। इस पद्य की व्याख्या में श्री मधुसूदन सरस्वती ने वार्तिककार के मतानुसार एक नया प्रकार बतलाया है कि जैसे गहरी नींद में सोते हुए किसी पुरुष को उसके नाम से आह्वान कर कोई दूसरा पुरुष जगाता है, वहाँ शब्द शक्ति ग्रह पूर्वक वह सोता हुआ पुरुष उठा यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उठने से पहिले सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, मन आदि सब प्रलीन हैं। तब शब्द श्रवण और उसका शक्ति स्मरण हो ही कैसे सकता है। इसलिए वहाँ यही मानना पड़ता है कि शब्द की शक्ति अचिन्त्य है, वह शक्ति लक्षणादि के बिना भी कुछ अद्भुत व्यापार रखती है। उसी के अनुसार सुप्त पुरुष जाग्रत हो जाता है। इसी प्रकार का श्रुति के शब्दों का भी अचिन्त्य व्यापार मानना चाहिए। जिसके द्वारा वे आत्म तत्व बोध करा देती हैं। किन्तु वह भी सबको नहीं। कर्मोपासनादि के द्वारा अन्तःकरण का मल जिन्होंने दूर कर दिया है उन निर्दोष पुरुषों को ही श्रुति द्वारा शुद्ध आत्मा का भान होता है। अस्तु, यहाँ इतना ही कहना था कि ऐसा भान होना भी एक आश्चर्य रूप है।

तृतीय वाक्य में भी "आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति", यहाँ "आश्चर्यवत्" का अन्वय पूर्वोक्त रीति के अनुसार आत्मा में, श्रोता पुरुष में और श्रवण क्रिया में तीनों जगह किया जा सकता है। आत्मा की आश्चर्यमयता तो पूर्व वाक्य के अनुसार ही सिद्ध है। कर्ता में अन्वय होने पर यह तात्पर्य होगा कि अनेक जन्मों से जिसने शुद्ध पुण्य कर्म उपासनादि के द्वारा अन्तःकरण के मल को दूर कर दिया है। वही श्रवण में प्रवृत्त होता है। इसलिए श्रोता भी आश्चर्य के समान दुर्लभ ही है। यह बात आगे भगवद्गीता में ही कही जायगी कि हजारों मनुष्यों में कोई एक आत्म दर्शन के लिए प्रयत्न करने में लगता है। और यत्न करने वाले भी हजारों में कोई एक जान सकता है। इसलिए श्रवण कर्ता का आश्चर्य के समान होना सिद्ध है! क्रिया-विशेषण होने पर यह तात्पर्य होगा कि यह आत्मा का श्रवण भी एक आश्चर्यरूप ही है। क्योंकि जिसके मन में मुमुक्षा अर्थात् मोक्ष की इच्छा प्रादुर्भूत हुई है वह उपयुक्त ब्रह्मवेत्ता गुरु का पहिले अन्वेषण करेगा, फिर विधि पूर्वक शरणागत होकर उसके समीप श्रद्धा पूर्वक जायगा। जैसा कि भगवान् आगे प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा को श्रवण का अंग बताने वाले हैं। उस प्रकार उपसन्न होकर सुनेगा और वह श्रवण भी सामान्य वाक्यों

की तरह नहीं किन्तु अभी बतलाये गए शब्द के अचिन्त्य शक्तिरूप व्यापार से होगा यह सब अति दुर्लभ अतएव आश्चर्य के समान है। आगे "श्रुत्वाप्येनं वेद" इस वाक्य को भी श्री मधुसूदन सरस्वती ने पृथक् किया है। और उसके साथ भी आश्चर्यवत् का सम्बन्ध जोड़ा है। इस प्रकार चौथे वाक्य का अर्थ होगा कि श्रवण पूर्वक, मनन, निदिध्यासन परिपाक पूर्वक आत्मा का साक्षात्कार रूप ज्ञान भी आश्चर्य रूप है। इसकी आश्चर्यरूपता पूर्व वाक्य के समान ही जान लेना चाहिए। इस प्रकार के ज्ञान सम्पन्न पुरुष की आश्चर्य रूपता भगवान् ने भी आगे बतलाई है कि "हजारों मनुष्यों में कोई एक तो सिद्धि के लिए यत्न करता है और यत्न करने वालों में भी हजारों में से कोई एक ही तत्व ज्ञान प्राप्त करता है। "श्रुति ने भी ऐसी आश्चर्यमयता प्रकट की है कि "शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः" अर्थात् श्रवण करके भी बहुत से लोग आत्मा को जानने में असमर्थ रहते हैं। इसके आगे पाँचवा वाक्य यह जोड़ना होगा कि "न चैव कश्चित्" अर्थात् कोई तो सुनकर भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं करते। इससे पूर्वोक्त वाक्य में कही गई जानने वाले की आश्चर्यमयता प्रकट हो जाती है। इस प्रकार वाक्य तोड़ने का आशय वे यह बतलाते हैं कि यदि ऐसा अर्थ किया जायगा कि सुनकर के भी आत्मा को कोई नहीं जानता तो "कश्चिन्मां वेत्तितत्वः" अर्थात् कोई कोई मेरा तत्व ज्ञान प्राप्त करते हैं, इस गीता के वचन से ही विरोध हो जायगा और "आश्चार्यो ज्ञाता", अर्थात् जानने वाला भी आश्चर्य रूप है, इस श्रुति से भी विरोध होगा और कोई भी यदि न जान सके तो ज्ञान के लिए किया गया प्रयत्न और श्रुति में आत्म तत्व का प्रतिपादन भी व्यर्थ हो जायगा। इसलिए ऐसा वाक्य भेद करना उन्होंने आवश्यक माना है। किन्तु अन्य व्याख्याकार "कोई भी नहीं जान सकता" ऐसा अर्थ नहीं करते। केवल यही अर्थ करते हैं कि सुनकर भी कोई कोई नहीं जान सकता। इसलिए वाक्य भेद की उनके मत में आवश्यकता नहीं होती। चार वाक्यों से ही निर्वाह हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा का श्रवण ज्ञान आदि अति दुर्लभ होने से इसके संबंध में अनेक मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं और हे अर्जुन! तुम्हें भी दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह विषय ही अत्यन्त कठिन है, इसलिए तुम्हें मोह हो गया। किन्तु मध्य में "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" इत्यादि आत्मा का भी जन्म मरण प्रवाह मतान्तर से बता देने के कारण अर्जुन को यह सन्देह न हो जाय कि भगवान् भी इस विषय में मुझे निश्चित उपदेश नहीं दे सकते, अथवा इन्हें भी इस विषय में सन्देह ही है। ऐसी शंका को सर्वथा मिटा देने के लिए उपसंहार में भगवान् फिर निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन अग्रिम श्लोक में कर देते हैं कि—

"हे भारत! सब प्राणियों के देह में रहने वाला इसका स्वामी आत्मा सदा ही अवध्य है अर्थात् वह नित्य रूप से ही रहता है, उसका बध कोई नहीं कर सकता। इसलिए आत्मा के नित्यत्व को ही तुम सिद्धान्त रूप से समझो

और उसके जन्म मरण प्रवाह को केवल शरीर का संयोग वियोग रूप मानकर काल्पनिक समझो, इसलिए शोक करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि मुख्य तो आत्मा ही है। उसका नाश होता नहीं और शरीर आदि तो केवल कल्पित हैं। उनके अवश्यंभावी नाश का शोक करना भी किसी कारण उचित नहीं।"

यहाँ आत्मा के नित्यत्व प्रकरण का उपसंहार कर उसे समाप्त कर दिया। श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याताओं के मतानुसार सांख्य दर्शन के ज्ञान का प्रकरण यहीं पूर्ण हो जाता है, जिसका कि विवरण तृतीयाध्याय के आरम्भ में किया जायगा। अर्जुन की दो शंकाएँ उपस्थित हुई थीं। भीष्म आदि स्वजनों के वियोग से दुःख होगा यह एक शंका थी। दूसरी यह कि मुझे इनके मारने से पाप होगा। इनमें से प्रथम शंका का समाधान यहाँ तक किया गया कि शोक करना अनुचित है। किन्तु यह प्रश्न तो फिर भी यथावत् बना ही रहेगा कि मान लिया आत्मा नित्य है और शरीर अवश्यंभावी विनाशी है। किन्तु फिर सारे धर्म शास्त्रों में हिंसा का घोर पाप और उसके द्वारा नरक गति प्राप्ति आदि जो बताए गए हैं उनकी क्या गति होगी? क्या यही मान लिया जाय कि आत्मा नित्य है इसलिए हिंसा में कोई पाप नहीं? यदि ऐसा ही हो तो शास्त्रों में सब जगह हिंसा का इतना निषेध क्यों किया गया है? पूर्व (२।१९) पद्य के व्याख्यान में यह कहा गया है कि शास्त्रों के विधि-निषेध व्यवहार दशा में ही हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर वे विधि-निषेध लागू नहीं होते—"निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतां को विधिः को निषेधः"—अर्थात् प्रकृति के गुणों से मुक्त होकर जो ऊपर चला गया उसके लिए क्या विधि और क्या निषेध? इस पर भी अर्जुन के मन में यह शंका हो सकती है कि मैं तो अभी व्यवहार दशा में ही हूँ। मैं शोक मोहादि से आक्रान्त हूँ। तब अभी मुझे निस्त्रैगुण्य प्राप्ति कहाँ हुई। इसलिए मुझ पर तो वे विधि-निषेध अवश्य लागू होंगे। तब इस प्रबल हिंसा के पाप से मैं कैसे बच सकूँगा। इस शंका के निवारण के लिए आगे का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जो कि अग्रिम प्रवचन में स्पष्ट किया जायगा।

———

तेईसवां-पुष्प

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ : २, ३१ :

"पूर्वोक्त के अतिरिक्त अपने धर्म का विचार करके भी तुमको विकम्पित अर्थात् अपने इस समय के कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि धर्मानुसार युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए कल्याण का मार्ग इस प्रकार का और कोई नहीं है।"

यहाँ धर्म का प्रसंग आया है, और स्वधर्म, परधर्म की भी बात उठाई गई है। धर्म आर्य जाति का प्राण है और बिना धर्म स्वरूप के स्पष्ट निरूपण के स्व-धर्म तथा पर धर्म का ज्ञान भी नहीं हो सकता। इसलिए धर्म के महत्व और उसके स्वरूप का विवेचन करना यहाँ आवश्यक है।

यों तो सभी लोग धर्म की प्रशंसा और अधर्म की निन्दा करते हैं किन्तु धर्म-प्राण आर्य जाति का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि धर्म ही संसार का आधार है। मनुष्य के द्वारा विरचित सृष्टि में जिस प्रकार विशाल राजभवन भित्तियों और खम्भों के सहारे पर खड़ा रहता है, इसी प्रकार ईश्वर की रचना में उस प्रभु का बनाया हुआ अतिविशाल चतुर्दश भुवनात्मक यह ब्रह्माण्ड धर्म के ही आधार पर खड़ा है। यह सिद्धान्त आर्य जाति के बच्चे और बूढ़े, राजा और रंक सबके हृदयों में कभी न मिटनेवाली रेखाओं से अंकित है। इस जाति का यह सुदृढ़ विश्वास है कि धर्म की स्थिति से वस्तु के स्वरूप की स्थिति है और धर्म के नष्ट होते ही वस्तु अपने स्वरूप से गिर जाती है। इसी कारण आर्य जाति के बच्चे और बूढ़े, राजा और रंक सभी ने धर्म संकट में प्राणों की बाजी लगाकर अपने अपने धर्म की रक्षा की है। उसी का सुमधुर फल आज भी हमारी आँखों के सामने है कि शत्रुओं के प्रचण्ड आक्रमणों को सहन करने में असमर्थ होने के कारण अनेक बड़ी-बड़ी जातियों ने विजेता जातियों को आत्म समर्पण कर जहाँ अल्प काल में ही अपना अस्तित्व संसार से मिटा दिया, वहाँ सृष्टि के आरम्भ से गंगा-यमुना की धारा के समान अविच्छिन्न प्रवाह से चली हुई आर्य जाति अनेक शताब्दियों से परतन्त्र रहकर भी आज भी संसार की सभ्य जातियों में गिनी जाती है। आधुनिक शिक्षा की चकाचौंध में आए हुए जो भारतीय सज्जन अन्य देशों के ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर धर्म को उन्नति के मार्ग का एक काँटा सिद्ध करने की चेष्टा किया करते हैं, उन्हें एक बार इतिहास की इस विलक्षणता पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। वे बतावें कि क्या आर्य-जाति के समान प्राचीन-सभ्यता का अभिमान करने वाली कोई दूसरी जाति भी आज

संसार में है ? । क्या संसार में अन्य कोई दृष्टान्त ऐसा है कि इतने काल तक पराधीन रहकर कोई जाति अपनी सभ्यता अथवा सत्ता को अक्षुण्ण रख सकी हो ? । रोमन और रेड-इन्डियन जैसी विशाल साम्राज्य भोगने वाली जातियाँ जहाँ विजित होते ही अल्प-काल में अपनी सत्ता विलीन कर केवल इतिहास के पन्नों में अपना नाम छोड़ गईं, वहाँ हिन्दु जाति का अब तक जीवित जाति रहना और अपनी सभ्यता को सुरक्षित रखना क्या आश्चर्य और गौरव की बात नहीं है ? और यदि है तो इसका एकमात्र श्रेय धर्म को ही है या अन्य किसी को ? यह विचारने की बात है। इसीलिए भगवती श्रुति स्पष्ट घोषणा करती है कि—"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।" अर्थात् धर्म ही सम्पूर्ण संसार को अपने स्वरूप में स्थिर रखने वाला है।

मोटी बुद्धि धर्म के महत्व को समझने में असमर्थ है, इस कारण मोटी-बुद्धि के मनुष्य अर्थ और काम के प्रलोभनों से आकृष्ट होकर शारीरिक और मानसिक शक्ति का ह्रास करने वाले विषय सुख में फँस जाते हैं। विषय भोग के क्षणिक आनन्द के बदले अपना सारा शक्ति-धन लुटा कर अनेक महारोगों से आक्रान्त होकर, जीने की इच्छा रखते हुए भी, जल्लादों के हाथ में पड़े हुए खूनी कैदी के समान अति दीन होकर वे महाकष्ट से मृत्यु के मुख में प्रवेश करते हैं। किन्तु सूक्ष्म बुद्धि वाले मनुष्य सुख के असल कारण (धर्म) को अपनी पारगामी-बुद्धि से पहचान कर विषय-सुख की अन्तिम दशा (दुःख) को पहले ही जान लेते हैं। इससे वे अर्थ और काम की प्रचण्ड-आँधी में भी धर्म के एक अंग धैर्य के सहारे, हिमालय और विन्ध्याचल के समान अविचल रहकर धर्म का पालन करते हैं। इसी कारण जीवन भर सब प्रकार के रोग और शोक से अछूते, शरीर से स्वस्थ और मन से प्रफुल्ल रहते हैं। वे असमय में आयी हुई सभी अपमृत्युओं का तिरस्कार करके समय पर उपस्थित हुई मृत्यु के सिर पर पाँव रखकर भरद्वाजादि ब्रह्मर्षि एवं भीष्म पितामह आदि राजर्षियों के समान हँसते-हँसते परलोक यात्रा करते हैं। ऐसे सूक्ष्म बुद्धि वाले धार्मिक मनुष्य न इस लोक के दुःख भोगते हैं न पर-लोक की कठिन यातनाएँ सहते हैं। ये सदा आनन्द ही आनन्द में रहते हैं। यह धर्म का ही महत्त्व है।

पिता की आज्ञा को धर्म और उसका पालन करना अपना परम कर्तव्य समझकर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र राज-पाट छोड़कर चौदह वर्ष तक यदि वन में न रहे होते, तो रामराज्य आदर्श राज्य न कहाता और अयोध्या में कुरुक्षेत्र के समान रक्त की नदियाँ बही होतीं। राजा और प्रजा को इस प्रकार के प्रलयकारी रक्तपात से बचा कर संसार को शान्त और सुव्यवस्थित रखने में एक मात्र धर्म ही सफल हुआ है। धार्मिक जगत् अब भी इस बात को गर्व के साथ कहता है कि यदि संसार धर्म पर कटिबद्ध रहे तो आज ही रक्त की नदियों के स्थान पर दूध और दही की नदियाँ बहने लगें। शत्रुता का नाम निशान मिट जाय, और मित्रता का सर्वत्र साम्राज्य छा जाय। भय और

अत्याचार आदि दुर्गुणों का नाश होकर उनके स्थान पर अभय और सदाचार आदि सद्गुण विराजमान हो जाय। रूस और अमेरिका आदि देश कौरव पाण्डवों के समान न रहकर भगवान् रामचन्द्र और श्रीभरत की तरह सम्मान और सौहार्द पूर्वक रहने लगें। असम्भव दिखने वाली ये सब घटनाएँ यदि सम्भव हो सकती हैं, तो केवल धर्म-बल के आधार पर। धर्म के सिवाय संसार में कोई शक्ति नहीं है, जो इन अनहोनी घटनाओं को होनहार सिद्ध कर सके।

धर्म एक वह बल है, जो संसार में अचूक विजय दिलानेवाला है। अन्य बल यदि धर्म के अनुयायी रहें तो विषय के साधन होते हैं अन्यथा सर्वथा निष्फल या बिलकुल फेल होते हैं। दुश्शासन जैसे प्रबल शरीर बल वाले व्यक्ति के सामने असहाय और अबला द्रौपदी को किसने विजय दिलाई ? त्रिलोकी को हुंकार मात्र से कम्पित करने वाले हिरण्यकशिपु जैसे महान् अत्याचारी सम्राट् के आगे प्रह्लाद जैसे बालक की विजय का कारण कौन बना ? सुवर्णमयी लंका के स्वामी रावण पर कन्द-मूल-फल खाते हुए अकिंचन भगवान् रामचन्द्र ने विजय प्राप्त कर संसार को क्या शिक्षा दी ? चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित महाराज विश्वामित्र को वनवासी अकेले महर्षि वशिष्ठ ने किस बल से जीता ? ग्यारह अक्षौहिणी-सेना के स्वामी दुर्योधन केवल सात अक्षौहिणी-सेना के अधिपति युधिष्ठिर के आगे क्यों परास्त हुआ ? । इन सब बातों का उत्तर एक मात्र धर्म-बल ही है। धर्म-बल इस संसार में भी विजय दिलाता है, और परलोक का तो वह एक मात्र सहारा है।

धर्म के महत्व को पूर्णतया समझकर ही यवनों के प्रबल-आक्रमणों के समय, धर्म की रक्षा के लिए, क्षत्रिय-वंशावतंस हिन्दू-सूर्य महाराणा प्रताप और वीर शिवाजी आदि महाप्रतापी राजाओं के साथ अनेक क्षत्रिय-शूर-वीरों ने अपने प्रिय-प्राणों की संग्राम की पवित्र वेदी पर आहुति दी थी। महारानी पद्मिनी आदि अगणित क्षत्राणियों ने अपने सतीत्व-धर्म की रक्षा के लिए धधकती हुई अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में तृण के समान अपने विनश्वर शरीर को भस्म कर अपने आपको अमर कर लिया था। यही नहीं, हकीकत राय आदि दुधमुँहे बच्चों ने भी धर्म की रक्षा के निमित्त प्राण-परित्याग कर "न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।" का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया था। हम आज के विज्ञ समाज से पूछते हैं कि क्या पूर्वोक्त धर्म-धुरन्धर व्यक्ति आदर्श नहीं हैं ? । क्या आज भी संसार इनकी चरण-रज पर अपने सर्वस्व को निछावर कर देने के लिए तैयार नहीं है ? क्या उनका वह त्याग संसार की अमूल्य सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती ? यदि उनका महत्व है, तो किस आधार पर ? । बस, कहना होगा कि एकमात्र धर्म ही इस महत्व का आधार है। संसार में अनन्त प्राणी जन्म लेते हैं, और मरते हैं। किन्तु इनमें अमर वे ही होते हैं जो धर्म के नाम पर मरना जानते हैं। इस धर्म को कर्तव्य-पालन शब्द से कह लीजिए, समाज-सेवा शब्द से व्यवहार कीजिए, त्याग या

ड्यूटी नाम दीजिए, चाहे नैतिक बल कहिए अथवा और कुछ कह लीजिए, नाम पर विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं। बात एक ही है कि केवल धर्म ही लोक और परलोक की उन्नति का एकमात्र साधन है। इसीलिए भगवान् मनु का उपदेश है कि—

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिका।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ४।२३८।

परलोक यात्रा के समय मार्ग के संकटों का निवारण करने में तथा नरक आदि दुःखदायी स्थानों से बचाकर चन्द्रलोक और सूर्यलोक आदि सुखदायक लोकों की प्राप्ति कराने में धर्म हमारी सहायता करे—इस इच्छा से धर्म का शनैः-शनैः इस प्रकार संचय करे कि किसी प्राणी को उसकी धर्म-क्रिया से कष्ट न पहुँचे। जैसे दीमक एक-एक कण मिट्टी इकट्ठी करके कुछ हीं दिनों में बहुत बड़ी बांबी (दीमक का इकट्ठा किया हुआ मिट्टी का ढ़ेर) बनालेती है, इसी प्रकार शनैः शनैः धर्म संचय करता हुआ धर्म की राशि को बढ़ावे। यह सदा ध्यान रक्खें कि अपने आचरण से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचे।

नामुत्र हि साहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र-दारा न ज्ञाति र्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ ४।२३९।

पिता, माता, पुत्र, स्त्री और बन्धु-बान्धव इनमें से निश्चय ही एक भी परलोक में सहायता के लिए पास नहीं फटकता, वहाँ तो केवल एकमात्र धर्म ही सहायता करने के लिए साथ रहता है।

मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ ४।२४१।

मरे हुए शरीर को निकम्मे काठ किंवा मिट्टी के ढेले के समान पृथ्वी पर फेंक कर बान्धव लोग वापस आ जाते हैं। उस समय केवल एक धर्म ही उसके साथ परलोक तक जाता है।

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ४।२४२।

इसलिए परलोक में सहायता के हेतु नित्यप्रति जितना बन सके उस प्रकार (जिससे किसी तरह की तकलीफ न पहुँचे) धर्म का संचय करता रहे। धर्म ज्योति की सहायता से मनुष्य उस अन्धकार को पार कर लेता है जो सूर्य आदि के प्रकाश से भी पार नहीं किया जा सकता।

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ ४।२४४।

जिस मनुष्य का जीवन सदा धर्म प्रधान रहा है और तपस्याओं से जिसने अपने अगले पिछले पापों का नाश कर दिया है, उस धर्मात्मा पुरुष को धर्म और कहीं न ले जाकर सीधा सूर्य लोक में (जहाँ गया हुआ फिर यहाँ के दुःख भोगने को वापस नहीं आता) ले जाता है।

इस प्रकार जहाँ धर्म-प्रवक्ताओं के परमाचार्य भगवान् मनु परलोक का एकमात्र सहायक कह कर धर्म का महत्व दिखा रहे हैं, वहाँ आयुर्वेद के परमाचार्य चरक भगवान् सब उन्नतियों के मूल स्वास्थ्य के लिए धर्म की परमावश्यकता बता रहे हैं। चरक संहिता में भगवान् आत्रेय ने स्वास्थ्य के लिए दो खास बातें बतलाई हैं—एक तो उत्पन्न हुए रोग की औषधादि के द्वारा निवृत्ति करना, दूसरी स्वस्थावस्था में अपनी दिनचर्या ही ऐसी रखना जिससे रोग उत्पन्न होने ही न पावे। इनके मत से रोग उत्पन्न होने का विप्रकृष्ट निदान (मुख्य मूल कारण) अधर्म है। जनपदोद्ध्वंसनीय (महामारी) अध्याय में अपने प्रिय शिष्य अग्निवेश के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—"सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः। तन्मूलञ्चासत्कर्म (चर० विमानस्थान ३ अ०) हे अग्निवेश! इस शरीर के और सब जगत् के मूल तत्व वात पित्त आदि में जो विकार-रोगोत्पादक दोष उत्पन्न होते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है। धर्मात्मा भी रोगी होते देखे जाते हैं, इसका कारण पूर्वजन्म के पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं जिससे मनुष्यों का तथा अन्य प्राणियों का संहार होता है ऐसे प्रसंगों का किंवा शस्त्र प्रयोगों का कारण भी अधर्म ही को बतलाते हैं—"तथा शस्त्रप्रभवस्यापि अधर्मएव हेतुर्भवति।" अर्थात् शस्त्र प्रयोग से जो महान् जनक्षय होता है, उसका कारण भी अधर्म ही है। और ऐसे भयंकर रोगों का उपाय भी चरक भगवान् क्या बता रहे हैं? देखिए—

"सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्ध संमतैः॥"

सूत्र स्थान ८ अध्याय में अपना भला चाहने वाले मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह सलाह देते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—

"स्मृतिमास्थाय सद्वृतमनुष्ठेयम्, तद्ध्यनुष्ठानं युगपत्संपादयत्यर्थद्वयम्-आरोग्यमिन्द्रियविजयं च"

अर्थात् अपना हित चाहने वाले सब ही लोगों को सदा सारा "सद्वृत" बिना भूल व्यवहार में लाना चाहिए। ऐसा करने से एक ही समय में दो लाभ हो जाते हैं—आरोग्य और इन्द्रियों की विजय। तात्पर्य यह है कि शरीर का स्वास्थ्य और इन्द्रियों पर विजय किये बिना मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों के कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। रोगों से आक्रान्त मनुष्य न

सांसारिक-सुख प्राप्त करने के लिये कुछ कर सकता है, और न पारलौकिक सुख पाने के लिये। इसी प्रकार जो शरीर से स्वस्थ होकर भी इन्द्रियों के वशीभूत है, वह भी इस लोक और परलोक का कोई काम नहीं कर सकता। काम करने के लिये निरोग और जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। परन्तु निरोग और जितेन्द्रिय वही हो सकता है, जो "सद्वृत" के अनुसार व्यवहार कराता है। आगे "सद्वृत्त" का स्वरूप हो जिसे चरक ने बड़ी विस्तार के साथ लिखा है।

इस प्रकार शरीर स्वास्थ्य आत्मोन्नति और समाज रक्षा आदि सब धर्म के ही फल सिद्ध होते हैं। हम आरम्भिक प्रथम प्रवचन में ही त्रिवर्ग धर्म को प्रधान बतलाते हुए कह आए हैं कि स्वरूप रक्षा ही धर्म का लक्ष्य है। यही बात "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" इस उक्त श्रुति से भी सिद्ध होती है और सभी शास्त्रकार सब प्रकार के स्वरूप की रक्षा के लिए धर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

धर्म शब्द का अर्थ ही यह है कि जो "धारण करने वाला हो।" इस शब्द की दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति शास्त्रों में संकेतित है, "धरतीति धर्मः" और "ध्रियते इति धर्मः"। दोनों को मिलाकर इसका तात्पर्य यह स्फुट होता है कि "ध्रियमाणः सन् धरति इति धर्मः" अर्थात् धर्मी में रहकर जो धर्मी के स्वरूप की रक्षा करता रहे वही धर्म है। विवेचक विद्वानों का एक मत से कथन है कि धर्म शब्द का समानार्थक दूसरा कोई शब्द किसी भाषा में प्राप्त नहीं होता। जितना गम्भीर अभिप्राय इस शब्द के अन्तर्गत है उतना अभिप्राय देने वाला कोई दूसरा शब्द संसार में है ही नहीं। इसीलिए इस शब्द का ठीक अनुवाद भी किसी भाषा में नहीं हो सकता। रिलीजन आदि इंग्लिश शब्दों से और मजहब आदि शब्दों से जो इसका अनुवाद किया जाता है वह अपनी बुद्धि को समझाने के लिए कल्पित संकेत मात्र है। "रिलीजन" शब्द का असली अर्थ होता है, "रि" अर्थात् पुनः "लीज" अर्थात् बन्धन। इससे शब्दार्थ यह सिद्ध होता है कि जो पुनः बन्धन करने वाला हो। किन्तु हमारे यहाँ धर्म का अभिप्राय इससे बिलकुल विपरीत है। यहाँ माना जाता है कि जो बन्धन से छुड़ाने वाला हो वही धर्म है। आंग्ल भाषा के विद्वान् प्रायः यह समझकर "रिलीजन" शब्द का प्रयोग धर्म के लिए करते हैं कि धर्म के द्वारा एक बन्धन होता है अर्थात् यथेच्छाचरण को इसके द्वारा रोका जाता है। किन्तु यह भी पूरा नहीं उतरता क्योंकि केवल दुराचार से रोकने का नाम ही धर्म नहीं है, सत्कार्य प्रवृत्ति उसमें मुख्य है। जो कि उक्त आंग्ल शब्द के अर्थ में नहीं आती। इसी प्रकार मजहब आदि शब्द भी "मत" आदि अर्थों के बोधक हैं, धर्म शब्द का गंभीर अर्थ उनसे लेशतः भी प्रकाशित नहीं होता। कई विद्वान् "कर्तव्य वा "ड्यूटी" आदि शब्दों से इसका अभिप्राय निकालना चाहते हैं किन्तु वह भी अनुवाद पूरा नहीं उतरता। धर्म शब्द का प्रयोग हम "अग्नि का धर्म," "जल का धर्म" इत्यादि स्थानों में भी अप्रतिहत रूप से कर

सकते हैं किन्तु "अग्नि की ड्यूटी" इत्यादि प्रयोग कभी सुसंगत नहीं होते। कदाचित् इसमें यह शंका हो कि असाधारण गुण का बोधक धर्म शब्द दूसरा है जो कि "अग्नि का धर्म", "जल का धर्म" आदि में प्रयुक्त होता है और मनुष्य के सम्बन्ध में जो धर्म शब्द का प्रयोग है वह शब्द ही दूसरा है। किन्तु ऐसा मानना एक प्रकार का भ्रम है। स्वरूप रक्षा रूप अर्थ सबमें अनुगत हो जाता है। जैसा कि दहन को अग्नि का धर्म कहा जाता है। जब तक अग्नि में दाहकत्व रहे तभी तक अग्नि कहला सकता है। दाहकत्व हट जाने पर उसे अग्नि कोई नहीं कहता। इसी प्रकार "आप्यायन" जल का धर्म है। आप्यायन अर्थात् तृप्ति करने की शक्ति जब जल में न रहे तब उसे जल कहने को कोई भी तैयार नहीं होगा। इससे वहाँ भी स्वरूप साधन से ही धर्म शब्द का स्पष्ट अर्थ सिद्ध होता है। और मनुष्य के पक्ष में भी यही बात है। मनुष्यत्व की रक्षा जिन कार्यों के द्वारा हो वे ही मनुष्य के पक्ष में भी धर्म कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि धर्म शब्द का विरुद्ध शब्द संस्कृत भाषा में पातक कहा जाता है। पातक अर्थात् पतन कराने वाला। इससे सिद्ध हुआ कि जिसके द्वारा स्वरूप से पतन हो वह पातक है और इसके विरुद्ध जिसके द्वारा स्वरूप रक्षा हो, पतन न हो सके वह धर्म है। लोक व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि जो दुराचारी प्रसिद्ध हो जाय उसके लिए कहा जाता है कि वह तो मनुष्यता से गिर गया। इन सब व्यवहारों के द्वारा स्वरूप रक्षा से ही मनुष्य के पक्ष में भी धर्म शब्द का अर्थ सिद्ध होता है जो कि जड़ चेतन सबमें समान है। अग्नि का धर्म, जल का धर्म, इत्यादि में भी उसी अभिप्राय से इस शब्द का प्रयोग है और मनुष्य के पक्ष में भी यही अभिप्राय है। इससे शब्द दो नहीं कहे जा सकते।

संस्कृत के विद्वान् इस पर यह शंका करेंगे कि कर्म के तीन भेद शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं—नित्य, नैमित्तिक, और काम्य। संध्यावन्दनादि प्रतिदिन के आवश्यक कर्म नित्य कहे जाते हैं, हों तो आवश्यक किन्तु किसी निमित्त के आ पड़ने पर होते हों, सदा नहीं, उन्हें नैमित्तक कहते हैं, जैसे ग्रहण, स्नान, अशौच कर्म आदि। इन दोनों में तो उक्त धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संगत हो सकती है। क्योंकि इनके द्वारा किसी नवीन अतिशय की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। पातक या पाप का निवारण ही इनका लक्ष्य है। किन्तु "काम्य" धर्मों में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा वेदोक्त यज्ञ आदि जो मुख्य धर्म हैं वे तो स्वर्गादि अभ्युदयों के लिए किए जाते हैं। उनका लक्ष्य स्वरूप की उन्नति है न कि स्वरूप रक्षा मात्र। फिर उन्हें धर्म कैसे कहा जायगा और शास्त्रों में उनको ही मुख्य धर्म माना गया है। तब धर्म शब्द का उक्त अर्थ ठीक नहीं उतरता। इसका समाधान इस प्रकार है कि अग्रिम प्रवचन में जो हम स्वरूप की आन्तर व्याख्या करने वाले हैं उसे समझ लेने पर यह शंका नहीं रहेगी। श्रुति कहती है कि "स्वर्ग कामो यजेत" अर्थात् स्वर्ग की जिसे इच्छा हो उसके लिए यज्ञ करना धर्म है। वह स्वर्ग की इच्छा अन्तःकरण की एक वृत्ति है और जिसे स्वर्ग की

इच्छा हो गई उसके स्वरूप में वह इच्छा भी प्रविष्ट हो गई। तब उस इच्छा की रक्षा भी धर्म शब्द के अर्थ में आ गई और इच्छा की रक्षा का अर्थ इच्छा के उपयुक्त पदार्थ प्राप्त करना ही होगा न कि इच्छा का दमन। अतः स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थों की प्राप्ति भी स्वर्ग कामना वाले पुरुषों के धर्म रूप हो जाती है।

इस पर यह प्रश्न होगा कि फिर किसी पुरुष की चोरी व्यभिचार आदि दुराचारों की इच्छा भी उसके स्वरूप के अन्तर्गत होगई। तब उसके साधनों को भी धर्म कहना पड़ेगा। इसका उत्तर यही है कि आत्मा के मुख्य शुद्ध स्वरूप के विरुद्ध जो अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं वे स्वरूप का आवरण करने वाली होने के कारण स्वरूप में प्रविष्ट नहीं कही जा सकतीं। वे केवल माया की वृत्तियाँ हैं, आत्मा की वृत्तियाँ नहीं। इसी अभिप्राय से धर्म शास्त्र प्रवक्ताओं ने धर्म की ये भी एक पहिचान बतलाई है कि कि "यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः" अर्थात् जिस काम के करने से अन्तरात्मा को प्रसन्नता होती हो, वही धर्म समझना चाहिए। भगवान् मनु ने आरम्भ में ही धर्म का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेष रागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ (मनु २-१)

अर्थात् रागद्वेष रहित विद्वान् जिसका सेवन करते हों और हृदय से अर्थात् अन्तःकरण से जिसकी अनुमति मिलती हो उसी धर्म का हम निरूपण करते हैं। सभी विवेचक विद्वानों ने यह माना है और अनुभव सिद्ध भी है कि कोई मनुष्य जब द्यूत, मद्यपान, चोरी आदि अनाचारों में प्रथम ही प्रवृत्त होने लगता है तब उसका अन्तरात्मा उसे रोकता है, उसके पैर काँपने लगते हैं, और बार-बार उस कार्य से हटने की प्रेरणा मिलती है। इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने मनोदेवता की आज्ञा को धर्म माना था। जैसा कि इस विषय का विस्तृत विवेचन हम प्रथमाध्याय के द्वितीय प्रवचन में ही कर आए हैं। यह दूसरी बात है कि बुरे कार्यों का अभ्यास हो जाने पर आत्मा का स्वरूप आवृत्त हो जाता है और फिर अनुचित कार्यों की रोक भी भीतर से नहीं होती। इसी लिए अन्तःकरण की आज्ञा को ही हमारी संस्कृति में धर्म का मुख्य आधार नहीं माना गया। अग्रिम प्रवचन में भी स्वरूप निरूपण में इस विषय को अधिक स्पष्ट किया जायगा। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि अनुचित वृत्तियाँ स्वरूप में प्रविष्ट नहीं मानी जातीं। इसलिए उनकी रक्षा को धर्म भी नहीं माना जाता। इससे भी उच्च श्रेणी के आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए तो इच्छा मात्र ही स्वरूप से बहिर्भूत है। इसलिए वे काम्यकर्ममात्र को धर्म नहीं मानते। यही गीता का भी सिद्धान्त है। राग द्वेष परित्याग पूर्वक निष्काम कर्म करना ही गीता का मुख्य लक्ष्य है, यह अनुपद ही कर्मयोग के प्रवचनों में स्पष्ट हो जायगा।

धर्म का "स्वरूप रक्षा" अर्थ काम्य कर्मों में समन्वित नहीं होता इस शंका का दूसरा समाधान यह है कि परिवर्तनशील जगत् में कोई न कोई परिवर्तन तो सदा सबका होता ही रहता है। वे परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं उच्च गति या अधोगति। अधोगति का ही नाम पतन है। जब धर्म के द्वारा पतन वा अधोगति रोक दी गई तो उच्च गति की ओर अग्रसर होना प्राकृतिक है। इसलिए ऊर्ध्वगति वा उन्नति अभ्युदय आदि का समावेश भी धर्म में हो जाता। इसी बात को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीव सर्वशक्तिमान, पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म का एक अंश है। जैसा कि गीता के १५ वें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है। तब अपने अंशी सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्द घन की ओर बढ़ते रहना इसका स्वरूप ही है। क्योंकि अंश का अंशी की ओर अग्रसर होना प्रकृति के नियम से सिद्ध है। इसलिए उन्नति या अभ्युदय भी आत्मा के स्वरूप में ही आ जाता है और स्वरूप रक्षा रूप धर्म के अर्थ में वह अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर भगवान् कणाद ने वैशेषिक सूत्र में धर्म के लक्षण में अभ्युदय को भी स्थान दिया है—"यथो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः" (वैशेषिक सूत्र १ अध्याय १ सूत्र) यह भगवान् कणाद का लक्षण मनुष्य धर्म को ही लक्ष्य मानकर प्रवृत्त है क्योंकि अभ्युदय वा निःश्रेयस शब्दों का प्रयोग अचेतनों के लिए व्यवहार में नहीं किया जाता। महाभारत में जो धर्म का निर्वचन किया है वह जड़-चेतन साधारण है—

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं सधर्म इति निश्चयः॥

इसका आशय स्पष्ट किया जा चुका है कि जो धारण किया जाकर धर्मी का धारण कर अर्थात् धर्मी की स्वरूप रक्षा करे वही धर्म है। स्वरूप ज्ञान के तारतम्य और प्रकृति विशिष्ट आत्मा के अनन्त स्वरूप भेद होने के कारण धर्मों में बहुत भेद हो जाते हैं यह प्रथमाध्याय के प्रथम वचन में ही स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आशय से धर्म शब्द एक सम्बन्धि शब्द बन गया अर्थात् जो क्रियाएँ जिसकी स्वरूप रक्षा में उपयुक्त होंगी वे उसका धर्म कही जायेंगी और जिसके स्वरूप के विपरीत होंगी उसके पक्ष में वे अधर्म कही जायँगी। आन्तर स्वरूप और बाह्य स्वरूप का विस्तार बतलाते हुए यह भी प्रथम प्रवचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि देश काल सामाजिक परिस्थिति आदि भी स्वरूप के अन्तर्गत हैं। इसलिए देश काल पात्र आदि के अनुसार ही धर्म की व्यवस्था होती है और उसमें स्वधर्म परधर्म आदि के भेद अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि इस प्रकार का स्वरूप ज्ञान सामान्य मनुष्यों को नहीं हो सकता और न वे स्थिर स्वरूप रक्षा के उपायों को ही जान सकते हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति में धर्म अधर्म का निर्णय शास्त्र पर ही छोड़ा गया है। यह भी कह आए हैं कि मुख्य धर्मोपदेष्टा पूर्ण ज्ञान सम्पन्न परमात्मा ही हो सकता

है। उस परमात्मा की आज्ञा रूप वेद ही धर्म अधर्म के मुख्य निर्णायक भारतीय संस्कृति में माने जाते हैं और परमात्मा की कृपा से जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया उन ऋषि मुनियों के वचनों को भी धर्म का आधार माना जाता है। इस आशय को लेकर जैमिनि मुनि ने धर्म का मीमांसा दर्शन में यह लक्षण किया है—"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" इसका तात्पर्य विवरण मीमांसा के ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं कि "वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थोधर्मः" अर्थात् वेद के विधि शब्दों द्वारा जो बतलाया गया हो और स्वर्गादि प्रयोजनों का साधक हो वह धर्म है। इस लक्षण के विशेषणों पर बहुत विचार किया गया है जो यहाँ अप्रकृत होने के कारण नहीं कहा जाता। यहाँ धर्म शब्द की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए उसके अनेक लक्षणों का और शब्दार्थ का परस्पर समन्वय कहा गया है और धर्म भेद के कारण बतलाए गए हैं। अब स्वधर्म परधर्म का विशेष विवरण अग्रिम प्रवचन में किया जायगा।

———

चौवीसवां-पुष्प

पहिले के प्रवचन में कह चुके हैं कि "धर्म" शब्द एक सम्बन्धी शब्द है, अर्थात् जिस प्रकार माता, पिता, पुत्र और गुरु आदि शब्द कहने पर यह स्वभावतः आकांक्षा होती है कि किसकी माता ?, किसका पिता ?, किसका पुत्र ? इत्यादि, इसी प्रकार "धर्म" शब्द उच्चारण करते ही यह आकांक्षा स्वभावतः होती है कि किसका धर्म ? इसके उत्तर के लिए किसी वस्तु का नाम साथ में लेना पड़ता है कि अग्नि का धर्म, जल का धर्म, पशु का धर्म वा मनुष्य का धर्म आदि। जिसका वह धर्म है वही धर्मी कहलता है। ऐसी स्थिति में धर्म का विचार करने से पूर्व यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि किस धर्मी के धर्म का यहाँ विचार किया जा रहा है ? यदि कहा जाय कि मनुष्य के धर्म का विचार करना है, तो इतने मात्र से जिज्ञासा शान्त नहीं होती, किन्तु फिर प्रश्न उठ जाता है कि वह मनुष्य क्या वस्तु है ? जिसके धर्म का हम विचार करने चले हैं। क्या आत्मा धर्मी है ?, वा शरीर धर्मी है ?। केवल आत्मा को भी धर्मी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साङ्ख्य वेदान्त आदि दर्शनों के विचार से शुद्ध आत्मा निर्धर्मक है, उसमें कोई धर्म नहीं रह सकता। न्याय आदि जिन दर्शनों के विचार से आत्मा में धर्म रहते भी हैं, तो भी मष्नुयत्व पशुत्व आदि आत्मा में नहीं रह सकते। क्योंकि वही आत्मा कभी मनुष्य और कभी पशु आदि हो सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का धर्म शुद्ध आत्मा का धर्म कैसे कहा जायगा ? केवल शरीर को ही धर्मी मानकर उसके धर्म का ही विचार किया जाय, तो धर्म का परलोक से कुछ सम्बन्ध ही नहीं रह जाता, क्योंकि शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, फिर उसका धर्म परलोक में फल कहाँ से देगा ?। धर्मी के नष्ट हो जाने पर धर्म की स्थिति रह नहीं जाती। इसलिए यह एक विचारणीय प्रश्न है कि किसके धर्म का विचार प्रस्तुत है ? या यों कहो कि जिस धर्म का विचार करने चले हो, उसका धर्मी कौन है ?।

यह एक गम्भीर विषय है, संक्षेप से उसका निरूपण इस प्रकार है कि व्यवहार में शरीर विशिष्ट आत्मा को धर्मी मानकर धर्म का विवेचन होता है। हमारे शास्त्रों में शरीर तीन माने जाते हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। स्थूल शरीर पाँचों भूतों का बना हुआ पुतला है। सूक्ष्म शरीर अट्ठारह पदार्थों का समूह है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच प्राण और मन, बुद्धि, अहंकार सम्मिलित हैं। यह सूक्ष्म शरीर ही लोक-परलोक में जाने वाला भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने वाला व्यवहारिक जीव है। यह स्थूल शरीर के साथ नष्ट नहीं होता, किन्तु मृत्यु के समय एक स्थूल-शरीर को छोड़कर कर्मों के अनुसार दूसरे स्थूल-शरीर में चला जाता है। इससे भी आगे एक कारण शरीर है, ज़ो केवल वासनात्मक है और उसका प्रलय में नाश नहीं होता।

आत्मा इन तीनों शरीरों से पृथक् किन्तु अविद्यावश तीनों शरीर पर अहन्ताभिमान रखता है अथवा यों कहो कि तीनों शरीरों को अपना स्व-रूप ही समझता है, साधारणतया इन तीनों से अपने को पृथक् नहीं मानता। वही शरीराभिमानी आत्मा धर्मी अर्थात् धर्म का आश्रय है। उसी को लक्ष्य करके सब प्रकार के धर्म और अधर्म का विवेचन किया जाता है।

वेदान्त-दर्शन में सूक्ष्म शरीर के अवान्तर तीन भेद किए जाते हैं, यों वहाँ तीन शरीरों के स्थान में पंचकोष-कल्पना प्रसिद्ध है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर में से पाँचों प्राण और कर्मेन्द्रिय को प्राणमय कोष कहा गया है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोष कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोष और कारण शरीर को आनन्दमय कोष कहते हैं। इन कोषों में अनुस्यूत, इनका अभिमान रखने वाली चेतना शक्ति को भी अन्तर्गत कर लिया जाय तो इन सब कोषों का नाम चेतन शक्ति की प्रधानता के कारण "आत्मा" ही हो जाता है। उसमें व्यवहार की सुविधा के लिए भिन्न-भिन्न विशेषण लगाकर आत्मा पद का प्रयोग करते हैं। जैसा कि स्थूल शरीर वा अन्नमय कोष का अभिमानी चेतन "भूतात्मा" कहा जाता है। प्राणमय कोष का अभिमानी "प्राणात्मा" वा इन्द्रियात्मा, मनोमय कोष का अभिमानी "प्रज्ञानात्मा", विज्ञानमय कोष का अभिमानी "विज्ञानात्मा", और कारण शरीर वा आनन्द मय कोष का अभिमानी "अव्यक्तात्मा" और "महानात्मा" शब्द से श्रुतियों में व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य केवल यही है कि दर्शनों में जिस विशुद्ध आत्मा का निरूपण हुआ है उसके शरीर संवलित भिन्न-भिन्न रूप हैं, जिन्हें हम व्यावहारिक आत्मा, विशिष्ट आत्मा वा समुदाय रूप आत्मा कह सकते हैं। इन्हीं आत्माओं को प्रस्तुत धर्म का "धर्मी" समझना चाहिए अर्थात् इनके धर्मों का निरूपण करना ही हमारे धर्म शास्त्रों का लक्ष्य है।

इसी के कारण नाना जन्मों में क्षेत्रज्ञ को सुख और दुःख का ज्ञान होता है, इत्यादि। इन आत्माओं का विस्तृत विवेचन गुरुवर श्री विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थों में किया है और व्यावहारिक आत्माओं के १० भेद उन्होंने लिखे हैं। प्रथमतः तीन भेद "परिस्थिति" नाम से निरूपित हैं। १—ब्रह्म परिस्थिति, २—देवपरिस्थिति और भूत परिस्थिति। ब्रह्म परिस्थिति मुख्य आत्मा है जिनका कि निरूपण गीता के १५ वें अध्याय में अव्यय, अक्षर, क्षर नामों से है उनका विवरण वहीं करना उचित होगा। देव परिस्थिति में पूर्वोक्त ५ आत्मा हैं। इन्हें देव परिस्थिति नाम से कहा जाता है और इनके अंश जो जीवात्मा के आयतन बनते हैं उनके नाम हैं—शान्तात्मा, महान् आत्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और प्राणात्मा। ये पाँचों जीव के तन्त्र का परिचालन करते हैं। इन्द्रियों को शक्ति देकर उनका परिचालन करने वाला प्राण है। उस प्राण से परिच्छिन्न चैतन्य को प्राणात्मा कहते हैं। इसी प्रकार मन से परिच्छिन्न चैतन्य वा मन सहित चैतन्य को प्रज्ञानात्मा, बुद्धिकर्मित वा बुद्धि सहित चैतन्य को

विज्ञानात्मा, उससे भी पर उसके नियामक महत्तत्व से परिच्छिन्न चैतन्य को महान् आत्मा और इन सबमें अनुप्रविष्ट होकर इनको एक सूत्र में बाँधने वाले चैतन्य को शान्तात्मा कहा जाता है। इनका क्रम से निरूपण कठोपनिषद् में स्पष्ट है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परंमनः।
मनसस्तु परा बुद्धि र्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः॥

इन्द्रियाँ पर अर्थात् उत्कृष्ट हैं। उनसे भी पर मन है, मन से पर बुद्धि, बुद्धि से पर महानात्मा, महानात्मा से पर अव्यक्त आत्मा और अव्यक्त आत्मा से पर पुरुष कहा जाता है। पुरुष से पर और कोई दूसरा नहीं है। वहाँ प्रकर्ष की समाप्ति हो जाती है। वही परम गति है।

यहाँ इन्द्रियों को शरीरात्मा की अपेक्षा पर कहा गया है जिसका कि निरूपण आगे किया जायगा, शान्तात्मा को अव्यक्त नाम से कहा गया है। इनमें इन्द्रिय, मन और बुद्धि तो प्रसिद्ध ही हैं। महान् आत्मा का वर्तमान दर्शन शास्त्र में यद्यपि विवरण नहीं हुआ है किन्तु भगवद्गीता के चतुर्दश अध्याय ने उसे स्पष्ट किया है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्व योनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

इन पद्यों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर का जो आकार बनता है, उस आकार का सम्पादक महान् आत्मा है। महान् आत्मा में बीज रूप से अनुप्रविष्ट होने वाला रस तो अव्यय पुरुष है ही, इस आकार बनाने वाली चैतन्य सत्ता को आकृति महान् कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की जो एक प्रकृति अर्थात् स्वभाव बनता है उसका सम्पादक भी यही महान् आत्मा है जो प्रकृति महान् शब्द से व्यवहृत हुआ है। सब आयतनों में अहंकार का प्रसार करने वाला अहंवृति महान् कहलाता है। आगे का अव्यक्तात्मा अथवा शान्तात्मा सूत्र रूप है जो आत्मा के सब आयतनों को ग्रथित करता है। उसे सूत्रात्मा भी कहते हैं। ये पाँच प्रकार के आत्मा वा पुरुषपदवाच्य आत्मा के आयतन देव परिस्थिति के अन्तर्गत हैं।

भूतों से उत्पन्न होने वाला आत्मा भूतात्मा वा शरीरात्मा कहलाता है। यद्यपि शरीर पंच महाभूतों के अंशों से बनता है यह सभी जानते हैं, किन्तु महाभूतों के अंशों से बनने वाले घट, पट, इंट, पत्थर आदि की अपेक्षा शरीर में

कुछ विलक्षणता अवश्य देखी जाती है। इसके अवयवों का एक उचित सन्निवेश और घटना-बढ़ना इसकी विलक्षणता को प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार खाये हुए अन्न का रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र के रूप में क्रम से परिवर्तन होते रहना भी इस शरीर की विलक्षणता ही है। इसलिए मानना पड़ता है कि शरीराकार से परिणत होने वाले भूतों में भी चैतन्य शक्ति अनुस्यूत रहने पर काम करती रहती है। उसे भूतात्मा वा शरीरात्मा के नाम से कहना उचित होगा। यही शरीरात्मा के शुभ या अशुभ कर्म करता है और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएँ इसी की होती हैं। संक्षेप से मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में इन आत्माओं का निर्देश किया गया है।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोतितु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥
तावुभौ भूत संपृक्तो महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥

जो शरीर से काम कराने वाला है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इसी का नाम हमने पूर्व विज्ञानात्मा दिया है। जो काम करने वाला है वह भूतात्मा कहा जाता है। इन दोनों का अन्तरात्मा जीवात्मा है जिससे सुख और दुःख का ज्ञान हुआ करता है। महान् और क्षेत्रज्ञ ये दोनों भूतात्मा से सदा मिले रहते हैं। चाहे किसी भूत शरीर में अर्थात् किसी भी योनि में आत्मा रहे, ये उसके साथ ही व्याप्त होकर रहा करते हैं।

यहाँ भूतात्मा और विज्ञानात्मा इन दो का उल्लेख प्रथम श्लोक में है और महानात्मा भी अन्तिम श्लोक में कहा गया है। सब में चैतन्य देने वाला जीवात्मा बतलाया है। प्रज्ञान और प्राण को पृथक् न कहकर भूतात्मा में ही समाविष्ट कर दिया है और शान्तात्मा को भी महानात्मा से पृथक् नहीं कहा है। यही संक्षिप्त प्रक्रिया है। अस्तु, कर्म करने वाला भूतात्मा और भोक्ता विज्ञानात्मा वा जीवात्मा है यह मनुस्मृति के वचनों से सिद्ध हो जाता है। व्याकरण महाभाष्य से भी ऐसा प्रसंग आया है कि भूतात्मा के किये हुए कर्मों का फल जीवात्मा को भोगना पड़ता है। अन्य के लिये कर्मों का फल अन्य कैसे भोग सकता है, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भूतात्मा में भी चैतन्य सुख जीवात्मा से ही प्राप्त है। इसलिए कर्तृत्व जीवात्मा पर भी चला ही जाता है। भूतों का परिणाम रूप जिस प्रकार शरीर बना है इसी प्रकार भूतों में अनुस्यूत प्राण शक्ति का रूप अग्नि का एक अंश यह भूतात्मा है। इसके पुनः अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इनमें वैश्वानर का

कार्य है शरीर के अवययों का यथास्थान संघटन और उनका रक्षण। यह वैश्वानर आत्मा जड़ चेतन सब प्रकार के पदार्थों में व्याप्त है। अतएव अवयवों का संगठन सर्वत्र ही लोष्ठ प्रस्तरादि में भी साधारण रूप से दिखाई देता है। दूसरे तैजस आत्मा का कार्य है शरीर को क्रम से बढ़ाना। यह वृक्ष पर्यन्त प्राणियों में रहता है। जहाँ-जहाँ क्रमिक वृद्धि दिखाई दे वहाँ इसकी सत्ता का अनुमान हो जाता है। तीसरा प्राज्ञ आत्मा वह है जो ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि का आश्रय बतलाता है। ये तीनों क्रम से अग्नि, वायु और सूर्य के अंश हैं। प्राज्ञात्मा कार्य भेद से पुनः ३ प्रकार का माना जाता है—कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। शुभ या अशुभ कर्मों में शरीर को प्रवृत्त कराने वाला चैतन्यांश कर्मात्मा कहा जाता है। कर्मजनित संस्कार भी इसी कर्मात्मा में रहते हैं, जिन्हें मीमांसा में अपूर्व पद से कहा गया है, न्याय में धर्म-अधर्म पद से और लौकिक भाषा में पुण्य-पाप शब्द से यही कहे जाते हैं। पूर्व कह चुके हैं कि कर्मात्मा भूतात्मा की ही एक अवस्था है और भूतात्मा भूतों में अनुस्यूत अग्नि का परिणाम है। तब ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होगा कि इसमें चैतन्य कहाँ से आया। क्योंकि इसके उत्पादक भूत या भूतों से अनुस्यूत अग्नि तो जड़ है, उनका परिणाम चेतन किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर हमारे वेदानुगामी दर्शन शास्त्र यह देते हैं कि अत्यन्त स्वच्छता के कारण इसमें चिदात्मा का चैतन्य प्रतिबिंबित हो जाता है। जिसके कारण यह भी उसी प्रकार चेतन जैसे कर्म करने लगता है। जिस प्रकार सूर्य प्रतिबिंबि से आक्रान्त सरोवर आदि का जल अपनी चमक दूर तक फेंकने लगता है। उस चिदात्मा के प्रतिबिम्ब को चिदाभास नाम से वेदान्त आदि दर्शनों ने बतलाया है और व्यवहारिक जीव इसी को माना है क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में चैतन्य का संचार यह चिदाभास करता है। इस चिदाभास का मुख्य उत्पादक बिंव जो चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध है वह ईश्वर का अंश है, यह पहिले कहा जा चुका है। इसे दर्शनों में प्रत्यगात्मा कहा है और—"ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है, यन्त्रारूढ़ प्राणियों की तरह अपनी माया से सबको घुमाता है" इस भगवद्गीता की उक्ति में भी यही चिदात्मा विवक्षित है। उपनिषदों में अन्तर्यामी रूप से सब में व्याप्त रहकर सबका नियमन करने वाला इसे ही बताया गया है। स्मरण रहे कि इस चिदात्मा में जगत्तत्व के परिचालक तीनों अंश हैं—पुरुष, प्रकृति और शुक्र। इन तीनों का विशेष विवरण आगे यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना है कि शुक्र जो वीर्य नाम से भी कहाता है वह तीन प्रकार का होता है। जिन प्रकारों को ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य और विडवीर्य नाम से शास्त्रों में कहा गया है। इनमें ब्रह्मवीर्य विभूति नाम से, क्षत्रवीर्य ऊर्जनाम से और विडवीर्य श्रीनाम से भी व्यवहृत होते हैं। अतः इसे यों समझना चाहिए कि चिदात्मा यह भी तीन रूपों से मनुष्य आदि प्राणियों में व्यवस्थित है जो रूप विभूति, श्री और ऊर्ज़ के नाम से कहे जाते हैं। ईश्वर द्वारा उत्पादित और

प्राणियों में व्याप्त तीन प्रकार के बल हैं—ब्रह्मबल, क्षत्रबल और विडबल। ब्रह्मबल का नाम विभूति, क्षत्रबल का ऊर्ज्ज और विडबल का श्री है। इन्हीं के आधार पर भारतीय वर्ण व्यवस्था अवलम्बित है। इन बलों की विशेष अधिकता जिसमें देखी जाय वही पुराणादि में ईश्वरावतार माना जाता है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंश संभवम्॥

इस भगवद्गीता के पद्य में उक्त तीन बलों के ही कारण ईश्वरांश वा ईश्वरावतार मानना बतलाया गया है। अस्तु, उक्त प्रकरण का सारांश यह है कि शरीरात्मा, वैश्वानर, तैजस, कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्ज्ज और श्री नाम से भूतात्मा के आठ भेदों का निरूपण मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों में स्थान स्थान पर मिलता है। इनके अतिरिक्त भूतात्मा का सहचारी एक "हंसात्मा" श्रुतियों में और बतलाया गया है—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुषः एक हंसः॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुषः एकहंसः॥

तात्पर्य यह है कि पंचीकृत वायु के आधार पर सूर्य मण्डल से प्राप्त ज्योति के द्वारा विज्ञान सम्पन्न और चन्द्र ज्योति के द्वारा प्रज्ञान सम्पन्न होकर यह हंसात्मा भूतात्मा के साथ शरीर में रहता है। किन्तु शरीर के अवयव मांस, रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं और कर्मजनित संस्कार भी इस पर नहीं जाते। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थाएँ इसकी नहीं होती। जब भूतात्मा सुषुप्ति दशा में रहता है तब भी यह जागता रहता है और सुप्त पुरुषों के शरीर की चौकसी करता है। देखा जाता है कि कोई घातक सर्प, बिच्छू आदि जन्तु आक्रमण करने लगे तो सोया हुआ मनुष्य एक दम जाग पड़ता है। अथवा उठने के समय का अवधान करके यदि कोई मनुष्य सोवे तो नियत समय के आसपास वह अवश्य जाग जाता है। ये सब कार्य इसी हंसात्मा के हैं। सूर्य के प्रकाश से चैतन्य लेने के कारण उक्त श्रुतियों में इसे हिरण्मय कहा गया है। यह शरीर से बाहर निकलकर चन्द्र मण्डल पर्यन्त भ्रमण की शक्ति रखता है। यही बात उक्त श्रुतियों में बताई गई है कि यह अपने कुलाय अर्थात् शरीर से बाहर विचरण कर फिर अपने कुलाय में आ जाता है और उसकी रक्षा करता है। बाहर विचरता हुआ भी अपने इष्ट कर्तव्यों का पालन करता है। अन्य श्रुति में कहा है कि शुक्र का ग्रहण करके यह फिर अपने स्थान में आ जाता है। अपना कार्य सम्पादन ही शुक्र ग्रहण है।

बहुत लोगों का विचार है कि आजकल टेबुल आदि में जो आत्माओं के आवाहन की प्रक्रिया भारत तथा अन्य देशों में भी चल रही है, उसमें यह हंसात्मा ही आता है और अपने स्मरण अनुसार संन्देश देता है। शरीर के नष्ट हो जाने के अनन्तर भी यह वायु रूप शरीर में विचरता रहता है और रूप ग्रहण का सामर्थ्य भी इसमें है। इसके कई एक निदर्शन पुराणादि में प्राप्त हैं।

पूर्वोक्त भूतात्मा के आठ भेदों के साथ इसकी भी गणना करने पर भूत परिस्थिति के नौ भेद हो जाते हैं। पाँच देव परिस्थिति के पहिले कहे जा चुके हैं। ब्रह्म परिस्थिति के पूर्वोक्त परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर इन चारों भेदों को जो सर्वत्र व्याप्त हैं इनके साथ जोड़ लेने पर जीवात्मा के अठारह आयतन बन जाते हैं। इस प्रकार आयतन भेद से ईश्वर और जीव दोनों के अठारह-अठारह भेदों का श्रुतियों में भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है। उन्हें श्रुतियों का सावधानी से मनन करने वाले विद्वान् ठीक तरह से समझ सकते हैं। इस प्रकार व्यवहार दशा में आत्मा का आन्तर विस्तार बतलाया गया। कुटुम्ब, प्रतिवेशी, समाज आदि के रूप में बाह्य विस्तार सबसे आरम्भ के प्रथम प्रवचन में बताया जा चुका है। इन सबको लक्ष्य में रखकर भारतीय संस्कृति में धर्म का निरूपण होता है।

धर्म नाम किसका है इसमें भी कुछ मतभेद हैं। मीमांसा दर्शन में क्रिया को ही धर्म कहा जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त क्षेत्रज्ञ आत्मा की प्रेरणा से भूतात्मा जो शुभ या अशुभ कर्म करता है उन्हीं का नाम धर्म और अधर्म है। किन्तु न्याय दर्शन में इन क्रियाओं के द्वारा जो संस्कार विशेष आत्मा में उत्पन्न होते हैं उनका नाम धर्म और अधर्म कहा गया है। ये अतिशय वा संस्कार मानने तो सबको पड़ते हैं, क्योंकि क्रिया अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण आदि का व्यापार तो उसी समय नष्ट हो जाता है। फिर कालान्तर में इस लोक या पर-लोक में जीव को फल देने वाला कौन होगा? धर्म से लोक परलोक में सुख. और अधर्म से दुःख होता है यह सभी शास्त्र मानते हैं। वे सुख दुःख बहुत काल के अनन्तर यथा समय प्राप्त होंगे। उस समय उन सुख दुःखों का उत्पादक कौन होगा? अतः यह तो सभी को मानना पड़ता है कि शुभ या अशुभ क्रियाएँ अपना एक संस्कार आत्मा में छोड़ जाती हैं, वही संस्कार आगे इस लोक वा परलोक में फल दिलाने वाला होता है। इस संस्कार को मीमांसकों ने "अपूर्व" शब्द से कहा है औ न्याय में इसे ही धर्म और अधर्म शब्द का वाच्य माना जाता है। यह शब्द प्रयोग की प्रक्रिया मात्र का भेद है। क्रिया और संस्कार दोनों ही मतों में स्वीकार किये ही जाते हैं। संसार में भी ऐसा देखते हैं कि कृषि में जिस समय बीज वपन, कर्षण आदि की क्रिया की जाती है उसी समय उसका फल नहीं मिलता। किन्तु भूमि में जिस समय बीज डाला गया उसी समय कर्षक की क्रिया के आधार पर उस बीज में कुछ अतिशय का प्रारम्भ हो जाता है। और वह क्रम से अंकुर पौधा आदि के रूप में होता हुआ आगे अन्न

फल आदि उत्पन्न कर देता है। इसलिए क्रिया का एक सिलसिला चलता रहना लोक में भी सिद्ध है। भेद इतना ही है कि बीज के वे क्रिया जनित भिन्न-भिन्न रूप हमारी आँख के सामने रहते हैं किन्तु आत्मा में जो अतिशय वा अपूर्व का क्रम चलता है वह दृष्टिगत नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा स्वयं ही दृष्टिगत नहीं है तब उसके अतिशय दृष्टिगत कहाँ से होंगे। इसलिए उन संस्कारों को अदृष्ट नाम से भी कहा जाता है। अस्तु, यहाँ हम मीमांसकों के मत के अनुसार क्रिया को ही धर्म मानकर उस पर कुछ विशेष कहेंगे। क्योंकि मनुष्य के अधिकार में क्रिया रूप धर्म ही है। अदृष्ट को तो यह जानता भी नहीं। इसलिए मनुष्य क्रिया का ही विवेचन कर सकता है। पूर्व प्रवचन में जो हमने धर्म शब्द का व्यापक अर्थ बतलाया है उस पर विचार से स्वरूप ही धर्म सिद्ध होता है। अग्नि का धर्म, जल का धर्म इत्यादि व्यवहारों से स्वरूप ही धर्म शब्द का वाच्यार्थ है। प्रत्येक पदार्थ में कोई विशेषता रहती है जिसके कारण वह अन्य पदार्थों से भिन्न समझा जाता है। वही विशेषता उसका लक्षण वा मुख्य धर्म नाम से कही जाती है। बौध दर्शन में इसे ही "अन्यापोह" नाम से कहा गया है और इसे ही शब्द का मुख्य वाच्यार्थ माना है। अस्तु, वही प्रत्येक पदार्थ की विलक्षणता मुख्य धर्म नाम से कही जाती है। आगे क्रम से उसकी रक्षा का भी नाम धर्म हुआ और उसकी रक्षा के लिए उपाय रूप से जो क्रियाएँ की जांय वे भी धर्म शब्दार्थ के अन्तर्गत हो गईं। फिर उन क्रियाओं के द्वारा जो प्रभाव होता है वही अतिशय का अदृष्ट भी धर्म नाम से कहा जाने लगा। वह अत्तिशय भी आगन्तुक रूप से स्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए उसमें भी धर्म शब्द का उक्त अर्थ समन्वित हो जाता है।

यह समस्त संसार क्रियाओं का ही एक विजृम्भण वा खेल है। प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई क्रिया होती है और उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न अन्य पदार्थों पर भी पड़ता रहता है। इस दृष्टि से हमारी क्रियाओं का प्रभाव हमारे उक्त प्रकार के आन्तर स्वरूप और बाह्य स्वरूप पर भी पड़ता है एवं अन्य पदार्थों के विस्तृत स्वरूप पर भी हमारी क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है। उनकें द्वारा परावर्तित होकर फिर उसका प्रभाव हमारे ऊपर आ जाता है। जैसे यदि कोई मनुष्य शिला पर अपने हाथ से प्रहार करे तो वह शिला उलटे उसके हाथ को ही आघात पहुँचा देती है। इसी दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि अन्य पदार्थ के स्वरूप पर की हुई हमारी क्रिया भी हम पर परावर्तित होकर हमारे स्वरूप में उन्नति वा हानि का कारण बनती है। इसलिए धर्म के विचार में अन्य प्राणी वा अप्राणी के साथ किस प्रकार का व्यवहार हो वह सब अन्तर्गत हो जाता है। कहीं अपनी ओर से कोई क्रिया न होने पर भी अन्य क्रियाशील के संसर्ग द्वारा भी हम पर उसका प्रभाव आ जाता है। जैसें किसी मलिन स्थान में निवास करने पर मनुष्य रोगी हो जाता है वा उत्तम जलवायु के सेवन से स्वास्थ्य में बड़ा लाभ पहुँचता है इसलिए कैसे पदार्थों का संग्रह करना और

कैसों से बचना वा किस प्रकार के प्राणियों से संपर्क उचित है, किस प्रकार के प्राणियों से वा पदार्थों से बचना आवश्यक है, ये सब बातें भी धर्म की मर्यादा के अन्तर्गत हैं। इसका विस्तृत विवेचन लघु भूत एक दो प्रवचनों में नहीं हो सकता। बहुत बड़े बड़े ग्रन्थ इन विवेचनों के बने हुए हैं। प्रत्युत यों समझिये कि सब शास्त्रों का मुख्य लक्ष्य कर्तव्य-अकर्तव्य समझाना ही है। जैमिनी मुनि ने स्पष्ट कह दिया है कि—

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"

इसका मुख्य तात्पर्य यही है कि ज्ञान सदा क्रिया के लिए होता है। जिस ज्ञान ने क्रिया में अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य में कोई सहायता नहीं पहुँचाई वह ज्ञान वा उसका प्रतिपादक शास्त्र बिलकुल व्यर्थ है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि सबके स्वरूप में कई अंशों में समानता भी रहती है और बहुत अंशों में परस्पर भेद भी रहता है। इसी लक्ष्य से धर्म के भी दो भेद हैं सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य स्वरूप की रक्षा के उद्देश्य से जो कार्य किये जाँय वे सामान्य धर्म कहे जाते हैं और वे सब के ही कर्तव्य होते हैं। उनकी गणना शास्त्रों में संक्षेप और विस्तार से कई जगह की गई है। याज्ञवल्क्य स्मृति में संक्षेपतः नीचे लिखे सामान्य धर्म बतलाए हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्म साधनम् ॥

अहिंसा (किसी को न सताना), सत्य (मन और वाणी तथा क्रिया की एकता रखना), अस्तेय (दूसरे के पदार्थ पर अपना अधिकार न जमाना), शौच (पवित्र रहना), इन्द्रियों को वश में रखना (उन्हें अनुचित रूप से व्यवहार न करने देना), दान, दम (मन को काबू में रखना), प्राणिमात्र पर दया करना (दूसरे के अपराधों को भी यथावसर सह लेना), ये सब के धर्म हैं। अर्थात् इनका प्रभाव सबके ही आन्तर और बाह्य स्वरूप समाज आदि पर रक्षा करना ही होता है। इसलिए इनके पालन की ओर सबको ध्यान रखना चाहिए। इन्हें ही आजकल की भाषा में "नैतिक धर्म" कहा जाता है और वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, गुण धर्म, निमित्त धर्म आदि को विशेष धर्म कहा जाता है क्योंकि ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति वा भिन्न-भिन्न समुदायों के भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। हम आगे "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्" इस गीता पद्य के प्रवचन में स्पष्ट करेंगे कि वर्णों का मूल भी मुख्य स्वरूप में प्रविष्ट है। इसलिए वर्ण-आश्रम की रक्षा भी मुख्य धर्म है इसी प्रकार किसी अधिकार प्राप्त पुरुष का अपने अधिकारानुरूप कार्य करना भी धर्म हो जाता है। उसे गुण धर्म कहते हैं और विशेष प्रकार की परिस्थिति आ जाने पर उसके अनुकूल कार्य करने पड़ते हैं, वे निमित्त धर्म कहे जाते हैं। जैसा कि जन्माशौच, मृताशौच आदि के समय का कर्तव्य। इन

विशेष धर्मों में स्वधर्म और परधर्म का व्यवहार होता है अर्थात् ये सबके एक से नहीं होते। एक के लिये जो धर्म है वह दूसरे के लिए अधर्म बन जाता है। इसलिए इनमें "स्वधर्मो अनुष्ठातव्यः" यह व्यवस्था है अर्थात् अपने ही धर्म का पालन करना चाहिए।

सामान्य धर्मों को यद्यपि सबके लिए आवश्यक माना गया है किन्तु देश, काल, पात्र के अनुसार उनमें भी व्यवस्था करनी होती है कि कहाँ उनका कितनी मात्रा में पालन किया जाय। देश काल का स्वरूप के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनके अनुसार कर्तव्य—अकर्तव्य की व्यवस्था में भी परिवर्तन करना पड़ता है। जैसे शीत प्रधान देश के उपयोगी आचार व्यवहार उष्णता प्रधान देशों में स्वरूप हानिकर हो जाते हैं और उष्ण देश के आचार व्यवहार शीत देशों में, इसी प्रकार शीतकाल, उष्णकाल आदि का व्यवहार भेद भी सुप्रसिद्ध है। इस लिए कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में देश, काल, पात्र आदि का पूर्ण विचार करना आवश्यक होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रथम प्रकरण में ही कहा गया है कि—

देशे काले उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितं।
पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म लक्षणम् ॥

यहाँ प्रदीयते यह क्रिया उपलक्षण मात्र है। सब ही क्रियाओं में देश, काल, उपाय, द्रव्य, श्रद्धा, और पात्र का विवेचन आवश्यक है। किस देश में किस काल में किस पात्र के साथ किस उपाय से, कैसे श्रद्धा अर्थात् अन्तःकरण वृत्ति से कैसे द्रव्य का उपयोग हो रहा है इस विचार के बिना धर्म भी अधर्म हो जाता है। इन सबका विवेचन सामान्य धर्मों में भी आवश्यक है। जैसा कि दान को ही ले लीजिए। अपने पास जो वस्तु अधिक है और दूसरा उसके बिना कष्ट पाता है, उसका कष्ट मिटाने के लिए अपनी वस्तु उसके अधिकार में कर देना यही दान है और बाह्य स्वरूप ग्राम समाज आदि की रक्षा में वा उस रक्षा से अपने अन्तःकरण में जो एक प्रकार की प्रसन्नता होती है, उस आन्तर स्वरूप रक्षा के लिए यह दान आवश्यक है। किन्तु कई जगह दान का फल विपरीत होता है। किसी मद्य, द्यूत आदि के व्यसनी को यदि दान किया जायगा तो उससे उसके व्यसन बढ़ेंगे और वे समाज में हानिकारक व अपने चित्त को भी कष्टदायक होंगे। इसलिए वैसा दान धर्म नहीं अधर्म कहलावेगा। धर्म शास्त्रों में कहा है—

यतये कांचनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
तस्करेभ्योऽभयं दत्वा दातुस्तु नरकं ध्रुवम् ॥

अर्थात् यदि कोई मनुष्य सन्यासी को स्वर्णदान कर उसे अपने वैराग्य से विच्युत करता है वा ब्रह्मचारी को ताम्बूल देकर उसका व्रत बिगाड़ता है, एवं चोरों को अभयदान कर उनकी चौर्य की प्रकृति बढ़ाने में सहायक होता है, ऐसे

दाता को निश्चित रूप से नरक में जाना होगा। अर्थात् यह दान धर्म नहीं अधर्म है और उसका फल पतन है। क्योंकि उसने, जिनको दान किया गया उनकी स्वरूप हानि की है और उस स्वरूप हानि का प्रभाव समाज पर व अपने अन्तःकरण पर भी विचार करने पर बुरा पड़ेगा। वस्तुतः इस दान मर्यादा का ध्यान न रखने के कारण ही आज समाज में जैसी अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो गई हैं वे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। उन पर यहाँ विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। उपाय और द्रव्य का विवेचन भी इसलिए दान में आवश्यक माना गया है कि कोई मनुष्य दान के द्वारा अपनी ख्याति प्राप्त करने के लिए अनुचित उपायों से द्रव्य संग्रह कर उसका दान करता रहे तो इससे भी समाज को क्षति पहुँचेगी और उसके अन्तःकरण की मलिन वृत्तियाँ भी बढ़ती जायँगी। इसलिए उचित उपायों से प्राप्त उत्तम द्रव्य का श्रद्धापूर्वक अर्थात् प्रख्याति आदि की वासना छोड़कर जब दान किया जाय तो वही दान उत्तम धर्म है। अन्यथा उसमें अधर्म का सम्मिश्रण हो जाता है। इसी प्रकार दया, क्षमा इत्यादि के उपयोग में भी देश, काल, पात्र देखना आवश्यक है। सर्प आदि दुष्ट प्राणियों पर वा उद्दण्ड मनुष्य पर हमने दया दिखाई वा उसके अपराधों को क्षमा किया तो इसका परिणाम समाज और अपने कुल पर भी हानिकारक होगा। तब ऐसी दया वा क्षमा, धर्म न होकर अधर्म ही कहलावेगी। इन सब सामान्य धर्मों पर तो अपवाद मान लेना सबको ही स्वीकृत है। किन्तु अहिंसा और सत्य का अपवाद मानने को बहुत से विद्वान् प्रस्तुत नहीं होते। किन्तु हमारे शास्त्रों में इनका भी अपवाद माना गया है और भगवान् कृष्ण ने इस अपवाद की अनेक स्थानों पर विशद रूप से व्याख्या की है। प्रकृत में इसी का मुख्य सम्बन्ध है। क्योंकि अहिंसा धर्म की विरोधिनी हिंसा को पाप समझकर ही अर्जुन युद्ध से उपरत हो रहा है। इसी का अपवाद यहाँ भगवान् को बतलाना है। इसलिए इसकी विवेचना अग्रिम प्रवचन में विशेष रूप से की जायगी।

पचीसवां-पुष्प

पूर्व के दो प्रवचनों में धर्म का स्वरूप विस्तार से बतलाया जा चुका है। देश. काल, पात्र के भेद से धर्म में तारतम्य हो जाता है यह भी कहा जा चुका है। यद्यपि स्वरूप धर्म अपरिवर्तनीय है। उसका परिवर्तन हो जाने पर वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती। वस्तु ही दूसरी बन जाती है। किन्तु उसकी रक्षा के उपाय और उनके उपयोग में देश कालानुसार परिवर्तन होता रहता है। जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में एक मूलतत्व परमात्मा अनुस्यूत है वही सबका मुख्य स्वरूप है। इसलिए धर्म को ईश्वर रूप भी शास्त्रों में कहा है। किन्तु माया संवलित जगद्रूप में अनन्त स्वरूप बन जाते हैं, इसलिए धर्म के भी बहुत भेद हैं और उनकी रक्षा के उपायो का उपयोग नीति शब्द से कहा जाता है। उस नीति में देश कालानुसार बहुत परिवर्तन होते हैं जिनका ज्ञान बिना शास्त्र की सहायता के संभव नहीं। जैसे अग्नि का स्वरूप उष्णता एक है, किन्तु अग्नि को प्रकट करने के प्रकार उसके व्यवहार की नीति अनेक हैं और उनमें देश कालानुसार परिवर्तन भी बहुत हैं। भारतवर्ष में ही किसी समय काष्ठ मन्थन से अग्नि को प्रकट करने का प्रकार था जो कि आज भी "अरणि मन्थन" नाम से यज्ञ आदि में सुरक्षित है। आगे प्रस्तरों की परस्पर रगड़ से भी अग्नि को प्रकट करने का प्रकार चला। आज दियासलाई से सहज में अग्नि प्रकट कर ली जाती है और पुराने प्रकारों पर आज के लोग हँसते हैं कि उस समय इतना कष्ट अग्नि निकालने में ही करना पड़ता था। संभव है आगे इससे भी और परिष्कृत प्रकार कोई निकल आवे और भविष्य के लोग हमारी भी हँसी किया करें कि उन्हें दियासलाई का उपयोग करना पड़ता था। इस रीति से नीति या प्रकार परिवर्तन शील हैं किन्तु अग्नि का धर्म उष्णता कभी परिवर्तित नहीं होता। मनुष्य के अनुष्ठान योग्य धर्मों को जो अपरिवर्तनीय कहा जाता है उसका यही आशय है कि जिस देश काल परिस्थिति में जिस मनुष्य का जो कर्तव्य धर्म है उस देश काल परिस्थित में उस मनुष्य के लिए वही नियत है। इस प्रकार की देश काल परिस्थितियों का भी विवेचन बहुधा हमारे शास्त्रों में प्राप्त होता है। इसलिए शास्त्र का आधार मानने वालों को धर्म निर्णय में बहुधा असुविधा नहीं होती।

किन्तु जहाँ धर्मों का परस्पर संघर्ष हो जाता है अर्थात् जो स्वरूप का बाह्य और आन्तर विस्तार हमने पूर्व प्रवचनों में दिखाया है उसमें किसी क्रिया से एक अंश की रक्षा और अन्य अंशों की रक्षा और अन्य अंशों पर आघात होता हो एवं दूसरी क्रिया से उन अंशों की रक्षा और एक अंश पर आघात होता है वहाँ धर्म निर्णय की समस्या बहुत जटिल हो जाती है। किस स्वरूप की रक्षा की जाय और किसका अघात सह्य किया जाय इस निर्णय में बड़े-बड़े विद्वान् भी धोखा खा जाते हैं। जैसा कि गीता में आगे कहा जायगा—

"किं कर्म किमकर्मेतिकवयोप्यत्र मोहिताः"

अर्थात् सामयिक कर्तव्य ज्ञान में महा विद्वानों को भी मोह हो जाता है। पूर्वोक्त सामान्य धर्म और किसी विशेष धर्म का जहाँ संघर्ष आ पड़े वहाँ प्रायः सामान्य धर्म का परिपालन कई जगह शास्त्रों में आवश्यक माना गया है। किन्तु देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उन सामान्य धर्मों का भी अपवाद माना जाता है। पूर्व प्रवचन के अन्त में हम कह आए हैं कि अहिंसा, सत्य और अस्तेय जैसे सामान्य धर्मों का अपवाद मानने में विदेशीय विद्वान् और भारतीय विद्वान् भी प्रायः सहमत नहीं होते। किन्तु आर्य शास्त्रों में इनका भी अपवाद माना जाता है। पुराण में एक श्लोक है—

एकस्मिन् यत्रनिधनं प्रापिते दुष्ट कारिणी।
बहूनां भवति क्षेमस्तस्य पुण्य प्रदो वधः॥

अर्थात् किसी दुष्ट हिंस्र जन्तु वा अतिदुष्ट घातक पुरुष के मारने से समाज के बहुत मनुष्यों की आपत्ति दूर होती हो तो उसकी हिंसा पुण्यप्रद होती है। विशेषतः जो अधिकारी पुरुष राजकार्य में नियुक्त हैं अथवा वर्ण व्यवस्थानुसार जो क्षत्रिय स्वभावतः समाज रक्षा में नियुक्त हैं वे यदि सामान्य रूप से इस अहिंसा धर्म का पालन करने लगें और दुष्टों के दण्ड वा वध की उपेक्षा करने लगें तो संसार में बड़ा अनर्थ फैल जाय और समाज में विप्लव हो जाय।

महाभारत में एक प्रसंग है। कर्ण पर्व में जब कि महारथी कर्ण दुर्योधन की ओर से सेनापति था तब एक समय अर्जुन अश्वत्थामा के साथ युद्ध में संलग्न था और कर्ण पाण्डवी सेना के नाश में लगा हुआ था। उस अवसर में महाराज युधिष्ठिर कर्ण के सामने चले गए। कर्ण ने इन्हें घायल कर दिया कि सारथी को रथ भगाकर शिविर में ले जाना पड़ा। अर्जुन जब अश्वत्थामा को परास्त कर कर्ण की ओर आया तो उसे विदित हुआ कि महाराज युधिष्ठिर बहुत घायल और त्रस्त होकर शिविर में गए हैं। तब यह रह न सका और युद्ध भूमि छोड़ कर महाराज की खबर लेने भगवान् कृष्ण के साथ शिविर में गया। महाराज युधिष्ठिर पहिले तो यह समझकर उत्साहित हुए कि अर्जुन कर्ण को मारकर मुझे बधाई देने आया है। किन्तु जब उन्हें अर्जुन के कथन से विदित हुआ कि अर्जुन कर्ण से संग्राम न कर मेरी खबर लेने आया है तब वे बहुत क्षुब्ध हुए, पीड़ित तो थे ही झुंझलाहट में आ गए। सेना की और लड़ने वाले भीम आदि की क्या दशा होगी इस विचार से उन्हें उद्वेग हुआ और बहुत निन्दा करते हुए अर्जुन को फटकारने लगे कि तुम मुझसे मिलने के बहाने संग्राम भूमि छोड़कर विश्राम के लिए चले आए हो। आवेश में उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि धिक्कार है! तुम्हें और धिक्कार है! तुम्हारे गाण्डीव धनुष को जो समय पर काम नहीं आता। यह गाण्डीव धनुष किसी दूसरे को दे दो तो संभवतः यह अच्छा

काम दे। अर्जुन पहिले तो चुपचाप सुनता था किन्तु भगवान् कृष्ण ने देखा कि वह अचानक खड्ग निकाल रहा है। पास में जाकर कान में भगवान् ने पूछा कि यह तो संग्राम भूमि नहीं, यहाँ कोई शत्रु भी सामने नहीं फिर खड्ग पर हाथ क्यों ? अर्जुन ने उत्तर दिया कि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो कोई गाण्डीव धनुष की निन्दा करे और गाण्डीव धनुष को दूसरे को दे देने की बात कहे उसका शिरच्छेद अवश्य करूँगा। उस सत्य प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए महाराज युधिष्ठिर का शिरच्छेद मुझे करना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण ने उसे बहुत फटकारा और कहा कि—"न वृद्धाः सेवितास्त्वया" अर्थात् तुमने वृद्ध पुरुषों की सेवा नहीं की। इससे धर्म निर्णय में बार बार भूल करते हो। भगवान् ने वहाँ दो दृष्टान्त उपस्थित किये। एक में हिंस्र पशु मार देने के कारण एक वीर की स्वर्ग प्राप्ति का वर्णन था, जो कि अहिंसा का अपवाद रूप था और दूसरा सत्य का अपवाद बतलाया कि एक सत्यव्रत नाम के मुनि वन में कुटिया बना कर रहते थे। सदा सत्य बोलना ही उनका नियम था। एक बार समीप के ग्राम में डाका पड़ा और डाकुओं के भय से ग्राम के लोग अपनी गोवत्स आदि सारी सम्पत्ति को लेकर सत्यव्रत के आश्रम के पास होते हुए वन में छिपने चले गए। पीछे से डाकू दौड़ते हुए आये और उन्होंने सत्यव्रत से पूछा कि महाराज आप तो सत्य ही बोलते हैं, बतलाइये ग्राम के लोग किधर गए हैं। सत्यव्रत ने सत्य के आवेश में उनके जाने का मार्ग बतला दिया। डाकुओं ने उन्हें जा घेरा और परस्पर संघर्ष में बहुत से गोवत्स, स्त्री, बालक आदि मारे गए। उस पाप से सत्यव्रत को नरक में जाना पड़ा। यहाँ अहिंसा के आगे सत्य की दुर्बलता रही। इसलिए सब जगह अहिंसा या सत्य के आग्रह से काम नहीं चलता। परिस्थिति देखनी पड़ती है। अर्जुन ने पूछा कि तो क्या मैं सत्य प्रतिज्ञा छोड़ दूँ। भगवान् ने कहा नहीं, अनुकल्प से निर्वाह करो। शास्त्र में माना है कि अपने से बड़े का निरादर कर देना वा उसे "तू" शब्द से सम्बोधन कर देना उसके बध के समान है। उसी अनुकल्प का आश्रयण कर तुम युधिष्ठिर को निरादर पूर्वक त्वं शब्द से सम्बोधित कर दो। अर्जुन ने वैसा ही किया। भगवान् ने देखा कि फिर वह खड्ग निकाल रहा है। पुनः पूछा कि अब खड्ग पर हाथ क्यों ? तो अर्जुन ने उत्तर दिया कि जिनको जन्म से पिता के समान मानते रहे, कभी उनके सामने नहीं देखा उनका आज निरादर किया है इस आत्म ग्लानि से प्रायश्चित के लिए अपना शिरश्छेद करना चाहता हूँ। फिर भगवान् ने भर्त्सना की कि बार बार धोखा खाते हो। यहाँ भी अनुकल्प का आश्रयण करो। अपने मुख से अपनी प्रशंसा को शास्त्रों में आत्म बध के समान माना गया है। अतः थोड़ी अपनी प्रशंसा कर दो। वही आत्मबध हो जायगा। अर्जुन ने वैसा ही किया। युधिष्ठिर महाराज जो कुछ दूर पर लेटे हुए थे इन घटनाओं को देखकर आश्चर्य में थे कि आज अर्जुन को क्या हो गया है। मेरा अपमान और अपनी प्रशंसा कर रहा है, जो इसने कभी नहीं किया था। भगवान् कृष्ण ने उन्हें भी समझा दिया कि उन सब बातों का रहस्य पीछे बतलाऊँगा। अभी

बिलम्ब हो रहा है। अर्जुन को संग्राम में जाने की आज्ञा दीजिए। अर्जुन ने प्रणाम किया, महाराज ने आशीर्वाद देकर संग्राम में जाने की आज्ञा दी। अर्जुन जाकर कर्ण से लड़ने लगे। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने धर्मों के संघर्ष में मार्ग निकालने का प्रकार कई जगह बतलाया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सबही धर्मों के अपवाद हैं। देश काल आदि की परिस्थिति के अनुसार कहाँ किस धर्म को विशेषता दी जाय इसका निर्णय बड़ी सावधानी से शास्त्र और युक्ति दोनों से करना पड़ता है। सत्यव्रत के दृष्टान्त में सत्य की अपेक्षा अहिंसा को प्रतिष्ठित समझाया गया। धर्म शास्त्रों में भी विशेष परिस्थिति में सत्य की अपेक्षा अहिंसा को उच्च स्थान दिया जाता है। साक्षी का मिथ्या भाषण बहुत ही पाप जनक माना गया है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट आज्ञा दी है—"वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्" (याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्या) साक्षिप्रकरण य अर्थात् जहाँ साक्षी के सत्य बोलने पर उत्तर वर्ण वाले पुरुषों के बध का प्रसंग हो वहाँ साक्षी को मिथ्या ही बोलना चाहिए। इस प्रकार कई जगह सत्य की अपेक्षा अहिंसा को महत्त्व दिया जाता है। किन्तु कई परिस्थितियों में अहिंसा की अपेक्षा सत्य का महत्व रहता है। जैसे उक्त प्रसंग में युधिष्ठिर के स्थान में यदि कोई अन्य सामान्य पुरुष होता तो भगवान् अर्जुन को सत्य प्रतिज्ञा की रक्षा का ही उपदेश देते। वर्णाश्रम धर्म पालन में भी कई जगह अहिंसा की उपेक्षा करनी पड़ती है। कृषि जिन वैश्यों का धर्म है उस कृषि में बहुत प्राणियों का बध होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, किन्तु कृषि के बिना अन्न उत्पन्न न हो तो सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों का कितना अपकार हो, इस दृष्टि से वह कृषि में होने वाली हिंसा उपेक्षणीय हो जाती है। किसी के मत में ग्लानि हो तो ऐसे हिंसा मिथ्या भाषण आदि का सामान्य प्रायश्चित भी धर्म शास्त्रों में बतलाया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियादि के यज्ञों में भी पशु हिंसा है, किन्तु उन यज्ञों का फल जो संपूर्ण जगत् के लिए और अपने आत्मा के लिए भी अत्यन्त हितकर होता है और यज्ञ में निहत पशु का भी कल्याण श्रुति बतलाती है, इस विचार से वहाँ अहिंसा धर्म को प्रधानता नहीं दी जाती, इस यज्ञ प्रकरण का यहाँ हम विस्तार नहीं करेंगे। तृतीय अध्याय में जहाँ यज्ञ का प्रकरण आवेगा वहाँ इस पर कुछ विशेष कहा जायगा। अस्तु, यहाँ कहना इतना ही था कि अहिंसा और सत्य जैसे मुख्य धर्म भी निरपवाद नहीं हैं। उनका भी अपवाद देश काल की परिस्थिति से होता है। जहाँ किसी बधक (कसाई) के घर हिंसा के लिए गौ बधी हो और द्रव्य आदि के द्वारा उसे छुड़ाना संभव न हो तो वहाँ चोरी के द्वारा भी उसे हटा लेने को धर्म ही कहा जायगा। इस प्रकार अस्तेय का भी अपवाद अवसर पर हो जाता है। तात्पर्य यही है कि कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो सदा धर्म ही हो या अधर्म ही हो। देश, काल, पात्र भेद से सबही अनुचित प्रतीत होने वाली क्रियाएँ भी धर्म हो सकती हैं और अत्यन्त उचित क्रियाएँ भी अधर्म हो सकती हैं। अत्या-

वश्यक सन्ध्यावन्दनादि कर्म भी अशौच आदि की दशा में वा शरीर की अपवित्रता की दशा में अधर्म माने जाते हैं।

धर्म और नीति के संघर्ष में धर्म की ही प्रधानता शास्त्रों ने मानी है, यह हम आरम्भ के प्रवचनों में कह चुके हैं। किन्तु परिस्थिति विशेष में नीति को भी प्रधानता दी जाती है। जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना यह नीति है और कोई कैसा भी हो अपने आप धर्म से न डिगना यह धर्म है। किन्तु महाभारत के कर्णपर्व में ही जब कर्ण और अर्जुन का अन्तिम संग्राम हो रहा था और कर्ण के रथ का पहिया भूमि में धँस गया उस समय अर्जुन को लगातार वाण प्रहार करता देख कर्ण ने हाथ उठाकर कहा कि "क्षत्रधर्ममवेक्षस्व" अर्थात् अर्जुन ! क्षत्रिय धर्म की ओर देखो। आपत्ति में पड़े हुए पुरुष पर प्रहार करना क्षत्रिय का धर्म नहीं है। अर्जुन तो कुछ झिझका किन्तु सारथी रूप में बैठे हुए भगवान् कृष्ण ने एक लम्बा व्याख्यान दिया जिसमें बार-बार यही कहा गया कि "क्वते धर्मस्तदा गतः"। उस संपूर्ण व्याख्यान का सारांश यही था कि आश्चर्य है, आज कर्ण को भी धर्म याद आया। जब तुम्हारे ही परामर्श से विष मोदक, जतु गृह दाह, द्रौपदी का केशाकर्षण, छल से द्यूत में जीत कर पाण्डवों को निकाल देना इत्यादि कुकर्म होते रहे, युद्ध में भी अनेक महारथियों का मिलकर एक बालक अभिमन्यु को मारना इत्यादि कुकर्म हुए उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? तब तो धर्म की दुहाई तुमने नहीं दी। आज अपने बचाव के लिए दूसरे को धर्म सिखाते हो। तात्पर्य यही था कि जो मनुष्य स्वयं धर्माचरण न करता हो उसे दूसरे से धर्म का व्यवहार पाने की आशा किस आधार पर हो सकती है ? अर्जुन को भी यही आदेश दिया कि चुप रहने की आवश्यकता नहीं, यह जैसी भी स्थिति में है, इसे मार देना ही तुम्हारा कर्तव्य है। इस प्रकार यहाँ नीति को ही प्रधानता दी गई। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर यहाँ भगवान् उपदेश देते हैं कि—

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि"

अर्थात् तुम अहिंसा, गुरु के साथ द्रोह न करना इत्यादि सामान्य धर्मों के विचार से कम्पित हो रहे हो और कह रहे हो कि मेरा तो शरीर काँपता है, धनुष भी हाथ से गिर जाता है, इत्यादि। किन्तु विशेष धर्म का विचार नहीं करते। "अन्याय पूर्वक राज्य से निकाले हुए और अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए संग्राम में शत्रुओं के संमुख उपस्थित एक क्षत्रिय का क्या धर्म है ?" इस "स्व धर्म" का विचार करो। तब तुमारा कम्प दूर हो जायगा। "अपि" शब्द से यह सूचित करते हैं कि परमार्थ दृष्टि से तो युद्ध में कोई दोष नहीं, यह तुम्हें समझाया जा चुका है। किन्तु व्यवहार दृष्टि से भी अपने विशेष धर्म का विचार करने पर युद्ध की अनुचितता नहीं प्रत्युत परम उचितता ही सिद्ध होती है। प्रथमाध्याय के अन्तिम प्रवचन में कहा जा चुका है कि जिस प्रकार

के दोष अर्जुन ने कुल क्षय के पक्ष में दिखाए थे वैसे तथा उससे भी बढ़कर बहुत से दोष युद्ध न करने के पक्ष में भी विस्तार से कहे जा सकते हैं। अर्जुन यदि युद्ध न करता तो पाण्डवों की पराजय अवश्यंभावी है क्योंकि भीष्म और द्रोण से लोहा लेने वाला इस दल में दूसरा कोई नहीं। अर्जुन ने ही तपस्या कर वह शक्ति प्राप्त की है कि इन सबको भी जीत सके। तब पाण्डवों की पराजय से पाण्डवों की तो दुर्गति हो ही जायगी और इनको क्या क्या कष्ट भोगने पड़ेंगे इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती किन्तु समाज में भी यह प्रसिद्धि हो जायगी कि अन्यायी पक्ष विजयी हुआ। इससे धर्म ही विजय दिलाने वाला है, यह संस्कार लोगों के चित्त से हट जायगा। युद्ध के आरम्भ में ही जब भगवान् व्यास ने युधिष्ठिर से आकर पूछा था कि तुमने युद्ध की तैयारी तो करली है किन्तु जैसे योद्धा दुर्योधन के पक्ष में हैं वैसे योद्धाओं का संग्रह तुमने कर लिया है कि नहीं ? युद्ध में तो प्रकर्ष ही जय दिलाने वाला है—"प्रकर्ष तन्त्रा हि रणे जयश्रीः" (युद्ध में विजय लक्ष्मी प्रकर्ष अर्थात् सेना और वीरों की अधिकता पर ही प्राप्त होती है) तब इसका उत्तर युधिष्ठिर महाराज ने यही दिया था कि—

नहीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां ये योधका धार्तराष्ट्रेणलब्धाः ।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव परं बलं शत्रु निबर्हणाय ॥

अर्थात् जैसे योद्धा धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने प्राप्त कर लिये हैं वैसे पृथ्वी में अन्य उपलब्ध ही नहीं हैं। वह स्वयं इस समय राज्याधिकारी है, राजा लोग राजा की ही सहायता किया करते हैं, उसके सम्बन्धी भी बहुत से राजा हैं, इस लिए सिन्धु, त्रिगर्त, प्राग्ज्योतिष आदि भारत की सीमा तक के राजा उसके पक्ष में आ चुके हैं। अब मैं ऐसे और कहाँ से लाऊँ ? तब फिर युद्ध का साहस किस आधार पर, इसका उत्तर यही है कि मेरा विश्वास है कि धर्म अटल रूप से सदा ही विजय दिलाने वाला है और वह नित्य अर्थात् अव्यभिचारी, कभी व्यर्थ न हाने वाला है, वह मेरे पक्ष में है। इसलिए शत्रुओं को परास्त करने के लिए मेरे पास वही बड़ा बल है। इस प्रकार पाण्डवों का विश्वास था कि धर्म हमारे पक्ष में है और संसार में भी यह बात प्रसिद्ध थी कि द्यूत में जीतकर राज्य से बहिष्कृत कर देना यह पाण्डवों के साथ अन्याय हुआ है और अन्याय को सहन करते हुए भी पाण्डवों ने अपनी १२ वर्ष वन में और एक वर्ष अज्ञात-वास में रहने की प्रतिज्ञा का पालन किया। एवं सभा में द्रौपदी का केशाकर्षण होता देखकर भी इसी विचार से कि हम इसे द्यूत में हार चुके हैं, अब न्याया-नुसार यह दुर्योधन के अधिकार में है, वह इसे जिस तरह चाहे, रख सकता है पाण्डव कुछ भी न बोले। यद्यपि वहाँ महाभारत में प्रसंग है कि द्रौपदी ने एक प्रश्न उठाया था। जब द्रौपदी को केशाकर्षण पूर्वक सभा में लाया गया तब उसने पूछा कि मुझ पर यह अत्याचार क्यों किया जाता है ? दुर्योधन की ओर

से यह उत्तर मिला कि द्यूत निर्जिता दासी हो, इसलिए हमारा तुझ पर पूर्ण अधिकार है। जैसे चाहें तैसे रक्खें। इस पर द्रौपदी ने पूछा कि महाराज युधिष्ठिर ने पहले अपने आपको द्यूत के दाव पर लगाया था अथवा पहिले मुझे लगाया था? उत्तर मिला कि पहिले वे अपने आपको हार चुके थे अपने भ्राताओं को भी हार चुके थे तब तुझे दाव पर लगाया था। तब द्रौपदी ने कहा कि इस सभा में भीष्म जैसे धर्म मर्मज्ञ महानुभाव उपस्थित हैं। मैं भीष्म पितामह से ही यह पूछती हूँ कि जब महाराज युधिष्ठिर अपने आपको हार चुके तब मुझे दाव पर लगाने का उन्हें अधिकार था या नहीं? इस पर भीष्मपितामह ने उत्तर दिया कि विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, अपने आप पराधीन हो जाने पर भी अपनी स्त्री पर अधिकार रहता है या नहीं इसका निर्णय इस समय मेरी बुद्धि में नहीं आता। इसलिए मैं कुछ नहीं कह सकता। आगे शिष्ट संप्रदाय में यह बात भी प्रसिद्ध है कि शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह जब युधिष्ठिर को धर्म सुना रहे थे और किसी सूक्ष्मतम धर्म की विवेचना हो रही थी, तब वहाँ बैठी हुई द्रौपदी अचानक हँस पड़ी। सानुरोध असमय हास्य का कारण पूछने पर उसने यही कहा कि एक वह दिन था जब आपने मेरे प्रश्न को यह कहकर टाल दिया था कि विषय सूक्ष्म है, मेरी बुद्धि में नहीं आता, किन्तु आज तो सूक्ष्मतम विषयों की भी आप व्याख्या कर रहे हैं। इसी बात के स्मरण से मुझे हँसी आ गई कि समय का भेद कितना बलवान होता है। इस पर गद्गद होकर भीष्म पितामह ने कहा कि "पुत्री उस समय मैं दुष्ट दुर्योधन का अन्न खाता था, इसलिए अन्न के प्रभाव से मेरी बुद्धि विकृत हो रही थी, यही कारण था कि सूक्ष्म विषय बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते थे। आज जब वह दुष्ट रुधिर मांस आदि उस दुष्ट अन्न का बना हुआ, निकल चुका है, तब मन भी स्वच्छ है और भगवान् कृष्ण की कृपा से मन में नई शक्ति का संचार भी हो गया है। तब सूक्ष्मतम विषयों की भी व्याख्या कर सकता हूँ। अस्तु, प्रकृत में कहना यही था कि स्वयं द्रौपदी ने ऐसा प्रश्नोत्तर किया किन्तु पाण्डवों की ओर से कोई भी हस्तक्षेप अपनी स्त्री की दुर्दशा देखकर भी नहीं हुआ। भीम को कुछ स्वाभाविक उत्तेजना हुई थी, किन्तु अर्जुन ने उसका निवारण कर दिया। इस प्रकार पाण्डव सदा ही अपने धर्म पर दृढ़ रहे यह बात भी लोक प्रसिद्ध थी। किरातार्जुनीय महाकाव्य में भी भगवान् व्यास की ओर से युधिष्ठिर के प्रति कहलाया गया है कि—

"पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां,
धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्य-,
माविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥

विधाय　　विध्वंसमनात्मनीनं,
　　　　शमैकवृत्ते　　भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः
　　　　कृतोपकारा　　इव　　विद्विषस्ते ॥

(किरातार्जुनीय १५-१६) ३ सर्ग

अर्थात् शत्रुओं का समूह यद्यपि सन्मार्ग से गिर गया था, तो भी तुमने धर्म की धुरा को न छोड़ा। और सिद्ध कर दिया कि विपत्तिकाल में भी तुम्हारा धार्मिक गुणों में प्रेम विपन्न वा विच्युत नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि शत्रुओं ने तुम्हारा बहुत अपकार किया और वह उनके लिए हितकर नहीं होगा यह निश्चय है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि तुम्हारी बुद्धि का और शील का मुख्य तत्त्व उनके इस दुराक्रमण से संसार में प्रकाशित हुआ। यदि इस प्रकार की विपत्ति न आती तो विपत्ति में भी तुम शान्ति प्रिय हो यह तत्त्व संसार में कैसे प्रकट होता। इसलिए शत्रुओं ने एक प्रकार से तुम्हारा उपकार ही किया। अस्तु, इस प्रकार की लोक प्रसिद्धि रहने पर भी यदि दुर्योधन की विजय और पाण्डवों की पराजय होती तो फिर धर्म ही विजय दिलाने वाला है, इस सिद्धान्त को लोक में कौन मानता? लोक की धर्म पर से श्रद्धा हट जाती और अन्याय मार्ग संसार में फैल जाता। इस प्रकार संपूर्ण देश का विप्लव संभव था। इसीलिए भगवान् इस बात का संकेत कर रहे हैं कि इस देश काल और परिस्थिति में क्षत्रिय होते हुए तुम्हारा क्या धर्म है? इस स्वधर्म का विचार करो। इस अवसर में विशेष वर्ण धर्म को उत्कर्ष देना और अहिंसा वा गुरु-भक्ति रूप सामान्य धर्मों की उपेक्षा करना ही उचित है।

उत्तरार्ध में स्वधर्म का विवरण किया है कि धर्मानुकूल युद्ध के अतिरिक्त और कोई क्षत्रिय का कल्याण सम्पादक कार्य नहीं है। इस श्लोक की व्याख्या में श्री वेंकटनाथ ने धर्मशास्त्र के श्लोकों की विस्तृत विवेचना की है और दिखाया है कि धर्मशास्त्र के वाक्यों से भी इस समय युद्ध करना ही स्वधर्मानुकूल सिद्ध होता है। किन्तु उस प्रकार वचनों के बलाबल की व्यवस्था यहाँ हिन्दी भाषा के प्रवचन में उपयुक्त नहीं जान पड़ती। वैसी विवेचना संस्कृत में ही शोभा देती है। इसलिए यहाँ उसका संकेत मात्र कर दिया गया है। अस्तु, धर्म शब्द का अभिप्राय भी व्याख्याकार दोनों प्रकार का लगाते हैं कि अर्जुन! तुम धर्म के पक्ष में हो इसलिए तुमारा युद्ध करना धर्मानुकूल है। अथवा युद्ध में क्षत्रिय धर्म की मर्यादा का पालन हो वह धर्म युद्ध कहा जाता है। वैसा युद्ध ही क्षत्रिय के लिए कल्याण कारक है। मीमांसा में एक न्याय है कि किसी धर्म का उत्कर्ष बताने के लिए उसकी तुलना में अन्य धर्मों को उससे न्यून बतला दिया जाता है। वहाँ दूसरे धर्मों की निन्दा में तात्पर्य नहीं रहता, प्रकृत धर्म की विशेष प्रशंसा

में ही तात्पर्य होता है—"नहि निन्दा निन्द्यान् निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्" अर्थात् निन्दा का तात्पर्य किसी की वस्तुतः निन्दा में नहीं होता, किन्तु जिसकी हमें स्तुति करनी है, उसकी स्तुति में ही तात्पर्य रहता है। यहाँ भी ऐसा ही प्रसंग है। भगवान् कहते हैं कि युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय का कल्याण साधन ऐसा कोई दूसरा नहीं। इसका तात्पर्य अन्य मुख्य धर्म होता है। उसी के लिए तो युद्ध की भी आवश्यकता होती है। प्रजा की विपत्ति हटाने के लिए जो युद्ध हो वही धर्म-युद्ध कहा जाता है। इसी प्रकार राजसूय अश्वमेधादि यज्ञ एवं दान दया आदि भी क्षत्रिय के अनेक कल्याण-साधन हैं। किन्तु यहाँ युद्ध का उत्कर्ष दिखाने के लिए यह कहा गया है कि युद्ध के अतिरिक्त ऐसा कल्याण साधन क्षत्रिय के लिए है ही नहीं। एक स्थान में गौ और अश्व की प्रशंसा के लिए श्रुति में वाक्य है कि—"अपगवो वा अन्ये गवाश्वेभ्यः" अर्थात् गौ और अश्व से अतिरिक्त पशुओं को अपशु ही मानना चाहिए, ये ही पशु हैं। यद्यपि संसार में इनके अतिरिक्त पशु बहुत हैं, किन्तु गो अश्व की प्रशंसा करने में ही यहाँ श्रुति का तात्पर्य है। उसी न्याय से यहाँ भी युद्ध की प्रशंसा में तात्पर्य समझ लेना चाहिए। अथवा यह भी आशय कहा जा सकता है कि अन्यान्य कल्याण साधन बहुत काल साध्य और द्रव्य व्यय आदि के द्वारा साध्य हैं। किन्तु युद्ध तत्काल ही कल्याण साधक हो जाता है। युद्ध तत्काल स्वर्ग प्रद कैसे होता है इसका विवेचन अग्रिम पद्य के प्रवचन में किया जायगा।

छब्बीसवां-पुष्प

गत तीन प्रवचनों में धर्म का स्वरूप उसके लक्षण और परस्पर संघर्ष में सूक्ष्म विचार से व्यवस्था करने का प्रकार बताया जा चुका है। विषय अत्यन्त गहन है और गीता के उपदेश का यही मुख्य लक्ष्य भी है। भगवान् अर्जुन को यही समझाने को प्रवृत्त हैं कि तुम जिस कार्य को धर्म समझ रहे हो इस परिस्थिति में वह धर्म नहीं है। यहाँ युद्ध करना ही धर्म है। इन कारणों से इस विषय की विस्तृत विवेचना यहाँ आवश्यक समझी गई है। इसी कारण से पूर्व कथित विषयों का वैज्ञानिक प्रक्रिया से और भी स्पष्टीकरण हम आवश्यक समझते हैं। अतः एक प्रवचन इसी विषय पर और होगा।

गुरुवर विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन झा जी ने अपने "वेदधर्म व्याख्यान" नामक लघु निबन्ध में वेद और धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की है। यह वक्तृता उनकी इंग्लैण्ड में योरोपीय विद्वानों के समक्ष भारतीय धर्म का उत्कर्ष बताने के लिए हुई थी और इंग्लैण्ड के प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उस विस्तृत वक्तृता को पूर्ण उद्धृत करने का तो यहाँ स्थान और समय नहीं है किन्तु उसके आधार से धर्म का संक्षिप्त वैज्ञानिक विवेचन यहाँ करना है।

आर्य संस्कृति में यह माना जाता है कि "यद्ब्रह्माण्डे तत्तत्पिण्डे" अर्थात् जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही सब पिण्डरूप हमारे शरीर में भी स्थित है। ब्रह्माण्ड एक समष्टि है और शरीर उसका अंशरूप एक व्यष्टि है। इसलिए ब्रह्माण्ड के ज्ञान के लिए पहले शरीर की ही परीक्षा करनी चाहिए। हमारे शरीर में दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं—एक ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति। ज्ञानशक्ति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अभिव्यंजित होती है और क्रियाशक्ति कर्मेन्द्रियों द्वारा। कुछ विचारक ऐसा समझते हैं कि ज्ञान भी मन की एक क्रिया ही है। मन के स्फुरण के अतिरिक्त ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं बताया जा सकता। इसलिए एक क्रिया शक्ति ही मुख्य माननी चाहिए। उसी में ज्ञान का भी अन्तर्भाव हो जायगा। किन्तु वेदान्त सूत्र के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने ज्ञान की एक विलक्षणता यह बताई है कि क्रिया मनुष्य के आधीन है। अपना हाथ उठावें, न उठावें व किधर भी घुमावें, यह सब मनुष्य के अधिकार में है। किन्तु ज्ञान जैसा चाहे तैसा बनावे यह उसके अधिकार से बाहर है। इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होने पर ज्ञान अवश्य हो ही जायगा। मनुष्य उसे रोक नहीं सकता। और जैसी वस्तु इन्द्रियों के सामने आवेगी, वैसा ही ज्ञान होगा। उसका अन्य सा रूप भी मनुष्य नहीं बना सकता। अन्यथा रूप यदि भासित होगा तो वह अज्ञान व भ्रम कहलावेगा। ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिए मनुष्य के अधिकार में होना और न होना यह क्रिया और ज्ञान की बहुत बड़ी विलक्षणता

है। अन्य वेदान्त ग्रन्थों ने तो इसका और भी सूक्ष्म विवेचन किया है कि हम जिसे ज्ञान कहते हैं और जिसका आकार "यह मनुष्य है", "यह पशु है", "यह श्वेत है, कृष्ण है" इत्यादि शब्दों से बताया करते हैं, उसमें दो अंश हैं—एक विषय और दूसरा उसका प्रकाश। इन दोनों में विषय बदलते रहते हैं किन्तु प्रकाश रूप अंश सर्वत्र एक सा ही रहता है। मनुष्य सामने होगा तो मनुष्य का प्रकाश हो जायगा, पशु सामने होगा तो पशु का प्रकाश हो जायगा। मनुष्य और पशु में अवश्य भेद है किन्तु उन दोनों के प्रकाश में कोई भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता। इन दोनों को वेदान्त दर्शन में वृत्त्यात्मक ज्ञान और मुख्य ज्ञान शब्दों से कहा जाता है। विषय का आकार अन्तःकरण की वृत्ति है किन्तु उसमें प्रतिविम्बित होने वाला प्रकाश एक नित्य और अपरिवर्तनीय है। वह न कभी उत्पन्न होता है न विनष्ट। वृत्ति सामने आवे तो उसमें प्रतिबिंबित हो जाता है। वृत्ति सामने न रहने पर स्वतन्त्र रूप से बना रहता है। जैसे कोई जलाशय वा दर्पण सूर्य के सम्मुख हो तो उसमें सूर्य प्रतिबिंबित हो जायगा। यदि कोई वस्तु सम्मुख नहीं है तो प्रतिबिम्बित न होगा। किन्तु बिम्ब रूप सूर्य में प्रतिबिम्ब होने न होने से कोई विकार नहीं आता। वह अपने रूप में सदा ही चमकता रहता है। इसी प्रकार नित्य और व्यापक प्रकाश रूप ज्ञान सदा एक रस है। उसमें कोई विकृति नहीं होती। यदि वृत्ति सामने हो तो उसमें प्रतिबिंब हो जाता है। न होने से भी उस नित्य व्यापक ज्ञान में कोई विकार नहीं आता। वह ज्ञान सदा नित्य और एक रस है। इस ज्ञान की नित्यता का विशेष रूप से उपपादन हम १६ वें प्रवचन में कर चुके हैं। यहाँ उसका संकेत मात्र किया है। अस्तु, वह नित्य और व्यापक प्रकाश रूप ज्ञान ही वेदान्त में ब्रह्म नाम से कहा गया है। और वृत्तियों को मायाजनित माना गया है। यही ब्रह्म और माया सम्पूर्ण जगत् के मूल तत्त्व हैं। यह ज्ञान जड़चेतन सबमें व्यापक है। जहाँ इन्द्रियाँ हैं वहाँ उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। इन्द्रियों के अभाव में अभिव्यक्ति नहीं होती, यह भी कहा जा चुका है। ज्ञान एक आधार है। उसी आधार पर अनन्त क्रियाएँ उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। इसी का नाम जगत् है। यों समझ में आ गया होगा कि अपने शरीर में जो ज्ञान और क्रिया नाम के दो तत्त्व हमारे अनुभव में आते हैं वे ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व ब्रह्म और माया के ही अंश हैं। शरीर में अनुभूत ज्ञान और क्रिया से ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व ब्रह्म और माया का कोई भेद नहीं। समष्टि भाव और व्यष्टिभाव व्यवहार के लिए काल्पनिक बना रक्खा है। यह भी स्मरण रहे कि इस प्रकाश रूप ज्ञान को ही नित्य और अपौरुषेय वेद कहा जाता है। और उस पर उत्पन्न होने वाली क्रियाओं को ही धर्म वा अधर्म नाम से कहा जाता है। क्रिया का स्वरूप यद्यपि क्षणिक है, वह एक क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाती है। वैशेषिक शास्त्र में उसका नाश तृतीय क्षण में माना जाता है। एक उत्पत्तिक्षण, दूसरा स्थितिक्षण और तृतीय विनाशक्षण। इस प्रकार की कल्पना वहाँ की गई है। किन्तु वह स्थिति उसकी स्वाभाविक नहीं।

स्थिरता क्रिया का स्वभाव ही नहीं है। स्थिरता जो प्रतीत होती है, वह तो आधार की स्थिरता के कारण ही प्रतीत हो जाया करती है। तात्पर्य यह है कि क्रिया स्वयं क्षणिक है, किन्तु उसका आधार जो नित्य और व्यापक बताया है, वह सदा स्थिर है। उसकी स्थिरता से ही क्रिया भी कुछ काल स्थिर-सी दिखाई देती है। उसे शास्त्र में धारावाहिक क्रिया नाम से कहा जाता है। जैसे जल में उठने वाली तरंगे स्वयं यद्यपि क्षणिक हैं किन्तु जल के आधार से उनकी एक धारा सी बन जाती है और वह धारा कुछ काल स्थिर-सी प्रतीत होने लगती है। इस विषय का अधिक विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। यहाँ तो हमें केवल इतना ही बताना है कि क्रिया का आधार ज्ञान नाम से कहा जाता है। इसीलिए धर्म का आधार भी वेद को ही माना जाता है। "वेदप्रणीतो धर्मः" क्षणिक होती हुई भी क्रिया जैसे आधार की स्थिरता के कारण स्थिर सी प्रतीत होती है, इसी प्रकार धर्म भी संस्कार रूप में धारावाहिक होकर फलप्रदान तक स्थिर रहता है। इस अंश में बीज आदि के दृष्टान्त गत प्रवचन दिए जा चुके हैं। संसार सब क्रियाओं का ही एक विजृम्भण वा विस्तार है। इसलिए कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल धर्म ही है।

अब क्रियाओं की परस्पर विशेषता वा उनके भेद बताए जाते हैं कि जिससे धर्म और अधर्म का भेद स्पष्ट हो सके। क्रिया प्रथमतः दो प्रकार की होती है—एक सांसिद्धिकी और दूसरी नैमित्तिकी। जो क्रिया जिस वस्तु के स्वरूप में सदा रहती है वह उसकी सांसिद्धिक क्रिया कहलाती है। यदि वह क्रिया कभी प्रतीत न भी हो तो यही मानना पड़ेगा कि किसी नैमित्तिक क्रिया के सम्बन्ध से उसकी प्रतीति रोक दी गई है। उसका अभाव नहीं है। जैसे कि प्रकाश और उष्णता सूर्य के स्वाभाविक हैं, किन्तु मध्य में बादल आदि का संबंध आ जाने पर उनकी प्रतीति नहीं होती। बादल हट जाने पर फिर प्रतीति होने लगती है। प्रतीति न होने की दशा में भी वे उष्णता और प्रकाश नहीं थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि नहीं रहते तो बादल हटते ही कहाँ से आ जाते ? इसलिए यही कहना होगा कि यह उष्णता और प्रकाश तो सदा ही रहते हैं। कभी-कभी इनकी प्रतीति विपरीत निमित्त के कारण रुक जाती है। इस सांसिद्धिक क्रिया का ही गुण नाम से भी व्यवहार होता है। गुण सब क्रियाओं की ही स्थिरता रूप अवस्थाएँ हैं, यह हम "मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय" इत्यादि पद्य के प्रवचन में स्पष्ट कर आए हैं। अस्तु, जो क्रिया जिस वस्तु में स्वभाव सिद्ध न हो, किन्तु दूसरे के सम्बन्ध से आगई हो, वह नैमित्तिकी क्रिया कहलाती है। जैसे जल में स्वभावतः उष्णता नहीं है किन्तु अग्नि के सम्बन्ध से उसमें उष्णता प्रतीत हो जाती है। अग्नि का सम्बन्ध हटा देने पर उष्णता भी हट जाती है। और जल फिर अपने शीतलता स्वरूप में प्रतीत होने लगता है। यहाँ शीतलता जल की सांसिद्धिक क्रिया है और उष्णता नैमित्तिकी। इसी प्रकार पृथ्वी और जल के अणुभूत अंशों में स्थिरता स्वाभाविक है और

उनका चलना अर्थात् स्थान त्याग किसी निमित्त से होता है। इसके विपरीत तेज के अणु अंशों में चलन स्वाभाविक वा सांसिद्धिक है और स्थिरता निमित्त से आती है। कुछ विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि सभी जड़ पदार्थों में स्वभावतः स्थिरता ही होती है। उनका चलन व स्थान त्याग किसी निमित्त से ही होता है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं जमता। यदि सब ही स्थिर हो जाँय तो चलाने वाला कौन हो और नैमित्तिक चलन भी कहाँ से आवे। चेतन तो केवल आत्मा है। वह तो व्यापक है। उसमें क्रिया हो ही नहीं सकती। इसका हम कई बार प्रतिपादन कर चुके हैं। संसार दशा में परस्पर के आघात-प्रत्याघात से ही सब जगह क्रिया व चलन मान लिया जाय तो भी सृष्टि के आरम्भ में कहीं स्वाभाविक चलन मानना ही पड़ेगा। क्योंकि उस अवस्था में बिना किसी का स्वाभाविक चलन माने आघात-प्रत्याघात का होना सम्भव ही नहीं। इसलिए आर्य दर्शनों में तेज में स्वाभाविक गति मानी गई है। और जल और पृथ्वी में स्वाभाविक स्थिति। जल और पृथ्वी के पदार्थों का चलन निमित्त से होता है। एवं तैजस पदार्थों की स्थिरता किसी निमित्त से होती है।

इस प्रकार सांसिद्धिक और नैमित्तिक क्रियाओं के परस्पर संघर्ष के कारण सांसिद्धिक क्रिया के पाँच भेद हो जाते हैं—१—प्रकट, २—प्रतिबद्ध होने पर भी संस्कार विशेष से प्रकट की हुई, ३—पहले प्रतीत न होती हुई भी विषय-सम्बन्ध होने पर प्रतीत हो जाने वाली। ४—किसी प्रतिबन्धक के कारण लीन हुई, और ५—प्रतिबन्धक नैमित्तिक क्रिया से छिपाई हुई। इनका उदाहरणों से स्पष्टीकरण हो जायगा। बिना किसी आवरण के सूर्य भगवान् जब उष्णता और प्रकाश चारों ओर फैलाते रहते हैं, अथवा घर में रक्खा हुआ एक दीपक बिना किसी प्रतिबन्ध को अपना प्रकाश चारों ओर फैलाता रहता है। वह सूर्य वा दीपक प्रकट क्रिया है। जल को अग्नि पर चढ़ा देने पर उसमें उष्णता आ गई, अपना स्वाभाविक धर्म शीतता लीन हो गई, किन्तु अग्नि से हटा देने पर स्वभावतः गतिशील होने के कारण अग्नि के अंश जब उसमें से निकल गए, तो जल की स्वाभाविक शीतता फिर प्रतीत होने लगी। यह शीतता दूसरे प्रकार की संस्कार विशेष से प्रकट की हुई क्रिया कहलावेगी। अग्नि का सम्बन्ध हटाना दोष मार्जन रूप संस्कार है। उस संस्कार के द्वारा यह शीतता प्रकट की गई। अग्नि में जलाने की शक्ति स्वभाव सिद्ध है। किन्तु जलाने की कोई वस्तु इंधन आदि उसके समीप न रहे तो वह जलाने की क्रिया प्रतीत नहीं होती। जब जलाने की कोई वस्तु सामने आ जाय तब प्रतीत होने लगती है। यह तीसरे प्रकार की सांसिद्धिक क्रिया का उदाहरण हुआ। अग्नि के संबंध से गर्म हो जाने पर जल में रहती हुई भी शीतलता प्रतीत नहीं होती। सर्वथा प्रलीन हो जाती है। अथवा दिन में रहता हुआ भी चन्द्रमा-तारादि का प्रकाश सूर्य के तेज से दबा दिया जाने के कारण प्रतीत नहीं होता, यह लीन कहलाने वाली चौथे प्रकार की सांसिद्धिक क्रिया हुई। वस्तु में रहती हुई भी दबाए जाने के

कारण प्रतीत नहीं होती। जल पूर्ण रूप से उष्ण नहीं हुआ किन्तु कुछ अग्नि का सम्बन्ध हो जाने के कारण उसकी स्वाभाविक शीतलता प्रतीत नहीं होती, यह छिपी हुई पाँचवे प्रकार की क्रिया हुई। इसी प्रकार दूध में बहुत सा जल मिला देने पर दूध की श्वेतता और मधुरता छिप जाती है। यह भी पाँचवें प्रकार की क्रिया का उदाहरण समझना चाहिए। चौथे और पाँचवें प्रकार में इतना ही भेद है कि चौथे प्रकार में वह क्रिया वा धर्म सर्वथा लीन हो जाता है और पाँचवें प्रकार में कुछ थोड़ा दबता है। अस्तु, इसी प्रकार नैमित्तिक क्रिया भी तीन प्रकार की कही जा सकती है। दूसरे के सम्बन्ध से जहाँ क्रिया दब गई वहाँ उस वस्तु के दोष को हटाकर उसके सांसिद्धिक गुण को प्रकट कर देने वाली क्रिया नैमित्तिक क्रिया का पहला रूप है। वस्तु के स्वरूप में कुछ अतिशय उत्पन्न कर स्वरूप को उत्कृष्ट कर देने वाली अतिशयाधान रूप दूसरी नैमित्तिक क्रिया है। जहाँ जो क्रिया न हो वहाँ भी उसे उत्पन्न कर देने वाली सांसर्गिक क्रिया तीसरी नैमित्तिक क्रिया है। इनका भी उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण यों है कि जल में संसर्ग पतित मल को हटाकर उसे स्वच्छ कर देने वाली कतकप्रक्षेपादि क्रिया पहिली नैमित्तिक क्रिया का उदाहरण है। किसी अनधिकारी पुरुष को एक विशेष अधिकार प्राप्त हो जाना वा यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा ब्राह्मणादि में कुछ अतिशय उत्पन्न कर देना दूसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रिया है। वायु स्वतः न उष्ण है और न शीत, इसीलिए इसका विशेष गुण वैशेषिक दर्शन में अनुष्णाशीत स्पर्श माना गया है। किन्तु वही वायु जल के अंशों के सम्पर्क से अतिशीत और प्रखर सूर्य किरणों के संसर्ग से अत्युष्ण हो जाता है। यह वायु में प्राप्त शीतता वा उष्णता वायु की नैमित्तिक क्रिया है। इसी प्रकार जहाँ मनुष्य, पशु आदि के पैरों में चलने की क्रिया न हो, किन्तु किसी सवारी पर बैठकर वे चल रहे हों, वहाँ वह मनुष्य, पशु आदि की चलन क्रिया नैमित्तिक क्रिया का तीसरा भेद समझना चाहिए। इन नैमित्तिक क्रियाओं की परस्पर संघर्ष होता है। और प्रबल क्रिया से निर्बल क्रिया दबा दी जाती है। अथवा समान बल वाली दोनों क्रियाएँ परस्पर संघर्ष से निवृत्त हो जाती हैं। यह देखा जाता है। जैसा कि किसी रस्सी वा वस्त्र को एक बालक वा निर्बल पुरुष पूर्व की ओर खींचता हो और कोई दृढ़ युवा पुरुष पश्चिम की ओर, तो उस स्थान में निर्बल वा बालक की क्रिया दब जायगी और दृढ़ पुरुष के द्वारा संपादित नैमित्तिक क्रिया प्रबल हो जायगी। वस्त्र वा रस्सी पश्चिम की ओर ही चले जाएँगे। किन्तु समान बल वाले दो पुरुष जहाँ एक ही रस्सी को एक पूर्व की ओर एवं दूसरा पश्चिम की ओर खींच रहा हो, वहाँ वह रस्सी किसी ओर न जायगी। दोनों पुरुषों द्वारा डाली हुई नैमित्तिक क्रियाएँ परस्पर संघर्ष से दबकर अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाएँगी।

इस प्रकार क्रियाओं के बहुत भेद हो सकते हैं। इनमें से प्रकट वा प्रकट की गई सांसिद्धिक क्रिया मुख्य धर्म कहलाती है। क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप

में प्रविष्ट है। और स्वरूप रक्षा ही धर्म शब्द का अर्थ है, यह हम प्रवचन माला के प्रथम पुष्प में ही स्पष्ट कर चुके हैं। उन सांसिद्धिक क्रियाओं का प्रतिबन्धक हटाकर प्रकट कर देने वाली नैमित्तिक क्रियाएँ भी स्वरूप रक्षा का कारण होने से धर्म कहलाती हैं। इसी प्रकार अतिशय उत्पन्न करने वाली दूसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रिया भी धर्म पक्ष में ही गिनी जाती है। क्योंकि उसका दिया हुआ अतिशय स्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाता है। जैसे कि किसी पुरुष को कोई शासन का वा न्याय का अधिकार यदि प्राप्त हो गया और उस पुरुष ने उस अधिकार को स्वीकार कर लिया, तो उस दशा में उस अधिकार का पालन भी उसका आवश्यक धर्म माना जायगा। यदि अधिकार पर रहता हुआ भी अपने अधिकार के अनुकूल कार्य न करे तो वह अधार्मिक होने के कारण अवश्य दण्डनीय होगा। अतः नैमित्तिक क्रिया के द्वारा दिया हुआ अतिशय स्वरूप में ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। किन्तु यदि वह अतिशय मुख्य सांसिद्धिक क्रिया वा धर्मों के विरुद्ध हो तो उस दशा में उस अतिशयाधान को धर्म न कहकर अधर्म ही कहना होगा। जैसे कि अग्नि जल में उष्णता रूप अतिशय डालती है किन्तु वह जल के स्वाभाविक धर्म शीतलता के विरुद्ध है, इसलिए वह जल का धर्म न कहला कर अधर्म ही कहावेगा। इसी प्रकार चेतन प्राणी का आनन्द वा सुख आत्मधर्म है। इसके विरुद्ध कोई अतिशय किसी नैमित्तिक क्रिया के द्वारा उत्पन्न किया जाय तो वह अधर्म ही होगा। इसी प्रकार तीसरे प्रकार की सांसर्गिक तीसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रियाओं में गिनी हुई सांसर्गिक क्रिया भी यदि स्वाभाविक क्रिया के विरुद्ध है, तो वह अधर्म कही जायगी और यदि अनुकूल है तो उसे धर्म कहेंगे। इस विपरीत सांसर्गिक क्रिया के सम्बध से बचाने के लिए ही आर्य संस्कृति में भक्ष्याभक्ष्य विवेक और स्पर्श्याऽस्पर्श्य विवेक धर्म के अंग माने गए हैं। और स्वाभाविक धर्मों के अनुकूल अतिशय उत्पन्न करने वाले षोड्श संस्कारों को एक मुख्य धर्म कहा गया है।

इस प्रकार धर्माधर्म की वैज्ञानिक व्याख्या को दृष्टि में रखकर अब प्रकृत विषय में विचार करना है। जैसा कि हम आगे "चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुण कर्म विभागशः"। इसे चतुर्थाध्याय के प्रवचन में स्पष्ट करेंगे। वर्णों के ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि धर्म उनके स्वरूप में ही प्रविष्ट हैं। पुरुष; प्रकृति और शुक्र के सम्बन्ध से जगत् की उत्पत्ति होती है, और शुक्र में ही यह ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य, आदि धर्म प्रविष्ट हैं। इसलिए यह सांसिद्धिक धर्म ही कहे जाएँगे। और इनके अनुकूल क्रियाएँ स्वाभाविक क्रिया होने के कारण धर्म कही जाएँगी। उन सांसिद्धिक धर्म वा स्वाभाविक क्रियाओं के विरुद्ध कोई भी क्रिया अधर्म ही मानी जायगी। चाहे वह अन्य प्रकार से कितनी उत्कृष्ट क्रिया क्यों न हो। इन ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व आदि सांसिद्धिक धर्मों को प्रकट और विशेष रूप से कार्यक्षम बना देने वाली दोषमार्जन अतिशयाधान करने वाली पहले और दूसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रियाएँ भी संस्कार रूप विशेष धर्म मानी जाती हैं। इस

लिए उनके विरुद्ध भी जो क्रियाएँ होंगी, वे अधर्म ही मानी जाएँगी। हम पूर्व प्रवचनों में स्पष्ट कर चुके हैं कि राज्य व्यवस्थानुसार नियत किया हुआ कोई अधिकारी पुरुष किसी चोर आदि पापी को इसलिए दण्ड न दे कि दण्ड देने से अहिंसा और दया का विरोध हो जायगा, तो वह उस अधिकारी का कार्य कभी धर्म नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत् उसे अधर्म ही कहना पड़ेगा। अतएव राज्य-व्यवस्था में भी वह दण्ड का ही भागी होगा। किसी पारितोषिक का नहीं। इसी दृष्टि से वर्ण व्यवस्थानुसार क्षत्रिय को जो युद्ध करना प्राप्त है उसे हम सांसिद्धिक धर्म भी कह सकते हैं और अतिशयाधान रूप नैमित्तिक संस्कार क्रिया से प्रकट किया हुआ आधिकारिक धर्म भी। ऐसी स्थिति में उसके प्रतिकूल कार्य करने को अर्जुन जो प्रस्तुत हुआ है, वह उसका कार्य सांसिद्धिक धर्म और आधिकारिक धर्म से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा अधर्म है, यही भगवान् यहाँ बता रहे हैं कि "तुम अपने धर्म को देखो।" अहिंसा, क्षमा, दया आदि अवश्य बड़े धर्म हैं किन्तु इनको धर्म सामाजिक दृष्टि से कहा जा सकता है। जैसा कि हमने प्रथमाध्याय के भूमिका रूप प्रवचनों में स्पष्ट किया है। समाजादि की अपेक्षा अपना आध्यात्मिक स्वरूप आन्तर है। पहिले अपना स्वरूप धारण कर, तब मनुष्य सामाजिक बनता है। इसलिए सामाजिक धर्म समाज सम्बन्ध से पीछे आने वाला बाह्य धर्म कहा जायगा। और स्वरूप में अनुप्रविष्ट वर्णधर्म इसकी अपेक्षा आन्तर धर्म होगा। ऐसी स्थिति में बाह्य अहिंसा, क्षमा, दया आदि धर्मों का जहाँ आन्तर वर्ण धर्म के साथ विरोध आ पड़े, वहाँ आन्तर धर्म की रक्षा ही प्रथमतः आवश्यक होगी। इस प्रकार के धर्मों के बलाबल को समझकर ही मनुष्य को अपना कर्तव्य निर्धारण करना चाहिए। अज्ञान वश अधर्म को धर्म मान लेना और धर्म को अधर्म मान लेना पतित होने का कारण बनेगा। जैसे कोई अधिकारी पुरुष अत्यन्त दया वश होकर किसी अपराधी को दण्ड देना कथमपि न चाहे तो उसे उचित होगा कि पहले अपना अधिकार छोड़ दे। तब वह अधिकार जनित अतिशय अपने स्वरूप में से निकल जायगा और उसके विरुद्ध दया आदि का प्रदर्शन धर्म के प्रतिकूल न रहेगा। इसी प्रकार अर्जुन यदि क्षत्रिय धर्म से विमुख होना चाहता है तो पहिले उसे क्षत्रियत्व का अभिमान छोड़ देना चाहिए था वह तो उसने अभी छोड़ा नहीं है। तब क्षत्रिय रहता हुआ भी यदि क्षत्रिय धर्म युद्ध से विमुख होना चाहता है तो जिन अहिंसा दया आदि को वह अपना रहा है वे इसके स्वरूप विरोधी होने के कारण धर्म न होकर अधर्म ही होंगे। और धर्म बुद्धि से अधर्म ग्रहण करना सर्वथा पतन का हेतु बनेगा और लोक और परलोक में कष्ट का कारण होगा। यही इस उपदेश का स्फुट भाव है।

सत्ताइसवां-पुष्प

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतं ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ २-३२

हे पार्थ ! ऐसा युद्ध मानो अपने आप (बिना प्रयत्न के) खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। ऐसा युद्ध जिन क्षत्रियों को प्राप्त हो उनको बड़ा सुखी वा बड़ा भाग्यवान् मानना चाहिए।

युद्ध क्षत्रिय का धर्म है इस पूर्वोक्त पद्य का ही विवरण किया जाता है। शास्त्र का वचन है कि—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल भदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः" ॥

इसका तात्पर्य है कि सब घर-बार छोड़कर जो सन्यासी हो जाता है और योग क्रिया में पूर्ण कुशल होकर प्राणत्याग करता है वह एक, और दूसरा संग्राम में सम्मुख लड़ता हुआ जो मारा जाता है, ये दोनों (प्रकार के) पुरुष सूर्य मण्डल को भेद कर ऊपर जाते हैं। अर्थात् क्रम मुक्ति प्राप्त करते हैं लौटकर फिर संसार में नहीं आते। इसी सिद्धान्त की ओर प्रस्तुत श्लोक में भगवान् ने संकेत किया है कि ऐसा युद्ध तो अपने आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार समझना चाहिए और ऐसे युद्ध का अवसर प्राप्त होना क्षत्रिय को अपना सौभाग्य मानना चाहिए। इसे छोड़ कर जाना तो मानो स्वर्ग प्रवेश का द्वार छोड़ देना है। ऐसी गलती क्यों कर रहे हो ?

कुछ लोगों का विश्वास है कि क्षत्रिय लोग युद्ध छोड़कर विमुख न हों इसलिए उन्हें प्रोत्साहित करने को यह स्वर्ग का प्रलोभन दिया गया है। यदि युद्ध छोड़ने की प्रवृत्ति बढ़ जाय तो देश में कायरपन फैल जायगा और आक्रमण-कारियों से देश की रक्षा करना असंभव हो जायगा। इसलिए देश रक्षा के उद्देश्य से ही ऐसे उपदेश दिए गए हैं जिससे कि लोग स्वर्ग के लोभ से युद्ध में उत्साहित रहें और कायरता न बढ़ने पावे। वीरता का प्रसार रहे और आक्र-मणकारियों से देश सुरक्षित रहे। किन्तु गम्भीर विचार करने पर सिद्ध होता है कि स्वर्ग प्राप्ति का केवल प्रलोभन मात्र ही नहीं है। वस्तुतः उत्साह पूर्वक पीठ न दिखाकर जो युद्ध में मरता है उसे अवश्य ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लोकान्तर गति का प्रसंग भगवद्गीता के अष्टमाध्याय में आवेगा। वहीं इस लोकान्तर गति का विस्तृत विवरण किया जायगा। किन्तु यहाँ भी प्रसंगागत इतना विवरण कर देना आवश्यक है किस्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का वियोग

हो जाने का ही नाम मृत्यु है। सूक्ष्म शरीर ही उस मृत स्थूल शरीर को छोड़कर जन्मान्तर वा लोकान्तर में जाया करता है। सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि ये तत्त्व रहते हैं जिसका कि विवेचन "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" के व्याख्यानों में कर चुके हैं। ये सब सूक्ष्म शरीर के तत्त्व दूसरे लोकों के अंश रूप से मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होते हैं और जिस लोक में ये अंश हैं उस अपने धन से इनका सम्बन्ध बराबर बना रहता है। स्थूल शरीर का वियोग होने पर ये सूक्ष्म शरीर के तत्त्व अपने धन की ओर ही प्रकृति के नियमानुसार चलते हैं। इन सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों में जो प्रधान हो वही अपने धन की ओर जाता हुआ अन्य सहचारियों को भी अपने साथ ले जाया करता है। यही लोकान्तर गति का वैज्ञानिक रहस्य है। मनुष्यों में सामान्य रूप से मन की प्रधानता रहती है और मन चन्द्रमा का अंश है इसलिए श्रुति में कहा गया है कि मरने वाले प्रायः चन्द्रमण्डल में ही जाया करते हैं। मन यदि प्रधान रहेगा तो अपने धन रूप चन्द्रमा की ओर ही सूक्ष्म शरीर के सब तत्वों को खींचकर ले जायगा। इसलिए चन्द्रमण्डल की ओर जाने का सामान्य नियम वैज्ञानिक युक्ति सिद्ध है। किन्तु जो अपने प्रयत्न से बुद्धि की शक्ति बढ़ा लेते हैं और मन को दबाकर बुद्धि को प्रबल कर लेते हैं उनकी गति चन्द्रमा की ओर न होकर सूर्य की ओर हो जाती है क्योंकि बुद्धि सूर्य का अंश है। बुद्धि जब प्रबल हो जाती है तो अपने धन सूर्य की ओर सबको खींच कर ले जाना स्वभाव सिद्ध हो जाता है। योग मार्ग के द्वारा बुद्धि की शक्ति को ही प्रबल किया जाता है।

बुद्धि के सांख्य शास्त्र में आठ रूप बतलाये हैं, चार सात्विक और चार तामस। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्विक रूप हैं इनके विरोधी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये चारों बुद्धि के तामस रूप हैं। इनमें अवैराग्य को राग और द्वेष दो नामों से गिनकर इन्हें ही पंच क्लेश कहा जाता है—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। यहाँ ज्ञान के विरोधी अज्ञान को अविद्या पद से कहा गया है, ऐश्वर्य के विरोधी अनैश्वर्य को अस्मिता शब्द दिया गया है, अस्मिता अहंकार का नाम है। अपने स्थूल सूक्ष्म आदि शरीरों में अहं भाव होना ही अस्मिता वा अहंकार है। वस्तुतः आत्मा अपरिच्छिन्न है यही उसका ऐश्वर्य है, शरीर में अहंभाव से उसे परिच्छिन्न बनाया जाता है। एक छोटी सी सीमा में बद्ध कर दिया जाता है। इसलिए यह अस्मिता ऐश्वर्य की विरोधिनी है। अवैराग्य को राग और द्वेष दो नाम दिये गए हैं जैसा कि कहा जा चुका है। तथा धर्म के विरोधी रूप में अभिनिवेश शब्द गिना गया है। इस शब्द का अर्थ आग्रह है, धर्म के नियन्त्रण को छोड़कर किसी भी क्रिया पर आग्रह कर लेना अभिनिवेश के अन्तर्गत हो सकता है किन्तु शास्त्रों में अभिनिवेश का लक्षण यह बतलाया गया है कि मैं सदा ही बना रहूँ इस प्रकार की जो प्राणिमात्र में एक स्वाभाविक वृत्ति देखी जाती है इसी का नाम अभिनिवेश

है। यह प्राणिमात्र में व्यापक है इसलिए इसका ही नाम शास्त्रों ने लिया है। यह भी धर्म विरोधी है, जन्म लेने वाले का मरण अवश्यंभावी है यह नियम एक धर्म हुआ, उसके विरुद्ध पूर्वोक्त वृत्ति अधर्मरूपा ही है। अस्तु, बुद्धि के सात्विक चार रूप ईश्वर में भी होते हैं अतएव वह भगवान् कहलाता है। उक्त चारों रूपों के साथ यश और श्री को जोड़कर इन छहों का पारिभाषिक नाम भग रक्खा गया है। वे पूर्ण मात्रा में ईश्वर में रहते हैं इसलिए ईश्वर सबसे बड़ा भगवान् है। तमोगुण के रूप जो पाँच क्लेश बतलाये गए उनका ईश्वर में स्पर्श भी नहीं है। सात्विक रूपों को बढ़ा कर तामस रूपों को दबाना यही बुद्धि की शक्ति को प्रबल करना है। सन्यास और योग मार्ग में ज्ञान और वैराग्य को विशेष रूप से उन्नत किया जाता है और इसी से धर्म तथा ऐश्वर्य भी बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि की उन्नति करने वाले जीव की गति सूर्य मण्डलों में होती है। बुद्धि की विशेष उन्नति जिन्होंने कर ली वे सूर्य मण्डल के भी केन्द्र की ओर जाते हैं और वहाँ भी न ठहरकर उसमें से निकल कर ऊपर के अन्य लोकों में चले जाते हैं। क्योंकि भगवद्धर्मों का अपने आत्मा में इन्होंने समावेश कर लिया है अतः वे परम उन्नतिशील बन गए हैं। क्रमशः सब लोकों का अतिक्रमण कर भगवान् में लीन हो जाना ही उनके लक्ष्य की पूर्ति है।

युद्ध में उत्साह से जो वीर प्रवृत्त होता है उसके भी अस्मिता और अभिनिवेश दब जाते हैं। शरीरात्मभाव शिथिल किए बिना युद्ध का उत्साह हो ही नहीं सकता और उसमें सदा बना रहूँ इस अभिनिवेश का तो उसे स्पष्ट रूप से त्याग कर ही देना पड़ता है। इसलिए बुद्धि के सात्विक रूप ऐश्वर्य और धर्म उसमें पूर्ण रूप से जागरित हो जाते हैं। युद्ध का उत्साह जो बढ़ता है वह वीर रस के रूप में परिणत होता हुआ अन्तःकरण के अज्ञानरूप आवरण का भंग कर देता है जिसका कि विवेचन आगे होगा। ऐसी स्थिति में उसकी बुद्धि की परम उन्नति स्पष्ट सिद्ध हो जाती है और इस कारण उसकी गति सूर्य मण्डल के केन्द्र की ओर होना विज्ञान सिद्ध हो जाता है। युद्ध का उत्साह बुद्धि की शक्ति को बहुत बढ़ा देता है और उस उत्साह की विच्युति यदि अंशतः भी न हो तो बुद्धि पर सूर्य का आकर्षण अवश्य ही न्याय प्राप्त होगा। इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार सूर्य मण्डल भेद रूप स्वर्ग गति वीर योद्धा की अवश्य सिद्ध है।

दूसरे प्रकार से भी इसका समर्थन होता है प्राणिमात्र की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएँ होती हैं। मनुष्य में इन तीनों का अनुभव स्पष्ट सिद्ध है। किन्तु इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था भी शास्त्र में मानी जाती है जिसे तुरीयावस्था शास्त्रों में कहा गया है, तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्था। जब किसी विषय में चित्त की सर्वथा एकाग्रता हो जाती है, अन्य विषयों का भान ही नहीं रहता, वही तुरीयावस्था कही जाती है। अन्य विषयों का भान न रहने से उसे जाग्रत भी नहीं कह सकते और एक विषय का स्पष्ट भान रहने से स्वप्न वा सुषुप्ति भी वह नहीं कही जा सकती। इसलिए उसे चौथी अथवा

तुरीय अवस्था ही कहना पड़ता है। सांसारिक दशा में भी कभी कभी इसका अनुभव होता है। जैसा कि कोई मनुष्य जब तक पूरा निद्रित तो नहीं हुआ है किन्तु निद्रा से पूर्ण रूप में आक्रान्त है, उस समय उसके हाथ में यदि कोई द्रव्य राशि रक्खे तो उसे भी वह फेंक देगा, उस ओर बिलकुल ध्यान न देगा। कोई बहुत बड़े नाच रंग सामने हो रहे हों तो उनकी ओर भी उसकी लेशमात्र भी प्रवृत्ति नहीं होती। जिनको प्राण से भी अधिक प्यार करता है उन स्त्री पुत्रादि को भी उस समय देखना भी नहीं चाहता। केवल निद्रा को ही सर्वस्व मानता है। वह अवस्था तुरीय ही कही जा सकती है। पूर्वोक्त रूप से अत्यन्त इष्ट संपत्ति आदि की ओर प्रवृत्ति न होने से उसे जाग्रत भी नहीं कह सकते और बाह्य पदार्थों का कुछ अनुभव है इसलिए स्वप्न या सुषुप्ति भी नहीं कही जा सकती। वह एक प्रकार की तुरीय अवस्था ही है। इसी अवस्था को सदा प्राप्त करने का योगी लोग प्रयत्न किया करते हैं और यह तुरीय अवस्था पूर्ण सात्विक कही जाती है इस अवस्था में प्राणों का उत्क्रमण होने पर अवश्य देवलोक गति होती है यह माना जाता है। भगवद्गीता में ही गुणत्रय विभाग में आगे कहा जायगा कि सत्व गुण की वृद्धि में जिनका प्राणोत्क्रमण हो वे ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं। तुरीयावस्था भी सत्व गुण की वृद्धि का परिणाम है अतः इस अवस्था में प्राणोत्क्रमण अवश्य ही ऊर्ध्व गति का साधक है।

युद्ध काल में योद्धा की उत्साहवश ऐसी ही तुरीयावस्था रहती है। उसे और किसी बात का उस समय अनुसन्धान नहीं रहता केवल अपना प्रतिपक्षी ही एकमात्र लक्ष्य रहता है। महाभारत में जयद्रथ वध के दिन जब अर्जुन जयद्रथ के समीप पहुँच चुका था और एकमात्र जयद्रथ के सिर को ही उसने अपनी दृष्टि का लक्ष्य बना रक्खा था उस समय अर्जुन के शिष्य सात्यकि को, जो अर्जुन का समाचार जानने युधिष्ठिर की आज्ञा से आया था, उसे भुरिश्रवा ने दबा लिया। भूमि में पटक कर उसका शिरश्छेद खड्ग से करने लगा। उस समय भगवान् कृष्ण ने बहुत जोर से शब्द करते हुए अर्जुन को प्रेरणा दी कि तेरा शिष्य तेरे ही लिए मर रहा है; उसकी रक्षा करना तेरा आवश्यक कर्तव्य है। तब अर्जुन ने यही कहा कि जयद्रथ की ग्रीवा पर से तो मैं अपना लक्ष्य नहीं हटा सकता, आपकी आज्ञा पालन के लिए शब्दवेधी बाण से भूरिश्रवा का खड्ग सहित हाथ काट देता हूँ। वैसा ही किया भी। इस प्रसंग से यही सिद्ध होता है कि युद्धकाल में वीर अपने प्रतिपक्षी को ही एकमात्र लक्ष्य रखते हैं, उससे अपनी बुद्धि को डिगने नहीं देते। यह उनकी तुरीयावस्था ही कही जा सकती है। उस अवस्था में ही दैवात् शत्रु के प्रहार से उनका प्राणोत्क्रमण हो जाय तो पूर्वोक्त नियमानुसार उनकी सद्गति अवश्यंभावी है। इसी प्रकार देश हित की उत्कट भावना में निमग्न रहकर जिन्होंने अपना प्राणोत्सर्ग किया वे भी तुरीयावस्था में निधन होने के कारण अवश्य ही ऊर्ध्वगति के भागी हुए होंगे यह तुल्य न्याय से कहा जा सकता है। अस्तु, हमारा अभिप्राय इतना

ही था कि युद्ध-मरण से उत्तम गति बताना केवल प्रलोभन मात्र ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि साहित्य ग्रन्थों में रस की अभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया दिखाई गई है कि काव्य वा नाटक में वर्णित विभाव अनुभाव आदि का शाब्दज्ञान होने पर व्यंजना वृत्ति से स्थायी भाव का ज्ञान हो जाता है और फिर सहृदय की भावना से वे विभावादि अपना परिच्छिन्न स्वरूप छोड़कर साधारण नायकत्व नायिकात्व आदि रूप से उपस्थित होते हैं। उसी रूप से विभावादि संवलित स्थायिभाव की भावना से अन्तःकरण का सत्वगुण जागरित हो जाता है और आत्मा का सतत जो एक अज्ञान रूप आवरण रहता है वह सत्व गुण के जागरण के कारण दूर हो जाता है। तब आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है। उस आत्मानन्द के साथ रति उत्साह आदि स्थायी भाव का और उसके अभिव्यंजक विभाव अनुभाव आदि का जो संमिश्रित ज्ञान होता है उसी का नाम रस है। इसमें समाधि की अपेक्षा यही विशेषता है कि स्थायी और विभावादि का भी ज्ञान आत्मानन्द के साथ आस्वाद का विषय होता रहता है। समाधि में केवल आत्मानन्द ही भासित होता है विषयावभास नहीं रहता। यह साहित्य ग्रंथों की प्रक्रिया काव्य नाटकादि के सम्बन्ध में निरूपित हुई है क्योंकि अलंकार ग्रंथों में काव्य नाटकादि के रस का ही विवेचन है। इसी कारण वहां यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि काव्य वा नाटक में जिन श्रृंगारी वा वीर पुरुषों का वर्णन है उनके सम्बन्ध के ही विभाव अनुभाव आदि वहाँ वर्णित हैं। फिर काव्य सुनने वालों वा नाटक देखने वालों को रस का उद्‌बोध कैसे होगा, क्योंकि उनसे सम्बन्ध रखने वाले विभावादि तो वहाँ हैं नहीं। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए साधारणीकरण आदि की प्रक्रिया वहाँ काम में ली जाती है। किन्तु लौकिक अवसरों में जहां अपने ही सम्बन्ध के विभावादि उपस्थित हों वहां साधारण रूप से उनके उपस्थित कराने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि स्वसम्बन्धी कारण कार्य आदि से अपने अन्तःकरण का रति उत्साह आदि स्थायी भाव स्वतः जागरित हो जाता है। यद्यपि लौकिक रसादि का निरूपण अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में नहीं किया गया है, किन्तु विचार करने पर कारण कार्य आदि से अन्तःकरण में स्थायीरूप से अवस्थित उत्साह आदि का जागरित होना और उस विषय की निरन्तर चित्तवृत्ति रहने से भावना द्वारा सत्वगुण का बढ़ना और उससे आत्मा के अज्ञानरूप आवरण का भंग होना यहां भी तुल्य न्याय से युक्ति सिद्ध है। स्थायिभाव उत्साह आदि अभिव्यक्त होने पर उनकी अन्तःकरण में बार बार भावना से जैसे काव्य नाटकादि में सत्व गुण बढ़कर आत्मा के आवरण को दूरकर देता है और आत्मानन्द का अनुभव करा देता है। इस प्रकार लोक में भी उत्साह आदि की अभिव्यक्ति होने पर उनकी भावना, सत्वगुण की वृद्धि और आवरण भंग क्यों न होगा? श्रृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों में स्वनिष्ठ और परनिष्ठ नाम के दो विभाग रस तरंगिणी आदि ग्रंथों में माने गए हैं। श्रृंगार में स्व सम्बन्धी विभाव अनुभाव आदि में लोक लज्जा

आदि का प्रसंग विशेष होने से शृङ्गार में स्वनिष्ठ परनिष्ठ भेद नहीं माने जाते और शृङ्गार को ही मुख्य मान कर रस का निरूपण करने वाले आलंकारिक उन भेदों की ओर ध्यान भी नहीं देते। किन्तु जिन्होंने स्वनिष्ठ परनिष्ठ भेद माने हैं उनके मतानुसार लौकिक अवसरों में भी स्वनिष्ठ भेदों की प्रक्रिया सुसंगत हो जाती है। अस्तु, प्रस्तुत में इस विषय को उठाने का हमारा अभिप्राय यही है कि यदि उक्त प्रक्रिया के अनुसार निरन्तर भावना से योद्धाओं में आत्मानन्द का आवरण भंग मान लिया जाय तो फिर उस अवस्था में मृत्यु होने पर उत्तम गति प्राप्त होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। अतः शास्त्रों में युद्ध मृत का सूर्य मण्डल भेद जो दिखाया गया है वह वास्तविक उपपत्ति सिद्ध है।

इस पद्य में "यदृच्छया चोपपन्नं" और "युद्धमीदृशम्" ये दोनों विशेषण इस प्रस्तुत युद्ध की विशेषता बताने के लिए प्रयुक्त हैं। प्रथम विशेषण का अभिप्राय है कि वीर क्षत्रिय अपने विशेष उद्योग से ऐसे युद्धों की योजना किया करते हैं। किन्तु तुम्हें तो यह अवसर अपने आप ही मिल गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि तुम लोगों की आन्तरिक इच्छा युद्ध के आयोजन की नहीं थी। तुम तो अन्ततक संधि के प्रयत्न में लगे रहे। फिर भी दुर्योधन की कुटिल नीति के कारण कहो वा विधि का विधान ऐसा ही था यह मानो तुमारे लिए यह युद्ध प्रसंग अपने आप ही आया हुआ कहा जायगा। तब जैसा प्रसंग अन्य वीर योद्धा प्रयत्न से लाया करते हैं वैसा प्रसंग अपने आपही आ पड़े और फिर भी उसे छोड़ा जाय; यह तो बहुत ही बड़ा अनुचित कार्य कहा जायगा। "ईदृशम्" इस विशेषण से भगवान् ने यह अभिव्यंजित किया कि यह युद्ध कोई साधारण युद्ध नहीं है। किसीएक राजा का दूसरे प्रतिपक्षी राजा से सीमा आदि के सम्बन्ध में झगड़ा होकर युद्ध हो जाना एक सामान्य युद्ध होता है। किन्तु यह युद्ध वैसा सामान्य युद्ध नहीं। इसमें सम्पूर्ण देश के, प्राग्ज्यौतिष, त्रिगर्त, और गान्धार देश तक के वीर राजा उत्साह से सम्मिलित हुए हैं। अतः यह एक भारतव्यापी महायुद्ध है। उत्साही अन्य वीरों का प्रभाव प्रत्येक वीर के हृदय पर पड़ता है और लोगों को उत्साहशील देखकर प्रत्येक वीर की उत्साह वृद्धि विशेष रूप से होती है। इसीलिए कहा जा सकता है कि ऐसा युद्ध जिन्हें स्वतः प्राप्त हो जाय उनको तो बड़ा भाग्यवान् समझना चाहिए। यहाँ "सुखिनः" शब्द का अर्थ अनेक व्याख्याकारों ने भाग्यवान् ही किया है। अथवा आगे होने वाले स्वर्ग सुख को लक्ष्य में रख कर सुखी शब्द का प्रयोग है, यह भी कहा जा सकता है। अर्थात् ऐसा युद्ध जिनको प्राप्त हो गया वे आगे बहुत बड़े सुखी होंगे अर्थात् स्वर्ग सुख का आनन्द भोगेंगे। तब ऐसे विलक्षण प्रकार के युद्ध में जहाँ देश के प्रत्येक भाग के योद्धाओं को उत्साह-शील देखकर जहाँ तुम जैसे वीर को अत्यन्त उत्साहशील होना चाहिए था; वहाँ तुम उलटा अपना उत्साह खोकर, युद्ध से विरत होना चाहते हो; यह कैसी बात है। उसे अपने अन्तःकरण में अच्छी तरह विचारो।

———

अट्ठाइसवाँ पुष्प

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ २।३३
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ २।३४
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ २।३५
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ २।३६
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ २।३७

"यदि तुम यह धर्म युक्त संग्राम नहीं करोगे तो अपना धर्म और यश दोनों खोकर पाप के भागी बनोगे।" यहाँ धर्म्य शब्दसे दोनों अभिप्राय हैं, तुम्हारा पक्ष धर्मानुकूल है इसलिए तुम्हारी ओर से संग्राम करना "धर्म्य" अर्थात् धर्म युक्त है। दूसरा अभिप्राय यह भी है कि यहाँ बहुत बड़ा क्षत्रियों का समूह है इसलिए यहाँ जो युद्ध होगा वह युद्ध के धर्मों के अनुकूल ही होगा। ऐसे युद्ध के छोड़ने से न केवल धर्म परित्याग के कारण परलोक की हानि है, किन्तु इस लोक में भी यश की हानि है। युद्ध से पलायन करने पर एक वीर क्षत्रिय का बहुत बड़ा अपयश होता है और उसकी संपूर्ण जन्म की संचित कीर्ति नष्ट हो जाती है यह इस लोक का भी बहुत बड़ा अपकार तुम्हारा है। शास्त्र में यह भी कहा गया है कि जो कर्म जिसके लिए विहित है उसके न करने से भी पाप होता है। इसलिए धर्म के न करने का पाप भी तुम्हें लगेगा। इससे यह भी सूचित किया कि युद्ध क्षत्रिय का नैमित्तिक धर्म है, केवल काम्य नहीं। नित्य और नैमित्तिक के न करने से भी पाप होता है। यहाँ यह एक शंका उठती है कि न करना तो अभाव रूप हुआ, उससे पाप कैसे होगा। पाप तो एक प्रकार का अतिशय है जो कि अन्तःकरण का धर्म है, वह भाव रूप है, तब अभाव से भाव की कैसे उत्पत्ति होगी। इसका उत्तर धर्म निबन्धों में कई प्रकार से दिया गया है। एक प्रकार यह है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म यद्यपि कोई नया फल उत्पन्न नहीं करते तथापि कुछ अवश्यंभावी दोषों का परिहार करते रहते हैं। सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म और ग्रहण स्नानादि नैमित्तिक कर्म करने से किसी विशेष फल की उत्पत्ति अन्तःकरण में नहीं होती; किन्तु अहोरात्र में जो अविज्ञात

अनेक पाप मनुष्य सुलभ प्रमाद से बन जाते हैं उनका क्षय सन्ध्यावन्दनादि से होता रहता है। इसी प्रकार ग्रहण स्नान करने से सूर्य और चन्द्रमा की रश्मियों के अवरुद्ध हो जाने से जो मलिनता दोष हम लोगों के शरीर आदि में आगया उसका निवारण हो जाता है। अब यदि नित्य नैमित्तिक कर्म न किये जायेंगे तो वे दोष जो इनके द्वारा निवारित होते, इकट्ठे होते रहेंगे और इकट्ठे होने पर बुरे अदृष्ट के रूप में आकर पाप बनते रहेंगे। यही धर्म न करने से पाप की उत्पत्ति का आशय है। जैसे कि कोई वैद्य किसी रोगी को स्वास्थ्य के लिए लंघन करवाता है तो वहाँ भी यह प्रश्न होगा कि लंघन तो भोजन का अभाव रूप है, फिर उस अभाव से स्वास्थ्य रूप भाव की उत्पत्ति कैसे हुई। इसका यही उत्तर वैद्य देगा कि लंघन न होने पर जो अन्न उदर में जाकर नये नये विकार उत्पन्न कर रोग की वृद्धि में सहायक होता वह बात लंघन से रुक जायगी। जाठराग्नि को जब कोई नया अन्न पचाने को नहीं मिलेगा तो वह प्रबल होकर पुराने संचित अन्न के परिपाक में ही लग जायगी। इसलिए स्वास्थ्य लाभ में अभाव से भावोत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता। यही बात यहाँ भी समझ लेना चाहिए कि नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से जो आगन्तुक दोष आ जाते हैं उनका परिहार नित्य नैमित्तिक कर्मों से होता रहता है। यदि वे न किये जाँय तो आगन्तुक दोष इकट्ठे होकर मलिनता रूप पाप को उत्पन्न कर देंगे और मान लो कि वे कोई दोष नहीं भी आये तो भी नित्य नैमित्तिक कर्म पुराने ऐसे अज्ञात सूक्ष्म दोषों के निवारण में सहायक होते रहेंगे। न करने से वे दोष भी कुछ मलिनता अवश्य उत्पन्न करेंगे। इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्मों का न करना भी दोषाधायक है।

दूसरा एक प्रकार अभाव से भावोत्पत्ति के समाधान का यह कई निबन्धकारों ने बतलाया है कि शास्त्र में हेतु दो प्रकार के कहे गए हैं, एक कारक हेतु होता है और दूसरा होता है ज्ञापक हेतु। जो किसी अतिशय विशेष को उत्पन्न करे, वह कारक हेतु कहलाता है और जो वर्तमान किसी अतिशय विशेष का ज्ञान करादे वह ज्ञापक हेतु कहलाता है। विहित कर्मों का न करना पाप का ज्ञापक हेतु है अर्थात् शास्त्र विहित कर्मों में प्रवृत्ति न होने से यह अनुमान हो जाता है कि कोई पूर्व जन्म का बुरा अदृष्ट है जो शास्त्र विहित कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होने देता। उसी ज्ञापित कर्म का प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों में बतलाया गया है। तीसरा कई जगह ऐसा भी समाधान का प्रकार मिलता है कि जो कर्म जिस समय में शास्त्र में विहित है उसे यदि उस समय न किया जायगा तो उस समय में अन्य कोई कार्य करना पड़ेगा क्यों कि गीता में ही कहा गया है कि—

"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"

अर्थात् कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी बिना किसी कर्म के तो रह नहीं सकता। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि कुछ न कुछ सदा करते ही रहते हैं। तब शास्त्र

विहित कर्म के समय में जो दूसरा कर्म किया जायगा वही पाप का उत्पादक हो जाता है। जैसे कि सन्ध्योपासन अग्निहोत्र आदि के समय में उन कर्मों को न कर यदि कोई सोता रह गया वा अन्य विलासादि कार्यों में लग गया तो वे शयन विलास आदि कर्म ही पाप के उत्पादक हो जाते हैं। इस प्रकार परंपरा सम्बन्ध से शास्त्र विहित कर्म न करना पाप का उत्पादक है। पाप की साक्षात् उत्पत्ति अन्य कर्म रूप भाव से ही होती है अभाव से नहीं। यों कई प्रकार से अभाव से भावोत्पति के समाधान प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। अस्तु, यहां प्रयोजन इतना ही था कि शास्त्र विहित कर्म का न करना भी पाप का उत्पादक है यह सबही स्मृतिकारों ने माना है। इसलिए यहां भी भगवान् ने अर्जुन को यह कहा कि यदि युद्ध छोड़ दोगे तो न केवल धर्म से विमुख होओगे किन्तु पाप के भी भागी बनोगे। तुम जो यह सोचते हो कि युद्ध में आप्त गुरुजनों को मारने से पाप होगा, वह उलटी बात है। युद्ध छोड़ने से ही उलटा पाप का प्रसंग तुम पर आवेगा। इसके अतिरिक्त लौकिक दोष भी इस पद्य में यह बतलाया गया कि संसार में आज तक की उपार्जित तुम्हारी कीर्ति का भी नाश होगा। प्रथमाऽध्याय के प्रथम प्रवचन में धर्म स्वरूप रक्षा का साधन है, इस प्रकरण में हम कह आए हैं कि दिलीप आदि राजर्षियों ने यश को ही अपना मुख्य स्वरूप माना था, और यश का विनाश न हो इसलिए शरीर की भी आहुति देने को तैयार हो गए थे। इसलिए आप्त पुरुषों की दृष्टि से यश की रक्षा भी एक मुख्य धर्म है। अभी गत पूर्व प्रवचन में जो अठारह प्रकार के व्यावहारिक आत्मा बतलाए गए हैं उनमें विभूति रूप आत्मा में यश का भी समावेश है। इसीलिए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य रूप चारों सात्विक बुद्धि धर्मों के साथ यश और श्री को भी गिनकर छः प्रकार के भग शास्त्रों में निरूपित हैं जो कि जगदीश्वर भगवान् में सदा रहते हैं। इससे यश का भगवद्धर्म होना स्पष्ट शास्त्र सिद्ध है। उस भगवद्धर्म के विरुद्ध चलना ही पाप कहा जाता है, इसलिए संसार में अपयश प्राप्त करना भी एक बहुत बड़ा पाप है। इससे लोक परलोक दोनों नष्ट होते हैं। अपकीर्ति जिसकी हो गई उसका इस लोक में भी कोई आदर नहीं रहता। वह शिष्ट समाज में सदा दुतकारा जाता है और पूर्वोक्त प्रकार से पाप भागी होने से परलोक भी उसका बिगड़ता है। शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि "कीर्तिर्यस्य सजीवति" अर्थात् मर जाने पर भी संसार में जिसकी कीर्ति फैली हुई है उसे जीवित ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि शिष्ट लोग सदा से कीर्ति रक्षा में भी तत्पर रहे हैं यह भारतीय संस्कृति है। महापुरुषों ने चाहे कितना ही कष्ट सहन किया किन्तु अपने नाम पर कलंक नहीं लगने दिया। इसी का विस्तार आगे के तीन चार श्लोकों में भगवान् ने किया है और यह समझाया कि तुम पाप से डरकर संग्राम छोड़ते हो; किन्तु, संग्राम छोड़ने में भी अपकीर्ति रूप बड़ा पाप तुम्हारे सिर पर आवेगा, इसका विचार नहीं कर रहे हो। (२।३३)

"संसार में युद्ध छोड़ देने पर तुम्हारी लोग इतनी अपकीर्ति करेंगे कि जो अव्यय अर्थात् सदा के लिए स्थायी हो जायगी, कितना भी प्रयत्न करने पर उस अपकीर्ति का निवारण न हो सकेगा। सदा ही इतिहास में लोग इसका स्मरण करते रहेंगे कि अर्जुन इतनी डींग मारता था किन्तु समय पर युद्ध से भाग गया। जो मनुष्य संसार में संभावित अर्थात् आदर के पात्र हैं उनकी अपकीर्ति होना मरने से भी अधिक कष्टप्रद माना जाता है। अर्जुन ने जो अपने कथन में यह सन्देह प्रकट किया था कि यह भी तो विदित नहीं है कि हम जीतेंगे वा हारेंगे। उस पर भगवान् का यह कथन है कि मान लो तुम हार ही गए तो इतना ही होगा न कि तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। किन्तु युद्ध छोड़ने से जो अपकीर्ति होगी वह तो मृत्यु से भी बुरी है। कीर्ति रखकर मर जाना अच्छा है किन्तु अपकीर्ति लेकर जीवित रहना भी अच्छा नहीं।" (२,३४)

इसपर कदाचित् अर्जुन के मन में यह भाव हो कि मैं, डरकर संग्राम छोड़ूँ तब अपकीर्ति हो सकती है, मैं तो डरकर नहीं छोड़ रहा हूँ; किन्तु गुरुजनों के विरुद्ध शस्त्र उठाना पाप है, यह समझकर छोड़ रहा हूँ। तब तो विज्ञ जन मेरी प्रशंसा ही करेंगे; अपकीर्ति क्यों होगी ? ऐसे मनोभाव की संभावना कर उसका भी उत्तर भगवान् दे देते हैं कि तुम चाहे गुरुजनों के बध को पाप मानकर ही संग्राम छोड़ो किन्तु बड़े-बड़े वीर यही मानेंगे कि तुमने डर से ही संग्राम छोड़ा है। इतना बड़ा सैन्य समारोह और महावीरों को संमुख देखकर तुम डर गए और संग्राम से विरत होगए यही अधिकतर ख्याति होगी। यही संभव भी है। लोग कहेंगे कि गुरुजनों के विरुद्ध शस्त्र उठाना बुरा समझता था; तब तो संग्राम में आया ही क्यों था ? तब बात यही हुई कि सामने महावीरों को खड़ा देखकर डर गया और संग्राम से हट गया। इसका फल यह होगा कि आजतक जो संपूर्ण जगत् के वीर तुम्हारी वीरता के कारण बहुत संमान करते आये हैं, उनकी दृष्टि में आज तुम बहुत ही छोटे हो जाओगे। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे किसी पुरुष का कार्य उचित भी हो किन्तु लोक में वह अनुचित रूप से प्रसिद्ध हो जाय तो वह भी बुरी बात है। ऐसे प्रसंग से भी यथासंभव मनुष्य अपने आपको बचाता रहे, यह उचित है। किसी कवि ने इसपर बहुत अच्छी एक कल्पना की है—

"परीवादस्तथ्यो भवति वितथो वाऽपि महता-
मतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरवः
तुलोत्तीर्णस्यापि प्रकटनिहताशेष तमसो
रवेस्तादृक्तेजो नहि भवतिकन्यां गतवतः ॥

इसका तात्पर्य है कि—"महापुरुषों की अकीर्ति सत्य भी होती है और कभी मिथ्या भी हो जाती है, किन्तु, सत्य हो या मिथ्या, मनुष्यों में अकीर्ति का

उद्घोष महत्त्व को कम कर ही देता है। इसमें कविजनोचित एक कल्पना की गई है कि आश्विन मास में सूर्य कन्या राशि में चला जाता है, तबसे सूर्य का तेज क्षीण होने लग जाता है, उसके कारण की उत्प्रेक्षा की जाती है कि कन्या में गमन करना एक प्रकार का बहुत बड़ा कलंक है। वह कलंक सूर्य पर लगा; उस कलंक को मिटाने के लिए सूर्य ने दिव्य परीक्षा दी। धर्मशास्त्रों में दिव्य परीक्षाएँ कई प्रकार की लिखी हैं। उनमें एक तुला परीक्षा भी है। उसका प्रकार यह है कि एक बार मनुष्य को ठीक ठीक तोल कर तुला से उतार दिया जाय और फिर तुला में देवता आदि का आवाहन करके वह मनुष्य उस तुला से प्रार्थना करे कि हे तुला! तू सत्य निर्णय करने वाली है, मेरे विषय में भी सत्य-सत्य निर्णय कर दे यदि मैं निर्दोष हूँ तो मुझे ऊँचा उठा दे और दोषी हूँ तो नीचा गिरा दे। ऐसी प्रार्थना कर फिर वह उसी तुला पर चढ़े। यदि कुछ हलका होकर ऊपर उठ जाय तो उसे शुद्ध माना जाय और भारी होकर कुछ नीचा हो जाय तो दोषी मान लिया जाय। सूर्य कन्या राशि के अनन्तर तुला राशि पर जाता है। इसी पर उत्प्रेक्षा की गई है कि वह दिव्य परीक्षा देने के लिए तुला पर चढ़ा और वह भारीपन अर्थात् तमोगुण रूप अंधकार को प्रत्यक्ष दूर करता रहता है, यह उसकी परीक्षा में सफलता भी है, किन्तु इतना होने पर भी कन्या राशि पर जाने से पूर्व जितना तेज उसका था वह तो सूर्य को प्राप्त नहीं ही होता। प्रत्युत, महत्व रूप तेज घटता ही जाता है। यह कविजनोचित कल्पना है। सारांश यही निकलता है कि अपना मिथ्या अपवाद फैलने से भी मनुष्य को सावधान रहना चाहिए। वही भगवान् ने वहाँ बतलाया है कि तुम्हारा उद्देश्य चाहे अच्छा ही हो, किन्तु परिस्थितिवश वह बुरे रूप में समझा जायगा। इसलिए भी, तुम्हें युद्ध नहीं छोड़ना चाहिए। इससे यही उपदेश मिलता है कि मनुष्य पूर्ण सावधान रहे कि जनता में उसकी झूठी अपकीर्ति भी न फैलने पावे (२।३५)

इसी का विवरण अग्रिम श्लोक में भी किया जाता है कि—"तुम्हें डरा हुआ समझकर तुम्हारे शत्रु लोग तुम पर अवाच्य शब्दों की भी बौछार करेंगे, बिलकुल कायर है; झूठा ढोंग बनाये बैठा था; युद्ध के मैदान में आते ही डर गया; संभवतः यह क्षत्रिय की संतान ही नहीं है इत्यादि बुरी गालियाँ देंगे और तुम्हारे सामर्थ्य की पूर्ण निन्दा करेंगे। आज तक जो विजय तुमने प्राप्त किये हैं, उनमें भी तुम्हारी धूर्तता सिद्ध करेंगे। इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है? (२।३६)

आगे भगवान् कहते हैं कि तुमने जो शंका की है कि हम जीतेंगे या हारेंगे यह भी निश्चय नहीं; सो भाई! इस निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ तो दोनों हाथों में मोदक है। यदि मारे जाओगे तो पूर्व प्रवचनोक्त प्रकार से स्वर्ग प्राप्त कर वहाँ दिव्य भोग प्राप्त करोगे और यदि जीत गए तो इसी लोक में पृथ्वी के भोगों का अर्थात् राज्य-सुखों का उपभोग करोगे। इसलिए दोनों ही पक्षों में उन्नति समझ कर युद्ध करने का निश्चय कर खड़े हो जाओ। (२।३७)

उन्तीसवां-पुष्प

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २।३८

पूर्वोक्त उपदेश सुनकर अर्जुन के या किसी भी श्रोता के मन में प्रथम तो यह शंका हो सकती है कि जब युद्ध के दोनों पक्षों में स्वर्ग प्राप्ति वा राज्य लाभ फल दिखाया जाता है तब क्षत्रिय के लिए युद्ध का विधान एक काम्य कर्म सिद्ध हुआ। स्वर्गादि फल प्राप्ति के उद्देश्य से जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं वे काम्य कर्म ही कहे जाते हैं। नित्य वा नैमित्तिक कर्म तो वे ही होते हैं जिनका कोई विशेष फल प्राप्त न हो, जैसा कि संध्यावन्दनादि नित्य कर्म और ग्रहण स्नानादि नैमित्तिक कर्म, यह कहा जा चुका है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के न करने से ही पाप होता है। काम्य कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता। केवल उसका फल प्राप्त न होना यही हानि होती है। तब यहाँ भगवान् युद्ध को काम्य कर्म बतलाते हुए भी उसके न करने से पाप कैसे बतला रहे हैं। दूसरी अति प्रबल शंका यह होती है कि शुभ क्रिया का नाम धर्म और अशुभ क्रिया का नाम पाप कहा गया। तब जो क्रिया स्वयं अशुभ है वह तो सबके लिए अशुभ ही रहेगी, किसी के लिए वह शुभ कैसे बन जायगी। युद्ध करने में जो गुरु आदि आप्त पुरुषों का वा अन्य योद्धाओं का वध करना एक स्वयं अशुभ कार्य है तो वह क्षत्रिय के लिए शुभ कैसे बन जायगा। स्वरूपतः जो अशुभ है वह तो अशुभ ही रहेगा। तब युद्ध करना और उसमें सब योद्धाओं को विशेषकर गुरु आदि आप्त जनों को मारना तो अशुभ होने के कारण पाप ही है। उसे क्षत्रिय आदि किसी के भी पक्ष में धर्म कैसे कहा जा सकता है। यद्यपि "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" इत्यादि पद्य के प्रवचनों में यह विस्तार से कहा गया है कि देश, काल, पात्र के भेद से कहीं धर्म भी अधर्म और कहीं अधर्म भी धर्म बन जाता है। किन्तु इसका कोई मूल तत्व अभी तक नहीं बतलाया गया कि अशुभ क्रिया शुभ कैसे बन जायगी, वा शुभ अशुभ कैसे बन जायगी। इसलिए यह शंका बनी ही रहती है।

इन दोनों शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

"सुख और दुःख, लाभ और हानि, विजय और पराजय—इन दोनों पक्षों को समान समझते हुए युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ, तब पाप नहीं लगेगा।" युद्ध का साक्षात् फल है जय वा पराजय, इन दोनों को समान समझ लिया जाय अर्थात विजय में हर्ष और पराजय में दुःख न माना जाय, यह इनकी समता हुई। इस विजय वा पराजय से आगे फल होगा लाभ व हानि, अर्थात् विजय प्राप्त होने पर राज्य का लाभ होगा और पराजय होने पर वह संभावित राज्य

फल नहीं मिलेगा; यह हानि होगी। इन दोनों परंपरा प्राप्त फलों को भी समान ही माना जाय, अर्थात् राज्य प्राप्ति का लोभ और न मिलने का विषाद न किया जाय। यह परंपरा प्राप्त फलों में समानता हुई। इन हानि लाभों से भी आगे मुख्य फल प्राप्त होंगे सुख और दुःख। अर्थात् राज्य मिल जाने पर अपनी समृद्धि बढ़ने से चित्त की प्रफुल्लतारूप सुख मिलेगा और न मिलने पर विषाद रूप चित्त का संकोच होगा, ये ही सुख, दुःख कहलाते हैं। व्यावहारिक आत्माओं का जो निरूपण धर्मों के प्रवचन में विस्तार से किया गया है उनमें कोई भी नई समृद्धि प्राप्त होने पर उसे अपने स्वरूप में सम्मिलित करने के लिए क्षर आत्मा का विकास होता है अर्थात् वह नई वस्तु को अपने स्वरूप में लेने के हेतु फैलता है। उसके कारण बुद्धि परिच्छिन्न विज्ञानात्मा भी विकास प्राप्त करता है। इसी को हर्ष वा आनन्द कहते हैं और जहाँ अपनी प्राप्त वा संभावित वस्तु हाथ से निकल जाय वहाँ क्षर पुरुष वा विज्ञानात्मा का उतने स्थान में से हट जाने के कारण संकोच होता है वही विषाद कहलाता है। विकास वा सुख के लिए सब प्राणी सदा प्रयत्न करते हैं, विषाद का संकोच से सदा दूर रहना चाहते हैं। ये ही सब क्रियाओं के अन्तिम परम फल हैं। इन्हीं को लक्ष्य कर सुख की प्राप्ति और दुःख रूप विषाद के परिहार के लिए सदा सब प्राणी क्रियाओं में प्रवृत्त वा निवृत्त होते हैं। भगवान् कहते हैं कि इन दोनों परमफल रूप सुख-दुःखों को भी समान माना जाय अर्थात् सुख में विज्ञानात्मा रूप बुद्धि का विकास और दुःख में संकोच रूप विषाद न होने दिया जाय, यही इन दोनों की समता होगी। इस प्रकार की समता से कार्य करने पर पुण्य वा पाप रूप फल प्राप्त नहीं होते। इससे प्रथम शंका का यह समाधान किया गया कि राज्य प्राप्ति वा स्वर्ग सुख रूप फल तुम्हें समझाने को बता दिये गए हैं उनको लक्ष्य रखकर युद्ध रूप कार्य नहीं करना चाहिए। युद्ध तो केवल स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य समझ कर करो। दोनों पक्षों में वे दोनों फल तो आनुषंगिक रूप से प्राप्त हो जायेंगे। उनको लक्ष्य मत बनाओ। एक मुख्य उद्देश्य से कोई कार्य करने पर उसके साथ ही जो अवश्यंभावी फल प्राप्त हो जाता है उसे संस्कृत भाषा में आनुषंगिक कहा जाता है। जैसे तृप्ति के लिए कोई मनुष्य भोजन करने लगा, उसमें साथ ही भिन्न-भिन्न पदार्थों से जिह्वा का आस्वाद भी सिद्ध हो गया। अथवा स्वास्थ्य लाभ के लिए किसी उपवन में भ्रमण करते हुए वहाँ के पुष्प आदि का गन्ध भी प्राप्त हो गया, इत्यादि। इसी प्रकार क्षत्रिय को धर्म बुद्धि से युद्ध करना चाहिए, विजय वा स्वर्ग तो आनुषंगिक रूप से ही प्राप्त हो जायेंगे। इससे भगवान् का आशय यह है कि यदि विजय वा राज्य प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर युद्ध करोगे तो पुण्य पाप अवश्य होगा। किन्तु केवल धर्म वा कर्तव्य बुद्धि से फल निरपेक्ष होकर कार्य करने से पुण्य पाप नहीं लगते। इसी से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी शंका का समाधान भी इस पद्य में सूचित किया है कि कोई भी क्रिया चाहे वह शुभ मानी जाय चाहे अशुभ अपने स्वरूप से आत्मा को बन्धन में नहीं डाल सकती। अर्थात् पुण्य वा पाप उत्पन्न नहीं कर सकती। जब

तक कि आत्मा में राग द्वेष न हों। आत्मा स्वरूपतः असंग है। उस पर क्रिया के द्वारा कोई विशेष पुण्य-पाप रूप उत्पन्न नहीं किये जा सकते। जब प्रकृति के तमोगुण द्वारा राग वा द्वेष आत्मा को अपने रूप में बद्ध कर लेते हैं तब आत्मा में वह राग-द्वेष रूप मुख बन जाता है। उसी मुख के द्वारा क्रिया जनित पुण्य वा पाप उसमें प्रवेश पाते हैं। बिना राग द्वेष के असंग आत्मा में कोई क्रिया अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। आत्माओं के विवरण में मनोगत चैतन्य रूप जो प्रज्ञानात्मा बतलाया गया है उसको राग और द्वेष एक ओर खींच कर तदनुगामी बना देते हैं। यही कर्म बन्ध के लिए आत्मा का मुख हो जाता है। ये राग-द्वेष अज्ञान जनित हैं, इसलिए वेदान्त दर्शन में कर्मबन्ध को अज्ञान जनित ही कहा गया है और ज्ञान रूप अग्नि को सब कर्मों का भस्म कर देने वाला भगवद्गीता ने ही बतलाया है। सबका तात्पर्य यही होता है कि अज्ञान जनित राग-द्वेष के बिना आत्मा में कर्मबन्ध नहीं हो सकता। जैन दर्शन में भी इस विषय का विस्पष्ट वर्णन मिलता है। वहाँ जड़ कर्मरूप पुद्गलों का चेतन आत्मा से सम्बन्ध आस्रव द्वारा बताया जाता है, और आस्रव के स्वरूप में राग-द्वेष आदि को ही अपनी परिभाषा के रूप में लिया जाता है। इसका विरोधी एक "संवर" नाम का तत्व वहाँ माना जाता है जो आत्मा पर कर्म पुद्गलों को नहीं आने देता और निर्जरा नाम से एक ऐसा तत्व माना जाता है जो आत्मा में बँधे हुए कर्मों को भी उससे पृथक् कर गिरा देता है। यह सब केवल शब्दों का परिभाषा भेद मात्र है। तात्पर्य जैन व बौद्ध दर्शनों का भी यही है कि बिना राग-द्वेष के आत्मा के साथ कर्मबन्ध नहीं हो सकता। इसी का विवरण भगवद्गीता में आगे के अध्यायों में कई बार विस्तार से होगा। उसी का यहाँ संकेत किया गया है कि यदि सम बुद्धि से कर्म करोगे अर्थात् अनुकूल वस्तु में राग और प्रतिकूल वस्तु में द्वेष न करोगे; ज्ञान द्वारा समभाव आत्मा में रक्खोगे तो पुण्य-पाप का बन्धन न होगा।

यही कर्म योग का मुख्य सिद्धान्त है कि राग-द्वेष के बिना समत्व बुद्धि से कर्म करते रहना। कई व्याख्याकारों के मत से इस श्लोक से कर्मयोग का प्रारंभ हो जाता है। यद्यपि कर्म योग के प्रारंभ की प्रतिज्ञा अग्रिम पद्य में है। किन्तु संक्षेप में उसका सूत्रपात इसी पद्य में कर आगे उसका विवरण करने की प्रतिज्ञा की है, ऐसी संगति कई व्याख्याकार लगाते हैं। वस्तुतः यह मध्य का पद्य है, इसे दोनों ही ओर लगाया जा सकता है। यहां द्वितीयाध्याय के आत्म निरूपण का प्रकरण समाप्त कर आगे कर्मयोग के प्रकरण का प्रारम्भ होता है। यह कई बार कहा जा चुका है कि गीता का द्वितीयाध्याय सूत्ररूप है। सब उपदेशों का संकेत इसमें कर दिया गया है। आगे के अध्यायों में एक एक विषय का विशेष विवरण होता रहेगा। अस्तु, पूर्व कह चुके हैं कि आत्म-ज्ञान का प्रकरण तीसवें श्लोक पर ही समाप्त होचुका है। आगे आत्मा को निर्लिप्त समझ कर भी कर्म किस प्रकार किया जाय, इसका संकेत आठ श्लोकों में किया है। इन सबका

तात्पर्य शांकर सिद्धान्त के अनुयायी व्याख्याकार यही लगाते हैं कि निर्विकार, निर्गुण आत्मा का जब तक पूर्ण ज्ञान न हो, उसकी अवगति अर्थात् साक्षात्कार (प्रत्यक्षके समान अविचलित ज्ञान) जब तक न हो जाय तब तक स्वधर्मानुकूल कर्म करते रहना चाहिए। और उसी का इस पद्य में उपसंहार है कि वह स्वधर्मानुकूल कर्म समत्व बुद्धि से करना चाहिए। यदि स्वधर्म भी राग-द्वेष पूर्वक किया जायगा तो राग-द्वेष के कारण वह बन्धक अवश्य होगा और बन्धक होने पर आत्मज्ञान में उससे सहायता न मिलेगी प्रत्युत् बुद्धि में विकृति होकर आत्म ज्ञान में अधिकाधिक विघ्न उपस्थिति होते जायेंगे। इस लिए समत्व बुद्धि से ही कर्म करने का अभ्यास आत्मज्ञान के पथिक को करना चाहिए। इस प्रकार पूर्व के आत्म ज्ञान के प्रकरण के साथ भी इस पद्य की संगति लग सकती है। इसी प्रकार के कर्म करने का विवरण आगे कर्मयोग नाम से विस्तार से किया गया है। अर्थात् संक्षिप्त सूत्र आत्म ज्ञान प्रकरण में कह दिया और विस्तार आगे कर्मयोग प्रकरण में किया, इसलिए कर्मयोग के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा आगे विस्तार के आरंभ में करना असंगत नहीं है।

व्याख्याकारों के भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराते हुए हम प्रथमाध्याय के "गीता के व्याख्याकार" शीर्षक प्रवचन में कह चुके हैं कि शांकर सिद्धान्त में मुक्ति में केवल ज्ञान का उपयोग है। सब कर्मों का वहां संन्यास हो जाता है। इसलिए जितने भी कर्म हैं चाहे वे स्वधर्म हों वा उसके विपरीत हों सब ज्ञान की पूर्व दशा में ही किये जाते हैं। स्वधर्माचरण भी साधन दशा में ही उपयोगी होता है। इस सिद्धान्त में कर्म योग का प्रतिपादन भी अधिकार सिद्धि के लिए ही है। अवगति पर्यन्त ज्ञान प्राप्त करा देना ही कर्मयोग का अन्तिम लक्ष्य है। इसके अनन्तर ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास ही हो जाता है जैसा कि "कं घातयति हन्ति कम्" इत्यादि के व्याख्यान में लिख चुके हैं। इसके विपरीत श्री रामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्त में ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय अर्थात् दोनों मिलकर मुक्ति के कारण बनते हैं। इस सिद्धान्त में ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी कर्मों का संन्यास नहीं होता; किन्तु मुक्तिके उपयोगी स्वधर्माचरण और भगवद्भजन आदि कर्म चलते रहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के प्रकरण के अनन्तर कर्मयोग का प्रकरण आना युक्ति युक्त ही है। क्योंकि ज्ञान प्राप्त कर समत्व बुद्धि से कर्म करते रहने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, जैसा कि जैनदर्शन के आरंभिक सूत्र में ही कहा गया है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् सम्यक् ज्ञान के अनुकूल चित्तवृत्ति बनाना, वैसा ज्ञान प्राप्त करना और फिर अनुकूल आचरण करते रहना ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं। केवल ज्ञान मात्र व केवल कर्ममात्र से मुक्ति नहीं मिलती। यही ज्ञान कर्म समुच्चय वाद कहा जाता है जिसका गीता के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने स्थान स्थान पर खंडन किया है। इससे अनुमान होता है कि श्री शंकराचार्य के पूर्व के व्याख्याता भी गीता में ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद मानते थे। श्रीशंकराचार्य और उनके

अनुयायी अधिकतर व्याख्याकारों ने इस सिद्धान्त को नहीं माना किन्तु श्री रामानुजाचार्य आदि ने उसी सिद्धान्त को फिर प्रतिष्ठापित किया। श्री शंकराचार्य के पूर्व की कोई व्याख्या प्राप्त न होने से यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूर्व व्याख्याताओं के ज्ञान कर्म समुच्चयवाद और श्री रामानुजाचार्य के ज्ञान कर्म समुच्चयवाद में कितना भेद है वा सर्वथा समानता है किन्तु श्री शंकराचार्य के लेखों से केवल इतना ही अनुमान होता है कि इनसे पूर्व भी ज्ञान कर्म समुच्चयवाद किसी न किसी रूप में था।

लोकमान्य तिलक मुक्ति में तो कर्म का उपयोग नहीं मानते, किन्तु पूर्ण ज्ञानी को भी सर्वकर्म संन्यास न कर, लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहना चाहिए इस प्रकार का कर्मयोग गीता का प्रतिपाद्य मानते हैं जिसकी व्याख्या आगे के कर्मयोग सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पद्यों में आती रहेगी। श्री विद्यावाचस्पति जी ने विज्ञान भाष्य के प्रथम प्रकरण में कर्म ही दो प्रकार के बतलाए हैं, एक आवरक कर्म हैं जो कि बुद्धि के सात्विक रूप ज्ञान आदि के विरोधी हैं, और दूसरे अनावरक कर्म, अर्थात् आत्मा के स्वभावसिद्ध हैं, बुद्धि के सात्विक रूपों का आवरण नहीं करते। इन्हें ही गीता में सहज कर्म नाम से कहा गया है। इस सिद्धान्त का विशेष विवरण भी "सहजं कर्म कौन्तेय" इत्यादि पद्य की व्याख्या में विस्पष्ट रूप से करेंगे। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि यहां से आगे गीता में दूसरे प्रकरण में कर्मयोग सिद्धान्त का आरम्भ होता है, और इनका विशद विवेचन तृतीयाध्याय के आरम्भिक पद्यों में स्फुट रूप से किया जायगा। इस प्रकार यह मध्य का पद्य दोनों ओर ही लग सकता है। इस से पूर्व सांख्य प्रकरण का उपसंहार कह लीजिए अथवा आगे के कर्मयोग का यहीं से आरम्भ कह लीजिए। दोनों ही प्रकार संगति बैठती है और दोनों ही प्रकार की व्याख्याएँ भी मिलती हैं।

हमारे विचार से इसे पूर्व सांख्यप्रकरण के साथ ही रखना चाहिए। क्योंकि कर्मयोग कहने की प्रतिज्ञा अग्रिम पद्य में है। इसका पहले आरम्भ मानना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। प्रतिज्ञा से पूर्व ही आरम्भ कहीं नहीं किया जाता। वेदान्त ग्रन्थ पञ्चदशी में कहा गया है कि मुमुक्षु के लिए ज्ञान, वैराग्य और उपरति तीनों अपेक्षित हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्मवश कहीं एक ही और कहीं दो होते हैं। एक वा दो का अभाव रह जाता है। यदि ज्ञान हो गया, किन्तु वैराग्य व उपरति न हुई तो शरीर त्याग के अनन्तर मुक्ति तो अवश्य प्राप्त हो जायगी क्योंकि मुक्ति के लिए ज्ञान ही परमावश्यक है। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"। उपरति और वैराग्य के बिना इतना ही होगा कि जीवन मुक्ति का भोग इस शरीर से न हो सकेगा। और उपरति और वैराग्य हो गए किन्तु तत्त्वज्ञान पूर्ण न हुआ तो मुक्ति नहीं हो सकती, उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी और फिर आगे ज्ञान के लिए प्रयत्न चलता रहेगा, इत्यादि। इससे प्रकृत में यही कहना है कि ज्ञानी पुरुष भी प्रारब्धवश उपरति प्राप्त न होने पर कर्म करता

रहता है, ऐसा प्राचीन वेदान्ती भी मानते हैं। और लोकमान्यतिलक ने तो जनकादि के दृष्टान्त से ज्ञानी का भी कर्म करना दृढ़ता से सिद्ध किया है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी भी यदि कर्म करे तो साम्यबुद्धि से ही करे जिससे कि उसके तत्त्वज्ञान के मार्ग में कोई बाधा न पड़े, यही उपदेश इस पद्य के द्वारा दिया गया। इससे इसका पूर्व के सांख्य प्रकरण के साथ सम्बन्ध भली-भाँति हो जाता है। यह दूसरी बात है कि यह समत्व बुद्धि दोनों ही मार्गों में न केवल उपकारक किन्तु उनकी जीवातु भूत है इस पद्य का पूर्व से सम्बन्ध मान लेने पर "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा" यह उपदेश पुनरुक्त भी नहीं होता; जैसा कि उस पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा। जब फल ही अपेक्षित नहीं है; फल में साम्यबुद्धि है; तो फिर कर्म होगा ही क्यों ? यदि ईश्वराराधन वा लोक संग्रह के लिए कर्म करना माना जाय तो वही फल हो गया। फिर सर्वथा फलत्याग तो नहीं बना। इन दोनों शंकाओं का समाधान भी उसी पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा। तात्पर्य यही है कि कर्म कुछ फल तो अवश्य देगा; किन्तु किसी भी फल पर चाहे वेदोक्त स्वर्गादि वा चित्तशुद्धि, लोक संग्रह ईश्वराराधनादि, इनमें से किसी पर दृष्टि रखकर कर्म नहीं करना चाहिए। कर्म केवल अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए। इस प्रकार किया हुआ कर्म बन्धक नहीं हो सकता। अर्थात् उससे आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। यही प्रकृत पद्य में उपदेश है।

तीसवाँ-पुष्प

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमं शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ २।३९

"हे पार्थ। यह तुझे सांख्य के विषय का ज्ञान कहा गया है। अब योग विषय में जानने योग्य विषय सुनो। इस बुद्धि से युक्त होकर कर्म करते हुए तू कर्म बन्धन से छूट जायगा।"

पूर्वोक्त उपदेश सुनकर पुनः यह शंका हो सकती है कि भगवान् ने आत्म-तत्व का उपदेश किया और आत्मा को सर्वथा निर्लिप्त, अविनाशी और अकर्ता बताया। जब वह अकर्ता ही है तो फिर युद्ध का आदेश क्यों दिया जाता है। भगवान् यह भी कहते जाते हैं कि विनाशी शरीर पर दृष्टि मत करो, आत्मा पर दृष्टि रक्खो। साथ ही आत्मा को अकर्ता भी कहते जाते हैं और फिर युद्ध का विधान भी करते हैं कि युद्ध अवश्य करो; यह कैसी पहेली है। जब आत्मा अकर्ता ही है तो वह युद्ध कैसे करे। शंका के निवारणार्थ यहाँ विषय विभाग करते हुए यह सूचित करते हैं कि अब दूसरे प्रकार की बात बतलाई जाती है। इस विषय विभाग का आगे तृतीयाध्याय में विशेष उपयोग होगा।

"सांख्य और योग शब्द का अर्थ"

प्रसिद्धि में सांख्य और योग नाम के दो दर्शन इन शब्दों से कहे जाते हैं। कपिल ऋषि का प्रणीत शास्त्र सांख्य नाम से और पतंजलि का प्रणीत शास्त्र योग नाम से समझा जाता है। किन्तु भगवद्गीता में ये दोनों शब्द इन अर्थों के वाचक हैं ऐसा किसी भी गीता के व्याख्याकार ने नहीं माना। कारण यह है कि प्रसिद्ध सांख्य दर्शन में ईश्वर को या पुरुष को कर्ता नहीं माना जाता। ईश्वर नाम के किसी विशेष तत्व का वहाँ निरूपण ही नहीं है और प्रकृति से भिन्न पुरुष यद्यपि माना गया है किन्तु वह कर्ता नहीं है। भगवद्गीता में तो संपूर्ण कर्तृत्व भगवान् ने अपने ऊपर लिया है जैसा कि "अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्", में कह चुके हैं कि अविनाशी एक वही तत्व है जो संपूर्ण प्रपंच का बनाने वाला है और वही सत्य है। तब इतना बड़ा सिद्धान्त-भेद होने के कारण कपिल का सांख्य दर्शन यहाँ अभिप्रेत नहीं हो सकता। भागवत धर्म के विस्तार से निरूपण करने वाले श्रीमद्भागवत में जो भगवदवतार कपिल का अपनी माता को उपदेश है जो कि सांख्य दर्शन का मूल कहा जा सकता है—वह भी भगवद् भक्ति प्रधान है। इसलिए निरीश्वरवादी प्रसिद्ध सांख्यदर्शन के साथ उसका भी समन्वय कथमपि नहीं हो सकता इसलिए पुराणोक्त सांख्य प्रक्रिया ही दूसरी है यह मानना पड़ेगा। गीता में तो प्रकृति की स्वतन्त्रता भी सर्वथा नहीं

मानी गई जैसा कि आगे स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा। इसलिए यहाँ का सांख्य पद प्रसिद्ध सांख्य दर्शन का वाचक नहीं माना जा सकता। पतंजलि के योग में भी यम, नियम आदि अष्टांग योग का केवल उपदेश है किन्तु गीता में योग शब्द को कर्म मात्र के व्यापक अर्थ में लिया गया है। यहाँ योग के उपदेश की प्रतिज्ञा कर जो उपदेश दिया गया है वह भी समाधि-प्रधान अष्टांग योग से सम्बन्ध नहीं रखता। यद्यपि छठें अध्याय में समाधि रूप योग का निरूपण भी गीता में आवेगा किन्तु केवल वही योग यहां योग शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर यहाँ से आरम्भ कर पंचमाध्याय पर्यन्त जो बार-बार योग शब्द आया है उसकी संगति नहीं लग सकती। इसलिए वह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि गीता में जो सांख्य और योग शब्द आए हैं उनका अर्थ क्या है ?

प्रायः सभी व्याख्याकार सांख्य शब्द का अर्थ परतत्व ज्ञान ही करते हैं। "सम्" उपसर्ग रखकर "ख्या" धातु से संख्या" शब्द बनाया जाता है जिसका अर्थ सम्यक् ज्ञान अथवा तत्व ज्ञान ही होता है। उस संख्या शब्द से स्वार्थ में "अण्" प्रत्यय करने पर, सांख्य शब्द सम्यक् ज्ञान का ही वाचक सिद्ध होता है। अथवा "संख्यया प्रवर्तन्ते इति सांख्याः", ऐसी व्युत्पत्ति कर "अण्" प्रत्यय करने से संख्या के अनुसारी तत्वज्ञानी पुरुषों का बोध भी "सांख्य" पद से हो सकता है। आगे कई स्थानों में सांख्य शब्द का इस प्रकार का अर्थ भी सुसंगत होगा। किन्तु उस श्लोक में "सांख्ये बुद्धिः" (सांख्य विषयक ज्ञान) ऐसा कहा गया है। इसलिए उक्त दोनों अर्थ यहाँ संगत नहीं होते। ज्ञान विषयक ज्ञान यह अर्थ भी संगत नहीं होता और ज्ञानी पुरुषों के विषय में भी यहाँ कुछ कहा नहीं गया है। इसलिए इस पद्य में सांख्य शब्द के अर्थ की भिन्न-भिन्न कल्पना व्याख्याकारों ने की हैं। श्री शंकराचार्य "सम्यक् ख्यायते इति संख्या, तदेव सांख्यम्" ऐसी व्युत्पत्ति मानकर वस्तु विवेक ही सांख्य शब्द का अर्थ मानते हैं। इससे अपरमार्थ और परमार्थ दोनों का विवेक करने वाला ज्ञान अभी तुझे बताया गया है ऐसा अर्थ संगत हो जाता है। कोई व्याख्याकार सांख्य शब्द का अर्थ ज्ञान ही मानते हैं। किन्तु बुद्धि पद की "बुध्यतेऽनया" ऐसी व्याख्या कर उसका वाक् अर्थ करते हैं। श्री रामानुजाचार्य आदि ज्ञानवाचक सांख्य शब्द की बुद्धि-गम्य आत्मतत्व में लक्षणा मानकर आत्म विषयक अबतक कही गई, यह अर्थ लगाते हैं। अन्य अनेक व्याख्याकारों ने सम्यक् ज्ञान के बोधक उपनिषद् शास्त्र को सांख्य पद का वाच्य मानकर उस उपनिषत् में प्रतिपादित आत्म तत्त्व को यहां सांख्य पद का लाक्षणिक अर्थ मान लिया। इस प्रकार आत्मतत्व विषयक ज्ञान अब तक कहा गया यह अर्थ निकल आया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति के भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में होने पर भी अर्थ एक ही निकलता है कि अबतक आत्म तत्व विषयक ज्ञान बतलाया गया है। अब आगे योग का ज्ञान बताया जाता है, इत्यादि। लोकमान्यतिलक सर्वत्र सांख्य शब्द का अर्थ "ज्ञानपूर्वक कर्म संन्यास" करते हैं। उनका अर्थ यद्यपि आगे कई जगह सुसंगत होगा, किन्तु इस पद्य में

ऐसा अर्थ करने पर "ज्ञान पूर्वक कर्म संन्यास" की बुद्धि अब तक कही गई यह अर्थ प्राप्त होगा। इसमें कठिनता यह आती है कि अभी तक कर्म सन्यास की बात गीता में आई नहीं है। फिर कर्म संन्यास विषय की बात अबतक कही यह कैसे सुसंगत होगा। यद्यपि हम अपने प्रवचन में कह चुके हैं कि "कंघातयति हन्ति कम्" इस पूर्वोक्त पद्य भाग से श्री शंकराचार्य ने कर्म संन्यास की ध्वनि निकाली है। किन्तु लोकमान्यतिलक ने उस पद्य का वैसा अर्थ नहीं माना। अर्थात् वहाँ नित्य होने के कारण हनन क्रिया का ही निषेध माना है। हनन क्रिया को उपलक्षण मानकर कर्म मात्र का निषेध आत्मा में बोधित करने की व्याख्या उन्होंने नहीं की। तब अबतक "ज्ञान पूर्वक कर्म संन्यास" की बात कही गई है यह कथन सुसंगत नहीं होता।

योग शब्द का अर्थ भी प्रायः कर्मयोग ही व्याख्याकारों ने माना है। किन्तु कर्मयोग का क्या उपयोग है इस विषय में भिन्न सांप्रदायिकों का बहुत मतभेद है। श्री शंकराचार्य ईश्वराराधन पूर्वक अनासक्ति से किये गये कर्म और पातंजल योग में बताई गई चित्त की एकाग्रता रूप समाधि इन दोनों को ही इस पद्य के योग शब्द का अर्थ मानते हैं। अर्थात् ये दोनों ही बातें आगे कही जायेंगी। कह चुके हैं कि छठे अध्याय में समाधिरूप योग का भी निरूपण होगा। ये दोनों ही कर्मयोग और समाधि योग ज्ञान प्राप्ति के उपाय हैं। उन उपायों का कथन यहां से आरंभ किया जाता है। उनके अनुयायी व्याख्याकार इसका यही आशय निकालते हैं कि अब तक तुम्हारा शोक और मोह हटाने के लिए आत्म-तत्व ज्ञान का उपदेश तुम्हें दिया गया। किन्तु यह उपदेश यदि तुम्हारी बुद्धि में अभी नहीं बैठता तो बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए पहिले तुम कर्मयोग और यम नियम आदि अष्टांग योग का अभ्यास करो। इससे बुद्धि स्वच्छ होने पर फिर आत्मतत्व ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो जायगा। यद्यपि आत्म-ज्ञान प्राप्ति के मुख्य उपाय श्रवण, मनन और निदिध्यासन श्रुति में बतलाए गए हैं। किन्तु मलिन अन्तःकरण वाले की श्रवण आदि में भी प्रवृत्ति नहीं होती। उसका अन्तःकरण सांसारिक विषयों की ओर ही झुकता है। वह जगद्विलक्षण आत्मतत्व के जानने के लिए श्रवण आदि उपाय करना भी नहीं चाहता। इसलिए उन अन्तरंग साधनों से भी पहिले कर्मयोग करना चाहिए जिससे कि बुद्धि निर्मल हो और आत्मज्ञान की ओर झुकाव हो सके। अर्जुन अभी तक इसी कर्मयोग का अधिकारी माना गया है। वह न साक्षात् ज्ञान का अभी अधिकारी है और न अन्तरंग साधन श्रवण आदि का ही अधिकार उसे प्राप्त है। इसलिए यद्यपि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञान योग ही है किन्तु उसमें अधिकार प्राप्त कराने के लिए उपाय रूप से कर्मयोग का भी उपदेश भगवान् को करना पड़ा। कर्म योग के अनुष्ठान से जब बुद्धि निर्मल हो जायगी तब ज्ञान प्राप्तकर मुक्ति पा सकेंगे यही भगवान् का अभिप्राय है। कर्मयोग का कथन बहिरंग उपायरूप से ही किया जाता है यह आशय श्री शांकर सम्प्रदाय के अनुयायी व्याख्याकारों का है। यह भी इस संप्रदाय के व्याख्याकारों ने कहा है

कि यहां "योगे तु इमां शृणु" इस तु शब्द से दोनों के अधिकारी भिन्न-भिन्न ही सिद्ध होते हैं। जो कि आगे तृतीयाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट किया जायगा। इससे दोनों के समुच्चयवाद की कल्पना ही नहीं हो सकती।

श्री रामानुजाचार्य ज्ञानकर्म समुच्चय से मोक्ष मानते हैं यह पूर्वपक्ष की व्याख्या में कहा जा चुका है। तदनुसार उन के मत में यह संगति स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म दोनों के मिलने पर मुक्ति प्राप्त होगी। ज्ञान का उपदेश तुम्हें किया जा चुका, अब कर्म किस प्रकार करना, इसका उपदेश सुनो—दोनों को मिलाने से मुक्ति प्राप्त कर सकोगे। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मयोग का निरूपण उपाय रूप से नहीं किन्तु ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी उसका अनुष्ठान करना ही चाहिए। इस प्रकार अनुष्ठेय रूप से ही कर्मयोग का उपदेश आरम्भ किया जाता है। श्री आनन्दतीर्थ आचार्य ने भी कर्मयोग को उपायरूप से ही माना है। पूर्व पद्य के प्रवचन में कहा जा चुका है कि लोकमान्य तिलक मुक्ति में तो कर्म का उपयोग नहीं मानते। मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है इस अंश में वे श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं। किन्तु गीता का प्रतिपाद्य मुख्य कर्मयोग ही है यह उनका सिद्धान्त श्री शंकराचार्य से विलक्षण है। कर्मयोग ज्ञान का केवल उपाय भूत नहीं। ज्ञान सिद्धि के लिए भी कर्मयोग अपेक्षित है और ज्ञान प्राप्ति के अनंतर भी कर्मयोग करते ही रहना चाहिए यह गीता का सिद्धान्त उनके मत में है। जब मोक्ष में उसका उपयोग नहीं तो कर्म क्यों किया जाय इसका समाधान आगे "लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि" इत्यादि पद्य की व्याख्या में विशेष रूप से किया जायगा। यद्यपि लौकिक पुरुषों की कर्म करने की प्रक्रिया दूसरी है जिसका अनुवाद न्याय दर्शन में हुआ है—

ज्ञान जन्या भवेदिच्छा इच्छा जन्या कृतिर्भवेत्
कृतिजन्यं भवेत् कर्म—

अर्थात् पहिले मनुष्य को "यह वस्तु मेरे लिए उपयोगी है" ऐसा ज्ञान होता है। उसके अनन्तर उसके प्राप्त करने की इच्छा होती है। वह इच्छा दो प्रकार की है एक फल की इच्छा और दूसरी उपाय करने की इच्छा। फल की इच्छा उपाय की इच्छा में कारण होती है। अर्थात् फल प्राप्ति की इच्छा से ही उपाय करने की भी इच्छा होती है। उस उपायेच्छा से आत्मा में प्रेरणारूप एक प्रयत्न उठता है और उससे शरीर की चेष्टारूप कर्म होता है। यही लौकिकों की प्रक्रिया है। किन्तु कर्मयोग में बिना फलेच्छा के भी प्रयत्न आदि होते हैं, वे किस उद्देश्य से होते हैं यह लोक संग्रह में स्पष्ट किया जायगा। यहां इतना ही कहना है कि लोकमान्य तिलक गीता में कर्मयोग को ही प्रधान मानते हैं और उनके मतानुसार यहां से प्रधान प्रकरण का आरम्भ है। कर्मयोग किसी का अंग नहीं, वह प्रधान है, प्रत्युत ज्ञान ही उसका अंग है, क्योंकि लोकमान्य तिलक ने "ज्ञान मूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग" को गीता का प्रतिपाद्य माना है। इसलिए कर्मयोग

के मूल में ज्ञान अवश्य होना चाहिए। बिना ज्ञान के अनासक्ति भी नहीं हो सकती। इनके मतानुसार गीता में बिना किसी उपपद के प्रयुक्त योग शब्द का अर्थ कर्म योग ही है। और ज्ञान योग तथा कर्मयोग दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं जिनका कि विवरण तृतीयाध्याय के आरम्भ में मूल गीता में ही होगा।

विज्ञान भाष्य के प्रणेता श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार गीता में बिना उपपद के आए हुए योग शब्द का अर्थ सर्वत्र बुद्धि योग है—"ददामि बुद्धियोगं तम्"—"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते", इत्यादि अनेक स्थानों में बुद्धियोग पद का प्रयोग भगवान् ने किया है। अन्य व्याख्याकार बुद्धियोग का अर्थ ज्ञानयोग ही कर देते हैं। किन्तु विद्यावाचस्पति जी जो बुद्धियोग का व्यापक अर्थ लेते हैं "गीता के व्याख्याकार" शीर्षक प्रवचन में संक्षेप से इनका सिद्धान्त बतलाया जा चुका है कि बुद्धि के आठ भेद होते हैं—चार सात्त्विक और चार तामस, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार सात्त्विकरुप होते हैं। जो कि ईश्वर में भी हैं। और अधर्म, अज्ञान, अवैराज्ञ, अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं जिनका ईश्वर में स्पर्श भी नहीं। ये जीव की ही सम्पत्ति हैं। इन्हीं तामस रूपों को योग दर्शन में पंचक्लेश नाम से कहा गया है। वैराग्य के प्रतिद्वन्द्वी राग और द्वेष दो मान लिए गए। राग ही अन्य किसी से प्रतिहत होने पर द्वेष रूप हो जाता है और इन दोनों राग द्वेषों की अतिमात्रा मोह के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए कहीं कहीं राग, द्वेष, मोह तीनों को हेय गणना में गिना गया है। किन्तु पंचक्लेशों में मोह का पृथक् समावेश नहीं किया जाता। उसे राग वा द्वेष की अतिमात्रा समझकर दोनों में अन्तर्गत ही मान लिया जिस पदार्थ के सम्बन्ध से बुद्धि का उल्लास हुआ हो उसमें आसक्ति होकर उसकी ओर बार बार आकर्षण होना राग कहलाता है। राग से उस पदार्थ को प्राप्त करने की बार बार इच्छा हुआ करती है। और जिन कण्टकादि पदार्थों के सम्बन्ध से बुद्धि में संकोच नामक घृणा उत्पन्न हुई उनसे निवृत्त होने की, बचने की, जो इच्छा होती है वही द्वेष कहलाता है। हम राग से जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहें उसमें प्रतिबन्धक यदि कोई अन्य प्राणी बन जाय तो उस प्राणी के प्रति जो हमारी असद् भावना हो उसे भी द्वेष कहते हैं। तात्पर्य यह कि अनुकूल भावना राग और प्रतिकूल भावना द्वेष है। इन दोनों की निवृत्ति के लिए वैराग्य नाम के बुद्धि के सात्विक भाव को दृढ़ और उन्नत बनाना आवश्यक है। वैराग्य भावना के दृढ़ होने पर रागद्वेष निवृत्त हो जाते हैं। तीसरा क्लेष अविद्या वा अज्ञान नाम से कहा जाता है। ये क्लेशों में गिने हुए अविद्या वा अज्ञान अभावरूप नहीं हैं। किन्तु यहाँ का नञ् विरोध का प्रतिपादक है। इसलिए तत्वज्ञान का आवरण करनेवाली वृत्ति को अविद्या वा अज्ञान कहते हैं। जिस वस्तु का कुछ अंश ज्ञात हो और कुछ अंश अज्ञात वह अज्ञान से आवृत्त ज्ञान अविद्या की ही श्रेणी में आता है। जैसा कि कोई मनुष्य हमारी ओर आ रहा है यह तो हमने जान लिया, किन्तु यह हमारे अनुकूल है वा प्रतिकूल यह ज्ञान न हुआ तो वह

अज्ञान से आवृत ज्ञान कहलाता है। इसीसे भय दुःख आदि हुआ करते हैं। अन्य वस्तु को अन्य रूप से जान लेना यह भ्रम और निश्चित रूप से किसी वस्तु को न जानना यह संशय कहलाता है। ये सब भी अविद्या के ही अन्तर्गत हैं। यह अविद्या ही सब क्लेशों की मूल है। बिना अविद्या के कोई अन्य क्लेश उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसकी निवृत्ति बुद्धि के सात्विक रूप ज्ञान से होती है। वह ज्ञान तत्वज्ञान रूप है। तत्वज्ञान हो जाने पर अज्ञान का आवरण निश्चित रूप से हट जाता है।

चौथा क्लेश अस्मिता है। जीव ईश्वर से अभिन्न होने के कारण व्यापक और सर्वशक्तिमान् है। किन्तु तमोगुण की जो शक्ति हमें परिच्छिन्न अतिलघु वा अति अल्प शक्तिवाला बता देती है वही बुद्धि का धर्म अस्मिता है। बुद्धि ही व्यापक आत्मा को परिच्छिन्न और सर्वशक्तिमान् को अति अल्प शक्तिवाला बनाती व बतलाती है। आगे उस परिच्छिन्न जीव में भी और तारतम्य होते हैं। बालक की प्रज्ञा, प्राण आदि बहुत अल्प हैं। युवावस्था में उनका कुछ विकास और वृद्धावस्था में पुनः संकोच हो जाता है, अशिक्षितों की शक्ति अत्यल्प रहती है, शिक्षा से उसका कुछ विकास होता है, विस्मृति से पुनः संकोच होता है। व्यायाम से शारीर शक्ति का विकास और रोग आदि से संकोच हो जाता है। ये सब संकोच भी अस्मिता क्लेश के अन्तर्गत ही समझे जाते हैं। प्राणी को जितना अपनी शक्ति की अल्पता का ज्ञान हो उतना ही वह दुखी रहता है। शक्ति विकास का अनुभव होने पर सुखी हो जाया करता है। इसीलिए संकोचरूप अस्मिता को क्लेशों में गिना गया है। इसका बुद्धि के सात्विक रूप ऐश्वर्य से समूल उन्मूलन हो जाता है। ऐश्वर्य नाम अधिक शक्ति का है। सर्वाधिक शक्तिमान् को ही ईश्वर कहा करते हैं। बस ज्यों ज्यों बुद्धि में सात्विक रूप का उदय होने पर अपनी अल्पता वा अल्प शक्ति का अभाव ज्ञात होता जायगा अर्थात् मैं बहुत बड़ा और बहुत शक्तिशाली हूँ ऐसी बुद्धि जितनी मात्रा में होगी उतनी ही मात्रा में अस्मिता क्लेश निवृत्त होता जायगा। अस्मिता की अत्यन्त निवृत्ति होने पर जीव ईश्वर रूप ही हो जायगा। इसलिए अस्मिता का निवर्तक ऐश्वर्य है।

पांचवां क्लेश अभिनिवेश है। यह सबसे अधिक दुष्ट है। अपने बन्धन में लेकर यह प्राणी को अत्यन्त पराधीन कर देता है, जो कुछ हम जानते हैं उस ज्ञान का भी एक संस्कार व्यावहारिक आत्मा में रहता है विज्ञान स्वयं तो निवृत्त हो जाता है किन्तु अपना एक संस्कार छोड़ जाता है। उसे ही शास्त्र में भावना कहा जाता है। जिससे जानी हुई वस्तु का बार बार स्मरण हुआ करता है। इसी प्रकार जो कुछ हम अच्छा या बुरा कर्म करते हैं वह कर्म भी स्वयं तो निवृत्त हो जाता है किन्तु अपना एक संस्कार शरीर बुद्धि और व्यवहारिक आत्मा पर छोड़ जाता है। शरीर पर छोड़े हुए कर्मजनित संस्कार का श्रम रूप से स्पष्ट अनुभव होता है। किन्तु त्रिगुणात्मक बुद्धि वा व्यावहारिक आत्मा पर जो

परिवर्तन इन शुभ अशुभ कर्मों द्वारा होते हैं वे अतिसूक्ष्म होने के कारण अनुभव में नहीं आते। इसीलिए शास्त्रों में उन्हें अदृष्ट नाम से कहा जाता है। इन्हीं संस्कारों की शास्त्रीय संज्ञा वासना है। क्योंकि ये जब तक अपना फल न दे दें तब तक आत्मा में बसते रहते हैं। और अपने रूप से आत्मा को वासित करते हैं जैसे कि कोई रंग श्वेत वस्त्र को वासित कर देता है अथवा पुष्पों का गन्ध वायु को वासित कर देता है। इसी अर्थ में वासना शब्द का प्रयोग है। मीमांसा दर्शन में इसी वासना को अपूर्व नाम से और न्याय आदि में अतिशय वा अदृष्ट नामसे कहा जाता है। इन्हीं दोनों भावना और वासनाओं का हृदय में ग्रन्थि बन्धन हो जाना अभिनिवेश कहलाता है। वह अभिनिवेश बुद्धि के सात्विक रूपों को सर्वथा तिरोहित कर देता है। कई ग्रन्थकारों ने अभिनिवेश का अर्थ इतना ही किया है कि "मैं सदा बना रहूँ" इस प्रकार का जो एक स्वभाव सिद्ध आग्रह प्रत्येक प्राणी में होता है वही अभिनिवेश है। किन्तु यह एक उदाहरण मात्र है। अभिनिवेश शब्द का अर्थ है आग्रह। भावना और वासना के कारण रंगे हुए आत्मा में किसी भी प्रकार का जो एक आग्रह होता है अर्थात् यह कार्य अवश्य ही होना चाहिए इस प्रकार की एक उत्कट वृत्ति होती है, वही अभिनिवेश है। यह भावना और वासना के बन्धन से उत्पन्न है, इसलिए उनके क्षय से ही इसका क्षय हो सकता है। भावना और वासना का क्षय तीन प्रकार से होता है। कर्मजनित संस्कार अपना फल भोग कराकर निवृत्त हो जाते हैं और ज्ञान जनित संस्कार कालवश मलिन होकर वा जन्मान्तर में बुद्धि में वैसी विशेषता उत्पन्न कर निवृत्त हो जाते हैं यह सर्वसाधारण नियम है। दूसरा इसकी निवृत्ति का उपाय यह है कि यह महान् क्लेश तमोगुण से उत्पन्न है इसलिए सत्व गुण को बढ़ाया जाय, गुणों का यह स्वभाव है कि एक जब बढ़ता है तो दूसरों को दबा देता है। इस प्रकार सत्व बुद्धि से जब तमोगुण अत्यन्त क्षीण हो जायगा तब उसके द्वारा उत्पादित क्लेशों में अतिदुष्ट क्लेश यह अभिनिवेश भी निवृत्त हो जायगा। तीसरा प्रकार यही है कि विद्या प्रबल होकर जब अविद्या को सर्वथा निवृत्त कर देती है तब मल का नाश होने से सभी क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। यह सत्वगुण की वृद्धि वा विद्या ज्योति को अनावृत्त रूप से फैलने देना ही धर्म नाम से कहा जाता है। यद्यपि धर्म शब्द आचार के अर्थ में लोक और शास्त्र में प्रयुक्त होता है किन्तु बुद्धि का रूप जो धर्म यहाँ बताया जा रहा है वह उस सदाचार की प्रवृत्ति का कारण है। बुद्धि में जब धर्म रूप होता है तबही सदाचार हुआ करता है। आरम्भ के प्रवचन में प्रथमाध्याय में ही हम धर्म शब्द का अर्थ विस्तार से कर आए हैं कि स्वरूपरक्षा का साधन ही धर्म शब्द से कहा जाता है। बुद्धि के इस रूप से ही मुख्यतः आत्मस्वरूप की रक्षा होती है इसलिए इस बुद्धि रूप में धर्मशब्द की प्रवृत्ति सर्वथा मिश्रित है। तात्पर्य यह है कि यह बुद्धि का सात्विकरूप धर्म ही अभिनिवेश रूप क्लेश का विरोधी है। बुद्धि में धर्म का उदय होने पर ही अभिनिवेश निवृत्त हो जाता है। बस इन चारों सात्विक रूपों की बुद्धि में वृद्धि कर पंचक्लेश अर्थात् बुद्धि

के तामस रूपों को निवृत्त कर देना ही मुख्य पुरुषार्थ है। यही भगवद्गीता ने बतलाया है। इस प्रकार की सात्विक बुद्धि होने पर जीवात्मा का परमात्मा से पूर्ण सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध के विच्छेदक आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यही बुद्धियोग है। यद्यपि चारों ही सात्विक रूपों को विकसित करना आवश्यक है किन्तु अपने अपने अधिकारानुसार कोई किसी रूप को विकसित करने में मुख्यता से लगता है, उस एक रूप के विकास से सत्व बुद्धि होने पर फिर चारों ही रूप विकसित हो जाते हैं। इसलिए अधिकारानुसार प्रत्येक प्राणी को अपना अपना ध्येय चुन लेने के लिए भगवद्गीता में चारों ही प्रकार के बुद्धियोग निर्दिष्ट हुए हैं। कर्मयोग आदि सब ही उस बुद्धियोग में अन्तर्गत हो जाते हैं। वैराग्य योग ही कर्मयोग है क्योंकि अनासक्ति ही कर्मयोग में प्रधान है। अनासक्ति पूर्वक आचरण करते रहना कर्मयोग कहा जाता है। उसमें कर्म करते रहना तो जीवों को स्वभावतः प्राप्त है। अनासक्ति का विशेष विधान करना है। इसलिए वैराग्य योग ही कर्मयोग सिद्ध होता है। ज्ञान योग तो अपने नाम से ही प्रसिद्ध है। ऐश्वर्य योग भक्तियोग के नामसे प्रसिद्ध है। इसके ज्ञान और कर्म दोनों भाग हैं, इसलिए इसे भक्ति कहते हैं और ईश्वराराधन होने के कारण उपासना योग भी यह कहा जाता है।

चौथा धर्मयोग गुण विभाग के नाम से गीता के अन्तिम प्रकरण में प्रसिद्ध है। आरम्भ में षष्ठाध्याय पर्यन्त वैराग्य योग कहा गया है। सप्तम और अष्टम दो अध्यायों में ज्ञानयोग, नवम् से द्वादश पर्यन्त ऐश्वर्य योग, और त्रयोदश से अन्ततक धर्मयोग है। इनके ही दूसरे नाम राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या भी क्रमशः हैं जो भगवद्गीता में ही सूचित किए गए हैं। यही योग शब्द का विस्तृत अर्थ श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार कहा गया।

गीता में भी योग शब्द का अर्थ अनेक स्थलों पर किया गया है। "योगः कर्मसु कौशलम्", "समत्वंयोग उच्यते", "तं विद्याद्दुःख-संयोग-वियोगं योग संज्ञितम्" इत्यादि। उन सबका समन्वय उक्त अर्थों में हो जाता है, इसका स्पष्ट विवरण उन पद्यों की व्याख्या में कर दिया जायगा। उक्त भिन्न भिन्न व्याख्याओं के अनुसार ही उत्तरार्ध का भी विवरण पृथक् पृथक् होता है कि इस बुद्धि से प्रवृत्त होता हुआ तू कर्मबन्ध से विमुक्त हो जायगा। श्री शंकराचार्य के सिद्धान्तानुसार यह कर्मबन्ध से विनिर्मुक्ति कर्मयोग का परंपरा से प्राप्त होने वाला चरम फल है। अर्थात् कर्मयोग से ज्ञान सिद्धि होती है और उससे कर्मबन्ध मुक्ति होती है। कई विद्वान् ऐसा भी तात्पर्य लगाते हैं कि कर्म का बन्ध कर्म से ही हट सकता है। कांटे से ही कांटा निकाला जा सकता है। अतः निवृत्ति कर्म ही कर्म के बन्धन को छुड़ाने वाला है। जैसा कि उपनिषत् में कहा गया है कि—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"

अर्थात् अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृत प्राप्ति होती है। यहाँ अविद्या और मृत्यु दोनों शब्दों का अर्थ कर्म वा कर्मबन्ध ही है। कर्म से ही कर्म बन्धन को हटाकर ज्ञान से ईश्वर पुरुष में लीन होना मुक्ति कही जाती है। इसलिए योग से कर्मबन्धन से छूटोगे, यह कार्य कारण भाव साक्षात् ही बन जाता है। ज्ञान कर्म समुच्चय से मुक्ति मानने वालों के सिद्धान्त में तो कर्म से कर्म बन्ध विमोक्ष स्पष्ट ही है। और कर्मयोग को प्रधान मानने वाले श्री तिलक आदि के मत में भी कर्म से ही कर्मबन्ध का त्याग होना उपपन्न ही है। श्री वल्लभाचार्य के मत के अनुसार जो भगवद्गीता की व्याख्या प्राप्त है उसके सिद्धान्त में भगवान् की आज्ञा से जो कर्म किया जाय, उसी का नाम कर्मयोग है। जीव अपने आप को सर्वथा भगवान् पर छोड़ दे। किसी फल की आशा से नहीं, भगवान् की जो आज्ञा वा प्रेरणा हो, तदनुसार ही कर्म करता रहे। यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य उनके मत में है, जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं। ये भगवदाज्ञा से किये हुये कर्म कभी बन्धन में डालने वाले नहीं होते किन्तु कर्मबन्ध के खोलने वाले ही होते हैं। जैसा कि श्रीभागवत में भगवान् की आज्ञा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिताधाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

अर्थात् जिन्होंने अपनी बुद्धि को मुझमें लगा दिया है उनके हृदय में कोई इच्छा वा इच्छाजनित कर्म भी हो तो वह आगे इच्छा वा कर्मों का ऋण बढ़ाने-वाला नहीं होता, वहीं शान्त हो जाता है। जैसा कि भूंज डालने पर वा पका लेने पर धान बीज रूप होकर नये नये धान उत्पन्न नहीं करता। इसी न्याय से सिद्ध है कि भगवान् की आज्ञा वा प्रेरणा से किये गये कर्म स्वयं बन्धक न होकर पूर्व के कर्मबन्धों को खोलने वाले होते हैं। इसप्रकार साक्षात् व परंपरा से उत्तरार्ध की व्याख्या सबही सिद्धान्तों में समन्वित हो जाती है।

यद्यपि यह विषय प्रथमाध्याय के "गीता का विषय विभाग" शीर्षक में भी संक्षेप में कहे जा चुके हैं किन्तु इन आवश्यक विषयों पर ध्यान दिलाना बहुत उचित समझ यहाँ भी इनका पुनः विशद विवेचन किया गया है जिसमें कई नई बातें सम्मिलित हैं। आशा है कि पाठक उचित मनन कर इस पुनरुक्ति को क्षमा करेंगे।

इकतीसवां-पुष्प

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

आगे कहे जाने वाले कर्मयोग की, उसमें प्ररोचना कराने के लिए पहिले ही स्तुति की जाती है कि "इस कर्मयोग में उपक्रम का नाश नहीं है और विगुणता होने पर प्रत्यवाय अर्थात् पाप वा प्रायश्चित्त भी नहीं होता। इस धर्म का थोड़ा अंश भी बहुत बड़े भय से रक्षा कर देता है।"

यहाँ अर्जुन को कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना है इसलिए अवधान से वह सुने इस अभिप्राय से पहिले ही कर्मयोग की प्रशंसा की जाती है। लौकिक और कामना पूर्वक किये जाने वाले कर्मों का आरम्भ कर यदि समाप्ति से पूर्व ही उन्हें छोड़ दिया जाय तो वह कर्म कोई फल नहीं देता, बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है। जैसे कि कृषि रूप लौकिक कर्म किसी ने आरम्भ तो कर दिया किन्तु अन्न पकने तक जल सेकादि के द्वारा उसकी पूर्ति नहीं की तो उसका कोई फल नहीं होगा। अर्थात् अन्नोत्पादन नहीं होगा। रसोई पकाने का कार्य आरम्भ कर बीच में ही छोड़ दिया जाय तो वहाँ भी भोजन योग्य रसोई न बन सकेगी। इसी प्रकार वैदिक कर्मों का आरम्भ कर विधान के अनुसार समाप्ति पर्यन्त उन्हें न किया जा सके, मध्य में ही कोई विघ्न उपस्थित हो जाय तो उस कर्म का भी कोई फल नहीं होगा। विधि पूर्वक समाप्ति पर्यन्त अनुष्ठान करने से ही वैदिक कर्म के द्वारा अतिशय की उत्पत्ति होती है। मध्य में छोड़ देने से अतिशय उत्पन्न नहीं होता। और बिना अतिशय के स्वर्गादि फल भी नहीं प्राप्त हो सकता। यही उपक्रम का नाश समझना चाहिए। किन्तु बिना कामना के किये जाने वाले कर्मयोग सम्बन्धी कर्मों में ऐसा नहीं है। ये कर्म तो आरम्भ कर जितने भी कर लिए गए उतने अंश में उनका फल अवश्य ही मिल जायगा। नित्य और नैमित्तिक कर्म तो बिना कामना के ही किये जाते हैं उनसे चित्त शुद्धि ही होती है। काम्य कर्म यज्ञ आदि भी यदि कामना छोड़कर किये जाँय तो चित्त शुद्धि के ही कारण बन जाते हैं, ऐसा पूर्व मीमांसकों ने भी निर्णय किया है। इसे वहाँ "संयोग पृथक्त्व न्याय" कहा जाता है। इस प्रकार के कर्म यदि किसी विघ्न के आ जाने से समाप्ति पर्यन्त न भी हो सकें तो भी जितने किये गए उतने अंश में चित्त शुद्धि कर ही देते हैं। ईश्वराराधन आदि कर्मों की भी ऐसी ही स्थिति है। जितना भी ईश्वराराधन कर लिया जाय उतना फल उससे अवश्य प्राप्त हो जाता है। छोड़े हुए कर्मों को फिर आगे समयानुसार जब किया जाय तो पूर्व कर्म का उतना

फल तो रहता ही है, आगे और अधिक चित्त शुद्धि होती जाती है। इसलिए कहा जा सकता है कि कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है। अर्थात् मध्य में छोड़ देने पर भी उनका फल उतना मिल ही जाता है। इसलिए इस बात की चिन्ता नहीं है कि मध्य में विघ्न हो जाने से कर्म नष्ट हो जायगा तो श्रम वृथा ही जायगा। ऐसे ही वैदिक काम्य कर्मों में कुछ भी विगुणता हो जाने पर उलटा पाप हो जाता है और विपरीत फल मिलने की संभावना हो जाती है। विगुणता को हटाने के लिए प्रायश्चित्त का भी शास्त्रों में विधान है। इसके अनेक उदाहरण शास्त्रों में और लोक में प्रसिद्ध हैं। शास्त्र में उदाहरण है कि त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा से यज्ञ किया था। किन्तु यज्ञ में "इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व" इस कल्पित मन्त्र में स्वर का व्यत्यास हो गया, इसलिए यह विपरीत फल हुआ कि उत्पन्न हुआ पुत्र वृत्र ही इन्द्र के द्वारा मारा गया। लोक में भी किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि पूर्व काल में एक मुकुन्द ब्रह्मचारी थे। उन्होंने राज्य प्राप्ति के लिए काम्य अनुष्ठान किया था। किन्तु व्रत रूप से दुग्ध पान करते हुए उसमें एक गौ का रोम आगया। इसलिए उन्हें राज्य तो मिला किन्तु विधर्मियों में जन्म हुआ, अर्थात् वे अकबर बादशाह बने। इस प्रकार विगुणता हो जाने से फल प्राप्ति होने पर भी कोई प्रबल विपरीतता आ जाती है। कर्म योग में ऐसा भी नहीं है। यहाँ विगुणता हो जाने पर भी कोई पाप या प्रायश्चित्त नहीं होता। पूर्व प्रवचनों में कहा जा चुका है कि मन में राग द्वेष रहने पर ही पाप आदि का सम्बन्ध होता है। इसलिए कामना छोड़ देने पर पाप का कोई सम्बन्ध नहीं। जो कुछ भी करोगे उसका चित्त शुद्धि रूप फल यथासंभव मिलता ही जायगा। काम्य कर्मों में कर्मफल का तारतम्य भी रहता है, अर्थात् किसी ने इष्टिमात्र की, तो उसे स्वर्ग में सामान्य सुख मिलेगा और वह भी अल्प काल के लिए। और यदि सोम याग वा उनमें भी अश्वमेध आदि बड़ी संस्थाओं का अनुष्ठान किया तो बहुत काल पर्यन्त बहुत बड़े सुख की प्राप्ति स्वर्ग में होगी। इस प्रकार कर्म की अल्पाधिकता से फल की अल्पाधिकता भी होती रहती है। किन्तु कर्मयोग में थोड़ा भी अनुष्ठान कर लिया जाय तो वह बहुत बड़े भय से छुड़ा देता है। अर्थात् अल्प अनुष्ठान से भी बड़ा फल मिल जाता है। इसलिए कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है। यहाँ विघ्न-बाधा आदि का व कर्म निष्फल होने का कोई भय नहीं।

इस प्रकार कर्मयोग की स्तुति कर अब उसका स्वरूप बतलाना है। कर्म-योग का मूल है व्यवसायात्मक बुद्धि। उसी की पहिले अवतारणा की जाती है कि "हे कुरुनन्दन! व्यवसायात्मक बुद्धि एक है, अर्थात् एक ही प्रकार की होती है। उसमें विषमता वा उच्चावच भाव नहीं रहता। किन्तु जो अव्यवसायी हैं अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धि जिन्हें प्राप्त नहीं हुई उनकी बुद्धि भिन्न भिन्न शाखावाली और एक एक शाखा में भी अनन्त है। अर्थात् उनका पार आता ही नहीं।

सांख्य आदि दर्शनों में अन्तः करण के तीन या चार भेद बताये गये हैं। मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन भेद सांख्य दर्शन में माने जाते हैं। वेदान्त

आदि में चित्त नाम का चौथा भेद भी लिखा है। इनकी पृथक्-पृथक् वृत्तियों की दर्शनों में व्याख्या है। बाह्य इन्द्रियां हमें केवल वस्तुओं का आकार और उनके रूप, रस, स्पर्श आदि गुण बतला देती हैं। जब यह वस्तु किस जाति की है और इसका क्या नाम है, इत्यादि कल्पना पूर्व स्मरण के आश्रय से मन किया करता है। इस कल्पना को ही संकल्प नाम से कहा जाता है। संकल्प अर्थात् सम्यक् कल्पना, इस मन के कार्य के अनन्तर मेरे साथ इस वस्तु का अनुकूल वा प्रतिकूल कैसा सम्बन्ध है इस बात को बताने वाली वृत्ति जिसकी है वह अहंकार नाम का अन्तःकरण कहा जाता है। इसके अनंतर यह निश्चय होता है कि मुझे इस वस्तु को लेना चाहिए, इससे दूर बचना चाहिए वा उपेक्षा करनी चाहिए, अर्थात् जहाँ जैसी है तैसी बनी रहे, मुझे इसके लेने वा इससे दूर भागने की कोई आवश्यकता नहीं, यह उपेक्षा है। ये व्यापार बुद्धि के होते हैं। इस बुद्धि की वृत्ति को ही अध्यवसाय वा निश्चय कहा करते हैं। बुद्धि इस प्रकार निश्चय कर फिर तदनुकूल कार्य करने के लिए मन को प्रेरित करती है और तब मन "इदमहंकरिष्यामि" (मैं ऐसा करूँगा) इस प्रकार का संकल्प कर कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है। इस प्रकार मन के दोनों काम हैं। पहले निश्चय के लिए बुद्धि के सामने पदार्थ को उपस्थित करना और फिर बुद्धि की आज्ञा का इन्द्रियों द्वारा पालन करवाना। इसलिए कई जगह दो मन माने जाते हैं किन्तु आर्य दर्शनों में अधिकतर एक ही मन के दोनों कार्य मान लिए जाते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियों से बाह्य रूप रस आदि का ज्ञान होता है इस प्रकार भीतर के धर्म सुख, दुःख आदि का ज्ञान मन से ही होता है। इसलिए मन स्वयं इन्द्रिय रूप भी है और अन्य इन्द्रियों का सहायक भी है। क्योंकि मन यदि किसी खास विचार में संलग्न हो तो आँख, कान आदि कुछ भी देख सुन नहीं सकते। इस प्रकार के इन्द्रिय रूप मन और इन्द्रिय सहायक मन को भी कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न माना गया है। किन्तु आर्य दर्शनों में अधिकतर यही सिद्धान्त पाया जाता है कि मन एक ही है। वही शीघ्र गमनशील होने के कारण सब काम कर देता है। अस्तु, चौथे चित्त के संबंध में कुछ विचार भेद हैं। कई जगह स्मृति नाम की वृत्ति चित्त की मानी गई है और अन्यत्र कहीं इन सब वृत्तियों का आत्मा में प्रतिफलन भी चित्त शब्द से कहा गया है। आगमशास्त्र में ऐसा भी निरूपण है कि चित् का स्थूल रूप पहिले चित्त ही होता है, उससे आगे फिर बुद्धि, अहंकार आदि अन्य स्थूल रूप बनते हैं। अस्तु, यहाँ इस चित्त के विचार से कोई विशेष प्रयोजन नहीं, यहाँ तो हमें केवल बुद्धि की ही बात कहना है। अस्तु, पूर्वोक्त प्रकार से सदसद्विवेक पूर्वक निश्चय कर मन आदि को प्रेरित करना बुद्धि का ही काम माना गया है। अतः भगवान् भी यहाँ यही कहते हैं कि पहिले बुद्धि को ठीक करना चाहिए। तब ही उत्तम कर्तव्य पालन हो सकता है। बुद्धि का सामान्य कार्य अध्यवसाय माना गया है। किन्तु यहाँ उसके दो प्रकार के भेद किये जाते हैं=व्यवसाय और अव्यवसाय। श्री शंकराचार्य ने सम्यक् प्रमाणों से सदसद्विवेक जिस बुद्धि में हुआ हो वह व्यवसायात्मक बुद्धि और प्रमाणाभासों

से जहाँ भ्रमरूप विवेक हुआ हो उसे अन्यवसायात्मक बुद्धि कहा है। श्री रामानुजाचार्य मुमुक्षु पुरुषों की बुद्धि को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं और कामना परक बुद्धियों को अन्यवसायात्मक। भक्ति मार्ग के आचार्य भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य निश्चय को ही व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं। कई व्याख्याकारों ने सांख्य ज्ञान को ही व्यवसायात्मक बुद्धि कहा है और योग की बुद्धि अन्यवसायात्मक बतलायी है। किन्तु कर्मयोग का प्रकरण आरम्भ हो चुका है इसलिए सांख्य-ज्ञानपूर्वक कर्म-प्रवृत्ति जिससे हो, वही व्यवसायात्मक बुद्धि है यह उन्हें भी कहना ही पड़ेगा। श्री तिलक ने गीता रहस्य के प्रकरण में बुद्धि के मुख्य कार्य अध्यवसाय को ही व्यवसाय कहा है। किन्तु फिर बहुत अनन्त शाखाओं वाली बुद्धि क्या रही? प्रकृत श्लोक की व्याख्या में उन्होंने यह लिखा है कि "बुद्धि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। गीता में ही कहीं ज्ञान के अर्थ में और कहीं वासनाओं के अर्थ में बुद्धि शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार अनेक अर्थ होने पर भ्रम न हो जाय, इसलिए पूर्वार्ध में "व्यवसायात्मिका" यह विशेषण बुद्धिके साथ लगा दिया। अतः यहाँ कार्य अकार्य का निश्चय करने वाली सांख्योक्त अन्तःकरण रूप बुद्धि ही बुद्धि शब्द से विवक्षित है, यह स्पष्ट कर दिया गया। और एक पद एकाग्रता का बोधक है। इससे जिनकी एकाग्र बुद्धि कार्य अकार्य का निश्चय कर लेती है, वे ही कर्मयोग के अधिकारी हैं यह सूचित किया। उत्तरार्ध में व्यवसायात्मिका विशेषण नहीं है, और बुद्धि को बहुशाखा और अनन्ता कहा है इसलिए वहाँ बुद्धिपद से वासनाएं ही विवक्षित हैं, जिनकी निश्चयात्मक एकाग्र बुद्धि नहीं होती उनकी वासनात्मक बुद्धि अनेक शाखावाली और अनन्त होती है।" यह उनका श्लोकार्थ हुआ।

प्रकृत श्लोक की टिप्पणी में उन्होंने लिखा है कि—संकल्प, काम, आसक्ति आदि दोषों से अदूषित, मन पर अनुग्रह करने वाली बुद्धि व्यवसायात्मिका कहलाती है। और कामादि दोषों से दूषित मन के साथ चलने वाली बुद्धि अन्यवसायात्मक है। तात्पर्य यह हुआ कि जो बुद्धि कामादि दोष से दूषित मन की अनुगामिनी हो जाती है वह अन्यवसाय रूपा है और जो मन से खैंची नहीं जाती, स्वतन्त्र रूप से आत्मा की ओर झुकी रहती है, वह व्यवसायात्मिका है। अन्यवसायरूप बुद्धि से आत्मा कभी नहीं पहचाना जाता किन्तु व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मा की ओर झुक कर उसको किसी न किसी रूप में ग्रहण कर लेती है अर्थात् उसका प्रतिबिम्ब ले लेती है। इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं कि बुद्धि शब्द का प्रयोग कई जगह बुद्धि की वृत्ति ज्ञान अथवा मन आदि के लिए भी हो जाता है। तीन प्रकार के अन्तःकरण जो हमने अभी बताए हैं, उनमें परस्पर शब्दों का सांकर्य कई स्थानों में मिलता है। अर्थात् कई जगह मन शब्द से तीनों को कह दिया जाता है। कई जगह बुद्धि शब्द से ही इत्यादि। ऐसी प्रयोगों की भ्रान्ति न आ जाए इसलिए यहाँ बुद्धि का व्यवसायात्मिका विशेषण दे दिया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयात्मक मुख्य बुद्धि ही यहाँ बुद्धि शब्द से ली जानी चाहिए। श्लोक के उत्तरार्ध में ऐसा कोई

विशेषण नहीं है और वहाँ "बुद्धयः" बहुवचन मिलता है। इसलिए मन के द्वारा उत्पादित भिन्न भिन्न कामनाओं का अनुसरण करने वाली बुद्धि वहाँ बुद्धि शब्द से विवक्षित है। तात्पर्य यही हुआ कि मन की इच्छाओं से संबंध न रहने वाली स्वतन्त्र निश्चय रूपा बुद्धि व्यवसायात्मिका है और आगे बुद्धि के निश्चयानुसार काम करने को उद्यत् मन जब भिन्न भिन्न इच्छाएं पैदा करता है तब उनके साथ संमिश्रित हो जाने वाली बुद्धि अव्यवसायरूपा होती है। कर्मयोग मार्ग में चलने वाले के लिए अपनी बुद्धि को विशुद्ध अथवा स्थिर रखना आवश्यक है। बिना बुद्धि की विशुद्धता वा स्थिरता के कर्मयोग नहीं बन सकता। यही इस पद्य का आशय हुआ अर्थात् मन की बाह्य प्रवृत्तिरूप वासनाओं का प्रतिविम्ब बुद्धि में नहीं आने देना चाहिए। तभी बुद्धि स्वतन्त्र और स्थिर रह सकेगी। श्री विद्यावाचस्पति जी सात्विक बुद्धि को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं, जिसके कि चार रूपों का विस्तृत विवेचन पूर्व प्रवचन में किया जा चुका है। उसके विपरीत बुद्धि के तामस रूप अव्यवसायात्मक कहलाते हैं। प्रस्तुत पद्य की टिप्पणी में उनने भी अपना आशय यही प्रकट किया है कि संकल्प कामना आदि से दूषित मन के साथ चलने वाली बुद्धि अव्यवसायरूपा है और कामनादि दोषों से जो दूषित नहीं, ऐसे मन को साथ रखने वाली बुद्धि व्यवसायात्मक कहलाती है। आगे इसका भी तात्पर्य उनने यही खोला है कि जहाँ कामासक्त मन के साथ लग जाय और मन जहाँ इन्द्रियों के साथ लग जाय, उस समुदाय में पड़ी हुई बुद्धि भी अव्यवसायात्मक हो जाती है अर्थात् स्थिर नहीं रहती और मन इन्द्रियादि के दोषों में न पड़कर स्वतन्त्र रहने वाली बुद्धि व्यवसायात्मक होती है। शब्द भेद से सबका अभिप्राय एक ही रूप में पर्यवसित होता है। प्रकृत में इस पद का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि विवेक पूर्वक अपना कर्तव्य पालन करने की वा दूसरे शब्दों में कर्तव्य समझ कर कर्म करने की प्रवृत्ति जिससे हो वह व्यवसायात्मक बुद्धि है। आगे अर्जुन के प्रश्न में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रश्न आवेगा। इसलिए स्थिर बुद्धि ही व्यवसायात्मक बुद्धि है यह तो स्पष्ट ही हो जाता है। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही होती है। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वह स्थिर है। उसमें चंचलता नहीं, केवल कर्तव्य परायणता मुख्य रहती है। कामनावश कर्तव्य निश्चय नहीं किया जाता। किन्तु वह स्थिर बुद्धि जिसने प्राप्त नहीं की उसकी कामनाओं में चंचलता रहती है और कामनाओं की शाखाएं बहुत हैं और उनमें एक एक शाखा का भी अन्त नहीं आता। मुख्य रूप से शास्त्रों ने वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा नाम से इच्छाओं का तीन रूप में वर्गीकरण किया है। वित्तैषणा नाम धन संपत्ति की इच्छा, पुत्रैषणा नाम सन्तति की इच्छा और लोकैषणा नाम संसार में यश प्राप्त करने की इच्छा। इनमें एक वित्तैषणा का ही विस्तार महात्मा भर्तृहरि ने लिखा है—

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वांच्छति

चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्राह्मं पदं याचते
ब्रह्मा विष्णु पदेः हरिः शिवपदे तृष्णावधिं कोगतः

अर्थात् जिसके पास कुछ नहीं है वह पहिले यही इच्छा करता है कि न्यूनतः सौ रुपये तो मेरे पास भी हों। यदि सौ रुपये हो गए तो इच्छा बढ़ जाती है कि एक सहस्र होने चाहिए, भाग्यवश सहस्र प्राप्त हो जाने पर लक्ष की इच्छा हो जाती है, यदि सौभाग्य से लक्षाधिप भी बन गया तो उसी वित्तैषणा में से दूसरी शाखा निकल पड़ती है कि अपना शासन भी हो, अतः राज्य की इच्छा करता है। राजा भी होगया तो राज्य बढ़ाकर चक्रवर्ती बनने की इच्छा हो जाती है। चक्रवर्ती भी बन गया तो और शाखा निकल पड़ती है कि त्रिलोकी का स्वामी इन्द्र बनूं, दैवात् इन्द्र भी बन गया तो और शाखा निकलती है कि मेरा भी बनाने वाला ब्रह्मा है, वह ब्रह्म पद ही मुझे प्राप्त होना चाहिए। ब्रह्मा को भी विष्णु बनने की इच्छा रहती है और विष्णु को शिव पद अर्थात् निष्कल तुरीय पद प्राप्ति की इच्छा रहती है, अतः तृष्णा का अन्त बिना मोक्ष पद प्राप्त किये किसी को नहीं मिल सकता। इसी प्रकार पुत्रैषणा और लोकैषणा की भी अनेक अनन्त शाखाएं निकलती रहती हैं जिनका अनुभव प्रत्येक मनुष्य विचार से अपने ही भीतर कर सकता है। इसीलिए संक्षेप में भगवान् ने कहा है कि अव्यवसायी अर्थात् कामना निरत पुरुषों की बुद्धि-वृत्तियाँ अनेक शाखावाली और प्रत्येक शाखा में अनन्त होती हैं। इन्हीं की पूर्ति के झंझट में सब आयु पूरी हो जाती है और भगवदुपासना वा ज्ञान प्राप्ति का किसी को अवसर ही नहीं मिलता।

एक उपहास की किंवदन्ती है कि कोई पुरुष अपने किसी मित्र के यहाँ अधिक भोजन कर आया था। उसकी अस्वस्थता देख कर किसी ने वैद्य को बुलाया, वैद्य ने विरेचन के लिए दो गोली उसे निकालकर दी कि ये खालो, विरेचन होकर स्वस्थ हो जाओगे। इसपर उस रोगी ने कुपित होकर कहा कि मूर्ख यदि इन गोलियों के लायक स्थान पेट में होता तो मैं एक लड्डू ही और क्यों न खाता? वही बात यहाँ है कि यदि समय शेष हो तो उसमें और अधिक अर्थ काम का सेवन क्यों न करे? भगवदुपासना वा ज्ञान साधन में जितने समय का व्यय करें उतने समय में इन्द्रिय तृप्ति का ही और कुछ आयोजन क्यों न किया जाय? इसलिए इन कामनासक्त बुद्धिवालों को ईश्वराराधन वा कर्मयोग का समय ही मिलना अति दुष्कर है। इसी कारण कर्मयोग में प्रवृत्त होने वाले को पहिले व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए तब ही कर्म योग सिद्ध हो सकेगा। आगे स्पष्ट होगा कि बिना ईश्वराराधन के कर्मयोग नहीं बनता। कर्मयोग भक्ति प्रधान ही है। बिना ईश्वरनिष्ठता के बुद्धि वासनाओं की सहायता से मन की ओर अवश्य खिंच जाती है। और कामनाओं में ही लग जाती है। अतः ईश्वरनिष्ठ एकाग्र बुद्धि सम्पादित करना कर्मयोग के लिए अत्यावश्यक है।

बत्तीसवाँ -पुष्प

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ २-४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिंप्रति ॥ २-४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २-४४

यहाँ श्रोता के मन में यह शंका हो सकती है कि व्यवसायात्मक बुद्धि जब इतनी श्रेष्ठ है और इस प्रकार अचूक फल देने वाली है तो सब ही उसका आश्रयण क्यों नहीं करते ? यदि कहा जाय कि बिना शास्त्र ज्ञान के वह बुद्धि प्राप्त नहीं होती तो विचार होगा कि शास्त्रज्ञ भी तो बहुत हैं। वे सब इस प्रकार की बुद्धि में स्वयं निरत क्यों नहीं हो जाते और अपने उपदेश से औरों को भी इस बुद्धि की प्राप्ति में क्यों नहीं लगा देते ? ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए भगवान् बतलाते हैं कि शास्त्र का भी मुख्य तत्त्व बहुत से शास्त्र पढ़ने वाले भी नहीं जान पाते। वे शब्द मात्र सुनकर आपाततः जितना समझ पाते हैं, उसमें ही स्वयं भी लग जाते हैं और अन्य पुरुषों को भी अपने उपदेश से उसी मार्ग में लगा देते हैं। हमारा मुख्य शास्त्र वेद है। किन्तु उस वेद का मुख्य तात्पर्य सबकी समझ में नहीं आ सकता। वह इतना दुरूह है कि बहुत परिश्रम करने वाले बड़े बड़े विद्वान् भी उसमें मुग्ध हो जाते हैं। आगे गीता में ही कहा जायगा कि "वेदविदेवचाहं" अर्थात् वेद का मुख्य तत्वज्ञ मैं ही हूँ। मेरा ही वह उपदेश है और मैं ही उसका मुख्य तत्त्व समझता हूँ। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भी स्पष्ट कहा गया है कि "वेद के विधान अभिधान आदि का पूरा तत्व मुझसे अतिरिक्त कोई नहीं समझता।" इसका तात्पर्य है कि मेरी कृपा से ही कोई कोई समझ पाते हैं। बहुत पुरुष तो उसके आपातः प्रतीत अर्थ में ही संलग्न हो जाते हैं। वेद में अधिकतर कर्मों की विधि है और उन कर्मों का स्वर्ग आदि फल भी विधि प्रतिपादक वाक्यों में ही कहा गया है और आगे विधि के स्तावक अर्थवाद वाक्यों में भी उसका अधिकतर वर्णन किया गया है। बस, इन वैदिक वर्णनों से शास्त्र पढ़ते हुए भी पूर्ण विवेचन न करने वाले पुरुषों की बुद्धि उन्हीं फलों में फंस जाती है। वे स्वर्गादि फलों को ही सबसे ऊँचा ध्येय मान लेते हैं। इससे आगे कुछ नहीं है यह उनका भाव बन जाता है। इसलिए उक्त प्रकार की व्यवसायात्मक बुद्धि उन्हें प्राप्त नहीं होती। जब वे स्वयं ही व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, तो औरों को उसे प्राप्त करने का उपदेश

क्या करेंगे। यही बात इन श्लोकों में वर्णित है। श्लोकों का अर्थ है—

"हे पार्थ ! अविपश्चित् अर्थात् अज्ञ पुरुष जो कि पूर्णज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते वे वेद के वाद अर्थात् फलवाद वा अर्थवाद आदि में निरत होकर इस स्वर्गादि फल से आगे और कुछ नहीं है, यही मनुष्य जीवन का मुख्य ध्येय है इत्यादि कहते हुए पुष्पों के समान दूर से शोभा युक्त प्रतीत होने वाली ऐसी प्रसिद्ध वाणी कहते हैं। वेदवाद शब्द का अर्थ कई व्याख्याकारों ने ऐसा भी किया है कि वाद अर्थात् शब्द सुनते ही आपाततः प्रतीत होने वाला अर्थ। वेद के ऐसे ऊपर ऊपर से प्रतीत होने वाले अर्थ में ही वे लोग निरत हो जाते हैं। इसीलिए आगे "पुष्पितां वाचम्" का विशेषण "इमाम्" दिया गया है। "इदम्" शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि ऐसा ही अर्थ लोक प्रसिद्धि से प्राप्त होता है। "पुष्पिता" पद से यह सूचित किया कि जैसे पुष्प दूर से ही मनोहर दिखाई देते हैं, फल रूप सार उनमें नहीं मिलता, इसी प्रकार यह आगे कही जानेवाली वाणी भी सुनने मात्र से ही चित्ताकर्षक होती है। मुख्य सार उसमें प्राप्त नहीं होता। वृक्ष से फल प्राप्त करना विचारक पुरुषों का मुख्य ध्येय होना चाहिए। पुष्पों की चमक दमक में ही फंस जाना अविचारक पुरुषों का काम है। जो वृक्ष वा लता केवल पुष्प मात्र देती हैं, फल जिनके नहीं लगता वे उत्तम नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार मुख्य फल तक न ले जाने वाली यह वाणी सार रहित और मध्यम श्रेणी की ही है।" (२-४२)

दूसरा श्लोक पहिले के साथ ही अन्वित है। इसमें दो विशेषण "अविपश्चितः" के हैं और तीन विशेषण "पुष्पितां वाचम्" के हैं। ये विशेष्य पद पूर्व पद्य में ही आए हैं। उनके आशय को ही यहाँ विशेषणों द्वारा और स्पष्ट किया है। उक्त प्रकार की वाणी कहने वाले अविद्वान् लोग कामात्मा होते हैं। अर्थात् उनके अन्तःकरण में कामनाएं ही व्याप्त रहती हैं। वे कामनाएं ही मानों उनकी आत्म रूप बन गई हैं। अथवा यों कहो कि कामनामय अन्तः-करण का निरन्तर प्रतिबिम्ब पड़ने से उनका व्यवहारिक आत्मा भी काममय होगया है और उनकी दृष्टि में स्वर्ग ही परम पुरुषार्थ है। इससे ऊपर भी मनुष्य जीवन का कोई फल है इस तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही वे मनुष्य जीवन का अन्तिम फल मानते हैं। उनकी वाणी में कर्मों का ही विस्तार बहुत अधिक रहता है। यज्ञादि कर्मों के ही अनेक प्रकार के विस्तारों का वे वेदोक्त विवरण किया करते हैं। जैसा कि इष्टि, सोम, चयन नाम से तीन प्रकार के यज्ञ हैं, इनमें इष्टि की सात संस्थाएं हैं, सोम की भी सात संस्थाएं हैं। चयन भी अनेक प्रकार का है और सौ दिन में साध्य, या हजार दिन में साध्य भी सत्र नामके यज्ञ होते हैं जिनमें बहुत से यजमान एक साथ ही मिलकर कर्म करते हैं और इसी क्रम के अनुसार ऋत्विक् भी उनमें बहुत होते हैं, इत्यादि रूप से कर्मों का बहुत बड़ा प्रपंच उनकी वाणी में रहता है। जन्म भर क्रिया करते रहना ही वे सिखाया करते हैं। उन सब कर्मों का फल बार बार संसार में जन्म

लेना ही होता है। इसी कर्म फल रूप जन्म को उनकी क्रियाएं उन्हें दिया करती हैं। अथवा बार बार जन्म लेकर प्रत्येक जन्म में फिर उसी कर्म चक्र में पड़े रहना यही फल उनके विस्तृत कर्मों से मिलता है। जन्म मरण प्रवाह से वा कर्म बन्धन से छुटकारा पा जाने का कभी ध्यान ही उन्हें नहीं होता। उनकी वाणी का अन्तिमलक्ष्य भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही है। स्वर्ग में वा इसी संसार में पुनः पुनः जन्म लेकर बहुत बड़े भोग और ऐश्वर्य अर्थात् राजा आदि का जन्म लेकर अपनी आज्ञा का प्रचार यही प्राप्त कर लेना उनका उद्देश्य बनता है। ये भोग और ऐश्वर्य थोड़े काल के हैं। इनके अनन्तर फिर अनेक प्रकार के दुःख ही सहना है, ऐसा वे कभी नहीं सोचते। (२-४३)

इस प्रकार भोग और ऐश्वर्य में ही निरन्तर चित्त लगाने वाले और उनकी प्रशंसा के वाक्यों में जिनका मन फँस गया है ऐसे पुरुषों को व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती। क्योंकि व्यवसायात्मक बुद्धि समाधि दशा में मिलती है। समाधि नाम मन की एकाग्रता का है, भोग और ऐश्वर्य की इच्छाएं मन को एकाग्र होने ही नहीं देतीं। उनकी बुद्धि भी मन की चंचलता के वश में हो जाती है। तब एक रूप व्यवसायात्मक बुद्धि उन्हें प्राप्त हो इसकी संभावना ही क्या हो सकती है ?

इन श्लोकों से कई विद्वान् ऐसा समझते और आक्षेप करते हैं कि भगवद्गीता में वेदों की निंदा की गई है। इससे स्पष्ट है कि गीता वेद विरोधिनी है। किन्तु यह उनका भ्रम है। जिस गीता के विभूति पाद में सामवेद को, वेद वक्ता महर्षि को, वेदों का विभाग करने वाले भगवान् व्यास को, वेदों के मुख्य छन्द गायत्री की ओर वेद प्रतिपाद्य देवता वसु को भगवान् ने अपना रूप बतलाया है और विश्वरूप दर्शन प्रसंग में वे वेद के ऋषियों को अपने शरीर में अर्जुन को दिखलाया है। पन्द्रहवें अध्याय में—

"वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्योवेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम्"

अर्थात् सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ और वेदों का वेत्ता भी मैं ही हूँ यह स्पष्ट कहा है। तेरहवें अध्याय के आरम्भ में अपने वाक्य को प्रमाणित करने के लिए—"ऋषिभिर्बहुधागीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्" इस वाक्य के द्वारा ऋषियों के गाए हुए छन्दों अर्थात् वेद मन्त्रों को उपस्थित किया है और १६ वें अध्याय के अन्त में स्पष्ट ही कहा है कि जो शास्त्र का विधान छोड़कर इच्छानुसार कार्य करता है वह सिद्धि सुख वा परमगति को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए अर्जुन तुम अपने कर्तव्य निश्चय में शास्त्र को ही प्रमाण मानो और शास्त्रविधि के अनुसार ही कर्म करो। यहाँ शास्त्र पद से वेद ही लिया जा सकता है क्योंकि और कोई शास्त्र गीता से अधिक प्रमाण भूत वा इससे प्राचीन हो ऐसा स्पष्ट सिद्ध नहीं होता। तब इस प्रकार पद पद में वेद का संकेत प्रमाण रूप से

करने वाली गीता वेद की विरोधिनी कैसे हो सकती है यह विद्वानों को विचार करना चाहिए। यथार्थ बात यह है कि वेद में ही दो पृथक् पृथक् काण्ड हैं एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड दोनों का ही संक्षेप या विस्तार से विवरण मन्त्र संहिताओं में भी प्राप्त है और ब्राह्मण के तो ब्राह्मण और उपनिषद् नाम से दो विभाग ही प्रसिद्ध हो गए हैं। इनमें कर्मकाण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण विस्तार से यज्ञों का प्रतिपादन करते हैं और उपनिषद् मोक्ष प्राप्ति के लिए परब्रह्म की उपासना और उसका ज्ञान बतलाते हैं। इनमें उपनिषत् भाग कहीं कहीं कर्मकाण्ड पर आक्षेप भी करते हैं कि इनका फल क्षीण होने वाला है, वह जीव को बन्धन से छुड़ाने वाला नहीं। इस प्रकार के केवल कर्मकाण्ड निरत पुरुषों पर वा कर्म विधियों पर आक्षेप वेद में भी कई जगह प्राप्त होते हैं। मन्त्र भाग में ही स्पष्ट कहा गया है—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति यइत् तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति"।

(ऋचाओं का मुख्य प्रतिपाद्य परम व्योम नाम का अक्षर पुरुष है। उसी के आधार पर सब देवता स्थित हैं, जो उसे नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा अर्थात् क्या लाभ उठावेगा, जो उसको जान लेते हैं वे ही अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं,—इत्यादि)। मुण्डकोपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा है—

"प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युंते पुनरेवापि यन्ति—१-७
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः
नाकस्यं पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेऽमं लोकं हीनतरंचाविशन्ति"—१-१०

अर्थात् ये यज्ञरूप नावें कच्ची डोंगियाँ हैं जिनमें कि अठारह व्यक्तियों से संपादन करने योग्य कर्म बतलाए हैं। बड़े सोम आदि यज्ञों में सोलह ऋत्विज एक यजमान और एक यजमान पत्नी यों कुल मिलाकर पुरुष यज्ञ के अंग होते हैं। ऐसे यज्ञादि को ही जो लोग श्रेय अर्थात् परम पुरुषार्थ मानते हैं वे मूढ़ हैं और जन्म मृत्यु के प्रवाह में वे सदा पड़े रहते हैं। और भी कहा है—जो अतिमूर्ख लोग यज्ञ और वापी, कूप, धर्मशाला आदि निर्माण को ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, इससे आगे जन्म मरण प्रवाह को विच्छिन्न करने वाले ज्ञान, उपासना आदि को जो जानते ही नहीं, वे कुछ काल स्वर्ग में अपने पुण्य का फल भोगकर फिर इसी लोक में आ जाते हैं और संभव है आगे पापकर्म में निरत हो जायँ तो इससे भी अति निकृष्ट नरकादि का भी भोग करें।

इस प्रकार स्वयं वेद भाग में ही वेदोक्त कर्मों का अस्थायी फल बतलाते हुए उनकी निन्दा की गई है। भगवद्गीता उपनिषदों का सार है, इसलिए इन

उपनिषद् वाक्यों का भी तात्पर्य इसमें कह दिया गया। जो लोग सांसारिक बन्धनों में बंधे हुए हैं, ज्ञान का उदय जिनके हृदय में हो ही नहीं सकता, इतना मलिन जिनका अन्तःकरण है, उनको चित्त शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड में यज्ञ आदि बताये गये। और जब वे चित्त शुद्ध होने पर ज्ञान उदय होने की योग्यता उनमें आ जाय तब उस कर्मकाण्ड से हटाकर आगे बढ़ाने के लिए उसके फल को अनित्य बताते हुए कर्मकाण्ड पर आक्षेप कर दिया जाता है। यह सब अधिकार भेद पर व्यवस्थित है। इसका विशेष विवरण अग्रिम पद्य के प्रवचन में करेंगे। तात्पर्य यह कि वेद के ही एक भाग उपनिषद् में जैसा कर्मकाण्ड पर आक्षेप किया गया है वैसा ही भगवद्गीता में भी है। इससे भगवद्गीता वेद विरोधिनी है ऐसी कल्पना सर्वथा निस्सार है।

इसके अतिरिक्त इस पद्य में वेद वादों में निरत पुरुषों पर ही न्यून फल में फँस जाने का आक्षेप किया गया है। वाद शब्द का अर्थ फलवाद वा अर्थवाद है यह पद्य के अर्थ में स्पष्ट कर चुके हैं। यदि पूर्व मीमांसा की ही प्रक्रिया देखी जाय तो भी वेद के मुख्य प्रतिपाद्य अंश पर इससे कोई आक्षेप नहीं आता। अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य पूर्व मीमांसक भी नहीं मानते। वे तो केवल विधि में प्ररोचना और निषेध्य में प्रद्वेष बताने के लिए स्तुति निन्दा रूप में कहे गए हैं। उनमें स्तुति सुनकर पुरुषों की विधि प्रतिपाद्य कर्म में प्रवृत्त होती है और निन्दा सुनकर निषिद्ध कर्म से निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति या निवृत्ति कराना ही अर्थवाद वाक्यों का उद्देश्य है। स्वार्थ प्रतिपादन में उनका कोई तात्पर्य नहीं। इस प्रकार पूर्व मीमांसकों ने भी अर्थवादों को उपेक्षित ठहराया है। इसलिए उनपर आक्षेप वेद पर आक्षेप नहीं कहा जा सकता। फलवाद में भी विधि का तात्पर्य नहीं होता। क्योंकि फल विधेय नहीं है। "स्वर्ग कामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में "स्वर्ग की इच्छा करो" ऐसा विधान सिद्ध नहीं होता किन्तु यदि स्वर्ग की इच्छा हो गई हो तो उपाय रूप से यज्ञ करना चाहिए। यह उस वाक्य का अर्थ होता है। इसलिए स्वर्ग कामना तो वहाँ उद्देश्य का विशेषण होकर ही रहती है। विधेय तो वहाँ यज्ञ कर्म ही है और विधेय में ही वाक्य का मुख्य तात्पर्य रहता है यह पूर्व मीमांसकों का निर्णय है। भगवान् ने गीता में सर्वत्र कामना को ही निन्दित ठहराया है। कर्मों की कहीं निन्दा नहीं की। प्रत्युत सर्वत्र यही प्रतिपादन किया है कि फलाशा को छोड़कर कर्म तो करते ही रहना चाहिए। इसलिए वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य कर्म भाग पर तो कहीं भी कोई आक्षेप गीता में मिलता नहीं। जो कुछ आक्षेप है वह फलांश पर ही है। फलांश वेद वाक्यों का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं। इसलिए फलांश पर किया गया आक्षेप वेद का विरोध करना नहीं कहा जा सकता। फल की इच्छा तो अन्तःकरण में स्वतः उत्पन्न होती है। वह विधान साध्य नहीं। जो लोग विधि वाक्यों को नहीं सुनते, नहीं जानते वा उनपर श्रद्धा नहीं करते वे भी फल भोग की इच्छा तो सदा किया ही करते हैं। इससे ही सिद्ध

हो जाता है कि फल की इच्छा किसी शास्त्र से नहीं उत्पन्न की जाती। वह तो माया जनित राग के द्वारा अन्तःकरण में उदित होती है। इसीलिए शास्त्रों में फलांश को "रागतः प्राप्त" कहा जाता है। शास्त्र तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए उपाय मात्र बता देता है। जैसे भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लौकिक भिन्न भिन्न प्रकार के उपाय हैं वैसे ही वेद ने भी स्वर्ग सुख भोग की प्राप्ति के उपाय बतला दिए हैं। लौकिक उपायों की अपेक्षा वैदिक उपायों में विशेषता यही है कि लौकिक उपाय अल्प सुख उत्पन्न करते हैं और वह सुख अतिशीघ्र ही नष्ट होने वाला होता है। वैदिक यज्ञ आदि उपायों से जो स्वर्ग सुख मिलता है वह लौकिक सुखों की अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणी का है और इनकी अपेक्षा बहुत कुछ चिरस्थायी भी है। इसीलिए अधिक और चिरस्थायी सुख प्राप्त करने के लिए आस्तिक पुरुषों की प्रवृत्ति वैदिक कर्मों में हुआ करती है। किन्तु वैदिक कर्मों से प्राप्त होने वाले अधिक सुखों में भी तारतम्य है। स्वर्ग में जाकर भी कोई सामान्य कोटि का देवता बनता है। उत्कृष्ट कर्म करने वाले वहाँ अधिकारी बन जाते हैं। शत यज्ञ पूरे कर लेने वाले इन्द्र पद प्राप्त कर लेते हैं। यह भी पुराण आदि में वर्णित है। अब जिन्हें सामान्य देव भाव मिला वे अपने से उत्कृष्ट अधिकारियों को देखकर चित्त में अवश्य संकुचित होंगे कि हमें भी इतना अधिकार मिलता तो बहुत अधिक सुख होता और लौकिक सुखों की अपेक्षा कितना ही चिरस्थायी हो किन्तु अन्ततः है वह भी विनश्वर। उसका भी क्षय होना ही है। क्षय हो जाने पर पूर्व सुखानुभवों का स्मरण कर अन्तःकरण में घोर दुःख होगा, जैसे लोक में कोई पुरुष बड़ा अधिकार प्राप्त कर फिर उससे विच्युत हो जाता है तो उसे-जिसने कभी अधिकार प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा बहुत अधिक दुःख होता है। पुरुष जितना भोग भोगता है उतना ही उनमें अधिक राग बढ़ जाता है और उन भोगों के नष्ट होने पर बहुत अधिक क्लेश होता है। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर वेद के ज्ञान काण्ड और दर्शन शास्त्रों में यज्ञादि जन्य सुख को लौकिक सुख के समान ही बतलाया है और परम पुरुषार्थ के आगे उन्हें सर्वथा हेय माना है। यही बात गीता में भी है। इसलिए यह अंश भी वेदोक्त का ही अनुवाद है वेद विरोध का यहाँ कोई प्रसंग नहीं।

———

तैतीसवाँ-पुष्प

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ २।४५

हे अर्जुन। सत्त्व रज तम नाम के तीन गुणों से उत्पन्न संसार वेदों का प्रकाशनीय है। किन्तु तुम तो इन तीनों गुणों से ऊपर जाकर-उठकर निस्त्रैगुण्य बन जाओ। शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के वश में मत रहो। सदा ही सत्त्व अर्थात् धैर्य में स्थित रहो। योग और क्षेम की भी चिन्ता छोड़ दो। केवल आत्मनिष्ठ हो जावो।

पूर्व पद्य में कहा गया है कि वेदोक्त स्वर्गादि फलों की वासना रखने वालों को व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त नहीं होती। इसपर प्रश्न होता है कि वेद तो जगत् के कल्याण के लिए भगवान् ने प्रकट किए हैं। फिर उनमें ऐसे कल्याणकारक व्यवसायात्मक बुद्धि प्रतिबन्धक विषय क्यों कहे गये ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि संसार त्रिगुणात्मक है। आगे कहना है कि जगत् की रचना भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति करती है और प्रकृति सत्त्व रज तम तीनों गुणों का एक समष्टि नाम है। इन गुणों में कोई एक प्रधान रहता है और शेष दो उसके अंग बन जाते हैं, व उससे दब जाते हैं। इसलिए संसार में तीनों प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं। किसी में सत्त्वगुण प्रधान होता है, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण। इन तीनों गुणों का विस्तार आगे सत्तरहवें और अट्ठारहवें अध्याय में भगवान् बतावेंगे कि सत्त्वगुण प्रधान मनुष्यों की प्रवृत्ति सदा शान्तिमय और निष्काम रहती है, रजोगुण प्रधान पुरुष कामनाओं से व्यग्र रहते हैं और तमोगुण प्रधान दूसरों के अहित में ही तत्पर रहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्राणी और विशेषकर मनुष्य भी तीनों प्रकार के पाए जाते हैं। वेदों को तो सबको ही हितोपदेश करना है और सबका ही हित साधन करना है। इसलिए सबके ही उपयोगी उपदेश उनमें प्राप्त होते हैं। रजोगुण वाले कामना प्रधान पुरुष संसार में बहुत हैं, इसलिए उनकी कामनाओं की पूर्ति के उपाय विविध कर्म वेद में विस्तार से बताए गए हैं। जिनसे स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती है। और जो मनुष्य पूर्वकृत कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धान्तः करण हो चुके हैं, जिनकी कामनाएं दब चुकी हैं, उनके लिए आरण्यक और उपनिषदों में उपासना और तत्त्वज्ञान का उपदेश भी वेदों में ही दिया गया है। यदि वेद केवल निष्काम पुरुषों को ही उपदेश देते तो रजोगुण प्रधान सकाम पुरुष वेदों के उपदेशरूप लाभ से वंचित रह जाते। तब सब जगत् का उपकार वेदों के द्वारा कैसे होता ? वेदों को प्रकट करने वाले परमात्मा पर भी यह कलंक आता है कि उसने कुछ थोड़े से सत्वगुण प्रधान प्राणियों को ही उपदेश दिया। अधिकतर मनुष्यों के कल्याण का उपाय

नहीं किया। इसलिए सब प्रकार के प्राणियों के उद्धार के लिए ही वेदों को प्रयत्न करना पड़ा है। यहाँ "त्रैगुण्यविषयाः" इस शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अनेक रूप से किया है। व्याकरण की रीति से "तीनों गुणों का समुदाय वा उससे उत्पन्न" इतना ही इस शब्द का अर्थ होता है। इसलिए कई व्याख्याकारों ने तीनों गुण ही वेदों के उपदेश के विषय हैं, यही अर्थ माना है। तीनों गुणों से तीनों गुणों वाले मनुष्य आदि प्राणी ले लिए जाएंगे, अथवा तीनों गुणों से उत्पन्न संसार वा सांसारिक प्राणी शब्द के अर्थ में ही प्रविष्ट कर लिए जाएं, ऐसा भी कई व्याख्याकारों का मत है। तीनों गुणों का समुदाय वेदों का विषय अर्थात् प्रतिपाद्य है—तीनों गुणों का वर्णन वेद करते हैं, यह भी अर्थ हो सकता है। किसी भी प्रकार का अर्थ किया जाय तात्पर्य एक ही होगा कि वेद तीनों गुण वाले मनुष्यों के उपकार के लिए हैं। वेद सबको ही अपने अधिकार के अनुसार उपदेश देता है—कर्मकाण्ड के अधिकारियों को कर्मकाण्ड द्वारा उनकी अभिलाषा की पूर्ति के साधन बताता है; उपासना के अधिकारियों को उपासना का उपदेश देकर आगे बढ़ाता है और ज्ञान के अधिकारियों को तत्वज्ञान का उपदेश देकर सीधा मोक्ष मार्ग में प्रविष्ट कराता है। अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्रत्येक मनुष्य उसमें से अपना कर्तव्य चुन ले वा गुरु उनको अपने अधिकार के अनुकूल मार्ग में लगादें, जिससे उनका हित हो।

वैदिक सनातन धर्म की यही विशेषता है कि वह अधिकार-भेद स्थापित कर प्रत्येक मनुष्य को हितकर मार्ग बता देता है। अन्य धर्म जहाँ केवल एक ही मार्ग बताते हैं। उस मार्ग में जो चल सकें, वे अपना कल्याण साधन करें। जो न चल सकें, उनके लिए कोई उपाय नहीं। अर्थात् एक मार्ग में न चल सकने वालों के लिए उन धर्मों का दरवाजा बन्द रहता है। जैसे कि हमारे देश भारत में ही उद्भुत जैन और बौद्ध धर्म हैं। वे वेद को नहीं मानते। अतएव अपने यहाँ अधिकार-भेद भी नहीं रखते। उनके धर्म केवल निवृत्ति-मार्ग को प्रधान रखते हैं। किन्तु प्रश्न यही है कि निवृत्ति-मार्ग में कितने मनुष्य जा सकते हैं? प्राणियों के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति-मार्ग ही है। आज जो जैन वा बौद्ध संसार में दिखाई देते हैं, उनमें से कितने निवृत्ति मार्ग के अनुगामी हैं, इसकी परीक्षा की जाय तो प्रतिशत बहुत ही अल्प अंश निवृत्ति प्रधान पुरुषों का प्राप्त होगा। तब शेष पुरुष तो नाम मात्र के ही जैन-बौद्ध हैं। उस मार्ग से वे अपना कल्याण-साधन नहीं कर सकते। यही सिद्ध होता है। और तो क्या आज संसार में जो बहुत बड़ा व्यापक धर्म फैला हुआ है, जिसके प्रचारक भी हजारों-लाखों की संख्या में सम्पूर्ण भूमण्डल में घूमते रहते हैं, उस ईसाई धर्म के उद्भावक हजरत ईसा का एक उपदेश प्रसिद्ध है कि "जो कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। बदला लेने का कभी प्रयत्न न करो"। इसमें सन्देह नहीं कि उपदेश अत्यन्त शान्ति-प्रधान और कल्याण-कारक एवं उच्च श्रेणी का है। परन्तु देखना यही चाहिए

कि इसका पालन कितने मनुष्य कर सकते हैं। यदि कहो कि इसे आदर्श मानना चाहिए और इसके पालन के लिए यत्न करना चाहिए, तो कहना होगा कि बात ठीक है। किन्तु, यत्न करके भी इतनी शान्ति प्राप्त कर लेने में कितने मनुष्य सफल होंगे ? हम कह चुके हैं कि आज संसार में यह एक व्यापक धर्म बन रहा है। किन्तु नाम के लिए इस धर्म के अनुयायी बनने वालों में नित्य लड़ाई-झगड़े, नित्य भिन्न-भिन्न प्रकारों से औरों के नाश करने की प्रवृत्ति और सदा ही बदला लेने की भावना देखी जा रही है। उस शान्ति का लेशमात्र भी प्रतिशत-प्रतिसहस्त्र वा प्रतिलक्ष एक में भी नहीं दिखाई देता। तब उस उपदेश का लाभ जनता ने क्या उठाया वा उस उपदेश की श्रेणी तक पहुँचने के लिए आरम्भिक उपाय क्या है ? यह उस धर्म में नहीं बताया जाता। इसलिए कहना होगा कि बहुतों के लिए ऐसे शान्ति प्रधान वा निवृत्ति प्रधान धर्मों का द्वार ही बन्द है। किन्तु वैदिक सनातन धर्म में ऐसी बात नहीं। उसके बताए हुए वर्ण धर्म और आश्रम धर्म में क्रम से उन्नत होने के उपाय निर्दिष्ट हैं। मनुष्यों के अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न मार्ग इस धर्म में बताए हुए हैं। वर्तमान में बात उलटी समझी जा रही है। अधिकार-भेद पर चिढ़कर बहुत लोग वैदिक सनातन धर्म पर उलटा आक्षेप करते हैं कि यहाँ तो बहुत से अधिकार ब्राह्मणादि जाति विशेषों को ही दिए जाते हैं। औरों के लिए द्वार बन्द हैं। उन्हें अनधिकारी बता दिया जाता है। यह बात बिल्कुल उलटी है। एक दृष्टान्त देखिए—मान लीजिए कि किसी नगर में दो नए वैद्य आए। उनमें एक वैद्य के पास केवल एक योग (नुस्खा) था। चाहे कोई शिरदर्द वाला आवे वा कोई पेट के अजीर्ण वाला—वही योग सबको वह वैद्य बता देता था। जिन रोगों पर वह योग उपयोगी होता, उस रोग के रोगी उससे लाभ उठाते, किन्तु दूसरे यदि कहते कि हमें तो इससे लाभ नहीं हुआ तो यही उत्तर मिलता कि भाई! यहाँ तो यही औषधि है, लेते जाओ। कभी कुछ हो ही जायगा। न लाभ होगा तो हानि ही उठाना। यह तो वही कहावत हुई जैसा कि किसी कवि ने किसी वैद्य का उपहास करते हुए कहा है कि—

"यस्य कस्यतरोर्मूलं येन केनापि पेषितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥"

अर्थात् किसी भी वृक्ष की जड़ ले लो। उसे किसी भी पदार्थ के साथ पीस डालो। वह चूर्ण किसी को दे दो। कुछ तो हो ही जायगा। इसके विपरीत दूसरा वैद्य जो इसी नगर में आया था, वह प्रत्येक प्राणी के भिन्न-भिन्न रोगों की परीक्षा करता, उस प्राणी की परिस्थिति, उसकी अग्नि का बल आदि देखता और तब सब बातों का विचार कर एक-एक रोग में भी अनेक प्रकार की औषधियों का प्रयोग बताता। अब कहिए कि इन दोनों वैद्यों में से अधिक लोकोपकार किसके द्वारा होगा ? निस्सन्देह आप यही कहेंगे कि अधिक

उपकारक तो वह दूसरा वैद्य ही है जो भिन्न-भिन्न रोगों पर और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न औषधों का प्रयोग करता है। एक प्रकार की औषधि का प्रयोग करने वाले से तो बहुत कम लोग लाभ उठा सकेंगे। बस यही न्याय यहाँ भी समझिए। जैसे वैद्य स्थूल शरीर का चिकित्सक होता है, वैसे ही धर्माचार्य सूक्ष्म शरीर के वा यों कहो कि अन्तः करण व्यावहारिक आत्मा आदि के चिकित्सक हैं। उनमें भी जो भिन्न-भिन्न अधिकार के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रयोग बताता है, वही सबका उपकारक हो सकता है। एक योग बता देने वाले वैद्य की तरह एक ही प्रकार का धर्म बताने वालों से बहुत अल्प जनता लाभ उठा सकती है। इसी उद्देश्य से सनातन धर्म में अधिकार—भेद मुख्य माना गया है। कर्मकाण्ड का अधिकारी कर्म ही करे, उनमें भी वैदिक उच्च यज्ञादि कर्म के अधिकारी उनमें लगाए जायँ, उनसे नीची श्रेणी के अधिकारी स्मार्त यज्ञ ही करें, उसके भी जो अधिकारी न हों, वे यज्ञ दर्शन, उनमें दान वा जप आदि ही कर लिया करें, इससे वे भी क्रम से उन्नति करते जाएंगे। यों ही उपासना में भी अनेक भेद हैं। निर्गुणनिराकार परब्रह्म की उपासना जो नहीं करते, उनके लिए सगुण नाना रूपों की वा उन रूपों की मूर्ति आदि की उपासना बताई गई है। यों ही ज्ञान काण्ड में भी भिन्न-भिन्न मार्ग चलते हैं। क्रमिक उन्नति करता हुआ मनुष्य अन्तिम सर्वात्मक ज्ञान पर पहुँच जाता है। सनातन धर्म का यही विश्वास है कि अधिकारानुसार क्रमिक उन्नति का मार्ग सबको बताना चाहिए। एक ही मार्ग का हठ करने से सबको लाभ नहीं हो सकता। और तो क्या जो अत्यन्त तमोगुणी मनुष्य अपने शत्रु आदि के उच्छेदन को ही अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं उनके लिए भी उपाय वेद ने बताए हैं। वेद में एक श्येन याग का भी विधान मिलता है, जिसका फल है—शत्रुओं का उच्छेदन। पूर्व मीमांसा में विचार हुआ है कि ऐसे कर्म को धर्म तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह कोई पुरुषार्थ रूप नहीं है, किन्तु ऐसे उपाय बताने का भी वेद का लक्ष्य यही है कि जो तमोगुणी मनुष्य धर्म की ओर झुकना ही नहीं चाहते उन्हें उनकी रुचि के अनुसार तामस कार्य भी बताएं जाएं, तो उन उपायों के सफल होने पर उनकी वेद शास्त्रों पर श्रद्धा हो जायगी। उस श्रद्धा के कारण वे वेद शास्त्रों के अन्यान्य उपदेशों पर भी ध्यान देने लगेंगे। इस प्रकार जो सर्वथा शास्त्र-विमुख थे, उन्हें शास्त्र की ओर खींचकर शास्त्र के उपदेश क्रमशः उनके अन्तः करण में जमाए जायेंगे तो सम्भव है कि वे भी एक दिन धार्मिक बन जाएं। उनके सर्वथा उपेक्षा कर देने से तो वे यथेच्छाचारी बनकर अधिकाधिक पतित ही होते जाएंगे, इसलिए परम कारुणिक वेद उनकी रुचि के अनुसार उपदेश देकर उन्हें भी शास्त्र मर्यादा के भीतर पकड़ना चाहता है जिससे कि वे भी सर्वथा बहिर्मुख व वंचित न रहें।

मीमांसा के अनुसार वेदशास्त्रों में एक परिसंख्या नाम की विधि भी होती है। उसका उद्देश्य है कि व्यसनासक्त पुरुष को धीरे-धीरे हटाना। जो मनुष्य मांस भक्षणादि के इतने व्यसनशील हैं कि उससे उनका बचाना असम्भव ही

प्रतीत होता है उन्हें पहिले इतनी स्वतन्त्रता दी जाती है कि देव-पितृ कार्य में अर्थात् यज्ञ श्राद्धादि में तुम मांस भक्षण कर सकते हो। स्वतन्त्र रूप से विना देव-पितृ अर्चन के मांस मत खाया करो। इससे थोड़ी आजादी देकर बहुत कुछ उन्हें बचा लिया गया। लोक में भी ऐसा होता है कि जो बालक दिन-रात खेलने के अभ्यासी हैं, उन्हें एक या दो घण्टे खेलने के लिए दे दिए जाते हैं। उस समय की प्रत्याशा में वे शेष समय में अध्ययन करते रहते हैं। धीरे-धीरे व्यसन से छुड़ा लेने का यह नियम मानव प्रकृति के अनुकूल है। इसी परिसंख्या रूप में मांसादि की अनुज्ञा भी वेद में मिलती है। उसका उद्देश्य यही है कि धीरे-धीरे इन्हें बचा लिया जाय। जिनको द्यूत का व्यसन है उन्हें भी कहा जाता है कि दीपावली के आसपास द्यूत खेल लिया करो। सदा मत खेला करो। इन सबका उद्देश्य शनैः शनैः व्यसनों से बचाना है। जब वर्ष भर द्यूत खेलना एक आदमी छोड़ देगा और केवल दीपावली पर ही खेलने का अभ्यासी रहेगा तो फिर इतने से अंश से उसे बचा देना कौन-सा कठिन है।

इस प्रकार सब पर कृपा करते हुए, सबको मर्यादा में बांधते हुए वेद शास्त्रों में सबके उपकार के लिए सभी प्रकार के विधान किए हैं। किन्तु मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जितना ऊँचा उठ जाय, वहाँ से और ऊपर ही जाने की चेष्टा करता रहे, फिर नीचे न गिरे। इसी आशय से भगवान् ने कहा कि वेद तो तीनों गुणों वाले पुरुषों के लिए है। किन्तु तुम बहुत बुद्धिमान् हो, इसलिए सोच-विचार कर इस त्रिगुण समुदाय से ऊपर उठो। त्रिगुण प्रकृति का धर्म है, आत्मा इसके बन्धन में नहीं है, इसलिए आत्मज्ञान की ओर झुकते हुए त्रिगुणमय प्रपञ्च से ऊपर आ जाओगे। जब त्रिगुण प्रपञ्च से ऊपर आओगे, अर्थात् निस्त्रैगुण्य बनोगे तब निर्द्वन्द हो जाओगे। द्वन्द्व शब्द का अर्थ है—जोड़ा। संसार में परस्पर विरुद्ध अन्तःकरण-वृत्तियों के जोड़े प्रसिद्ध हैं। जैसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि आदि। बहुत से परस्पर सम्बन्धी वृत्तियों के भी जोड़े हैं, जिनसे एक के साथ दूसरा भी आ जाता है। जैसे—अहन्ता-ममता; लोभ-मोह, काम-क्रोध, मद-मात्सर्य आदि। यह सब जोड़े प्रकृति के ही गुणों के प्रपञ्च हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठने पर इनका आक्रमण अन्तःकरण पर नहीं रहता। वही मनुष्य निर्द्वन्द कहलाता है। आगे कहा गया कि नित्य सत्त्व में स्थित हो जाओ। यहाँ शंका होगी कि सत्त्व भी तो प्रकृति का ही एक गुण है। जब भगवान् तीनों गुणों से ऊपर उठने का उपदेश दे रहे हैं, तब तो सत्त्व से भी ऊपर उठना चाहिए। फिर सत्त्व में स्थिति क्यों बताई गई ? इसका समाधान अधिक व्याख्याकार यही करते हैं कि तीनों गुणों के सम्मिश्रण से ऊपर उठो। अर्थात् रज और तम का सम्मिश्रण दबा कर शुद्ध सत्त्व में रहो। शुद्ध सत्त्व से ही व्यवसायात्मक बुद्धि बनेगी और तबही कर्मयोग हो सकेगा। रज और तम का मिश्रण रहते व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं बन सकती। जब तक पुरुष संसार में है तब तक तीनों गुणों का त्याग तो नहीं हो

सकता। तीनों गुणों का त्याग मुक्त होने पर ही होगा। साधन दशा में तो यही कर्तव्य है कि रज और तम को दबाकर शुद्ध सत्व बढ़ाया जाय और सत्व शुद्ध होने पर बुद्धि स्थिर होगी। तथा कर्म योगादि में लगेगी। कई व्याख्याकारों ने यहाँ सत्व शब्द का अर्थ धैर्य किया है। पूर्वोक्त द्वन्द्वों की सहनशीलता बिना धैर्य के नहीं हो सकती, इसलिए धैर्य में स्थित होकर द्वन्द्वों की सहनशीलता प्राप्त करो। धैर्य भी सत्वगुण का ही कार्य है। इसलिए दोनों प्रकार की व्याख्याओं का तात्पर्य एक ही होता है। एक यह भी मार्ग है कि आगम शास्त्र में तीन गुण तो प्रकृति के माने गए हैं और इनसे ऊपर भी एक नित्य सत्व है। जो कि शिव वा ईश्वर का स्वगत धर्म है। जिसके अनुसार ईश्वर सृष्टि करता है। यहाँ सत्व शब्द से भगवान् का अभिप्राय यही है कि तीनों गुणों से ऊपर उठकर उस भगवत तत्त्व के अन्तर्गत सत्व में चले जाओ। संसार दशा में तीनों गुणों से ऊपर उठना यद्यपि सम्भव नहीं है। तथापि भगवान् के उपदेश का आशय यही है कि अपना लक्ष्य त्रैगुण्य से बाहर हो जाना रक्खो। और तदनुकूल ही प्रयत्न करते रहो, जिससे कि संसार से पृथक् हो सकोगे। कदाचित् यह शंका हो कि गुणों का सम्बन्ध छोड़ देने पर योगक्षेम कैसे चलेगा? जो चीज हमें प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त कर लेने का नाम योग है और जो प्राप्त है, उसकी रक्षा करने का नाम क्षेम है। संसारी पुरुषों को अन्ततः भोजनादि व्यापार के लिए तो योगक्षेम करना ही पड़ता है। इसीलिए व्योहार में निर्वाह करने का नाम ही योगक्षेम पड़ गया है। वह सब संसार का निर्वाह भी तो तीनों गुणों के ही अन्तर्गत है। जब गुणों से पृथक् होने का प्रयत्न करेंगे तो संसार के कार्य भोजनादि का निर्वाह भी कैसे हो सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् कहते हैं कि निर्योगक्षेम बनो। अर्थात् योगक्षेम की भी चिन्ता छोड़ दो। जो कुछ स्वतः प्राप्त हो जाय उसी से अपना निर्वाह करते रहो। योग का वा क्षेम का कोई प्रयत्न मत करो। इसे ही दूसरे शब्दों में "यदृच्छालाभसंतुष्ट" कहते हैं। अर्थात् बिना प्रयत्न जो कुछ स्वतः ही प्राप्त हो गया, उसी से निर्वाह कर लेना चाहिए। शास्त्रों में ऐसे ही उपदेश विरक्त लोगों को दिए जाते हैं कि भगवान् स्वयं ही सबके योगक्षेम का प्रबन्ध अपने आप करते हैं। अतएव बालक का जन्म होते ही माता के स्तनों से दुग्ध निकलने लगता है। यही कहा गया है कि—

वृत्यर्थं नातिचेष्टेधा सा हि तत्रैवनिर्मिता।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुःप्रस्रवतः स्तनौ ॥"

अर्थात् अपने जीवन निर्वाह के लिए कोई चिन्ता व चेष्टा नहीं करनी चाहिए। जीविका तो विधाता ने पहिले स्वयं बना दी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि बालक के उत्पन्न होते ही माता के स्तनों से दूध निकलने लगता है। इसी उपदेश को महात्मा लोग इस प्रकार भी कहते हैं कि कोई सामान्य

राजा भी किसी को कारावास का दण्ड देता है, तो उसके भोजन का प्रबन्ध अवश्य ही कर देता है। फिर महाराजाओं के भी महाराज परमात्मा ने कर्मवश जीव को संसाररूप कारावास में भेजा तो वह उसके भोजन का प्रबन्ध कैसे न करेगा। महाराष्ट्र वीर शिवाजी के जीवन-चरित्र में भी ऐसा लिखा है कि जब वे कई किले बनवा रहे थे और उस कार्य में सैकड़ों मनुष्य लगे हुए थे। तब एक दिन निरीक्षण करते हुए उनके चित्त में ऐसा अभिमान आ गया कि इतने मनुष्यों का पालन मैं ही कर रहा हूँ। उसी समय देखा कि उनके गुरु श्री समर्थ रामदास स्वामी जो कि सुप्रसिद्ध सिद्ध प्राप्त थे, सामने से आ रहे हैं। शिवाजी ने प्रणाम किया। गुरु ने एक शिला की ओर संकेत कर कहा कि इसे तोड़वा दो। मजदूरों को आज्ञा हुई। वह शिलाखण्ड तोड़ा गया। उसके भीतर लोगों ने आश्चर्य से देखा कि थोड़ी सी मिट्टी है। उसमें एक छोटी सी मेढ़की बैठी है। और उसके पास एक चुल्लू जल भी वहीं मौजूद है। स्वामी जी ने शिवा जी को सम्बोधित करके कहा कि "बता शिवा ! इस मेंढकी को यह जल किसने पहुँचाया" ? शिवाजी समझ गए कि मेरे चित्त का अभिमान गुरु जी ने जान लिया है और उसे चूर्ण करने के लिए यह रचना मुझे दिखाई है। तुरन्त चरण पकड़ लिए और गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करने लगे कि महाराज ! अब तो ऐसी कृपा कीजिए कि इस प्रकार की दुर्भावनाएं चित्त में उठा ही न करें। अस्तु, आगे भी भगवान् का यह उपदेश आवेगा कि "योगक्षेमं वहाम्यहम्"। अर्थात् जो एकान्ततः विश्वास पूर्वक मेरे आश्रित हो जाते हैं, उनके योगक्षेम का निर्वाह मैं स्वयं करता हूँ। यहाँ भी यही उपदेश दिया है कि योगक्षेम की चिन्ता छोड़ दो। आगे आत्मवान् शब्द है। उसके भी दोनों प्रकार के अर्थ व्याख्याओं में मिलते हैं कि त्रिगुणमय संसार को छोड़कर केवल आत्मा की ही ओर ध्यान रक्खो। आत्मावाले तो सभी हैं फिर आत्मवान् शब्द के प्रयोग का यही आशय हो सकता है कि आत्मा की ही ओर सतत् ध्यान रहना चाहिए। "अप्रमत्त रहो" यह अर्थ भी इस शब्द का व्याख्याओं में किया गया है।

इस श्लोक में भी कई सज्जन वेद-विरोध व वेद-निन्दा की शंका उठाया करते हैं। वेद तो गुणत्रय के भीतर की बात करते हैं। तुम उससे ऊपर उठो, इस कथन से वेद का छोटापन दिखाया गया। किन्तु यह शंका व्यर्थ है। हम कह चुके हैं कि तीनों गुणों में स्थित पुरुषों के उद्धार का प्रयत्न वेद करता है। सत्वगुण वालों के लिए त्रैगुण्य प्रपञ्च से बचने का उपदेश भी वेद के उपनिषद् भाग में दिया गया है। उसी उपनिषदों के उपदेश को भगवान् ने भी यहाँ अर्जुन के प्रति प्रकट किया। फिर विरोध वा निन्दा का यहाँ प्रसंग ही कहाँ है ? भगवद्गीता तो वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों का ही अनुवाद है।

चौतीसवाँ-पुष्प

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २।४६

इस पद्य की दो प्रकार से व्याख्या भाष्यकार और व्याख्याकारों ने की है। दोनों ही व्याख्याएं प्रसंग संगत और युक्तियुक्त हैं। इसलिए दोनों का ही हम यहाँ उद्धरण कर देते हैं।

प्रथम प्रकार की व्याख्या

पूर्वोक्त उपदेश में सांसारिक मनुष्यों को यह शंका हो सकती है कि यदि हम वेदोक्त कर्मकाण्ड को छोड़ देंगे तो उस कर्मकाण्ड द्वारा होने वाले स्वर्गादि लाभ से तो हमें वंचित ही होना पड़ेगा। तब यदि एक लाभ छुड़ा कर दूसरे लाभ में भगवान् प्रवृत्त कर रहे हैं तो यह कौन सी महत्व की बात हुई ? एक लाभ हुआ तो दूसरा तो छूट ही गया। इस शंका के निवारणार्थ भगवान् का यह उपदेश है। श्लोक का अर्थ है कि किसी उदपान अर्थात् कूप-वापी आदि में मनुष्य का स्नान, जलपान आदि जितना प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, यदि चारों ओर भरा हुआ जल मिल जाय तो उसमें वह सब प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जायगा और अधिक भी हो सकेगा। इसी प्रकार सब वेदों के कर्मकाण्डों से जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना सब तो ज्ञानवान् ब्राह्मण को भी सिद्ध हो ही जाता है। उससे बहुत अधिक भी प्रयोजन सिद्ध होता है। यह भी तात्पर्य समझना चाहिये। इससे यही सिद्ध किया जाता है कि हानि कुछ नहीं होगी, अधिक लाभ ही होगा।

ज्ञानसहित कर्मयोग के फल में कर्मकाण्ड का फल भी अन्तर्गत हो जायगा। इसका तात्पर्य भी दो प्रकार से लगाया जा सकता है। एक यह कि सब क्रियाओं का अन्तिम फल सुख प्राप्ति ही है। लौकिक क्रियाएं जो कुछ भी हम करते हैं, उनका भी अन्तिम लक्ष्य सुख प्राप्ति ही रहता है। कोई कुमार अध्ययन में प्रवृत्त होता है तो इसीलिए कि अध्ययन द्वारा ज्ञान होगा और उस ज्ञान से आत्मा में एक विशेष प्रकार का आनन्द होगा। किसी वस्तु का कार्य-कारण भाव जाने बिना अज्ञानी पुरुषों के हृदय में एक खुटक रहती है। वे जिज्ञासा से व्याकुल रहते हैं कि इस तत्त्व को कैसे समझें ? वही व्याकुलता निवृत्त होने से ज्ञानी को आनन्द हो जाता है। अथवा जिनका क्षुद्र लक्ष्य है, वे अध्ययन में इसीलिए प्रवृत्त होते हैं कि विद्या के द्वारा धनोपार्जन कर सकेंगे और उससे कई प्रकार के उपयोग कर सुख प्राप्त कर सकेंगे। व्यापारी मनुष्य

व्यापार में वा श्रमिक पुरुष श्रम में प्रवृत्त होता है तो वह भी इसीलिए कि व्यापार वा परिश्रम से धनोपार्जन होगा। और उससे उपभोग साधन होकर सुख होगा। इस प्रकार विस्तृत दृष्टि फैलाने से सब क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य सुख ही सिद्ध होता है। लौकिक क्रियाओं के समान वैदिक कर्मकाण्डों का अन्तिम लक्ष्य भी सुख ही है। यज्ञादि से स्वर्ग प्राप्त कर वहाँ अद्भुत प्रकार के सुख प्राप्त कर सकेंगे। इसी उद्देश्य से काम्य कर्मों में प्रवृत्ति होती है। अभियुक्तों ने स्वर्ग का स्वरूप यही बताया है कि—

यन्नदुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

अर्थात् जो सुख दुःख से मिश्रित न हो और आगे होने वाले दुःख से मिश्रित भी न होता हो, एवं इच्छा मात्र करने से ही जो प्राप्त हो जाय, उस सुख को ही स्वर्ग नाम से कहा जाता है। यज्ञ आदि के द्वारा ऊपर के लोकों में जाकर ऐसा ही सुख प्राप्त किया जाता है। यद्यपि उस सुख का भी क्षय होने पर आगे दुःख से ग्रास होता है और सुख काल में भी कुछ दुःख का सम्मिश्रण विरोधी असुरों के भयादि से पुराणों में सुना जाता है। किन्तु हम लौकिकों की अपेक्षा वह दुःख का मिश्रण बहुत अल्प है और क्षय भी उस सुख का बहुत काल में होता है। इसलिए अपेक्षा कृत उसे अमिश्रित और अक्षय ही समझा जाता है। अस्तु यहां हमारा वक्तव्य इतना ही है कि लौकिक वा वैदिक कर्मों का जो किसी कामना से किए जाते हैं, उन सबका अन्तिम प्रयोजन सुख प्राप्ति ही है। सुख प्राप्ति का लक्षण न रहने पर कोई भी कार्य नहीं किया जाता। बस, यहां भगवान् का वक्तव्य यही है कि वे सब कर्म करके जो सुख प्राप्ति तुम्हें होती है उससे कहीं अधिक सुख प्राप्ति कामनाओं के त्याग से हो जाती है। पूर्व कह चुके हैं कि शान्ति और समृद्धि दो प्रकार के आनन्द हैं उनमें शान्तिरूपानन्द ही मुख्य है। समृद्धि का आनन्द भी अन्त में शान्तिरूप में ही परिणत हो जाता है और समृद्धि का आनन्द भोगता हुआ भी पुरुषशान्ति आनन्द रूप निद्रा की इच्छा विवश होकर करता ही है। किसी वस्तु के बिना प्राप्त किए जो चित्त में व्यग्रता वा चंचलता रहती है, वही व्यग्रता वा चंचलता दुःख है और वस्तु प्राप्त हो जाने पर वह चंचलता निवृत्त हो जाती है। वही सुख वा आनन्द कहाता है। यही उपदेश निवृत्तिमार्ग के अनुयायी महात्माओं ने विविध प्रकार से दिया है—

यच्च कामसुखं लोके यच्चदिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः शोडषीं कलाम्॥

कामना की पूर्ति से जो लौकिक सुख होता है, और यज्ञादि से जो देवलोक का सुख प्राप्त होता है, यह सब सुख उस सुख के १६ वें भाग भी नहीं जो

सुख तृष्णा क्षय से प्राप्त होता है। महात्मा भर्तृहरि ने भी सब सुख केवल रोग निवृत्त करने के ही समान है, इसका उपपादन किया है—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिवति सलिलं स्वादुसुरभि
क्षुधार्तःसन् शालीन् कवलयति शाकादि बलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ़तरमालिङ्गति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमितिविपर्यस्यति जनः॥

इसका अर्थ है कि जब मनुष्य को तृषारूप रोग सताता है तब वह मिष्ट और सुरभित जल का पान कर उस रोग को दूर कर देता है। किन्तु उसी से वह मानता है कि सुन्दर-मिष्ट जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति के लिए शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावलादि का उपयोग कर उस रोग को दूर किया जाता है। इसे भी मनुष्य यही मानते हैं कि भोजन में बड़ा आनन्द आया। यों ही काम प्रदीप्त होना भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति के लिए स्त्री से सम्बन्ध करता है। उसे भी मनुष्य बड़ा आनन्द मान लेता है। यों वास्तव में सब क्रियाएं रोगों के उपाय ही हैं। किन्तु मनुष्यों को इनमें सुख की भ्रान्ति हो रही है। इन सबका तात्पर्य यही है कि शान्तिरूप आनन्द ही मुख्य है। उसी की प्राप्ति के लिए समृद्धि की भी अभिलाषा की जाती है। समृद्धि प्राप्त होने के क्षण में जो आनन्द आता है वह अन्तःकरण का उल्लासरूप आनन्द उसी क्षण में रहता है। वह उल्लास आगे नहीं रहता। इसका भी कारण है कि क्षणिक समृद्धि का आनन्द आगे शान्ति-आनन्दरूप में परिणत हो जाता है। अब आगे वह समृद्धि छिन जाय तो दुःख होता है। अर्थात् वह समृद्धि अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गई थी, उसके छिनने से स्वरूप में क्षति होगी। शान्ति बिगड़ेगी और उस अशान्ति से ही दुःख होगा। रोग उत्पन्न होकर उसकी चिकित्सा से रोग को दूर करना इसकी अपेक्षा यदि इस रोग को उत्पन्न ही न होने दिया जाय तो वह शान्ति बहुत ही अधिक मूल्यवान् है। उसी के लिए मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहता है कि मेरा ऐसा स्वास्थ्य रहे जिसमें रोग कभी उत्पन्न ही न हो। रोग उत्पन्न होकर उनका चिकित्सा से निवृत्त होना सदा स्वस्थ रहने के सुख के अन्तर्गत हो जाता है। यह कोई अभिलाषा नहीं करता कि मुझे भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होवें और उनकी चिकित्सा द्वारा मैं उन्हें मिटाता रहूं। प्रत्युत यही अभिलाषा रहती है कि रोग कभी उत्पन्न ही न हो। इसी प्रकार मन के रोग काम-क्रोधादि उत्पन्न होकर शान्त किए जायं, इसकी अपेक्षा वे उत्पन्न ही न हों, ऐसा उपाय करने में बहुत अधिक सुख है। भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाएं उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न उपायों से उनके तृप्त करने पर जो सुख प्राप्त होगा वह कामना उत्पन्न न होने के सुख के अन्तर्गत है। अथवा कामना उत्पन्न न होने का सुख उससे कहीं अधिक है। इसी आधार पर तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्दवल्ली में जो आनन्द का तारतम्य

बताया है कि एक स्वस्थ समृद्धिशाली विद्वान्, युवापुरुष को जो आनन्द है वह मनुष्य आनन्द की एक सीमा है। उससे शतगुणित आनन्द गन्धर्वों का है। उससे भी शतगुणित देवगन्धर्वों का, उससे शतगुणित पितरों का, उससे भी शतगुणित देवताओं का इत्यादि रूप से क्रमिक आनन्द वृद्धि देवयोनियों की वहाँ बताई है। किन्तु सबके साथ "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" यह वाक्य भी लगाया है। उसका अर्थ यही होता है कि गन्धर्व-पितृ-देवता इन सबको जितना आनन्द प्राप्त है, उतना ही आनन्द उस वेदवेत्ता श्रोत्रिय को प्राप्त है जो कि कामना से उपहत न हुआ हो। इसका यही आशय स्पष्ट है कि कामनाओं का जो परित्याग कर देता है उसको गन्धर्व-पितृ-देव इत्यादि सबका आनन्द प्राप्त हो जाता है। यहाँ "ब्राह्मणस्य विजानतः" इसमें ब्राह्मण शब्द का "ब्रह्म को जानने वाला" ही अर्थ है। अर्थात् जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया, ऐसे ब्रह्मवेत्ता के आनन्द में कर्मकाण्ड से देवलोकादि प्राप्त करने वालों के सब आनन्द अन्तर्गत हो जाते हैं। प्रत्युत् इसका आनन्द उन सबसे उच्च श्रेणी का रहता है। क्योंकि यज्ञादि कर्मों द्वारा जिसने उच्च लोक प्राप्त किए हों उन्हें कभी न कभी अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर कष्ट भी होगा। किन्तु जिसे कामना ही नहीं है उसे कष्ट होना कभी सम्भव ही नहीं। इसलिए वैदिक यज्ञादि कर्म करने का जितना सुखरूप फल था, वह तो इस ज्ञान पूर्वक कर्मयोग के प्रकार में आ ही गया, उससे बहुत अधिक भी यहाँ प्राप्त हुआ। कर्मों के फल ज्ञान के अन्तर्गत हो जाते हैं। उसका दूसरा प्रकार यह भी है कि मुक्ति दो प्रकार की शास्त्रों में बताई गई है—१—विदेह मुक्ति, २—क्रम मुक्ति। जिस पुरुष को यहीं पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई, उसके प्राण उत्क्रान्त होकर कहीं जाते नहीं। यहीं सबमें लीन हो जाते हैं। अर्थात् शरीर छोड़ते ही उसे सर्वात्मभाव प्राप्त हो जाता है। वह सबमें आत्मरूप से ब्रह्म के समान प्रविष्ट हो जाता है। यह विदेह मुक्ति है। जैसा कि श्री शुकदेव जी के सम्बन्ध में श्रीभागवत में कहा गया है कि वे शरीर छोड़कर आत्मा रूप से सबमें प्रविष्ट हो गए। जब भगवान् व्यास उन्हें पुत्र-पुत्र कहकर पुकारने लगे तब उस सम्बोधन का उत्तर उन्हें वृक्षों से मिला इत्यादि। जिस पुरुष को इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान नहीं सिद्ध हुआ, वह यहाँ से सूर्य मण्डल भेद कर और ऊपर के लोकों में जाता है। इन लोकों में बहुत काल तक विचरण करता हुआ ब्रह्म के सत्य लोक में जाकर ब्रह्मा की आयुपर्यन्त वहाँ रहता है और वहीं पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाता है। यह क्रम-मुक्ति कही जाती है। इन दोनों का विशेष विवरण हम अष्टमाध्याय के गति-प्रकरण में करेंगे। इस क्रम-मुक्ति प्राप्त करने वाले के सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया है कि—"सर्वेषु लोकेषु अस्य कामचारो भवति"। अर्थात् सिद्धि प्राप्त होने पर इस पुरुष को वह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि इच्छानुसार सब लोकों में जा सके। यदि इसके चित्त में पितृ लोक की इच्छा हो, तो इसके संकल्पमात्र से पितृलोक के रहने वाले इसका उपस्थान करने

लगते हैं। अर्थात् उसे सादर अपने लोक में लेजाकर भ्रमण कराते हैं। इसी प्रकार देवलोकादि की इच्छा होने पर यह उन लोकों में भी जा सकता है। और वहाँ जाने पर वहाँ के सुख भोग इसे स्वयं प्राप्त हो ही जाते हैं। इस विषय में कहना ही क्या है? यद्यपि साधन दशा में कामना छोड़ देने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है, किन्तु पूर्णरूप से अभी अन्तःकरण निवृत्त नहीं हुआ है, इसलिए पूर्व संस्कारवश कभी इच्छा हो भी जाय तो इतनी शक्ति उसे मिल जाती है कि वह अपनी इच्छा की पूर्ति संकल्पमात्र से ही कर सके। कर्मयोग में रहने वाले प्रायः यह क्रम-मुक्ति ही प्राप्त करते हैं। इसलिए सब लोकों के सुखभोग इनकी शक्ति में अन्तर्गत हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के वैदिक यज्ञ करनेवाला यज्ञ के फल से किसी एक लोक में ही जाकर वहाँ के सुख भोगेगा, किन्तु इस ज्ञान मार्ग के अनुयायी को सब लोकों के सुख प्राप्त करने का अवसर रहेगा। इसलिए यह दृष्टान्त यहाँ पूर्णरूप से घट जाता है—कूप-वापी आदि के जल में जितना प्रयोजन सिद्ध होता है, चारों ओर भरा हुआ जल यदि मिल जाय तो वह सब तो सिद्ध हो ही जाता है, उससे बहुत अधिक भी सिद्ध होता है। एक-एक यज्ञादि कर्म करने वालों को कूप वापी आदि एक-एक जलाशय प्राप्त हुआ और कर्मयोग सिद्ध करने वाले को मानों चारों ओर भरा हुआ जल मिल गया, अर्थात् सब लोकों में जाने की और वहाँ के सुख भोग करने की शक्ति प्राप्त हो गई। इसलिए कर्मकाण्ड के फल से यह वंचित नहीं रहे। यही पद्य का आशय इस व्याख्या में बताया जाता है। यद्यपि साधन दशा में ही निष्काम हो जाने के कारण लोकों की इच्छा फिर उन्हें न भी हो तो भी कामना वालों को इस मार्ग का महत्त्व दिखाकर उन्हें इधर प्रवृत्त करने के लिए उपदेश रूप से भी सिद्धि प्राप्त जीव ऐसा किया करते हैं, यह भी शास्त्रों में मिलता है। ऐसे भी सौभरि आदि के दृष्टान्त पुराणों में मिलते हैं कि साधन दशा में कुछ सिद्धि प्राप्त होने पर ही उनको पूर्व संस्कारवश औरों को देखकर ऐसी इच्छा जागृत हो गई कि लौकिक सुख भोग करें। तब अपनी प्राप्त सिद्धि के अनुसार वे उसे प्राप्त कर सके। सौभरि ऋषि का व्याख्यान इसी प्रकार का विष्णुपुराण में मिलता है कि वे जल स्तम्भन विद्या से किसी जलाशय के भीतर के स्तर पर बैठकर साधना कर रहे थे। वहीं मत्स्यों को अपने कुटुम्बी स्त्री-बालकादि के साथ क्रीड़ा करते देखकर इनकी ऐसी इच्छा हो गई कि हम भी ऐसे कुटुम्बियों के सुख भोगें। तब वे एक राजा के पास विवाह के लिए गए। राजा के बहुत कन्याएँ थीं। किन्तु वह अकिंचन और विरूप ऋषि को देकर किसी कन्या का जीवन नष्ट करना नहीं चाहता था और निषेध कर देने पर भी कहीं तपस्वी शाप न दे दें, यह उसे भय था, इसलिए उसने यही युक्ति निकाली कि भगवन् "यदि आपको मेरी कोई लड़की वर ले तो मैं देने को तैयार हूँ।" तपस्वी उसके मन की बात समझ गए और अपने तपोबल से ऐसा दिव्य-सुन्दर समृद्धि युक्त रुप बनाकर राजा की पुत्रियों के सामने गए कि उन्हें देखते ही कामातुर होकर सबही लड़कियों ने उन्हें वर लिया। तब राजा ने सबही लड़कियाँ इनको दे दीं और ये चिरकाल

तक उनके साथ सुखभोग करते रहे। फिर योग छोड़ कर तपस्या में लग गए इत्यादि। इसी प्रकार परम तपस्वी च्यवन ऋषि की भी, अश्विनी कुमारों की कृपा से यौवन प्राप्त कर, सुखभोग की कथा मिलती है। और परमसिद्ध कपिलमुनि ने अपनी स्त्री की इच्छा पूर्ति के लिए ही तपोबल से सब प्रकार के राज्योचित उपभोग सम्पादित कर परेच्छा से ही भोग में प्रवृत्ति की, यह कथा भी श्रीभागवत में विस्तार से वर्णित है। इन कथाओं से हमें यही सिद्ध करना है कि तपोमार्ग में लगे हुए पुरुष विशेषों को भी ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं। और उस स्थिति में वे अपनी प्राप्त शक्तियों के अनुसार उच्च श्रेणी के भोग भी कर सकते हैं, यह भी संकेत इस पद्य में प्राप्त होता है। एक यह भी विचारणीय विषय है कि कर्मयोग भक्ति प्रधान होता है; भागवत धर्म और कर्मयोग एक ही हैं, यह हम "गीता का महत्व" नाम के प्रथमाध्याय के आरम्भिक प्रवचन में ही बता चुके हैं। विशेष कर गीता का प्रतिपाद्य कर्मयोग तो भक्ति प्रधान ही है। यह अनेक गीता वचनों से सिद्ध होता है। तदनुसार भक्तिमार्ग तो भगवान् के चरण ध्यान से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके आगे सब ही आनन्द अतितुच्छ हो जाते हैं। और भगवद्भक्तपुरुष भगवदिच्छानुसार सब ही लोकों में जा सकता है और वहाँ के सब सुखों को भोग सकता है। इस प्रकार से इस पद्य की संगति सुस्पष्ट लग जाती है कि सामान्य जलाशयों का काम तो सब ओर भरे जल में हो ही जाता है; इससे अधिक भी बहुत कुछ होता है, इत्यादि।

पद्य की व्याख्या का दूसरा प्रकारः

कई व्याख्याकारों ने उक्त पद्य की इस प्रकार व्याख्या की है—पूर्व कथन में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वेद को सबही आर्य जाति के प्रमुख विद्वान् एकमात्र परम कल्याण का साधन और परमाराध्य मानते हैं। किन्तु यहाँ भगवान् उसकी इतनी उपेक्षा का उपदेश दे रहे हैं कि वेद तो त्रिगुण संसार के लिए है। तुम त्रिगुण संसार से ऊपर उठो। इसका आशय यही हुआ कि वैदिक कर्मकाण्डों को छोड़ दो। तब यह तो स्पष्ट ही वेद की अवज्ञा हुई। इसका समाधान उस पद्य की व्याख्या के अन्त में हमने संक्षेप से लिखा है। किन्तु इस पद्य के द्वारा भगवान् स्वयं स्पष्ट समाधान करते हैं। इस पद्य में पद्य का अर्थ यह है कि उदपान अर्थात् कूप-वापी-सरोवर आदि में जल चारों ओर विस्तृत रूप से भरा हुआ रहता है। किन्तु मनुष्य उन जलाशयों में से उतना ही जल लेता है कि जितने से उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाय। जलाशयों के सम्पूर्ण जल का कोई एक मनुष्य उपयोग नहीं कर सकता। किन्तु किसी एक पुरुष के उपयोग में न आ सकने के कारण उस सम्पूर्ण जल की व्यर्थता भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि इस एक मनुष्य की तरह और भी सैकड़ों मनुष्य उन जलाशयों से अपना उपयोग सिद्ध करने वाले हैं। वे भी अपना प्रयोजन जितने जल से सिद्ध हो जाय उतने ही जल का उपयोग करते रहते हैं। और यों सबका प्रयोजन

सिद्ध कर देने के कारण उन जलाशयों की परम प्रतिष्ठा बनी रहती है। सबही उनका आदर और स्तुति किया करते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी समझना कि वेद एक विस्तृत जलाशय रूप है। उन सबका उपयोग कोई एक मनुष्य नहीं कर सकता। जितना प्रयोजन जिसे सिद्ध करना हो उतना अंश उसमें से ले लेता है, और इसी से अपने को कृतकृत्य बना लेता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयुक्त ब्राह्मण अपने ज्ञान के अंश को ही उसमें से ग्रहण कर ले। कर्मकाण्ड के पचड़े में वह क्यों पड़े ? कर्मकाण्ड को मुख्य मानने वाले मीमांसक भी यह तो नहीं कह सकते कि वेदोक्त सब यज्ञ एक ही मनुष्य कर ले। अधिकारानुसार व्यवस्था उनको भी करनी ही पड़ती है। जो जिस यज्ञ का अधिकारी है वह उसी यज्ञ को करेगा। प्रथमाधिकारी पहिले इष्टि ही करेगा। इष्टियाँ जो कर चुका है वह आगे सोमयाग में प्रवृत्त होगा। सोम की अनेक संस्थाओं में से भी अपनी शक्ति और अधिकार के अनुसार किसी-किसी संस्था में ही प्रवृत्त होगा। तात्पर्य यह है कि वेदोक्त सब कर्मों का उपयोग तो कोई भी नहीं कर सकता। अपने-अपने अधिकारानुसार ही वेद के अंश सब चुन लेते हैं। तव जो ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त ब्राह्मण हैं, वे अपने अधिकारानुसार ज्ञानमार्ग के प्रतिपादक अंश को ही चुनें, इसमें वेद की अवज्ञा क्या हुई ? सब प्राणियों के हित के लिए वेद है। सब ही अपने-अपने अधिकारानुसार अंशों का उपजीवन करते हैं— जैसे कि जलाशय में से अपने-अपने उपयोग के अनुसार ही जल सब लेते हैं। ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त मनुष्यों को स्वयं वेद में ही उपदेश दिया है कि "तमेव एकं जानीथ, अन्या वाचो विमुञ्चथ"। अर्थात् उस एक मूल तत्त्व को ही पहिचानो और बातें छोड़ दो। तदनुसार स्मृतियों ने भी ज्ञानमार्ग के पथिक के लिए कहा है कि "नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्"। अर्थात् बहुत शब्दों का विचार भी मत करो, बहुत शब्दों को लेना अपनी वाणी को ग्लानियुक्त बनाना है। यम—नचिकेता सम्बाद आदि वैदिक आख्याओं से भी यही सिद्ध होता है। यम ने कामनाओं का प्रलोभन बहुत कुछ बता-बताकर नचिकेता को कर्ममार्ग में ही प्रवृत्त रखना चाहा, किन्तु नचिकेता अपने निश्चय से न डिगा और मुझे आत्मज्ञान ही दो, इसी बात पर डटा रहा। तब यम ने भी अन्त में उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि—"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः॥ तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाघ उ प्रेयो वृणीते॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥" इत्यादि—इनका अर्थ है— "कि श्रेय और प्रेय दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जो आरम्भ में कटु प्रतीत हो किन्तु आगे स्थिर और सबसे उत्तम फल देने वाला हो, उसे श्रेय कहते हैं। और जो आरम्भ में मन को बहुत प्रिय लगे किन्तु परिणाम जिसका विपरीत हो, उसे प्रेय कहते हैं। इन श्रेय और प्रेय का प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न है और मार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं। दोनों ही मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उनमें से

श्रेय मार्ग का ग्रहण करने वाले को बहुत उत्तम फल मिलता है और प्रेयमार्ग में जाने वाला उत्तम प्रयोजन से वंचित हो जाता है। इसी बात को दूसरे मन्त्र में और स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं। धैर्यपूर्वक विचार करने वाला मनुष्य उन दोनों का और उनके परिणामों का पृथक्-पृथक् विचार कर लेता है। विद्वान् पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ग्रहण करता है और मन्द अर्थात् अल्प प्रज्ञा वाला मनुष्य अपने योगक्षेम को मुख्य समझ कर प्रेय का ही वरण करता है। आगे कहा गया है कि नचिकेता! तुम बड़े बुद्धिमान् हो कि तुम प्रलोभन की शृंखला में नहीं बंधे और उसे छोड़कर श्रेय मार्ग की ओर ही प्रवृत्त रहे। आगे यम ने उसे आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया इत्यादि। यह आख्यायिका वैदिक कठोपनिषद् में ही आई है। इससे वेद का भी मुख्य तात्पर्य ज्ञान काण्ड की ओर जाने में ही है। इसी आशय से भगवान् ने भगवद्गीता में तथा अन्यत्र भी कहा है—

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" अर्थात् सब वेद मेरा ही ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इन सब बातों से वेद में भी ज्ञान की ही प्रधानता सिद्ध की है। जो ज्ञानमार्ग में नहीं चल सकते, उनके लिए विस्तार से कर्मयोग का प्रतिपादन किया है। इस मार्ग का विस्तार से प्रतिपादन इसीलिए है कि उसके अधिकारी संसार में बहुत हैं। ज्ञान मार्ग के अधिकारी तो कोई विरले ही होते हैं। जो उसके अधिकारी हों, उन्हें तो वही मार्ग चुनना चाहिए। यह इस पद्य का अभिप्राय हुआ।

इस व्याख्या के अनुसार "सर्वतः सम्प्लुतोदके" यह पद 'उदपाने' का ही विशेषण है। पहिली व्याख्या में वह स्वतन्त्र पृथक् पद है। और इस दूसरी व्याख्या में "यावानर्थः का तात्पर्य इतना लेना पड़ता है कि जितना प्रयोजन हो, उतना ही लिया जाता है। और पूर्वार्ध व उत्तरार्ध का साम्य आगे के "तावान्" शब्द से लगाना होता है। और पहिली व्याख्या में "तावान्' शब्द को पूर्वार्ध के साथ जोड़ना पड़ता है। और विस्तृत जलाशय और वेद प्रतिपाद्य ज्ञान का सादृश्य ऊपर से लगाना पड़ता है। दोनों ही व्याख्याएँ प्रकरण से सम्बद्ध और युक्तियुक्त हैं। जैसा कि हमने उपपादन कर दिया है। द्वितीय व्याख्या में भगवद्गीता के वेद-विरोधी होने की शंका मूल वाक्य के द्वारा ही सर्वथा उच्छिन्न कर दी जाती है। विद्वान् लोग अपनी रुचि के अनुसार किसी भी व्याख्या को ग्रहण करें। दोनों ही उत्कृष्ट विद्वान् व्याख्याताओं द्वारा प्रतिपादित हैं।

———

पैंतीसवां-पुष्प

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ २।४७

यह पद्य कर्मयोग सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपादक है। लोकमान्य तिलक ने कहा है कि जिस प्रकार ज्ञानकाण्ड अनुयायी उपनिषदों में चार महावाक्य मानते हैं उसी प्रकार इस पद्य के चारों पाद कर्मयोग सिद्धान्त की चतुःसूत्री वा चार महावाक्य कहलाने के अधिकारी हैं। ज्ञानियों के चारों महावाक्य परस्पर सम्बन्ध नहीं रखते। वे भिन्न-भिन्न प्रकरणों के हैं। किन्तु यह चारों वाक्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, इतना ही विशेष है। पद्य का सामान्य रूप से शब्दार्थ है कि "तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है। फलों में तुम्हारा किसी अवस्था में भी अधिकार नहीं। तुम्हें कर्मफल की इच्छा से कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और कर्म के परित्याग का भी कभी विचार नहीं करना चाहिए। अर्थात् कामना छोड़कर कर्म सदा ही करते रहना चाहिए"।

जिन आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि गीता में कर्म-सन्यास का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन है, वे प्रथम पाद के "ते" शब्द को अर्जुन का ही वाचक मानते हैं, क्योंकि वही सम्बोधन रूप से भगवान् के सम्मुख उपस्थित है। इसलिए प्रथम पाद का तात्पर्य उनके सिद्धान्त में यह है कि जो ज्ञाननिष्ठ हो चुके अर्थात् जिनको परिपक्व ज्ञान प्राप्त हो चुका, वे ही सन्यास के अधिकारी होते हैं। तुम अभी अपरिपक्व हो, इसलिए तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है। एवकार से ज्ञाननिष्ठा व कर्म सन्यास का निषेध किया जाता है कि पूर्णरूप से ज्ञाननिष्ठ हो जाने व कर्म का सन्यास कर देने में अभी तुम्हारा अधिकार नहीं। कर्मयोग के द्वारा जब अन्तःकरण की शुद्धि हो जायगी तब ही कर्म-सन्यास का अधिकार प्राप्त कर सकोगे। बिना अधिकार के सन्यास कर देने पर दोनों ओर से गिर जाओगे। न ज्ञाननिष्ठा मिलेगी, न कर्मयोग रहेगा। इसलिए अपने अधिकारानुसार तुम्हें कर्मयोग ही करना चाहिए। बिना अधिकार सिद्धि के किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने पर हानि ही होती है। इसका निरूपण धर्म के प्रसंग में बहुधा कर चुके हैं। जो लोकमान्य तिलक आदि व्याख्याकार यह मानते हैं कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही है। उनके सिद्धान्त में प्रथम पाद का "ते" शब्द जीव मात्र को लक्ष्य में रखकर कहा गया है कि तुम सब जीवों का अधिकार कर्म में ही है। "एव" पद से अकर्म अर्थात् कर्म छोड़ने का अथवा फलाशा रखने का निषेध किया गया है, जो कि द्वितीय और चतुर्थ पाद में स्पष्ट किया गया। फल प्राप्ति में तुम्हारा अधिकार नहीं, यह स्पष्टीकरण द्वितीय पाद में है कि फलों में किसी अवस्था में भी

तुम्हारा जीवों का अधिकार नहीं है। अर्थात् कर्म का फल देना तो ईश्वर के अधिकार में है। फल स्वयं तुम नहीं ले सकते। जैसा कि कृषि आदि लौकिक कर्मों में भी स्पष्ट देखा जाता है कि कृषि कर देना मनुष्यों के अधिकार में है। फल मिलेगा वा न मिलेगा अथवा कितना मिलेगा, यह सब ईश्वराधीन है। परलोक में जिनका फल प्राप्त होना है, उन कर्मों के सम्बन्ध में तो स्पष्ट ही ईश्वराधीनता है। यज्ञादि का फल स्वर्गादि ले लेने में जीवों की कोई भी शक्ति नहीं। फल प्रदाता तो ईश्वर ही है। यही बात न्याय दर्शन में गौतम प्रणीत सूत्रों में भी कही गई है—"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मासिद्धे" अर्थात् कर्म का फल देने में ईश्वर ही कारण है। क्योंकि पुरुष का कर्म कई बार निष्फल देखा जाता है। महिम्न स्तोत्र में भी यह स्पष्ट किया गया है कि—

"क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषुफलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः॥"

परमात्मा शिव की स्तुति है कि जब क्रतु नाम यज्ञ सो जाता है, अर्थात् समाप्त हो जाता है; तब यज्ञ करने वालों के साथ फल का सम्बन्ध कराने में आप जागते रहते हैं। कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि कर्म ही अपना फल दे लेगा, वहाँ ईश्वर की क्या आवश्यकता है? तो उनका मुख बन्द करने को द्वितीय पाद कहा गया कि कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाता है। वह फल देने को कहाँ से आवेगा? कर्म नाम क्रिया का है। और क्रिया क्षणस्थायिनी होती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्रिया उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है और फल मिलना है बहुत समय के बाद, इसलिए यही मानना होगा कि अपने यज्ञादि कर्मों के द्वारा हम ईश्वर को प्रसन्न करते हैं और ईश्वर हमें फल देता है। विना ईश्वराराधना के फल नहीं मिल सकता। अतः हे भगवन्! फल प्रदान के प्रतिभू अर्थात् जिम्मेदार आप हो, देखकर मनुष्यों को श्रुति में श्रद्धा होती है। और वे कर्म करने में अपनी कमर कसते हैं। यही बात प्रकृत श्लोक के द्वितीय पाद में भी कही गई है कि फल प्राप्ति में तुम जीवों का अधिकार नहीं है। तब जिसमें तुम्हारा अधिकार ही नहीं, उसकी चिंता क्यों करते हो? ईश्वर का अधिकार उस पर छोड़ो। अपने अधिकार में जो कर्म करना है, उसे ही तुम करते जाओ। चित्त शुद्धि के लिए जो कर्मानुष्ठान मानते हैं, उन ज्ञानमार्गियों की दृष्टि में भी द्वितीय पाद का यही तात्पर्य है कि फल कामना पूर्वक किए हुए कर्म चित्त शुद्धि के लिए नहीं होते वे तो स्वर्गादि फल ही दिलाते हैं। तुम यदि मुमुक्षु हो अर्थात् मोक्ष मार्ग में आना चाहते हो तो तुम्हें फल की आशा छोड़कर कर्म करना चाहिए। फल की आशा व्यवसायात्मक बुद्धि की बाधक है; यह पूर्व प्रवचन में कह आए हैं। इसीलिए चित्त शुद्धि के लिए किए

जाने वाले कर्मयोग में फल की आशा छोड़ देना सर्वथा आवश्यक है। तभी चित्त शुद्धि होकर ज्ञान प्राप्ति होगी।

पद्य के दोनों पादों अर्थात् पूर्वार्द्ध से यह भी आशय प्रकट होता है कि श्रुति में भी कर्म करने का अधिकारी ही तुम जीवों को माना है। फलांश का विधान श्रुति भी नहीं करती। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों का पूर्व मीमांसा की दृष्टि से भी यही अर्थ होता है कि यदि तुम्हें स्वर्ग की इच्छा है तो यज्ञ करो। यहाँ स्वर्ग की इच्छा करो "ऐसा फल की इच्छा का विधान श्रुति नहीं करती क्योंकि 'स्वर्ग कामः' यह उद्देश्यभूत पुरुष का विशेषण है और उद्देश्य पूर्व सिद्ध ही रहता है। वह वाक्य का विधेय नहीं होता। इस शब्दमर्यादा के अनुसार यही सिद्ध होता है कि श्रुति में यागमात्र ही विधेय है। स्वर्ग कामना विधेय नहीं। तब स्पष्ट हो गया कि श्रुति भी तुम जीवों को कर्म का अधिकारी मानकर तुम्हें कर्म का उपदेश देती है, फलाशा का उपदेश नहीं देती। हां, साधारण सांसारिक जीवों के लिए फल की इच्छा रहने पर श्रुति में कर्म का विधान है। किन्तु मुमुक्षु पुरुषों को फल की इच्छा छोड़कर कर्म करना चाहिए। तभी चित्त शुद्धि होती है। यह भी "संयोगपृथक्त्वन्याय" से पूर्व मीमांसा में माना गया है। यह पूर्व कहा जा चुका है।

अब प्रश्न होता है कि हम इच्छा करें चाहे न करें कर्म तो अपना फल दे ही देगा। जैसा कि अभियुक्तों का वचन है कि "यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः" अर्थात् बिना जलने की इच्छा के भी कोई अग्नि का स्पर्श कर ले तो अग्नि तो उसका हाथ जला ही देगी। तब कर्म का फल सुख दुःख तो हमें इच्छा न रहने पर भी भोगना ही पड़ेगा। तब कर्म से बन्धन तो हो गया। फिर मुक्ति की आशा कहाँ? इसका उत्तर पद्य के तीसरे चरण से दिया जाता है कि तुम कर्मफल प्राप्ति करने के कारण मत बनो। "सुखदुःखेसमे कृत्वा" इत्यादि पूर्व पद्य की व्याख्या में हम कह आए हैं कि कर्म स्वयं बन्धक नहीं होता। न वह स्वयं सुख-दुःख देने वाला होता है। राग और द्वेष चित्त में रहने पर ही कर्म का फल व कर्म से बन्धन हुआ करता है। इसलिए तुम कर्मफल प्राप्त करने के कारण मत बनो। इसका आशय है कि राग द्वेष चित्त में मत रक्खो। फल की आशा ही राग द्वेष रूप होती है, इसलिए फलाशा न रखने पर तुम्हें कोई कर्मफल प्राप्त न होगा। सब कर्मों का चित्त शुद्धि में ही विनियोग होता जायगा। यहाँ "कर्मफलस्य हेतुः" ऐसा समास मानकर यह व्याख्या की गई है। यदि "कर्मफलं हेतुर्यस्य" ऐसा बहुव्रीहि समास माना जाय तब इस पद का स्पष्ट ही यह अर्थ होता है कि फल प्राप्ति को कारण बनाकर कर्म करने वाले न बनो। सांसारिक पुरुषों की कर्म करने की प्रक्रिया यह होती है कि पहले उनके हृदय में फल की इच्छा होती है, तब फल की इच्छा से उसकी प्राप्ति के उपायों की इच्छा होती है। जैसा कि किसी मनुष्य के हृदय में पहले भोजन की इच्छा हुई, तो उसे भोजन के उपाय भूत रसोई बनाने की इच्छा होती

है। उस इच्छा से आत्मा में प्रयत्न उत्पन्न होकर शरीर चेष्टा रूप कर्म हुआ करते हैं। किन्तु मुमुक्षु पुरुष की यह प्रक्रिया नहीं होनी चाहिए। वह फल को कारण बनाकर कर्म में प्रवृत्त न हो, किन्तु लोकसंग्रह व चित्त शुद्धि को उद्देश्य मानकर कर्म करे। लोक संग्रह की व्याख्या आगे यथावसर की जायगी।

यहाँ ऐसी भी व्याख्या की जाती है कि कर्म और फल दोनों के कारण तुम मत बनो। अर्थात् मैं कर्म का कर्ता हूँ, इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान भी अपने पर मत लो और मैं फल का भोग करूँगा, इस प्रकार का फलभोक्तृत्व का अभिमान भी अपने पर मत लो। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान से ही बन्धन होता है। इस अभिमान को ही गीता में अहंकार शब्द से कहा गया है। इस विषय को १८ वें अध्याय में विशेष रूप से भगवान् ने स्पष्ट किया है। वही कर्म पांच कारणों के मिलने से होता है, यहाँ भी बताया जायगा, इसलिए केवल अपने आपको कर्ता मानने का अभिमान सद्बुद्धि नहीं, दुष्ट बुद्धि है, यह भी स्पष्ट किया गया है। और यह भी स्पष्ट कहा है कि जिसके भाव में कर्तृत्वाभिमान नहीं है, वह सम्पूर्ण लोकों का वध कर देने पर भी किसी पाप से लिप्त नहीं होता। इन सबकी स्पष्ट व्याख्या उसी प्रकरण में की जायगी। यहाँ इतना ही कहना था कि सूत्ररूप द्वितीय अध्याय में भी उस आगे कहे जाने वाले विषय का संकेत कर दिया गया है। सांख्य दर्शन में भी अहंकार का लक्षण "अभिमानोऽहंकारः" यही मिलता है। वहाँ इसका अर्थ व्याख्याकार ऐसा लगाया करते हैं कि "अभि" अर्थात् आत्मा के सम्मुख जो ज्ञान, वही अभिमान वा अहंकार कहलाता है। उसका अर्थ वे लोग ऐसा लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु का हमारे साथ अनुकूल वा प्रतिकूल कैसा सम्बन्ध है, इसको बताने वाले अन्तःकरण को अहंकार नाम सांख्य दर्शन में दिया गया है। किन्तु गीता में उस अहंकार शब्द को और भी व्यापक रूप में लिया जाता है कि किसी कार्य का कर्तृत्व अपने ऊपर लेना भी अहंकार की ही सीमा में आता है। कर्म प्रकृति के द्वारा हो रहा है, मैं केवल उसका द्रष्टा हूँ, इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान अपने ऊपर जो नहीं लेता, उसपर कर्म अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। अर्थात् न उसे कर्मजनित सुख दुःख होते हैं और न उन कर्मों से उसका बन्धन होता है। ऐसा उपदेश भगवत्गीता में अनेक स्थानों पर आवेगा। और यही कर्मयोग का मूल है। इसका दिग्दर्शन भी इस पद्य में करा दिया गया।

वैष्णवाचार्य इस अकर्तृता का भाव इस प्रकार लेते हैं कि जीव स्वतन्त्र नहीं। वह जो कुछ करता है, वह ईश्वर की प्रेरणा से ही करता है। जैसा कि कहा गया है कि—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

अर्थात् जीव तो अज्ञान से बद्ध है। वह अपने आप सुख वा दुःख प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से ही वह स्वर्ग वा नरक में जाता है।

भगवद्गीता में भी "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति"; इत्यादि पद्य में यही आशय आगे बताया गया है। यहां यह प्रबल प्रश्न सबके अन्तःकरण में अवश्य उठता है कि जीव यदि ईश्वर की प्रेरणा से ही काम करता है तो यह कठपुतली के समान हुआ, काठ की पुतली को जैसा कोई पुरुष घुमादे, वैसा ही वह घूमने लगती है। ऐसे ही यदि जीव की स्थिति है, तो फिर इसे भले वा बुरे कर्मों का फल क्यों मिले? पराधीनता से नाचने वाला तो भले बुरे का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। और जीव को ही उपदेश देने के लिए जितने शास्त्र बने हैं, वे भी सब इस प्रकार तो व्यर्थ ही होते हैं। क्योंकि जो कर्म करने में स्वतन्त्र ही नहीं, उसे उपदेश देने से क्या लाभ, उपदेश पाकर भी वह क्या करेगा? उसे तो जैसे ईश्वर चलावेगा, वैसे ही चलना पड़ेगा। इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तानुसार दिया है, जिसका विवरण जहां यह प्रकरण प्रधान रूप से आवेगा, वहीं किया जायगा। यहां इसका विस्तार करना अप्रकृत होगा। अस्तु।

यह सब सुनकर पुनः एकबार हृदय में यह भाव उठता है कि जब हमें कर्म का फल नहीं ही लेना है तब व्यर्थ कर्म क्यों करें? जलताड़नादि व्यर्थ कर्मों की तो शास्त्र में भी निन्दा है और लोक में भी। ऐसे कर्म करने वाला विक्षिप्त ही कहलाता है। इससे फल की इच्छा जब नहीं करना है तब कर्म भी छोड़ ही देना अच्छा। इस भाव को सर्वथा उन्मूलित कर देने के लिए पुनः चौथा चरण भगवान् ने कहा है कि अकर्म में अर्थात् कर्म का त्याग कर देने में तुम्हारा संग अर्थात् तुम्हारी प्रवृत्ति कभी न होनी चाहिए। कर्म अवश्य करो किन्तु फलाशा छोड़ कर ही करो। फलाशा रखने पर बन्धन में अधिकाधिक पड़ते जाओगे और कर्म छोड़ देने पर जहां हो तहां ही बने रहोगे। अपने बढ़ने का कोई द्वार ही न रहेगा। आगे बढ़ाने वाला तो कर्म ही है। किसी वस्तु में गांठ भी क्रिया के द्वारा ही लगाई जाती है और उस गांठ को खोलना हो तो भी क्रिया ही करनी पड़ती है। बिना क्रिया के गांठ खुल भी नहीं सकती। इसी तरह हम जीवों का संसार बन्धन कर्म से हुआ है, तो उस बन्धन को खोलने के लिए भी कर्म की ही आवश्यकता है। गांठ लगाने वाले कर्म प्रवृत्ति कर्म कहलाते हैं और खोलने वाले निवृत्ति कर्म। हैं दोनों कर्म ही। बिना कर्म किए तो जैसे बन्धन में हो, वैसे ही बन्धन में बने रहोगे। बन्धन खुलने की भी कोई आशा नहीं। इसलिए भगवान् दृढ़ता से जोर देकर कहते हैं कि अकर्म में कभी संग मत करना। अर्थात् कर्म छोड़ देने का कभी विचार भी मत करना।

फलाशा छोड़कर कर्म करने से ज्ञान मार्गियों के सिद्धान्त में चित्त शुद्धि होती है। उपासक सम्प्रदायों के सिद्धान्तानुसार भगवदाज्ञा का पालन होता है, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर बन्धन से मुक्त कर देते हैं और कर्मयोगियों के सिद्धान्तानुसार लोक संग्रह होता है, जिसका कि आगे विवरण करने की हम प्रतिज्ञा कर चुके हैं। यहां यदि यह प्रश्न हो कि यह सब भी तो कर्म के फल

ही हुए। इनकी प्राप्ति के लिए कर्म किया गया, तो भी फलाशा का परित्याग कहां हुआ ? इसका उत्तर है कि व्यक्तिगत सुख दुःख के उद्देश्य से कर्म करने का यहाँ निषेध है व्यक्तिगत सुख-दुःख की आशा छोड़ देने का ही नाम फलाशा परित्याग है। वैसे तो जो भी क्रिया होगी, वह अपना कोई न कोई फल अवश्य उत्पन्न करेगी। किन्तु इन चित्त शुद्धि, भगवदाज्ञा पालन आदि की इच्छा नहीं करनी पड़ती। वे तो कर्मों के द्वारा स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं। इसलिए ऐसे कर्म फलाशा परित्याग पूर्वक कर्म ही कहे जाते हैं। इस प्रकार पद्य के चारों पादों का परस्पर सम्बन्ध दिखाकर कर्मयोग का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया।

———

छत्तीसवाँ -पुष्प

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ २-४८-५०

पूर्व पद्य में जो संक्षेप से कर्मयोग का लक्षण बताया गया, उसी की स्पष्ट व्याख्या आगे के पद्यों में की जाती है।—"हे धनञ्जय तुम योग में स्थित होकर शास्त्रोक्त सब कर्म करते जाओ। केवल कर्म में संग अर्थात् आसक्ति छोड़ दो। और कर्मसिद्ध हो वा असिद्ध हो अर्थात् उसका फल मिले वा न मिले, इन दोनों अवस्थाओं में अपनी चित्तवृत्ति को समान रक्खो। अर्थात् सिद्ध होने पर हर्ष और असिद्ध होने पर विषाद अपने चित्त में मत आने दो। यह सिद्धि और असिद्धि में सम वृत्ति रखना ही योग कहा जाता है।"

इस पद्य के आरम्भ में जो "योग" शब्द आया है, वह कर्मयोग का बोधक है। क्योंकि प्रकरण कर्मयोग का ही चल रहा है। जिस प्रकरण में पूरा शब्द न देकर शब्द का एक अंश दे देने पर भी सम्पूर्ण शब्द का बोध हो जाया करता है, ऐसी संस्कृत ग्रन्थों की शैली है। जैसा कि सत्यभामा के बोध के लिए केवल "सत्या" अथवा केवल "भामा" शब्द ही कह दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ कर्मयोग का बोध कराने के लिए केवल योग शब्द का प्रयोग कर दिया गया। आरम्भ में ही जो प्रतिज्ञा की गई थी कि अब तक सांख्य की बुद्धि कही गई, अब योग की बुद्धि सुनो। वहाँ योग शब्द कर्मयोग का ही बोधक है और लोकमान्य तिलक के मतानुसार तो गीता में जहाँ-जहाँ केवल योग शब्द आया है, वहाँ कोई विशेष प्रकरण न हो तो कर्मयोग ही लिया जाता है, यह भी हम पूर्व कह चुके हैं। यहाँ तो योग शब्द से कर्मयोग का ही ग्रहण प्रायः सभी व्याख्याकारों ने किया है। कई व्याख्याकार ऐसा कहते हैं कि पद्य के चौथे चरण में स्वयं ही योग का लक्षण बताया गया है कि सिद्धि और असिद्धि दोनों में चित्त वृत्ति की समानता रहना ही योग है। उसी योग का पद्य के आरम्भ में निर्देश है। अर्थात् पद्य के आरम्भ में जो योग शब्द कहा है उसका अर्थ चतुर्थ पाद में स्वयं भगवान् ने खोल दिया है कि सिद्धि और असिद्धि में समान रहने का नाम ही योग है। ऐसे योग में स्थिर रहकर ही कर्म

करना चाहिए। इस व्याख्या में भी कोई भेद नहीं पड़ता, क्योंकि कर्मयोग का भी यही लक्षण है कि सिद्धि-असिद्धि में समान रहना। इसलिए योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही फलित होता है। कई व्याख्याकारों ने योग शब्द का अर्थ परमात्मा से सम्बन्ध रखना माना है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि परमात्मा से संबंध रखते हुए कर्म करो। अर्थात् जो कुछ करो वह परमात्मा को प्रसन्न करने के ही उद्देश्य से करो और अपने कर्मों को परमात्मा को ही अर्पण कर दिया करो। यह व्याख्या भी कर्मयोग के ही अन्तर्गत आ जाती है। क्योंकि ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान कर्म ही कर्मयोग है, ऐसा हम पूर्व कह चुके हैं। एक शंका यहाँ यह भी की जाती है कि सिद्धि-असिद्धि में समानता रखना तो "सुखःदुखेसमेकृत्वा" (२-३८) इत्यादि पद्य में पहिले भी कही जा चुकी है। फिर यह उपदेश पुनरुक्ति मात्र हुआ। इसका समाधान एक तो यह है कि वह उपदेश सांख्य मार्ग वालों के लिए था। कर्मयोग का प्रकरण उसके आगे के पद्य से आरम्भ हुआ है। वहाँ यह कहा गया था कि सांख्य मार्ग वाले भी यदि कर्म में प्रवृत्त हों तो सुख दुःख आदि में चित्त की एक रूपता रखते हुए प्रवृत्त हों, इससे उन्हें पाप नहीं लगेगा अर्थात् वे अपने मार्ग से विचलित न होंगे। और यहाँ कर्म मार्ग वालों को समान भाव का उपदेश दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि समान भाव दोनों ही मार्गों में आवश्यक है। पृथक्-पृथक् मार्ग में उपदेश होने के कारण पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती। दूसरा उत्तर यह है कि वहाँ केवल युद्ध के फलों में समान दृष्टि रखना बताया गया था। जैसा कि हम व्याख्या कर चुके हैं। और यहाँ कर्ममात्र के फल में सिद्धि-असिद्धि की दशा में समान दृष्टि का उपदेश किया जाता है। इसलिए सामान्य-विशेष्य भाव के कारण भी पुनरुक्ति नहीं होती।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि फल की आशा का परित्याग तो पहिले पद्य में ही बताया जा चुका, फिर सिद्धि और असिद्धि की कल्पना ही क्या? फल की प्राप्ति वा अप्राप्ति ही सिद्धि वा असिद्धि शब्द से कही जाती है। जब फल की इच्छा मात्र ही छोड़ दी तो सिद्धि और असिद्धि का प्रश्न ही कहाँ रहा! जिनमें समानता का उपदेश दिया जाता है। इसका उत्तर है कि प्रत्येक कर्म के जो स्वर्गादि फल शास्त्र में बताए गए हैं, उन्हें छोड़कर कर्म करने का उपदेश पूर्व पद्य में दिया गया। किन्तु प्रातिस्विक फल की आशा छोड़कर कर्म करने से जो चित्त शुद्धि वा भगवत्प्रसाद आदि फल प्राप्त होते हैं, उनकी सिद्धि-असिद्धि में भी समान भाव रखना चाहिए, यह यहाँ कहा जाता है। अर्थात् यह भी विचार मत करो कि इतने दिन मुझे कर्मयोग में लगे हो गये, अभीतक मेरी चित्त-शुद्धि कुछ नहीं हुई वा भगवत्प्रसाद के अभी मुझे कुछ लक्षण दिखाई नहीं दिए, इत्यादि। तुम तो केवल कर्तव्य समझ कर कर्म करते जाओ, इस कर्म का फल क्या हो रहा है, इस ओर कोई दृष्टि ही न दो। इसी का नाम योग या कर्मयोग है ॥१॥

दूसरे पद्य का अर्थ है—"हे धनञ्जय ! कर्म बुद्धियोग की अपेक्षा बहुत ही छोटी श्रेणी का है। तुम तो बुद्धि को ही अपना रक्षक बनाओ। फल की इच्छा को कारण मानकर कर्म करने वाले तो बहुत दीन होते हैं।" यहां कर्म शब्द से फलाशा पूर्वक किया जाने वाला कर्म ही लेना चाहिए, क्योंकि चतुर्थ पाद में "फल हेतवः" अर्थात् फल को लक्ष्य मानकर कर्म करने वालों को ही कृपण कहा गया है। इससे फलाशा पूर्वक कर्म को ही बुद्धियोग से दूर तक अवर कक्षा का अर्थात् बहुत छोटा बताना सिद्ध होता है। यहां "बुद्धियोग" शब्द का व्याख्यान भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्याकारों ने किया है। अधिकांश व्याख्याकर्त्ता यही कहते हैं कि पूर्व पद्य में जो सिद्धि और असिद्धि में समता बुद्धि रूप योग बताया गया उसी बुद्धि रूप योग से फलाशा पूर्वक किया जाने वाला कर्म बहुत छोटा है। यह समता बुद्धि की ही प्रशंसा है। और उसी समताबुद्धि की शरण में जाने का अर्जुन को उपदेश है। अर्थात् पूर्व पद्योक्त समताबुद्धि की प्रशंसा मात्र इस पद्य में की गई है। कोई नई बात इसमें नहीं है। प्रशंसा प्ररोचना के लिए शास्त्र में सर्वत्र ही की जाती है। कई व्याख्याकारों ने बुद्धियोग शब्द का अर्थ सिद्धि-असिद्धि में समान भाव रखते हुए ईश्वर के साथ सम्बन्ध रखना बताया है। इसकी अपेक्षा कर्म को नीची श्रेणी का बताना ही इस पद्य का उद्देश्य है। इससे तात्पर्य यह निकला कि ईश्वरोपासना रूप ईश्वर का योग, कर्म से बहुत श्रेष्ठ है। कई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि समता बुद्धि प्राप्त करने के लिए ईश्वर योग अर्थात् ईश्वरोपासना श्रेष्ठ है। कर्म उसकी अपेक्षा बहुत नीचा है। इस व्याख्या के लिए "बुद्ध्यर्थं योगः बुद्धियोगः" ऐसा समास मानना होगा। और आगे तृतीय पाद में "बुद्धौ" यह सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में मानी जाती है। अर्थात् समता बुद्धि के प्राप्ति के निमित्त ईश्वर की शरण में जाओ। किसी व्याख्याकार ने "बुद्धियोग" शब्द से ज्ञानयोग ही लिया है। तब यदि यह प्रश्न हो कि इस कर्मयोग के प्रकरण में बीच में ही ज्ञान-योग की बात क्यों उठाई गई ? तो इसका वे उत्तर देते हैं कि अर्जुन को कर्मयोग का ही अधिकारी समझ भगवान् कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं। किन्तु वहां भी मुख्य सिद्धान्त का संकेत कर दिया है कि यह इस समय प्रशंसित कर्मयोग भी वास्तव में ज्ञानयोग की अपेक्षा बहुत छोटी श्रेणी का है। इसलिए तुम बुद्धि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए ईश्वर की शरण में जाओ। ईश्वर-कृपा से ज्ञानयोग के अधिकारी बन सकोगे और ज्ञानयोग प्राप्त कर सकोगे। अन्यान्य देवताओं से फल प्राप्ति की आशा रखना तो केवल दीनता ही है।

लोकमान्य तिलक बुद्धियोग का ज्ञानयोग अर्थ करने वालों की आलोचना तो ठीक करते हैं, किन्तु यहां बुद्धियोग शब्द का स्पष्ट अर्थ क्या है, इस विषय में वे भी कोई स्पष्टीकरण नहीं कर सके। उन्होंने लिखा है कि यहां बुद्धि का कोई विशेषण नहीं दिया गया इसलिए बुद्धि शब्द से यहां वासनात्मक बुद्धि ही ली जानी चाहिए और उसे व्यवसायात्मक बुद्धि के द्वारा शुद्ध कर तदनुसार कर्म

करना चाहिए। समत्वरूप योग में ही बुद्धि रखनी चाहिए, इत्यादि। इस सम्बन्ध में विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी का सिद्धान्त हम पहिले दो जगह दिखा आए हैं कि वे बुद्धियोग शब्द का व्यापक अर्थ मानते हैं। जीवों में बुद्धि के चार सात्विक रूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नाम के हैं। यह सांख्य शास्त्र से स्पष्ट किया गया है। किन्तु वे तामस रूपों अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य से दबे हुए रहते हैं। ईश्वर में केवल चार सात्विक रूप ही हैं, तामस रूपों का वहां स्पर्श भी नहीं होता। अब यदि जीव ईश्वर से मिलना चाहता है, अर्थात् अपनी मुक्ति चाहता है तो उसका कर्तव्य है कि तामस रूपों को दबाकर सात्विक रूपों को जगावे और उनके द्वारा ही ईश्वर के साथ योग अर्थात् सम्बन्ध करे। यही बुद्धियोग शब्द का उनके सिद्धान्त में प्रकृत अर्थ है। यहां वैराग्य योग का प्रकरण है अर्थात् कामासक्ति छोड़कर कर्म करने की बात चल रही है, इसलिए यहां बुद्धि पद से बुद्धि का सात्विक रूप वैराग्य ही लिया जाना चाहिए। उस वैराग्य के द्वारा ईश्वर से योग किया जाय, इसकी अपेक्षा फलाशा से कर्म करना बहुत छोटी श्रेणी का है। क्योंकि फलाशा रखने वाले तो सब देवताओं के सामने कृपण अर्थात् दीन रहा करते हैं। वैराग्य बुद्धि प्राप्त कर लेने वाले की दृष्टि में कोई-छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। जैसा कि कहा गया है कि—

"तृष्णाश्चेह परित्यज्य को दरिद्रः कः ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरोदत्तो दास्यं तु शिरसि स्थितम्॥"

अर्थात् जिस पुरुष ने तृष्णा का परित्याग कर दिया, उसकी दृष्टि में दरिद्र और बहुत बड़ा ऐश्वर्य रखने वाला दोनों एक से ही हो जाते हैं। उसे जब किसी से कुछ लेना नहीं, तब उसकी दृष्टि में दरिद्र और समर्थ में भेद ही क्या रहेगा? और यदि तृष्णा को कुछ भी मन में स्थान दिया जाय तो दासभाव शिर पर आ लदता है। अर्थात् तृष्णा वाला पुरुष सबके आगे ही दास भाव दिखाने लगता है। इस प्रकार विद्यावाचस्पति जी की व्याख्या के अनुसार ही यह श्लोक ठीक लगता है। अस्तु! (४९)

तृतीय श्लोक का अर्थ है कि "बुद्धियोग जिसे प्राप्त हो गया वह सुकृत और दुष्कृत अर्थात् पुण्य और पाप दोनों को छोड़ देता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योग प्राप्त करने की प्रार्थना करो। कर्म की कुशलता ही योग कहलाती है"।

यहां प्रकरण के अनुसार सुकृत और दुष्कृत छोड़ने का तात्पर्य कर्म छोड़ देने में नहीं है, किन्तु उनका फल छोड़ देने में ही है। क्योंकि इसके पूर्व और आगे भी कर्म का फल छोड़ने का ही प्रसंग चल रहा है। स्वरूपतः कर्म छोड़ने का यहां कोई प्रसंग नहीं। इसलिए सुकृत और दुष्कृत शब्दों का शोभन फल देने वाला और बुरा फल देने वाले ये अर्थ विवक्षित हैं। सुकृत और शोभन फल देने वाला मानकर छोड़ देना अर्थात् वैसी भावना से नहीं करना। और इसी प्रकार दुष्कृत को बुरा फल देने की शंका

रखकर न करना। यही सुकृत-दुष्कृत त्याग का अर्थ यहां उचित होगा। अब यहां यह भी प्रश्न उठता है कि दुष्कृत को छोड़ना तो ठीक किन्तु सुकृत तो लाभदायक है। उसे क्यों छोड़ा जाय ? अपनी उन्नति को भी छोड़ने का कौन विचार करेगा। इसका उत्तर यही है कि लौकिक दृष्टि में सुकृत और दुष्कृत का विधान है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि में जहां कि मुक्ति को ही मुख्य पुरुषार्थ माना जाय वहां यह दोनों ही त्याज्य की कोटि में आजाते हैं। जैसा कि पूर्व पद्य में कह चुके हैं कि कर्म का फल बुद्धियोग से बहुत नीची कक्षा का है। कर्म में सुकृत-दुष्कृत दोनों ही आ गए। सुकृत के फल स्वर्गादि को भी लौकिक सुखों के समान हेय कोटि में ही सांख्य दर्शन ने भी गिना है। सांख्य की कारिका है:—

"दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥"

अर्थात् वैदिक कर्म भी लौकिक कर्मों के समान ही हैं। क्योंकि उनमें भी अविशुद्धि, क्षय और अतिशय रहते हैं। अविशुद्धि का अर्थ है—धर्म और अधर्म की संकीर्णता। इसको सांख्य दर्शन वालों ने यों घटाया है कि यज्ञ में जहां देवताओं को प्रसन्न करना आदि धर्म हैं, वहां पशु हिंसादि अपधर्म भी हैं। इसलिए वैदिक यज्ञादि कर्म भी संकीर्ण हैं। पूर्व मीमांसक लोग यज्ञ के पशुवध में पाप नहीं मानते। उनका मत है कि हिंसा का निषेध एक सामान्य वचन है, और यज्ञ में पशुवध का विधान करने वाला वचन विशेष वचन है। विशेष से सामान्य का बोध हो जाता है। अर्थात् विशेष वचन के विषय को छोड़कर ही सामान्य वचन की प्रवृत्ति हुआ करती है। ऐसी स्थिति में हिंसा का निषेध वचन यज्ञ सम्बन्धी पशुवध को छोड़कर ही प्रवृत्त होगा। जब यज्ञ के पशुवध वह निषेध वाक्य ही प्रवृत्त न हुआ, तब उसमें अधर्मता भी सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि धर्म वा अधर्म तो केवल शास्त्रगम्य हैं। शास्त्र में जिनका विधान है वे धर्म कहलाते हैं और जिनका निषेध है वे अधर्म कहे जाते हैं। जब निषेध वाक्य यज्ञ सम्बन्धी पशुवध से प्रवृत्त न हुआ तब उसे अधर्म कहने में भी कोई प्रमाण नहीं रहा। यह पूर्व मीमांसा का मत है। किन्तु सांख्य दर्शन ऐसा नहीं मानता। वे कहते हैं कि जिन बचनों में परस्पर विरोध हो उनमें ही एक दूसरे का बाधक हुआ करता है। यहां हिंसा निषेध के सामान्य वचन में और यज्ञ में पशुवध-विधान करने वाले विशेष वचन में विरोध ही नहीं है। क्योंकि हिंसा का निषेध हिंसा से मनुष्य को पाप होना बताता है और यज्ञ में पशुवध विधान करने वाला वचन उस पशुवध से यज्ञ की सिद्धि बताता है। पुरुष को पाप होगा या न होगा यह बात पशुवध के वचन में नहीं कही जाती। यह दोनों ही बातें एक जगह सम्भव हो सकती हैं कि यज्ञ का पशुवध यज्ञ को सिद्ध करदे, किंतु पुरुष में उसके द्वारा बुरा अतिशय रूप पाप भी पैदा हो जाय, जैसा कि एक मनुष्य रसोई पकाने के लिए अग्नि जलाता है, वह अग्नि रसोई तो पका देती है, किन्तु पुरुष

की आंखों में धुवां लगना व शरीर में ताप आना, यह अनिष्ट भी पैदा करती है। इसी प्रकार कुआं खोदने वाला जो गढ़ा बनाता है, उससे कुआं तो बन जाता है, किन्तु पुरुष को श्रम और मिट्टी-कीच आदि में शरीर के संद जाने का क्लेश भी होता है। इन लौकिक कामों में क्लेश की अपेक्षा फल अधिक मानकर सब लोग प्रवृत्त हो जाया करते हैं। ठीक इसी प्रकार यज्ञ का पशुवध भी यज्ञ को तो सिद्ध कर देगा, किन्तु पुरुष में बुरा अतिशय रूप अधर्म भी पैदा करेगा। उस अधर्म के फल की अपेक्षा यज्ञ का फल बहुत उत्कृष्ट है। इसलिए यज्ञादि में शिष्ट-पुरुषों की प्रवृत्ति बन जाती है। अस्तु, यह तो सिद्ध हुआ कि यज्ञ का उत्तमफल स्वर्गादि प्राप्त करने वाले भी समय-समय पर अधर्म के मिश्रण के कारण क्लेश भी पाते रहेंगे। जैसा कि पुराणों में वर्णन मिलता ही है कि स्वर्ग के देवता भी समय-समय असुरों आदि के द्वारा सताए जाते हैं और उससे दुःख भी पाते हैं। तब मिश्रित फल होना लौकिक कर्म और वैदिक कर्मों में समान ही रहा। इसके अतिरिक्त जैसे लौकिक उन्नति क्षययुक्त है, अर्थात् अस्थायी है, सदा नहीं रहती, वैसे ही वैदिक यज्ञों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि भी अस्थायी हैं। जो सुख वा दुःख पैदा होगा उसका नाश भी अवश्य होगा, यह दर्शन शास्त्रों का सिद्धान्त है। सुख का नाश हो जाने पर बहुत बड़ा दुःख होता है। यह अनुभव सिद्ध है। ऐसे ही स्वर्ग प्राप्त करने वालों में भी छोटे-बड़ेपन का भेद रहता है। कोई सामान्य देवता बनता है, कोई अधिकारी और कोई राजा। अपने से बड़ा दूसरे को देखकर ईर्ष्या का दुःख प्राणी के हृदय में अवश्य उत्पन्न होता है। इस सब विवरण से सिद्ध हो गया कि धर्म से प्राप्त होने वाले सुख भी दुःख से मिले हुए रहते हैं। इसलिए उन्हें वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता। वास्तविक सुख तो वही है जहाँ दुःख का लेशमात्र भी स्पर्श न हो। और वह बुद्धियोग वा तत्त्वज्ञान से ही मिल सकता है। यही लक्ष्य में रखकर भगवान् ने उपदेश दिया कि बुद्धियोग प्राप्त करने वाला मनुष्य सुकृत और दुष्कृत दोनों का ही फल छोड़ देता है। उसे न धर्म के फल रूप स्वर्गादि की भी इच्छा नहीं रहती और पाप फल रूप नरकादि की इच्छा तो किसी को होने क्यों लगी? बुद्धियोग वाला पुरुष तो केवल परमात्मा से सम्बन्ध रखता है और संसार बन्धन से छुटकारा पा लेना ही उसका लक्ष्य रहता है। वही अपने मनुष्य जन्म को पूरा सफल बना सकता है। अस्तु, इसीलिए उत्तरार्ध में अपने प्रिय अर्जुन को भगवान् का उपदेश है कि तुम योग प्राप्त करने की ही योजना करो। सांसारिक फलों में मत फंसो। और कर्मों के फल से डरो भी मत। कर्म करने की ऐसी चतुरता को ही योग कहते हैं कि मनुष्य कर्म करता भी जाय और उसके बन्धन में भी न फंसे। काजल की कोठरी में जाकर भी बिना कलौंछ लगाए निकल आना बड़ी भारी चतुरता है। ऐसी ही कुशलता योग से प्राप्त होती है कि कर्म करता भी जाय और उसका फल भी अपने पर न आने दे। कई सज्जन ऐसी शंका किया करते हैं कि भगवान् ने योग के अनेक भिन्न-भिन्न लक्षण बता दिए। इससे योग का स्वरूप समझना सामान्य जिज्ञासु के लिए कठिन हो गया। अभी पहले पद्य में

"सिद्धि और असिद्धि" की समानता को योग कहा। इस पद्य में कर्म की कुशलता अर्थात् चतुरता को योग कह दिया, और आगे दुःख संयोग के वियोग को ही योग कहा है, इत्यादि। किन्तु विचार करने पर यह शंका सर्वथा ही निर्मूल सिद्ध होती है। भगवान् ने योग के अनेक लक्षण नहीं बताए। किन्तु एक ही लक्षण को अनेक प्रकार से समझाया है। वास्तव में फल की आशा छोड़कर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करते रहने का ही नाम कर्मयोग है। यह हम कई बार बता चुके हैं। उस फल की आशा को छोड़ने के भिन्न-भिन्न विवरण हैं। फल की आशा छोड़ देने पर सिद्धि और असिद्धि में समानता हो जायगी। फल की आशा से ही कर्म सिद्ध होने पर सुख और न सिद्ध होने पर दुःख हुआ करता है। फलाशा न रहने पर न सुख होगा न दुःख। तब सिद्धि-असिद्धि में समानता हो गई। इसलिए पूर्व पद्य का लक्षण ठीक बना। और इस प्रकार की समानता रखकर कर्म करते जाने से आत्मा पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं आता। इसलिए यही एक बड़ा कौशल वा चतुरता भी हुई। यहाँ उसी फलाशा के त्याग को कौशल शब्द से प्रकट कर दिया। और फलाशा से ही उसका व्याघात होने पर दुःख हुआ करता है। फलाशा छोड़ देने पर दुःख का भी कोई प्रसंग न रहेगा। इसलिए आगे के कहे जाने वाले "दुःख संयोग वियोग" रूप लक्षण में भी वही बात प्रकारान्तर से कही जायगी। परस्पर विरोध इन लक्षणों में कहीं भी नहीं है। एक ही विषय को भिन्न-भिन्न शब्दों से भिन्न-भिन्न रूपों में समझाया गया है।

योग शब्द का कर्मयोग अर्थ मान लेने पर सब लक्षणों की संगति उक्त प्रकार से हो जाती है। और बुद्धियोग अर्थ मानने पर भी सबकी संगति स्पष्ट ही है। क्योंकि वैराग्य बुद्धि का भगवान् के साथ सम्बन्ध कर देने पर सिद्धि और असिद्धि में समानता स्वतः हो जायगी। राग न रहेगा। तब सिद्धि और असिद्धि में विषमता कहाँ? और इस प्रकार वैराग्य भावना से कर्म करना ही बड़ी भारी चतुरता है। यह भी पूर्वोक्त प्रकार से समझ में आ ही जायगा। दुःख सम्बन्ध भी बुद्धि के रूपों का भगवान् के साथ योग कर देने पर दुःख का भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार सब लक्षण बुद्धियोग के भी समन्वित हो जाते हैं। बुद्धि के चार रूपों में वैराग्य भी एकरूप है। जैसा कि कई बार कहा जा चुका है। इसलिए बुद्धियोग और कर्मयोग का परस्पर सामान्य विशेष भाव रहने के कारण कौन सा लिया जाय, कौन सा न लिया जाय, यह शंका भी नहीं उठ सकती। सामान्य के ग्रहण में विशेष का ग्रहण हो ही जाता है। ॥२॥

सैतीसवाँ -पुष्प

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२-५०-५२

"जिनको बुद्धियोग प्राप्त हो गया है, वे मनीषी पुरुष कर्मजनित फल की इच्छा का त्याग कर जन्मरूपबन्धन से मुक्त होते हुए निर्भय पद को प्राप्त कर लेते हैं।"

पूर्व पद्य में सुकृत और दुष्कृत दोनों के फलों का त्याग बताया गया था। सुकृत फल स्वर्गादि का त्याग तब ही हो सकता है जब कि उस त्याग के द्वारा उससे और भी उच्चश्रेणी के फल की सम्भावना हो। वही फल बताते हुए इस पद्य के द्वारा पूर्व पद्योक्त उपदेश को ही दृढ किया जाता है। हम पूर्व कह चुके हैं कि वे सुकृत-दुष्कृत के स्वर्ग नरकादि फल अस्थाई हैं। किन्तु उन प्रातिस्विक फल त्याग के अनन्तर जो फल प्राप्त होगा, वह स्थायी है। प्रश्न होगा कि जब जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी अवश्यंभावी है, यह दार्शनिक सिद्धान्त निश्चितरूप से मान लिया गया। तब यह फल भी स्थायी कैसे हो सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर यहाँ "जन्म बन्धविनिर्मुक्ताः" और "अनामयं" इन दोनों पदों से दिया गया है। पहले पद्य का तात्पर्य है कि इस फलत्याग रूप कर्मयोग से कोई नयाफल उत्पन्न नहीं होता, जिसके कि नाश होने की सम्भावना हो। किन्तु शुद्ध आत्मा को जन्मरूप बन्धन जो लगा हुआ है, उसका छुटकारा मात्र हो जाता है। बन्धन छूटना कोई नया उत्पन्न होने वाला कार्य नहीं जिसका कि विनाश सम्भावित हो, किन्तु बन्धन जो ऊपर से आ पड़ा, उसको केवल हटा देना है। इसलिए यह उच्छेद अर्थात् अभाव रूप हुआ। जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी होता है, यह नियम भावरूप कार्य के लिए है। अभाव का अभाव नहीं हुआ करता। फिर यदि यह विचार उत्पन्न हो कि जन्म होने पर ही अनेक प्रकार के सुख भी तो मिलते हैं। फिर उसको बन्धन ही क्यों कहा जाय? इसका उत्तर आगे के "अनामयं पदं" इस विशेषण से दिया गया है। अर्थात् संसार में सुख तो केवल आभास मात्र है। आमय अर्थात् पीड़ा दुःख ही यहाँ अधिक है। और उक्त कर्मयोग वा बुद्धियोग से जो पद प्राप्त होगा, वह सर्वथा रोग, पीड़ा

दुःखादि से रहित है। लौकिकों में भी यह बात प्रसिद्ध है कि जहाँ अच्छा और बुरा दोनों मिश्रित हो, उसका त्याग ही किया जाता है। जैसा कि जिस अन्न में मिठाई भी है और विष भी मिला हुआ है, उसको कोई भी काम में न लेगा, अपितु उसका त्याग ही सब सांसारिक पुरुष भी उचित मानते हैं। नास्तिक ग्रन्थों में जीवन की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिए यह दृष्टान्त दिया जाता है कि धान में चावल और तुष दोनों मिले हुए होते हैं। फिर भी धान का परित्याग कोई बुद्धिमान् पुरुष नहीं करता। किन्तु तण्डुल के लाभ के लिए तुष को भी ले ही लेता है। इसी तरह विषयजनित सुख के साथ कुछ दुःख की मात्रा भी हो तो भी उसका परित्याग करना बुद्धिमत्ता नहीं। किन्तु यह उनका दृष्टान्त विचार की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। संसार की वस्तु तीन प्रकार की होती है—१—लाभदायक, २—हानिकारक और ३—लाभ-हानि दोनों ही न करने वाली। इनको ही ग्राह्य, द्वेष्य और उपेक्ष्य कहते हैं। लाभकारक वस्तु ग्राह्य होती है। हानिकारक द्वेष्य और लाभ-हानि दोनों न करने वाली उपेक्ष्य। इनमें से ग्राह्य के साथ उपेक्ष्य वस्तु ले ली जा सकती है, किन्तु द्वेष्य का ग्रहण कभी नहीं किया जाता। द्वेष्य का सम्बन्ध होने पर ग्राह्य भी छोड़ दिया जाता है। नास्तिकों के दृष्टान्त में तुष द्वेष्य नहीं, किन्तु उपेक्ष्य है। अर्थात् वे हमारा हानि-लाभ कुछ नहीं करते। इसलिए चावलों के साथ उनको भी ले लेते हैं और आगे काम के समय निकाल देते हैं। किन्तु अन्न में मिठाई और विष दोनों मिले रहने का जो पूर्व दृष्टान्त दिया गया है उसमें मिठाई ग्राह्य और विष द्वेष्य है। ऐसी स्थिति में द्वेष्य का मिश्रण होने के कारण ग्राह्य मिठाई को भी छोड़ ही दिया जाता है। इस दृष्टान्त के अनुसार विषय सुख जो दुःख मिश्रित है, उसका छोड़ देना ही उचित सिद्ध होता है। क्योंकि दुःख द्वेष्य है। दुःख को कोई नहीं चाहता। इसमें भी विशेष रूप से तारतम्य की भी परीक्षा होती है। यदि सुख की मात्रा अधिक हो और दुःख की अल्प, तो उसे ले लिया करते हैं। किन्तु यदि सुख की मात्रा अल्प और दुःख की बहुत अधिक हो तो बुद्धिमान् लोग उसका सर्वथा परित्याग ही करेंगे। जन्म लेने पर जो संसार में सुख और दुःख प्राप्त होते हैं उनमें दुःख की मात्रा ही बहुत अधिक होती है, यह अनुभव सिद्ध है। और योग दर्शन में तो कहा गया है कि जिसे सांसारिक मनुष्य अविद्यावश सुख समझे बैठे हैं वह भी विवेकशील पुरुषों की दृष्टि से दुःख ही है। "परिणामताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेवसर्वं विवेकिनः"। इस सूत्र में उसके दुःख रूप होने की युक्तियाँ बताई गई हैं। प्रत्येक सुख के अन्त में जब वह सुख हमसे हटता है तो दुःख पैदा हुआ करता है। धनजन-पुत्र-कलत्रादि जो सुख रूप भासित होते हैं, वे ही अपने से विमुक्त होने पर दुःखप्रद हो जाते हैं। इससे सुख का परिणाम दुःखरूप है। यह सिद्ध हुआ। किसी का परिणाम विरुद्ध हो नहीं सकता, इसलिए परिणाम दुःखरूप देखकर सुख की भी दुःखरूपता ही सिद्ध होती है। दूसरी युक्ति यह है कि सुख के अनुभव काल में भी तापदुःख

रहता है अर्थात् अपने से अधिक सुखी किसी को देखकर मनुष्य अपना सुख तो भूल जाता है और ईर्ष्याजनित दुःख का अनुभव करने लगता है कि मुझे भी ऐसा सुख क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? एक उपहास का कल्पित दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि किसी पुरुष ने धनगृहादि सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए बहुत काल तक समुद्र की उपासना की। चिरकाल की उपासना से प्रसन्न होकर समुद्र ने उसे एक शंख दिया। और बताया कि पवित्र स्थान में रखकर इसकी पूजा कर इससे धन जन सम्पत्ति जो कुछ मांगोगे वह सब तुम्हें मिल जायगी। उपासक मनुष्य बहुत प्रसन्न हुआ और बड़े आदर से शंख को लेकर जब चलने लगा तब समुद्र ने कहा कि और सुनते जाओ। इस शंख में यह भी गुण है कि जो कुछ भला या बुरा तुम्हें प्राप्त होगा, उससे द्विगुण तुम्हारे पड़ोसी को मिल जायगा। सुनते ही वह पुरुष बहुत खिन्न हो गया। मन में सोचने लगा कि भला मैंने तो इतना तप कर यह सम्पत्ति प्राप्ति की, किन्तु पड़ोसियों को बिना किसी परिश्रम के ही मुझसे द्विगुण मिल जाय; यह कैसे सह्य हो सकता है। बस घर आकर उसने उस शंख को एक ओर पटक दिया। उससे कुछ नहीं चाहा, और जैसे कठिनता से अपना निर्वाह पहले करता था, वैसे ही टूटी झोपड़ियों में रहता हुआ मांग-तांग कर निवाह करने लगा। अपनी स्त्री के पूछने पर कि यह क्या वस्तु लाए हो, तब उसने सब वृतान्त उसे बता दिया और यह भी कह दिया कि पड़ोसी को विना परिश्रम द्विगुण मिलना मुझे सह्य नहीं है। इसलिए मैं इस शंख से कुछ नहीं मागूंगा। इसे कूड़े-करकट में पड़ा रहने दो। एक दिन जब वह बाहर गया था, तो स्त्री ने अपनी दशा से अत्यन्त खिन्न होकर अपने पति की बताई विधि के अनुसार शुद्ध स्थान में रखकर शंख की पूजादि कर उससे प्रार्थना की कि हमारे यहाँ रहने योग एक उत्तम स्थान बन जाय और उसमें भोजनादि की सब सामग्री आ जाय। दैवी शक्ति से बहुत शीघ्र उसकी अभिलाषा पूर्ण हो गई। किन्तु उसके पड़ोसी के वैसे दो भवन बन गए और इसकी अपेक्षा द्विगुण सम्पत्ति भी उनके यहाँ प्राप्त हो गई जब वह पुरुष अपने घर आया, तो यह सब घटना देखकर बहुत कुपित हुआ और शंख की पूजा कर उसके आगे प्रार्थना की कि हमारे द्वार के आगे एक कूप बन जाय और हमारे गृहजनों की एक-एक आँख फूट जाय। दैवी शक्ति से वैसा ही हो गया। पड़ोसियों के गृह द्वार के आगे दोनों ओर दो कूप बन गए और उनके गृहजनों के दोनों नेत्र फूट गये। वे अन्धे इधर-उधर चलते हुए कूपों में गिरने लगे। तब इसे बड़ा आनन्द मिला। अवश्य ही यह एक मिथ्या कल्पित दृष्टान्त है। किन्तु विचारशील मनुष्य मन में सोच सकते हैं कि ऐसी ईर्ष्या अन्तःकरण की वृत्ति रूप से अवश्य उठा करती है। यही ताप दुःख है। जो सुख भोग काल में भी शान्ति नहीं लेने देता। प्रत्युत मैं सबसे उच्च श्रेणी का रहूँ, इस भावना से वह अधिकाधिक श्रम करता रहता है और उसके द्वारा अधिकाधिक क्लेश पाता रहता है। तीसरी युक्ति सूत्र में यह बताई गई है कि सुखभोग से जो संस्कार मन में उत्पन्न होते हैं वे

अधिकाधिक सुख चाहते हैं। और वैसा न होने पर दुःख ही होता रहता है। इसके अतिरिक्त इनके मूलकारण पर भी विचार किया जाय कि सुख वा दुःख मन में क्यों होता है, तो शास्त्र विचार से यह सिद्ध होगा कि हमारा मन भी सब संसार की तरह त्रिगुणात्मक है। उन तीनों गुणों में सत्व गुण का परिणाम सुख है, रजोगुण का दुःख और तमोगुण का मोह। गुणों का यह स्वभाव है कि वे क्रमसे एक दूसरे से बढ़कर दूसरे को दबाते रहते हैं। तब आज यदि सत्वगुण की प्रबलता से हमें सुख प्राप्त है तो कल रजोगुण की प्रबलता से दुःख भी अवश्यंभावी है। यही बात गुण वृत्ति विरोध शब्द से सूत्र में कही गई है। और भी कई महात्माओं के वचनों में सांसारिक सुखों की दुःखरूपता का उपपादन मिलता है। जैसा सामान्यतः सब मनुष्य धन से सुख मानते हैं। किन्तु किसी विवेचक महात्मा विद्वान् ने लिखा है कि—

"जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः" ॥

अर्थात् धन से पहिले, पीछे और मध्य में भी जब दुःख ही है तो तीनों ओर दुःख से गिरे हुए धन को सुख रूप कैसे कहा जाय? आरम्भ में धनोपार्जन में परिश्रम रूप दुःख है। यदि धन हाथ से निकल गया तो घोर सन्ताप रूप दुःख है और उसका उपभोग करते समय चित्त में एक प्रकार का मदरूप मोह उत्पन्न होता है। उससे औरों से शत्रुता बढ़ती है। वह भी कलहरूप दुःख का उत्पादक है, इत्यादि। अस्तु, यही सब संकेत गीता के इस पद्य में किया गया है कि कर्म से उत्पन्न होने वाले फल आमय अर्थात् रोग-दुःखः-भयादि से सम्मिश्रित हैं। और पूर्वोक्त साम्यबुद्धि से जन्मरूप बन्धन का अभाव हो जाने पर यह सब आमय न रहेंगे। अनामय पद प्राप्त हो जायगा। इसलिए यह बुद्धियोग वैदिक कर्मों से बहुत ऊँची श्रेणी का है। इस अनामय पद का कभी नाश भी नहीं होता।

न्यायशास्त्र में कहा गया है कि उत्पन्न होने वाले भावों का प्रध्वंसाभाव अर्थात् नाश होता है। किन्तु अभाव रूप प्रध्वंस का कभी प्रध्वंस नहीं होता। घटपटादि का नाश है किन्तु उनके नाश का फिर नाश नहीं है नाश का नाश तो तब ही होता है जब कि वह नष्ट होने वाली वस्तु फिर उसी रूप में सामने आ जाय। किन्तु ऐसा कभी भी होता नहीं। फिर यदि वही वस्तु बनेगी तो दूसरी ही होगी। जैसा कि एक भित्ति को तोड़कर हम फिर भित्ति बनावेंगे तो वह भित्ति दूसरी ही होगी। जो भित्ति नष्ट हो गई, वह कभी प्रादुर्भूत नहीं हो सकती। इसलिए प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होकर भी नित्य ही माना गया है। इसी युक्ति से सब दुःखों की ध्वंसरूप मुक्ति की नित्यता ही सिद्ध होती है। और वेदान्त दर्शन तो कहता है कि वह दुःख ध्वंस भी नया उत्पन्न नहीं किया जाता। वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। आत्मा स्वयं शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। वह कभी

बन्धन में आता ही नहीं। मायावश बन्धन में आने की हमें भ्रान्ति मात्र होती है। इस भ्रान्ति अर्थात् अज्ञान को ज्ञान से हटा देना ही मुक्ति है। कोई पुरुष रज्जु को सर्प समझकर भयभीत हो गया, उसका शरीर भी काँपने लगा। मन भी घबड़ा गया। किन्तु जब भलीभाँति देखकर उसे ज्ञान हो गया कि अरे यह तो रज्जु है, यहाँ सर्प कोई नहीं तब वे भय कम्प आदि स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। अपनी पूर्वावस्था प्राप्त हो जाती है। यही मुक्ति का स्वरूप है। अज्ञानजनित बन्ध का अभावमात्र समझ लेना है। अज्ञान जब निवृत्त हो गया, तब फिर वह हमें दबा नहीं सकता। क्योंकि बुद्धि स्वभावतः सत्यपक्षपातिनी है। मिथ्यांश कभी उत्पन्न हुआ भी तो वह आगे समूल निवृत्त हो जाता है। इसलिए बन्ध-निवृत्त रूप मुक्ति के स्थायी अथवा विनाशी होने का कोई प्रसंग ही नहीं आता। मुक्ति तो आत्मा का स्वरूप है। और आत्मा नित्य है। इसलिए मुक्ति भी नित्य ही सिद्ध होती है। और अनित्य सुखों की अपेक्षा उसका महत्त्व स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

'पद' शब्द का अर्थ श्री शंकराचार्य के सम्प्रदाय में यहाँ आत्मा का स्वरूप ही है। "पद्यते इतिपदम्" अर्थात् अन्त में जो प्राप्त किया जाय, वही पद कहलाता है। अन्त में आत्मस्वरूप ही प्राप्त करना है। इसलिए वही पद है। और कोई गन्तव्य स्थान का यहाँ प्रसंग नहीं आ सकता। वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त में यहाँ पद शब्द से भगवान् विष्णु का पद लिया जाता है। इससे पद का अर्थ होता है कि फलाशा छोड़ देने वाले मनुष्य विष्णु भगवान् के पद को अर्थात् व्यापक बैकुण्ठ लोक को प्राप्त कर लेते हैं। और उस बैकुण्ठ पद में फिर किसी प्रकार का आमय अर्थात् क्लेश वा दुःख नहीं रहता। यहाँ यह भी विचारने की बात है कि फलाशा छोड़ते ही अनामय पद अर्थात् निर्भयरूप मुक्ति बता दी गई है। किन्तु शांकर संप्रदाय में तो क्रम ऐसा माना जाता है कि फलाशा त्याग रूप कर्मयोग से ज्ञान प्राप्ति होती है और ज्ञान से फिर मुक्ति सिद्ध होती है। इस क्रम का यहाँ विरोध हो गया। इसका समाधान श्री शंकराचार्य एक तो यह कहते हैं कि कर्मयोग से ज्ञान सिद्ध होते ही जीवन मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। इससे आगे के जन्म रूप बन्ध का मोचन और सब प्रकार के दुःखों का अभाव जीवित दशा में ही प्राप्त हो जाता है। यही जीवनमुक्तावस्था यहाँ कर्मयोग के फलरूप से बताई गई है। दूसरा समाधान वे यह भी कहते हैं कि यहाँ कर्मयोग का प्रकरण रहते हुए भी मध्य में परमफल बुद्धियोग का प्रसंग मुख्यतः बताने के लिए भगवान् ने उठा दिया है। जैसा कि हम "दूरेण ह्यवरंकर्म" इत्यादि पूर्व पद्य की व्याख्या में मतान्तर रूप से कह चुके हैं। इन तीनों-चारों पद्यों में उस बुद्धियोग का ही प्रसंग चला। इसलिए उसका साक्षात् फल मुक्ति ही यहाँ बता दिया गया। अन्य उनके अनुयायी व्याख्याकार यह भी कहते हैं कि आगे परम्परा से प्राप्त होने वाला फल भी परम्परा सम्बन्ध से कर्मयोग का फल माना जा सकता है। उसी परम्परा से प्राप्त होने वाले अन्तिम लक्ष्य रूप

फल का यहाँ निर्देश है। वैष्णव व्याख्याकार भी यही मानते हैं कि फलाशा परित्याग रूप कर्मयोग से भगवद्भक्ति दृढ़ होगी और उससे विष्णु पद प्राप्त होगा। यह परम्परा का फल ही यहाँ बताया गया ॥१॥

यहाँ भगवान् ने अर्जुन की चेष्टा से उसके हृदय की कुछ ऐसी जिज्ञासा का अनुमान किया कि इस प्रकार बन्धन विमुक्ति होकर अभयपद प्राप्ति कितने काल में हो सकेगी। ऐसी जिज्ञासा का अनुमान कर उसका उत्तर द्वितीय वा तृतीय पद्य से देते हैं कि इसमें काल का कोई नियम नहीं है—"जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूप घने कीचड़ से पार हो जायगी तब तुमने जो कुछ सुना है और जो कुछ सुनना चाहते हो, उन सबसे निर्वेद अर्थात् विरक्ति हो जायगी। अर्थात् उन सबसे जो ऊब जायगा और विविध श्रुतियों के द्वारा सन्देह में पड़ी हुई वह बुद्धि जब एकाग्र होकर निश्चल भाव से सुप्रतिष्ठित हो जायगी, तब तुम योग प्राप्त कर लोगे।

व्यवहार में मनुष्य आत्मा और अनात्मा का भेद नहीं विचारता। शरीर के सम्बन्धियों को ही वह अपना मानता है और शरीर सम्बन्ध न रखने वालों को पराया समझा करता है। इस अपने और पराये के भेद के अनुसार ही अपने कर्तव्य का निश्चय किया करता है। जिस-जिस काम से अपने शरीर को वा अपने कुटुम्ब को सुख मिले उसी को कर्तव्य और शरीर के वा कुटुम्ब के हानिकर कार्यों को छोड़ने योग्य मानता है। एवं जो कुछ भी करे वह फल की आशा से ही करता है। यह सब मोह है। इसी मोहरूप कीचड़ में सामान्य मनुष्यों की बुद्धि फंसी रहती है। जो साम्य बुद्धि पहिले बताई गई उसके अभ्यास से जब बुद्धि उक्त प्रकार के कीचड़ से निकल जायगी और पूर्वोक्त समानता में प्रतिष्ठित हो जायगी, तब आजतक जो कुछ सुनते थे और आगे जो सुनना चाहते थे, उन सबसे विरक्ति होगी। "श्रोतव्य और श्रुत" शब्दों के दोनों अभिप्राय हैं। संसार दशा में सब लोग सदा आशा की ही बातें सुना करते हैं और उन्हें ही आगे भी सुनना चाहते हैं। फलाशा छूट जाने पर उन सबसे विरक्ति होगी और उनमें मन नहीं लगेगा। इसी प्रकार श्रुतियों में जो निरन्तर आशा रखने वाले सांसारिक पुरुषों को धर्म मार्ग की ओर आकर्षित करने के लिए विभिन्न कामों के भिन्न-भिन्न फल बताए हैं और उनकी खूब स्तुति की है, उनसे भी निर्वेद हो जायगा। अर्थात् उन श्रुतियों से कहे गए फलों से भी मन ऊब जायगा। यह भी श्रोतव्य और श्रुत का अर्थ हो सकता है। उस निर्वेद की स्थिति का किसी कवि ने बहुत अच्छा चित्र खींचा है उस अवसर में मन में ऐसे भाव उठते हैं कि—

"क्षोणीपर्यटनं श्रमायविहितं वादाय विद्याऽर्जिता,
मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः।"
विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः।
कुज्ञानेन मया प्रयागनगरेनाराधि नारायणः॥

अर्थात् मैंने पृथ्वीमण्डल के भिन्न-भिन्न देशों में जो भ्रमण किया वह केवल परिश्रम के लिए किया। विद्या जो पढ़ी वह भी दूसरों से विवाद करने के लिए पढ़ी। राजाओं से जो परिचय प्राप्त किया वह भी अपना सम्मान घटाने के लिए किया। सुन्दर युवतियों के मुख पर जो दृष्टिपात किया वह भी वियोग दुःख के लिए ही हुआ। ऐसे खेदकर कार्यों में ही अपना जीवन बिताया। यह बड़ा भारी अज्ञान था। प्रयागादि दिव्य तीर्थों में बैठकर भगवान् का स्मरण नहीं किया जो कि कर्तव्य था।"

इस प्रकार के निर्वेद के भाव संसार का मोह छूट जाने पर ही होते हैं। तब ही सांसारिक भोग और फल तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। यों इस संसार के भावों से विरक्ति होते-होते विचारों की परिपक्व दशा में वेदोक्त स्वर्गादि फलों से भी विरक्ति हो जाती है। यही भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग का अभ्यास करते-करते जब तुम्हें इस लोक और वेदोक्त परलोक दोनों के सुखों से वैराग्य हो जायगा, तब ही योग प्राप्ति होगी। इसमें कितना भी समय लगे, समय का कोई नियम नहीं है। योगदर्शन में भी यही कहा गया है कि जिनके मन में सम्वेग प्रबल होता है, मानो संसार चक्र से घबड़ाए से होकर जो तीव्र प्रयत्न करते हैं उन्हें बहुत शीघ्र अर्थात् थोड़े ही काल में समाधि लाभ हो जाता है। और जिनका वैराग्य वा प्रयत्न शिथिल-सा रहता है, उन्हें अधिक समय लगाना पड़ता है। यह तो अपने मन की गति और प्रयत्नों पर निर्भर है। समय का कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता। श्रोतव्य और श्रुत शब्द से वेदोक्त फल श्रुतियों पर भी जो वैराग्य का उपदेश दिया है वह "त्रैगुण्यविषयावेदाः" इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का ही पुनः स्मरण कराया है। कई वैष्णवाचार्यों ने यहां निर्वेद का अर्थ "उत्तम लाभ" किया है। लाभार्थक विद धातु से वेद शब्द बनाकर उसका लाभ अर्थ किया, और निः उपसर्ग को उत्कर्ष बोधक मान- कर उत्कृष्ट लाभ अर्थ निकाला। उनके मतानुसार द्वितीय पद्य का अर्थ है कि जब मोहरूप कलिल-कीचड़ से तुम्हारी बुद्धि पार निकल जायगी तब श्रुत और श्रोतव्य अर्थात् वेद वाक्यों का जो परम लाभ भगवद्भक्ति है उसे तुम प्राप्त कर सकोगे॥२॥

तीसरे पद्य में "श्रुतिविप्रतिपन्ना" शब्द के भी दोनों प्रकार के अर्थ किए जाते हैं। एक यह कि अभी तुम्हारी बुद्धि फल श्रुतियों के कारण फलाशा में लगी हुई विप्रतिपन्न अर्थात् इधर-उधर भटकने वाली अस्थिर हो रही है। यह जब योग-साधन द्वारा समाधि प्राप्त करेगी अर्थात् एकाग्र हो जायगी और चंचलता इसमें न रहेगी, तब तुम योग प्राप्त कर सकोगे। दूसरा अर्थ यह किया जाता है कि जब तुम्हारी बुद्धि श्रुति अर्थात् वेद के अर्थवादों में वर्णित फल श्रुतियों से विप्रतिपन्न होगी अर्थात् उन फलश्रुतियों में बताए गए स्वर्गादि फलों को उत्तम फल न समझेगी, तब बुद्धि के समाधिनिष्ठ और निश्चल होने पर योग प्राप्त कर सकोगे।

पहिली व्याख्या में "श्रुति विप्रतिपन्ना" यह बुद्धि का सिद्धरूप विशेषण है। और दूसरी व्याख्या में वह ही विधेय-विशेषण है। बुद्धि के इस पद्य में निश्चला और अचला दो विशेषण आए हैं। यह एक ही अर्थ के बोधक होने के कारण पुनरुक्त प्रतीत हो रहे हैं। इनका समाधान भी व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है। एक यह कि समाधि में असम्भावना और विपरीत भावना जब बुद्धि में न रहेगी। यह निश्चल शब्द का अर्थ हुआ। बुद्धि समाधि विषय में निश्चल हो जायगी। यह सन्देह न रहेगा कि न जाने हमें समाधि प्राप्त हो सकेगी वा नहीं ? अथवा समाधि अर्थात् एकाग्रता की प्राप्ति होने पर भी योग प्राप्ति वा दुःख निवृत्ति होगी वा नहीं। ऐसे सन्देह ही असम्भावना और विपरीत भावना नाम से कहे जाते हैं। ऐसे सन्देह जब तक बने रहें तब तक समाधिरूप एकाग्रता के लिए प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। तब योग प्राप्ति की कथा ही क्या ? इसलिए समाधि विषय में पहले बुद्धि की निश्चलता होनी चाहिए। अर्थात् समाधिरूप एकाग्रता से अवश्य ही दुःख-निवृत्ति और योग प्राप्ति होती है, ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। यह "निश्चला" विशेषण का तात्पर्य हुआ। दूसरा "अचला" विशेषण यह बताता है कि समाधि काल में अन्य प्रकार की वृत्तियों से चंचलता न आनी चाहिए। योगदर्शन में ऐसा कहा है कि पूर्व के संचित कुसंस्कारों से समाधि प्राप्त करते-करते भी विक्षेप हो जाता है। अर्थात् चंचलता आकर समाधि में विघ्न हो जाता है। वह भी न होना चाहिए। यह "अचला" शब्द विशेषण से कहा गया। दूसरा समाधान यह है कि मन में संकल्प-विकल्प न रहना, उनमें बुद्धि का न फंसना निश्चलता है। एवं बुद्धि में ही तमोगुण के कारण अज्ञान-अवैराग्य आदि दोषों का न आना अचलता है। लोकमान्य तिलक ऐसा कहते हैं कि फलाशाओं में न फंसना निश्चलता है और निर्वात स्थान में दीपशिखा की भाँति एकरूप रहना, कुछ भी इधर-उधर न डिगना अचलता है। यह दोनों ही बातें सिद्ध होनी चाहिए। द्वितीय पद्य के निर्वेद का भी उनने यह तात्पर्य लगाया है कि जो फलश्रुतियों में वर्णित हैं वे तुम्हें पहले ही प्राप्त हो चुके होंगे, जैसा कि "यावानर्थउदपाने" इस पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। फिर उन फलों में अभिलाषा होगी ही क्यों।

योग शब्द का अर्थ भी भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। श्री शंकराचार्य का आशय पूर्व कहा जा चुका है कि जीवन मुक्तावस्था प्राप्त करना ही योग शब्द से विवक्षित है। जो कि साम्यबुद्धि रूप योग का मुख्य फल है। कई वैष्णवाचार्यों ने भगवान् का सांनिध्य प्राप्त करना ही योग शब्द का अर्थ माना है। श्रीरामानुजाचार्य ने आत्मदर्शन को योग कहा है। वे ऐसा क्रम बताते हैं कि ज्ञान पूर्वक कर्मयोग से ज्ञाननिष्ठा अर्थात् ज्ञान में स्थिरता प्राप्त हो जाती है। और उससे योग अर्थात् आत्मदर्शन प्राप्त हो जाता है। यह परम्परा से होने वाला फल ही यहाँ योग शब्द से कहा गया है। लोकमान्य तिलक

कर्मयोग के जीवनभूत साम्य बुद्धिरूप योग को ही यहाँ भी योग शब्द से लेते हैं। अर्थात् बुद्धि निश्चल होने पर ही वह साम्य बुद्धिरूप योग तुम्हें मिलेगा और वही कर्मयोग है। श्री विद्यावाचस्पति जी योग शब्द का अर्थ बुद्धियोग ही मानते हैं। उनकी व्याख्या है कि ज्ञान जो कि बुद्धि के सत्वगुण का रूप है, उसके तमोगुण जनित रूप अज्ञान से आवृत वा मिश्रित रहना ही मोह है। जैसा कि "अज्ञानेनावृतंज्ञानं" इस आगे के पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा। उस मोह को पार करना अर्थात् तमोगुण का सम्बन्ध न रहने देकर शुद्ध सात्विक ज्ञान बुद्धि का रूप बनाना ही योग है। इस योग की प्राप्ति निर्वेद पूर्वक एकाग्रता से ही होगी। और वह बुद्धियोग ही अव्यय पुरुष के साथ जीव का सम्बन्ध करा सकेगा। इनके सिद्धान्त में बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है, जिसमें कि ज्ञानयोग, कर्मयोगादि सब अन्तर्गत हो जाते हैं। यह पूर्व कह चुके हैं। सबका तात्पर्य एक ही निकलता है कि साम्यबुद्धि फलाशा छोड़ने पर होगी और साम्यबुद्धि की स्थिरता होने पर ही भगवद्भक्ति वा आत्मज्ञान अपने-अपने अधिकारानुसार प्राप्त हो सकेगा।

अड़तीसवां-पुष्प

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत् किम् ॥२।५४

भगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२।५५

अर्जुन पूछता है कि "हे केशव ! जिस पुरुष की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि स्थिर हो गई है और जो समाधि में स्थित हो गया है उसकी भाषा क्या है, अर्थात् उसके लक्षण कैसे होते हैं ? वह किस प्रकार बोलता है; किस प्रकार बैठता है और किस प्रकार चलता है ।"

भाषा शब्द का अर्थ वाणी वा बोली है । वाणी वा बोली से ही हम किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । किसी भी वस्तु का पूरा ज्ञान प्राप्त कराने को उसके लक्षण बताना आवश्यक होता है । इस प्रकार लक्षण ही किसी वस्तु के ज्ञान के साधन होने से वे भी भाषा शब्द के द्वारा कहे जा सकते हैं । इस आशय से यहाँ भाषा शब्द का अर्थ लक्षण ही अधिकतर व्याख्याओं में माना गया है । प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यही है कि किस भाषा अर्थात् किन लक्षणों से हम स्थित प्रज्ञ को पहिचान सकते हैं । किसी पदार्थ को सरलता से समझा देना भी उसकी भाषा करना कहा जाता है । इससे भी यही तात्पर्य निकलेगा कि स्थितप्रज्ञ को सरलता से समझाइए कि हम उसे पहिचान सकें । इस प्रश्न के दोनों अभिप्राय हो सकते हैं । हमारी बुद्धि स्थिर हो गई है या नहीं, इस अपनी स्थितप्रज्ञता को हम कैसे पहिचानें । दूसरे को पहिचानना भी आवश्यक है, क्योंकि अपनी त्रुटि दूर करने को ऐसे स्थितप्रज्ञ से ही तो हमें शिक्षा लेनी है । इन दोनों प्रकार के प्रश्नों से स्थितप्रज्ञ के आभ्यन्तर लक्षण क्या होते हैं और बाह्य लक्षण क्या होते हैं, यह दोनों प्रश्न फलित हो जाते हैं । क्योंकि अपनी स्थितप्रज्ञता तो अपने आभ्यंन्तर लक्षणों से ही विदित होगी और दूसरे के आभ्यन्तर लक्षणों को तो हम जान नहीं सकते, इसलिए अन्य पुरुष की स्थितप्रज्ञता का ज्ञान बाह्य लक्षणों से ही हो सकेगा । कई व्याख्याकारों ने इस प्रकार भी व्याख्या की है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष जब समाधिस्थ हो, अर्थात् एकान्ततः ध्यान में निमग्न हो, तब उसके क्या लक्षण होते हैं, और जब समाधि छोड़ कर व्युत्थित अर्थात् समाधि रहित दशा में व्यौहार की ओर झुका हुआ होता है, तब क्या लक्षण होते हैं ? व्यौहार की ओर झुके हुए के लक्षण पूछने को ही यह विवरण किया कि वह कैसा बोलता है—कैसा बैठता है, और कैसा चलता है ? इन तीनों क्रियाओं को उप-लक्षण मानकर यह आशय निकल आता

है कि उसकी बाह्य क्रियाएं कैसी होती हैं। इस व्याख्या के अनुसार भी आभ्यन्तर लक्षण और बाह्य लक्षण दोनों का ही प्रश्न फलित हो जाता है। क्योंकि समाधिस्थ पुरुष तो अपने आप को आभ्यन्तर लक्षणों से ही जान सकेगा। कुछ व्याख्याकार "का भाषा" का यह भी अर्थ लगाते हैं कि उसके प्रति दूसरों का सम्भाषण कैसा होना चाहिए ? किन्तु इसका भी आशय यही लगाना होगा कि उसे समाधिस्थ समझ कर दूसरे पुरुष उससे कैसे बात करें ? इसका भी तात्पर्य अन्ततः लक्षण जानने में ही है। किसी-किसी व्याख्याकार ने उत्तरार्ध के "किं" शब्द को आक्षेपार्थक भी माना है। और इससे यह आशय निकाला है कि वह भाषण स्थिति वा चलन किस प्रकार कर सकता है। जब बुद्धि ही निश्चल हो गई और वह मन की प्रेरणा भी नहीं करेगी तब मन की प्रेरणा बिना इन्द्रियां भी अपना काम कैसे करेंगी ? तब तो वे स्थितप्रज्ञ पुरुष जड़ उन्मत्त व मूक की तरह हो जायगा। फिर वह अन्य किसी को शिक्षा भी क्या दे सकेगा और किसी का उपकार भी क्या कर सकेगा, इत्यादि। किन्तु इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर आगे के भगवद् वाक्यों में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। उक्त आक्षेपों का उत्तर ऊह से ही निकलना होगा। अस्तु !

जैसा कि कहा जा चुका है कि सांख्य और योग दोनों मार्गों में ही स्थिर बुद्धि को भगवान् ने सर्वोपयुक्त माना है। व्यवसायात्मक बुद्धि भी स्थिर बुद्धि का ही नामान्तर है, यह हम व्यवसायात्मक बुद्धि की व्याख्या में कह चुके हैं। इसलिए इसी के सम्बन्ध में अर्जुन को जिज्ञासा हुई की पहले स्थिर बुद्धि वाले के ही लक्षण बताइए। जिससे कि उसकी पहिचान हो सके और तदनुकूल अपने आप को बनाने का भी प्रयत्न किया जा सके। उपदेशारम्भ होने के अनन्तर यह पहला ही अर्जुन का महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में भगवान् ने स्थिर बुद्धिता के आभ्यन्तर और बाह्य लक्षणों की विशद व्याख्या की है। पहिले आभ्यन्तर लक्षण ही बताए जाते हैं— .

"हे पार्थ ! जब पुरुष अपनी मनोगत सब कामनाओं को सर्वथा छोड़ देता है और अपने आप से अपने अन्तरात्मा में ही सन्तुष्ट व प्रसन्न रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। अर्थात् इसकी बुद्धि स्थिर हो गई, यह जान लेना चाहिए।"

अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ की भाषा पूछी थी, अर्थात् किन लक्षणों से जान कर पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहना चाहिए। इसी लिए भगवान् भी इसी प्रकार उत्तर देते हैं कि "उस दशा में पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है" ये आभ्यन्तर लक्षण हैं। इनका ज्ञान अपने आप को ही हो सकता है। दूसरा पुरुष नहीं जान सकता कि इसकी सब कामनाएं हट गई हैं या नहीं। इसलिए यह सब संवेद्य आभ्यन्तर लक्षण कहा जायगा। प्रश्न की दूसरे प्रकार को व्याख्या के अनुसार यह समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले का लक्षण है। अर्थात् जब वह समाधि में वा यों कहो कि सर्वथा एकाग्रता में स्थिर रहता है तब उसके मन में किसी

भी कामना का उदय नहीं होता, इच्छामात्र का उसके मनमें अभाव हो जाता है। किसी-किसी व्याख्या में काम शब्द का अर्थ मनोवृत्ति ही किया गया है। और "सर्वान्" इस विशेषण से योगदर्शन में जो पांच प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—उन सबका अभाव जब हो जाय तब उसे स्थितप्रज्ञ माना है। इससे निर्विकल्पक मन और बुद्धि के भिन्न-भिन्न कार्यों की व्याख्या विशद रूप से हम व्यवसायात्मक बुद्धि के प्रकरण में कर चुके हैं कि इंद्रियों के द्वारा लाए हुए बाह्य विषयों को मन, बुद्धि के समक्ष उपस्थित किया करता है और बुद्धि की आज्ञा के अनुसार फिर उन विषयों के ग्रहण वा त्याग की आज्ञा इन्द्रियों को पहुँचाता है। ऐसी स्थिति में मन में यदि भिन्न-भिन्न इच्छाओं का प्रवाह चलता रहेगा और मन उन इच्छाओं को बुद्धि के समक्ष सदा रखता रहेगा तो बुद्धि भी स्थिर नहीं रह सकती। मन के लाए हुए इच्छा के विषयीभूत अर्थों पर उसे भी कुछ विचार पूर्वक निश्चय करना ही पड़ेगा। इसलिए स्थित बुद्धि होने के लिए भगवान् पहले मन की शुद्धि ही आवश्यक बताते हैं कि पहले मन की सब कामनाओं अर्थात् इच्छाओं से रहित बनाया जाय। जब मन बुद्धि के सामने कोई विषय वा उनकी इच्छाओं को रक्खेगा ही नहीं तब बुद्धि के स्थिर होने में विलम्ब नहीं लगेगा। क्योंकि बुद्धि मन के द्वारा ही विषयों का ग्रहण करती है। स्वयं वह विषयों पर नहीं जाती। किसी किसी व्याख्या में काम शब्द का अर्थ विषय ही किया गया है। "काम्यन्ते इति कामाः" (जिनकी इच्छा की जाय, वे भी काम हैं) इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय भी काम शब्द के वाच्य हो सकते हैं। इसके अनुसार पद्य का अर्थ होगा कि "जब मन में आए हुए सब विषयों को पुरुष छोड़ दे"। तात्पर्य दोनों का एक ही है। क्योंकि इच्छा से सम्बन्ध होकर ही विषय मन में प्रवेश किया करते हैं। वा यों कहो कि मन अपनी इच्छा वृत्ति से ही विषयों से सम्बन्ध जोड़ा करता है, तब इच्छा का त्याग और मनोगत विषयों का त्याग एक ही वस्तु सिद्ध होगी। इस पक्ष में "कामान्" का विशेषण जो "सर्वान्" है, उसका अभिप्राय यह लगाया जाता है कि सम्प्रज्ञात समाधि में जो विषय भासित हुआ करते हैं, अथवा उपनिषदुक्त विद्या रूप उपासनाओं में साधन दशा में जहाँ-जहाँ मन को स्थिर किया गया था, उन सब मनोगत विषयों का भी जब सर्वथा परित्याग हो जाय। इस पक्ष में निर्विकल्पक समाधि ही फलित हो जाती है। अर्थात् जब पुरुष मन की वासनाओं का सर्वथा परित्याग करके तब वह स्थित-प्रज्ञ होता है। इस व्याख्या का तात्पर्य भी कोई दूर नहीं जाता। क्योंकि मन में जो इच्छाएं होती हैं, वे सूक्ष्मरूप से जो मनमें रह जाती हैं, उन्हें ही वासना भी कहा जाता है। जब तक इच्छाएं होती रहेंगी, तब तक सूक्ष्मांश रूप से उनकी वासनाएं भी मन को अपना घर बनाया करेंगी। जब इच्छाएं ही न होंगी, तब वासनाएं कहाँ से आवेंगी। इसलिए सब ही व्याख्याओं का पर्यवसान इच्छा के त्याग में ही होता है।

अब प्रश्न यह होगा कि इच्छाओं का त्याग हो किस प्रकार ? क्योंकि मन का तो स्वभाव है इच्छाएँ करना। अपने स्वभाव से किसी का पीछा छूट नहीं सकता। तब मन से ही मन का स्वभाव कैसे छूट सकेगा। वह तो बराबर इच्छाएं करता ही रहेगा। तब स्थितप्रज्ञता कहाँ से प्राप्त होगी। इसका उत्तर "आत्मन्येवात्मनातुष्टः" इस उत्तरार्ध के वाक्य से दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता प्राप्त हो जाने पर इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है। जब पुरुष कोई इच्छा करता है उसके अनन्तर इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा जब इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है, जब वह इच्छा निवृत्त हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता वा संतोष इच्छा के निवर्तक हैं। जब समाधिस्थ पुरुष प्रसन्नता वा सन्तोष प्राप्त कर लेगा तो उसे इच्छा क्यों होगी ? हां, सांसारिक पुरुषों की प्रसन्नता और इस स्थिरप्रज्ञ की प्रसन्नता में भेद है। सांसारिक पुरुषों की तुष्टि वा प्रसन्नता का आधार भी अपने स्वरूप से पृथक् होता है। और उस प्रसन्नता के लिए व्यापार करने वाला करण भी अपने से भिन्न ही होता है। इस प्रकार भिन्न अधिकरण में भिन्न करण द्वारा तुष्टि सांसारिक मनुष्यों को प्राप्त हुआ करती है। जैसा कि किसी पुरुष को अपनी स्त्री, अपने पुत्र वा अपनी गृहादि सम्पत्ति पर तुष्टि हुई तो उस तुष्टि का आधार वे स्त्री-पुत्र वा गृहादि होंगे, और उनकी प्राप्ति वा उनके हाव-भाव वचनादि इन्द्रियों द्वारा मन में आकर उस तुष्टि के करण बनेंगे। इन्द्रिय मनादि को भी करण कहा जा सकता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ मनुष्य की तुष्टि का आधार भी वह अपने आप ही है और करण भी अपने आप ही। उसकी तुष्टि के लिए किसी भी बाह्य अधिकरण वा करण की आवश्यकता नहीं होती। अखण्ड आत्मा की आनन्दरूपता जानकर ही वह पूर्णरूप से प्रसन्न वा तुष्ट हो जाता है। अधिकरण व करण किसी भी रूप में बाह्य साधन की उसे आवश्यकता नहीं होती। आनन्द अपना ही स्वरूप है, वह बाहर से लाना नहीं पड़ता। और उसकी अभिव्यक्ति भी पहिले चाहे मानस हो, किन्तु अन्त में तो अखण्ड रूप वृत्ति में ही होती है। वह अखण्ड वृत्ति भी अपने स्वरूप में लीन हो जाती है। इसलिए बिना किसी बाह्य आवश्यकता के ही स्थितप्रज्ञ अपने आप सन्तुष्ट वा प्रसन्न रहता है। तब फिर उसे इच्छाओं का उदय ही क्यों होने लगा ? आगे छठे अध्याय के पातंजल योग प्रकरण में भी भगवान् स्पष्ट करेंगे कि इस लाभ के अतिरिक्त इससे बड़ा और कोई लाभ साधक को दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में इच्छाओं का उदय हो ही नहीं सकता। सदा अधिक लाभ की ही इच्छा हुआ करती है। अधिक प्राप्त हो जाने पर फिर अल्प वस्तु की इच्छा किसी को नहीं होती। कहीं-कहीं आत्मना पद का "मन से" यह अर्थ भी किया गया है। मन के लिए भी आत्म शब्द का प्रयोग व्यौहारिक भाषा में कई जगह देखा जाता है। ऐसा शब्दार्थ करने पर फिर यह तात्पर्य निकलेगा कि जो पुरुष अपने मन से आत्मानन्द का अनुभव करता हुआ उसी से परितुष्ट हो जाता है,

वह स्थितप्रज्ञ है। हम पूर्व सब कह चुके हैं कि पूर्वावस्था में आत्मानन्द का मान मनोवृत्ति में ही हुआ करता है और उसी से अज्ञान निवृत्ति भी हुआ करती है किन्तु आगे चलकर एक अखण्ड वृत्ति बन जाती है, और वह अन्त में आत्मा में ही लीन हो जाती है। तदनुसार पहिली व्याख्या में उस अन्तिम अवस्था का वर्णन था जिसमें कि स्वरूपानन्द का भान भी स्वरूपभूत वृत्ति से ही होता है। इस व्याख्या में पूर्व की अवस्था का वर्णन है, जब कि मनोवृत्तियों में स्वरूपानन्द का भान हुआ करता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण में दोनों ही अवस्थाओं को ले सकते हैं। सविकल्पक समाधि को भी स्थितप्रज्ञता में लिया जाय तो इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। अस्तु, वैष्णव सम्प्रदायों के व्याख्याकार प्रायः उत्तरार्ध के "आत्मिनि" शब्द का अर्थ "परमात्मा" करते हैं। जो कि उनके सिद्धान्तानुसार आत्मा का भी आत्मा है। उस परमात्मा का मन से ध्यान करता हुआ जो मनुष्य अन्य सब कामनाओं को वा विषयों को छोड़ देता है, वह स्थितप्रज्ञ है। ऐसा अर्थ उनकी व्याख्या के अनुसार निकलता है। परमात्मा के ध्यान में भक्त लोगों को जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह आनन्द तो सबसे उच्च श्रेणी का है ही, उसे प्राप्त कर लेने पर फिर विषयजनित आनन्द की अभिलाषा होने ही क्यों लगी ? अतः इस पक्ष में भी श्लोकार्थ की पूरी संगति हो जाती है। श्री वल्लभाचार्य की मतानुयायिनी टीका में ऐसा अर्थ किया गया है कि "आत्मना" अर्थात् अपने "जीवस्वरूप से आत्मनि" अर्थात् "परमात्मा में" स्फूर्ति होने पर जो परम प्रसन्न व सन्तुष्ट हो जाता है, वह स्थित प्रज्ञ है। इस प्रकार ज्ञान मार्ग और भक्तिमार्ग दोनों में इस लक्षण का उत्तम रूप से समन्वय होता है।

गुरु प्रवर श्री विद्यावाचस्पतिजी ने इस प्रकरण की वैज्ञानिक व्याख्या अपनी टिप्पणी में लिखी है। उसका भी रसास्वादन पाठकों को करा देना आवश्यक अ.र उचित है। उनका सिद्धान्त यह पूर्व प्रकट किया जा चुका है कि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार सात्विक बुद्धि के रूपों के द्वारा अव्यय पुरुष के साथ जीव का अपना सम्बन्ध जोड़ देना ही बुद्धि-योग कहा जाता है। वही मनुष्य जन्म की कृत्यकृत्यता है, और वही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। अव्यय पुरुष का विस्तृत विवेचन पन्द्रहवें अध्याय में होगा। जहाँ कि भगवान् ने स्वयं तीनों पुरुषों का स्वरूप बताया है। यहाँ अभी इतना ही कहना है कि अव्यय पुरुष ज्ञानकर्ममय है। उनमें ज्ञान को विद्या और कर्म को अविद्या नाम से शास्त्रों में कहा गया है। यह दोनों विद्या और अविद्या यदि जीव में समान रूप में रहें अर्थात् एक दूसरे को न दबाये, तब आत्मा में बल रहता है। उस बल से ही प्रिय-अप्रिय, सुख-दुख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों की सहनशीलता होती है। इसी समता को भगवान् ने इस प्रकरण में योगरूप से कहा है। और उस समता से किये जाने वाले कार्यों को ही कुशलता बताया है। जो कि पूर्व पद्यों में वर्णित हो चुका है। इस समता से मन में दृढ़ता

आती है और क्षोभ निवृत्त होता है। ऐसा अक्षोभ होना ही इस प्रकरण में स्थितप्रज्ञता नाम से कहा गया है। वह स्थितप्रज्ञता छः प्रकार से हो सकती है—वे प्रकार ये हैं—१—तुष्टि प्राप्त करना, २ प्रेम अर्थात् मन को प्रिय लगने वाली वस्तुओं में आसक्त न होना, ३—हितकर कार्यों में भी आसक्त न होना, ४—तृप्त रहना, ५—अनशन रूप तप का अनुष्ठान, ६—इन्द्रियों को वश करने का प्रयत्न। इनमें पहिले कहे गए चार प्रकार युक्त योगी के लिए उपयुक्त हैं जो कि योग में सिद्धि प्राप्त कर चुका है। और अन्त के दो प्रकार युञ्जान योगी के लिए हैं। जो कि योग प्राप्ति का अभी प्रयत्न कर रहा है। इन छहों प्रकारों का ही एक-एक पद्य के द्वारा यहाँ उपदेश है। इस प्रथम पद्य में तुष्टि-मूलक स्थितप्रज्ञता बताई गई है। तुष्टि शब्द सन्तोष का बोधक है। और सन्तोष का लक्षण यह है कि इन्द्रियों द्वारा विषयोपभोग करते-करते जहाँ आधी तृप्ति प्राप्त हुई हो, वहाँ उतने ही पर ही विश्राम कर आगे के लिए विषय ग्रहण का मार्ग छोड़ देना। अर्थात् फिर विषय ग्रहण के लिए कोई प्रयत्न न करना। पद्य में कहा गया है कि मनोगत कामनाओं को सर्वथा छोड़ दिया जाय। इससे ही सिद्ध हो जाता है कि मन में अभी कामनाओं की सत्ता है। किन्तु उन कामनाओं को अपूर्ण ही छोड़ दिया जाता है, विषय द्वारा उनकी पूर्ति का आगे कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। उस अधूरी तृप्ति को आत्मानन्द से ही पूर्ण कर लिया जाता है। प्रयत्न करने में ५ प्रकार के कारण होते हैं। यह १८ वें अध्याय में बताया जायगा। तदनुसार पहिले मन में जो प्रवृत्ति आरम्भ हो उससे मन में क्षोभ उत्पन्न होगा और वह स्थितप्रज्ञता का विरोधी है। इसलिए उसका परित्याग आवश्यक है। वह परित्याग आत्मानन्द की ओर चित्त को प्रवृत्त करने से ही हो सकता है, जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है। आगे के पद्यों में जहाँ-जहाँ जिस उपाय का विवरण होगा, उसे वहीं स्पष्ट करते जाएँगे। यह मुक्तयोगी की प्रथम प्रकार की तुष्टि मूलक स्थितप्रज्ञता का विवरण हुआ ॥

उन्तालीसवां-पुष्प

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। २।५६–५७-५८।

प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार पूर्व का पद्य स्थितप्रज्ञ पुरुष के आभ्यन्तर लक्षणों का बोधक था, यह पूर्व कह चुके हैं। यह बताया जाता है। इन लक्षणों को देखकर दूसरा पुरुष भी किसी को स्थितप्रज्ञ मान सकता है। प्रथम पद्य का अर्थ है कि "जो कई प्रकार के दुःख पड़ने पर भी उद्विग्न अर्थात् घबड़ाया हुआ न देख पड़े, और भिन्न-भिन्न प्रकार के विषय सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति के लिए जिसकी इच्छापूर्वक प्रवृत्ति न दिखाई दे। एवं जिसके अनुराग, भय और क्रोध निवृत्त हो चुके हों। अर्थात् अनुराग, भय वा क्रोध के लक्षण जिसमें न दिखाई दें उसे स्थित बुद्धि वाला मुनि कहा जाता है।"

यद्यपि सुख-दुःख, भय, राग, क्रोध आदि भी मन के ही वृत्ति विशेष हैं। इनका भी ज्ञान दूसरे पुरुष को होना सम्भव नहीं। तथापि ऐसी वृत्तियाँ मन में उत्पन्न होने पर उनके बाह्य लक्षण भी अवश्य प्रकट हो जाया करते हैं। जिनसे कि दूसरे मनुष्य भी उसकी स्थितप्रज्ञता का अनुमान कर सकें। यही पूर्व पद्य की अपेक्षा इस पद्य में विशेष है कि किस मनुष्य की कामनाएँ हट गई हैं और किसकी नहीं हटी, यह जानना बहुत कठिन बात है। ऐसे अनुमानों में बहुधा दोष भी आ जाते हैं। किन्तु सुख-दुःखादि के लक्षण जो प्रकट होते हैं उनसे सुख-दुःखादि का अनुमान करने में विशेष बाधा नहीं पड़ती। दुःख से उद्विग्न अर्थात् घबड़ाया हुआ जो मनुष्य होगा, वह "अरे यह क्या आपत्ति मुझ पर आ पड़ी" "मैं इससे बचने के लिए किसे पुकारूं" इत्यादि मुख से बोलेगा। इसी प्रकार सुख में अत्यन्त इच्छा रखने वाला भी "कैसे मुझे यह यह वस्तु मिले", कहता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार भय, क्रोध आदि के भी लक्षण इत्यादि उसके बोलने, चेष्टा करने आदि से प्रतीत हो जाते हैं। यह बाह्य लक्षण जिसमें सर्वथा प्रकट न हों उसे स्थित बुद्धि समझना चाहिए, यह भगवान् का अभिप्राय है।

अब यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जिस उच्च अवस्था का भगवान् चित्र दिखा रहे हैं उस अवस्था के सुख दुःख पैदा ही क्यों होंगे ? और

फिर इनमें उद्वेग और स्पृहा का अवसर ही क्यों आवेगा? किन्तु यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि हम कई बार पूर्व में कह चुके हैं कि साधन दशा में प्रारब्ध कर्मवश सुख दुःखादि आ जाया करते हैं। वैसे सुख दुखों के आ जाने पर भी उद्वेग या स्पृहा जिसमें दिखाई न दे, वह स्थितप्रज्ञ माना जाना चाहिए। कई व्याख्याकार इस प्रकार की व्याख्या करते हैं कि अर्जुन ने अपने प्रश्न में जो पूछा था कि स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है? किस तरह रहता है वा कैसे चलता है? उन प्रश्नों के ये उत्तर हैं। अर्थात् सांसारिक पुरुष दुःख सुख में जैसे पराधीन से होकर पूर्वोक्त प्रकार से बोलने लगते हैं, वैसे स्थित प्रज्ञ पुरुष नहीं बोलता। अपितु सुख दुःखों का सहन भीतर ही भीतर करता रहता है। और राग, भय, क्रोध आदि वृत्तियाँ तो उसकी सर्वथा क्षीण हो जाती हैं। पद्य के पूर्वार्ध में जिसे स्पृहा कहा गया है, वही राग समझना चाहिए। स्पृहा अर्थात् इच्छा ही जब धारावाहिक रूप धारण कर ले अर्थात् इच्छा का प्रवाह चल पड़े, तब वही राग कहलाने लगता है। राग को ही प्रेम भी कहते हैं। यद्यपि प्रेम के कारण इच्छा होती है, ऐसा भी व्यौहार देखा जाता है। किन्तु वह भी स्थायी और अस्थायी रूपों के भेद से ही बन जाता है। इच्छा को स्थायी रूप प्राप्त हो जाना ही प्रेम कहा जायगा। उस प्रेम के कारण फिर जो पुनः-पुनः इच्छा होती रहेगी, वह इच्छा शब्द से कही जायगी, इत्यादि। यों तो प्रियता वा प्रेम आत्मा का रूप है, ऐसा वेदान्त में माना जाता है। सत्ता चेतनाआनन्द इनके ही नामान्तर अस्ति, भाति, प्रिय कहे जाते हैं। किन्तु प्रेम जो कि अन्तःकरण का धर्म है, वह इच्छा की ही धारावाहिक अवस्था समझनी चाहिए। इसी प्रकार अकस्मात् कोई नया रूप वा नई घटना सामने आ जाने पर जो चित्त विचलित हो उठता है उसे भय नाम की वृत्ति कहा जाता है। भय का शब्दार्थ "चलन" ही है। चित्त का एकदम डाँवाडोल हो पड़ना ही उसका चलन है। जिस प्रकार की वस्तुओं को देखने का कभी अभ्यास नहीं है, वैसी वस्तु एकाएक सामने आ जाने पर चित्त का डोल पड़ना अवश्यंभावी है। बहुत जगह ऐसा भी माना जाता है कि बिना भय के दुःख नहीं होता। पहिले चित्त में चलन होता है, तब वह चलित चित्त दबाया जाता है। उसका दबाया जाना ही दुःख है। यद्यपि कई जगह सहसा कोई अप्रिय सम्वाद सुनने पर दुःख ही होगा, पूर्व भय की प्रतीति न हुई, ऐसा होता है। किन्तु वहाँ भी चित्त वृत्तियों के अतिसूक्ष्म होने और झटपट परिवर्तन के कारण ही वैसी प्रतीति हो गई, ऐसा समझना चाहिए। वस्तुतः दुःख से पहले भय अवश्य ही होता है। अस्तु, इसी प्रकार भय के सम्बन्ध में यह भी एक विवाद चलता है कि भय ज्ञान से है वा अज्ञान से? जो मनुष्य किसी विशिष्ट कौंसिलादि स्थान का नियम न जानता हो, उसे वहाँ जाने में भय प्रतीत हुआ करता है। किन्तु, जो उस स्थान के नियमों से पूर्ण अभिज्ञ है, वह बराबर वहाँ जाकर काम करता रहता है। उसे कोई भय नहीं होता। इससे तो भय का अज्ञानजनित होना

ही प्रमाणित हुआ। किन्तु इसके विपरीत भी दृष्टान्त हैं। मान लो कि जो पुरुष बिल्कुल यथाजात है, अर्थात् जैसा माता के गर्भ से निकला, वैसा ही आज भी मौजूद है। जिसमें कोई बुद्धि का अतिशय पैदा नहीं हुआ, वह पुरुष कहीं भी बेरोकटोक चला जायगा, उसे कोई भय नहीं होगा। किन्तु जो भिन्न-भिन्न स्थानों का महत्त्व जानता है, उसे ही भय हुआ करता है। इससे भय ज्ञानजनित है, यही बात सिद्ध होती है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए इसका यही उत्तर देना होगा कि न भय केवल ज्ञान से है, न अज्ञान से, किन्तु अज्ञानावृत ज्ञान से भयादि सब वृत्तियाँ हुआ करती हैं। कुछ ज्ञान और कुछ उसमें मिला हुआ अज्ञान जहाँ रहेगा, वहीं भय होगा। जैसा कि पूर्वोक्त उदाहरण में, जो पूर्णरूप से अभिज्ञ है, उसे भी भय नहीं होता और पूर्णरूप से अज्ञ है, उसे भी भय नहीं होता। किन्तु जहाँ कुछ तो ज्ञान रहे, अर्थात् स्थान का महत्त्व तो जानता रहे, किन्तु वहाँ जाने की विधि आदि न जानता हो, उस अज्ञानावृत्त ज्ञान से ही सदा भय होता है। उसी से आगे दुःखादि भी होते हैं। जब ज्ञान प्रबल होकर अज्ञान को नष्ट कर देगा, तो ऐसी बुद्धियाँ स्वतः निवृत्त हो जाएँगी। इसी प्रकार अपना अपकार कहीं होता देखकर प्रदीप्त रूप जो चित्तवृत्ति हो जाती है, उसे क्रोध कहते हैं। यह क्रोध तो बहुत ही बुरी वृत्ति है। जिसका कि वर्णन आगे तृतीयाध्याय में विशेष रूप से होगा। अस्तु, यह तीनों वृत्तियाँ भय, राग और क्रोध जिसकी निवृत्त हो चुकी हों, अर्थात् इनके बाह्य लक्षण भी जिसमें कोई प्रकट न होते हों, उसे स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए। यह प्रथम पद्य का अर्थ हुआ।

विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार यह प्रेम में अनासक्ति मूलक स्थितप्रज्ञता दिखाई गई। क्योंकि सुख और दुःख प्रिय वा अप्रिय के ही नामान्तर हैं। उनमें जो आसक्त होगा, वह दुःख में घबड़ावेगा और सुख के लिए सदा इच्छा प्रकट करता रहेगा। राग, भय, क्रोधादि भी उसे समय समय पर होते रहेंगे। किन्तु जो पुरुष अज्ञान को जीत कर ज्ञानमय हो चुका है, उसे न तो सुख दुःख में ही आसक्ति होती है, न भय, राग, क्रोध आदि का जन्म उसको कभी होता है। इस प्रकार यह अपने प्रिय पदार्थ में अनासक्ति होने की प्रक्रिया बताई गई। आगे के पद्य में श्रेय अर्थात् हितकर पदार्थों में अनासक्ति बताई जायगी, क्योंकि शुभाशुभ, हित और अहित से सम्बन्ध रखते हैं

दूसरे पद्य में भगवान् कहते हैं कि "जो पुरुष शुभ वा अशुभ अर्थात् हितकर वा अहितकर पदार्थों को प्राप्त करता हुआ भी उनमें कोई स्नेह नहीं रखता, न शुभ का अभिनन्दन करता है, न अशुभ के साथ द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई, ऐसा समझ लेना चाहिए"।

स्नेह शब्द का असली अर्थ चेप है। जो पदार्थ हमें हितकर प्रतीत होता है, उसके साथ हमारे अन्तःकरण का एक प्रकार चेप हो जाता है। इसी

प्रकार जो पदार्थ अहितकर प्रतीत हो, उसके साथ द्वेष हो जाया करता है। हितकर पदार्थ का हम सदा अभिनन्दन किया करते हैं, अर्थात् "यह खूब मिला", इत्यादि रूप से उसकी श्लाघा करते हैं। और अहितकर पदार्थ को सदा घृणा की दृष्टि से देखा करते हैं। यह हमारी, सांसारिकों की प्रवृत्ति है। किन्तु जिस पुरुष की प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई हो, उसकी ऐसी प्रवृत्ति नहीं रहती। वह प्रिय-अप्रिय की तरह हित और अहित रूप शुभ वा अशुभ को भी सामान दृष्टि से ही देखता है। न हितकर कार्य का अनुमोदन करता है और न अहितकर कार्य से द्वेष दिखाता है। इससे अनुमान होता है कि अन्तःकरण का द्वेष किसी के साथ नहीं है। यह भी बाह्य लक्षण ही बताए गए। इनमें अभिनन्दन और द्वेष का जो निषेध किया गया है वह स्पष्ट रूप से बाह्य लक्षण प्रतीत होता है। क्योंकि अभिनन्दन वा द्वेष बाह्य प्रशंसा वा निन्दा से ही जाने जाते हैं। विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार यह श्रेय में अनासक्ति मूलक स्थित-प्रज्ञता हुई

अब तीसरे पद्य में स्थितप्रज्ञता का और लक्षण बताते हैं कि जैसे "कूर्म अर्थात् कच्छप किसी प्रकार का भय प्रतीत होने पर अपने अंगों को भीतर समेट लेता है, इसी प्रकार जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के अर्थों से अर्थात् शब्द-स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा को प्रतिष्ठित मानना चाहिए"।

सांसारिक पुरुष, जब इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषय प्राप्त हों तो बड़े उल्लास से उनमें प्रवृत्त होते हैं, जहां कोई अच्छा गायन हो रहा हो, वहाँ हमलोग सुनने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं, और उस गायन को बार-बार सुनते हुए भी उससे तृप्ति प्राप्त न होने की अवस्था दिखाया करते हैं। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस वा गन्ध का भी वृत्तान्त है। किन्तु जिस स्थितप्रज्ञ का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, वह पुरुष ऐसे अवसरों पर अपनी इन्द्रियों को उन विषयों में जाने न देगा, किन्तु उनको वैसे विषयों से अवश्य हटावेगा। क्योंकि जैसा कि आगे कहेंगे तदनुसार इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति होने पर मन भी इंद्रियों के साथ लग जायगा। और फिर बुद्धि को भी मन आदि के साथ लगना पड़ेगा। इस प्रकार बुद्धि की स्थिरता नष्ट होकर चंचलता के रूप में परिवर्तित हो जायगी। इसलिए इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना ही युक्तियुक्त है। यह अभ्यास दशा का वर्णन है, ऐसा कई व्याख्याकारों ने माना है। क्योंकि सिद्ध दशा में जब कोई प्रतिष्ठित हो जाय तब उसके लिए तो शुभ और अशुभ सब बराबर रहते हैं। उस पर किसी का प्रभाव ही नहीं पड़ता। तब इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाने की क्यों आवश्यकता होगी। हाँ, जबतक साधन दशा रहे, तबतक इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति को उस समय घातक समझा जाता

है। इसलिए यहाँ से ही अभ्यास दशा का वर्णन आरम्भ हो गया। ऐसा एक मत है। किन्तु श्री विद्यावाचस्पति जी कहते हैं कि यह पूर्ण तृप्त जो हो चुका, उसी का वर्णन है। यह इसके दृष्टान्त से प्रतीत हो जाता है। दृष्टान्त में कहा गया है कि कूर्म जैसे अपने अंगों को समेट ले वैसे जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को अपने विषयों से समेटता है यह घटना पूर्ण तृप्ति प्राप्त होने पर ही हो सकती है। तब ही अलम्बुद्धि से इन्द्रियों का विषयों से पराङ्मुख होना सिद्ध होगा। इसलिए उनके सिद्धान्त के अनुसार यह वर्णन पूर्ण तृप्त का है। अब यह दूसरी बात है कि यह पूर्ण तृप्ति विषयों के भोग से ही प्राप्त हुई हो, अथवा ज्ञान से प्राप्त हुई हो। ज्ञान से भी ऐसी तृप्ति होना सम्भव है कि सर्वथा अलम्बुद्धि हो जाय। सिद्धि-असिद्धि में समता रूप जो योग पूर्व कहा जा चुका है, उसका भी तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों का विषयोपभोग न करना। तभी समता ठीक रह सकती है। इसलिए विद्यावाचस्पति जी के सिद्धान्तानुसार यह वर्णन पूर्ण तृप्त का ही है। साधन दशा का वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया जायगा।

चालीसवां पुष्प

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥२।५६॥

"यदि मनुष्य निराहार रहे अर्थात् कोई भोजन न करे तो उसके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु, उन विषयों का अनुराग निवृत्त नहीं होता। अर्थात् "यह प्राप्त होने पर मैं इस प्रकार आनन्द उड़ाऊँगा" इत्यादि भावनाएँ निवृत्त नहीं होती। ये भावनाएँ परतत्त्व को देखकर ही निवृत्त होती है। इसलिए परतत्त्व के विचार में ही मन लगाना चाहिए।"

इससे पूर्व जो-जो स्थितप्रज्ञता के लक्षण भगवान् ने बताए, उन्हें सुनकर यह शंका होगी कि यह सब तो हठयोग से भी हो सकता है। यहाँ निराहार शब्द का ऐसा ही अर्थ प्रायः सभी व्याख्याकार करते हैं कि "इन्द्रियों से विषयों का आहर रूप अर्थात् ग्रहण करना जिसने छोड़ दिया हो। इसका यही तात्पर्य निकाला जा सकेगा कि इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाना चाहती हैं, किन्तु उन्हें बलात् रोककर जाने नहीं दिया जाता। यही हठयोग है। चार प्रकार के योग आर्य संस्कृति में वर्णित हैं—१—मन्त्रयोग, २ - हठयोग, ३—राजयोग और ४—लययोग। किसी के अपने इष्टदेव का विशेष मन्त्र जपते हुए उसमें ध्यान लगाने का अभ्यास मन्त्रयोग है। इन्द्रियों को बलपूर्वक अपने विषयों में जाने से रोकना हठयोग है। और भावना ही ऐसी करना कि जिससे इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति ही न रहे, वह राजयोग है। इन योगों की पराकाष्ठा में जब मन प्रायः लीन हो जाता है, तब सबके ही अन्त में लययोग सिद्ध होता है। अस्तु, इस प्रकार हठयोग करने पर भी इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति हट जायगी उस दशा में उस पुरुष के ऐसे भी लक्षण प्रकट हो सकते हैं कि दुःख में न घबड़ावे, सुख की स्पृहा न करे। राग, भय, क्रोध इत्यादि के लक्षण भी प्रकट न होने दे, कूर्म की तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट ले इत्यादि। तब फिर हठयोग से ही काम चल गया, तो इस कर्मयोग को जो कि अनेक जन्माभ्यास से सिद्ध होगा, उसके अनुष्ठित करने की आवश्यता क्या? ऐसी शंका अर्जुन के हृदय में जानकर भगवान् उसका उत्तर देने लगे हैं कि अवश्य ही हठयोगी से भी विषय निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु मन में विषयों का राग बना रहता है। अर्थात् यदि विषय प्राप्त होते तो मैं इस प्रकार आनन्द उड़ाता, यह अनुराग हठयोग नहीं छूट सकता। यह राग तो तब ही छूटेगा जब कि इन विषयों से भी बड़ा कोई आनन्द इसके सामने रक्खा जाय। वह आनन्द ब्रह्मानन्द ही हो सकता है कि जिसके प्राप्त हो जाने पर विषयानन्द अति तुच्छ हो जाते हैं। इसलिए उस मुख्य आनन्द को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना

चाहिए। मध्य में यह उपन्यास करने का अभिप्राय यह हो सकता है कि अभ्यास दशा में कोई मनुष्य यदि इन्द्रियों को विषयों से हटाने में असमर्थ हो तो भले ही वह हठयोग से भी काम ले ले, किन्तु अन्त में तो इसे कर्मयोग का आश्रय लेना पड़ेगा जिसके कि द्वारा परमतत्त्व का दर्शन होकर सब जगत् का जञ्जाल मिट सके। विषयों में अनुराग इस स्थितप्रज्ञता से ही निवृत्त होगा। और अनुराग मिटना ही मुख्य ध्येय हो सकता है। रस शब्द यहाँ अनुराग का बोधक है।

यद्यपि यहाँ प्रायः टीकाकारों ने निराहार शब्द का अर्थ सब विषयों का आहारण न करना ही किया है। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण न करना ही निराहार हुआ। इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण न करना निराहार हुआ, इत्यादि। किन्तु निराहार शब्द का मुख्यार्थ तो भोजन न करना है, वह भी यहाँ लिया जा सकता है। अर्थात् मनुष्य जब भोजन नहीं करे तब उसकी सभी इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं। किसी इन्द्रिय में विषय ग्रहण का सामर्थ्य नहीं रहता। किन्तु अपने विषय में इन्द्रियों का अनुराग बना रहता है। वह अनुराग परतत्त्व का दर्शन होने पर ही निवृत्त होगा। यह अर्थ भी इस श्लोक से प्रस्फुटित होता है। और उपवास करने की जो प्रथाएँ चली हैं उन सबका मूल यही अर्थ है। आर्य संस्कृति में उपवास दो प्रकार के होते हैं—१—वह कि जहाँ किसी नियत समय पर हमें पूजा आदि करना हो, वहाँ उससे पहले भोजन न करना जैसे कि जन्माष्टमी, शिवरात्रि को मध्य रात्रि में कृष्ण का वा शिव का पूजन आवश्यक है। इसलिए उस पूजन के समय से पूर्व अन्न ग्रहण न करना भी आवश्यक समझा गया। २—यह जैसे कि एकादशी आदि का उपवास है। वहाँ वह उपवास ही प्रधान रहता है। कोई अन्य पूजन प्रधान रूप से नहीं होता। इन दोनों ही स्थानों में भोजन न करने का अभिप्राय यही है कि भोजन दे देने से मन में एक प्रकार की स्फूर्ति आ जायगी और वह नाना विषयों में उछलकूद करने लगेगा। इसलिए पहिले अन्न खाना छोड़ देते हैं। तो मन में वैसी स्फूर्ति भी बिना आहार के नहीं आती। मन अन्न से ही बनता है। अन्न से ही उसमें स्फूर्ति आती है। जिस प्रकार हाथी पकड़ने वाले, एक गढ़े में गिराकर उसे कई दिन का उपवास कराते हुए शिथिल कर देते हैं तब वह अनायास पकड़ लिया जाता है। इसी प्रकार मन को भी अन्न न देकर उसे शिथिल बनाया जाता है। तब वह पकड़ में आ सकता है। इसी आधार पर उपवासों की प्रवृत्ति चली है।

छान्दोग्य उपनिषद् में इसकी एक रोचक आख्यायिका है। उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा दे रहे हैं। वे जब सिखाते हैं कि "अन्नमयं हि सोम्य मनः", "आपोमयोहि प्राणः, तेजोमयी वाक्" इत्यादि। अर्थात् हे सोम्य! मन अन्नमय है, अन्न से ही बनता है। प्राण तत्त्व आपोमय है, अर्थात् जल से बनता है। वाक् तेजोमयी है, इत्यादि। इस पर जब श्वेतकेतु को सन्देह होता

है कि मन तो अत्यन्त सूक्ष्म है वह स्थूल अन्न से कैसे बनेगा ? तब उद्दालक ऋषि उसे शिक्षा देते हैं कि "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" अर्थात् जो अन्न हम खाते हैं वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। जो स्थविष्ठ अर्थात् स्थूलता मात्र है, वह मलरूप होकर उसके थोड़ी देर बाद ही बाहर निकल जाता है। और दूसरा भाग जो कि इसकी अपेक्षा सूक्ष्म है वह शरीर के बनाने में लगता है। जिसका कि वर्णन आयुर्वेद में विशेष रूप से किया गया है। अन्न से पहिले रस बनता है। रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा (मांस का चिक्कण भाग), मेदा से अस्थि, उससे मज्जा (बहुत ही कठोर भाग) और उससे आगे शुक्र बनता है जो कि सन्तान उत्पादन के काम में लिया जाता है। अब तीसरा भाग जो अन्न का शेष रहा, वह मनको तृप्त करता है अर्थात् उसे बढ़ाता रहता है। इतना जानकर भी श्वेतकेतु के मन में सन्देह ही रहा कि स्थूल अन्न का अति सूक्ष्म मन से कैसे सम्बन्ध होगा ? उद्दालक ने अपनी बात उसके हृदय में जमा देने को उससे पूछा कि अभी भोजन तो नहीं किया है ? श्वेतकेतु ने कहा नहीं, अभी तो अध्ययन चल रहा है ! इसके बाद भोजन की व्यवस्था होगी। तब उद्दालक ऋषि ने आज्ञा दी कि अच्छा, आज भोजन मत करना। अस्तु, आज्ञा तो आज्ञा थी, श्वेतकेतु को इस पर "क्यों" कहने का कोई अधिकार न था। इसलिए वैसा ही किया गया। दूसरे दिन जब नियत समय पर श्वेतकेतु आए तब उद्दालक ऋषि ने कह दिया कि आज भी उपवास। यों क्रम से सोलह दिन उपवास करवाया। जब १६ वें दिन फिर श्वेतकेतु आया तो उद्दालक ऋषि ने कहा कि "कहो बेटा। कोई ऋग्वेद की ऋचा वा सामवेद का गान सुनाओगे।" इस पर श्वेतकेतु बोले—"पिता जी। कुछ भी स्मरण नहीं है। आंख के आगे केवल अन्धेरा दिखाई देता है।" उद्दालक ऋषि ने हंसकर कहा कि जाओ, कुछ दुग्धादि लेकर फिर आना। जब श्वेतकेतु दुग्धादि पान कर फिर आए तो उद्दालक ने फिर पूछा कि कहो. कुछ ऋचा या साम सुनाओगे, श्वेतकेतु बोला—"पिता जी। सब उपस्थित है। जहाँ से कहें वहीं से बोलना आरम्भ करूँ। तब उद्दालक ने फिर समझाया कि देखो। स्मृति तो मन का धर्म है। अन्न न खाने से तुम्हारा शरीर दुर्बल होता, मन पर इतना प्रभाव क्यों पड़ा कि कुछ भी याद न रहा, इसी से मान लो कि मन अन्नमय होता है। अन्न न खाने से उसकी भी स्मृति आदि वृत्तियाँ शिथिल वा नष्ट हो जाती हैं। तब श्वेतकेतु समझ गया। इस आख्यायिका के द्वारा मन की अन्नमयता स्पष्ट कर दी गई है। तब इसके अनुसार मन को शिथिल करने का यही उपाय सोचा गया कि उसे खाने को न दिया जाय। जब खाने को न मिलेगा तब मनकी वृत्तियाँ शिथिल होंगी और उसे अपने इष्टतम विषय में लगा सकेंगे। एकादशी आदि के दिन मन को पूर्वोक्त प्रकार से शिथिल कर इसके द्वारा अधिष्ठित दसों इन्द्रियों को भगवान् के ध्यान में लगाया जाता है। इसीलिए एकादशी व्रत की इतनी महिमा मानते हैं कि एकादश इन्द्रियों का विषयों से उपराम कर सब

को भगवान् की ओर लगा देना। उपवास शब्द का अर्थ भी शास्त्र में यही किया गया है कि—उपावृत्तस्य पापेभ्यो वासो यस्तु गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयः" अर्थात् पापों से हटाकर मन का गुणों के साथ सम्बन्ध जोड़ना इसी को उपवास कहते हैं। न कि आजकल की तरह के उपवास शास्त्रानुमोदित हो सकते हैं कि "चलो जी" आज तो उपवास है, खाना पीना, तो कुछ है नहीं, आज घर का विशेष काम ही कर डालें"। ऐसा कहकर लोग मकान की सफाई करने वा छप्पर आदि बांधने में वा "चलो उपवास है, खाना पीना तो है नहीं, और दो बाजी ताश ही खेल लें ऐसा कहकर लगे पत्ते खेलने, इत्यादि। ऐसे उपवासों से किसी प्रकार के फलों की आशा करना व्यर्थ है।

श्रुतियों में भी उपवास का विषय आता है। वहाँ यह बताया गया है कि दर्शपौर्णमास नाम के यज्ञ करने को जब मनुष्य तत्पर होता है तब ही देवता लोग इसके समीप आ जाते हैं। क्योंकि वे मनुष्य का मन जानते रहते हैं। अब मनुष्य के लिए यह कठिनता आ पड़ती है कि यदि कोई अपने से प्रतिष्ठित दूसरा मनुष्य भी अपने घर आ जाय तो उसे छोड़ कर स्वयं खा लेना एक बड़ी असभ्यता होती है। देवता आदि जो आए हुए हैं, उन्हें भोजन प्रतिपदा को देना विहित है। आज अमा या पूर्णिमा को उन्हें भोजन दिया नहीं जा सकता क्योंकि वह अवैध होगा, तब मनुष्य के लिए यही उपाय है कि वह स्वयं भी न खाए। अथवा न खाने में वहाँ एक दूसरी अनुपपत्ति दिखाई है। तब ऐसी चीज खा लें कि जो देवता न खाते हों। अपने घर पर जो प्रतिष्ठित पुरुष आया हो वह जो वस्तु न खाता हो उसे उसकी आज्ञा लेकर खा लेने में कोई बाधा नहीं है, इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के आरम्भ में ही कहा गया है। इसलिए आरण्यक आदि पदार्थ जो देवताओं के खाद्य नहीं होते, उनको खाने का ही उसदिन यजमान के लिए विधान माना है। देवता लोग सोम जिनमें प्रचुर मात्रा में हो, उन्हें ही खाया करते हैं। सोम की मात्रा किन-किन पदार्थों में प्रचुरता से रहती है, इस बात को सोम की स्तुति के रूप में श्रुति ने ही बताया है—

"त्वमिमा ओषधीः सोम सर्वाः त्वमपोऽजनयस्त्वंगाः।
त्वमातनोरुर्वन्तरिक्षं त्वं जोतिषा वितमो ववर्थ॥

अर्थात् "हे सोम! तुमने सब औषधियों को पैदा किया है। तुमने अन्तरिक्ष को बहुत विस्तृत फैलाया है और तुम ही प्रकाश से अन्धकार को दूर करते हो।" इसके अनुसार औषधियों में, जल में वा गौ के दुग्धादि में सोम की मात्रा बहुत अधिक सिद्ध होती है। क्योंकि यह उसी के पैदा किए हुए हैं। औषधि संस्कृत भाषा में उनको ही कहते हैं जिनका फल परिपक्व होते ही पौधा नष्ट हो जाय—"औषध्यः फलपाकान्ताः।" इस विचार से चावल, गेहूं आदि अन्न ही औषधि शब्द के वाच्य हैं। और इनमें ही सोम प्रचुर मात्रा

में रहता है। जो चीज विना बोई हुई अरण्य में अपने आप हो जाती है— श्यामाक, नीवारादि में तथा फलों आदि में सोम अधिक मात्रा में नहीं रहता। इसलिए यह देवताओं के भक्ष्य नहीं होते। इन्हीं का विधान अमापूर्णिमा को यजमान के लिए माना गया है।

इसी आधार पर आज भी व्रतोपवास के दिन यही आरण्यक वस्तुएँ वा फलादि खाए जाते हैं। यह फलहारादि की प्रक्रिया उस श्रुति के आधार पर ही चली है। यह मानना होगा। कृष्ण जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि को हम लोग मध्यरात्रि में जब कृष्ण शिवादि का पूजन करते हैं, उसका संकल्प भी प्रातः काल ही होता है। अतः प्रातःकाल से ही शतपथ ब्राह्मण में कहे गए न्याय के अनुसार वे देवता हमारे पास रहते हैं, अतः उनको छोड़कर विना उनको अन्न ग्रहण कराए अपना भोजन करना अनुचित है। इसलिए विशेष पूजादि के दिन भी जबतक वह पूजा न कर ली जाय, तबतक उपवास रहता है। और जो उपवास करने में अशक्त हैं, ऐसे बालवृद्ध आतुरादि के लिए उसी प्रक्रिया से फलाहारादि का विधान चलता है। यह सब उपवास की प्रक्रिया वेदमूलक ही है। व्रत शब्द तो साधारणतया नियम का वाचक है। कोई भी विशेष करना व्रत में आ ही जाता है। जैसा कि जो मनुष्य यह नियम करे कि मैं शूद्र का अन्न नहीं खाऊँगा तो यह शूद्रान्न अभक्षण ही उसका व्रत हो गया। अस्तु, हमारा प्रयोजन इतना ही था कि यह व्रतोपवास की प्रक्रिया भी शास्त्रोक्त है। यहाँ भी भगवान् ने इसका यह प्रयोजन बताया है कि अन्नाहार रहने वाले पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं। अनुराग निवृत्त नहीं होता। उसके लिए वह यत्न करता रहे। किन्तु कुछ काल तक विषयों से पीछा छुड़ाने के लिए तो व्रतोपवास की विधि उपयुक्त हो सकती है। इस प्रकार इसकी उपयोगिता बताने के लिए ही यहाँ इस स्थितप्रज्ञता के प्रकरण में इसका उपन्यास किया गया। इसका प्रयोजन यही है कि साधन दशा में मनुष्य उपवासादि के द्वारा भी विषयों की निवृत्ति कर ले। आगे अनुराग की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहे। इस प्रकार यह साधन दशा की स्थितप्रज्ञता बताई गई।

यद्यपि यह ठीक है कि छठे अध्याय में पातंजल योग का निरूपण करते समय भगवान् यह कहते हैं कि अधिक खाने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता, और एकान्ततः भोजन छोड़ देने वाले को भी योगसिद्धि नहीं होती है। इसलिए योगसिद्धि चाहने वाले को अपने आहार-विहार युक्त रूप में रखने चाहिए। ऐसे ही शयन-जागरण भी युक्तरूप का होना चाहिए। इससे उपवासादि योग के उपयोगी नहीं है, यह बात सिद्ध होती है। किन्तु वह सदा के लिए एक सामान्य नियम बताया गया है कि योग साधन करने वाले को आहार-विहार नियमित रखना चाहिए, शयन और जागरण भी नियमित रखना चाहिए। किन्तु कभी एकादशी आदि के उपवास में वा शिवरात्रि के जागरण में वह

सामान्य नियम बाधा नहीं डाल सकता। प्रत्येक सामान्य नियम में कोई अपवाद रहता ही है। इसलिए यह विशेष दिन का व्रतोपवासादि अपवादभूत है। ऐसा मान लेने पर कोई विरोध नहीं रहेगा। अथवा जो योग साधन में सर्वथा अशक्त है, उनके लिए यह व्रतोपवास की प्रणाली उपयुक्त है, यह मानने पर कोई बाधा नहीं रहेगी। सब प्रकार के अधिकारियों को कोई न कोई मार्ग बताते रहना सर्वथा उन्हें निराश न करना यह आर्य वैदिक धर्म की विशेषता है। जो योग साधन नहीं कर सकते, उन्हें भी कल्याण का कोई मार्ग तो बताना उचित ही होगा। उनके लिए यह उपवासादि का विधान है। और इससे पूर्वोक्त प्रकार से स्थितप्रज्ञता के सम्पादन में भी सहायता ली जा सकती है। यह यहाँ मध्य में इस उपदेश को कहने का तात्पर्य हुआ।

इक्तालीसवां-पुष्प

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२।६०–६१॥

इन्द्रिय संयम की आवश्यकता बताते हुए भगवान् कहते हैं—कि "हे कौन्तेय । यत्न करते हुए भी और विद्वान् पुरुष के भी मन को इन्द्रियाँ प्रमथन करके बलात्कार से हरण कर लेती हैं । अर्थात् विषय की ओर ले जाती हैं । जैसे एकान्त मन में किसी व्यापारी को घेर कर उसका प्रमथन करते हुए अर्थात् मारपीट करते हुए डाकू धन लूट लेवे हैं । इसी प्रकार इन्द्रिय रूप डाकू भी यत्न करते हुए पुरुष के भी सर्वस्व रूप मन को लूट लेते हैं । मन का स्वभाव है कि वह इन्द्रियों के साथ चला जाता है । इस प्रकार इन्द्रियों के विषयाभिमुख होने पर मन उनकी ओर खिच जायगा और फिर बुद्धि को भी इनके साथ लगना पड़ेगा । तब स्थितप्रज्ञता दुर्लभ हो जायगी ॥१॥

इसलिए सबसे पहले आवश्यक है कि "मनुष्य इन्द्रियों को अपने वश में करे । और वश में करके योगयुक्त होता हुआ मेरी ओर ध्यान लगाकर मुझे ही परतत्व मानता हुआ, अपने कार्य को सम्पादित करता रहे । जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में हो जायँगी, उसकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि प्रतिष्ठित हो जायगी । यह भी पूर्व पद्य जैसा था, वैसा ही साधन दशा का वर्णन करने वाला पद्य है । साधन दशा में पहले मनुष्य को इन्द्रियों पर ही अपना अधिकार करना चाहिए । इन्द्रियाँ जब वश में हो जाएंगी, तब मन पर भी अधिकार जमाना सहज होगा । और इधर से जब आकर्षण न चलेगा तो बुद्धि भी स्थिर हो सकेगी ।

यह बात हम पहले कई बार कह चुके हैं कि द्वितीय अध्याय सूत्ररूप है । अपना वक्तव्य सब इस अध्याय में भगवान् ने बता दिया है । आगे फिर प्रश्नोत्तर द्वारा इसी का विस्तार होता रहेगा । जब द्वितीयाध्याय सबका सूत्र-रूप है, तब भक्ति विषय जो गीता में विशेष रूप से प्रतिपाद्य है, वह इसमें न आवे, यह कैसे हो सकता है । इसलिए "मत्परः" शब्द से यहाँ भक्ति का भी सूत्ररूप से उपन्यास कर दिया गया । यद्यपि "आत्मन्येवात्मनः तुष्टः" इत्यादि में भी आत्मा का परमात्मा अर्थ कर उन पद्यों की भी भक्ति परक व्याख्या की गई है, ऐसा हम लिख चुके हैं । किन्तु वह किसी-किसी ही व्याख्याकार का मत है । सबके मत में वैसा अर्थ नहीं । इसलिए सर्व सम्मत भक्ति प्रकरण का सूत्ररूप से यहाँ कथन आवश्यक था । आगे द्वितीय षट्क में उसका विस्तार

होता रहेगा। यहाँ "मत्परः" शब्द का आशय है कि मुझे अर्थात् वासुदेव भगवान् को अपना "पर" अर्थात् "प्राप्तव्यस्थान" बना लो। इससे इन्द्रियों के वश करने में भी सहायता मिलेगी। इसलिए योगयुक्त होना तुम्हारा बन सकेगा।

इन्द्रियों का स्वभाव है कि जितना आनन्द इन्हें अपने विषयों में प्राप्त होता है, उससे अधिक आनन्द यदि कहीं प्राप्त हो तो सामान्य आनन्द को छोड़कर उस विशेष आनन्द की ओर झुक जाती हैं। ऐसी स्थिति में जब परब्रह्म में ध्यान लगाया जायगा और ध्यानयोग रूप भक्तिमार्ग में अथाह आनन्द प्राप्त होगा तब इन्द्रियाँ अपने आप सब विषयों को छोड़कर उसी भक्ति-मार्ग में लीन हो जाएंगी। इससे इन्द्रियजय में उतनी कठिनाई न पड़ेगी, जितनी कि सम्भावित है। भगवद्भक्ति का आनन्द एक अद्भुत आनन्द है। उसमें विषयानन्द की अपेक्षा सैकड़ों गुना आनन्द प्राप्त हो जाता है। अथवा द्वादशाध्याय में जो कहा जायगा कि "अभ्यासेप्यसमर्थोसि मत्कर्म परमो भव" अर्थात् अभ्यास करने में भी यदि तुम असमर्थ हो तो मुझे उद्देश्य बना-कर कर्म किया करो इससे भी तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो जायगी। वही बात यहाँ "मत्परः" शब्द से कही गई है। अर्थात् मुझे परमात्मा को परायण मान कर मेरे लिए कर्म किया करो। तुम्हारी इन्द्रियाँ यदि सुगन्धि की ओर लालायित होती हैं तो मेरे उद्देश्य से ही चन्दन बनाकर अथवा पुष्प माला मुझे चढ़ाकर, उन इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करने का अवसर दो। भगवत्प्रसाद रूप से जब इन्द्रियों को इन्द्रियों से सुगन्ध द्रव्यों का ग्रहण कराया जायगा, तो संसार की ओर न झुककर भगवान् की ओर ही झुकेंगी। यही बात श्रीमद्-भागवत में भी कही गई है कि—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायोबीजाय नेष्यते ॥

अर्थात् मुझ परमात्मा में जिसने अपनी बुद्धि का आवेश कर दिया है, उनकी कामनाएँ आगे नई-नई कामना उत्पन्न करने में नहीं लगती। जैसे कि धान का स्वभाव बीज रूप से नया वृक्ष उत्पन्न करना है। किन्तु यदि उसे भूँज दिया जाय या गर्म जल में क्वाथ बना लिया जाय तो फिर नया पौधा उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं रहती। इसी प्रकार भगवद्भाव से भूँज डालने पर कामनाओं में नई-नई कामनाएँ उत्पन्न करने की शक्ति रुक जाती हैं। सद् वैद्य वही कहलाता है जो कि घातक वस्तु को भी प्राणप्रद बना ले। संखिया आदि विष मनुष्य के घातक हैं किन्तु सद्वैद्य इन्हें ही शोधित कर इनसे बहुत कठिन रोगग्रस्त मनुष्यों को भी जीवनदान दे दिया करते हैं। इसी प्रकार भक्तिमार्ग एक ऐसा मार्ग है कि जो मनुष्य के घातक विषयों को भी भक्ति के पुट से शोधित कर मनुष्य का उद्धारक बना देता है। इसमें इन्द्रियों का जय करने में कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। केवल दृष्टिभेद मात्र कर

दिया जाता है। हम अपने लिए नाना सुगन्धित पुष्पमालादि सज्जित न करें, किन्तु भगवान् के चढ़ाने के लिए वे ही पुष्प माला तैय्यार करें और भगवत् प्रसाद रूप से इन्द्रियों को उनका उपभोग करने दें। सुन्दर दिव्य पदार्थ खाने की इच्छा हमें हो तो वे पदार्थ अपने लिए न बनाए जाएँ, किन्तु नाना उत्सवों पर भगवदर्पण के लिए वे ही पदार्थ बनाए जाएँ, और भगवान् के प्रसाद रूप में इन्द्रियों को भी उनका रस चखने दिया जाय। इससे इन्द्रियाँ अपना विषय प्राप्त होता रहने पर, प्रत्युत उससे भी कहीं अधिक विषय प्राप्ति देखकर उसमें लगी रहेंगी। और सब बातों में भगवद्भाव का पुट देने से निरन्तर भगवान् की ओर ध्यान लगता रहेगा। इससे भगवद्भावरूप भक्ति भी सिद्ध होती रहेगी। यों इन्द्रियों का वशीकार सहज में हो जायगा। बड़ी कठिनाई से योग साधन द्वारा जो बात नहीं हो पाती थी वह भगवद् भाव के पुट से ही सिद्ध होती जायगी। यह मूर्ति पूजा की ही महिमा है कि जिससे मनुष्य निरन्तर भगवद्भाव में प्रवेश पाता हुआ आगे-आगे क्रमशः संयम की ओर बढ़ता रहता है।

यहाँ बहुत से लोग, विशेष कर आजकल के विवेचक यह शंका उठाते हैं कि भगवान् तो अमूर्त हैं। उनकी मूर्ति कल्पना करना तो उनके साथ अन्याय करना है। जिनका वर्णन श्रुति ने "स पर्य्यगाच्छुक्रमव्रणम्", "यतो वाचो निर्वन्ते ऽप्राप्य मनसा सह", "वह साधक मनुष्य अकाय अर्थात् बिना शरीर के और" अव्रणम् "बिना व्रण वाले परमात्मा को प्राप्त करे" "मन और वाणी जिस परमात्मा को प्राप्त न कर बीच में से ही लौट आती हैं, इत्यादि रूप से किया है। उनकी चर्म चक्षुओं से ग्रहण होने योग्य मूर्ति बना लेना उनके साथ घोर अन्याय नहीं तो क्या है? किन्तु इस प्रकार की शंका करने वाले यह ध्यान नहीं देते कि भगवान् की उपासना भी तो श्रुति ही बताती है। फिर जब मन और वाणी में जो विषय आवेगा ही नहीं उसकी उपासना ही कैसे होगी। उपासना नाम तो चित्त को एक जगह स्थिर करने का है। जब चित्त उसे पा ही नहीं सकता तो उसमें स्थिर कैसे होगा। और उपासना पद्धति कैसे बनेगी। इसीलिए भक्तों पर अनुग्रह करने को, उनकी उपासना सिद्ध करने को भगवान् नाना रूप धारण किया करते हैं। जिनका कि वर्णन अवतारवाद के प्रसंग में चतुर्थोऽध्याय में होगा। यहाँ इतना ही कहना है कि उन अवतारों के रूपों को ही हम अपना उपास्य बनाते हैं। इसी उद्देश्य से आज दिन सीता राम, राम कृष्ण आदि के मन्दिर ही विशेष रूप से दिखाई देते हैं। फिर यह भी तो विचारने की बात है कि निराकार के आकार की कल्पना क्या श्रुति में होती ही नहीं? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। श्रुति में बहुधा निराकार की आकार कल्पना का प्रसंग है। देखिए एकमन्त्र श्रुति में से उद्धृत किया जाता है—

चत्वारि शृंगाः त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ४-५८

इसका अर्थ है कि "चार जिसके सींग हैं, तीन पैर, दो मस्तक हैं और सप्त हाथ हैं। तीन स्थानों में बँधा हुआ वह वृषभ खूब शब्द करता है। वह महान् देव मर्त्यों में आकर प्रविष्ट हुआ।" अब जो सज्जन इस बात का आग्रह करें कि वेद में मूर्ति-कल्पना नहीं है वे चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक का और सात हाथ का कोई बैल दिखावें। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो मानना पड़ेगा कि वेद मन्त्रों में आकार कल्पना होती है। इसी मन्त्र को महाभाष्यकार ने शब्द परक लगाया है, और निरुक्तकार ने इसमें यज्ञ का वर्णन बताया है। दोनों ने अपने-अपने मतानुसार शिर हाथ आदि की कल्पना की है। तब यह सिद्ध हो जाता है कि वेद मन्त्रों में भी निराकार की आकार-कल्पना है। तब फिर निराकार परब्रह्म की आकार-कल्पना की जाय तो वह वेद-विरुद्ध नहीं होगी, किन्तु वेदानुकूल ही होगी। इसी प्रकार लोक-व्यवहार में भी निराकार की आकार-कल्पना बहुधा की जाती है। पहिले शब्द को ही देखिए। शब्द एक ध्वनि वा उससे अभिव्यञ्जित होने वाला एक स्फोट पदार्थ है। उसका इन आकारों से कोई सम्बन्ध नहीं जिन्हें कि हम पत्रों पुस्तकों आदि में बनाते हैं। मुद्रित करते हैं और उसी के आधार पर सब कुछ हमारी शिक्षादि चलती है। यह निराकार की आकार-कल्पना यदि न की जाय तो संसार में शिक्षा पद्धति ही बन्द हो जाय। इसी प्रकार गणित शास्त्र में रेखा गणित जो पढ़ते हैं उन्हें पहिले यह सिखाया जाता है कि विन्दु वा रेखा इन दोनों को पहिले सीखो। विन्दु का लक्षण यह बताया जाता है कि जिसमें लम्बाई-चौड़ाई कुछ नहीं है, वह विन्दु कहलाता है, अब मास्टर जब अपने शिष्यों को शिक्षा देने के लिए खड़ा होता है तो ब्लैक बोर्ड पर खड़िया से एक आकार बना देता है कि यह विन्दु है। अब कोई शिष्य उसके सामने विवाद करने खड़ा हो कि मास्टर साहब आपने जो विन्दु बनाया उसमें तो लम्बाई चौड़ाई दोनों है। फिर आप का लक्षण इसमें कैसे घटेगा। मान लो कि वह उसे बिगाड़ कर छोटी से छोटी भी विन्दु बनावे तो भी उसमें एक जौ भर लम्बाई-चौड़ाई अवश्य रहेगी। इसी प्रकार रेखा का लक्षण यह बताया जाता है कि जिसमें केवल लम्बाई हो चौड़ाई बिलकुल न हो। किन्तु उसकी शिक्षा के लिये जो रेखा कृष्णपट्टिका पर बनाई जायगी, उसमें तो एक तन्दुल मात्र चौड़ाई तो अवश्य रहेगी। इन बातों को लेकर विवाद करने वाले शिष्यों से अन्ततः मास्टर यही कहेगा कि भाई! मैं ऐसा विन्दु या रेखा बना नहीं सकता जिसमें लम्बाई-चौड़ाई कुछ न हो। या केवल लम्बाई हो, चौड़ाई सर्वथा न हो। किन्तु तुम्हें शिक्षा के लिए इस विन्दु पर ध्यान रखते हुए मन में यह विचार करना चाहिए कि इसमें लम्बाई चौड़ाई कुछ नहीं है। और रेखा में केवल लम्बाई है, चौड़ाई नहीं है। यह केवल मनोभावगम्य विषय है। वैसा आकार बनाया नहीं जा सकता। यदि विवाद करोगे, तो इस विद्या के सीखने से वंचित रह जाओगे। उचित यही है कि मेरी बनाई विन्दु और रेखा को लक्ष्य बना कर उस पर ध्यान यह करो कि यह लम्बाई-चौड़ाई से शून्य है। इसी प्रकार निराकार परब्रह्म के लिए एक मूर्ति हम अपने

सामने रखते हैं। किन्तु ध्यान हमारा उस मूर्ति पर नहीं रहता। यह तो केवल अपने मन को एक जगह स्थिर करने के लिए होती है। उसको लक्ष्य वना कर ध्यान हम यही करते हैं कि—

न भूमिर्नचापो न वह्निर्न वायुः,
न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा।
न चोष्णो न शीतं न देशो न वेशो,
नचास्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥

अर्थात् भूमि,जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों महाभूतों का जिसमें कोई सम्बन्ध नहीं है, न जहाँ उष्णता है, न शीतता है, न जिसका कोई देश है, न भेष है, न मूर्ति है, उसी त्रिमूर्ति शंकर को हम प्रणाम करते हैं। यहाँ एक ही वाक्य में उसकी मूर्ति का निषेध भी करते हैं और फिर उसे त्रिमूर्ति अर्थात् तीन मूर्ति वाला भी कहते जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वे तीनों मूर्तियां (ब्रह्मा, विष्णु, शंकर) अपना ध्यान लगाने के लिए हमें आचार्यों ने बताई हैं, वस्तुतः उसकी कोई मूर्ति नहीं है। जैसे विन्दु या रेखा को प्रत्यक्ष देखते हुए भी रेखागणित का छात्र अपने ध्यान में उस चीज को लेता है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई न हो। वैसे ही मन के आलम्बनार्थ एक मूर्ति सामने रखते हुए भी हम अपना भाव उसी जगह ले जाते हैं जिसकी कोई मूर्ति नहीं है। तात्पर्य यही सिद्ध हुआ कि अमूर्त को भी व्यौहार के लिए मूर्त बनाना पड़ता है। अन्यथा व्यौहार चल ही नहीं सकता। और तो क्या जो कुछ भी नहीं है, उसकी भी मूर्ति शून्य नाम से एक गोल-गोल अण्डा सा लिखकर बनादी जाती है। और उसी से गणित शास्त्र का काम चलाया जाता है। जब कुछ नहीं की भी मूर्ति हो सकती है, तो जो सब कुछ है, सब में व्याप्त है। जिसके बिना कोई स्थान नहीं उसकी मूर्ति बनाने में विवाद का स्थान क्यों? अच्छा, श्रुति में भी निराकार ब्रह्म के सम्बन्ध में देखिए-शिव, विष्णु, इन्द्र आदि को तो हमारे प्रश्नकर्त्ता ईश्वर का ही नाम मानते हैं। उनके ही आकार श्रुतियों में बताए गए हैं—"त्र्यम्बकं यजामहे," यह शिव का प्रसिद्ध मन्त्र है। उसमें शिव को त्र्यम्बक अर्थात् तीन नेत्रवाला कहा गया है। इसी प्रकार "ऋस्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू"—इस मन्त्र में इन्द्र की भी द्विबाहू कल्पना स्पष्ट है। "नमस्ते रुद्र मन्यवे—उतोत इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः"। इस मन्त्र में रुद्र के बाहु और बाण स्पष्ट कहे गये हैं।

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।" इस मन्त्र में विष्णु की पादकल्पना स्पष्ट है। कहां तक कहा जाय, सैकड़ों मन्त्र ऐसे हैं जिनमें देवताओं के अंगों का और आयुधादि का वर्णन है। सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में भी "मुखं किमस्यासीत् कौबाहू का ऊरु पादा उच्येते।" इस प्रकार प्रश्न कर आगे विस्तार से "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ऊरु तदस्य यद्वैश्यः

पद्भ्यां शूद्रो अजायत्"। "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत्"। "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायुरजायत्" इत्यादि रूप से पुरुष के प्रत्येक अंग का और उससे देवताओं की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन है। अब इसमें या तो यह मान लीजिए कि वेद ने इनकी आकार कल्पना की, और या उनके वास्तविक अंग हैं तो ईश्वर साकार सिद्ध हो गया। फिर आकार से उपासना क्यों न हो और यदि कल्पित अंग माने गए हैं तो वेद में भी ईश्वर के अंगों की कल्पना है। तब फिर यदि हम भी अंग-कल्पना कर उस प्रकार से उपासना करते हैं, तो इसमें हमारा अपराध क्या हुआ ? वस्तुतः बात यह है कि परब्रह्म तो निराकार ही है, किन्तु निराकार को हमारा चित्त पकड़ नहीं सकता, और किसी प्रकार निराकार की उपासना का प्रयत्न भी किया जाय तो उसमें जीवधारियों को बहुत अधिक क्लेश होता है। यह भगवद्गीता में ही आगे द्वादशाध्याय में कहा जायगा कि "अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिराप्यते। क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्"। इसलिए उपासकों की उपासनासिद्धि के लिए ब्रह्म की रूप कल्पना आवश्यक होती है। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

इसका अर्थ है कि वस्तुतः ब्रह्म तो अचिन्त्य, अप्रमेय, निर्गुण और शरीर रहित है। किन्तु, उपासकों की सिद्धि के लिए उसकी रूप कल्पना होती है। रूप कल्पना के यहाँ दोनों अर्थ हैं। एक जगह "ब्रह्मणः" इसको कर्तृ पद-मानकर व्याख्या की जाय तो यह तात्पर्य निकलता है कि उपासकों की सिद्धि के लिए ब्रह्म ही अपने कल्पित रूप प्रकट करता है। इससे अवतारवाद आ जाता है। अर्थात् ब्रह्म ने उपासकों की सिद्धि के लिए ही अवतार धारण किए। जैसा कि हम चतुर्थाध्याय में स्पष्ट करेंगे। और "ब्रह्मणः" इसको कर्म अर्थ में षष्ठी मानने पर यह अर्थ हो जाता है कि उपासकों की सिद्धि के लिए ब्रह्म के कल्पित रूप बनाने होते हैं। इससे निराकार शिव-विष्णु, उनकी शक्ति आदि के भी नाना रूप कल्पित हुए हैं। उन कल्पित रूपों में भी ब्रह्म के प्रत्येक कार्य की भी अंगरूप से कल्पना है। जैसा कि विष्णु पुराणादि में स्पष्ट बताया गया है। और अभी जो एक प्रतीक विद्या नाम की पुस्तक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित हुई है, उसमें भी इस रूप कल्पना का रहस्य बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। यहाँ हम उसका अधिक विस्तार नहीं करना चाहते। द्वादशाध्याय में जहाँ इसका प्रसंग आवेगा, वहाँ इस विषय पर और अधिक विस्तार से लिखा जायगा। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि युक्त आसीत् मत्परः" यहाँ "मत्परः" शब्द लेकर भगवान् ने भक्ति मार्ग को भी द्वितीयाध्याय में सूत्र रूप से कह दिया।

———

बयालीसवां-पुष्प

ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवतिसम्मोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥२।६२-६५॥

प्रत्येक मनुष्य स्थितप्रज्ञता क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? वा यों कहो कि स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना इतना कठिन क्यों समझा जाता है ? इसका कारण बताते हुए भगवान् सांसारिक मनुष्यों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हैं—

"विषयों का ध्यान करने से मनुष्य के मन का उन विषयों के साथ संग अर्थात् आसक्ति हो जाती है। संग से आगे काम उत्पन्न हो जाता है, और वह काम ही किसी व्यक्ति के द्वारा प्रतिहत हो जाय तो क्रोध का रूप धारण कर लेता है। क्रोध से आगे संमोह हो जाता है। अर्थात् कार्याकार्य का विवेक ज्ञान नहीं रहता। और संमोह से फिर स्मृति में विभ्रम हो जाता है। स्मृति का विभ्रमात्मक ध्वंस होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है। और बुद्धि नाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है। अर्थात् फिर अपना श्रेय सम्पादन करने की शक्ति ही उसमें नहीं रहती। यह आठ का चक्र घूमता हुआ सांसारिक मनुष्यों को अपने कर्तव्य मार्ग से विच्युत कर देता है। इसी कारण सांसारिक मनुष्य स्थितप्रज्ञता प्राप्त नहीं कर सकते"।

मन का धर्म है कि वह जिस विषय को पकड़ता है उसका कुछ संस्कार अपने भीतर ले लेता है। ऐसे संस्कार शतशः मन में आया करते हैं और साथ ही नष्ट भी होते जाते हैं। किन्तु जब किसी विषय का मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है तो उसका संस्कार चिरस्थायी हो जाता है। फिर उस संस्कार के कारण मनुष्य उसका बार-बार अनुचिन्तन किया करता है। यह अनुचिन्तना ही ध्यान है। जैसे कि किसी मनुष्य ने किसी समय कोई उत्तम गान सुना उस गान का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। तो वह उसे बार-बार स्मरण करता रहेगा। इसी प्रकार अन्य विषय भी समझ लेना चाहिए। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनमें से कोई भी किसी समय मन पर विशेष प्रभाव डाल देता है तो उसका

बार-बार स्मरण होता रहता है। वह मन की वासना स्थिर हो जाने पर मन का उस विषय के साथ बन्धन हो जाता है। उसी बन्धन को आसक्ति कहते हैं। मन और बुद्धि का स्वरूप पहिले बताया जा चुका है कि मन क्षण-क्षण में बदलने वाला है। और बुद्धि स्थिर रहने वाली है। क्षण-क्षण में बदलनेवाला मन में यह बार-बार स्मरण कराने वाला चिरस्थायी संस्कार तब तक नहीं बन सकता जबतक कि बुद्धि का उसके साथ सहयोग न हो। इसलिए कहना होगा कि चिरस्थायी संस्कार रहने में बुद्धि का भी अवश्य सहयोग है। मन के द्वारा समर्थित किसी विषय पर बुद्धि जम जाती है। और उस विषय में मन को बार-बार प्रेरणा करती रहती है, तभी मन उस विषय का ध्यान अर्थात् अनुचिन्तन करता रहता है। बुद्धि भी दो प्रकार की होती है—एक उपेक्षा बुद्धि और अपेक्षा बुद्धि। मन के साथ ही साथ बुद्धि भी यदि बदलती रही तो उसे उपेक्षा बुद्धि कहते हैं। जैसे कि राजमार्ग में जाते हुए हम लोग सैकड़ों पदार्थों को देखते हैं। किन्तु घर आते ही उनमें से किसी का स्मरण नहीं रहता। यहाँ बुद्धि मन के साथ ही थी। वह भी बदलती गई। इसलिए स्थायी संस्कार किसी पदार्थ का नहीं हो पाया। यही उपेक्षा बुद्धि है। किन्तु जब कोई विशेष प्रकार का पदार्थ दृष्टि में आ जाता है, वह अपना चिर परिचित कोई व्यक्ति विशेष रूप से मिल जाता है, तो वह बुद्धि उसे पकड़ लेती है और उसका स्मरण हुआ करता है। इसे अपेक्षा बुद्धि कहते हैं। यहाँ मन बुद्धि का अनुगामी बन जाता है। और बुद्धि की प्रेरणा से उसका बार-बार स्मरण किया करता है। याद रहे कि स्मरण काम मन का है और संस्कार का आधान बुद्धि में होता है। किन्तु बुद्धि में जब कोई विषय जम गया तो उस विषय में मन को स्मरण करने की वह बार-बार प्रेरणा करती रहती है। यही मन का बन्धन वा आसक्ति हुई। यह भी पूर्व कहा जा चुका है कि बुद्धि के सात्विकरूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, विद्या बुद्धि कहलाते हैं। और तामस रूप अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, अविद्या बुद्धि कहे जाते हैं। मन के साथ होकर जब बुद्धि विषयों के अनुध्याय में मन को प्रेरित करेगी तो वह तामस रूप वाली अविद्या बुद्धि ही बन जायगी। वही मन की आसक्ति कराती है। इस प्रकार आसक्ति होने पर उस वस्तु को अपने अधीन करने की अर्थात् ले लेने की इच्छा होती है इसे ही काम कहते हैं। काम अर्थात् अभिलाषा तब मनुष्य उस विषय के लेने के प्रयत्न में लग जाता है। प्रयत्न कई जगह सफल होता है और कई जगह निष्फल भी हो जाता है। अर्थात् जिस वस्तु को हम लेना चाहते हैं वह मिली या न मिली; मिल गई, तब तो ठीक ही है। यदि न मिली तो उसके न मिलने में यदि किसी दूसरे व्यक्ति का हाथ है, तो वह काम क्रोध के रूप में परिणत हो जायगा। अर्थात् उस विघ्न करने वाले व्यक्ति पर क्रोध हो जायगा। इस प्रकार काम ही क्रोध के रूप में प्रायः परिणत हुआ करता है। यद्यपि काम और क्रोध ये दोनों मन की परस्पर विरुद्ध वृत्तियाँ हैं। काम वस्तु की ओर

आकृष्ट करता है। और क्रोध जिस पर हो, उससे हमें अत्यन्त दूर कर देता है। काम में एक प्रकार का क्षेप है। जिस वस्तु की कामना हो, उसके साथ मन का क्षेप हो जाता है। किन्तु क्रोध प्रदीप्त रूप चित्तवृत्ति है। इस प्रकार दोनों वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध रहने पर भी इनमें कार्य-कारण भाव अवश्य अनुभव सिद्ध है। काम ही प्रतिहत होने पर उलट जाता है और वह क्रोध के रूप में चला जाया करता है। इसका अनुभव सांसारिक मनुष्यों को समय-समय पर हुआ ही करता है। इसका अनुभव सांसारिक मनुष्यों को समय-समय पर हुआ ही करता है। अस्तु, वृत्तियों के इस प्रकार आघात प्रतिघात से बुद्धि में जो कार्याकार्य निर्णय करने की शक्ति है, उस पर प्रभाव पड़ता है। और क्रोध उत्कट हो जाने पर वह शक्ति अपना काम नहीं करती। उसे ही संमोह कहा जाता है। इसका वर्णन बहुत से कवियों ने अनेक प्रकार से किया है। भगवान् वाल्मीकि तो यहाँ तक लिखते हैं कि—

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात् क्रोधयुक्त पुरुष को वाच्यावाच्य का ज्ञान ही नहीं रहता। वह अपने गुरुओं से भी न कहने योग्य शब्द कहने लगता है। क्रोधी पुरुष के लिए अकार्य कुछ नहीं है। अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है और न उसके लिए कुछ अवाच्य है। वह न बोलने योग्य शब्द भी बोला करता है। एक कवि ने बहुत अच्छा समझाया है—

अपकारिणि चेत्क्रोधः क्रोधः क्रोधे कथं न ते।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

अर्थात् यदि कोई मनुष्य कहे कि जो हमारा अपकार करता है, उस पर तो क्रोध आवेगा ही, तो उससे कहा जाता है कि अपकार करने वाले पर यदि क्रोध करते हो तो क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते? यह तो बहुत बड़ा अपकारक है। धर्मार्थ काम मोक्ष चारों का नाशक है। अस्तु, क्रोध से इस प्रकार का संमोह होने पर वह स्मृति का नाश कर देता है। सब संसार के व्यवहार स्मृति के आधार पर ही चलते हैं। क्या काम करते हुए हमने उसे अधूरा छोड़ दिया है, इसकी स्मृति होने पर ही मनुष्य अपने कामों को पूरा करने में लगा रहता है। पूर्वोपकरण की स्मृति होने पर ही किसी से प्रेम होता है और अपकार की स्मृति होने पर द्वेष। स्मृति होने पर ही हम भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाया करते हैं। यों सब ही व्यवहार स्मृति के आधार पर ही चलते हैं। जब क्रोध वा उससे उत्पन्न हुआ सम्मोह उत्कट हो जायगा, अर्थात् बहुत बढ़ जायगा तो मन की स्मृति शक्ति भी जाती रहेगी। जैसा कि हम कह चुके हैं कि स्मृति के आधार पर ही मनुष्य अपने कर्तव्याकर्तव्य

का निश्चय बुद्धि से किया करता है। जब स्मृति ही न रही तो बुद्धि एक प्रकार से अपना काम छोड़ देगी। यही बुद्धि का नाश हुआ। और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य नष्ट हो जायगा। अर्थात् अपने कल्याण का साधन कभी न कर सकेगा।

समय-समय पर इस भगवान् के बताए हुए विनाश चक्र का आवेश कुछ काल के लिए सांसारिक मनुष्यों पर अवश्य होता है। आगे वह वृत्तियों का क्रम शान्त हो जाता है तो फिर मनुष्य अपनी खोई हुई बुद्धि आदि को प्राप्त कर लेते हैं। यदि कुछ तामसी पुरुष अत्यन्त क्रोधी हो जाते हैं तो उन पर यह चक्र पूरी तरह चरितार्थ होता है। अर्थात् उनका कर्तव्य ज्ञान सर्वथा नष्ट हो जाता है, और वे सदा के लिए कर्तव्य ज्ञान से वंचित हो जाते हैं। इसलिए पहिले ही सचेत होकर ऐसे मार्ग पर चलना कि यह चक्र इस प्रकार उठने ही न पावे। पूर्वोक्त क्रम में यह बात सिद्ध हो चुकी कि यह चक्र चलाने में विषयों का ध्यान और तज्जनित आसक्ति ही मुख्य कारण है। इसलिए उस विषयानुध्यान को ही छोड़ना चाहिए। उससे ही जो आसक्ति बनती है वह रागरूप में परिणत हो जाया करती है। काम-क्रोध कहो या रागद्वेष कहो, बात एक ही है। काम ही जब स्थिर रूप धारण कर लेता है तो उसे राग कहा जाता है। और क्रोध यदि स्थिर रूप धारण कर ले तो वही द्वेष हो जाता है। स्थिरता और अस्थिरता के भेद के कारण ही काम-क्रोध को मन की वृत्ति कहते हैं, और रागद्वेष को बुद्धि का तमोगुणी रूप मानते हैं जो कि पंच क्लेशों में गिने गए हैं।

यह राग द्वेष ही मनुष्य के बन्धक हैं। मनुष्य को बन्धन में डालने वाले हैं। इन्हें यदि छोड़ दिया जाय तो कर्म स्वतः बन्धक नहीं रहता। यही बात आगे के पद्यों से कही जाती है। ६२–६३।

"रागद्वेष के कारण जब इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, तब उन इन्द्रियों के किए हुए कर्म बन्धन में डालते हैं। मन और बुद्धि में रागद्वेष न रहे तो राग-द्वेष रहित मन बुद्धि की प्रेरणा से इन्द्रियों के द्वारा जो कर्म होंगे वे बन्धक न होंगे। यद्यपि इन्द्रियाँ जब कभी प्रवृत्त होंगी तो अपने विषयों में ही प्रवृत्त होंगी। जैसा कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान ही प्राप्त करेंगे और कर्मेन्द्रियों के द्वारा बोलना, उठना, चलना आदि कार्य ही होंगे। इनके अतिरिक्त और इन्द्रियों में शक्ति ही क्या है? किन्तु उनके प्रेरक मन और बुद्धि में जब राग-द्वेष नहीं है, तो इन्द्रियाँ आत्मवश्य रहेंगी। अर्थात् अपनी इच्छानुसार जहाँ हम उन्हें लगावें वहीं वे बिना ननुनच के प्रवृत्त होती रहेंगी। उस समय हमारा आत्मा अर्थात् मन भी हमारा विधेय होगा। अर्थात् जहाँ उसे ले जाना चाहें, वहाँ जायगा। अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थिति में मन और इन्द्रियाँ जाएंगी कहाँ? क्योंकि इन्द्रियों की गति तो

अपने विषयों की ओर अभिलाषा से ही होती है। यदि अभिलाषा न रही तो फिर इन्द्रियाँ प्रवृत्त ही क्यों होंगी ? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायानुसार दो प्रकार से दिया जाता है। कर्मयोगमार्गीय इसका यह उत्तर देते हैं कि बिना रागद्वेष के भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति लोक संग्रहार्थ होती है। लोकसंग्रह शब्द का अर्थ आगे किया जायगा, यह पूर्व भी कहा जा चुका है। तात्पर्य यही है कि उन्हीं विषयों का सेवन भले ही इन्द्रियों द्वारा होता रहे, किन्तु उसमें रागद्वेष यदि नहीं है तो वह बन्धक नहीं होता, न आगे वैसे विषयों का क्रम उत्पन्न करता है। दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय के व्याख्याकार इसका यही उत्तर देते हैं कि रागद्वेषवियुक्त, अपने वश में जब इन्द्रियाँ होंगी, तो उनकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर ही होगी। जैसा कि हम "मत्परः"की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं कि उन्हीं विषयों का सेवन यदि भगवान् में मन लगाकर किया जाय तो वह बन्धन कारक नहीं होता। इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा कार्य करने से प्रसाद प्राप्त होता है। प्रसाद एक प्रकार की मन की स्थिति का नाम है जो कि क्षोभ न रहने पर उत्पन्न होती है। मन जब तक चंचल रहे तब तक वह प्रसाद नहीं मिलता। और रागद्वेष ही मन को चंचल करने वाले हैं। जब चंचल करने वाले रागद्वेष को हटा दिया गया तो वह प्रसाद प्राप्त हो जायगा। श्री विद्यावाचस्पति जी की व्याख्या यहाँ इस प्रकार है—आनन्द दो प्रकार का होता है १—शान्त्यानन्द, २—समृद्ध्यानन्द। आत्मा में कर्म का प्रवेश होने पर जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे समृद्ध्यानन्द कहते हैं। जैसे, किसी पुरुष को कोई नई सम्पत्ति कोई मकानादि वा प्रचुर द्रव्य मिला तो उसके व्यावहारिक आत्मा में एक अधिक कर्म का अनुप्रवेश हुआ। स्मरण रहे कि व्यावहारिक आत्मा ज्ञान-कर्म दोनों से बना हुआ है। उसमें ज्ञानांश तो स्थिर है, इसमें न्यूनाधिक्य नहीं होता। किन्तु कर्मांश घटने-बढ़ने वाला है। जब नए कर्म का प्रवेश होता है तो उसे स्वायत्त करने को ज्ञान कर्मात्मक आत्मा की व्याप्ति बढ़ती है, अर्थात् वह प्रफुल्लित व विकसित होता है। उसी आत्मा के विकास को समृद्ध्यानन्द कहते हैं। वह आत्मा का विकास सुख रूप से इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होता है, अर्थात् उसका हमें सुख रूप से अनुभव हुआ करता है। किन्तु जिस अवसर में हमने किसी सम्पत्ति वा पद की प्राप्ति का सम्वाद सुना, उसी अवसर में वह आत्मा की व्याप्ति बढ़ेगी। कुछ देर के बाद वा दो चार दिन के बाद वह आनन्द का अनुभव नहीं रहता जो कि पहले सुनते ही हुआ था। जब वह मिली हुई वस्तु हमारे पास ही है, तो वह आनन्द आगे भी क्यों न रहा ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि अब वह आनन्द शान्त्यानन्द के रूप में चला गया। शान्त्यानन्द आत्मा का स्वरूप है। जो नई वस्तु मिली थी, वह अब हमारी अपनी हो गई। अर्थात् आत्मा के स्वरूप में आ गई। वित्तपर्यन्त व्यावहारिक आत्मा स्वस्वरूप है। इसलिए वित्त रूप से वह आत्मा के स्वरूप में सम्मिलित हो गई। इसलिए जो आनन्द का अनुभव सुनने के क्षण में हुआ था, वह अब

नहीं रहा। इसलिए यह समृद्ध्यानन्द क्षणिक होता है। समृद्ध्यानन्द को ही सुख कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा आनन्द जो शान्त्यानन्द नाम से पूर्व बताया गया है, वह आत्मा का स्वरूप है। उसका अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता। किन्तु वह आत्मा के स्वरूप से स्थित रहता है। इसका विशेष वर्णन भगवद्गीता के छठे अध्याय में आवेगा। वहीं भगवान् ने इस आनन्द को अतीन्द्रिय और केवल बुद्धि ग्राह्य बताया है। इसी आनन्द की दृष्टि से वेदान्त दर्शन में आत्मा को आनन्दमय कहा जाता है। क्षोभ इसका विघातक है। जब मन में किसी प्रकार की तरंगे उठें तब यह आनन्द छिप जाता है। अर्थात् वे तरंगें इसे छिपा लेती हैं जब तरंगे शान्त हों अथवा यों कहो कि दुःख का अभाव हो, तब इस आनन्द का अनुभव होता है। जैसे कि एक मनुष्य किसी कार्य में व्यग्र होकर वा कोई बोझा सिर पर लादे हुए धूप में दौड़ रहा था। एक वृक्ष की छाया में उसने थोड़ा विश्राम किया, वा अपने शिर का बोझ उतारा। उस समय वह इस आनन्द का अनुभव करता है कि मुझे बहुत सुख मिला। वह सुख कोई नया नहीं मिला, क्षण मात्र मन का क्षोभ दूर हो जाने से शान्त्यानन्द की ही एक झलक पड़ी। आगे फिर वही व्यग्रता, वही क्षोभ और वही दुःख आ जाते है। हम पूर्व बता चुके हैं कि भर्तृहरि आदि महात्माओं ने तो संसार के सब सुखों को इसी प्रकार दुःख का प्रतीकार हो जाने पर एक शान्त्यानन्द की झलक ही बताया है। अस्तु, वही शान्त्यानन्द यहाँ प्रसाद शब्द से कहा गया है। "प्रसादस्तु प्रसन्नता" यह आत्मा की नित्य प्रसन्नता ही प्रसाद का रूप है। जो कि राग द्वेष विमुक्त होकर केवल इन्द्रियों से कर्म करने वाले को प्राप्त होती है। "विधेयात्मा" शब्द का अर्थ भी वे इसी प्रकार का करते हैं कि सांसारिक मनुष्य जो निरन्तर कर्म में लीन हैं और वासनाओं से घिरे हुए हैं वे अकृतात्मा कहाते हैं। जो योग सिद्ध कर चुके, वे कृतात्मा हो जाते हैं। किन्तु जो अभी योग मार्ग में आरोहण कर रहा है, पूर्ण योग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु उसके यत्न में है, वह विधेयात्मा कहलाता है। इस स्थिति का वर्णन उपनिषदों में भी बहुधा आया है। उसी प्रसाद प्राप्ति का उपाय यहाँ भगवान् ने बताया। रागद्वेष रहित होकर, इन्द्रियों को अपने वश में रखकर चलाते रहने से यह प्रसाद की स्थिति प्राप्त होती है। आगे के पद्य में उसी प्रसाद का स्वरूप निर्देश करते हैं—प्रसाद प्राप्त होते ही सब दुःखों की हानि हो जाती है। ठीक ही है, चित्त के क्षोभ ही तो दुःख हैं। जब वे हटा दिए गए तो दुःख क्यों होगा? और प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। इससे प्रकरण के साथ संगति मिला दी गई। अर्थात् स्थितप्रज्ञता का प्रकरण चल रहा था। मध्य के दो पद्यों से स्थितप्रज्ञताके विघ्न बताए, और इन दो पद्यों में पुनः स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने का उपाय बता दिया गया।

यहाँ "प्रसन्नचेतसः" यह पद्य देकर यह भी ध्वनित किया है कि यह

प्रसाद, मन, बुद्धि, अहंकार से परे जो चित्त नाम का चौथा अन्तःकरण वेदान्तादि में माना जाता है, उससे गृहीत होता है। चित्त के विषय में पूर्व हमने कहा था कि चित्त का क्या कार्य है ? इस विषय में शास्त्रों में कई प्रकार के वाद हैं। यह सूचित किया कि चित्त की स्थिति मन-अहंकार, बुद्धि इन तीनों से ऊँची है। वह आत्मा के प्रसाद का अर्थात् क्षोभ के बिना जो शान्ति होती है, उसका ग्रहण करता है। आगम शास्त्र में भी चित्त को चित् अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा का अतिसन्निहित बताया गया है। वह आत्मा के स्वरूप को पहचानता है। वही इस प्रसाद को भी समझता है।

———

तैंतालीसवां-पुष्प

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।
तस्माद्यस्य महाबाहोनिगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणोन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।
या निशासर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

गी० २।६६-६९ ।।

"पूर्वोक्त कर्मयोग के साधन के बिना पर्यवस्थित बुद्धि प्राप्त नहीं होती। और बिना योग साधन के भावना भी नहीं हो सकती। बिना भावना के शान्ति नहीं मिलती। और शान्ति के बिना सुख-प्राप्ति कहाँ? अर्थात् सुख प्राप्ति असम्भव ही है"।

"अपने विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के साथ जब मन का सहयोग हो जाता है, अर्थात् मन इन्द्रियों के साथ लग जाता है, तब वह मनुष्य की बुद्धि को भी अति चंचल बना देता है। जैसे कि वायु नौका को जल के प्रवाह में बहाती रहती है। इसी प्रकार चंचल मन बुद्धि को विक्षुब्ध कर देता है"।

"इसलिए हे महाबाहु अर्जुन। जिसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों से सब प्रकार रोकी हुई हैं, उसी की बुद्धि सुस्थिर हो सकती है। अर्थात् वही स्थितप्रज्ञ बन सकता है"।

"जो सब प्राणियों के लिए रात्रि अर्थात् अन्धकार का समय है, उसमें संयमी अर्थात् योगयुक्त पुरुष जागता रहता है। और जहाँ सब प्राणी जागते हैं, वह संयमी अर्थात् ज्ञानयुक्त मुनि पुरुष के लिए अन्धकारमय रात्रि है"।

पूर्वोक्त पद्यों का ही वैपरीत्य में निषेध रूप से विवरण इस पद्य में किया गया है। बिना कर्मयोग साधन के व्यवसायात्मक बुद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है। साथ ही कहते हैं कि बिना योग के भावना भी नहीं होती। भावना शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते हैं। न्यायशास्त्र में भावना नामका एक संस्कार आत्मा के गुणों में गिनाया गया है। जिसका काम है - स्मृति उत्पन्न करना।

प्रकृत श्लोक में भी व्याख्याकारों ने भावना शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं। श्री शंकराचार्य आत्मा के अभिनिवेश को भावना कहते हैं। कई व्याख्याकारों ने निदिध्यासन जो कि श्रवण मननके अनन्तर एकाग्रचित्तता के लिए किया जाता है, उसे भावना लिखा है। कोई ब्रह्मात्मैक्यचिन्तन को ही भावना कहते हैं। कोई तत्त्वपरिशीलनात्मक मनोवृत्ति को भावना बताते हैं। सबका तात्पर्य एक रूप में यह निकलता है कि स्थिर बुद्धि से जो बार-बार एक तत्त्व का अनुसन्धान किया जाय, वा यों कहो कि एक रूप में ध्यान लगाया जाय, वही भावना है। वह भावना भी योग से ही प्राप्त होती है। क्योंकि मन में जब तक चांचल्य रहेगा तब तक भावना भी नहीं बन सकती। और बिना भावना के शान्ति नहीं होती, जैसा कि हमने पूर्व पद्य की व्याख्या में लिखा था कि यहाँ भगवान् ने शान्ति रूप आनन्द को ही मुख्य माना है। वह शान्ति भावना से ही प्राप्त होती है। बिना मुख्य तत्त्व का बार-बार अनुसन्धान किए शान्ति कैसे मिलेगी? और बिना शान्ति के वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। समृद्ध्यानन्द जो पहले पद्यों की व्याख्या में कहा है, वह तो क्षणस्थायी है। उसे वास्तविक आनन्द नहीं कहा जा सकता। वास्तविक आनन्द तो क्षोभ का अभाव रूप ही है। जो कि शान्ति से ही प्राप्त होगा। इसलिए कर्मयोगसाधन वास्तविक सुख प्राप्ति की इच्छावाले के लिए आवश्यक है, यह प्रथम पद्य का सारांश हुआ।

अभी तक जो कहा गया उससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि मन बुद्धि को वश में करना आवश्यक है। मन बुद्धि जब वश में हो जाए तब इन्द्रियाँ चाहे विषयों में विचरती रहें, तो भी उनसे कोई दोष नहीं उत्पन्न होता। किन्तु वास्तव में ऐसा अभिप्राय कोई न समझ ले, इसलिए इन्द्रिय निग्रह की भी आवश्यकता बताने को भगवान् ने दूसरे पद्य के द्वारा आदेश दिया है। उसका सारांश यह है कि यदि इन्द्रियों को स्वच्छन्द रूप से विषयों में विचरण करने दिया जायगा तो वे मन को भी अपने साथ खैंच लेंगी क्योंकि बिना मन की सहायता के इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए मन को साथ लगाना उनके लिए आवश्यक होगा। और यों इन्द्रिय और मन जब विषयों की ओर खिंच गए तो बुद्धि को भी वे अपने साथ लगा लेंगे। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का पहिले सामान्य ज्ञान होता है, और मन उसे ठीक जमा कर बुद्धि के आगे रखता है, यह विवरण पूर्व कर चुके हैं। जब बार-बार इन्द्रिय प्रेरित मन के द्वारा विषयों की भावना बुद्धि के सामने रक्खी जायगी तब बुद्धि भी उस ओर अवश्य झुकेगी। इसमें दृष्टान्त बताया कि जैसे वायु नौका को जल में एक तरफ खैंच लेता है। इसी प्रकार मन भी बुद्धि को अपनी ओर खैंच लेगा। इसलिए यदि इन्द्रियों की उपेक्षा की गई तो चलती हुई भी स्थित-प्रज्ञता वा व्यावसायात्मक बुद्धि हाथ से निकल जायगी। इसलिए तृतीय श्लोक में इस पर फिर जोर दिया गया है कि इन्द्रियों को जिसने पहिले ही वश में कर लिया है वही स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर सकता है। इसलिए अब इधर से उलटा

समझो कि पहिले इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। इन्द्रियों को ऐसी आदत डालनी चाहिए कि वे यथेच्छ विषयों में न जाया करें। अपितु साधक पुरुष की इच्छानुसार ही भिन्न-भिन्न विषयों का सेवन करें। इन्द्रियों के उच्छृङ्खल होने के दोष एक कवि ने बहुत अच्छे प्रकार समझाए हैं कि—

कुरंग मातंग पतंग मीनभृङ्गा हताः पंचभिरेव पंच।
एष प्रमादी नु कथं न हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पञ्च।

अर्थात् संसार के प्राणियों में बड़े-बड़े महत्त्वशाली प्राणी भी केवल एक इन्द्रिय के बिगड़ जाने से मारे जाते हैं। जैसे कि हरिण एक इस प्रकार का प्राणी है कि जिसकी गमन शक्ति को कोई नहीं पा सकता। वह जब चौकड़ी भरता हुआ भागेगा तो उसे पकड़ने की शक्ति किसी को न होगी। किन्तु एक इन्द्रिय क्षोभ उसको विवश कर देती है। जहाँ मीठी राग हो रही हो, उसे सुनने को वह चौकड़ी भूल कर खड़ा हो जाया करता है। बस, जब किसी को हरिण पकड़ना हो तो उसका यही साधन है कि सुन्दर गान का आयोजन किया जाय। वहाँ जब हरिण उसकी मीठी तान से इकट्ठे हो जाएँगे तो उनमें से यथेच्छ किसी को वा सबको पकड़ लेना बहुत सहज हो जायगा। इसी प्रकार दूसरा वन जन्तु जो हाथी है, जिसे मातंग भी कहते हैं, उसे शरीर सम्पत्ति भगवान् ने इतनी बड़ी दी है कि वह किसी के वश में नहीं आ सकता। एक पैर रख दे तो उससे कई आदमी कुचल जावें। किन्तु उसकी भी एक इन्द्रिय अर्थात् स्पर्श नाम की इन्द्रिय बिगड़ी हुई है। कोमल स्पर्श पाते ही वह विवश हो जाता है। हाथी पकड़ने वाले यही उपाय करते हैं कि एक काष्ठ की हथिनी बना कर उसे साबुन से खूब अनुलिप्त कर जहाँ वन हाथियों का बाहुल्य होवे, वहाँ खड़ी कर देते हैं। और उसके पास एक बहुत बड़ा गड्ढा खोद देते हैं। हाथी जब आकर उससे अपनी सूँड़ मिलाता है तो साबुन के कोमल गिलगिले स्पर्श से वह विवश होकर वहीं रुक जाता है और बार-बार उससे सूँड़ मिलाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। बस, झटपट वह गड्ढे में गिर जाता है। वहाँ उसे तीन-चार दिन बिना भोजन के रखकर दुर्बल बना कर पकड़ने वाले धीरे-धीरे अपने हाथ में कर लेते हैं। फिर नगर या ग्राम में लाकर लोहे की जंजीरों से बाँधकर उसे विवश कर देते हैं। इस प्रकार एक स्पर्शेन्द्रिय के बिगड़ने से इतना बड़ा जन्तु हाथी भी मनुष्य के वश में हो जाता है। तीसरा प्राणी पतंग है। वह इधर-उधर उड़ता फिरता है। तब उसे कोई नहीं सता पाता। किन्तु चक्षुरिन्द्रिय उसको विवश किए हुए हैं। इसके कारण वह दीपक की प्रभा को सर्वस्व मानता हुआ, उस पर स्वयं पड़कर अपने प्राण खो देता है। चौथा प्राणी मीन है। वह भी अपने जलदुर्ग में जब तक रहे, तबतक उसे पकड़ने की किसी की शक्ति नहीं। किन्तु एक रसनेन्द्रिय उसे भी पकड़वा देती है। सुन्दर रस चखने का उसे बहुत बड़ा अभ्यास है। इसलिए मछली पकड़ने वाले काँटे में गुड़ आदि मधुर पदार्थ लगाकर जब जल में डालते हैं तो उस रस के लोभ

से वह आकर काँटों को चाटने लगता है। और काँटों से विधकर अपने आप को खो बैठता है। पांचवाँ मृग भी स्वच्छन्दचारी है। इतनी चंचलता से उड़ता है कि किसी के काबू में नहीं पड़ सकता। यदि कभी वश में पड़ भी गया और एक काष्ठ के डट्टे में किसी ने उसे बन्द कर लिया तो धीरे-धीरे वह काष्ठ को कुतर कर उसमें से उड़ जाता है। किन्तु घ्राणेन्द्रिय उसकी बिगड़ी हुई है। सुन्दर गन्ध मिलने पर वह विवश हो जाता है। सूर्यास्त के समय कभी कमल पर जा बैठा और गन्ध का आस्वाद लेता रहा। इतने में सूर्यास्त हो गया। कमल मुद्रित हो गया तो भँवरे राम उसमें कैद हो गये। किसी भाषा कवि ने कहा है—

प्रीतिरीतिविधिना भ्रमर अद्भुतरची बनाय।
काष्ठ भेद समरत्थ है कमल भेद नहिं जाय॥

जो अपने दाँतों से काष्ठ को काट डालता था, वही कमल की कोमल पंखुड़ियों को नहीं काट सकता। यह प्रेम की महिमा है। बस, इस प्रकार कमल में कैद होकर वह मन में सोचता रहता है कि जब रात्रि व्यतीत होगी, फिर सूर्योदय होगा, कमल खिलेगा, तब मैं भी इससे बाहर हो जाऊँगा। इतने ही में क्या हो पड़ता है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यतिसुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा! हन्त हन्त नलिनीं गजमुज्जहार॥

भ्रमर ऊपर लिखे हुए सब विचार मन में कर ही रहा था कि इतने में एक हाथी आया। उसने अपनी सूँड़ के झपट्टे से उस कमल को उखाड़ लिया। अब भ्रमरराम उसी में पड़े-पड़े अपने प्राण दे दें, इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। कवि कहता है कि पाँचों इन्द्रियों में एक-एक के वश में पाकर ये पाँचों जन्तु इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य की तो क्या दशा होगी जिसकी पाँचों ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर जाने को लालायित रहती हैं। अस्तु, यही बात यहाँ भगवान् ने कही है कि इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ देने से वे मन और बुद्धि को भी विगाड़ देंगी। तो स्थिरप्रज्ञता रूप कल्याण का साधन है, वह प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसलिए पहिले इन्द्रियों को वश में करना चहिए। तब मन अपने आप दुर्बल हो जायगा। केवल विषयों का ध्यान करता रहेगा। किन्तु बिना इन्द्रियों की सहायता के वह विषयों को पकड़ नहीं सकवा। धरे-धीरे अभ्यास से उसका ध्यान भी विषयों से हट जायगा। और तब बुद्धि भी स्थिर होकर स्थितप्रज्ञता बन जायगी।

अब चौथे पद्य में संयमी पुरुष की स्थिति बताते हैं कि जिसने संयम सिद्ध कर लिया है, योगसिद्ध हो चुका है। उसकी स्थिति संसार से विलक्षण हो जाती है। सब लोगों के लिए जो अन्धकारमय रात्रि है, वह उसके लिए दिन है, अर्थात् सांसारिक पुरुष योगमार्ग में नहीं जा सकते। उनके लिए वह मार्ग अंधेरे का है। उसमें वे नहीं विचरण कर सकते। किन्तु संयमी पुरुष उस मार्ग में अप्रतिहत चलता है। उसमें वह जागता रहता है। वह उसके लिए दिन है। और सांसारिक पुरुष जहाँ जाते हैं, अर्थात विषय सेवन मार्ग में वा व्यावहारिक मार्ग में वे बड़े कुशल होते हैं। हर एक काम को बड़ी सावधानी से करते हैं। कभी ठोकर नहीं खाते। वह व्यवहार मार्ग संयमी के लिए अन्धकारमय रात्रि है। अर्थात् वह इसमें सर्वथा अप्रवीण हो जाता है। चल नहीं सकता। इस प्रकार व्यवहार मार्ग से अलग होकर संयमी बनने की आवश्यकता है, यह भगवान् ने इस श्लोक से सूचित किया। यहाँ श्रीशंकराचार्य वा उनके अनुयायी टीकाकार इस पद्य को सन्यास मार्ग में ही लगाते हैं। जहाँ सब भूत जागते हैं, वहाँ संयमी पुरुष सोता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि संयमी पुरुष सर्व व्यवहार से विरत हो जाता है। उसे उस मार्ग में कुछ नहीं सूझता। इससे संन्यास मार्ग की ही स्थिति यहाँ स्पष्ट बताई गई। किन्तु कर्मयोग के अनुसारी इसे कर्मयोग में भी लगाते हैं कि यद्यपि कर्मयोगी पुरुष लोकसंग्रहार्थ वा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करता है किन्तु उसका उस कर्म पर अभिनिवेश नहीं रहता। जिस प्रवीणता के साथ सांसारिक मनुष्य सांसारिक व्यवहारों में जुटे रहते हैं। इस प्रकार का अभिनिवेश संयमी पुरुष का नहीं होता। क्योंकि स्थितप्रज्ञता दोनों ही मार्गों में पहिले प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है और जब स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो गई तब उसके व्यवहार केवल बाह्य वृत्ति से होंगे। अभिनिवेश पूर्वक नहीं होंगे। इसलिए संयमी पुरुष के लिए व्यवहार मार्ग रात्रि जैसा ही रहेगा। वह कर्म करता हुआ भी अपने अन्तःकरण में उससे बेलाग ही रहेगा। इसलिए दोनों ही मार्गों में यह यहाँ लगता है। और "योगे त्विमांशृणु" यहाँ से लेकर अभी कर्मयोग का ही प्रसंग है। इसलिए कर्मयोग पर ही इसे लगाना उचित है।

———

चौवालीसवां-पुष्प

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
विहाय कामान् यःसर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ गी० २।७०-७२ ॥

"जिस प्रकार चारों ओर जल से भरा जाता हुआ भी समुद्र अचल प्रतिष्ठित रहता है। अर्थात् जल के आने से न कुछ उसमें वृद्धि होती है, न ज्यादा जल निकल जाने से ह्रास होता है। वह एक ही रूप का दिखाई दिया करता है। उस समुद्र में जैसे सब प्रकार के जल एकत्रित होते हुए भी उसे विकृत नहीं बनाते, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की सब कामनाएं जिस पुरुष में प्रविष्ट होकर भी जिसे विकृत नहीं करतीं, वही शान्ति को प्राप्त करता है। कामनाओं के पीछे बहने वाला कामकामी पुरुष कभी शान्ति नहीं पा सकता।" ॥७०॥

"जो पुरुष सब कामनाएं छोड़कर अहंता और ममता दोनों का परित्याग कर निस्पृह अर्थात् बिना इच्छा वाला बनकर विचरता रहता है, वही शान्ति को प्राप्त करता है।" ॥७१॥

"हे पार्थ ! यह जो मैंने बताई वह ब्राह्मी स्थिति है। अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन यही स्थिति है। इस स्थिति को जो प्राप्त कर लेता है, उस पुरुष को फिर इस प्रकार का मोह नहीं होता, जैसा कि तुम्हें इस समय हो रहा है। और अन्तकाल में भी यदि यह स्थिति रह जाय तो वह अवश्य ब्रह्म में लीनता प्राप्त करेगा।" ॥७२॥

समुद्र में गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि नदियाँ सब प्रवेश करती हैं और समुद्र में प्रवेश करते ही उनका नाम रूप सब हट जाता है। फिर एक ही जल के रूप में वे दिखाई देने लगती हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाएं जिस पुरुष में जाकर लीन हो जाएं, अर्थात् उन कामनाओं का प्रभाव उसपर कुछ न पड़े। यदि धन लिप्सा है, तो वह भी जहाँ जाकर लीन हो गई, ऐसे ही पुत्रैषणा और लोकैषणा भी जिस पुरुष के अन्तःकरण में जाकर लीन हो जाती है, वही शान्ति को प्राप्त कर सकता है। समुद्र में प्रविष्ट

होने से पहले जैसे भिन्न-भिन्न नदियों का जल भिन्न भिन्न रूप में रहता है, इसी प्रकार कामनाएं भी मनुष्य से भिन्न हैं। वे मनुष्य के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं। इसलिए उन सब कामनाओं को मनुष्य के स्वरूप से पृथक् ही जानना चाहिए। इसीलिए उनकी पूर्ति होना भी कोई आवश्यक बात नहीं। और सब कामनाओं की पूर्ति किसी की हो भी नहीं सकती। जैसा कि पूर्व प्रवचनों में कहा जा चुका है। केवल एक वित्तैषणा भी जब तक अन्तिम शिव पद न प्राप्त करले तब तक पूर्ण नहीं हो सकती। इसी प्रकार पुत्रैषणा लोकैषणा भी अनन्य हैं। इनकी पूर्ति कर इन्हें शान्त करना असम्भव है। इसलिए कामनाओं से छुटकारा प्राप्त करने का यही उपाय भगवान् ने बताया कि जिस पुरुष में कामनाएं जाकर कोई क्षोभ ही पैदा न करें अर्थात् उन कामनाओं के पीछे अन्तःकरण विचलित न हो। इससे यह सूचित किया कि कामनाएं तो पैदा होंगी, किन्तु उन कामनाओं के पीछे अन्तःकरण को लगा देने का निरोध अभ्यास द्वारा होना चाहिए। जैसे कि समुद्र में जल तो आते रहेंगे, किन्तु उन जलों से उस समुद्र की अचल प्रतिष्ठा कभी भग्न नहीं होती। वह सदा एक रूप ही दिखाई दिया करता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाएं आने पर भी जिसका अन्तःकरण विकृत न हो किन्तु उन कामनाओं को ही निरा निकम्मा बना कर अपने अन्तःकरण में तो स्थान दे ले, उनके पीछे अपने अन्तःकरण न चलावे, वही सच्ची शान्ति प्राप्त किया करता है। कामनाओं के पीछे चलने वाले को वह शान्ति स्वप्न में भी नहीं मिलती। शान्ति शब्द का अर्थ कई व्याख्याकारों ने मोक्ष ही किया है। कई लोग कहते हैं कि जीवन मुक्ति ही शान्ति है। यही दूसरा मत प्रायः ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि इस पद्य में तो ऐसी स्थिति बताई गई कि कामना उत्पन्न होकर मन में जाकर लीन हो जाया करे। किन्तु इसकी आगे की स्थिति वह होगी कि जहाँ कामना उत्पन्न ही न हो। वहीं जाकर मनुष्य मुक्ति का पूर्ण अधिकारी बनेगा। इसलिए इस स्थिति में जीवनमुक्ति के समीप पहुँच जाता है। मुक्ति में जो आनन्द है वह शात्यानन्द ही है, यह पहले कह चुके हैं। उसका अनुभव नहीं होता, इसलिए न्यायादि दर्शनों में मुक्ति को आनन्द रूप नहीं माना जाता। उसे सुख दुःख दोनों से विनिर्मुक्त एक तीसरी अवस्था मानते हैं। किन्तु वास्तविक विचार करने पर वह शान्त्यानन्द ही आत्मा का स्वस्वरूपानन्द है यह भी पूर्व कहा जा चुका है। मुक्ति में जो आनन्द नहीं कहते, उनका अभिप्राय यही है कि समृद्ध्यानन्द जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वहाँ नहीं होता। व्यावहारिक आत्मा का विकास वहाँ नहीं है। व्यावहारिक आत्मा ही जब मुक्ति-अवस्था में समाप्त हो जायगा तो उसका विकास कहाँ से होगा? इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि मुक्ति दशा में सर्वात्मभाव प्राप्त हो जाता है। जब सब कुछ अपने भीतर आ गया तब विकास का स्थान ही कहाँ रहा, जिससे कि विकासरूप होवे विकासरूप आनन्द को ही मुख्य मानते हुए जो सज्जन यह प्रश्न किया करते हैं कि

जिसमें सुख दुःख दोनों नहीं, उस मुक्ति को प्राप्त करने से लाभ ही क्या ? किन्तु उन्हें अपने चित्त समाधान के लिए यह सोचना चाहिए कि जो पुरुष ईश्वर-कृपा से धन-धान्य सम्पन्न और स्वस्थ हैं। नित्य ही समृद्ध्यानन्द का उपभोग करते रहते हैं वे भी अपना सब आनन्द छोड़कर शयन की इच्छा क्यों किया करते हैं ? शयन अर्थात् सुषुप्ति में तो शान्त्यानन्द ही रहता है। वहाँ तो समृद्ध्यानन्द का कोई सम्भव ही नहीं, फिर भी मनुष्य सब प्रकार के सुख दुःख छोड़कर सुषुप्ति में जाने की इच्छा क्यों करते हैं ? इच्छा ही क्या विवश कर सुषुप्ति में ले जाया जाता है। इससे ही सिद्ध है कि शान्त्यानन्द ही मुख्य है। वही आत्मा का स्वरूप है। उपनिषदों में यही कहा गया है कि सुषुप्ति में मनुष्य अपने स्वरूपानन्द का अनुभव कर लेता है। फिर वह आनन्द ही शाश्वत बन जाय तो उसे ही मुक्ति कहते हैं। साधारणतः मनुष्य माया के द्वारा सुषुप्ति से फिर जागृत अवस्था में घसीट लिए जाते हैं और फिर प्रपंच में पड़ जाते हैं। इस विभिन्नावस्था को ही जो उत्तम मानते हैं, वे मुक्ति के अधिकारी नहीं। एक रस शान्त अवस्था को ही प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले मुक्ति के अधिारी होते हैं। विभिन्नावस्थाओं को सर्वस्व समझने वाले स्वर्गादि लोकों के लिए प्रयास करें तो उनके लिए वही उत्तम है। उसका वैदिक कर्मकाण्डों में वर्णन किया है। भगवद्गीता जिस आनन्द को प्राप्त कराना चाहती है, वह तो सब प्रकार के क्षोभ से रहित शान्त्यानन्द ही है। उसी का उपाय इसमें बताया गया है ॥७०॥

आगे के पद्य में इससे उत्तर की अवस्था बताई जाती है कि जो पुरुष सब कामनाओं को सर्वथा छोड़ चुकता है और अहंता-ममता से भी रहित होकर निस्पृह अर्थात् कोई इच्छा बिना किए लोक में विचरता है, वही शान्ति का भागी है। अपनी देह पर सबको अहंता रहती है। देह के दुःखी होने पर मैं ही दुःखी हूँ, ऐसा आभास हुआ करता है और देह के सुख को सब अपना सुख मानते हैं। यह अहंता है। और पुत्र कलत्रादि पर जो मोह होता है वह ममत्व है। अर्थात् ये मेरे हैं, इस प्रकार का भाव उन पर होता है। वस्तुतः विचार करने पर ममता के भीतर भी अहंता व्याप्त है। पुत्र कलत्रादि को भी अपना ही रूप मनुष्य मानता है। तभी उनमें ममता भी होती है। जहाँ अहंता के स्थान बहुत बन जाएँ, वहाँ "यह मेरा है" ऐसा हो जाता है। देह के भी प्रत्येक अंग में "मेरा हाथ" "मेरा पैर" इत्यादि रूप से ममता ही होती है। किन्तु सम्पूर्ण देह पर अहंता होने के कारण उसके प्रत्येक अंग में ममता आ जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार पुत्र कलत्रादि पर वा सम्पत्ति पर भी अहंभाव ही होता है, उसी का परिणाम समृद्धि को अहंभाव मानकर प्रत्येक व्यक्ति पर ममत्व होता है। तात्पर्य यही हुआ कि अहंता ही ममता रूप से परिणत हुआ करती है। इसीलिए मनुष्य कभी-कभी कह उठता है कि पुत्र कलत्रादि रूप से मैं ही तो हूं। और चर पुरुष की आध्यात्मिक कलाओं में प्रजा और वित्त का भी समावेश माना जाता है। जिसका विवरण हम

क्षराक्षर पुरुष के विवेक में विशद रूप से करेंगे। अस्तु, इसी आशय से पहिले भगवान् ने निर्मम कहा है और फिर निरहंकार कहा है। अभिप्राय यही है कि पहिले जिन्हें मम कहते हो, उनसे आत्मा की व्याप्ति हटाओ और फिर अहं ममवाच्य शरीर से भी आत्मा की व्याप्ति हटाओ। इन सबको आत्मा से पृथक् समझो। तब ही शुद्ध आत्मा का आभास मिलेगा। और तभी सब कामनाओं का क्षय होगा। क्यों कि कामनाएँ सब देह के सम्बन्ध से व पुत्र कलत्रादि के सम्बन्ध से ही होती हैं। इनसे पृथक् कर शुद्ध आत्मा को जब समझ लिया जाय तो उसके सम्बन्ध से तो कोई कामना है ही नहीं। कामनाएँ देह और इन्द्रियों तक ही सीमित हैं। इसलिए अहंता-ममता शून्य होने पर निस्पृहता और कामनाओं का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। ऐसे पुरुष को शान्ति मिलना स्वाभाविक ही है ॥ ७२ ॥

आगे भगवान् कहते हैं कि यह जो अभी तुम्हें बताई गई, यही ब्राह्मी स्थिति है। अर्थात् यहीं पहुँच कर ब्रह्म में लीनता हो सकती है। और इस स्थिति को प्राप्त कर लेने वालों को फिर इस प्रकार का मोह नहीं होता जैसा कि मोह तुम्हें इस समय हो रहा है। यदि यह स्थिति अन्तकाल में हो जाय तो उसे ब्रह्म निर्वाण मिल जाता है। इसके दोनों प्रकार के आशय लगाए जाते हैं कि यदि अन्तकाल में भी यह स्थिति प्राप्त हो गई तो मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी। और दूसरा आशय यह भी बताया जाता है कि यदि अन्तकाल में भी ऐसी स्थिति हो जाय तो ब्रह्म-निर्वाण मिल जाता है। फिर जिसको पूर्वावस्था में हो पूर्वसंस्कारवश ऐसी स्थिति प्राप्त हो गई अर्थात् अहंता-ममता जिसकी छूट गई, उसका तो कहना ही क्या ? यह कैमुतिक न्याय इससे निकाला जाता है। यहाँ "पार्थ" इस सम्बोधन का आशय भी कई व्याख्याकारों ने यह निकाला है कि "पातीति अर्थात् सबका रक्षक ईश्वर ही "पा" है पां अर्थयते, इति पार्थः, उसको चाहने वाला ही पार्थ कहलाता है। तुम पार्थ हो, इसलिए तुम्हें यह उपदेश उपयुक्त है। इन पद्यों को संन्यास मार्ग वाले व्याख्याकार संन्यास मार्ग परक ही लगाते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसी परिस्थिति सर्व कर्म संन्यास पर हो सकती है। उनके मतानुसार "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" इस प्रश्न के अनन्तर फिर संन्यास का ही प्रकरण चल गया। और भक्ति मार्ग के व्याख्याकार भक्ति मार्ग पर ही इन पद्यों को लगाते हैं। क्योंलि उनके मतानुसार यह सब स्थिति बिना भगवद्भक्ति के प्राप्त नहीं होती। किन्तु ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मानने वाले लोकमान्य तिलक आदि यही कहते हैं कि अहंता-ममता छोड़ना और सब कामनाओं का परित्याग तो कर्मयोग में भी आवश्यक है। कर्मयोग का ही यह प्रकरण है। कर्मयोग के आरम्भ में ही भगवान् ने यह कहा था कि व्यवसायात्मक बुद्धि उत्पन्न करना पहिले आवश्यक है। उसी का विवरण अन्त तक आया है। और यह मार्ग भी स्वतन्त्र है। जैसा कि अभी तृतीयाध्याय के प्रश्नोत्तरों में

स्पष्ट होगा। इसलिए यह सब पद्य कर्मयोग के ही प्रतिपादक हैं। जो भी हो सूत्र रूप द्वितीयाध्याय के अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेना भगवान् ने स्पष्ट कर दिया। यह तो स्पष्ट ही है। अब इसी सूत्र द्वितीयाध्याय का विवरण आगे अन्त तक चलेगा। इसमें ब्रह्म निर्वाण शब्द एक ऐतिहासिक विषय का उपस्थापक है। बौद्ध मत में भी मोक्ष के अर्थ में निर्वाण शब्द लिया जाता है। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह ब्रह्म निर्वाण शब्द बौद्धों से यहाँ लिया गया वा बौद्धों ने ही ब्रह्म शब्द काटकर केवल निर्वाण पद ले लिया। सूक्ष्म विचार करने पर दूसरी बात ही ठीक जान पड़ती है। क्योंकि बौद्धों के मतानुसार निर्वाण शब्द का अर्थ "बुझ जाना" मानना होगा। और ब्रह्म निर्वाण कहने पर इसका अर्थ "ब्रह्म में लीन होना" माना जायगा। व्याकरण रीति से वा धातु का अर्थ गति ही है। "वा गतिबन्धनयोः" ऐसा धातु पाठ में महर्षि ने पढ़ा है। तदनुसार निर्वाण पद का अर्थ लीन होना ही उचित प्रतीत होता है। "बुझ जाना" या "समाप्त हो जाना" स्वारसिक अर्थ नहीं। इसलिए ब्रह्म में लीन होने के अर्थ में ब्रह्म निर्वाण शब्द ही पहले चला। गीता में और स्थानों में भी यह शब्द आया है। आगे बौद्धों के यहाँ ब्रह्म नाम का कोई तत्त्व नहीं माना जाता। इसलिए उन्होंने ब्रह्म शब्द हटाकर केवल निर्वाण शब्द रख लिया और उसका अर्थ "बुझ जाना" मान लिया। इससे भगवद्गीता बौद्ध मत प्रचार की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध होती है। इसके कई प्रमाण हम आरम्भ के प्रवचनों में भी दे चुके हैं।

पैंतालीसवां-पुष्प

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥ १-३

यों द्वितीयाध्याय में भगवान् ने बुद्धि को ही सर्व श्रेष्ठ बताया। सांख्य मार्ग में तो ज्ञानयोग की प्रधानता है ही, वह तो बुद्धि साध्य ही है, किन्तु कर्मयोग मार्ग भी बिना व्यवसाथात्मक बुद्धि के नहीं बनता, व्यवसायात्मक बुद्धि से ही निष्काम कर्म किया जा सकता है। यों दोनों ही मार्ग में बुद्धि की प्रधानता भगवान् के उपदेश से सिद्ध हुई और अकाम जो मोक्ष का मुख्य कारण भगवान् ने बताया है वह भी बुद्धि रूप ही है। यों बुद्धि की सर्वात्मना प्रधानता सुनकर शंकाकुलित होकर अर्जुन प्रश्न कर बैठा कि—

'हे जनार्दन केशव ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा बुद्धि की ही प्रधानता अभिमत है, और बुद्धि को ही आप सर्वथा बड़ा मानते हैं तो फिर मुझे इस गुरु और बान्धवों के बध रूप घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ? एक ओर तो आप सत्वादि तीनों गुणों से ऊपर उठाकर बुद्धि को शुद्ध बनाने का उपदेश करते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते जाते हैं कि "तस्माद् युद्धस्व" (युद्ध अवश्य करो) इस प्रकार आपका उपदेश इधर-उधर दोनों ओर मिला हुआ सा सुनकर मेरी बुद्धि में मोह होने लगा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आप उपदेश क्या देते हैं— मेरी बुद्धि को उलटी मोह में डाल रहे हैं। मुझे ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि आपने भी विचार पूर्वक एक मार्ग का निश्चय नहीं किया है। इसलिए कृपाकर स्वयं एक मार्ग का निश्चय करके कहिए कि मुझे क्या करना चाहिए और किस मार्ग से मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँगा ?

इस प्रकार का प्रश्न सुनकर भगवान् उत्तर देने लगे कि हे निष्पाप अर्जुन ! मैंनें पूर्व दो प्रकार की निष्ठा अर्थात् स्थिति लोक में है यह तुम्हें कहा है। सांख्य

मार्ग वाले ज्ञानयोग से ही अपनी स्थिति करते हैं। और योगमार्ग वाले कर्म-योग से।

द्वितीयाध्याय के 'ऐषातेऽभिहिता सांख्ये (३९) इत्यादि श्लोक की व्याख्या में हम विवरण दे चुके हैं कि यहाँ के सांख्य योग पद प्रसिद्ध-सांख्य योग दर्शनों के वाचक नहीं हैं। अपितु ज्ञान मार्ग को ही यहाँ सांख्य और कर्मयोग को योग पद से कहा गया है। अन्यत्र भी महाभारत में इन पदों का स्पष्ट अर्थ यही बताया गया है। जैसा कि—

प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यास लक्षणम् महा भा०, अश्व० ४३-२५,

यहाँ प्रवृत्ति कर्म को ही योग शब्द का अर्थ कहा है। अन्यत्र भी महाभारत में कई जगह सांख्य योग शब्द आये हैं और उनके अर्थ इसी प्रकार के बताए गए हैं। इस विषय को लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में बहुत विस्तार से लिखा है। न्याय भाष्य में भी प्रतितन्त्र सिद्धान्त के विषय में वैशेषिक मत दिखाकर "इति योगाः" लिखा है। इससे वैशेषिक-दर्शन भी कभी योग शब्द से कहा जाता था, ऐसा सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शन में प्रवृत्ति धर्म का ही निरूपण है। इससे भी प्रवृत्ति धर्म योग शब्द का अर्थसिद्ध होता है। यही यहाँ भी सांख्य और योग पद का अर्थ है। तात्पर्य यही है कि ये दोनों स्वतंत्र मार्ग हैं अपने अपने अधिकारानुसार कोई विद्वान् किसी मार्ग का अनुसरण करते हैं और अन्य विद्वान् दूसरे मार्ग का। पूर्व मार्ग के अनुयायी श्री शुकदेव जी आदि प्रसिद्ध हैं। जिन्होंने ज्ञान निष्ठा को ही समझा और कर्म का सर्वथा परित्याग कर उसी निष्ठा से मोक्ष रूप सिद्धि प्राप्त की। दूसरे कर्मयोग मार्ग के अनुयायी आचार्य राजर्षि जनक आदि प्रसिद्ध हैं जो ज्ञान प्राप्त करके भी कर्म करते रहे और उस कर्मयोग से सिद्धि प्राप्त कर गए। यहाँ "पुरा प्रोक्ता" पद से दोनों अभिप्राय निकलते हैं। एक यह कि मैं पहले ही "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" इत्यादि के द्वारा तुझे दो मार्गों का संकेत कर चुका हूँ। तुमने उस पर ध्यान न रखकर प्रश्न किया है, यह अर्जुन को भगवान् की ओर से उपालम्भ है। दूसरा यह भी अभिप्राय है कि "पुरा" पूर्वकाल में—अर्थात् वेदादि शास्त्रों में ईश्वर रूप से मैंने ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग की दोनों निष्ठाएँ स्पष्ट बताई हैं। दूसरी व्याख्या में "लोकेऽस्मिन्" पद का स्वारस्य ठीक लगता है इस दूसरी व्याख्या को मुख्य मानते हुए ही वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी श्री पुरुषोत्तम जी ने यहाँ यह अभिप्राय प्रकट किया है कि पूर्व वेदादि शास्त्रों में ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग का जो विधान मैं ने बताया था उसी का अनुवाद द्वितीयाध्याय में तुम्हें सुनाया। उसका अभिप्राय था कि सांख्य अर्थात् ज्ञान निष्ठ पुरुष जो कि सबको भगवद्रूप जान चुके हैं उनके लिये ज्ञान योगरूप ब्रह्म निष्ठा का उपदेश है, और जो पूर्ण रूप से सब जगह भगवद्रूपता न समझ सके उनके लिये भगवदुपासना रूप कर्म योग है। इन दोनों मार्गों का अनुवाद मात्र मैंने तुम्हें सुनाया था, ये दोनों ही मार्ग तुम्हारे लिये

नहीं हैं, तुम को तो मैं अपने अनुग्रह रूप पुष्टि मार्ग में लेना चाहता हूँ। इन दोनों मार्गों को तुम अपने लिये समझ बैठे यही तुम्हारा बुद्धि दोष है। पुष्टिमार्ग में भगवान् की आज्ञा का पालन ही मुख्य माना जाता है। उस मार्ग के अनुसार मैं अभी कर्म करने की ही तुम्हें आज्ञा देता हूँ। जैसी कि अग्रिम श्लोकों में स्पष्ट रूप से आज्ञा दी गई है। इसीलिये भगवद्गीता के अन्त में अर्जुन ने "करिष्ये वचनं तव" यही कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवदाज्ञा से ही युद्ध में प्रवृत्त हुआ था। अस्तु! पहली व्याख्या में लोक के उपयुक्त दोनों मार्ग हैं यही कहना होगा।

इस प्रश्नोत्तर से गीता के पूर्व व्याख्याता-ज्ञानकर्म समुच्चयवाद निकालते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों के योग से ही सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। इनका खण्डन भी शंकराचार्य ने यहाँ भी पूर्ण विस्तार से किया है। वे अपने भाष्य में लिखते हैं कि यदि ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही इष्ट होता तो निश्चय पूर्वक एकही मार्ग बताइए, यह अर्जुन का प्रश्न ही नहीं बन सकता था। भगवान् यदि दोनों मार्गों के समुचय अर्थात् मेल का उपदेश देते तो फिर एक ही मार्ग कहिए यह प्रश्न ही कैसे उठता ?

यदि कहा जाय कि भगवान् ने तो समुच्चय ही कहा था, किन्तु अर्जुन न समझ सकने के कारण भ्रान्ति वश एक ही निर्धारित करो, ऐसा पूछ बैठा, तो यह भी ठीक नहीं, यदि ऐसा होता तो भगवान् यही उत्तर देते कि मैंने समुच्चय कहा है तब तुम एक क्यों पूछते हो ? किन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत यह कहा कि मैंने दो प्रकार की निष्ठा तुम्हें बताई है, इससे यही सिद्ध होता है कि दोनों मार्ग पृथक् पृथक् हैं, समुच्चय नहीं सिद्ध होता। समुच्चयवाद अर्थात् ज्ञान कर्म दोनों के मेल का भी शङ्कराचार्य के और उनके सिद्धान्तानुयायी विद्वानों ने सर्वत्र बहुत खण्डन किया है। जैसा कि 'स्वराज्य सिद्धि के आरम्भ में ही कहा है कि—

अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुधइति मतिमान् कर्मसक्तोऽधिकारी
शान्तो दान्तः परिव्राड्परमपरमो ब्रह्म विद्याधिकारी
इत्थंभेदे विवक्षन् समुदितमुभयंमुक्तिहेतुं सुशीतम्
नीरं वैश्वानरश्चोभयमह मह स्तृषोच्छेदकामः पिबेत् सः

इसका तात्पर्य है कि कर्मकाण्ड के अधिकार के लिये मैं धनवान हूँ। अथवा मुझे स्वर्गादि प्राप्ति की अभिलाषा है और "मैं कर्म करने में चतुर हूँ" "मैं द्विजाति वर्ग का हूँ" "मैं ज्ञानवान हूँ" इत्यादि बुद्धि आवश्यक है। जैसा कि "जात पुत्रकृष्णाकेशो अग्निनादधीत" वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनादधीत" "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुतियों में और "त्रयीवर्षिकाधिकान्नो यः सहि सोमं पिबेद्विजः" इत्यादि स्मृति वाक्यों में स्पष्ट कहा गया है। इसके विरुद्ध

ब्रह्म विद्या के अधिकार के लिये शम, दम, उपरति, (सब कर्मों का त्याग) और परिव्रज्या (सन्यास) चाहिये, जहाँ अर्थ के स्वामीत्व, इसलोक वा परलोक में इच्छा की माँग आदि सब कर्मों की निवृत्ति आवश्यक है। जब आत्मा में सब कामनाओं और सब कर्मों की निवृत्ति हो गयी तो फिर अर्थीत्व, दक्षत्व, द्विजत्व आदि का अभिमान रहेगा ही कहाँ ? इस प्रकार परस्पर विरूद्धता होने पर भी जो विद्वान् ज्ञान और कर्म दोनों को मिलाकर मुक्ति का साधन मानते हैं वे तो मानों तृषा मिटाने के लिये सुशीतल जल और अग्नि दोनों को मिलाकर पीना चाहते हैं। अन्तिम चरण में समुच्चयात्मक उपहास है, अस्तु, यों ज्ञान और कर्म दोनों का मेल बन भी नहीं सकता और न गीता में भगवान् के उपदेश से ही मेल प्रमाणित होता है।

इससे दोनों मार्ग पृथक् पृथक् हैं यही भगवान् का तात्पर्य समझना चाहिए। वहाँ भी इतनी विशेषता है कि कर्मयोग से चित्त शुद्ध होकर ज्ञानयोग प्राप्त होता है। मोक्ष ज्ञान योग से ही मिलता है। यह श्री शंकराचार्य का सिद्धांत है। अपने मत की पुष्टि में वे यह भी कहते हैं कि अर्जुन ने जो कहा था कि "यदि आप बुद्धि को ही श्रेष्ठ मानते हैं" इसका खण्डन भगवान् ने नहीं किया, इससे बुद्धि की श्रेष्ठता तो भगवान् को अभिमत है, यह सिद्ध हो जाता है। केवल अर्जुन को अधिकारानुसार अभी कर्म योग में ही रहना चाहिए यही मानो कहा गया है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ भी भगवद्वाक्य में निष्ठा इस एक वचन से और उसके "द्विविधा" इस विशेषण से यह अभिप्राय निकालते हैं कि निष्ठा अर्थात् अन्तिम स्थिति एक ही है; उसके दो प्रकार होते हैं सांख्य और योग। योग अर्थात् कर्म योग मार्ग भी चित्त शुद्धि के द्वारा अन्त में ज्ञान रूप में ही परिणत हो जाता है। वे प्रकृत श्लोक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि सांख्य अर्थात् ज्ञान योग वालों का मार्ग यह है कि पूर्व जन्म में जिन्होंने शुभ कर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि सम्पादन कर लिया है वे इस जन्म में केवल श्रवण और मनन से ही कृतकृत्य हो जाते हैं उन्हें निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं होती यही सांख्यों का ज्ञान मार्ग है। किन्तु जिनके पूर्व जन्म के ऐसे संस्कार नहीं हैं और जिनका चित्त अभी चञ्चल है उनके के लिये कर्म योग है। कर्म योग शब्द से यहाँ सन्ध्योपासनादि से आरम्भ कर समाधि प्राप्ति पर्यन्त के सब कर्म-कलाप लिये जाते हैं। यदि वे फल की आकांक्षा और आसक्ति के बिना किये गये हों।

इस प्रकार योगानुष्ठान से चित्त को शुद्ध बनाना उन पुरुषों के लिये आवश्यक होता है, यही निदिध्यासन है। इसके अनन्तर वे भी ज्ञान निष्ठा में ही आ जाते हैं। इस प्रकार भी नीलकण्ठ जी ने यहाँ "योगिनाम्" पद से पातञ्जल योग को ही ग्रहण किया, और कर्म योग को ज्ञान प्राप्ति का उपाय रूप ही माना, उपाय रूप से ही भगवद्गीता के छठे अध्याय में पातञ्जल योग का भी विषय कहा है। वैष्णवाचार्य व्याख्याताओं ने भी कर्म योग को अङ्गभूत ही माना है। वे

कर्म और ज्ञान दोनों के अनन्तर परम पुरुषार्थ रूप भक्ति को ही सबका प्राप्य कहते हैं। किन्तु लोकमान्य तिलक यह नहीं मानते कि कर्म योग से आगे ज्ञान निष्ठा सिद्ध होती है। वे अन्त तक दोनों मार्गों को स्वतन्त्र ही सिद्ध करते हैं। महाभारत शान्ति पर्व २४० अध्याय में भी प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनों को स्वतन्त्र ही कहा है। और प्रवृत्ति मार्ग के आचार्य वशिष्ठ आदि को वा निवृत्ति मार्ग के आचार्य सनक आदि को बताया है। यद्यपि यह शंका उनके मत में होगी कि "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" (ज्ञान के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता) इस श्रुति के अनुसार अन्त में ज्ञान प्राप्त होना तो अवश्य ही मानना चाहिए, अन्यथा श्रुति विरोध होगा। किन्तु यह शंका व्यर्थ है, क्योंकि कर्म योग में भी व्यवसायात्मक बुद्धि कहकर ज्ञान की सत्ता सिद्ध करदी गई है। बिना ज्ञान के कर्म योग बन ही नहीं सकता, अतएव ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्म योग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य लोकमान्य तिलक ने कहा है। इसलिए ज्ञान तो दोनों ही मार्गों में आवश्यक रूप से आ ही जाता है। भेद केवल इतना रहता है कि सांख्य मार्ग वाले कर्म की आवश्यकता न समझ कर उसका परित्याग कर देते हैं और कर्मयोग के अनुयायी लोक संग्रहार्थ वा यज्ञार्थ ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी जनक आदि की तरह कर्म करते रहते हैं। इस प्रकार का कर्म योग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है यह लोकमान्य तिलक ने सिद्ध किया है।

वैष्णव भाष्यकारों के मतानुसार भगवदाज्ञा सिद्धकर्म आवश्यक है, इसी से भक्ति दृढ़ होती है, यह विशेष कहा गया है।

श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार बुद्धियोग का ही गीता में मुख्य रूप से प्रतिपादन है, यह कहा जा चुका है। वे आत्मा का स्वरूप ही ज्ञानकर्ममय मानते हैं। जैसा कि १५ अध्याय के क्षर अक्षर और अव्यय के निरूपण में स्पष्ट किया जायेगा। उनके मतानुसार प्रश्न का आशय यह है कि जब आप बुद्धि अर्थात् बुद्धि योग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हैं? उत्तर का आशय यह है कि बुद्धियोग दोनों तरह से बनता है। ज्ञान के द्वारा भी और धर्म के द्वारा भी उसमें पूर्वावस्था में बिना धर्माचरण के ज्ञान वा बुद्धि योग प्राप्त नहीं हो सकता, सर्व कर्म संन्यास गीता का प्रतिपाद्य उनके मत में भी नहीं है। इस प्रकरण में भी उन्होंने यही संकेत किया है कि आगे के श्लोकों में सात कारणों से सर्वथा कर्म छोड़ने का निषेध किया गया है। वे सात कारण इस प्रकार हैं—

१—नैष्कर्म्य प्राप्ति का उपाय कर्म करना ही है, यह चौथे श्लोक में है, २—केवल कर्म छोड़ने से ही मोक्ष नहीं मिलता यही चतुर्थ श्लोक में कहा गया है। ३—सर्वथा कर्म का परित्याग हो ही नहीं सकता, ४—कर्म करना प्रकृति सिद्ध है, ये दोनों पञ्चम श्लोक में कहे गये हैं ५—कर्मारम्भ और कर्म संन्यास में कर्मारम्भ ही श्रेष्ठ है, ६—अनासक्त कर्मयोग बन्धक नहीं, सातवें

श्लोक में कहा गया है। ७—जीवन के लिये कर्म करना आवश्यक है, ८—आठवें में कहा गया है। ये सब इन श्लोकों की व्याख्या में स्पष्ट होंगे।

इस प्रकार भगवान् ने यहाँ ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा दोनों को विभक्त रूप से अधिकारानुसार सिद्ध किया है। अर्जुन के प्रश्न का उत्तर यही हुआ कि अधिकार भेद से दोनों ही भिन्न-भिन्न मार्ग उत्तम हैं। इनमें किसी एक का ही निर्धारण नहीं किया जा सकता किन्तु तुम्हारा अधिकार अभी कर्मयोग में ही है। यह आगे के श्लोकों से स्पष्ट किया जायगा।

भिन्न-भिन्न मतानुसार दोनों निष्ठाओं के उपभोग, व्याख्या में विस्तार से कहे जा चुके हैं।

इस श्लोक में जनार्दन और केशव दो संबोधन आये हैं यह पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है, व्याख्याकारों ने इनका समाधान ध्वनित किया है कि जनार्दन शब्द का अर्थ जनों को अर्दित अर्थात् नष्ट करने वाला है। जनों का आत्यन्तिक नाश अविद्या के नाश से ही होगा, और अविद्या का नाश बुद्धि के द्वारा होगा, इसलिये बुद्धि को सर्वश्रेष्ठ बताना आप का उपयुक्त ही है, यह अभिप्राय जनार्दन शब्द से प्रकट किया गया।

दूसरे केशव सम्बोधन का अर्थ केशी नामक दैत्य को मारने वाला है। इससे यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि आपने जो केशी आदि दुष्ट दैत्यों का बध किया वह तो उपयुक्त था किन्तु मुझे गुरु-बान्धव आदि के हनन रूप घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि आपने केशी आदि दैत्यों का भी बध कर उन्हें भी मोक्ष दे दिया, इसी प्रकार घोर दुष्ट कर्म मेरे हाथ से करवाकर भी मुझे मोक्ष देना चाहते हैं, तो जैसी आपकी इच्छा होगी तदनुसार ही मुझे करना पड़ेगा।

इस प्रकार विशेष अभिप्रायों के अभिव्यञ्जन के लिये दोनों संबोधन दिये गये। इससे पुनरुक्ति का अवसर नहीं है।

"व्यामिश्रेणेव" और "मोहयसीव" इन "इव" शब्दों का अभिप्राय यही है कि आपने तो दो अर्थ मिले हुए व्यामिश्र वाक्य नहीं कहे होंगे किन्तु मुझे उनका ऐसा ही अर्थ प्रतीत हुआ। एवं आप तो मेरी बुद्धि को भ्रममें डालना नहीं चाहोगे। किन्तु मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है कि आप मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हैं, इसलिये कृपा कर ऐसे वाक्य कहिये कि जिससे मैं अपने कल्याण का मार्ग ठीक समझ सकूँ।

छियालीसवाँ -पुष्प

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तःस विशिष्यते ॥७॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥ ३-४-८

व्याख्या

पूव श्लोक में ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा पृथक्-पृथक् मार्ग हैं, यह कहा गया। अब यह कहा जाता है कि आरम्भ में तो कर्म करना सबको आवश्यक है। श्लोक का अर्थ है कि बिना कर्मारम्भ के नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता और केवल कर्म का संन्यास कर देने से ही सिद्धि नहीं मिलती। तात्पर्य यह है कि चाहे इस जन्म का हो, चाहे पूर्व जन्म का संस्कार हो, कर्म करने से ही ज्ञान निष्ठा प्राप्त होती है ! बिना कर्म के अन्तःकरण शुद्धि हुए बिना ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती, इसलिए जिस पुरुष को पूर्व जन्म का ऐसा संस्कार नहीं है उसको यहाँ ही पहले कर्म करके अन्तः करण शुद्ध करना चाहिए ! यहाँ नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ, प्राचीन समस्त टीकाकार ज्ञाननिष्ठा ही करते हैं। नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ व्याकरण की रीति से कर्म छोड़कर रहना अर्थात् कर्म संन्यास ही होता है। कर्म संन्यास के साथ ही ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसलिए साहचर्य से ज्ञान निष्ठा ही नैष्कर्म्य का अर्थ प्राचीन टीकाकारों ने माना है। कर्म करने से कर्म राहित्य सिद्ध होना परस्पर विरुद्ध पड़ता है। इसलिए साहचर्य से ज्ञान निष्ठा अर्थ लक्षणा से लिया गया। इससे कर्मयोग का ज्ञान के प्रति अंगभाव सिद्ध हो जाता है, यह श्री शंङ्कराचार्य कहते हैं। इसी से यह सिद्ध हो गया कि पूर्व पद्य में बताए गए दोनों मार्ग स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु कर्मयोग आगे चलकर ज्ञान निष्ठा का अंग बन जाता है। अर्थात् कर्मयोग से अन्तः करण शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्त करता है। मोक्ष ज्ञान से ही मिलता है, वहाँ कर्म का कोई उपयोग नहीं ! वैष्णव

व्याख्याकार नैष्कर्म्य से भक्ति को लेते हैं। भक्ति में भी कर्म का त्याग अन्त में हो जाता है। इसलिए साहचर्य से भक्ति भी नैष्कर्म्य से ली जा सकती है। यहाँ "अनारम्भात्" पद से यह भी सूचित किया जाता है कि कर्म करने में प्रवृत्ति होगई फिर कर्म समाप्त नहीं हुआ तब भी कोई हानि नहीं, जैसा कि द्वितीयाध्याय में कर्मयोग के आरम्भ में ही बताया है कि यहाँ अभिक्रम का नाश नहीं है और प्रत्यवाय भी नहीं है, इत्यादि।

लोकमान्य तिलक नैष्कर्म्य का ज्ञाननिष्ठा अर्थ नहीं मानते, वे नैष्कर्म्य का अर्थ करते हैं बन्धन करने वाले कर्म का अभाव। कर्मयोग की सिद्धि होने पर भी कर्म को बन्धकता नहीं रहती, इसलिए कर्म योग की उस दशा को भी नैष्कर्म्य कह सकते हैं। यद्यपि नैष्कर्म्य शब्द से कर्म का अभाव भी प्राप्त होता है परन्तु गीता में बार-बार यह कहा गया है कि कर्म बुरा नहीं किन्तु उसके कारण बन्धन ही बुरे हैं। इसलिए कर्म शब्द से बन्धन करने वाला कर्म ले लेने में कोई आपत्ति नहीं। इससे कर्मयोग का ज्ञाननिष्ठा के प्रति अंगभाव सिद्ध नहीं होता किन्तु कर्मयोग में भी जो नैष्कर्म्य होगा वह भी पूर्वावस्था के शुद्ध कर्म करने से ही होगा यही सिद्ध होता है। इसलिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं, कोई किसी का अंग नहीं। वैसे तो ज्ञान भी कर्मयोग में अंग होता है, क्योंकि बिना व्यवसायात्मक बुद्धि के कर्मयोग नहीं बन सकता—यह कहा जा चुका है। इसी प्रकार प्रारम्भ के शुभ कर्म भी ज्ञान के उत्पादन में अंग हो सकते हैं किन्तु आगे चल कर अर्थात् ज्ञान हो जाने पर भी कर्म करते रहना अथवा कर्म छोड़ देना ये दोनों ज्ञान योग और कर्म योग नाम से स्वतन्त्र ही मार्ग हैं। इनमें किसी एक के द्वारा दूसरे को प्राप्त करना गीता को अभिप्रेत नहीं, यही तिलक का मत है।

शुभ-कर्म करने से ज्ञानोत्पत्ति में सहायता मिलती है यह "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन तपसानशनेन" इत्यादि श्रुति से ही सिद्ध हो जाता है। यहाँ वेदानुवचन, यज्ञ, तप, अनशन आदि सभी को विविदिषा के प्रति अंगभाव बताया गया है। विविदिषा अर्थात् ज्ञान की इच्छा, इससे तात्पर्य यही हुआ कि यज्ञ, तप, दान आदि करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और तब ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है। सांसारिक मनुष्यों को तो मलिन अन्तःकरण से ज्ञान में प्रवृत्ति ही नहीं होती, इसलिए यज्ञ, तपादि करके मैले अन्तःकरण का मल हटाया जायगा तब ही ज्ञान की इच्छा होगी। उक्त श्रुति से ऐसा भी अर्थ निकालते हैं कि तप यज्ञादि वेद अर्थात् ज्ञान के ही साक्षात् अंग हैं, विविदिषा के नहीं। यद्यपि शब्द मर्यादा से विविदिषा प्रधान प्रतीत होती है किन्तु अर्थ विचार में विविदिषा अर्थात् ज्ञान की इच्छा भी ज्ञान का ही अंग है। ज्ञान ही प्रधान है। इससे तप, यज्ञादि ज्ञान सम्पादन के ही अंग हैं। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान तो प्रमाण से होता है उसमें तप, यज्ञ आदि साक्षात् कारण नहीं बन सकते क्योंकि यज्ञ, तप

आदि प्रमाण नहीं माने जाते। वे भी प्रमेय हैं। अर्थात् उनका भी ज्ञान श्रुति आदि प्रमाणों से होता है फिर वे साक्षात् ज्ञान के उत्पादक कैसे बन सकते हैं। अतः यही कहना उचित होगा कि यज्ञ, तप आदि से ज्ञान की इच्छा होती है और इच्छा होने पर श्रुति आदि प्रमाणों से आत्मज्ञान होता है। यद्यपि "विविदिषन्ति" पद में अर्थतः ज्ञान ही प्रमाण है किन्तु यहाँ सामर्थ्य के अनुसार शब्द मर्यादा को ही लेना उचित होता है और विविदिषा को ही प्रधान मानकर उसी में यज्ञ, तप आदि का अंगभाव सबने माना है। यहाँ पर शङ्का होगी कि शिष्ट लोग संन्यास मार्ग का भी तो आचरण करते ही हैं और शुकदेव आदि ने संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त की है तो फिर बिना कर्म के ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती, ऐसा क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर पद्य के उत्तरार्ध से दिया जाता है कि शुकदेव आदि को जो सिद्धि प्राप्त हुई, वह केवल कर्म सन्यास से ही नहीं थी अपितु कर्म सन्यास के साथ जो उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था उसके कारण मोक्ष रूप सिद्धि उन्होंने प्राप्त की, उनका अन्तःकरण पूर्व जन्म कृत शुभ कर्मों से ही शुद्ध हो चुका था। इसलिए उन्हें यहाँ कर्म करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, केवल कर्म सन्यास से कोई भी सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कर्म छोड़ देने मात्र से ही मोक्ष प्राप्त हो जाय तो काष्ठपाषाणादि जड़ पदार्थ तो कोई कर्म नहीं करते उन्हें भी अनायास ही मोक्ष प्राप्त हो जाना चाहिए। इससे यही समझो कि सन्यास मार्ग से जो सिद्धि है वह भी ज्ञान का ही फल है। न कि केवल कर्म सन्यास का। इसलिए तुम्हें अभी अन्तःकरण का मल दूर करने को अपने वर्णाश्रम विहित युद्धादि कर्म अवश्य करना चाहिए। कई व्याख्याकार उत्तरार्ध का यह भी अर्थ करते हैं कि केवल संन्यास से अर्थात् वैराग्य के विना जो केवल लाल कपड़े आदि कर लेते हैं उससे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती। इसलिए ज्ञान ही मुख्य है संन्यास केवल अंग मात्र है।

इस प्रकार पूर्व पद्य में कर्म करने की आवश्यकता के दो कारण कहे गए, अब तीसरा हेतु दूसरे श्लोक में कहते हैं कि कोई भी प्राणी किसी भी समय बिना कर्म किये नहीं रह सकता। अर्थात् शरीर, वाणी या मन का कोई कर्म अवश्य होता ही रहता है। प्रकृतिजनित गुणों से विवशता पूर्वक कर्म कराया ही जाता है। इसलिए सर्वथा कर्म छोड़ना अशक्य है। जब सर्वथा कर्म सन्यास बन ही नहीं सकता तो ज्ञान पूर्वक कर्म करना भी आवश्यक ही समझना चाहिए। प्रकृति जनित गुण सत्व, रज और तम तीन हैं इनमें रज क्रिया रूप ही है। और तीनों परस्पर सम्मिलित ही रहते हैं। केवल एक विशुद्ध भाव से पृथक् कभी नहीं मिलता, इसलिए सत्व और तम भी रज के अनुवेद के कारण क्रिया रूप ही हो जाते हैं। त्री गुणात्मक प्रकृति का आत्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है, इसलिए आत्मा भी नित्य कर्मवान् ही रहता है, वह कर्म रहित किसी भी क्षण में नहीं हो सकता। जब हम समझते हैं कि हम चुपचाप बैठे हैं कोई काम नहीं कर रहे हैं, उस समय भी मन के संकल्प आदि कर्म बहुत से

चलते रहते हैं। जागरित और स्वप्न दशा में इस प्रकार कर्मों का ताँता लगा ही रहता है। सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर कर्म रहित रहते हैं किन्तु अविद्या रूप कारण शरीर की वृत्ति उस समय भी होती रहती है। अविद्या अज्ञान रूपा है, उसकी वृत्ति रहनें के कारण ही उठने पर स्मरण होता है कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। यह अज्ञान का ही स्मरण है। इसलिए अज्ञान की वृत्ति उस समय भी माननी पड़ती है जब सत्वादि गुणों का स्वभाव ही चलन रूप है तो जबतक प्रकृति सम्बन्ध है तबतक कर्मों का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। सत्वादि गुण यद्यपि प्रवृत्ति के रूप ही हैं। तीनों गुणों की समष्टि का नाम ही प्रकृति है फिर उन्हें प्रकृति से जनित क्यों कहा गया ? यह शंका हो सकती है। इसके समाधान कई प्रकार से किये जाते हैं। एक यह कि जबतक समष्टि रहे तब तक उसका नाम प्रकृति है, जब प्रत्येक गुण भिन्न २ हो जायँ तब भिन्नता रूप परिवर्तन होगया इसलिए उसे प्रकृति से उत्पन्न हुआ व्यवहार के लिए कह दिया जाता है। यद्यपि कहा जा चुका है कि सर्वथा भिन्न कोई एक गुण कभी नहीं रहता, तीनों परस्पर ओत-प्रोत ही रहते हैं। तथापि एक गुण की प्रधानता से उसका ही व्यवहार किया जाता है। गुणों का स्वभाव जैसे परस्पर ओत-प्रोत रहने का है उसी प्रकार यह भी स्वभाव है कि एक बढ़कर दूसरों को दबा देता है। जो बढ़ा हुआ होगा उसी नामसे उस समय व्यवहार किया जायगा। यह व्यवहार होना ही उनकी भिन्नता है जो कि प्रकृति से जनित यहाँ कही गई। दूसरा समाधान यह भी किया जाता है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न जो रागद्वेष आदि गुण हैं उनके कारण मनुष्य कुछ न कुछ करता ही रहता है। वे राग-द्वेष आदि ही इसे कर्म करने के लिए विवश करते हैं। श्री विद्या वाचस्पति जी के मतानुसार यहाँ यह भी व्याख्या हो सकती है कि अव्यय, अक्षर,क्षर इन तीन पुरुषों में अव्यय को ही मुख्य पुरुष माना है, अक्षर और क्षर को उसकी प्रकृति कहा है जैसाकि सप्तम अध्याय में स्पष्ट होगा। तब उस प्रकृति अर्थात् अक्षर और क्षर से जो गुण अर्थात् परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा प्रति क्षण ही क्रिया-शीलता रहती है। इसका तात्पर्य यह होता है कि आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान कर्ममय है, उसे ज्ञान व कर्म से कभी छुड़ाया नहीं जा सकता। क्षर और अक्षर पुरुष अपने परिणामों द्वारा प्रतिक्षण कर्म कराते रहते हैं, तीनों का मिल कर ही आत्मा नाम होता है, इसलिए आत्मा कभी कर्म-शून्य नहीं रह सकता। इस वैज्ञानिक अर्थ का स्पष्टीकरण तीनों आत्माओं के स्वरूप निरूपण में ही किया जायगा, यहाँ संकेत मात्र कर दिया है।

श्री शङ्कराचार्य और उनके मतानुयायी अन्य व्याख्याकार इन पद्यों को उसी पुरुष के लिए मानते हैं जिसे पूर्ण ज्ञान न हुआ हो। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि प्रकृति जनित गुणों के द्वारा प्रतिक्षण कर्म कराया जाना यहाँ कहा गया है। और ज्ञानी पुरुष के लक्षणों में "गुणैर्योनविचाल्यते" ऐसा पद आता है। अर्थात् ज्ञानी पुरुष प्रकृति के गुणों के द्वारा चालित नहीं होता वह

प्रकृति को आत्मा से पृथक् जान चुका है, इसलिए प्रकृति के चलन का प्रतिबिम्ब भी उस पर नहीं होता। सुतरां यह सिद्ध हो गया कि प्रकृति विवश कर कर्म कराती है, यह निरूपण अज्ञानी के लिए ही है, ज्ञानी पुरुष निर्विकल्पक समाधि में कर्म शून्य रह सकता है, इसलिए पूर्वोक्त द्विविध निष्ठा में ज्ञानी के लिए सांख्य निष्ठा अर्थात् कर्म संन्यास ही उपयुक्त है। किन्तु लोकमान्य तिलक कहते हैं कि निर्विकल्पक समाधि में चाहे कर्म शून्यता रहे किन्तु ज्ञानी पुरुष को भी सदा निर्विकल्पक समाधि तो नहीं रहती। कभी व्युत्थान अर्थात् समाधि से जागने की अवस्था भी होती ही है, उस दशा में तो आवश्यक कर्म आ ही जाते हैं। इसलिए कर्म शून्य कोई प्राणी नहीं रह सकता, यह कथन केवल अज्ञानी के लिए ही नहीं अपितु ज्ञानी अज्ञानी का साधारण ही है। इसका विवेचन आगे पञ्चम अध्याय में और अष्टम, दशम, अध्याय में भी होगा। गीता का तात्पर्य आसक्ति छुड़ाने में ही है बिना फल की आकांक्षा के आसक्ति छोड़कर कर्म तो सब ही दशा में विहित है।

कदाचित् किसी के मन में यह शङ्का हो कि कर्म नाम तो शरीर की चेष्टाओं का ही है उससे रहित तो मनुष्य कई बार रह सकता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस शंका का निराकरण करते हुए भगवान् आगे कहते हैं कि जो पुरुष हठ से अपने कर्मेन्द्रिय अर्थात् हाथ पैर आदि को रोक देता है किन्तु मन से इन्द्रियों के विषय अर्थात् रूप रसादि का स्मरण करता रहता है। वह मिथ्याचार अर्थात् केवल ढोंगी है, उसे मूढ़ ही समझना चाहिए। किसी प्रकार की सिद्धि उसे प्राप्त नहीं हो सकती, अर्थात् मन का कर्म ही मुख्य कम है, वह यदि बन्द न हुआ तो केवल कर्मेन्द्रियों के कर्मों को रोक देने से कोई लाभ नहीं।

इसके विपरीत जो पुरुष मन से ज्ञानेन्द्रियों को रोककर केवल कर्मेन्द्रियों से कर्म योग के अनुसार अर्थात् फल और आसक्ति छोड़कर कर्म करता रहता है वह उत्तम कहा जा सकता है। अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

इसलिए हे अर्जुन! तुम नियत कर्म करते रहो। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त कर्म करने की आवश्यकता का अन्तिम हेतु भी भगवान् बताते हैं कि बिना नियत कर्म किए तुम्हारे शरीर की यात्रा भी नहीं सिद्ध होगी अर्थात् नहीं चल सकेगी। और ज्ञानी को निदिध्यासन पूर्वक ज्ञान सिद्ध होने तक शरीर यात्रा चलाने की आवश्यकता है। एवं भक्त को भी भक्ति मार्ग की सिद्धि अर्थात् अपने इष्टदेव की प्रसन्नता प्राप्त करने तक शरीर यात्रा की आवश्यकता होती ही है। साधारण मनुष्य तो शरीर यात्रा का चलाना अति आवश्यक ही मानते हैं। इसलिए शरीर यात्रा का चलाना सब के लिए ही आवश्यक है और वह भी खाना, पीना, शयन करना इत्यादि कर्मों के बिना नहीं चल सकती, इसलिए कर्म करना सब को ही आवश्यक हो जाता है। सब कर्मों का परित्याग कोई भी नहीं कर सकता, संन्यास मार्गी भी शरीर के आवश्यक कर्मों को तो नहीं छोड़ते, केवल शास्त्रोक्त काम्य कर्मों का

परित्याग करते हैं। यही बात अठारहवें अध्याय में संन्यास का लक्षण करते हुए भगवान् ने कहा है कि काम्य कर्मों को छोड़ने का नाम ही संन्यास है।

यहाँ नियत शब्द का अर्थ यद्यपि उत्तरार्ध के अनुसार शरीर-यात्रा चलाने के लिए भोजन, शयन, आदि कर्म ही प्राप्त होता है। किन्तु भगवान् का मुख्य उद्देश्य तो अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना है, केवल शरीर यात्रा के नियत कर्मों को लेने से ही उपदेश का मुख्य लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। इसलिए व्याख्याकारों ने अधिकतर नियत शब्द का अर्थ अपने अधिकार सिद्ध कर्म ही किया है। अर्थात् जो जिसके लिए वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्म हैं वे सब ही नियत कर्म की सीमा में ले लिए जाते हैं। वर्ण और आश्रम के अनुसार जैसी प्रकृति जिस मनुष्य की बनाई गई है उसके अनुसार वर्णाश्रम विहित कर्म भी नियत ही मानना उचित होता है। वस्तुतः यहाँ नियत शब्द से उन्हीं कर्मों को लेना चाहिए जिनके लिए बुद्धि की स्वतः प्रेरणा होती है। ऐसे ही कर्मों के लिए सहज कर्म शब्द भी गीता में प्रयुक्त हुआ है। आगे वर्ण-धर्म के व्याख्यान में "चातुर्वर्ण्यंमयासृष्टम्" इस पद्य की व्याख्या में हम स्पष्ट करेंगे कि—वर्णाश्रमोचित विहित कर्मों की बुद्धि की स्वयं प्रवृत्ति होती है। वे किसी फलाशा से मन में प्रेरणा होकर नहीं किये जाते, फलाशा से एक प्रकार की विशेष इच्छा पूर्वक जिन कर्मों में प्रवृत्ति होती है वे कर्म नियत नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ समझिए कि भोजन करने में बुद्धि की प्रेरणा से सब प्राणी अवश्य प्रवृत्त होते हैं। इसलिए भोजन करना नियत कर्म कहा जा सकता है। किन्तु उस भोजन में भिन्न-भिन्न प्रकार के सुस्वादु पदार्थ आने चाहिए यह प्रेरणा विशेष इच्छा वश मन से होती है। इस लिए भिन्न प्रकार के खट्टे-मीठे आदि पदार्थों का सेवन नियत कर्म नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार कि मन की प्रेरणा से जो कर्म होते हैं वे अवश्य ही बन्धन करने वाले होंगे। अर्थात् उनसे मन की वासना बढ़ती जायगी और मन की वासना बढ़कर उसके अनुसार ही आत्मा का चलना ही बन्धन कहलाता है। इसी प्रकार विजय आदि फल की आशा से वद्ध होकर यदि युद्ध आदि स्ववर्णो-चित कर्मों में प्रवृत्ति हो तो वे कर्म भी नियत कर्म न होंगे और बन्धक कोटि में आजायँगे। किन्तु द्वितीयाध्याय में "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ" इत्यादि श्लोक की व्याख्या में जैसा कहा गया है तदनुसार केवल अपना धर्म समझकर युद्ध आदि स्ववर्णोचित कर्म करना बन्धक नहीं है। क्योंकि उसमें मन की उत्थापित फलाशा नहीं रहती। बुद्धि की प्रधानता से ही वे कर्म होते हैं। इसलिए वे बन्धक नहीं। और ऐसे कर्म ही अकर्म अर्थात् संन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ माने गए हैं।

यहाँ कर्मविधान अज्ञानियों के लिए मानने वाले व्याख्याकारों की यह भी व्याख्या है कि "कुरू" इस मध्यम पुरुष से ही तुम करो, ऐसा अर्थ सिद्ध था फिर यहाँ जो "त्वं" पद कहा गया है, वह लाक्षणिक है। लक्षणा से उसका अर्थ होता है पूर्ण ज्ञान रहित, अतएव कर्म के ही अधिकारी "तुम" हो। ऐसे ही स्थल में

कर्म की अवश्य कर्तव्यता व्यञ्जित होकर अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप ध्वनि अलङ्कार शास्त्रों में मानी गई है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्जुन को ही कर्माधिकारी मानकर नियत कर्म करने का भगवान् का उपदेश है। न कि पूर्ण ज्ञानी संन्यास के अधिकारियों के लिए भी यह लागू हो सकता है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में "ते" पद आया है उसका भी यही आशय है कि तुम्हारी लोक यात्रा बिना कर्म के नहीं चल सकती। और यह भी आशय इससे व्याख्याकारों ने निकाला है कि जो पूर्ण ज्ञानी नहीं किन्तु जिज्ञासु है, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखता है उसे शास्त्रोक्त कर्म करना अनिवार्य है। और शास्त्र में पञ्च महायज्ञ से बचे हुए अन्न का भोजन ही धर्मार्थ माना गया है। इसलिए भोजनादि लोकयात्रा चलाने के लिए पञ्च महायज्ञ आदि शास्त्रोक्त कर्म करना भी नियत व अनिवार्य हो जाता है। इसप्रकार इस प्रकरण को श्री शंकराचार्य के अनुयायी जिज्ञासु के लिए ही मानते हैं किन्तु तिलक के मतानुसार यह सब क्लिष्ट कल्पना व अपने मत का आग्रह मात्र है। उनके मतानुसार यह उपदेश सभी के लिए ही है। और सांख्य मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता ही यहाँ से प्रतिपादित की गई है। जिसका कि पंचमाध्याय के आरम्भ में प्रश्नोत्तर द्वारा पुनः स्पष्टीकरण होगा।

"सैतालीसवां-पुष्प"

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

व्याख्या

पूर्व पद्यों से सात कारणों द्वारा कर्म की अवश्य कर्तव्यता दिखाई गई, किन्तु इस शङ्का का स्पष्ट समाधान नहीं हुआ कि कर्म करने से कर्म जनित संस्कार के द्वारा आत्मा का बन्धन तो होता ही जायगा। फिर मोक्षप्राप्ति कर्मयोग में किस प्रकार होगी। यद्यपि द्वितीयाध्याय में कहा जा चुका है कि कर्मबन्धन करनेवाले नहीं होते उनकी फलाशा ही बन्धक होती है। तथापि उसी का स्पष्टीकरण यहाँ दूसरी युक्ति से किया जाता है कि—यज्ञार्थ कर्म से अन्य कर्म ही बन्धन करनेवाले होते हैं, उनसे ही लोकबन्धन में आया करते हैं। अर्थात् यज्ञार्थ जो कर्म किये जाँय वे बन्धक नहीं होते, इसलिए हे कुन्ती पुत्र! मुक्त संग होकर अर्थात् कर्म की आसक्ति छोड़कर यज्ञ के लिए तुम सदा कर्म करते रहो। इससे बन्धन होने की शंका मत करो।

यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ बहुत व्याख्याकारों ने "यज्ञो हि विष्णुः" इस श्रुति के अनुसार विष्णु अर्थात् परमात्मा किया है। अर्थात् ईश्वर के लिए जो कर्म किये जाँय वे बन्धक नहीं होते। मनुष्य अपने लिए कर्म फल प्राप्ति की आशा छोड़कर जो कर्म करे उसे ईश्वरार्पण करदे तब बन्धन नहीं होता। किन्तु इस व्याख्यान से आगे के पद्यों में जो यज्ञ का प्रकरण आया है उसकी संगति नहीं लगती। यह पद्य उस यज्ञ प्रकरण से पृथक् ही मानना पड़ेगा। इसलिए प्रकरण संगति के अनुसार यज्ञ का यहाँ प्रसिद्ध यज्ञ ही अर्थ मानना चाहिए। "यज्ञो वै विष्णुः" इस श्रुति से ईश्वर अर्थ की कल्पना ठीक नहीं बैठती।

मनुष्य के द्वारा संपादित होने वाले अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास आदि यज्ञ भी यहाँ यज्ञ शब्द के वाच्य मानने से उचित न होगा। क्योंकि अर्जुन इस समय कोई अग्निहोत्रादि करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। जिसे "यज्ञार्थ कर्म करो" कहकर उस कर्म में प्रवृत्त किया जाय। तब यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग ही यहाँ मानना उचित है। श्रुतियों में जो यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ माना है कि यज्ञ से ही संसार उत्पन्न होता है और यज्ञ से ही उसकी स्थिति रहती है वही जगत्चक्र का परिचालन रूप यज्ञ यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ है। जो कि आगे के पद्यों में अगले पुष्प में स्पष्ट हो जायगा। लोकमान्य तिलक ने यद्यपि यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थ पर दृष्टि पात किया है किन्तु श्रुतियों का अधिक परिशीलन न होने से वे भी उसका स्पष्टीकरण नहीं कर सके। किन्तु चतुर्थाध्याय में पद्यों के अनुसार धर्मशास्त्र के बताए भिन्न २ धर्मरूप यज्ञों को ही यज्ञ शब्द का अर्थ मानकर सन्तुष्ट हो गए। वस्तुतः यहाँ श्री विद्या वाचस्पति जी के मतानुसार ही इन पद्यों की व्याख्या उचित होगी। वे श्रुतियों के अनुसार यज्ञ को ही जगत् का उत्पादक और पालक मानते हैं। जैसा कि यहाँ भी अग्रिम पद्यों से स्पष्ट हो जायगा। इसलिए इस पद्य का भी अभिप्राय यही कहना उचित होगा कि जगत् चक्र का परिचालन करने के लिए फलाशा और आसक्ति छोड़कर जो कर्म किये जाँय वे बन्धक नहीं होते। ऐसे ही कर्म तुम करो। यह अर्जुन के प्रति उपदेश है। इस युद्ध रूप कर्म से जगत् चक्र परिचालन में सहायता किस प्रकार मिलेगी। यह हम प्रथमाध्याय में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अर्जुन यदि युद्ध से विरत हो जायगा तो पाण्डव पक्ष की पराजय निश्चित है और धर्म की पराजय व अधार्मिक पक्ष का विजय देखकर लोक में धर्मनिष्ठा का अभाव हो जायगा। लोग धर्माचरण व्यर्थ समझेंगे। अधर्म की ओर ही जनता की प्रवृत्ति बढ़ेगी। इससे जगच्चक्र परिचालन में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। इसी उद्देश्य से धर्मरक्षार्थ युद्ध करना चाहिए। यही भगवान् के उपदेश का यहाँ तात्पर्य है। लोकमान्य तिलक ने इस यज्ञार्थ पद की मीमांसा से भी कुछ सम्बन्ध जोड़ा है। पूर्व मीमांसा में कर्म दो प्रकार के माने जाते हैं। प्रथम तो पुरुषार्थ और दूसरा यज्ञार्थ। जिस यज्ञ विधि का जहाँ से प्रारम्भ हो वह आदि की विधि पुरुषार्थ होती है। अर्थात् उसके अनुष्ठान से यजमान पुरुष में अदृष्ट रूप फल उत्पन्न होता है। जिससे उसे स्वर्गादि फल मिलते हैं। किन्तु आगे उस प्रधान विधि की पूर्णता के लिए जो अवान्तर विधि होती हैं वे यज्ञार्थ विधि कहलाती हैं। उनका फल केवल यज्ञ की पूर्णता ही है। पुरुष में उनके द्वारा कोई अदृष्ट रूप फल उत्पन्न नहीं होता। जैसा कि "दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्" यह कर्म के आरम्भ में जो प्रधान विधि आयी वह पुरुषार्थ है। उसके अनुष्ठान से पुरुष में एक अदृष्ट विशेष उत्पन्न होगा जो उसे स्वर्ग ले जायगा। किन्तु इसके आगे इस प्रकरण में जो प्रयाज, अनुयाज आदि की अवान्तर विधियाँ हैं उनका कोई

स्वतन्त्र फल पुरुष में उत्पन्न नहीं होता। उनके अनुष्ठान का यही फल है कि उनसे दर्श-पूर्णमास रूप यज्ञ पूरा हो जाता है। यदि उनका अनुष्ठान न किया जाय तो यज्ञ पूरा नहीं होगा, पुरुष को उससे कोई बुरा अदृष्ट प्राप्त नहीं होगा। इस मीमांसा के विचार से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यज्ञार्थ कर्मबन्धन अर्थात् अच्छे या बुरे अदृष्ट के उत्पादक नहीं हैं। यही संकेत इस पद्य में भगवान् ने किया कि यज्ञार्थ कर्मों से अतिरिक्त अर्थात् पुरुषार्थ कर्म बन्धक होते हैं। तुम सब कर्मों को यज्ञार्थ समझ कर ही करते जावोगे, इस प्रकार यज्ञार्थ कर्म करने से तुम्हें शास्त्रानुसार कोई बन्धन नहीं होगा।

अब व्यापक अर्थ में ही यज्ञ शब्द का प्रयोग मानकर आगे यज्ञ का ही स्वरूप बताया जाता है कि प्रजापति ने यज्ञ के साथ ही प्रजाओं को उत्पन्न किया। अथवा यूँ कहो, उन्होंने प्रथम यज्ञ को उत्पन्न किया। और उससे ही प्रजाओं को उत्पन्न किया। साथ ही प्रजाओं को यह उपदेश भी दिया कि इस यज्ञ के द्वारा ही तुम नये-नये पदार्थों की उत्पत्ति करते हुए प्रजा को बढ़ाते जाओ। यह यज्ञ ही तुम्हारी सभी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करने वाला होगा।

हम प्राणी वर्ग जो नये-नये पदार्थ उत्पन्न करते हैं वे यज्ञ के द्वारा ही उत्पन्न करते हैं। अग्नि में सोम की आहुति होना ही यज्ञ कहलाता है। इसी के द्वारा सब पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं। पहिले अन्न आदि को ही लीजिए, पृथ्वी में एक प्रकार की अग्नि व्याप्त है, उसके ऊपर थोड़ा पृथ्वी का स्तर आया रहता है। भीतर अग्नि ही व्याप्त रहती है। कृषि करने वाले पहिले उस ऊपर के स्तर को अपने हलकर्षण के द्वारा हटाकर उस अग्नि को प्रकट कर देते हैं, और उस पर बीज और जल की आहुति दे देते हैं। बीज में भी सोम व्याप्त है और जल तो सोम की ही स्थूल अवस्था है। जैसा कि श्रुति में सोम की स्तुति करते हुए कहा गया है कि—

"त्वमिमा ओषधीः सोम सर्वाः।
त्वमपो अजनयस्त्वंगाः ॥
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं—
त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ॥"

इसका अर्थ है कि हे सोम! तुमने इन सब औषधियों को उत्पन्न किया है। जिनका पौधा-फल पकाकर स्वयं नष्ट हो जाता है ऐसे चावल, गेहूँ, जौ आदि औषधि कहलाते हैं। "ओषधयः फलपाकान्तः"। और जिनका वृक्ष तो स्थायी रहे किन्तु फल जल्दी नष्ट हो जांय उन्हें वनस्पति कहते हैं। औषधियों में सोम की मात्रा अधिक होती है। आगे कहा है कि हे सोम! तुमने ही जल को उत्पन्न किया है। और तुमने गौओं को भी उत्पन्न किया है। तुमने अन्तरिक्ष को बहुत विस्तृत कर रक्खा है। और तुम ही ज्योति के द्वारा अन्धकार को दूर करते हो। सब अन्तरिक्ष में सोम ही व्याप्त है। सूर्य की किरणों के संघर्ष

से वह सोम जल उठता है, इसीसे यह प्रकाश हम सब लोगों को मिलता है। तेल आदि में भी जो सोम की मात्रा व्याप्त है वही अग्नि के संयोग से जलकर हमें दीप आदि का प्रकाश देती है। अस्तु! इससे औषधि रूप बीज में, और जल में सोम का व्याप्त रहना सिद्ध है। उसी सोम की पार्थिव अग्नि पर आहुति होकर अंकुर पैदा होते हैं। जो आगे सूर्य के आकर्षण रूप यज्ञ से बढ़ते रहते हैं। और अन्त में हमें अन्न देते हैं। अंकुर में जो सोम की मात्रा है उसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा ऊपर को खींचता है। इससे पौधा बढ़ता जाता है, सोम ही सूर्य किरणस्थित अग्नि का अन्न है। वे किरणें उस सोम को अपने में लीन करती जाती हैं और ऊपर का आवरण छोड़ देती हैं। इससे वह बढ़ता जाता है। इस प्रकार अन्न आदि की उत्पत्ति यज्ञ से ही होती है, और उन अन्नों से ही प्राणियों की सब इष्ट कामनाएँ पूर्ण होती हैं। अर्थात् इन्हें भोजन-वस्त्रादि मिलते हैं। जो कि इनके परम इष्ट हैं। इसी प्रकार सब प्राणी सन्तान उत्पन्न कर जो प्रजा की वृद्धि करते रहते हैं वह भी यज्ञ ही है। स्त्री के गर्भाशय में जो अग्नि है उसमें पुरुष के रेत में स्थित सोम की आहुति होती है। और उसीसे गर्भ रूप में बालक उत्पन्न होता है। आगे गर्भाशय में उसका बढ़ना आदि भी यज्ञ क्रिया से ही सम्पन्न होता है। यह अन्न प्राण आदि का दृष्टान्त हमने संक्षेप से बताया। जड़ पदार्थ भी जो एक दूसरे के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं, वह सब भी यज्ञ क्रिया का ही फल है। मिट्टी में स्थित सोम की मात्रा को अग्नि खाता रहता है, उससे मिट्टी में कठोरता आकर धीरे-धीरे वह पत्थर के रूप में परिणत हो जाती है। और आगे भी बराबर यज्ञ क्रिया चलते रहने से लोहा धातु आदि की उत्पत्ति होती रहती है। सब संसार अग्नि और सोम का ही रूप है, इन्हीं दोनों के संयोग से संसार के सब पदार्थ बनते रहते हैं। यह यज्ञ का एक सामान्य रूप हमने बताया। वस्तुतः यज्ञ शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। अग्नि और सोम आदि की उत्पत्ति भी यज्ञ से ही हुई है। वह सब वैदिक परिभाषा का विषय पाठकों को समझने में कठिन होगा। इसलिए उसका अधिक विस्तार यहाँ नहीं किया जाता। इसी आशय से कहा गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं को यज्ञ से ही वृद्धि करने का उपदेश दिया, और प्रजाओं को जो कुछ इच्छा हो उसकी पूर्ति यज्ञ ही से करने का भी मार्ग उन्हें बताया। प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार तो इस पद्य का यही तात्पर्य है कि प्रजापति ने मनुष्य प्रजा को यह उपदेश दिया कि यज्ञ करने से देवताओं का प्रसाद प्राप्त कर तुम्हारे सन्तान आदि की वृद्धि होगी, और तुम्हारी इष्ट कामनाएँ भी यज्ञ से पूर्ण होंगी। यह मनुष्य कृत यज्ञ का ही वर्णन इस पद्य में माने जाने पर पद्य का अर्थ होगा।

इस प्रकार नये-नये पदार्थ उत्पन्न कर प्रजा को बढ़ाते रहना—यज्ञ का एक प्रयोजन बताया। दूसरा प्रयोजन आगे के पद्य में कहते हैं कि प्रजाओं को प्रजापति ने यह भी उपदेश दिया कि इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं का आदर करते रहो, वा उन्हें सन्तुष्ट करते रहो। और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहेंगे।

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए तुम सब प्रजाओं को परम कल्याण प्राप्त होगा।

यज्ञ शब्द का मनुष्य कृत अग्निहोत्रादि ही अर्थ माना जाय तो इसका आशय स्पष्ट ही है कि वे अग्नि आदि कर्म अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही किये जाते हैं। और उन अग्निहोत्रादि से प्रसन्न होकर अग्नि, इन्द्र आदि देवता मनुष्यों को वाञ्छित फल देते हैं। किन्तु यज्ञ शब्द का पूर्वोक्त व्यापक अर्थ मानने पर भी इसका तात्पर्य यह होगा कि ब्रह्मा ने दो प्रकार का जगत् बनाया है। एक सूक्ष्म जगत् और दूसरा स्थूल जगत्। जैसे स्थूल जगत् के प्राणी हम लोग हैं इसी प्रकार देवता, पितृ, गन्धर्व आदि सूक्ष्म जगत् के प्राणी हैं। दोनों ही जगत् यज्ञ के द्वारा ही चलते हैं। हम स्थूल जगत् के प्राणी जो यज्ञ करते हैं उसका फल सूक्ष्म जगत् के प्राणी देवता आदि का प्रसाद होता है। और उनके प्रसाद का फल हमें मिलता है। जैसा कि पूर्व पद्य के व्याख्यान में अग्नि में सोम की आहुति—यह यज्ञ शब्द का अर्थ हमने किया है। सूक्ष्म जगत् के देवता आदि प्राणी सब अग्नि प्रधान हैं, अग्नि में डाला हुआ सोम, अग्नि रूप में ही परिणत होकर उन देवताओं की तृप्ति करता है। उन देवताओं की तृप्ति से हमें अन्न आदि फल प्राप्त होते हैं। जैसा कि पूर्व पद्य के व्याख्यान में लिखा जा चुका है कि सूर्य किरणें अङ्कुर आदि में से सोम का भाग लेकर आग्नेय देवताओं को तुष्ट करती हैं और उन अग्नि आदि देवताओं के कारण ही अन्न परिपक होकर हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार सूक्ष्म जगत् और स्थूल जगत् का परस्पर सम्बन्ध यज्ञ के द्वारा ही चल रहा है। और इसी से सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है। इस स्थूल और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध का विवरण आगे के चक्र रूप निरूपण में "अन्नाद् भवन्ति भूतानि" इत्यादि श्लोकों में और स्पष्ट किया जायगा।

आर्य संस्कृति में देव तीन प्रकार के माने जाते हैं। एक प्राण रूप देव हैं, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के और ऋषियों के शास्त्रार्थ में वर्णन किया गया है कि प्राण रूप एक देवता ही, रयि, और प्राण मिलाकर डेढ हो जाता है, इन्हीं के तीन भेद अग्नि, वायु और आदित्य नाम से होते हैं! और फिर उन्हीं के विस्तार में तैंतीस देव हो जाते हैं। दूसरे भिन्न २ तारा मण्डल रूप लोकों में रहने वाले प्राणी विशेष देव कहे जाते हैं। जैसा कि सांख्य दर्शन में चौदह प्रकार के प्राणी माने गए हैं। उनमें मनुष्य से ऊपर की श्रेणी के आठ देवताओं के विभाग, मध्य में मनुष्य और पशु, मृग, सरीसृप, पक्षी, और स्थावर ये पाँच तिर्यग् योनि यों चौदह प्रकार के प्राणियों का विवरण किया गया है। और तीसरे प्रकार के देव, पितृ, गन्धर्व आदि इसी भूलोक के हिमालय से उत्तर देशों में निवास करने वाले प्राणी पूर्व काल में थे। उन्हें भी देव श्रेणी में गिना जाता था। जिनका असुरों के साथ युद्ध होने पर उनकी सहायता के लिए दशरथ आदि का जाना, और अर्जुन का उत्तर दिशा में जाकर इन्द्र के पास शस्त्र विद्या पढ़ना, महाभारत पुराण आदि में वर्णित है। यज्ञ

विद्या का सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से प्राणरूप देवताओं के साथ ही हमने पूर्व में बताया है, किन्तु यज्ञ से प्राणों के आप्यायित होने पर उन प्राणों की प्रधानता जिनमें है वे लोकान्तरस्थित प्राणी देवता भी तृप्त होते हैं। और विशेष प्रकार के महान् यज्ञों में भूमण्डल स्थित उत्तर दिशा के मनुष्य विशेष रूप देव भी आमन्त्रित कर बुलाए जाते थे। ऐसा भी पुराणों में वर्णन मिलता है। इसलिए कहा जा सकता है कि तीनों ही प्रकार के देव यज्ञ से सम्मानित होते थे। और वे तीनों ही अपनी शक्ति के अनुसार मनुष्यों को भी उनके इष्ट पदार्थ देकर संतुष्ट करते थे। यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थ में तो उस यज्ञ से प्राण और प्राणी सबका आप्यायित व प्रसन्न होना सिद्ध ही है।

इसी का विवरण अग्रिम पद्य के पूर्वार्ध में किया जाता है कि यज्ञ से भावित अर्थात् सम्मानित, वा परितुष्ट किये गए देव तुम्हें अर्थात् स्थूल जगत् की प्रजा को अपनी अपनी इच्छानुसार अन्न-वस्त्रादि भोग के पदार्थ देंगे। उत्तरार्ध में मनुष्य प्राणियों को भी इस जगद्व्यापी यज्ञ में सम्मिलित होने का उपदेश दिया जाता है कि देवताओं के दिये हुए अन्न आदि पदार्थों को उन्हें अर्पित न कर जो स्वयं ही उनका भोग कर लेते हैं उन्हें एक प्रकार से चोर कहना चाहिए।

पुराने समय में राजा लोग जिन अपने आश्रित भृत्य वा विद्वान् आदि को सहायतार्थ कोई भूमि का खण्ड दे देते थे, उनका यह कर्तव्य होता था कि उस अपने भूमि खण्ड से प्राप्त द्रव्य में से कुछ भाग भेंट के रूप में राजा को अर्पित करें। आजकल की भाषा में इसे नजर करना कहा जाता था। ऐसी नजर न करने वाले हीन दृष्टि से देखे जाते थे। और राजा के भी कोपभाजन बनते थे। इसी का संकेत इस पद्य में किया गया है कि देवताओं के प्रसाद से तुम्हें जो अन्नादि प्राप्त हुआ है उसका कुछ अंश देवताओं को अर्पित कर फिर अपने भोग में उसे लो। ऐसा न करोगे तो तुम देवताओं की दृष्टि में चोर समझे जाओगे। इससे मनुष्य प्रजा को यह उपदेश है कि अपने प्राप्त अन्न, द्रव्य आदि में से यज्ञ द्वारा कुछ अंश देवताओं को अवश्य अर्पित कर दिया करें। पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक माना गया है। होम करना देव यज्ञ है, तर्पण आदि पितृयज्ञ, अपने अधीत विषय का कुछ पारायण नित्य करना वा और नये विषय का अध्ययन ऋषि यज्ञ, पकाये हुए अन्न में से कुछ भाग कीड़े-मकोड़े आदि के लिए भूमि में डाल देना भूत यज्ञ और जो कोई भोजन के समय अपने घर आ गया उसे सत्कार पूर्वक भोजन करा देना मनुष्य यज्ञ कहा जाता है। ये पाँच यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए शास्त्र में आवश्यक माने गए हैं। इनके द्वारा देवता, पितर आदि को सन्तुष्ट करके ही भोजन करने का अधिकार गृहस्थ को मिलता है। शूद्र वर्ण जो वेदाध्ययन नहीं कर पाते वे भी नमस्कार रूपी मंत्र से ही पाँच महायज्ञ अवश्य कर लिया करें। ऐसा धर्म शास्त्रों में विधान मिलता है। नित्य करना आवश्यक होने के कारण इन्हें महायज्ञ कहा जाता है। जिन्होंने श्रौत वा स्मार्त अग्नि का आधान किया

है उनके लिए तो विशेष प्रकार के यज्ञ शास्त्रों में विधान किए गए हैं। उन सब की अवश्य कर्तव्यता इस पद्य में बताई गई है।

इसी का विवरण अग्रिम पद्य में भी है वा यूँ कहो कि अग्रिम पद्य के द्वारा इस बात पर और जोर दिया जाता है कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को जो खाते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं और जो लोग अपने लिए ही भोजन बनाते हैं अर्थात् भोजन बनाकर स्वयं ही खा लेते हैं, उस अन्न में से पंच महायज्ञ द्वारा देवता-पितर आदि को अर्पण नहीं करते वे उस अन्न के रूप में पाप का भोजन करते हैं। अर्थात् उस अन्न से उनका पाप बढ़ता जाता है।

मनुष्य को यह उपदेश है कि वह पञ्च महायज्ञ द्वारा देवता-पितर आदि की पूजा के लिए ही रसोई बनाया करे। देवता-पितर आदि को अर्पण कर उससे जो अन्न बचा रहे उसका अपने आप भी भोजन कर लिया करे। केवल अपने ही उद्देश्य से अर्थात् 'मैं खाऊँगा' इसी विचार से जो भोजन बनाते हैं उनको उस भोजन के द्वारा पाप होता है। यह सभी धर्मशास्त्रों में वर्णित है। अपने लिए ही मानकर भोजन बनाने से उस अन्न आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध दृढ़ होता है और अहंकार की भी वृद्धि होती है। यही सब पाप के मूल हैं। यद्यपि स्वयं खाने से अन्न का सम्बन्ध तो होगा ही, किन्तु मन का भाव सम्बन्ध को दृढ़ करने वाला होता है। मन में यदि यह भाव रहेगा कि स्वयं भोक्ता नहीं हूँ देवता-पितर आदि के लिए यह अन्न पकाया जाता है, तो उस भाव के द्वारा अन्न के साथ आत्म का सम्बन्ध भी शिथिल रहेगा और अहंकार की वृद्धि भी न होगी। इससे उस पाप से ऐसा भाव रखने वाला मनुष्य बच जायगा।

इस समय भारत वर्ष में पंच महायज्ञ की प्रथा प्रायः लुप्त सी हो गई है तब भी शिष्ट लोगों में यह प्रथा आज कल भी प्रचलित है कि उपासना के लिए अपने अपने इष्ट देव विष्णु, शिव व भगवती आदि की मूर्ति अपने घर में रखते हैं। और उनको भोग लगाने के उद्देश्य से ही रसोई बनाई जाती है। शिष्ट लोग आज भी प्रायः ऐसा व्यवहार नहीं करते कि हमारे लिए रसोई बनती है किन्तु भगवान् के भोग के लिए रसोई बनाकर उनको नैवेद्य देकर ही प्रसाद रूप से घर के लोग उसका भोजन करते हैं। इससे वह अहंभाव का दोष आजकल भी नहीं रहता। शास्त्र की प्रथा तो यही है कि भगवान् को भोग लगाकर भी पंच महायज्ञानुष्ठान करना ही चाहिए। और उस यज्ञ से जो शेष बचे उसी का घर के लोगों को उपयोग करना चाहिए। घर के लोगों के उपयोग में भी धर्म शास्त्रों में यह उपदेश है कि बालक, अपनी विवाहित पुत्रियाँ, जो अपने घर आई हों वे सुवासिनी, वृद्ध, गर्भवती स्त्री और रोगी व जो अपने ही घर भोजन पाते हों ऐसे भृत्यों तक को भी भोजन कराकर घर के स्वामी स्त्री, पुरुष, सब के अनन्तर भोजन करें। यह भी यज्ञ से शेष का भोजन कहा जायगा, और इससे गृहस्थ पाप भागी न होगा।

अड़तालीसवां-पुष्प

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार प्रसंगागत मनुष्यों को यज्ञ की आवश्यकता का उपदेश देकर आगे उसी जगत् में व्यापक रूप यज्ञ की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए चक्र रूप से भगवान् यज्ञ का निरूपण करते हैं—

इन पद्यों के अर्थ में व्याख्याकारों के अनेक मतभेद हैं। उन सब का ही संक्षेप में विवरण यहाँ किया जायगा—

सबसे पुराने भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी अन्य टीकाकार इन पद्यों का यह अर्थ करते हैं कि सब भूत अर्थात् सब प्राणी अन्न से पैदा होते हैं! अन्न से रस, रुधिर, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा आदि क्रम से सातवें स्थान में शुक्र पैदा होता है। और उसी शुक्र से प्राणियों के सन्तान उत्पन्न होते हैं। इसलिए भूत अर्थात् प्राणियों का अन्न से उत्पन्न होना आयुर्वेद से सिद्ध है। वह अन्न पर्जन्य अर्थात् मेघ से उत्पन्न होता है। मेघ की वृष्टि से ही सब अन्नादि उत्पन्न होते हैं। यह सब के लिए प्रत्यक्ष सिद्ध है। वह पर्जन्य अर्थात् मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है। यह धर्मशास्त्र आदि के प्रमाणों से सिद्ध है। मनुस्मृति में यही लिखा है कि यज्ञ में जो आहुति दी जाती है उससे ही तृप्त होकर सूर्य वृष्टि करते हैं। इससे मेघ का यज्ञ से उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। वह यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। यद्यपि यज्ञ भी एक कर्म है उसका कर्म से उत्पन्न होना कैसे बनेगा? यह शंका हो सकती है। इसके समाधान के लिए यज्ञ शब्द का अर्थ यज्ञ से आत्मा में उत्पन्न होने वाला अतिशय लिया जाना चाहिए। जिसे पूर्व मीमाँसा में अपूर्व शब्द से कहा गया है। और कर्म शब्द से यज्ञ रूप क्रिया लेनी चाहिए। इससे अर्थ की संगति हो जायगी कि यज्ञ रूप कर्म से यजमान के आत्मा में एक प्रकार का अतिशय वा अपूर्व उत्पन्न हो जाता है। अथवा यज्ञ शब्द से दर्शपौर्णमास आदि नामों से प्रसिद्ध एक कर्म समुदाय लिया जाय। उसका उद्भव अर्थात् उत्पत्ति ऋत्विक् यजमान आदि के पृथक्-पृथक् कर्मों से होती है। वे पृथक्-पृथक् कर्म मिलकर यज्ञ को

पूर्ण करते हैं, और वह पूर्ण यज्ञ यजमान के आत्मा में अतिशय उत्पन्न करता है। इसलिए ऋत्विग् आदि के पृथक्-पृथक् कर्मों से यज्ञरूप समष्टि कर्म उत्पन्न हुआ यह कहने में कोई दोष नहीं रहता। वे सब ऋत्विग् आदि के कर्म ब्रह्म अर्थात् वेद से उद्‌भूत् होते हैं, अर्थात् जाने जाते हैं। यज्ञ में जो ऋत्विग् आदि के कर्म हैं उनका ज्ञान वेद के अतिरिक्त और किसी से नहीं हो सकता। अतः उन कर्तव्यों को वेद से उत्पन्न कहना सुसंगत हो जाता है। वह वेद अक्षर पुरुष अर्थात् परमात्मा से प्रादुर्भूत है! जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है कि परमात्मा से ही निश्वास-प्रश्वास आदि के रूप में वेद प्रकट होते हैं। इस प्रकार सर्वगत अर्थात् सब को ज्ञान देने वाला नित्य अर्थात् कभी विनष्ट न होने वाला—प्रलय काल में भी बीज रूप से रहने वाला वेद यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। अर्थात् वेद प्रधानरूप से यज्ञ की ही शिक्षा देता है! इस प्रकार का यह कार्य कारण का चक्र परमात्मा में ही प्रवृत्त किया है इसका जो अनुवर्तन नहीं करता, अर्थात् स्वयं भी यज्ञ कर इस जगत् चक्र के चलने में सहायता नहीं देता वह पाप रूप आयु को व्यतीत कर रहा है। और कहना चाहिए कि वह केवल अपनी इन्द्रियों के विषयों में ही आसक्त है।

धर्म कर्म की उपेक्षा कर वह केवल इन्द्रियाराम अर्थात् इन्द्रियों को तृप्त करने में ही सुख मानने वाला बना हुआ है। हे पार्थ! उसका जीवन ही मोघ अर्थात् झूठा-व्यर्थ-प्राय है। जिस प्रकार झूठे पदार्थ से जगत् को कोई लाभ नहीं, इसी प्रकार उसके जीवन से भी जगत् का कोई लाभ नहीं है। इसलिए उसके जीवन को भी झूठा ही कहना उचित है।

श्री शाङ्कर सम्प्रदाय के अनुयायी श्री मधुसूदन जी व नीलकण्ठ आदि ने चक्र का निरूपण इस प्रकार किया है कि द्विजादि मनुष्य प्रजा पहले वेद पढ़ती है, फिर वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान करती है। इससे देवताओं की तृप्ति होती है। उससे वृष्टि होती है, वृष्टि से फिर अन्न और अन्न से प्राणी, इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता (घूमता) रहता है। इसका अनुवर्तन अर्थात् इसमें सहयोग देने के लिए अधिकारी पुरुषों को यज्ञ निरन्तर करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्म की आवश्यकता यहाँ भी प्रदर्शित की गई।

श्री रामानुजाचार्य और उनके अनुयायी अन्य व्याख्याताओं के मत में इन पद्यों की व्याख्या इस प्रकार है—अन्न से भूत अर्थात् प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न वृष्टि से होता है, और वृष्टि यज्ञ से होती है। यह अंश तो समान ही है। आगे यज्ञ कर्म से होता है। इस वाक्य में कर्म शब्द से द्रव्योपार्जन आदि कर्म लेने चाहिए। क्योंकि बिना द्रव्य के यज्ञ नहीं बन सकता। वह सब कर्म ब्रह्म से उत्पन्न है। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ वे प्रकृति करते हैं।

भगवद्‌गीता में ही आगे चौदहवें अध्याय में "ममयोनिर्महद्‌ब्रह्म" इस श्लोक में प्रकृति के लिए ही ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। और "तदेव शुक्रं

तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते" इत्यादि श्रुतियों में भी अमृत शब्द से पुरुष और ब्रह्म शब्द से प्रकृति ली गई है। इसलिए यहाँ भी ब्रह्म शब्द प्रकृति का ही बोधक मानने से अर्थ संङ्गति ठीक बैठती है! इसलिए ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उस प्रकृति का भी परिणाम रूप यह शरीर ही यहाँ ब्रह्म शब्द से लिया जाता है। क्योंकि कर्म शरीर से उत्पन्न है। यह अर्थ सुसंगत हो जाता है! अथवा "श्री तिलक" के मतानुसार प्रकृति से ही कर्म होते हैं, प्रकृति के गुण रज का परिणाम ही कर्म है। इसलिए कर्म को प्रकृति से उत्पन्न कहना भी सुसङ्गत हो सकता है। गीता में अन्यत्र भी कहा है कि "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः"। अर्थात् प्रकृति के गुणों से ही समस्त कार्य (कर्म) होते हैं। पुरुष तो विमूढ़ भाव से अपने को कर्त्ता मान लेता है, इत्यादि। वह ब्रह्म अर्थात् प्रकृति जन्य शरीर अक्षर से उद्भूत है। यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ इस व्याख्या में जीवात्मा किया जाता है। भगवद्गीता में "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" ऐसा कहा है। समुद्भव का अर्थ यहाँ अधिष्ठान करना चाहिए। इससे अर्थ होगा कि जीवात्मा से अधिष्ठित शरीर के द्वारा कर्म होते हैं।

वह सब प्राणियों में व्याप्त प्रवृत्ति यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञ-मूलक है। यज्ञ ही इसका मूल है, वा यज्ञ रूप कर्म का यह मूल है। दोनों ही प्रकार से कहा जा सकता है। इस प्रकार यज्ञ की अवश्य कर्तव्यता सिद्ध की गई। और वह जीवात्माधिष्ठित कर्म का साधनभूत शरीर अन्न से ही पैदा होता है। फिर अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से इत्यादि चक्र ठीक बन जाता है।

श्री वल्लभाचार्य के नाम से जो उनके किसी अनुयायी द्वारा श्री वल्लभाचार्य की टीका मुद्रित है उसमें ब्रह्म का अर्थ प्रजापति भी किया गया है, क्योंकि प्रजापति को भी ब्रह्म शब्द से श्रुतियों में कई जगह कहा जाता है। इससे अर्थ होगा कि कर्म प्रजापति से उत्पन्न होते हैं। प्रजापति ही अपनी प्रेरणा द्वारा मनुष्य आदि प्रजाओं से कर्म करवाता है। वह प्रजापति अक्षर अर्थात् कूटस्थ वा अक्षर पुरुष में उत्पन्न होता है। जिस अक्षर पुरुष का वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में करने की हम कई बार प्रतिज्ञा कर चुके हैं। वही आगे सर्वगत ब्रह्म शब्द से लिया गया। वह सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है—इसका तात्पर्य है कि सृष्टि के आरम्भ में पुरुष के अवयवों से ही ब्रह्मा ने यज्ञ किया था, यह भागवत आदि, पुराणों में वर्णन मिलता है! वल्लभसम्प्रदाय के ही प्रधान विद्वान् श्री पुरुषोत्तम जी 'गोस्वामी' के नाम से जो व्याख्या मुद्रित हुई है उसमें "कर्म ब्रह्मोद्भवम्" इसका अर्थ किया गया है कि भगवदर्थ भगवान् के लिए कर्म करने से ब्रह्म अर्थात् भगवान् का समुद्भव अर्थात् प्रकटता हो जाती है! अथवा कर्मरूप यह संसार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। और "ब्रह्म अक्षर समुद्भवम्" इसका अर्थ बहुब्रीहि समास से ऐसा करना चाहिए कि अक्षर का समुद्भव ब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् से हुआ है। वह पुरुषोत्तम भगवान् नित्य यज्ञ में

प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् यज्ञ भी पुरुषोत्तम भगवान् का ही एक रूप है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ इन पद्यों की प्राचीन टीकाओं में प्राप्त होती हैं। लोकमान्य तिलक के मत में भी पद्यों की व्याख्या प्रायः श्री रामानुजाचार्य के मतानुसार ही प्राप्त होती है। ब्रह्म शब्द से यहाँ प्रकृति का ही ग्रहण करना चाहिए, इस बात को उन्होंने अनेक प्रमाणों और युक्तियों से भी सिद्ध किया है! महाभारत में अन्यत्र भी ऐसे वर्णन आते हैं—वे ही प्रमाण रूप से उन्होंने उपस्थित किये हैं। और युक्ति यह ही है कि ब्रह्म शब्द का वेद अर्थ करने से "सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" यह आगे की उक्ति ठीक नहीं लगती। प्रकृति अर्थ करने से प्रकृति जन्य सम्पूर्ण जगत् यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञ से ही उत्पन्न होता है तथा यज्ञ से ही पालित होता है। इस प्रकार यज्ञ शब्द के पूर्वोक्त व्यापक अर्थ का उनने संकेत किया है। किन्तु वेदोक्त सम्पूर्ण यज्ञ प्रक्रिया का पूर्ण रूप से अर्थ समन्वय वे नहीं कर सके, यह हम पूर्व ही कह चुके हैं। श्री रामानुजाचार्य ने ब्रह्म का अर्थ प्रकृति कर प्रकृति जन्य शरीर का जो यहाँ ग्रहण किया था वैसा "तिलक" ने नहीं किया। प्रकृति ही सब कर्मों का उद्भव स्थान है। यही अर्थ वे मानते हैं। और वह ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, अक्षर पुरुष अर्थात् पर ब्रह्म से उत्पन्न है, ऐसा कहकर इस कार्य कारण परम्परा का परब्रह्म पर ही विश्राम उन्होंने मान लिया है! आगे पुनरावृत्ति रूप चक्र का वर्णन उन्होंने नहीं किया, उनके मत में कार्य-कारण परम्परा बताना ही चक्र है। यह उनके व्याख्यान से सिद्ध होता है।

श्री विद्या वाचस्पति जी के मतानुसार जो इन पद्यों की वैज्ञानिक रूप में व्याख्या होती है उसका भी दिग्दर्शन करा देना यहाँ उचित होगा। उनके मत का संक्षिप्त वर्णन हम प्रथमाध्याय में कर आये हैं कि वे अव्यय, अक्षर और क्षर नाम के तीन पुरुष मानते हैं। पुरुष में ज्ञान और कर्म दोनों भाग रहते हैं। उनमें कर्म भाग ही यज्ञ शब्द का वाच्यार्थ है! अव्यय पुरुष से यज्ञ द्वारा ही अक्षर पुरुष, और उससे यज्ञ द्वारा ही क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। आगे भी सब सृष्टि यज्ञ से ही चलती रहती है जिसका कि संक्षिप्त वर्णन हम "सह यज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा" इत्यादि पद्य की व्याख्या में कर आये हैं। और विशेष स्पष्टीकरण पन्द्रहवें अध्याय में तीनों पुरुषों के निरुपण में होगा। अस्तु! यहाँ उनके मतानुसार इस प्रकार व्याख्या है कि अन्न से भूत, पर्जन्य से अन्न इत्यादि जो कार्य-कारण की परम्परा कही गई है वह सब कारण से कार्य की उत्पत्ति भी यज्ञ द्वारा ही समझना चाहिए। भूत शब्द का भी व्यापक अर्थ है। जड़चेतनात्मक सब दृश्य ही भूत शब्द के अर्थ में अनुप्रविष्ट हैं। ये सब भूत अन्न से होते हैं। इसका स्पष्टीकरण यों होगा कि जड़चेतनात्मक सब पादार्थों में से कुछ भाग प्राणरूप से बाहर जाता रहता है। और उसकी पूर्ति के लिए कुछ भाग और जगह से प्रत्येक पदार्थ को मिलता रहता है। यही गति और आगति अर्थात् अपने अंश का बाहर जाना और आये हुए पदार्थ

से उसकी पूर्ति होना यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ है। इसी के कारण प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, और वह परिवर्तन जब प्रकट रूप में आ जाता है तब हम उस पदार्थ को 'पुराना हो गया' शब्द से कह देते हैं। अस्तु! वह बाहर से आया हुआ अंश ही प्रत्येक पदार्थ का अन्न है। उसी से वह पदार्थ स्थिर रहता है और नये-नये पदार्थों को उत्पन्न करता रहता है। यह नये पदार्थ की उत्पत्ति भी सर्वत्र होती रहती है। जैसा कि लोहा से किट्ट बन जाता है, काष्ठ से घुन बन जाता है इत्यादि! इस तरह सब भूतों की उत्पत्ति अन्न से ही होती है! वह अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है। यहाँ पर्जन्य पद को उदाहरण मात्र समझना चाहिए। जिस प्रकार मेघ में वर्षा होकर पृथ्वी में नये-नये पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों को चन्द्रमा, सूर्य आदि से अन्न मिलकर नये-नये भूतों की उत्पत्ति होती रहती है। अन्न से भूत अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति जो प्राचीन व्याख्याकारों ने लिखी है वह भी यज्ञ द्वारा ही समझनी चाहिए। हमारे जठर में स्थित वैश्वानर अग्नि में हम जो अन्न की आहुति नित्य देते हैं, उस अग्नि से उस सोमरूप अन्न में परिवर्तन होकर जो रस-रुधिर, माँस आदि बनते जाते हैं वह भी सब यज्ञ का ही प्रभाव है। अग्नि अपने से आहुत सोम में परिवर्तन कर उसे नये-नये रूप देता है, यही यज्ञ है? जिसका कि वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। वर्षा होकर उससे अन्न की उत्पत्ति होना भी यज्ञ प्रक्रिया के आधार पर ही है। क्योंकि पृथ्वी में स्थित अग्नि पर वर्षा के जल की आहुति होकर ही सब तृण औषधि आदि की उत्पत्ति होती है। अस्तु! यह सब यज्ञ प्रक्रिया प्रकृति ही चलाती रहती है। इसलिए इन सब को प्राकृत यज्ञ कहा जा सकता है। वह पर्जन्य अर्थात् मेघ भी प्रधान भूत, यज्ञ से ही उत्पन्न होता है। सूर्य किरणों के आकर्षण द्वारा समुद्र आदि जलाशयों का जल रूप सोम जो खींच कर ऊपर छाता है वही घनी भूत होकर मेघ रूप में परिणत हुआ करता है। जब तक वह सूक्ष्म रूप में किरणों में व्याप्त रहता है तब तक उसे सूर्य किरणों का गर्भधारण कहा जाता है। वही जब घनीभूत हो जाता है तो वायु द्वारा विश्लेषण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है। मनुस्मृति आदि में "आहुत्याप्यायते सूर्यः" इस आहुति का भी यही अभिप्राय है। यदि मनुष्य कृत् यज्ञ में जो आहुति होती है उसी से अभिप्राय होता तो वर्तमान युग में जब अग्नि होत्र व दर्शपूर्णमास यज्ञादि अति विरल हो गए हैं तब वृष्टि अत्यल्प होनी चाहिए थी। किन्तु प्रकृति द्वारा यज्ञ तो बराबर होता ही रहता है, इसलिए वृष्टि आदि कार्य भी यथावत् चलते रहते हैं। हाँ! यह अवश्य है कि इस प्राकृत यज्ञ की सहायता करने के लिए वा उस प्राकृत यज्ञ को यदि किसी देश काल में वह अपने वा अपने देश के विपरीत होता हो तो उसमें परिवर्तन कर उसे अपने अनुकूल बना लेने के लिए मनुष्यों में द्विजातियों को भी जो कि उस विद्या को जानते हैं उन्हें भी यज्ञ करने की शास्त्र ने विशेष

रूप से आज्ञा दी है। जैसा कि किसी देश में किसी समय प्राकृत यज्ञ द्वारा अवृष्टि होने का अवसर हो तो कार्य इष्टि के द्वारा वहाँ वृष्टि करा दी जाय। इसी प्रकार कहीं अति वृष्टि का प्रसंग हो तो अपने यज्ञ द्वारा वहाँ सम भाव से ही वृष्टि को सम्भव कर दिया जाय। मनुष्य कृत यज्ञ की प्रथा आजकल विलुप्त वा अत्यल्प रह जाने के कारण कहीं अति वृष्टि और कहीं अवृष्टि का भय अधिक मात्रा में देखा जाता है। अस्तु ! प्रकृत में भगवान् ने उस प्राकृत यज्ञ का ही संकेत किया है। वह यज्ञ कर्म से होता है। यहाँ कर्म पद से अभिप्राय उस मूल तत्त्व रूप कर्म से है जो जगत् का आदि कारण है। रस और बल नाम के मूल दो तत्त्व जगत् के उत्पादक माने गए हैं, उनमें बल का परिणाम ही कर्म है और वही यज्ञ रूप में परिणत होकर जगत् चक्र का उत्पादन व पालन करता है। वह कर्म ब्रह्ममय ही उद्भूत होता है। अर्थात् सदा ब्रह्मावर्त्त ही रहता है। कभी स्वापदशा में और कभी प्रकट दशा में। उसका अभाव नहीं होता वह भी ब्रह्म की तरह सास्वत ही है। यहाँ ब्रह्म पद का अभिप्राय क्षर पुरुष से है। क्योंकि अक्षर को आगे उसका भी कारण बताया है। क्षर पुरुष कर्म प्रधान ही है, और उसी में पूर्वोक्त बल क्रिया रूप में प्रकट होता है। इस अभिप्राय से कर्म को ब्रह्म समुद्भव अर्थात् क्षर पुरुष में प्रकट होने वाला कहा गया। वह क्षर पुरुष अक्षर पुरुष से प्रादुर्भूत होता है। इस प्रकार इस कार्य कारण की परम्परा का विश्राम आदि भूत अक्षर पुरुष पर ही जाकर होता है। अक्षर से क्षर, उससे कर्म, उससे यज्ञ, उससे पर्जन्य, उससे अन्न और अन्न द्वारा भूतों की उत्पत्ति, पूर्वोक्त रूप में यह चक्र सदा चलता रहता है। वा अक्षर पुरुष ही स्वयं क्षरित अर्थात् नाशवान् न होता हुआ भी जिस प्रकार क्षर पुरुष द्वारा सब भूतों को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार कर्म को प्रादुर्भूत करता हुआ उसकी परम्परा रूप यज्ञ को भी चलाता है। कार्य कारण की परम्परा रूप चक्र जो यहाँ बताया गया वह अक्षर पुरुष से ही चलता है। अक्षर पुरुष ज्ञान कर्ममय है। उसके कर्मयोग से ही प्रपञ्च की सृष्टि होती है। उसका प्रादुर्भाव जिस अव्यय पुरुष से होता है वह तो कार्य कारण परम्परा से उदासी न रहता हुआ केवल आलम्बन मात्र है। किन्तु आलम्बन व आधार होने से उसी को सब का कर्त्ता-धर्त्ता माना जाता है। जैसा कि सप्तमाध्याय से आगे भगवान् अपने स्वरूप व्याख्यान में स्पष्ट करेंगे। और इन पुरुषो का स्फुट रूप से व्याख्यान पन्द्रहवें अध्याय में किया जायगा। अस्तु ! इसी कारण सर्वत्र व्याप्त उस अक्षर पुरुष को यहाँ यज्ञ में ही प्रतिष्ठित बताया गया है। यज्ञ द्वारा ही संसार उत्पन्न और पालित होता है। एवं संसार में ही प्रतिष्ठित हम उस अक्षर पुरुष को जान सकते हैं। इस प्रकार इस चक्र को जानकर जो उसका अनुवर्त्तन नहीं करता अर्थात् स्वयं भी शास्त्रोक्त कर्म करता हुआ उस यज्ञ के परिचालन में सहयोग नहीं देता उसका जीवन व्यर्थ है। वह पापी योनियों में ही चक्कर काटता हुआ सदा इस चक्र में ही घूमता

रहता है। इस चक्र से उद्धार नहीं पा सकता। अर्थात् मुक्ति का भी भागी वह नहीं होता। इसलिए कर्म की आवश्यकता का उपदेश यही भगवान ने "यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र" से आरम्भ कर यहाँ तक दिया कि जगत् चक्र रूप यज्ञ के निर्वाह के लिए प्रत्येक पुरुष को कर्म अवश्य करना चाहिए और वह केवल अपनी बुद्धि से विचार कर नहीं, किन्तु शास्त्रोक्त मार्ग से ही करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि अस्थिर होती है, वह कभी विपरीत ज्ञान भी करा देती है। विपरीत ज्ञान से यदि कर्म किया जायगा तो वह विपरीत ही फल उत्पन्न करेगा। इसलिए शास्त्रानुसार और कर्म के साथ सङ्ग अर्थात् आसक्ति न रखते हुए केवल संसार चक्र परिचालन रूप यज्ञ के लिए जो कर्म किया जायगा वह कभी बन्धन में डालने वाला नहीं होगा। अपितु बुद्धि को स्वच्छ करता हुआ मुक्ति का कारण बनेगा। इसलिए तुम्हें कर्म संन्यास की ओर ध्यान न देकर कर्म मार्ग में ही प्रवृत्त रहना चाहिए और तुम्हारे लिए जो शास्त्र विहित कर्म युद्ध है वह अवश्य करना चाहिए। युद्ध न करने से जगत् चक्र परिचालन में जिस प्रकार बाधा उपस्थित होगी उसका विवरण हम "यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र" श्लोक की व्याख्या में कर आये हैं ॥१६॥

उनचासवां-पुष्प

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने कहा था कि मैंने दो प्रकार की निष्ठा बताई हैं। सांख्य मार्ग वालों की ज्ञानयोग से, और कर्मयोग वालों की कर्मयोग से। इस प्रकार दो विभाग बताकर कर्मयोग की निष्ठा का ही वर्णन आरम्भ कर दिया। और यहाँ तक कर्मयोग की उचितता पर ही पूरा बल दिया। अब प्रश्न यह होता है कि सब दशाओं में कर्म करना ही आप आवश्यक समझते हैं तो फिर सांख्य मार्ग वा ज्ञानयोग निष्ठा आपने किनके लिए बताई। इस प्रश्न का उत्तर देने को भगवान् सांख्य मार्ग वा ज्ञानयोग निष्ठा के अधिकारी का निरुपण संक्षेप में करते हैं कि जो पुरुष केवल आत्मरत हो गया है अर्थात् आत्मानन्द का ही सदा अनुभव करता है, उसी से रमण अर्थात् आनन्द भोग करता रहता है। और आत्मा में ही तृप्त रहता है। अर्थात् अपनी तृप्ति के लिए बाह्य विषयों की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती, वह अपने आप ही तृप्त रहता है। जब आवश्यकता न हो तो स्वयं ही तृप्ति का अनुभव होता रहता है। आवश्यकता ही विषयों की ओर प्रवृत्ति कराती है। आवश्यकता जिसे नहीं है वह तो स्वयं ही तृप्त है। इसके अतिरिक्त उसे अपने सन्तोष के लिए भी किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। वह आत्मा में अर्थात् अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है। ऐसे पुरुष के लिए कोई कर्तव्य नहीं है। अर्थात् जगच्चक्र रूप यज्ञ जो पूर्व श्लोकों में बताया है वह चले या न चले, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए यज्ञार्थ कर्म करना भी उसे आवश्यक नहीं है ॥१७॥

ऐसे पुरुष को कर्म करने से कोई लाभ नहीं, और बिना किए उसे कोई हानि नहीं। इससे यह सूचित करते हैं कि नित्य-नैमित्तिक कर्म न करने से जो संसारी पुरुषों को दोष लगता है, जिसे शास्त्र में "अकरणजन्य प्रत्यवाय" कहा गया वह उसे नहीं लगता। कर्म का अधिकारी यदि कर्म न करे तो उसे

प्रत्यवाय अर्थात् पाप होता है। किन्तु वह ज्ञानी पुरुष तो कर्म के अधिकार से ही बाहर हो चुका इसलिए उसे कोई "प्रत्यवाय" नहीं लगता। कदाचित् कहो कि पूर्व जो भूतोत्पत्ति आदि का चक्र बताया गया है उसके लिए तो उसे भी कर्म करना आवश्यक ही होगा तो इसके लिए उत्तरार्ध में कहते हैं कि उसे ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त प्राणियों से अथवा आकाश पृथ्वी से भी कोई प्रयोजन लेना देना नहीं है! वह किसी का व्यपाश्रय अर्थात् आधार नहीं रखता। उसके लिए सब बराबर हैं। उसे किसी से कुछ लेना-देना नहीं, इसलिए चक्र भी चले या न चले इसकी भी उसे चिन्ता नहीं है, कहीं व्याख्या में कृत-अकृत शब्दों को मित्र-अमित्र शब्दों की तरह परस्पर विरुद्ध अर्थ के वाचक मानकर यह अर्थ भी माना है कि उसे पाप या पुण्य कुछ नहीं होता। वह कृतकृत्य हो चुका, अब उसे और कुछ भी संसार से लेना-देना नहीं है ॥१८॥

इन दो श्लोकों से पूर्वोक्त सांख्य मार्ग के अधिकारी का निरूपण किया गया। ऐसा ही पुरुष सांख्यमार्ग का अर्थात् केवल ज्ञानयोग का अधिकारी होता है। यही बात "यस्तु" इस "तु" पद से सूचित की गई है। तु पद वहीं प्रयुक्त होता है जहाँ पूर्व प्रकरण से कोई नई बात कहनी हो। अबतक कर्मयोग का ही प्रतिपादन चौथे श्लोक से यहाँ तक किया गया है। अब आगे ज्ञानयोग का अधिकारी कहना था इसलिए यहाँ "तु" पद देकर पूर्वप्रकरण से विच्छेद का संकेत कर दिया गया। अर्थात् "जो तो ऐसा ज्ञानी है" उसे कर्म की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार प्राचीन व्याख्याकार इन दो श्लोकों से सांख्यमार्ग के अधिकारी का ही निरूपण मानते हैं। और उसे किसी कर्म से प्रयोजन नहीं है, इसलिए उसे भगवान् संन्यास मार्ग का ही अधिकारी कहते हैं। भक्तिमार्ग के व्याख्याता भी इन श्लोकों से यही तात्पर्य निकालते हैं कि वह सब कर्म छोड़कर केवल भगवत् प्रेम में लीन हो जाय। किन्तु लोकमान्य तिलक ऐसा नहीं मानते। उनकी युक्ति है कि आगे के श्लोक में जो "तस्मात्" पद आया है, जिसका तात्पर्य है कि इसलिए तुमको भी अशक्त होकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं जुड़ता। पूर्व श्लोकों में यदि कर्मसंन्यास बता दिया जाता तो इसलिए तुम्हें कर्म करना चाहिए इसका सम्बन्ध कैसे हो सकता था। श्री शंकराचार्य आदि व्याख्याकारों ने यह तात्पर्य लगाया है कि ऐसे आत्मरत ज्ञानी पुरुष को ही संन्यास मार्ग का अधिकार है। तुम अभी वैसे नहीं हो इसलिए तुम्हें कर्मयोग के द्वारा पहले अपनी चित्त शुद्धि ही करनी चाहिए। किन्तु तिलक का मत है कि ऐसा अर्थ करने में 'तस्मात्' पद को लगाने के लिए "तुम ऐसे नहीं हो" इस अर्थ का वा इसके वाचक पद का अध्याहार करना पड़ेगा। इसलिए वह अर्थ स्वारसिक नहीं रहता। स्वारसिक अर्थ वही होता है जो बिना किसी अध्याहार के सीधा ही पदों से प्रकाशित होता हो। इसके अतिरिक्त आगे के पद्यों में जो भगवान् ने जनक आदि का दृष्टान्त दिया है वह भी उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि राजर्षि जनक तो परम ज्ञानी थे

यह सब पुराण आदि में प्रसिद्धि है। उनका किसी से कुछ लेना देना नहीं था। उनका यह वाक्य प्रसिद्ध है कि "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते"। अर्थात् सम्पूर्ण मिथिला भी यदि जल जाय तो मेरा क्या जला ? अर्थात् मैं ममत्व रहित हूँ। मेरा कुछ है ही नहीं। तब सब मिथिला के जल जाने पर भी मेरी क्या हानि होगी ? इस प्रकार के परम ज्ञानी जनक भी कर्म करते थे यह दृष्टान्त आगे के पद्य में भगवान् ने दिया है। यही क्यों, आगे चलकर वे अपना भी दृष्टान्त देते हैं कि मुझे तो कर्म करके कुछ भी लेना नहीं है। फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। यदि प्रयोजन होने से इन श्लोकों में कर्म संन्यास का ही प्रतिपान मान लिया जाय तो इन दृष्टान्तों की कोई संगति नहीं बैठती। इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने इसके समान ही योग वासिष्ठ और गणेश गीता के भी श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें यह स्पष्ट किया गया है कि ऐसे ज्ञानी पुरुष को न कर्म करने से कोई लाभ है, और न करने से कोई हानि ही है। अर्थात् कर्म करना न करना सब उसके लिए समान ही है तो फिर कर्म न करने का ही हठ क्यों किया जाय ? यही क्यों न माना जाय कि उसके लिए कर्म करना न करना समान है। तो भी वह शास्त्र मर्यादा पालन के लिए शास्त्रोक्त कर्म करता ही रहे। योग वासिष्ठ का वह पद्य जो श्री तिलक ने यहाँ उद्धृत किया है वह यों है—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

इसका अर्थ है कि ऐसे ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ देने से भी कोई लाभ या हानि नहीं, और कर्म करने से भी कोई लाभ वा हानि नहीं, तब वह अपना पूर्वाभ्यास सिद्ध कर्म जैसा करता था वैसा ही करता रहे। अर्थात् प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक शरीर धारण तो उसे करना ही पड़ेगा, यह वेदान्त दर्शन में स्पष्ट माना गया है कि पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी जिन प्रारब्ध कर्मों से यह शरीर बना है वे कर्म जब तक समाप्त न हो तब तक यह शरीर बना ही रहेगा। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर शरीर छूट कर उसे विदेह कैवल्य प्राप्त होगा। इसमें चक्रभ्रमी का दृष्टान्त भी वहाँ दिया जाता है कि जैसे कुम्भकार ने अपना चक्र चलाते समय जितना बल लगा दिया उसके चक्र रोक देने पर भी वह बल जब तक समाप्त न हो तबतक चाक घूमता ही रहेगा। आजकल तो इसका दृष्टान्त और भी स्फुट से हमें प्राप्त होता है कि विजली के करेन्ट से जो पंखा घूमता है करेन्ट बन्द कर देने पर भी जितना करेन्ट पंखे में प्रविष्ट हो चुका उतने क्षण तक पंखा घूमता ही रहेगा। इस प्रकार जब प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक शरीर धारण करना ज्ञानी के लिए भी आवश्यक ही है और जबतक शरीर धारण करेगा तबतक उसके उपयोगी भोजन, पान, शयन आदि कर्म भी उसे करते ही रहना होगा, तब फिर अन्य शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक कर्मों के छोड़

देने का ही आग्रह क्यों ? वह भी कर्म करता रहे, इससे इन्द्रियाँ अपने २ कार्य में लगी रहेंगी। गणेश गीता का भी यह श्लोक श्री तिलक ने उद्धृत किया है—

किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात् सर्वजन्तुषु सर्वदा।
अतो ऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ॥

इसका भी अर्थ यही है कि किसी प्राणी से ज्ञानी पुरुष को कुछ भी साधन नहीं करना, इसलिए वह बिना आसक्ति के कर्म करता ही रहे। स्पष्ट है कि अठारहवें पद्य से इसका आशय सर्वथा मिलता है। और वहाँ लाभ, हानि न होने पर कर्म करना ही जब स्पष्ट कहा है। तब इन सब वचनों के साथ एक वाक्यता करने के लिए गीता का भी यही आशय लगाना चाहिए कि यद्यपि उसे कर्म करने, या न करने से कोई लाभ वा हानि नहीं है, तथापि पूर्वाभ्यास के अनुसार वह कर्म कर्त्ता ही रहे यही उचित है।

श्री विद्या वाचस्पति जी ने भी इन पद्यों का "शीर्षककाण्ड" में यही शीर्षक दिया है कि—

उपेक्षाबुद्धिसहकृतकर्मणामनासक्तिकृतत्वादबन्धनत्वाददुष्टत्वम् ! आत्मारामस्यात्मपरायणस्य विषयानासक्तस्य बहिर्लोकयात्रायामुपेक्षाबुद्धौ, अपेक्षा बुद्धिमूलक संस्कारोदयासंभवादबन्धनस्यात्म ज्ञानोपयिकस्य कर्म्मणः परित्यागानौचित्यम् ॥

इसका भी तात्पर्य यही है कि उपेक्षा बुद्धि से जो कर्म किये जाँय उनमें आसक्ति नहीं होती। क्योंकि आसक्ति का कारण अपेक्षा बुद्धि ही है। और अनासक्ति अर्थात् बिना लगन के किये हुए कर्म बन्धक नहीं होते। इसलिए उन कर्मों को दूषित नहीं कहा जा सकता। जो पुरुष आत्मा में ही रमण करता है अर्थात् आत्म ज्ञान का ही परम आनन्द जिसे प्राप्त हो चुका है उसकी बाहर की लोक यात्रा में उपेक्षा बुद्धि ही रहती है। इसलिए उसे कोई कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते। क्योंकि कर्म के बन्धन में अपेक्षा बुद्धि ही कारण है। जबकि उसे किया हुआ कर्म भी बन्धन में नहीं डालेगा तब कर्म छोड़ने का ही आग्रह क्यों करे ? शरीर यात्रार्थ कर्म जिस प्रकार करता है उसी प्रकार शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक आदि कर्म भी करता रहे। परित्याग करना अनुचित ही है। इस प्रकार विद्या वाचस्पति जी भी कर्मसंन्यास इन पद्यों का प्रतिपाद्य नहीं मानते यही सिद्ध होता है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह होगा कि यदि गीता में सिद्धावस्था में भी कर्म संन्यास का कहीं प्रतिपादन नहीं किया तो पञ्चमाध्याय के आरम्भ में यह अर्जुन का प्रश्न कैसे बनेगा कि आप कर्म संन्यास और कर्म-

योग दोनों कहते हैं। एक बात ही निश्चय करके कहिए जिससे मेरा कल्याण हो। इस प्रश्न से यही स्पष्ट होता है कि तीसरे और चौथे अध्याय में भी भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों का ही अधिकार भेद से प्रतिपादन किया है। इसलिए यही मानना उचित होगा कि पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी अपनी रुचि के अनुसार मेरे दोनों ही मार्ग नियत हैं। कोई जनक आदि की तरह उस अवस्था में भी कर्म करते रहते हैं। और कोई श्री शुक देव जी आदि की तरह सर्वथा कर्म छोड़ देते हैं। लोकयात्रार्थ कर्मों का तो संन्यास मार्ग वाले भी निषेध नहीं करते। इसलिए इन पद्यों का यदि कर्म संन्यास में भी प्राचीन व्याख्याताओं की तरह आश्रय मान लिया जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। अर्जुन को भगवान् ने कर्मयोग का ही उपदेश दिया यह तो सभी व्याख्याकार मानते ही हैं। क्योंकि अर्जुन अभीतक सिद्धावस्था प्राप्त नहीं कर सका था। अस्तु! इस प्रकार श्लोक नम्बर १९ का प्राचीन व्याख्याताओं के अनुसार यह अर्थ है कि संन्यास मार्ग वा ज्ञानयोग उनके लिए है जो कि केवल आत्मा में ही तृप्त और सन्तुष्ट होकर संसार से सर्वथा उपेक्षा कर चुके हैं तुम अभी वैसी अवस्था में नहीं पहुँचे हो। इसलिए तुम अनासक्त होकर अपने कर्तव्य वर्णाश्रमोचित कर्मों को करते रहो। अनाशक्ति पूर्वक कर्म करते रहने से मनुष्य परम प्राप्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे मोक्ष प्राप्ति में अनासक्त कर्मों के कारण कोई बाधा नहीं होती और श्री तिलक के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी कि पूर्व पद्यों के कथनानुसार ज्ञानी पुरुष को अनासक्त होने के कारण कर्म बन्धन में नहीं डालते इसलिए तुम भी अनाशक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म करते रहो। अनासक्त कर्म करने से पुरुष परमप्राप्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। महाभारत के टीकाकार श्री नील कण्ठ जी भी ऐसा ही अर्थ मानते हैं। मोक्ष प्राप्ति प्राचीन व्याख्याताओं के मतानुसार चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान प्राप्ति पूर्वक संन्यास से होगी, और लोकमान्य तिलक के मतानुसार इस कर्मयोग से ही व्यवसायात्मक बुद्धि पूर्ण पुष्ट हो जाने पर मोक्ष प्राप्ति हो जायगी। मध्य में कर्म संन्यास की आवश्यकता न होगी। आगे के—

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"।

इस अर्ध श्लोक को भी श्री विद्या वाचस्पति जी ने इसी के साथ जोड़ा है। इसका अर्थ यही होगा कि जनकआदि राजर्षियों ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार जनकादि का दृष्टान्त देकर यह यज्ञार्थ कर्म करने का प्रकरण पूर्ण कर दिया गया। अब आगे लोक संग्रह के लिए कर्म करने का प्रकरण आरम्भ होता है। तात्पर्य यही है कि जब फल की कोई इच्छा ही न हो तो कोई भी पुरुष कर्म क्यों करेगा? क्योंकि लोक में तो यही देखा जाता है कि फल की इच्छा से ही कर्म करने की भी इच्छा होती है, न्याय शास्त्र में भी फलेच्छा को उपायेच्छा के प्रति कारण माना जाता है अर्थात् जैसे कोई

मनुष्य पहिले भोजन की इच्छा करता है तब उस इच्छा के द्वारा ही उसे रसोई बनाने की भी इच्छा होती है। और उस इच्छा से आत्मा में प्रयत्न आरम्भ होकर शरीर, वाणी आदि की चेष्टा होने लगती है। जब पहले फल की इच्छा ही न होगी तो उपाय की इच्छा भी क्यों होगी ? और आत्मा में प्रयत्न भी उत्पन्न न होगा तो शरीर आदि की चेष्टा ही क्यों होगी, और कोई भी काम कैसे किया जायगा ? इस प्रश्न का उत्तर गीता में दो प्रकार से दिया गया है, एक तो यज्ञ अर्थात् संसार चक्र के परिचालन के उद्देश्य से कर्म करना चाहिए, स्वार्थ बुद्धि से नहीं। और दूसरा उत्तर यही दिया जायगा कि लोक संग्रह के लिए बिना स्वार्थ बुद्धि के भी कर्म करना चाहिए। लोक संग्रह की व्याख्या अग्रिम पद्यों में की जायगी।

पचासवां-पुष्प

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ प्रसङ्गगतः पूर्व श्लोक की व्याख्या में लिखा जा चुका है कि जनक आदि राजर्षियों ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की थी ! अर्थात् उन्होंनें सिद्धि प्राप्त करने के लिए भी कर्म त्याग नहीं किया, और सिद्धि अर्थात् पूर्ण ज्ञान निष्ठा प्राप्त हो जाने पर भी वे अनासक्त रूप से कर्म करते ही रहे ! यहाँ क्षत्रिय जनक का दृष्टान्त देने से कई व्याख्याकार ऐसा भी प्रसंग उठाते हैं कि क्षत्रिय वैश्य को संन्यास का अधिकार नहीं है ! श्रुति में भी संन्यास के विधान में ब्राह्मण पद आया है और कई स्मृतियों में भी ऐसा स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण के लिए चारों आश्रम हैं । क्षत्रिय के लिए वानप्रस्थानान्त तीन, वैश्य को दो, और शूद्र के लिए एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है ! उन व्याख्याकारों के अनुसार इस पूर्वार्ध का व्याख्यान इस प्रकार होगा कि पूर्व श्लोकों में जब यह अभिप्राय भगवान् ने व्यक्त किया कि पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर ही कर्म संन्यास होता है । तुम अभी वैसी स्थिति में नहीं हो इसलिए कर्म मत छोड़ो । इस पर अर्जुन के मन में यह शंका हुई कि मैं पूर्ण ज्ञानी अभी न हुआ सही किन्तु जिज्ञासु तो हूं ! अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा तो है ! उस इच्छा में भी कर्म प्रतिबन्धक होंगे ! इसलिए मुझे भी कर्म छोड़ ही देने चाहिए ! इस अभिप्राय को समझ कर भगवान् पूर्व के राजर्षियों का दृष्टान्त दिखाते हैं कि जनक आदि राजर्षियों ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी कर्म नहीं छोड़े ! तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी कर्म त्याग नहीं किया ! तुम भी क्षत्रिय हो, इसलिए तुम्हें भी उनका ही अनुकरण करना चाहिए ! अर्थात् वर्णाश्रमोचित कर्म करते हुए ही ज्ञान प्राप्ति का यत्न करो ! कर्म छोड़ने का विचार मत करो ! कुछ व्याख्याकारों ने ऐसा भी प्रसङ्ग उठाया है कि संन्यास के चिह्न दण्ड, कषाय आदि धारण करना ही क्षत्रिय के लिए निषिद्ध है ! वैराग्य हो जाने पर कर्म त्याग तो जड़ भरत आदि क्षत्रिय भी करते ही आये हैं ! और वार्तिककार ने स्पष्ट लिखा है कि क्षत्रिय आदि भी संन्यास कर सकते हैं। कोई-कोई व्याख्याकार वार्तिककार की उस उक्ति को प्रौढ़िवाद मात्र कहते हैं ! अस्तु। यह सब प्रसङ्ग यहाँ अप्रस्तुत सा है ! हम पूर्व कह आये हैं कि दोनों ही मार्गों में शिष्टों के (शिष्ट पुरुषों के) दृष्टान्त हैं। श्री शुकदेव जी आदि ने विरक्त हो जाने पर कर्म परित्याग किया। और जनकादि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी कर्म करते ही रहे ! भगवान् अर्जुन को कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना चाहते हैं इसलिए उस मार्ग के

जनक आदि का दृष्टान्त उपस्थित किया, यही यहाँ सीधा व्याख्या मार्ग है! क्षत्रिय के अधिकार-अनधिकार की बात उठाना यहाँ प्रस्तुत प्रतीत नहीं होता! सिद्धि शब्द के अर्थ में भी व्याख्याकारों का मतभेद है। कई व्याख्याकार ज्ञान निष्ठा प्राप्त कर लेना ही सिद्धि शब्द का अर्थ मानते हैं। अर्थात् जनक आदि ने कर्मयोग के द्वारा ही ज्ञान-निष्ठा प्राप्त की! और कई व्याख्याकार सिद्धि शब्द का अर्थ मोक्ष ही मानते हैं। और "कर्मणा" इस तृतीया विभक्ति को सहार्थ में मानते हैं। अर्थात् जनक आदि ने कर्म के साथ ही मोक्ष प्राप्त किया! अर्थात् मोक्ष पर्यन्त कर्म नहीं छोड़े! लोकमान्य-तिलक दूसरे पक्ष में ही हैं। उनका सिद्धान्त यही है कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी कर्म नहीं छोड़ना यही भगवान् का उपदेश है।

उत्तरार्द्ध से दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है। कर्म करने में एक कारण कह चुके कि जगत् की रक्षा के लिए यज्ञ चक्र चलाना आवश्यक है। इसलिए कर्म करना ही चाहिए। यज्ञार्थ किया हुआ कर्म बन्धन में डालने वाला नहीं होता। अब कर्म करने का दूसरा कारण बताना आरम्भ करते हैं कि लोक संग्रह पर दृष्टि-पात करते हुए भी कर्म करते रहना आवश्यक है। उत्तरार्द्ध में जो "अपि" शब्द आया है वही प्रकरण विभाग को सूचित करता है। अर्थात् लोक संग्रह को देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए। यहां लोक-संग्रह शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि लोकों की कुमार्ग में प्रवृत्ति का रोकना ही लोक संग्रह है। श्री रामानुजाचार्य ने लोक संग्रह का अर्थ लोक-रक्षा किया है। महाभारत के टीकाकार श्री नील-कण्ठ जी सब लोगों को स्वधर्म में प्रवृत्त करना ही लोक-संग्रह मानते हैं। श्री विद्यावाचस्पति जी कहते हैं कि विद्वान् से लेकर अपठित तक सब प्रकार के लोगों की स्थिति का निर्वाह ही लोक-संग्रह है। अभिप्राय सबका एक ही है, भिन्न-भिन्न शब्दों में उसे व्यक्त किया गया है।

संग्रह शब्द का अर्थ है इकट्ठा करना। इसका प्रकृत में अभिप्राय होगा कि सब लोगों को इकट्ठा करना, अर्थात् अपने साथ चलाना। ज्ञानी पुरुष का यह भी कर्तव्य है कि वह अन्य लोगों को भी अपने आचरण द्वारा शिक्षा देकर अपने साथ चलावे। केवल अपने आप ही सिद्धि प्राप्त कर गया औरों की कोई परवाह नहीं, ऐसा स्वार्थ विचार उसे नहीं करना चाहिए। अपितु सब लोग ही अपने अपने अधिकारानुसार चलते हुए सिद्धि प्राप्त करें। ऐसी सर्व हित में प्रवृत्ति रखना ही ज्ञानी का मुख्य कर्तव्य है। वह जैसे अपने आप सुधरा इसी प्रकार औरों को भी सुधारे। यही सच्चा ज्ञानीपन है। औरों का सुधारना केवल वाणी से उपदेश देकर ही पूरा नहीं होता अपितु अपने आचरण द्वारा सबको शिक्षा देना ही सच्चा सुधार करना है। यही अभिप्राय आगे के पद्य में स्पष्ट किया गया है कि जो जाति कुल वा विद्या में श्रेष्ठ अर्थात् सबसे उच्च श्रेणी का माना जाता है, वह जैसा आचरण करता है उसी के अनुसार इतर जन

अर्थात् साधारण पुरुष भी आचरण किया करते हैं। धर्म के लक्षणों में स्मृतिकारों ने श्रुति-स्मृति के समान सदाचार को भी प्रमाण माना है। श्रुति-स्मृति का भी जैसा अभिप्राय श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष ने समझा वैसा ही उसके कथनानुसार सर्वसाधारण जनता समझती है। यही बात द्वितीय श्लोक के उत्तरार्द्ध में कही गई है कि श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाण मानता है सब लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं। अर्थात् उसी के साथ चलते हैं। इससे सर्वसाधारण के लिए श्रेष्ठ पुरुष का विचार अर्थात् सदाचार ही धर्म निर्णय का मुख्य साधन है। यह सूचित किया। श्रुति और स्मृति का क्या अभिप्राय है यह विषय भी सर्वसाधारण के लिए गूढ़ है। सब लोग श्रुति-स्मृति शास्त्रों का अभिप्राय नहीं समझ सकते।

उनके लिए धर्म-निर्णय का मुख्य द्वार यही रहता है कि जो जाति कुल वा विद्या में श्रेष्ठ माने जाते हैं उनके कथन और आचारण से शिक्षा प्राप्त करें।

इस कथन से भगवान् का अभिप्राय यही है—कि तुम उत्तम कुल के और विद्वान् होने के कारण श्रेष्ठ माने जाते हो। यदि तुम इस प्रकार धर्माचरण के अवसर पर भी अपना धर्म छोड़ दोगे तो तुम्हारा अनुकरण कर और अन्य साधारण लोग भी समय पर अपने धर्म का आचरण छोड़ने लगेंगे। और इससे समाज में एक प्रकार का विप्लव हो जायगा। मान लो कि सर्वसाधारण लोग यही समझ लें कि युद्ध करना बुरा है इसमें अपने पराये का ध्यान न रख कर मार-काट करनी पड़ती है और इससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। इसलिए युद्ध नहीं करना चाहिए। तो इसका परिणाम क्या होगा ? यही कि दुष्ट-उदण्ड लोगों को भय न रहेगा और यें यथेच्छाचार कर समाज को सताने लगेंगे। शिष्ट लोग उन्हें दण्ड देंगे नहीं। तब समाज में कितना विप्लव फैल जायगा। और समाज एक प्रकार से उच्छृङ्खल होकर पतन की ओर आगे बढ़ने लगेगा। तुम अपने धार्मिक उच्च विचारों के कारण युद्ध छोड़ रहे हो यह बात सबकी समझ में न आयेगी, वे समानतः युद्ध को बुरा समझने लगेंगे। और समाज में अव्यस्था हो जायगी। इसलिए ज्ञानी पुरुष का भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि सर्वसाधारण को सन्मार्ग की शिक्षा देने के लिए अपने आप अपने धर्म से विमुख न हो स्वधर्माचरण अवश्य ही करता रहे।

इस प्रकार आसक्ति छोड़कर केवल लोक संग्रह की दृष्टि से किया हुआ कर्म बन्धन में नहीं डालता! बन्धन में डालनेवाली आसक्ति होती है! अनासक्ति अर्थात् उपेक्षा बुद्धि से किया हुआ कर्म बन्धन में नहीं डालता!

लोकमान्य तिलक इस प्रकार की प्राचीन व्याख्या में यह दोष देते हैं कि इससे तो सिद्ध होगा कि भगवान् ढोंग सिखाते हैं। मन में कुछ और हो और आचरण और प्रकार का किया जाय यह तो ढोंग हुआ। इसलिए लोक संग्रह का अर्थ वे और ही प्रकार का करते हैं! लोक शब्द केवल मनुष्य का ही वाचक नहीं, यह व्यापक शब्द है। इसमें देवता, पितृ आदि मनुष्य योनि से

ऊपर के प्राणी और पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि मनुष्य योनि से नीचे के प्राणी भी समाविष्ट हो जाते हैं। इन सबका संग्रह अर्थात् रक्षा करना ज्ञानी पुरुष का आवश्यक कर्तव्य है! क्योंकि ज्ञान से वह एकात्मभाव पर पहुँच चुका है। जब सब जगत् में एक आत्मा ही व्यापक है तब जिस प्रकार हम अपने शरीर की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार एकात्माभाव जानने वाले को सब जगत् के प्राणियों की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है। इसी बुद्धि से अर्थात् सब जगत् के प्राणियों के पालन-पोषण आदि के लिए ज्ञानी को भी कर्म करते रहना चाहिए। उसका अपना स्वार्थ चाहे कुछ भी न हो किन्तु सम्पूर्ण जगत् ही जब उसके स्वशब्दार्थ के भीतर आ गया तो उन सबका रक्षण भी उसका स्वार्थ ही है। इसलिए जगद् रक्षार्थ (जगत् की रक्षा हेतु) उसे कर्म करते रहना चाहिए। किन्तु इस व्याख्या में तो पुनरुक्ति हो जायगी। पहले यज्ञार्थ कर्म करने का उपदेश विस्तार से हो चुका है। और यज्ञ शब्द के अर्थ में सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों की रक्षा का समावेश हो चुका है। तब लोक-संग्रह शब्द से भी यदि वही सब जगत् की रक्षा कही जाय तो यह तो पूर्व की बात को दुहराना ही हुआ! और लोक मान्य तिलक भी इस बात को मान चुके हैं कि यहाँ अपि शब्द से प्रकरण भेद हो गया है। तब यहाँ लोक शब्द के अर्थ में केवल मनुष्यों का ही ग्रहण करना उपयुक्त होगा। आगे के पद्यों में जो विवरण किया जाता है कि श्रेष्ठ पुरुष जो काम करता है उसी का अनुकरण सब लोग करते हैं इत्यादि वह भी मनुष्यों पर भी घट सकता है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि मनुष्य का अनुकरण नहीं करते। इससे पूर्वोक्त व्याख्या ही उचित प्रतीत होती है। हाँ! गीता रहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में जो एक दूसरी व्याख्या उन्होंने ध्वनित की है वह उपयुक्त हो सकती है। उसका सारांश यह है कि सामान्य मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिए। ज्ञानी यदि सर्वथा कर्म छोड़ दे तो सामान्य मनुष्य किसका अनुकरण करेंगे। सामान्य मनुष्यों में अनुकरण की तो प्रवृत्ति होती ही है। जैसा कि आगे के पद्य में स्पष्ट कहा जा चुका है। और यदि अज्ञानी पुरुष का ही अनुकरण सर्व-साधारण जनता करेगी तो इससे उलटा अनर्थ वा अन्याय बढ़ेगा। क्योंकि अज्ञानी पुरुष तो स्वयं कई जगह अज्ञानवश धोखा खायगा तब उसका अनुकरण करनेवाले भी धोखे में ही पड़ेंगे। इसलिए अज्ञानी पुरुष का अनुकरण तो अनुचित होगा और ज्ञानी कर्म करेगा नहीं, तब अनुकरण किसका किया जाय? इसलिए ज्ञानी पुरुष को भी यही उचित है कि अपना स्वार्थ जिसे क्षुद्र स्वार्थ कहा जा सकता है वह न रहने पर भी लोक शिक्षार्थ शास्त्रोक्त कर्म करता रहे। ऐसे कर्म को उपेक्षा जनित होने के कारण बन्धकता नहीं होती यह कह चुके हैं। इस प्रकार की व्याख्या में पूर्वापर सब संगति लग जाती है। और कोई पुनरुक्ति भी नहीं होती। लोक-संग्रह शब्द का व्याख्याकारों का अर्थ लोक-रक्षा रूप भी समन्वित हो जाता है।

'इक्यावनवां-पुष्प'

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी पुरुष भी क्षुद्र स्वार्थ न रहने पर भी कर्म करता रहे, इस अंश में भगवान् अपना उदाहरण देते हैं कि हे पार्थ। मेरा तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है। क्योंकि किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्यों का कर्तव्य हुआ करता है सो मुझे कुछ भी अप्राप्त नहीं है। जिसे कि प्राप्त करने के लिए कुछ कर्तव्य हो। फिर भी मैं कर्म में प्रवृत्त ही रहता हूँ ॥२२॥

भगवान् कृष्ण अपनी ईश्वरावतारता प्रगट करते हुए ही यह कहते हैं। इसका समन्वय दोनों ही रूपों में समझना चाहिए। ईश्वर रूप सर्वत्र व्यापक है। सब ही जगत् के पदार्थ ईश्वर के रूप में अन्तर्गत हो जाते हैं। जैसा कि आगे सप्तमाध्याय में स्पष्ट किया जायगा। तब ईश्वर को कुछ भी जगत् का पदार्थ अप्राप्त नहीं कहा जा सकता। और अवतार रूप में भगवान् कृष्ण को भी सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त है, इसलिए यहाँ भी कोई वस्तु प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं। इसके अतिरिक्त अवतार रूप में भी भगवान् कृष्ण पूर्ण ज्ञानी हैं। इसीलिए इन्हें पूर्णावतार कहा जाता है। पूर्ण ज्ञानी को कोई वस्तु प्राप्त करने की अभिलाषा होती ही नहीं, क्योंकि राग-द्वेष उसमें नहीं रहते। फिर भी वे लोक शिक्षार्थ कर्म करते ही रहते हैं। कर्म में प्रवृत्त रहने का अन्वय भी दोनों रूपों में समझना चाहिए। ईश्वर भी जगत् को उत्पन्न करना, उसका पालन करना और समय पर संहार करना, ये कर्म करता ही रहता है। और अवतार दशा में भगवान् कृष्ण तो सब प्रकार के कर्म करते थे। यह सब पुराणों

में स्पष्ट ही है। यदि बिना किसी प्रयोजन के कर्म न किया जाय अर्थात् जैसा कि पूर्व कह आये हैं कि पहले फल की इच्छा होती है, उससे फिर उपाय की इच्छा होती है, तब उस इच्छा से प्रयत्न आरम्भ होकर शरीर का कर्म होता है। यही नियम सर्वत्र लगाया जाय तो ईश्वर के कर्म बन ही नहीं सकते। क्योंकि वहाँ फल की इच्छा सर्वथा असम्भव है। और ईश्वरावतारों के भी कर्म नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्ण ज्ञानी होने के कारण उन्हें भी फलेच्छा (फल की इच्छा) नहीं हो सकती। तब यही कहना पड़ेगा कि पूर्वोक्त नियम ईश्वर व ईश्वरावतारों पर लागू नहीं होता। भगवान् कृष्ण यह उपदेश करते हैं कि यहाँ व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए। अर्थात् ईश्वर या ईश्वरावतारों पर यह नियम लागू नहीं, यही मात्र न कहकर ज्ञानी आत्माओं पर यह नियम लागू नहीं, ऐसा ही समझना चाहिए। इसलिए ज्ञानी को भी यज्ञार्थ व लोक संग्रहार्थ कर्म करते ही रहना चाहिए। भले ही इसमें उसका अप्राप्तप्राप्ति रूप अपना स्वार्थ न हो।

आगे के दो पद्यों में भगवान् अपने कर्म में प्रवृत्त न होने पर दोष दिखाते हैं कि यदि मैं आलस्य छोड़कर कभी कर्म में प्रवृत्त न होऊँ अर्थात् कर्म छोड़ बैठूँ—तो सब मनुष्य सब प्रकार मेरे ही मार्ग का अनुशरण करते हैं 'इसलिए वे भी कर्म छोड़ बैठेंगे'। इसलिए मेरे कर्म न करने पर जगत् के सब लोग कर्म छोड़ देने के कारण नष्ट हो जायेंगे। और (स्त्रियों की रक्षा रूप कर्म न करने के कारण) उनमें वर्ण संकरता फैल जायगी और उस संकरता का फैलाने वाला मैं ही कह लाऊँगा। इस प्रकार सब प्रजा का उपहनन अर्थात् अकाल में नाश मेरे ही द्वारा होगा। एक प्रकार से मैं ही सबका उपहनन करने वाला बनूँगा ॥२३–२४॥

इन पद्यों को भी ईश्वर और ईश्वरावतार दोनों पर ही समझना चाहिए। हमारे शास्त्रों में ऐसा माना गया है कि जीव जो कुछ मानस, वाचिक, वा शारीरिक कर्म करता है, वह ईश्वर की ही प्रेरणा से करता है। ईश्वर ही पूर्व कर्मानुसार किसी को शुभ कार्य में और किसी को अशुभ कार्यों में लगाया करते हैं। तब यह प्रेरणा रूप कर्म भी ईश्वर का ही हुआ। यदि ईश्वर प्रेरणा रूप कर्म न करे तो मनुष्य आदि सब प्राणियों के कर्म भी बन्द हो जाँय और भोजन-पान आदि कर्म न करने से उनका विनाश अवश्यंभावी है।

इस पद्य में 'ममवर्त्मानुवर्तन्ते' का यही अर्थ समझना होगा कि मेरे प्रेरणा रूपी व्यापार का अनुशरण सब लोग करते हैं ? अर्थात् मेरी प्रेरणा से ही सब लोग काम करते हैं। वह प्रेरणा रूप कर्म यदि मैं न करूँ तो सबका नाश हो जाय। और यदि ईश्वर प्रेरणा न देकर सब प्राणियों को स्वतंत्र रूप से कर्म करने के लिए छोड़ दे तो अज्ञानवश मनुष्यादि बुरे कर्मों को ही अधिक रूप में करने लगें। इससे वर्ण संकरता आदि दोष समाज में बढ़ जाँय और

प्रजाओं का उपहनन हो जाय। अन्तर्यामी रूप से ईश्वर नियंत्रण करता रहता है इसीलिए दुराचार में प्रवृत्ति प्रायः नहीं होती। इत्यादि !! अवतार पक्ष में तो इसकी व्याख्या स्पष्ट ही है कि ईश्वरावतार में मुझको सब ही लोग श्रेष्ठ—आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करते हैं यदि मैं कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर और लोग भी कर्म छोड़ देंगे। तब भोजन-पान आदि कर्म छोड़ देने से सबका नाश अवश्यंभावी होगा यदि भोजन-पान आदि स्वाभाविक कर्म न छोड़कर केवल शास्त्रोक्त धर्माधर्म आदि कर्मों का ही परित्याग करें तो भी धर्म छोड़ देने के कारण पाप बढ़ कर वे नाश की ओर अवश्य चले जाँयगे। और स्त्रियों की रक्षा पर ध्यान न देने के कारण वर्ण संकरता भी अवश्य फैल जायगी। इस प्रकार प्रजाओं का उपहनन होगा और ईश्वरावतार रूप में मैं ही प्रजा के हनन का कर्त्ता माना जाऊँगा। इसलिए ईश्वर रूप में वा ईश्वरावतार रूप में मेरा कर्म करना आवश्यक है। यही समझ कर मैं कर्म करता रहता हूँ। मेरे समान ही—मुझे आदर्श मानकर ज्ञानी पुरुषों को भी कर्म करते ही रहना चाहिए। यहाँ तक यह शंका होगी कि क्या लोक शिक्षा के लिए ज्ञानी पुरुष भी अपने आप को अज्ञान में फँसादे यह उचित होगा ? चाहे शिक्षा के लिए ही सही कर्म में लगने पर तो कर्म उसे अज्ञान में घसीट ही लेगा, जैसा कि जड़-भरत की कथा में पुराणों में प्रसिद्ध है कि भरत महाराज राजपाट छोड़कर गंगा तट पर आश्रम बनाकर रहते थे और तत्त्व चिन्तन में ही अपना समय लगाते थे। अकस्मात् एक दिन एक गर्भवती हरिणी गंगातट के उपरि भाग से पैर फिसल जाने के कारण नीचे गिरी और ऊपर से गिरने के कारण उसके गर्भ का बचा तो बाहर निकल आया और उस हरिणी की मृत्यु हो गई। इस प्रकार उस बच्चे को निराश्रय देखकर दयावश भरत महाराज उसे उठा लाये और दुग्ध आदि पिलाकर उसका पालन-पोषण करने लगे। धीरे-धीरे उस हरिण के बच्चे में इनका प्रेम हो गया। निरंतर उसकी चिन्ता रहने लगी कि बचा कहाँ गया ? उसे कोई भेड़िया आदि मार न डाले। यों निरंतर चित्त का बन्धन उसके साथ होता गया। उन्हीं दिनों में इनकी मृत्यु का समय आ गया। मृत्यु के समय वह हरिण शिशु आँखों में आँसू भरता हुआ इनकी तरफ देख रहा था, और ये भी प्रेमवश उसकी तरफ ही टक-टकी लगाये हुए थे। मृत्यु के समय जिस ओर चित्त लग जाय उसी जन्म में प्राणी को जाना पड़ता है यह भगवद् गीता के अष्टम अध्याय में कहा जायगा। उस प्रकृत नियम के अनुसार भरत को हरिण का जन्म मिल गया। किन्तु साधना कर रहे थे इस कारण हरिण के जन्म में भी पूर्व जन्म की स्मृति बनी रही। आगे फिर उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म प्राप्त कर ये जन्म से ही विरक्त रहे। सर्व रूप से कर्म परित्याग कर इन्होंने मुक्ति पाई, कर्म त्यागकर जड़, उन्मत्त आदि की तरह विचरते थे। इसीलिए जड़-भरत कहलाये इत्यादि। इनकी कथा विस्तार से पुराणों में वर्णित है। इससे यही सिद्ध होता है कि चाहे दया-वश या उपकार, लोक शिक्षा आदि के वश में होकर भी कर्म

करता रहे तो माया अपनी ओर घसीट ही लेती है। तब ज्ञानी पुरुष भी अज्ञान में पड़कर फिर बन्धन में आ जायगा। इस शंका के निवारणार्थ ज्ञानी और अज्ञानी की प्रवृत्ति का भेद भगवान् अग्रिम पद्य में बताते हैं कि हे भारत! अविद्वान् अर्थात् अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म में आसक्ति रखकर पूर्ण मनोयोग से कर्म करते हैं विद्वान् अर्थात् ज्ञानी पुरुष अनासक्त होकर लोक संग्रह करने की इच्छा से उसी प्रकार कर्म करता रहे। तात्पर्य यह है कि बाहर से कार्य करने का स्वरूप ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का एक सा ही दिखाई दे। किन्तु बुद्धि में इतना भेद है कि अज्ञानी पुरुष आसक्त होकर कर्म करते हैं उन्हें फल की आशा रहती है और उसी आशा के प्रभाव से उनका मन भी उस कर्म के साथ बँधा रहता है कि कहीं इसमें त्रुटि न हो जाय कि जिससे हमें फल से वंचित होना पड़े।

किन्तु ज्ञानी पुरुष अनासक्त होकर कर्म करे। उसके मन का इस कर्म के साथ कोई बन्धन न हो, फल की आशा तो इसे छोड़ ही देना चाहिए। इसीलिए कर्म में त्रुटि होने का भी कोई भय ज्ञानी को नहीं रहता। द्वितीयाध्याय के "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति" इत्यादि पद्य में कहा जा चुका है कि कर्म योगी की कर्म की त्रुटि आदि से कोई हानि नहीं होती? यही बात योग-वासिष्ठ में वसिष्ठ महर्षि ने राम को उपदेश देते हुए भी कहा है कि—

बहिःकृत्रिम संरम्भोऽभ्यन्तःसंरम्भ वर्जितः।
कर्त्ताबहिरकर्त्तान्तर्लोकेविहर राघव ॥

अर्थात् हे राघव! इस प्रकार कर्म करो कि बाहर से तो लोक (लोग) ऐसा समझें कि इनका कर्म में बड़ा आवेश है किन्तु भीतर मन में बिल्कुल आवेश न हो। इस प्रकार बाह्य लोगों की दृष्टि में तो तुम कर्त्ता समझे जाओ किन्तु भीतर मन, बुद्धि से अकर्त्ता ही बने रहो। इस प्रकार लोक में रहते हुए विहार अर्थात् सब प्रकार के कर्माचरण करते रहो।

लोकमान्य तिलक ने जो यह दोष इस व्याख्या पर लगाया है कि यह तो एक प्रकार का ढोंग हो गया। भगवान् तो अर्जुन को ढोंग नहीं सिखाते थे सो यह दोष यहाँ नहीं समझना चाहिए। ढोंग उसी का नाम है कि—अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए अपने छोटे से कार्य को बहुत बड़ा करके दिखाया जाय। इसे ही संस्कृत में व्याज कहते हैं। और शास्त्रों में निर्व्याज धर्माचरण का उपदेश दिया जाता है। इस ढोंग या व्याज का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि फल व प्रतिष्ठा की इच्छा ज्ञानी पुरुष को रहती ही नहीं, वह तो भीतर से अनासक्त रहता हुआ भी लोक शिक्षार्थ लोगों को अपनी आसक्ति दिखाता है, मन में उत्तम भाव रहते हुए भी बाहर उनका प्रकाश न करना ढोंग या व्याज के बिल्कुल विपरीत है। ढोंग या व्याज में तो मन में उत्तम भाव न रहने पर

भी बाहर उनका प्रकाश करने की चेष्टा की जाती है और यहाँ मन वा बुद्धि में उत्तम भाव रहने पर भी उनका प्रकाश नहीं किया जाता यह ढोंग या व्याज से बिल्कुल विपरीत कार्य है। इसीलिए भगवान् ने लोक संग्रह का उपदेश दिया है।

श्री मधुसूदन सरस्वती आदि ने इन पद्यों की व्याख्या का एक यह भी मार्ग बताया है कि लोक संग्रह का उपदेश तो पूर्व के सार्ध श्लोक में ही पूर्ण हो चुका। आगे भगवान् ने यह बताया है कि शिष्टाचार को धर्म में प्रमाण सब स्मृति-कारों ने माना है। तदनुसार शिष्टाचार देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए। और शिष्ट रूप से ही अपना दृष्टान्त उपस्थित किया है कि मैं लोक में शिष्ट रूप से स्वीकृत हूँ और मैं कर्म में लगा हुआ हूँ, इसलिए मेरा अनुशरण करते हुए तुम्हें भी कर्म करते रहना चाहिए। किन्तु इस पद्य के अन्त में "चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्" पद्य आये हैं इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ तक लोक संग्रह का ही प्रकरण चल रहा है। इसलिए प्रकरण भेद की व्याख्या यहाँ संगत प्रतीत नहीं होती ॥२५॥

यहाँ यह प्रश्न होगा कि ज्ञानी पुरुष को लोक दिखावे के लिए कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? जो ज्ञानी नहीं हैं उनको यही क्यों न समझा दिया जाय कि जो ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त हैं वा ज्ञानी हो चुके हैं उन्हें कर्म नहीं करना चाहिए। किन्तु तुम लोग अभी वैसे नहीं हो इसलिए तुम कर्म-मार्ग में ही रहो। तुम्हें अभी कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं, इस उपदेश से ही काम चल जायगा फिर लोक-शिक्षार्थ ज्ञानी पुरुष भी कर्म बन्धन में पड़े, इसकी क्या आवश्यकता है ? इस शंका के निवारणार्थ भगवान् कहते हैं कि जो अज्ञान वश आसक्ति पूर्वक कर्म कर रहे हैं उनमें बुद्धि भेद पैदा नहीं करना चाहिए, अपितु मुक्त होकर अर्थात् कर्म योग मार्ग से कर्म करते हुए विद्वान् उन्हें कर्म मार्ग में ही प्रवृत्त रहने दें, और उनसे कर्म ही कराते रहें यही उचित मार्ग है। "जोषयेत्" का यह भी अर्थ हो सकता है कि कर्म में ही उनकी प्रीति उत्पन्न करता रहे।

इसका तात्पर्य यह है कि सर्वसाधारण लोक जो आसक्ति पूर्वक शास्त्रोक्त कर्म मार्ग में लगे हुए हैं "स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि श्रुति वचनों के अनुसार फलाशा से ही कर्म करते हैं 'यह मेरा कर्तव्य है' इसका फल यह मैं भोगूँगा इत्यादि उनकी बुद्धि में भेद पैदा न करावे। अर्थात् जैसी उनकी बुद्धि है वैसी ही रहने दे उसे अन्यथा न करे। यदि उनसे यह कहा जायगा कि तुमने जो मार्ग लिया है वह अशुद्ध है इससे जो फल मिलेगा वह अल्पकाल में ही नष्ट होने वाला होगा। उत्तम तो यह है कि तुम आत्म-ज्ञान के लिए प्रयत्न करो और कर्म छोड़ो तो उनकी श्रद्धा विचलित हो जायगी और वे शास्त्रोक्त कर्म भी छोड़ बैठेंगे। अशुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान व जिज्ञासा का उदय होगा नहीं, तब

वे न इधर के रहे न उधर के दोनों तरफ से गिर कर यथेच्छाचारी बन जायँगे और उनका पूर्ण पतन हो जायगा। इसलिए सर्व साधारण का हित इसी में है कि वे जो शास्त्रोक्त कर्म करते हैं उसी में उनकी प्रीति बढ़ाई जाय। और शनैः शनैः उनसे कर्म का नहीं अपितु फलाशा का त्याग कराया जाय। इस प्रकार जब उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा तब वे आत्मज्ञान के अधिकारी बन जाँयगे और क्रमशः जिज्ञासु वा ज्ञानी बन सकेंगे। यह हित-साधन तभी हो सकता है कि ज्ञानी पुरुष भी उनके समान ही कर्म करता रहे। इसे देखकर उनकी भी कर्म में अधिक-अधिक प्रीति बढ़ती रहे। ब्रह्मज्ञान के वाचिक उपदेश से तो उलटा फल होगा। अशुद्ध अन्तःकरण में ऐसे भाव आ जायँगे कि सब में ही ब्रह्म व्यापक है तब दूसरे का जो धन है उसमें और हमारे धन में कोई भेद नहीं। हम दूसरे का धन व वस्तु ले लें तो उसमें दोष क्या ? इस प्रकार चोरी की प्रवृत्ति का प्रोत्साहन होगा। वा जैसे किसी कवि ने लिखा है कि :—

ब्रह्मैव सर्वमितिवेद विदो वदन्ति तस्मान्नमे सखि परापर भेद बुद्धिः।
जारेतथागृहपतौ सदृशोनुरागो, व्यर्थंकिमर्थमसतीति कदर्थयन्ति ॥

अर्थात् कोई दुराचारिणी स्त्री अपनी सखी से कहती है कि वेदवेत्ता लोग सबको ब्रह्म ही बताते हैं इसलिए मैं भी स्व और पर का भेद नहीं समझती, अपने जार और घर के पति में समान ही प्रेम रखती हूँ। इस प्रकार वेद की आज्ञा के अनुकूल आचरण करने पर भी लोग मुझे असती व दुराचारिणी क्यों कहते हैं ? इस प्रकार की उलटी समझ से उन व्यक्तिओं का वा व्यक्ति समूह रूप समाज का पतन ही होगा। इसलिये ऐसा बुद्धि भेद का वाचिक उपदेश न कर अपने आचरण द्वारा ही ज्ञानी को और लोगों की कर्म में प्रवृत्ति वा प्रीति कराने के लिए स्वयं कर्म करते रहना चाहिए। श्री रामानुजाचार्य बुद्धि भेद का यह अर्थ करते हैं कि कर्मयोग से अतिरिक्त भी कोई ब्रह्म ज्ञान का साधन है ऐसी बुद्धि ही कर्मासक्त पुरुषों में उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

वैदिक सनातन मार्ग में अधिकार भेद मुख्य माना गया है। जो जिस कर्म का अधिकारी है उसे उसी कर्म का उपदेश देना गुरु का कर्तव्य है। अन्य प्रकार के अधिकारी को अन्य प्रकार का उपदेश देने का परिणाम बुरा ही होता है। यही अधिकार भेद इस पद्य में भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म के अधिकारी अशुद्ध अन्तः करण मनुष्यों को एकाएक डिगाना उचित नहीं है किन्तु उनमें शनैः शनैः सुधार करना उनकी फलाशा छुड़ाना यही ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है और यही लोक-संग्रह है। इस लिए उनके उपदेशार्थ ज्ञानी को भी कर्म करना ही चाहिए। यही सब प्राचीन व्याख्याताओं का मार्ग है।

लोकमान्य तिलक प्राचीनों के इस व्याख्या मार्ग पर यह दोष देते हैं कि इसका तात्पर्य तो यह निकला कि अज्ञानियों को अज्ञानी ही रहने दिया जाय,

यह बात गीता को अभीष्ट हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए बुद्धि भेद का यही अर्थ करना चाहिए कि अपने कर्म-त्याग द्वारा लोगों को निरुद्यमी वा आलसी न बनाया जाय। अपितु ज्ञानी स्वयं कर्म करता हुआ उन्हें भी कर्म की शिक्षा देता रहे। अन्तिम अभिप्राय तो एक ही हुआ किन्तु बुद्धि भेद शब्द का अर्थ लोकमान्य की व्याख्या में ठीक नहीं बैठा। बाह्य क्रियाओं का भेद ही उन्होंने बुद्धि भेद माना और आगे के २९ वें श्लोक में भी जो विचलित न करने का उपदेश है वह भी प्राचीनों की व्याख्या में ही सुसंगत होता है। इस पर पाठक विचार करलें।

बावनवां-पुष्प

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥२९॥

इस प्रकार यज्ञार्थ वा लोक संग्रहार्थ कर्म करने से कर्मबन्धन नहीं होता यह उपदेश भगवान् ने दिया। इस पर अर्जुन के मन में यह शंका होना स्वाभाविक है कि कर्म जब बन्धन में डालने वाला है तो उद्देश्य दूसरा होने पर भी उसकी बन्धकता कैसे नष्ट हो जायगी और बन्धन में डालकर वह आत्मा का पतन कैसे नहीं करेगा ? यह शंका समझ कर भगवान् इसका तात्त्विक उत्तर इन पद्यों के द्वारा देते हैं कि यथार्थ में आत्मा में कर्तृत्व है ही नहीं—जब आत्मा में कर्तृत्व ही नहीं, आत्मा का कर्म से यथार्थ सम्बन्ध ही नहीं तब कर्म आत्मा के बन्धक क्यों होंगे ? यही कहा जाता है। श्लोकार्थ यह है कि—

प्रकृति के गुणों से सब प्रकार के कर्म किये जाते हैं। अहंकार से विमूढ़ आत्मा वाला पुरुष अपने आपको कर्त्ता मान लेता है !

प्रकृति और माया :—

गीता में यहाँ प्रकृति शब्द पहला ही आया है। इसलिए इस शब्द का अर्थ यहाँ विचारना उपयुक्त होगा। सातवें अध्याय में भगवान् ने पाँचों महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की अपरा प्रकृति और जीवरूप परा प्रकृति बताई है। इनमें से महाभूतों को तो यहाँ लिया नहीं जा सकता क्योंकि महाभूतों के गुण तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं। ये तो कर्मों के विषय होते हैं। अर्थात् इन पर कर्म किए जाते हैं, ये कर्म के कर्त्ता नहीं। और जीव को जो परा प्रकृति कहा है वह भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि इस पद्य में यही तो प्रतिपादन करना है कि जीव में वास्तविक कर्तृत्व नहीं, बुद्धिहीन लोग उस पर आरोपित करते हैं। फिर यदि पूर्वार्ध में प्रकृति पद से जीव ही ले लिया जाय तो जीव पर ही मुख्य कर्तृत्व आ जायगा तब पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में परस्पर विरोध हो जायगा। अहंकार को आगे इस विमूढ़ता का कारण बतलाया है इसलिए कर्मों का कर्तृत्व उस पर भी नहीं माना जा सकता ! तब मन और बुद्धि शेष रहते हैं। वे ही प्रकृति शब्द से लिये जाँय, यह प्राप्त होता है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति ही स्वतंत्र रूप से जगत् का उत्पादन करती है। सब प्रकार के कर्मों का कर्त्तृत्व उसी पर है। पुरुष तो कमल के पत्ते की तरह निर्लेप रहता है। प्रकृति वहाँ सत्व, रज, तम तीन गुणों का ही नाम है उनके द्वारा ही कर्म होते हैं। अर्थात् उन गुणों पर ही वास्तविक कर्त्तृत्व है। यहाँ भी प्रकृति के गुणों को ही मुख्य कर्त्ता बताया गया है इसलिए सांख्योक्त प्रकृति का ग्रहण भी यहाँ के प्रकृति पद से प्राप्त होता है! किन्तु प्रकृति गुण—इन शब्दों से प्रकृति और गुणों से भेद बताया गया। वह सांख्य प्रक्रिया में नहीं घटता क्योंकि वहाँ तीनों गुणों का नाम ही प्रकृति है। उनमें जब तक साम्य रहे तब तक वे प्रकृति नाम से कहे जाते हैं। इसलिए सांख्योक्त प्रकृति का यहाँ ग्रहण करने पर भी 'प्रकृति के गुण' इस षष्ठी विभक्ति का स्वारस्य नहीं रहता यह अड़चन है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति को स्वतंत्र रूप से गीता में नहीं स्वीकार किया गया। आगे सप्तमादि अध्यायों में वर्णन आवेगा कि मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि सांख्य की प्रक्रिया गीता को मान्य नहीं है। इसलिए भी प्रकृति शब्द का सांख्योक्त प्रकृति अर्थ करना उपयुक्त न होगा।

उपनिषदों में माया को ही प्रकृति कहा जाता है :—

"मायान्तुप्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"

(श्वेता०)

भगवत् गीता में भी माया और प्रकृति दोनों शब्द आये हैं। वहाँ जगत् की कर्त्ता रूप से प्रायः प्रकृति का निर्देश है और मोहकता रूप में प्रायः माया का निर्देश है। कहीं-कहीं एक ही पद्य में माया और प्रकृति दोनों शब्द आये हैं। इन सबका विशेष विचार उन पद्यों की व्याख्या में ही होगा! माया को भी गीता में गुणमयी कहा गया है और अन्तिम अध्यायों में इन गुणों का विशेष रूप से विवरण है। यह सब विचार वहाँ पुनः किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि भिन्न-भिन्न व्याख्याकार यहाँ प्रकृति शब्द से कोई पूर्वोक्त मन, बुद्धि आदि को, और कोई माया को लेते हैं।

आगम-शास्त्र में प्रकृति, माया और महामाया तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार की मानी गई हैं। महामाया से माया की और माया से प्रकृति की वहाँ उत्पत्ति मानी जाती है। महामाया महेश्वर की प्रधानशक्ति है। सत्त्व, रज आदि तीनों गुणों का विकास प्रकृति में ही आ कर होता है। उसीसे आगे जगत् बनता है और उन गुणों पर ही कर्त्तृत्व माना जाता है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ प्रकृति शब्द से उस परमेश्वर की शक्ति को ही लिया है और पद्य का ऐसा अर्थ किया है कि प्रकृति अर्थात् परमेश्वर की शक्ति के गुण अर्थात् विकार जो मन, इन्द्रिय आदि हैं उनके द्वारा सब कर्म होते हैं।

हमारे विचारानुसार गीता में जो प्रकृति शब्द का अर्थ स्वयं लिखा है वही गीता में लिया जाना उचित होगा। इसलिए प्रकृति अर्थात् मन और

बुद्धि के गुण, सत्व, रज, तम आदि से सब कर्म किये जाते हैं अथवा प्रकृति मन, बुद्धि आदि के गुण अर्थात् अप्रधान रूप—उनकी प्रेरणा से ही चलने वाले शरीर के अवयवों से सब कर्म होते हैं। यह पूर्वार्ध की व्याख्या उचित होगी। मन, बुद्धि आदि सब ही मूल प्रकृति के कार्य होने से त्रिगुणात्मक हैं इसलिए उनके गुण सत्वादि को कहना विरुद्ध नहीं होता। सांख्योक्त प्रकृति पर भी गीता ने कर्तृत्व माना ही है यद्यपि उसकी स्वतंत्रता से गीता सहमत नहीं है तथापि कर्तृत्व प्रकृति पर है इसमें गीता की भी विप्रतिपत्ति न हो, और आगे सत्वादि गुणों को प्रकृति सम्भव अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न बताया गया है। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि जबतक तीनों गुण समान अवस्था में रहें तब तक उसका नाम प्रकृति है और उससे सृष्टि नहीं होती जब एक एक गुण बढ़कर दूसरों को दबाता हुआ विषमता में आता है तब ही सृष्टि का आरम्भ होता है अर्थात् साम्यावस्था से उत्पन्न भी कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय को लेकर यहाँ भी प्रकृति का गुण भेद-निर्देश किया गया। सृष्टि का अर्थ जन्यता ही मान लिया जाय। इस प्रकार सांख्य शास्त्रोक्तप्रकृति का ग्रहण करने वाले व्याख्याकारों के मतानुसार भी संगति हो सकती है। और त्रिगुणात्मक होने के कारण माया और प्रकृति एक ही हैं अथवा अभियुक्त विद्वान् इनमें इतना भेद बताते हैं कि 'गुणत्रयवती-माया-गुणत्रयंतु प्रकृतिः' अर्थात् माया तीनों गुण वाली है और प्रकृति तीनों गुणों का ही नाम है। इस विवरण के अनुसार प्रकृति शब्द का माया अर्थ करने से षष्ठी विभक्ति सुसंगत हो जाती है इसलिए माया अर्थ करना भी असंगत नहीं। सब व्याख्याओं के अनुसार तात्पर्य एक ही निकलता है कि आत्मा पर मुख्य कर्तृत्व नहीं है। क्योंकि आत्मा को असंग और विभु माना जाता है, उस पर क्रिया हो नहीं सकती। उस पर क्रिया को लादने वाला अहंकार ही है यह उत्तरार्ध में कहा गया है।

यहाँ अहंकार शब्द की भी दोनों प्रकार की व्याख्या मिलती है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति से महत् और उससे अहंकार की उत्पत्ति मानी जाती है। मन, बुद्धि और अहंकार तीनों का सम्मिलित नाम अन्तःकरण है। इनकी जुदी-जुदी वृत्तियों में अहंकार की वृत्ति यही बताई गई है कि—वाह्य किसी पदार्थ का अपने साथ कैसा सम्बन्ध है इसे बताने वाला ही अहंकार होता है।

उसी अहंकार का यहाँ निर्देश है यह कई व्याख्याकार मानते हैं। उनके मतानुसार इसका अर्थ होगा कि वाह्य मन, बुद्धि आदि का भी अहंकार आत्मा के साथ तादात्म्य बता देता है। इससे द्रष्टा आत्मा की बुद्धि में मोह आ जाता है और वह मन बुद्धि आदि के किए हुए कर्मों में अपना कर्तृत्व मान लेता है। अर्थात् मन बुद्धि आदि भी उसे आत्म स्वरूप ही प्रतीत होते हैं तब मन बुद्धि आदि के कर्मों का अपने ऊपर लादना सुतरां संगत हो गया। जो व्याख्याकार सांख्य की प्रक्रिया का गीता में स्पर्श भी नहीं मानते उनके मतानुसार 'अहंकरणम्

अहंकार' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन बुद्धि शरीरादि में जो अज्ञानवश अहं बुद्धि हो रही है वही अहंकार शब्द का अर्थ है। उसीसे मन बुद्धि आदि के किए हुए कर्मों को मोहवश आत्मा अपने किए मान लेता है। फलतः तात्पर्य तो दोनों का एक ही है। सांख्योक्त प्रक्रिया को लेना न लेना यही मात्र भेद है। इस प्रकार इस पद्य से भगवान् ने यह बताया कि कर्मों का आत्मा से वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, वे तो अज्ञान वश आत्मा पर आरोपित हैं तब उनसे आत्मा का बन्धन ही कैसे होगा। आरोपित धर्म से तो उसके धर्म वस्तुतः नहीं आते। जैसा मुख को कोई चन्द्रमा कहने लगे तो चन्द्रमा का प्रकाश और शीतलता मुख में नहीं आ सकती, इसलिए कर्म वस्तुतः आत्मा के बन्धक नहीं हैं यही तत्व यहाँ समझाया गया।

न्याय शास्त्र में आत्मा को ही मुख्य रूप से कर्त्ता और भोक्ता माना जाता है। उनके मत में ज्ञान, इच्छा इत्यादि आत्मा के गुण हैं किन्तु गुण और द्रव्य उनकी परिभाषा में भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए उनके बदलते रहने पर भी आत्मा विकारी नहीं होता। इस न्याय की परिभाषा के अनुसार यह भगवान् का उपदेश ठीक नहीं बैठता। क्योंकि यहाँ आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व नहीं माना गया। भगवान् का उपदेश तो सबको ही माननीय होना चाहिए, फिर न्याय-शास्त्र जो कि आस्तिक दर्शन है इस भगवान् के उपदेश के विरुद्ध क्यों जाय? इसलिए न्याय-मुक्तावलीकार इस पद्य का यह अर्थ लगाते हैं कि धर्म-अधर्म नाम से प्रसिद्ध अदृष्ट ही प्रकृति है। उसके द्वारा उत्पादित जो गुण इच्छा, प्रयत्न आदि हैं उनसे ही कर्म किए जाते हैं। इसलिए कर्मों में केवल आत्मा का कर्तृत्व नहीं, अपितु ज्ञान, इच्छा आदि धर्मों से विशिष्ट आत्मा का कर्तृत्व है। यह अभिप्राय भगवान् ने अठारहवें अध्याय में स्पष्ट किया है वहाँ छः वस्तुओं के मिलने पर कर्म होता है ऐसा कहा गया है। इसलिए केवल आत्मा का कर्तृत्व मानना भ्रान्ति है किन्तु यह न्याय मुक्तावलीकार का साहस मात्र है क्योंकि इसी पद्य में जब आत्मा को कर्त्ता मानने वालों को विमूढ़ शब्द से कहा गया है तब आत्मा पर वास्तविक कर्तृत्व मानने वालों की उक्ति कैसे इसके अनुकूल हो सकती है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नादि जब आत्मा के ही विशेष गुण माने जाते हैं तब और गुणों में उनकी परिभाषा के अनुसार क्रिया हो नहीं सकती। वे क्रिया के कर्त्ता नहीं कहे जा सकते तब वास्तविक कर्तृत्व तो आत्मा रूप द्रव्य पर ही आया तब आत्मा पर आरोपित कर्तृत्व बताने वाली भगवान् की यह उक्ति कैसे उनके मत में संगत हो सकती है। अठारहवे अध्याय की संगति लगाने चले किन्तु इसी पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का संगति उनके मतानुसार नहीं बैठती इस पर कोई ध्यान नही दिया इसीलिए हमने ऐसी व्याख्या करने को साहस मात्र कहा है। वस्तुतः न्यायशास्त्र की कोई परिभाषा श्रुति वा गीता में नहीं मानी गई। वह तो दर्शन के प्रथम अधिकारियों को दर्शन में प्रवेश कराने का एक द्वार मात्र है। आगे के दर्शनों में उस द्वार से आगे बढ़ने वालों के लिये उसके सिद्धान्त

काट दिये जाते हैं। यहाँ श्री विद्या वाचस्पति जी ने "सर्वशः कर्माणि" इसकी व्याख्या करने के लिए कर्मों के ६ भेद बताए हैं किन्तु प्रकृति में विशेष उपयोग न होने से और विस्तार भय से यहाँ हमने उनका विवरण नहीं किया ॥२७॥

इस प्रकार पूर्व पद्य में मूढ़तावश आत्मा पर कर्मों का आरोप बताया गया। आगे जो तत्ववेत्ता विद्वान् हैं उन्हें ऐसी भ्रान्ति नहीं होती, वे प्रकृति के कर्मों को आत्मा पर नहीं लादते, यह कहा जाता है कि हे महाबाहु अर्जुन जो प्रकृति के गुणों का विभाग और उन गुणों के किए कर्मों के विभाग का तत्व-जानते हैं वे गुणजनित इन्द्रियां गुण जनित विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं।

ऐसा गुणों का परस्पर खेल समझ कर अपने आप अर्थात् आत्मा को इन गुणों से भिन्न मानते हुए कर्मों में आशक्त नहीं होते। जब कर्म आत्मा की अपनी वस्तु नहीं है वे प्रकृति के गुणों के द्वारा ही उत्पन्न हैं तब उनमें आसक्ति अर्थात् आत्मा का संग होने का प्रसंग ही क्या ? इसलिए कर्म आत्मा के धर्म नहीं और कर्मों से बन्धन भी आत्मा का वास्तविक नहीं, यह सब प्रकृति के गुणों का ही खेल है। यह समझने पर ही आत्मा की आसक्ति दूर होती है और तब ही कर्म योग सिद्ध होता है। इसलिए कर्मयोग के मूल में भी पहले तत्व ज्ञान चाहिए यह भी सूचित किया।

श्री मधुसूदन सरस्वती इस व्याख्या पर यह दोष देते हैं कि ऐसा ही कथन इष्ट था तो—"गुणकर्मणोः तत्ववित्" इतना ही कहने से काम चल जाता। तब उनके विभागों को तत्ववित् इस कथन में विभाग शब्द व्यर्थ प्राय है। विभाग दो हैं भी नहीं। गुण और कर्म का विभाग तो एक ही है फिर विभागयोः यह द्विवचन भी असंगत होता है। इसलिए वे इसकी (इस पद्य की) व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि गुण और कर्म इनका पहले द्वन्द्व समास करना और उसे समाहार द्वन्द्व मानकर गुण कर्म यह एक वचनान्त पद बनाना। आगे विभाग शब्द का अर्थ "विभज्जते इति विभाग" इति व्युत्पत्ति के अनुसार इन गुण और कर्मों से पृथक रहनेवाला आत्मा ही विभाग शब्द का अर्थ है। फिर उस विभाग शब्द के पूर्वोक्त गुण कर्म शब्द का दूसरा द्वन्द्व समास है। [गुणाश्च कर्माणि च तेषां समाहारो गुणकर्म। गुणकर्म च विभागश्चेति गुणकर्म विभागौ तयोः गुण कर्म विभागयोः] इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होगा कि गुण और कर्म ये आत्मा से विभक्त है इसका जो विद्वान् तत्व समझता है वह गुण कर्म में आसक्त नहीं होता।

अन्य व्याख्याकार श्री वेंकट माधव आदि इस अर्थ को बिना दो द्वन्द्व समासों के ही निकालते हैं कि विभाग दो का ही होता है इसलिए गुण विभाग शब्द का अर्थ होगा गुणों से आत्मा का विभाग, अर्थात् गुण और आत्मा की एकता न समझना। और कर्म विभाग शब्द का अर्थ होगा—कर्मों से आत्मा का विभाग, अर्थात् कर्मों को आत्मा के लिये न समझना। इस प्रकार के

दोनों विभागों का जो तत्व जान लेता है वह गुणों का खेल समझ कर आसक्त नहीं होता। इस प्रकार विभाग दो हो जाते हैं। एक आत्मा का तादात्म्य न मानना और दूसरा इच्छा कर्म आदि में अपना सम्बन्ध मानना। एक अहंन्ता का विभाग और दूसरा ममता का विभाग। और विभाग शब्द की व्यर्थता भी नहीं है क्योंकि गुणों से आत्मा को पृथक् समझना और इच्छा आदि कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध न मानना इसीसे आसक्ति दूर होती है। अस्तु! यदि संक्षेप में ही कहा जाय तब तो तत्व-वित् कहने से ही काम चल जाता किन्तु स्पष्ट रूप से खोलकर कहने में तो सब ही शब्द आवश्यक होते हैं। महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी और प्रकार से भी पद्य की व्याख्या करते हैं कि गुण अर्थात् इन्द्रिय आदि; गुणों में अर्थात् विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष गुण अर्थात् सत्वादि के विभाग अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार आदि में अहं भाव से आसक्त नहीं होता और उनके किए हुए कर्मों में ममता रूप से [ये मेरे कर्म हैं इस प्रकार आसक्त नहीं होता] अस्तु! यह व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न शैली से अपना पाण्डित्य प्रदर्शन है। तात्पर्य दोनों पद्यों का यही है कि कर्म प्रकृति के गुण मन बुद्धि आदि से होते हैं आत्मा पर कर्त्तापन मानना भूल है।

यहाँ यह शंका होगी कि क्या भगवान् मन, बुद्धि आदि को स्वतंत्र मानते हैं? ऐसा मानने पर तो सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति की स्वतंत्रता ही आ गई जो कि गीता को इष्ट नहीं है। जैसा कि आगे के प्रवचनों में सिद्ध होगा। और मन, बुद्धि आदि जड़ हैं उनमें बिना चेतन की प्रेरणा के कर्म हो भी नहीं सकता। यदि आत्मा को प्रेरणा देनेवाला मान लिया जाय तब आत्मा की प्रेरणा से मन बुद्धि आदि ने जो कर्म किये उनका कर्तृत्व आत्मा पर आ ही जाता है क्योंकि उसी की प्रेरणा से कर्म हुए। स्वामी की प्रेरणा से यदि कोई भृत्य कर्म करे तो उसका कर्तृत्व तो प्रेरणा करने वाले स्वामी पर भी माना ही जाता है फिर आत्मा पर कर्तृत्व मानने वालों को भगवान् ने मूढ़ शब्द से क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि आत्मा का जैसा विशुद्ध स्वरूप गीता के दूसरे अध्याय में स्पष्ट किया गया है, उस सर्व विकार रहित आत्मा में प्रेरणा रूप कर्म भी नहीं हो सकता। यह ठीक है कि मनबुद्धि आदि जड़ हैं किन्तु आत्मा निर्विकार रहता हुआ भी अपने सन्निधान मात्र से इनमें चैतन्य दे देता है। इससे चैतन्य प्राप्त कर वे कर्म करने में समर्थ हो जाते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से सरोवर का जल भी चमक उठता है इसमें सूर्य की कोई क्रिया विशेष नहीं। सूर्य के सम्मुख होना ही इस क्रिया का कारण है। इसी प्रकार मनबुद्धि आदि के चेतनता प्राप्त कर कर्म में समर्थ होने में भी आत्मा की प्रेरणा नहीं अपितु आत्मा के समीप रहने से ही उनमें चेतनता आ जाती है। अनादि काल से जो मनबुद्धि आदि को आत्मा ने अपना स्वरूप ही समझ रखा है उसी भ्रान्ति युक्त मन, बुद्धि आदि से सम्मिलित आत्मा के द्वारा प्रेरणा भी होती है। विशुद्ध आत्मा प्रेरणा आदि कोई कर्म नहीं करता अथवा यूँ समझो कि मन बुद्धि आदि को स्वरूप के अन्तर्गत

मान कर ही विशुद्ध आत्मा जीव-भाव को प्राप्त होता है। और जीव को भी सप्तमाध्याय में भगवान् ने अपनी परा-प्रकृति ही बताया है। इसलिए जीव की प्रेरणा से यदि मन, बुद्धि आदि में क्रिया हुई तो उसका कर्तृत्व भी प्रकृति रूप जीव पर ही आया। तत्व ज्ञानी पुरुषों की द्रष्टि में तो यह जीव भाव भी कल्पित है इसलिए उनकी कर्म में आसक्ति न होना सिद्ध ही है इसमें—कोई विरोध नहीं रहता ॥२८॥

गूढ़ तत्व को बुद्धि-गत करने के लिए बार बार कहना आवश्यक होता है इसमें पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जाता। इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वोक्त विषयों का ही उपसंहार में—पुनः-कथन किया जाता है कि प्रकृति के गुणों से अर्थात् उनमें तादात्म्य मानकर जो पुरुष मूढ़ हो रहे हैं अर्थात् अज्ञान में फँस रहे हैं वे गुणों के किये हुए कर्मों में आसक्त रहतेहैं। अर्थात् उन्हें अपना ही किया मानते हैं और उनके फल की आशा रखते हैं। वे अकृत्स्नवित् हैं। अर्थात् उन्हें अज्ञानी तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि कर्म करने और उनका फल प्राप्त करने के लिए आशान्वित होना तो उनको है। किन्तु पूरा नहीं समझ पाये हैं कि कर्म प्रकृति के किये हुए हैं हमारे नहीं।

इसलिए उनका ज्ञान अधूरा कहा जा सकता है। ऐसे अकृत्स्नवित् अर्थात् अधूरे ज्ञान वाले पुरुषों को कृत्स्नवित् अर्थात् पूरे ज्ञान वाला पुरुष विचलित न करे। यह पूर्वोक्त २६ वें श्लोक का ही अनुवाद है। यदि ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ देगा तो उन कर्म करने वालों की बुद्धि भी इससे विचलित हो जायगी। उनके मन में यह भाव आने लगेगा कि कर्म करना अच्छा नहीं तब ही तो उस श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष ने कर्म करना छोड़ा है। इस प्रकार बुद्धि-विचलित होने पर वे भी कर्म छोड़ने को तैय्यार होंगे और जब तक उनका अन्तःकरण अशुद्ध है तब तक ज्ञान प्राप्त होगा नहीं, तो वे इधर के व उधर के कहीं के न रहेंगे। इसी अभिप्राय से निषेध किया जाता है कि कर्म में आसक्त पुरुषों की बुद्धि को एकदम विचलित मत करो अपितु उसी मार्ग में उन्हें चलने दो। शनैः शनैः उनकी फलाशा छुड़ाते जाओ, अन्तःकरण शुद्ध होने पर वे स्वयं ज्ञानी बन जायँगे और अधिकारानुसार कर्म योग व ज्ञानयोग में प्रवृत्त हो जायँगे।

लोकमान्य तिलक ने भी बुद्धि विचलित न करने का ऐसा ही अर्थ यहाँ माना है। फिर "न बुद्धि भेदं जनयेत्" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक में प्राचीन व्याख्याओं पर यह दोष देना उनका कहाँ तक संगत है कि इससे तो 'यह सिद्ध' होगा कि अज्ञानियों को अज्ञानी ही रहने दिया जाय इत्यादि। इस पर विज्ञ पाठक विचार करें। हमारी दृष्टि में तो इसका जो अभिप्राय है और इससे अज्ञानी को अज्ञानी ही रहने देने का प्रसंग नहीं आता। इसी प्रकार की व्याख्या हम कर चुके हैं ॥२९॥

तिरपनवां-पुष्प

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

रहस्योद्घाटन

गीता के आरम्भिक भूमिका रूप प्रथम पुष्प में लोकमान्य तिलक के गीता रहस्योक्त विवरणानुसार हम आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों का संक्षिप्त विवेचन कर चुके हैं और उनके मतानुसार ही यह भी बता चुके हैं कि भारतीय धर्म आध्यात्मिक दृष्टि प्रधान होने के कारण सर्वोत्कृष्ट धर्म है। वास्तव में तो ऋषि प्रोक्त भारतीय धर्म में तीनों ही दृष्टियों से विचार किया जाता है और तीनों ही दृष्टियों से जिसकी उपयोगिता सिद्ध हो उसे ही निश्चित धर्म माना जाता है। इसी विचार से कर्म करते ही रहना, इस सिद्धान्त पर, इस अध्याय में भगवान् ने तीनों दृष्टियों से विचार किया है। अपने तुच्छ फल की आशा छोड़कर यज्ञार्थ समष्टि जगत् के हित के लिए कर्म करना—यह आधिदैविक दृष्टि का विचार पहिले उपस्थित किया। समष्टि जगत् के परिचालक देवता ऋषि आदि हैं, उनके साथ यज्ञ से सम्पर्क स्थापित किया जाता है—इस विवरण के अनुसार इसे आधिदैविक दृष्टि समझना उचित होगा और लोक संग्रहार्थ कर्म करना यह दूसरा प्रकरण आधिभौतिक दृष्टि का हुआ। क्योंकि भूत-रूप मनुष्यों पर प्रभाव की दृष्टि से इस पर विचार किया गया। आगे "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादि पद्यों द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया गया। शरीर, मन, बुद्धि आदि में कर्म किस प्रकार होता है यह विचार करने के कारण इसे आध्यात्मिक दृष्टि समझना उपयुक्त है। इस प्रकार तीनों दृष्टियों से कर्म करते रहने का उपपादन यहाँ किया गया। अब इनमें आध्यात्मिक दृष्टि के विचार में अर्जुन को सन्तोष न हुआ। वह सोच सकता है कि मुझे भगवान् अभी तक पूर्ण ज्ञानियों की श्रेणी में न समझ कर ही कर्म करने का ही उपदेश दे रहे हैं, तब मेरी दृष्टि में तो मन, बुद्धि आदि से जो कर्म होते हैं उनको प्रेरणा देने वाला मैं ही हूँ। मेरा अहंकार अभी निवृत्त नहीं हुआ है

इसलिए मेरी दृष्टि में तो जो मैं कर्म करूँगा वे मेरे अर्थात् आत्मा के ही कर्म समझे जायेंगे। तब फिर उन कर्मों का बन्धन मुझे क्यों न होगा ? यह अर्जुन का भाव समझ कर आध्यात्मिक दृष्टि का दूसरा प्रकरण भगवान् उसके सामने रखते हैं कि प्रेरक होने के कारण ही तुम कर्मों को अपने पर लादते हो तो आर्य-शास्त्रों की दृष्टि से सबका प्रेरक तो मैं अर्थात् परमात्मा हूँ। "यः आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरोयमयतियस्यात्मा शरीरं" (जो आत्मा अर्थात् जीवात्मा में बैठा हुआ उसका नियमन कर रहा है अर्थात् उसे चला रहा है) जिसका आत्मा शरीर है इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मण की श्रुति में और "यमेवेषउन्निनीषतितं साधुकर्म कारयति" जिसको यह परमात्मा उन्नत बनाना चाहता है उससे अच्छे कर्म कराता है और जिसे नीचा गिराना है उससे बुरे कर्म कराता है) इत्यादि श्रुतियों से, एवं "प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि" इत्यादि स्मृतियों से तथा "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध विपर्ययौ, (वे० सू० ३। २। ५) से यह सिद्ध है कि जीव जो कर्म करता है वह परमात्मा की प्रेरणा से ही करता है। इस अध्यात्म दृष्टि के अनुसार भी कर्मों का कर्तृत्व तुम पर नहीं आता। अपितु सबके प्रेरक मुझ परमात्मा पर ही सब कर्मों का दायित्व पहुँचता है। इस विचार से तुम्हें अपने आप को कर्मों का फल भोक्ता न समझकर मुझ पर ही सब कर्मों का संन्यास अर्थात् परित्याग वा अर्पण कर देना चाहिए। यही उपदेश आगे भी विस्तार से दिया जायगा कि जो कुछ तुम करते हो वह मुझे अर्पण कर दिया करो। इससे तुम्हें कर्मों का बन्धन नहीं होगा। इस पर यह शंका होगी कि फिर तो कोई दुराचारी मनुष्य भी अपनी चोरी-व्यभिचारी आदि कर्मों को खूब किया करे और प्रेरक होने के कारण भगवान् को ही अपने दुराचारों का फल अर्पण कर दो। इस प्रकार तो समाज विश्रृङ्खल हो जायगा,। इस शंका के उत्तर के लिए उत्तरार्ध में कहा जाता है कि किसी भी कर्म की आशंसा अर्थात् कर्म-फल की कोई भी आशा न रखकर और उन कर्मों में अपना ममत्व न समझकर ही सब कर्मों को मुझे अर्पण किया जा सकता है।

जब तक जीव आशाओं व ममता में बँधा हुआ है तब तक उसका चित्त मुझे कर्मों का अर्पण करने में राजी ही कैसे होगा ? "नारायणायेति समर्पयेत्" इत्यादि वाणी से कह लेना सहज है किन्तु मन में से कर्म फल की आशा को निकाल डालना बहुत कठिन कार्य है। जब मन में आशा और ममता न रही तब कोई भी मनुष्य दुराचार करेगा ही क्यों ? दुराचार तो इन्द्रियों की तृप्ति के लिए होते हैं। और जब इन्द्रियों में अहंता या ममता हो तब ही तक उनकी तृप्ति के लिए मनुष्य व्यापार करेगा और उस व्यापार के फल रूप में इन्द्रियतृप्ति की आशा भी अवश्य रखेगा। जिसने सब फलों की आशा छोड़ दी और शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में जिसकी ममता भी न रही उससे दुराचार होने का प्रसंग ही कैसे आ सकता है ? यहाँ पुनः शंका होगी कि आशा-ममता छोड़ने पर जैसे

दुराचार का प्रसग नहीं आता उसी प्रकार सदाचार का भी तो प्रसंग नहीं आवेगा। इसका उत्तर है कि आशा-ममता न रहने पर भी शास्त्रों में विधान रहने के कारण शास्त्र की आज्ञा से सदाचार करना तो सम्भव हो सकता है किन्तु दुराचार की कोई शास्त्र आज्ञा नहीं देता इसलिए दुराचार का प्रसंग नहीं आता। बस, इस पद्य में यही उपदेश दिया जाता है कि तुम ऐसा अभ्यास करो कि आशा और ममता तुमारी दूर हो जाय फिर निराशी और निर्भय होकर अपने सब कर्मों को पूर्वोक्त अध्यात्म दृष्टि से मेरी प्रेरणा से हुए मानकर मुझे ही अर्पण कर दिया करो। अर्थात् अपने आप उनका फल भोगने की कोई इच्छा व संभावना न किया करो। इस बुद्धि से यह जो तुम्हें सन्ताप हो रहा है कि युद्ध में गुरू आदि की हिंसा करने से मुझे बड़ा पाप होगा और उसका अत्यन्त बुरा फल मुझे भोगना पड़ेगा। इस ज्वर अर्थात् सन्ताप को छोड़कर युद्ध रूप शास्त्रोक्त कर्म में प्रवृत्त हो जाओ ॥३०॥

इस अपने उपदेश किए हुए कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार कार्य करते रहते हैं, मेरे कथन में श्रद्धा रखते हैं, और असूया नहीं करते वे भी पापों से छूट जाते हैं। मनुष्य में दोष दर्शन की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है जिन गुरु आदि में उस वृत्ति के रोकने की प्रवृत्ति हो जाय, अर्थात् जिनके विषय में दोष देखने का कभी अवसर ही न आने दे, उस मन की वृत्ति को श्रद्धा कहते हैं। संस्कृत भाषा में शृत् यह अव्यय चिपकने के अर्थ में आया करता है! जिन गुरु ईश्वर आदि में मन को चिपकने दिया जाय उनके विषय में फिर दोष दर्शन का प्रसंग ही नहीं रहता। शृत् पूर्वक मन का आधान ही श्रद्धा है। असूया इसके विपरीत होती है। जहाँ किसी के गुणों में भी खोद-खोद कर दोष ही निकालने की वृत्ति हो उसे असूया कहते हैं। यही भगवान् ने कहा है कि मेरे उपदेश में जो श्रद्धा रखें और असूया का भाव बिल्कुल न आने दें—उनके भी पापों का क्षय हो जाता है?

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने 'अहं' इस अस्मद् शब्द का प्रयोग अव्यय पुरुष के लिए ही प्रायः किया है। चतुर्थाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट होगा कि भगवान् कृष्ण अपने को अव्यय पुरुष का अवतार ही कहते हैं। और 'मयाततमिदं सर्वं' (मैंने ही सब जगत् को उत्पन्न किया है) 'मत्स्थानि सर्व भूतानि' (मेरे आधार पर ही सब भूत रहते हैं) इत्यादि उपदेशों की संगति भी अस्मद् शब्द का अव्यय पुरुष अर्थ मानने पर ही हो सकती है! क्योंकि अवतार रूप में भगवान् कृष्ण ने सब जगत् की उत्पत्ति नहीं की है वा अवतार रूप कृष्ण में सब भूत स्थित भी नहीं हैं। किन्तु इस पद्य में 'मेरे इस मत के अनुसार जो आचरण करते हैं। यहाँ अस्मद् शब्द से अवतार रूप कृष्ण का ग्रहण करने से ही संगति हो सकती है। कहीं-कहीं अस्मद् शब्द का अर्थ अवतार रूप भी माना जाता है। श्री विद्या वाचस्पति जी ने अपने विज्ञान भाष्य में इसको एक

तालिका दी है कि कहाँ-कहाँ गीता में अस्मद् शब्द का अव्यय पुरुष अर्थ है और कहाँ-कहाँ अवतार रूप कृष्ण अर्थ है। यहाँ अवतार रूप कृष्ण ही अर्थ उन्होंने बताया है :—'मेरा यह मत है' ऐसा कहना व्यक्ति रूप में ही संगत हो सकता है। अथवा यदि यहाँ भी अव्यय पुरुष ही अर्थ लेना हो तो 'मेरे मत' में इन शब्दों का अर्थ होगा कि सब पुरुषों में आत्मा रूप से अनुप्रविष्ट अव्यय पुरुष का यह मत अर्थात् आदेश है। आरम्भ के प्रवचनों में स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा का आदेश उत्तम कार्यों में ही मिलता है! जब कोई पुरुष किसी दुराचार में प्रथम प्रवृत्त हो तो वह बार-बार झिझकता है कि मैं ऐसा क्यों कर रहा हूँ? मानो आत्मा उसे रोकता है कि ऐसा मत कर! इसलिए आत्मा का भीतरी निर्देश जिस काम में हो उसे धर्म ही समझना चाहिए। भगवान् का उपदेश यही है कि निष्काम भाव से कर्म करने में आत्मा की सम्मति है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का उपयोग करना आत्मा चाहता है। इसलिए ज्ञान की तरह कर्म में भी आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किन्तु फल की इच्छा बुद्धि व मन का धर्म है। वह विशुद्ध आत्मा का निर्देश नहीं। बुद्धि व मन का धर्म जब प्रबल हो जाता है तब वे आत्मा के अन्तर्निर्देश की परवाह नहीं करते। इसीलिए अभ्यास हो जाने पर दुराचारों में भी फिर रोक नहीं होती। इस प्रकार मेरा मत शब्द अन्तर्यामी पुरुष के निर्देश पर भी लगाया जा सकता है।

यहाँ 'अपि' शब्द आने से श्री रामानुजाचार्य यह भाव भी इस पद्य का बताते हैं कि जो किसी कारण मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करने में असमर्थ हों किन्तु मेरे उपदेश में श्रद्धा रक्खें और असूया अर्थात् दोष देखने की प्रवृत्ति न करें उनका भी श्रद्धा के कारण पाप क्षय हो जाता है ॥३१॥

इसके विपरीत जो मनुष्य मेरे इस कथन में असूया करते हैं अर्थात् बिना फल की इच्छा के कर्म होगा ही कैसे? इत्यादि दोष ढूँढने की प्रवृत्ति रखते हैं और मेरे उपदेशानुसार उक्त कर्मयोग का आचरण नहीं करते अथवा पूर्व पद्य के दूसरे अर्थ के अनुसार अपने भीतर बैठे हुए अन्तर्यामी पुरुष की आवाज भी जो आग्रह वश नहीं सुनते :—उन्हें ऐसा समझो कि ये सब प्रकार के ज्ञान में मूढ़ हैं! उन्हें कोई भी युक्ति से समझाकर सीधे मार्ग पर नहीं लिया जा सकता। वे अचेता अर्थात् विचार शून्य हो गए हैं और ये नष्ट ही होंगे अर्थात् संसार में रहते हुए जन्म-मरण के प्रवाह में ही पड़े रहेंगे! ऐसा समझ कर उनकी उपेक्षा ही करना उचित होगा! उन्हें समझाना भी व्यर्थ है क्योंकि वे समझ ही नहीं सकते। यही बात श्री भर्तृहरि ने भी नीति-शतक में विस्तार से कही है कि चाहे कोई बालू-मिट्टी से तेल निकाल ले, मृग तृष्णा के जल से पान कर अपनी तृप्ति करले, इधर-उधर घूम कर शशशृंग भी प्राप्त करले—ऐसी असम्भव बातें हो सकती हैं किन्तु आग्रह रखने वाले मूर्ख का चित्त कभी नहीं सुधारा जा सकता। वह पद्य इस प्रकार है:—

लभेत् सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
पिबेच्चमृगतृष्णिकासुसलिलं पीपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटन् शशविषाणमासादयेत्,
न तु प्रति निविष्ट मूर्खजनचित्तमाराघयेत् ॥

इस पद्य में साहित्यशास्त्र की दृष्टि से 'मिथ्याध्यवसिती' अलंकार है ! जहाँ किसी बात को अत्यन्त मिथ्या अर्थात् असम्भव सिद्ध करने के लिए और-और बातों की कल्पना की जाय वहाँ 'मिथ्याध्यवसिती' अलंकार होता है ! यहाँ श्री भर्तृहरि ने आग्रही मूर्ख पुरुष का चित्त बदलना अत्यन्त असम्भव है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त पद्य के तीन चरण कहे हैं कि चाहे ऐसी असम्भव बातें बन भी जाये तो भी आग्रही मूर्ख का चित्त नहीं बदला जा सकता। यहाँ पूर्वोक्त सिकता से तेल निकालने, मृग तृष्णा का जल पीने, वा शश विषाण अर्थात् शशक का सींग प्राप्त करने में सफलता होगी, ऐसा आशय नहीं है। किन्तु इन बातों से भी अधिक असम्भव आग्रही मूर्ख का चित्त बदलना है ! यह उसकी अत्यन्त असम्भवता में ही तात्पर्य है ! इसी आशय से भगवान् ने कहा है कि उन्हें नष्ट ही समझो। उन्हें समझाने का कोई प्रयत्न न करो ॥३२॥

"गीता का विषय विभाग" शीर्षक व्याख्यान में हम लिख आये हैं कि श्री विद्या वाचस्पति जी ने प्रकरण विभाग अन्य प्रकार से ही किया है। उनके मतानुसार गीता में चार विद्या, चौबीस उपनिषद् और एकसौ साठ (१६०) उपदेश हैं। यह क्रम द्वितीयाध्याय से प्रारम्भ होता है। इनमें पहली यह राजर्षि विद्या अथवा वैराग्य योग विद्या षष्ठाध्याय की समाप्ति पर्यन्त है। उसमें आठ उपनिषद् हैं। उनमें से आत्मा नित्य और ज्ञान स्वरूप है। यह सांख्य निष्ठा और फलासक्ति छोड़कर कर्म करना, यह कर्मयोग निष्ठा जिनमें प्रतिपादित है, वे दो उपनिषद् द्वितीयाध्याय में कही गई। जिनका विभाग प्राचीन व्याख्याकार भी उसी प्रकार मानते हैं। अब तृतीयाध्याय में बुद्धियोग साधन करने वाले को कर्म परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि आत्मा ज्ञान-कर्ममय है। उसका एक अंश छोड़ना किसी प्रकार उचित नहीं होता। यह आत्माश्रितसाम्ययोग नाम की तीसरी उपनिषद् यहाँ पूर्ण होती है। अर्थात् उनके मतानुसार यहाँ एक प्रकरण समाप्त है। जिसमें कि कई प्रकार से कर्म परित्याग की अनुचितता दिखाई गई है। और फलाशा और आसक्ति छोड़कर कर्म निरन्तर करने का आदेश है। इससे ज्ञान कर्म-मय-आत्मा का पूर्ण विकास होगा। यह दूसरी बात है कि अपने अधिकानुसार कोई व्यक्ति ज्ञान निष्ठा को ही प्रधानता दे. और कोई कर्म निष्ठा को ही प्रधान मानकर उसका अनुसरण करे। किन्तु सर्वथा किसी एक का परित्याग नहीं होना चाहिए। ज्ञान की उपेक्षा कर केवल कर्म में आसक्त रहने वाले जिस प्रकार निन्दनीय हैं उसी प्रकार केवल ज्ञान में

निरत होकर कर्म संन्यास करने वाले भी उचित मार्ग पर नहीं कहे जा सकते। यही बात यहाँ तक के प्रकरण में कही गई है। इसलिए उन्होंने इस प्रकार का नाम 'आत्माश्रितसाम्ययोग' रक्खा है। इसके आगे तृतीयाध्याय की समाप्ति तक बुद्धियोग के प्रतिबन्धक जो दोष हैं उनके परित्याग का प्रतिपादन होगा। वह चौथी उपनिषद् होगी। इनमें उपदेशों का विभाग पृथक्-पृथक् बताना यहाँ अशक्य है। क्योंकि इससे ग्रन्थ बहुत बढ़ जाने का भय है। जिनको यह सब पूर्ण रूप से जानना हो वे उनके विज्ञान भाष्य का ही पर्यालोचन करें।

चौवनवाँ-पुष्प

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

इस तैतीसवें पद्य की अवतरणिका प्रायः प्राचीन टीकाकारों ने यही मानी है कि जब आप सब लोगों के हितैषी होकर उत्तम उपदेश देतें हैं तो फिर लोग क्यों नहीं चलते ? अथवा यह भी अवतरणिका हो सकती है कि पूर्वोक्त बत्तीसवें श्लोक के अनुसार ऐसा आग्रह मनुष्यों को क्यों हो जाता है कि अपने हित के उपदेश में भी ध्यान नहीं देते :—अथवा अपने अन्तर्यामी पुरुष की ध्वनि भी आग्रह वश नहीं सुनते । ऐसा आग्रह ही क्यों हो जाता है ? इन बातों का कारण भगवान् बताते हैं कि ज्ञानवान पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा अर्थात् शरीर का व्यापार करता है । सब प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं । मेरी आज्ञा अथवा अन्तर्यामी का निर्देश रूप निग्रह इसमें क्या करेगा ? निग्रह का अर्थ रोक होता है अर्थात् प्रकृति के अनुसार चलने में उन्हें किसी के उपदेश से रोक नहीं हो सकती ।

यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है । जिसे लौकिक भाषा में आदत कहा जाता है । पूर्वजन्म के कर्मानुसार जिसकी जैसी आदत बन जाती है उसी के अनुसार वह सब काम किया करता है । आदत के अनुसार काम करने से उसे शास्त्र व उपदेश रोक नहीं सकते । यहाँ प्रश्न होगा कि जब ऐसा ही है । पूर्व कर्म के अनुसार आदत बनती है और उसके अनुसार ही मनुष्य नये-नये काम भी करता है तब फिर शास्त्रों में मनुष्य को कर्त्तव्य का उपदेश ही क्यों दिया गया ? जब शास्त्र के उपदेश से कोई रोक नहीं हो सकती है तो फिर व्यर्थ इतने शास्त्रों का आडम्बर क्यों रचा गया ? इसका उत्तर कई विद्वान् कई प्रकार से देते हैं । आयुर्वेद के आविष्कर्त्ता चरक महर्षि ने लिखा है कि—

'हन्यते दुर्बलं दैवं पौरुषेणविपश्चिता'

अर्थात् दैव और पुरुषार्थ का एक प्रकार का संघर्ष होता है । जो दुर्बल है वह परास्त हो जाता है । इसका तात्पर्य यह निकला कि शास्त्रों के उपदेश से जो हम करना चाहेंगे वह पुरुषार्थ होगा ! और पूर्व कर्मानुसार हमारा स्वभाव

हमें जिधर लगाता है वह दैव है। यदि दैव प्रबल है अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म प्रबल हैं और उनसे हमारी प्रकृति व आदत भी दृढ़ बनी है तो शास्त्र जनित पुरुषार्थ हार जायगा अर्थात्—दृढ़ स्वभाव वाला मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करेगा उसके लिए शास्त्र की आज्ञा व्यर्थ ही होगी। किन्तु यदि पूर्व कर्म जनित प्रकृति (स्वभाव) शिथिल है और शास्त्र व गुरु का उपदेश प्रबल है तो वह उस दैव को परास्त कर देगा और शास्त्रानुसार ही मनुष्य की प्रवृत्ति होगी। ऐसे शिथिल स्वभाववाले पुरुषों के कल्याण के लिए ही शास्त्र बनाए गए हैं और उनपर ही गुरुओं का उपदेश भी काम करता है। यह स्वभाव की दृढ़ता व शिथिलता फल देखकर ही प्रतीत हो सकती है। इसलिए उपदेश सबको ही दिये जाते हैं कहीं वे निष्फल भी हो जाते हैं तो कहीं सफल भी होते हैं।

लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में भी इस रहस्य पर विस्तृत विचार किया है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वभाव पूर्व कर्मानुसार कैसा भी बना हो किन्तु वह आत्मा की स्वतंत्रता को सर्वथा छिपा नहीं सकता। समय समय पर आत्मा की स्वतंत्रता उभड़ती ही है। उस स्वतंत्रता को उभाड़ने वा सहायता देने के लिए ही शास्त्रों और गुरुओं के उपदेश होते हैं। किसी समय वे उपदेश काम कर जाते हैं और स्वभाव बदल कर भी मनुष्य कामकर बैठता है, इसलिए शास्त्रों वा गुरुओं के उपदेश व्यर्थ नहीं कहे जा सकते। इसी-लिए इस पद्य में भगवान् निग्रह को व्यर्थ बताते हैं और इसके अगले श्लोक में ही फिर राग-द्वेष के छोड़ने का उपदेश देते हैं। इसको विचारने पर यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि रागद्वेष रूप प्रकृति पूर्व कर्मानुसार बनी हुई है। मनुष्य अपने आत्मा की स्वतंत्रता से उसे दबावे और रागद्वेष के वश में न हो।

प्रकृत श्लोक में लोकमान्य तिलक ने यह आशय प्रकट किया है कि प्रकृति को बल पूर्वक (एकबारगी) इकमद नहीं रोका जा सकता। इससे वे इस पद्य का आशय भी संन्यास मार्ग की अनुपयुक्तता में ही लगाते हैं। संन्यास मार्ग में विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को बलात् रोकना पड़ता है। इसका परिणाम यही होगा कि स्वभाव सिद्ध इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति रुकेगी नहीं इन्द्रियों के रोक देने पर भी मन में विषयों का ध्यान बना रहेगा इससे पूर्वोक्त कथन के अनुसार यह मनुष्य मिथ्याचार वा ढोंगी बन जायगा। इसलिए उत्तर श्लोक में कहा गया है कि धीरे धीरे अभ्यास के द्वारा राग द्वेष का शमन किया जाय तब इन्द्रियाँ अपने आप रुकेंगी, यही कर्म योग का मार्ग है। इससे इन पद्यों में भी संन्यास की अनुपयुक्तता और कर्मयोग की उपयोगिता ही उनके मतानुसार बताई गई है।

श्री विद्या वाचस्पति जी ने प्रकृति का प्रथम परिणाम जो महान् है उसके कार्य भेद से तीन भेद अपने ग्रन्थों में माने हैं। (१) आकृति-महान्, (२) प्रकृति महान्, (३) और अहंकृति महान् वही महान् पुरुषों की भिन्न-भिन्न प्रकार की

आकृति वा स्वरूप बनाया करता है। जैसा—कि भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय में स्पष्ट किया जायगा। और दूसरा कार्य वह प्रकृति अर्थात् आदत बनाने का कारण है। प्रकृति वा स्वभाव भी महान् के अनुसार ही बनता है। और सब व्यावहारिक आत्माओं में अहंभाव भी वही उत्पन्न करता है जिसे अहंकार वा अहंकृति कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार इस पद्य में प्रकृति शब्द का त्रिगुणात्मक ही अर्थ किया जाय तो भी कोई क्षति नहीं। प्रकृति के परिणाम रूप अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार आचरण करना भी प्रकृति का ही अनुगमन है। इस अर्थ के अनुसार पूर्वोक्त पद्यों से ही इस पद्य का भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है कि प्रकृति अर्थात् प्रकृति का परिणाम-महान् ही सब कुछ करता हो उसका अभिमानी चेतन पुरुष तो अज्ञान वश उसके कार्यों को अपने ऊपर लाद लेना है इसी अंश में अन्वय व्यतिरेकरूप प्रमाण इस पद्य से उपस्थित किया कि बुद्धिमानों को भी हम प्रकृति के अनुसार कार्य करता हुआ पाते हैं। इससे "प्रकृति के अनुसार कार्य होते हैं" "प्रकृति विरुद्ध नहीं होते" इस अन्वय व्यतिरेक के अनुसार प्रकृति का ही कर्तृत्व सिद्ध होता है। प्रेरणा के कारण जो आत्मा पर कर्तृत्व की शंका हो सकती थी उसका निराकरण मध्य के पद्य में दिखाकर आगे फिर प्रकृति के कर्तृत्व का प्रमाण दे दिया। इस प्रकार पद्यों की संगति भी नहीं बिगड़ती! अस्तु। इनके मतानुसार भी शास्त्रोपदेश की सार्थकता इसी प्रकार है कि महान् ने जो प्रकृति बनाई है शास्त्र व गुरु के उपदेशों से उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। एकदम परिवर्तन चाहे दुष्कर प्रतीत हो किन्तु अभ्यास से परिवर्तन हो सकता है इसमें आत्मा की स्वतंत्रता ही कारण है।

वेदान्त शास्त्र के पंचदशी नामक निबन्ध के प्रणेता श्री विद्यारण्य स्वामी पंच कोषों में से विज्ञान मय कोष को व्यावहारिक जीव और आनन्द-मय कोष को उसका प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा कहते हैं। आनन्द-मय कोष अविद्या रूप है, कर्म और ज्ञान की वासनाएँ उसीमें रहती हैं। वह वासना वश ही जीव को कर्मों में प्रेरित करता रहता है। 'ईश्वर की प्रेरणा से जीव कर्म करता है' इस प्रकार के श्रुति-स्मृति वाक्यों में परमात्म पद से यही आनन्द-मय कोष विवक्षित है, ऐसा उन्होंने माना है। उस मत से भी शास्त्र-गुरु आदि के उपदेशों से शनैः२ वासनाओं में परिवर्तन किया जा सकता है इसी से शास्त्र और गुरु उपदेश की चरितार्थता होती है।

अपनी प्रकृति के अनुसार ही मनुष्य कर्म किया करता है, इसी विषय का स्पष्टीकरण दूसरे पद्य में किया जाता है कि इन्द्रियों के अपने अपने विषयों में राग और द्वेष निश्चित रूप से होते हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, इनके विषय हैं क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। ये यदि इन्द्रियों के अनुकूल हों तो उनमें इन्द्रयों का अनुराग अर्थात् प्रेम हो जाता है। उन अनुकूल विषयों की ओर इन्द्रियाँ बार-बार जाना चाहती

हैं और इन्द्रियों के प्रतिकूल शब्द आदि विषयों से उनका द्वेष होता है। प्रतिकूल विषयों का ये कभी स्पर्श भी नहीं करना चाहतीं, इसी प्रकार वाणी, हाथ, पैर और मल-मूत्र त्याग की दोनों नीचे की इन्द्रियाँ, ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं अर्थात् इनसे काम किया जाता है। इनकी प्रवृत्ति भी अनुकूल अर्थों में ही होती है। वाणी से बोलने का कार्य किया जाता है। बोलने का स्वर भी अपने अनुकूल ही रक्खा जाता है। प्रतिकूल कठोर व कर्कश भाषण में वाणी की प्रवृत्ति नहीं होती। हाथ का काम है किसी वस्तु को उठाना, वह भी अपनी अनुकूल वस्तु को ही उठाता है। प्रतिकूल सर्प, बिच्छू आदि के उठाने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। पैर का काम है चलना, वह भी अनुकूल मार्ग पर ही चलता है। नीचे की इन्द्रियों का कार्य माना गया है विसर्ग अर्थात् छोड़ना पायु का और आनन्द लेना उपस्थ का। इनकी भी अपने अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति स्पष्ट है। जिन मल आदि के परित्याग में सुख प्रतीत हो उनका ही त्याग पायु अर्थात् गुदा से किया जाता है इत्यादि स्पष्ट है। यह अपने-अपने विषयों में अनुकूलता व प्रतिकूलता प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार ही होती है। जैसा कि अन्त के अध्यायों में स्पष्ट किया जायगा कि रजोगुण वाले पुरुष को चटपटे, खट्टे आदि पदार्थ ही अनुकूल होते हैं और सत्व गुण वाले को स्निग्ध, मधुर आदि पदार्थ खाने में प्रिय होते हैं। इसी प्रकार सब इन्द्रियों में समझ लेना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृति के गुणों के अनुसार ही इन्द्रियों के राग और द्वेष नियत हैं। उत्तरार्ध में आत्मा की स्वतंत्रता दिखाई जाती है कि इन प्रकृति जन्य रागद्वेषों के चक्कर में आत्मा को नहीं पड़ना चाहिए। कर्म करे किन्तु राग द्वेष के वश में होकर नहीं। अपना कर्त्तव्य समझ कर कर्म करता रहे। फल की आशा में पड़कर कर्म किया जाय तो वह राग-द्वेष मूलक होगा। ये राग और द्वेष आत्मा के परिपन्थी अर्थात् शत्रु हैं। इन्हीं राग-द्वेषों के कारण आत्मा को संसार में भटकना पड़ता है। इसलिए राग-द्वेष का निग्रह कर आत्मा को स्वतंत्र बनाना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। यह निग्रह का उपदेश किस प्रकार चरितार्थ होगा इसका विवरण पूर्व पद्य के व्याख्यान में विस्तार से किया जा चुका है ॥३४॥

अब प्रश्न यह होता है कि यह तो आपने सिद्ध किया कि कर्म करना चाहिए किन्तु युद्ध जैसा घोर कर्म, जिसमें असंख्य प्राणियों की हिंसा होगी, ऐसा भी कर्म तो किस प्रकार कर्त्तव्य मार्ग में आ सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए द्वितीयाध्याय में कहे हुए स्वधर्मानुष्ठान का यह पुनः अनुवाद करते हैं कि वर्णाश्रमाचार के अनुसार जो धर्म जिस वर्ण व आश्रम के लिए शास्त्रों में नियत किया गया है वह ही उस वर्ण व आश्रम का अभिमान रखने वाले व्यक्ति के लिए स्वधर्म है। वह स्वधर्म यदि विगुण भी हो अर्थात् उसमें दोष भी प्रतीत होते हों (दिखाई देते हों) अथवा उसका आचरण वह व्यक्ति अच्छे प्रकार से करने में असमर्थ हो और दूसरे वर्ण व आश्रम का धर्म देखने

में अच्छा प्रतीत हो, वा उसका अनुष्ठान अच्छे प्रकार से उस व्यक्ति के द्वारा किया जाना सम्भव हो, तो भी पर धर्म की अपेक्षा स्वधर्म ही कल्याण देने वाला है यह समझना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है कि दोष तो सभी कर्मों में निकाले जा सकते हैं जैसे बिना धूम के अग्नि प्रगट नहीं की जा सकती। इसी प्रकार बिना दोष का कोई कर्म भी नहीं होता। किन्तु शास्त्रानुसार अपने वर्णाश्रमानुकूल जो धर्म नियत है उसमें दोष नहीं देखना चाहिए। अपने धर्म का आचरण करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह कल्याणकारक है। अपने वर्णाश्रम के प्रतिकूल दूसरे के धर्म का आचरण करना तो सदा ही भय देने वाला है। यह उस बात का उत्तर है जो अर्जुन ने द्वितीयाध्याय में कहा था कि यह भी तो विदित नहीं है कि हम जीतेंगे या हारेंगे। इसका उत्तर पहले द्वितीयाध्याय में भी दिया जा चुका है कि यदि मारे गए तो स्वर्ग जाओगे और जीत गए तो यहाँ राज्यभोग करोगे इस प्रकार दोनों हाथ लड्डू है। उसका विवरण हम वहीं कर चुके हैं। यहाँ वही विषय प्रसंगागत दुहराया गया है। इस प्रकार दूसरे के धर्म को दूसरा लेने लगेगा तो वर्णाश्रम व्यवस्था बिगड़ जायगी पर बिगाड़ने का पाप उस व्यक्ति पर आवेगा इसीलिए उसे भयावह कहा गया। लोकमान्य तिलक यहां पर भी विवरण करते हैं कि भारत के अतिरिक्त जिन देशों में वर्ण व्यवस्था नहीं है वहाँ भी जिसने रुचिकर समझ कर जिस कार्य को अपना लिया उसीमें जीवन यापन करना उसके लिए श्रेयस्कर होगा। जन्मभर सैनिक रूप से रहने वाला मनुष्य यदि बहुत आयु के बाद व्यापार के मार्ग में जाने लगे तो उस मार्ग में अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण उसे सफलता न मिलेगी यही भयावहता यहाँ बतलाई गई है। जिस कार्य के अनुष्ठान में जो मनुष्य लग जाता है वही कार्य उसका स्वभाव सिद्ध हो जाता है। उसके प्रतिकूल चलने में स्वभाव-विरोध होता है और वह अच्छा नहीं।

वस्तुतः यह उपदेश भारतीय अर्जुन के प्रति दिया गया है। और भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था अनादि काल से प्रचलित है। इसलिए यहाँ स्वधर्म पद से वर्णाश्रमोचित धर्म का ग्रहण ही उचित है। उसके विरुद्ध आचरण करने से समाज-व्यवस्था भग्न हो जायगी। यही बड़ा भारी भय है ॥३५॥

'पचपनवां-पुष्प'

अर्जुन उवाचः—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

इस प्रकार धर्म की प्रशंसा सुनकर अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि जब धर्म सब प्रकार के श्रेय का उपाय है तो फिर सब ही मनुष्य धर्म का आचरण क्यों नहीं करते ? फल की इच्छा ही तो उपाय की इच्छा में कारण होती है, जब फल-रूप सुख व श्रेय की इच्छा सबको है उसके उपाय रूप धर्म में भी सब की प्रवृत्ति होनी चाहिए। किन्तु बात उलटी देखते हैं कि जनता की प्रवृत्ति प्रायः धर्म के विरुद्ध पाप-कर्मों में होती है। यह क्यों होता है ? इस जिज्ञासा को प्रकट करने के लिए वह प्रश्न करता है कि—हे वार्ष्णेय ! अर्थात् वृष्णि-यादवों के कुल में उत्पन्न कृष्ण, पुरुष पाप का आचरण किस की प्रेरणा से करता है। आपके कहने से प्रतीत होता है कि—अन्तर्यामी परमात्मा तो धर्म कार्य में ही मनुष्य को प्रेरित करता है। फिर परमात्मा से भी बड़ा कौन है जो पुरुष को पापाचरण में लगा देता है। किसी-किसी समय हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम किसी पाप कर्म को करना नहीं चाहते तो भी कोई ऐसी शक्ति है जो मानों बल पूर्वक खींचकर हमें पाप कर्म में नियुक्त कर देती है। जैसे—कोई राजा का भृत्य पकड़ कर किसी पुरुष को बेगार के काम में बलपूर्वक लगा देता है, इसी प्रकार बिना इच्छा के भी कोई शक्ति पाप कर्म में पुरुष को प्रवृत्त कर देती है। वह कौन सी शक्ति है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! यह शक्ति काम है। 'एष' इस एतत् पद से वह काम सबको प्रत्यक्ष है सबके

अति-समीपवर्ती मन का धर्म है यह सूचित करते हैं। अथवा अभी जो मैं तुम्हें बता आया हूँ कि इन्द्रियों के अपने विषयों में राग और द्वेष नियत रूप से होतें हैं, यह राग ही काम शब्द से कहा जाता है। यही बल पूर्वक पापाचरण में मनुष्य को लगा देता है। यही क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि—द्वितीयाध्याय में 'कामात् क्रोधः प्रजायते' यह कह चुके हैं। अर्थात् किसी विषय की कामना हुई और किसी के विघ्न करने से वह कामना पूर्ण न हो सकी तो उस विघ्न करने वाले व्यक्ति पर क्रोध हो जाता है। वही क्रोध चिरस्थायी होने पर द्वेष कहलाने लगता है। ये काम और क्रोध त्रिगुणात्मक अन्तःकरण की रजो गुण से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ हैं। व्याख्याकारों ने ऐसा भी अर्थ किया है कि रजोगुण प्रवृत्ति रूप है उस प्रवृत्ति का उद्भव काम व क्रोध से ही होता है इसलिए यह काम व क्रोध रज अर्थात् प्रवृत्ति का उद्भव अर्थात् उत्पत्ति का कारण है। यह महाशन है अर्थात् इसका भोजन बहुत है। इसलिए भोजन देकर इसकी तृप्ति कर दी जायगी, यह विचार मत करना। जितना भोजन देते जाओगे उतनी ही अभिलाषा अर्थात् उतना ही काम और बढ़ता जायगा। और 'बहुत पापी अर्थात् बड़ा दुष्ट है' समझाने से भी यह मानने वाला नहीं। इसे अपना पूरा बैरी समझो।

व्याख्याकार ऐसा कहते हैं कि अग्रिम पद्यों में भगवान् इस काम और क्रोध का वध करने को कहेंगे। वहाँ पर शंका होती है कि साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय बैरी पर प्रयुक्त किये जाते हैं। उनमें दण्ड तो अन्तिम उपाय है। पहले तीन से ही काम चल जाय तो उस चौथे तक काहे को दौड़ना। इसलिए उन तीनों उपायों की यहाँ गति नहीं, यही इन तीन विशेषणों से बताया। महापाप्मा अर्थात् बड़ा दुष्ट है, इसलिए साम से मानने वाला नहीं और महाशन अर्थात् बहुत भोजन वाला है, इससे दान का भी अनुपयोग बताया। अर्थात् जितना इसे देते जाओगे उतना ही बढ़ता जायगा। इसका स्पष्टीकरण 'निस्वोवष्टिशत' इत्यादि भर्तृहरि श्लोक की व्याख्या हम पूर्वपुष्पों में कर चुके हैं। यह रजो गुण से उत्पन्न होता है और प्रकृति के गुण नित्य हैं उन्हें कोई हटा नहीं सकता। इसलिए भेद की भी सम्भावना नहीं रहती। तब अन्तिम उपाय दण्ड ही यहाँ उपयुक्त हो गया। इसीलिए आगे से मार डालने का ही उपदेश भगवान् देते हैं।

जैसा कि शंका में पूर्व कहा गया है कि क्या यह कामरूपा शक्ति परमात्मा से भी बड़ी है ? परमात्मा तो शुभ कार्य में प्रवृत्त करता है और यह पापाचरण में लगा देती है। इसका उत्तर देने को आगे भगवान् कहते हैं कि प्रकृति के गुण परमात्मा से बड़े तो नहीं किन्तु अन्तः करण में प्रकाश रूप से भासित होने वाले परमात्मा का आवरण कर लेते हैं। इनसे ढका जाने पर परमात्मा की आज्ञा का वह प्रकाश होने ही नहीं पाता। वेदान्त ग्रन्थों में इसका यह दृष्टान्त

दिया जाता है कि जैसे अत्यन्त छोटा भी मेघ खण्ड सूर्य का आवरण कर लेता है। वस्तुतः सूर्य का आवरण वह नहीं कर सकता। इतने बड़े सूर्य को वह छोटा सा मेघ खंड क्या ढक सकता है ? किन्तु हमारी दृष्टि जो सूर्य पर जाती है उसके बीच में पड़कर उस दृष्टि का आवरण कर लेता है। इसी प्रकार हमारे अन्तः करण में जो परमात्मा का ज्ञान रूप प्रकाश आता है उसका ही आवरण काम व क्रोध के द्वारा हो जाता है। उस आवरण के ही तीन दृष्टान्त आगे के पद्य में दिये गए हैं कि जैसे धूम से अग्नि ढक दिया जाता है, व मैल से दर्पण अर्थात् काँच ढक दिया जाता है, व जैसे उल्व अर्थात् जरायु से गर्भस्थ बालक आवृत्त-वेष्टित-ढका हुआ रहता है उसी प्रकार काम व तदुत्पन्न क्रोध से यह अन्तःकरण का प्रकाश ढका हुआ है।

इन तीनों दृष्टान्तों से यह बताया कि ये ढकने वाले पदार्थ जिससे उत्पन्न होते हैं उसी को ढकेलते हैं। धूम अग्नि से ही पैदा होता है और फिर अग्नि को ही ढक लेता है। मैल भी किसी बाह्य पदार्थ के (वस्तु के) संयोग से दर्पण में ही उत्पन्न होता है और आगे उसे ही ढकलेता है। इसी प्रकार जरायु भी गर्भ का ही एक अंश है और वह गर्भ को ही ढका हुआ रखता है।

कई व्याख्याकार इसका निरूपण इस प्रकार करते हैं कि काम की तीन अवस्था होती हैं। सूक्ष्म, स्थूल और अतिस्थूल। किसी अप्राप्त वस्तु की जो देख-सुन कर इच्छा होती है वह काम की सूक्ष्म अवस्था है। एकबार किसी वस्तु का उपभोग करलेने पर पुनः जो उसकी इच्छा होती है वह काम की स्थूल अवस्था है। और बार २ उपभोग करने पर भी जो निरन्तर इच्छा बनी रहती है अर्थात् जो इच्छा तृष्णा के रूप में चली जाती है वह काम की अतिस्थूल अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं को ही तीन दृष्टान्तों से भगवान् ने उपस्थित किया है। जैसे धूम अग्नि के प्रकाश का आवरण करता है, उसकी दाह करने वाली शक्ति को नहीं छिपा सकता, इसी प्रकार सूक्ष्मावस्था वाला काम भी अन्तः करण में विवेक भावना को छिपा लेगा किन्तु विषय प्रकाश को नहीं छिपा सकता। विषयों का भान अन्तः करण में होता ही रहता है। मैल काँच की प्रतिबिम्ब दिखाने वाली शक्ति को ही छिपा देता है। इसी प्रकार काम की स्थूल दशा अन्तः करण में दूसरी वस्तु का भान ही नहीं होने देती। एक ही काम्य वस्तु पर ध्यान लग जाता है। अन्तः करण की सब वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली शक्ति ही ढक जाती है। किन्तु जैसे मलावृत दर्पण का स्वरूप दिखाई देता रहता है इसी प्रकार यहाँ भी काम्य वस्तु पर गए हुए अन्तः करण का स्वरूप दिखाई देता रहता है। किन्तु जरायु गर्भ को इस प्रकार वेष्टित व आवृत्त कर लेती है कि गर्भस्थित बालक के हाथ पैर भी नहीं फैलने देती। और जबतक जरायु को अलग न किया जाय तबतक बालक का स्वरूप ही उससे ढका रहता है। इसी प्रकार तृष्णा रूप में गई हुई काम की अतिस्थूलावस्था अन्तःकरण

को ही सर्वथा ढक देती है। अत्यन्त बढ़ी हुई काम व क्रोध की अवस्था में अन्तः करण में अन्धकार हो जाता है। प्रकाश करना उसका स्वभाव ही मानो ढक जाता है। 'तेनेदमावृतम्' इस वाक्य में इदं शब्द जो आया है उसका निवारण भगवान् ने आगे के पद्य में ज्ञान शब्द से किया है ऐसा अनेक व्याख्याकार मानते हैं। श्री रामानुजाचार्य ने इदम् शब्द से जीव सामान्य का ग्रहण किया है। हमारे विचार से यहाँ इदम् शब्द से प्रत्यक्ष अन्तःकरण ही लिया जाना उचित होगा। काम व क्रोध से अन्तः करण का ही पूर्वोक्त रूप में आवरण होता है।

इस पद्य के विषय को ही दृढ़ करने के लिए अग्रिम पद्य में भगवान् कहते हैं कि इस कामरूप ज्ञानी के नित्य वैरी ने ज्ञान को ढक रक्खा है। काम के पूर्वोक्त विशेषणों को पुनः दुहराते हुए कहते हैं कि यह दुष्पूर है। इसकी पूर्ति होती ही नहीं। इसीलिए यह अनल है। अनल शब्द के दोनों अर्थ हैं एक अर्थहै "न अलं पूर्णता यस्य" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ व्याख्याकारों ने यह किया है कि इसकी पूर्णता होती ही नहीं। किन्तु इस अर्थ में दुष्पूर और अनल दोनों शब्द पुनरुक्त हो जायँगे। इस विचार से रूपकालंकार मानकर यह अर्थ किया जाता है कि यह काम अनल अर्थात् अग्नि रूप है। जैसेः— अग्नि में जितना ईन्धन डालो उतना ही वह बढ़ता है। ईन्धन से कभी अग्नि की तृप्ति नहीं होती। इसी प्रकार विषयों के उपभोग से काम की भी तृप्ति नहीं होती। इस सादृश्य से इसे अनल-रूप कहा गया।

अन्तः करण का आवरण हो जाने के कारण उसकी ज्ञान रूप वृत्ति भी आवृत्त रूप में ही उदित हो पाती है। अर्थात् काम से आक्रान्त पुरुष की जो मनोवृत्ति होगी उसमें ज्ञान का अंश ढका हुआ रहता है काम ही प्रवल रहता है। ज्ञान का कार्य है वस्तु का यथार्थ स्वरूप दिखा देना। किन्तु काम का उदय होने पर वस्तु का यथार्थ ज्ञान ढक जाता है। काम उसे प्रकाशित होने का अवसर ही नहीं देता। जैसा लोक में प्रत्यक्ष है कि मीठे, खट्टे, चटपटे, पदार्थ खाने की इच्छा मनुष्यों को होती है। किन्तु उन पदार्थों का यदि पूरा विवेचन ज्ञान करदे तो वह इच्छा स्वतः विलीन हो जाय। मीठे पदार्थ सब इक्षु के विकार रूप होते हैं। और वह इक्षुवृत्ति का ही रासायनिक प्रक्रिया से एक विकार विशेष है। मृत्तिका का स्वाद लेने की कोई मनुष्य कभी इच्छा नहीं करता। प्रत्युत मृत्तिका का मुख व हाथ में भी स्पर्श हो जाने पर उसे यत्न से प्रक्षालन करने की प्रवृत्ति होती है। जब मृत्तिका का इतना निरादर है तो उसी के विकारभूत मिठाई पर इच्छा क्यों ? इसी प्रकार खट्टे, चटपटे आदि पदार्थ भी इमली, नीबू, मिर्च, इत्यादि से बनते हैं। और ये सब पदार्थ भिन्न-भिन्न वृक्षों से उत्पन्न होने के कारण मृत्तिका के ही परिणाम कहे जा सकते हैं। मृत्तिका और जल ही सूर्य किरणों के आकर्षण से ऊपर बढ़कर वृक्ष रूप में आते हैं। उन्हीं का कोई अंश इमली, नीबू, मिर्च आदि के रूप में परिणत होता है,

फिर मृत्तिका के स्वाद की यदि इच्छा नहीं होती तो उसके विकारों के स्वाद लेने का इतना आग्रह क्यों ? इस प्रकार का वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान यदि उदित हो जाय तो काम विलीन हो जायगा। इसी प्रकार स्त्री सम्पर्क भी काम की प्रधान वृत्ति है। उसके विषय में महात्मा भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में लिखा है कि:—

कुचौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ।
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम् ॥
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन
महो निन्द्यंरूपं कविवरविशेषैर्गुरुकृतम् ॥

अर्थात् मांस बढ़कर शिराओं के योग से जो एक प्रकार की ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं वे ही कुच कहलाते हैं। इन्हें कविलोग सुवर्ण कलश की उपमा देकर बड़ा महत्त्व दे देते हैं। मुख जिसमें कफ, थूक आदि अपवित्र पदार्थ भरे रहते हैं, उस मुख को चन्द्रमा की उपमा दे दी जाती है। और तो क्या जो त्वरित होते हुए मूत्र से सदा गीला होता रहता है उस जघनस्थल अर्थात् जंघा को भी हाथी की सूँड़ से उपमा देकर बहुत बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार स्त्री का रूप जो अत्यन्त निन्दनीय है उसको कवियों ने अपने वर्णनों से बहुत स्पृहणीय रूप में दिखा दिया है। यह है वस्तु-विचार। इस वस्तु-विचार को काम का विरोधी माना गया है। अर्थ के लोभी पुरुष जिन सुवर्ण, चाँदी, रत्न आदि की अत्यन्त लोलुपता से अभिलाषा करते हैं वे भी सूर्य किरणों के पृथ्वी के विशेष अंशों में प्रतिफलित होने वाले रूप हैं। इन सब का वास्तविक विचार यदि किया जाय तो इनकी अभिलाषा व तृष्णा स्वतः निवृत्त हो जायगी। किन्तु काम का जब उदय होता है तो इस वस्तु-विचार पर पर्दा पड़ जाता है। काम्य वस्तु का तत्त्व-ज्ञान उदित ही नहीं हो पाता, केवल कामना उसकी रहती है। और कामना का प्रतिघात होने पर क्रोध हो जाता है। ये ही काम और क्रोध संसार दशा में प्रधान रहते हैं। इस काम को भगवान् ने ज्ञानी का नित्य बैरी बताया है इसका आशय यह है कि सांसारिक अज्ञानी पुरुष तो उपभोग दशा में इसे अपना हितकर समझते हैं। अनन्तर ही कुछ ज्ञान का आभास होने पर इसे अपकारक व शत्रु समझने लगते हैं। जैसा कि उपभोग करते करते जब इन्द्रियों में शिथिलता आ जाती है तब संसारी पुरुष भी इन वृत्तियों को अपना शत्रु मानने लगते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष यदि प्रारब्ध वश उपभोग में प्रवृत्त भी हो तो उस दशा में भी काम, क्रोध वृत्तियों को अपना शत्रु समझता रहता है। इसलिए ज्ञानी का इस काम और क्रोध को नित्य बैरी बताया गया। यद्यपि नीति शास्त्र में छः शत्रु माने गए हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन्हें अरि षड्वर्ग कहा जाता है। और इनके जीतने का मनुष्यों को उपदेश दिया जाता है। किन्तु इन सब में काम ही प्रधान है। और

सब काम के ही दशा विशेष हैं। इसलिए भगवान् ने यहाँ काम को ही मुख्य शत्रु बताया। कहा जा चुका है कि काम ही किसी के द्वारा प्रतिहत होने पर अर्थात् रोका जाने पर क्रोध रूप में परिणत हो जाता है। काम अर्थात् इच्छा की किसी विषय में निरन्तर प्रवृत्ति को ही लोभ कहा जाता है। और यही काम जब ज्ञान को ढक लेता है तो उसे मोह कहते हैं। जैसा कि आगे के पद्यों में बताया जायगा। काम की पूर्ति होने पर जो एक प्रकार की आत्मा में गर्व की भावना हो जाती है कि 'मैंने इस काम को प्राप्त कर लिया मैं ही संसार में सब कुछ हूँ, सबसे बड़ा हूँ यह वृत्ति ही मद नाम से कही जाती है। और दूसरे पुरुष का छिद्रान्वेषण करते रहना मात्सर्य है जो कि काम जनित क्रोध का ही एक रूप है। इस प्रकार का काम ही षडवर्ग रूप में परिणत होता है। इसीलिए भगवान् ने यहाँ काम को ही मुख्य वैरी बतलाया। अर्जुन के प्रश्न का यह उत्तर हुआ कि यह काम ही मनुष्य को बल पूर्वक पाप कर्म में प्रवृत्त किया करता है। काम से ही प्रेरित होकर मनुष्य सब प्रकार के पापों में प्रवृत्त होता है। काम में आसक्त होने पर वही मनुष्य की प्रकृति अर्थात् आदत बन जाती है जिसका विवरण पूर्व ३३ वें श्लोक की व्याख्या में किया जा चुका है। यद्यपि भगवान् मनु ने धर्म और अधर्म दोनों ही प्रवृत्तियों का कारण काम को ही बताया है। उनने कहा है कि वेद पढ़ना और वेदोक्त कर्म करना यह सब भी काम के कारण ही होते हैं। बिना काम के कोई भी क्रिया नहीं होती। तथापि यहाँ अर्जुन का प्रश्न 'पाप कौन करता है'—यही था। इसलिए पाप के प्रयोजक रूप से ही भगवान् ने काम को बताया। अथवा यों समझो कि कर्मयोग जो भगवान् बता रहे हैं उसके आगे कामना पूर्वक किए जाने वाले वैदिक कर्म भी उसके विरोधी होने से पाप रूप में ही गिनने योग्य हैं। कर्म योगी को तो सब ही कामों का परित्याग करना चाहिए। तब ही मुख्यधर्म कर्मयोग सिद्ध होगा। इसी अभिप्राय से आगे के पद्यों में भगवान् काम के नाश कर देने का ही उपदेश करते हैं।

छप्पनवां-पुष्प

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इतिभगवद्गीतायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

जब शत्रु को मारना हो तो पहले उसके स्थान का पता लगाना आवश्यक होता है। प्राचीन काल की रीति यही थी कि राजा लोग एक दुर्ग (गढ़ व किला) बनाकर उसमें अपने आपको सुरक्षित रक्खा करते थे। उनके मारने वाले शत्रु पहिले उनका किला ही तोड़ते थे। तब ही वे सुगमता से मारे जाते थे। इसी के अनुसार भगवान् पहिले काम रूप शत्रु के स्थान व किले बताते हैं कि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि इस काम के अधिष्ठान अर्थात् स्थान व किले हैं। इनमें ही प्रतिष्ठित होकर इनके द्वारा यह काम ज्ञान का आवरण कर देही अर्थात् देहाभिमानी आत्मा को विशेष रूप से मोहित करता है। यह पूर्वोक्त तत्त्व-ज्ञान अर्थात् वस्तु-विचार का आवरण ही मोह शब्द से कहा जाता है। यह पूर्व पद्य में कह चुके हैं। 'देही' शब्द से यहाँ यह सूचित करते हैं कि जिसे देहाभिमान हो, उसे ही काम मोहित किया करता है। देहाभिमान छोड़ देने पर काम स्वतः ही मर जायगा अथवा कुछ रहा भी तो मोह उत्पन्न न कर सकेगा।

काम की प्रवृत्ति पहिले इन्द्रियों में ही होती है। इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषय की ओर काम वश झुकती हैं। विषयों का ग्रहण करना इन्द्रियों का कर्तव्य है। फिर इन्द्रियों के लाये हुए शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों की यथावत् कल्पना करना अर्थात् यह विषय इस प्रकार का है, इसका पूर्व भी अनुकूल रूप से वा प्रतिकूल रूप से हमने अनुभव किया है, यह समझना मन का कर्तव्य है। अब भी यह विषय हमारे अनुकूल होगा व प्रतिकूल, इस रूप में वर्तमान

में अपने साथ उसका सम्बन्ध समझना, यह अहंकार रूप अन्तःकरण की वृत्ति मध्य में होती है। यह भी सांख्यदर्शन आदि में माना गया है। और अन्त में यह विषय मेरा ग्राह्य है वा परित्याज्य व उपेक्ष्य यह निश्चय कर देना बुद्धि का कर्तव्य है। इन्द्रियों ने जब काम प्रेरित होकर अपने विषय को उपस्थित किया तो मन में भी काम का व्यापार होकर मन भी उस तरफ झुक जाता है। और फिर बुद्धि भी उसे ग्राह्य समझ लेती है। यों काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि तीनों में रहता है। यद्यपि काम इच्छा का ही नाम है। इच्छा कहो या काम दोनों शब्दों का एकही अर्थ है, और इच्छा पहिले मन में ही होती है। इसलिए मन को ही पहला मुख्य अधिष्ठान कहना उचित था। परन्तु मन की प्रेरणा से प्रथम प्रवृत्ति काम्य विषयों की ओर इन्द्रियों की ही होती है। इस अभिप्राय से भगवान् ने पहिले इन्द्रियों का ही नाम लिया। और इसी अभिप्राय से आगे के पद्य में भी पहिले इन्द्रिय जय को ही मुख्यता देते हैं ॥४०॥

पहिले विषयों की ओर प्रवृत्ति इन्द्रियों को ही होती है फिर मन और बुद्धि इन्द्रियों से खिचकर विषयों पर जाते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् उपदेश देते हैं कि हे भरतर्षभ! अर्थात् भरत कुल के राजाओं में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन। तुम पहिले इन्द्रियों को रोककर इस ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले अत्यन्त पापी काम को मार डालो। "भरतर्षभ" पद देने से यह सूचित किया कि तुम भरत कुल के राजाओं में श्रेष्ठ हो, ज्ञान के अधिकारी हो, इसलिए काम को मार सकोगे। 'प्रजहि हि' इस पद की दोनों प्रकार की व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। यदि इसे 'ओ दाक् त्यागे' धातु का 'जहिहि' रूप माना जाय तो इसका अर्थ होगा काम को बिल्कुल छोड़ दो। और 'प्रजहि' पद पृथक् निकाल कर आगे के 'हि' को पृथक् अव्यय मान लिया जाय तो अर्थ होगा कि पूर्ण रूप से मार डालो जिससे कि आगे उत्पन्न ही न होने पावे। आगे के दूसरे पद्य में केवल 'जहि' पद ही दिया गया है। वहाँ तो मारना ही अर्थ होगा। किन्तु यहाँ 'ओ दाक् त्यागे' धातु मानने वालों का आशय है कि पहिले त्याग करो फिर धीरे-धीरे मन को शुद्ध करते हुए मार ही डालना। मुख्य तात्पर्य मार डालने अर्थात् सदा पूर्ण रूप से परित्याग कर देने में ही है। कई व्याख्याकार यहाँ इन्द्रिय पद को उपलक्षण मानकर मन और बुद्धि का भी ग्रहण इस पद से करते हैं। उनके मतानुसार अर्थ होगा कि मन, बुद्धि और इन्द्रिय सबका निग्रह करके काम को छोड़ दो या मार दो। और कई व्याख्याकार यहाँ इन्द्रियों का ही रोकना कहते हैं। मन और बुद्धि का रोकना अग्रिम पद्यों में बताते हैं:—

यहाँ ज्ञान और विज्ञान दो पद आये हैं। प्राचीन व्याख्याकारों के मतानुसार इनका अर्थ इस प्रकार है कि शब्द श्रवण से जो परोक्ष ज्ञान होता है वह ज्ञान पद से कहा गया, और मनन और निदिध्यासन के अनन्तर जो प्रत्यक्ष जैसा ज्ञान होता है वह विज्ञान शब्द का अर्थ है। श्री विद्या वाचस्पति जी इन

शब्दों का यह अर्थ मानते हैं कि अनेक पदार्थों में व्यापक रूप से एक तत्त्व को देखना ज्ञान है और एक तत्त्व का ही अनेक रूप से विकास देखना यह दृष्टि-विज्ञान है। इसका विशेष विवेचन 'ज्ञानन्तेऽहं सविज्ञानं' इत्यादि सप्तमाध्याय के पद्य की व्याख्या में किया जायगा। इन दोनों का ही काम से आवरण होता है। काम इन दोनों दृष्टियों को ढककर मानो मार ही देता है। इसलिए इसे ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाला कहा गया ॥४१॥

आगे के दोनों पद्यों के व्याख्यान में व्याख्याकारों का बहुत बड़ा मत भेद है। श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार यह अर्थ कहते हैं कि काम का हनन किस प्रकार किया जाय इसका स्पष्टीकरण इन पद्यों में किया जाता है। इन्द्रियाँ स्थूल शरीर की अपेक्षा उत्तम हैं। क्योंकि स्थूल शरीर में प्रकाश देने वाली हैं, और अहंकार तत्त्व से साक्षात् उत्पन्न होने के कारण व्यापक भी हैं। इसीलिए दूर के विषयों का भी ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा हो जाता है। उन इन्द्रियों से भी पर अर्थात् उच्च श्रेणी का मन है। क्योंकि मन की सहायता से ही इन्द्रियाँ अपने विषयों में जा सकती हैं। यदि मन किसी अन्य विषय में लगा हुआ हो तो मनुष्य सामने से निकले हुए हाथी जैसे बड़े पदार्थ को भी नहीं देखता। तोप की जैसी बड़ी ध्वनि को भी नहीं सुनता, इसलिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन की सहायता से ही सब शास्त्रों में मानी जाती है इस कारण मन उनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ हुआ। और मन से भी पर है बुद्धि, क्योंकि मन के उपस्थित किए विषयों पर निश्चय रूप से बुद्धि ही विचार करती है। उस बुद्धि से भी पर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ वह है। यहाँ 'वह' पद से आत्मा लिया गया जिसका कि पूर्व पद्यों में 'देही' नाम से विवरण हो चुका है। वह देही वा आत्मा बुद्धि, मन व इन्द्रिय सबमें चेतनता रूप प्रकाश देता है। इसलिए उसे सबसे ऊँचा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। आगे के पद्य में उपदेश है कि इस प्रकार बुद्धि से पर आत्मा को समझ कर उसे मन, बुद्धि आदि के द्वारा स्थिर करके (जब मन-बुद्धि में विकार रूप वृत्ति पैदा नहीं होगी तब आत्मा स्थिर रहेगा। मन व बुद्धि की चञ्चलता से उनकी वृत्तियों का प्रभाव व प्रतिबिम्ब आत्मा पर भी पड़ता है। इसीसे आत्मा स्थिर रहता हुआ भी चञ्चल जैसा प्रतीत होने लगता है। जब मन व बुद्धि में कोई विकार न होगा तो आत्मा की स्थिरता स्पष्ट प्रतीत हो जायगी) इस काम रूपी दुःख से मारने योग्य शत्रु को मार डालो। तुम महाबाहु हो। तुम्हारे बाहु विशाल हैं, युद्ध में प्रवीण हो, इसलिए इस शत्रु को भी मार सकोगे। 'दुरासद' पद से यह सूचित किया जाता है कि काम रूप शत्रु को प्राप्त करना भी कष्ट साध्य है। मन और बुद्धि की वृत्तियों में कितना अंश काम का है और उसने किस प्रकार वस्तु-तत्त्व-ज्ञान को ढका है यह ज्ञान भी कठिनता से होता है। क्योंकि काम अपने रूप में ही मन, बुद्धि आदि को रंगा रखता है। जब उसका पहिचान लेना ही कठिन है तो मारना तो कितना कठिन होगा, यह सहज

ही समझ में आ सकता है। आत्म-ज्ञान से ही अर्थात् मन, बुद्धि आदि से पृथक् रूप में आत्मा को जान लेने पर ही काम की विजय व मारना हो सकता है। यह कठोपनिषद् की नीचे लिखी हुई श्रुति का ही आंशिक अनुवाद है। वह श्रुति इस प्रकार है :—

इन्द्रियेभ्यःपराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मामहान्परः॥
महतःपरमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्नपरं किञ्चिद् सा काष्ठा सा परागतिः॥

अर्थात् इन्द्रियों से पर (श्रेष्ठ) अर्थ—उनके ग्राह्य विषय हैं। अथ अपनी ओर इन्द्रियों को खींच लेते हैं। इस अभिप्राय से उनको पर कहा गया। और अर्थों से परे मन है। अथवा पर शब्द का अर्थ पर रहने वाला ही किया जाय। शरीर के भीतर इनका सन्निवेश इस प्रकार है कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को लाकर अपने ऊपर रखती हैं। मन इन विषयों की अच्छे-बुरेपन की विवेचना किया करता है। इसलिए अर्थों की स्थिति इन्द्रिय और मन के बीच में बताई गई। अर्थों से आगे मन है। मन से भी आगे व उत्कृष्ट-बुद्धि है, बुद्धि से महान् आत्मा पर है, महान् आत्मा से पर अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है और प्रकृति से भी पर पुरुष है अर्थात् आत्मा है। पुरुष से पर कोई नहीं कहा जा सकता। परत्व अर्थात् श्रेष्ठत्व की वह सीमा है वही परम गति है।

इस श्रुति का ही आंशिक अनुवाद यहाँ किया गया है। श्रुति में जो महान् आत्मा और अव्यक्त अर्थात् प्रकृति को कहा गया था उसका यहाँ बुद्धि पद से ही ग्रहण कर लिया गया। उनका पृथक् विवरण नहीं किया। यह श्री शंकराचार्य के मतानुसार इन श्लोकों की व्याख्या हुई।

कई विद्वान् ऐसा भी ऊह करते हैं कि महान् और अव्यक्त मूल अज्ञान के मुख्य रूप हैं। यहाँ उपदेष्टा भगवान् कृष्ण नित्य ज्ञानी हैं उनकी दृष्टि में वह अज्ञान आता ही नहीं। इससे उन्होंने बुद्धि से पर ही आत्मा को बता दिया। श्री रामानुजाचार्य इन पद्यों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि यहाँ पर शब्द से तत्त्वज्ञान का विरोध करने में जो उच्च है अर्थात् अधिक भाग लेता है वही कहा गया है। तत्त्वज्ञान के विरोध में पहिला भाग इन्द्रियों का है, वे ही अपने विषयों की ओर दौड़ जाती हैं, इससे तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो पाता। किन्तु इन्द्रियाँ चुपचाप भी रहें तो भी मन में यदि इच्छा बनी रहे तो भी तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता। इससे मन तत्त्वज्ञान के विरोध में इन्द्रियों से अधिक भाग लेता है। यदि मन भी चुप हो जाय तो भी बुद्धि में यदि काम वासना दृढ़

हो गई है तो भी ज्ञान का उदय नहीं होता। इस कारण बुद्धि को मन से भी पर कहा गया। और इन्द्रिय, मन और बुद्धि तीनों में ही यदि काम का उदय न हो तो भी रजो-गुण की परिणाम-भूत इच्छा सूक्ष्म रूप से तत्त्वज्ञान को रोके रखती है। उस समय वह इच्छा रूप काम बुद्धि से भी पर सूक्ष्म रूप से रहता है और तत्त्वज्ञान का विरोध करता रहता है। इस प्रकार यहाँ 'तत्' शब्द से उन्होंने काम को ही लिया। आगे के पद्य में वे कहते हैं कि इस प्रकार बुद्धि से भी पर अर्थात् ज्ञान का विरोध करने में सबसे उच्च श्रेणी का काम को समझ कर अपने आत्मा अर्थात् मन से आत्मा अर्थात् बुद्धि को स्थिर करके इस दुरासद कामरूप शत्रु को मार डालो। यह बुद्धि से भी पर काम की कल्पना इनकी नयी है। काम वृत्ति को बुद्धि से पर मानने की उपनिषदों में भी कोई सूचना नहीं मिलती। इसी कारण वैष्णव टीकाकारों ने भी प्रायः इनकी व्याख्या का अनुसरण नहीं किया।

सम्पूर्ण महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ जी इन पद्यों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि पर शब्द से केवल उत्कृष्टता बता देना वा सन्निवेश बता देना व्यर्थ है। इससे कोई लाभ नहीं। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि यहाँ "पर" शब्द से सूक्ष्मतत्त्व वा कारण लिया गया है। जिसका आशय यह होगा कि स्थूल-रूप कार्य का सूक्ष्म रूप कारण में लय कर देना चाहिए। पहिले इन्द्रियों को पर बताया अर्थात् स्थूलभूत शरीरादि जगत् की कारण रूप इन्द्रियाँ हैं। कौषीकी उपनिषत् का प्रमाण उपस्थित कर उन्होंने यह बताया है कि प्राणों से देवता प्रगट होते हैं और देवताओं से भूत प्रगट होते हैं! यहाँ प्राण शब्द इन्द्रियों का ही बोधक है। उनसे इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता प्रादुर्भूत होते हैं और उन देवताओं से पंच-महा भूत प्रगट होते हैं। इससे इन्द्रियों की स्थूल पदार्थों के प्रति कारणता स्पष्ट हो जाती है। यह सब ही मानते हैं कि स्थूल प्रपंच का कारण सूक्ष्म प्रपंच है। स्थूल प्रपंच में पंच महाभूत हैं और सूक्ष्म प्रपंच देवतामय हैं। इससे भी देवताओं की कारणता सिद्ध हो जाती है। देवता प्राण-रूप हैं। और इन्द्रियाँ भी प्राण रूप हैं। इसलिए स्थूल प्रपंच का कारण इन्द्रियों को कहना युक्ति-युक्त ही है। उन इन्द्रियों का भी कारण मन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मन से ही देखता है, मन से ही सूँघता है इत्यादि। इससे सब इन्द्रियाँ मन के ही विकार हैं यह सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ इन्द्रियों से भी पर मन को कहा गया। और मन से पर बुद्धि को बताया। बुद्धि मन का भी कारण है यह बात तैत्तिरीय उपनिषद् के पंचकोष निरूपण से सिद्ध हो जाती है। वहाँ विज्ञान अर्थात् बुद्धि को प्रज्ञान अर्थात् मनके अन्तर्भूत अर्थात् मन से भी सूक्ष्म बताया गया है। सूक्ष्म ही स्थूल का कारण होता है। इससे बुद्धि मन का कारण सिद्ध हुई। उस बुद्धि से भी पर आत्मा है। आत्मा तो सब का कारण प्रसिद्ध ही है उसकी प्रथम वृत्ति मनोरूप ही होती है। इस सब कथन से यह सिद्ध किया

गया कि काम के हनन के लिए पहिले स्थूल शरीर को इन्द्रियों में लीन करना चाहिए। इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, और बुद्धि को आत्मा में लीन करे। यही बात श्रुति में भी कही गई है :—

यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानआत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

अर्थात् वाक् और मन को ज्ञान में लीन करना। ज्ञान को महान् आत्मा में लीन करना, महान् आत्मा को शान्त आत्मा में लीन करना इत्यादि। यहाँ प्रकृत श्लोक में ज्ञान महान् और शान्त आत्मा तीनों का बुद्धि पद से ही ग्रहण किया गया है। और उससे आगे जो मुख्य आत्मा बताया वह सबको प्रकाश देने वाला है। और सबका कारण है। उसमें ही बुद्धि का लय करने पर काम का अत्यन्त नाश होगा। काम का अत्यन्त नाश होने पर आत्मा विशुद्ध रह जाता है यही मुक्ति का स्वरूप है। आगे पद्य में कहा गया कि— 'आत्मानम्, अर्थात् मन को 'आत्मना' अर्थात् मन से व बुद्धि से संस्तभ्य अर्थात् स्थिर करके, और उसे हृदयाकाश सहित (हृदयाकाश में सब काम रहते हैं यह श्रुतियों में बताया गया है) बुद्धि से भी पर अर्थात् बुद्धि से अगम्य परमात्मा को जान कर इस काम रूप शत्रु का पूर्ण रूप से हनन कर देना चाहिए। इसका आशय पूर्वोक्त ही है कि बिना परमात्म-ज्ञान के और बिना मुक्ति प्राप्त किए काम का सर्वथा हनन सम्भव नहीं। काम का हनन ही मुक्ति है।

श्री विद्या वाचस्पति जी इसका अभिप्राय विवरण अपनी टिप्पणी में इस प्रकार करते हैं कि चेतना आत्मा का रश्मि (किरण) रूप ज्ञान बुद्धि, मन, और इन्द्रियों में क्रमशः प्रकाश देता रहता है। ये काम, क्रोध व राग-द्वेष उस आत्मा के प्रकाश रूप ज्ञान विज्ञान को मलिन कर देते हैं। इस मलिन करने का क्रम यह है कि पहले इन्द्रियों में आये हुए ज्ञान को मलिन करते हैं। क्योंकि वहाँ ज्ञान-रूप प्रकाश अल्पमात्रा में पहुँचता है। उसको मलिन करना सहज है। इसके अनन्तर मन में आये हुए आत्मा के प्रकाश ज्ञान-विज्ञान को और फिर आगे बुद्धि में आये हुए प्रकाश को मलिन करते हैं। इस प्रकार यह मलिन भाव हमें आत्मा में भी दीख पड़ता है। यदि आत्मा को मन, बुद्धि आदि से पृथक् समझ लिया जायगा तो मन बुद्धि आदि में मलिनता आने पर भी आत्मा का मुख्य ज्ञान रूप प्रकाश निर्मल ही रहेगा। यही बात अन्तिम श्लोक में कही गई कि बुद्धि से पर अर्थात् भिन्न आत्मा को समझकर काम रूप शत्रु का भी नाश कर दो। अर्थात् काम के अधिष्ठान इन्द्रिय, मन और बुद्धि ही हैं, आत्मा इन सबसे पर है, आत्मा को इन सबसे पृथक् समझ लेने पर राग-द्वेष या काम क्रोध उस पर कोई प्रभाव न डाल सकेंगे तब इनका रहना न रहना

समान ही हो जायगा। यही काम के हनन का प्रकार बताया गया कि आत्मा इन सबसे पृथक् है यह मनन पूर्वक ठीक समझ लेना चाहिए।

लोकमान्य तिलक ने 'आत्मानम् आत्मना' इन पदों का अपने आपको संस्तभ्य अर्थात् रोक कर यह अर्थ किया है। और सब व्याख्या श्री शंकराचार्य के समान ही है। पूर्व पद्य के इन्द्रिय नियमन का वे इतना ही अर्थ लगाते हैं कि कर्मयोगी इन्द्रियों को अपने वश में रक्खे। यथेच्छ प्रवृत्त न होने दें। इतना ही इन्द्रिय नियमन का अर्थ है। उन्हें संन्यास धर्म की तरह सर्वथा मार डालना विवक्षित नहीं है।

इति तृतीयोऽध्यायः ॥

'सत्तावनवां-पुष्प

चतुर्थ अध्याय

श्रीभगवानुवाचः—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

द्वितीयाध्याय से आरम्भ कर तृतीयाध्याय में जिस कर्मयोग का विस्तार से वर्णन किया गया उसकी प्राचीन परम्परा आरम्भ में भगवान् बताते हैं कि यह योग अर्थात् कर्मयोग जो कि अव्यय अर्थात् अविनाशी है, सदा ही गुरु शिष्य परम्परा से लोकों में प्रचलित रहता है। अथवा अव्यय पुरुष को प्राप्त करने का एक साधन है। इस कर्मयोग को पूर्वकाल में मैंने विवस्वान् के प्रति कहा था। और विवस्वान् ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को बताया, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को कहा। इस प्रकार परम्परा से राजर्षियों में यह योग फैलता रहा। सब राजर्षि इसे जानते रहे। किन्तु बहुत बड़ा समय व्यतीत हो जाने पर यह योग नष्ट हो गया। अर्थात् लोग इसे भूल गए। हे परंतप! अर्थात् शत्रुओं को ताप देने वाले अर्जुन, आज यही कर्मयोग मैंने तुमको बताया है। यह शंका मत करना कि मुझसे भगवान् नई ही बात कह रहे हैं। यह कर्मयोग बहुत प्राचीन है और उत्तम रहस्य है। अर्थात् बिल्कुल छिपी हुई बात है। प्राचीन काल में प्रचलित थी किन्तु आज रहस्यभूत समझा जाता है। इस समय इसे कोई नहीं जानता। तुम मेरे भक्त और मित्र हो इसलिए मैंने तुम्हारे प्रति आज यह रहस्य प्रकाशित कर दिया है।

भारतीय सभ्यता में प्राचीन होने से ही किसी बात को प्रमाण माना जाता है। विशेष कर धर्म वा कर्तव्य के सम्बन्ध मे कोई नई बात प्रमाण नहीं मानी जाती जब तक कि उसकी प्राचीन परम्परा सिद्ध न की जाय। यों तो अन्य विषयों में भी प्राचीनता का अन्वेषण किया ही जाता है। इसी प्राचीनता से बचने के लिए कविवर कालिदास ने कहा है कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि किञ्चिन्नवमित्यवद्यम् ।
सन्तःपरीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,
मूढ़ःपरप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात् पुरानी होने से ही सब बातों को अच्छी नहीं मान लेना चाहिए। और नई होने से ही कोई बात अवद्य अर्थात् दोष युक्त नहीं माननी चाहिए। सत् पुरुष परीक्षा करके अच्छा या बुरा समझते हैं। दूसरा कोई अच्छा कह दे, वा प्राचीन समय से अच्छी कही जाती हों, ऐसी बात पर विश्वास कर लेना मूढ़ पुरुषों का काम है। यह सब अपनी नई बात को प्रमाणित करने के लिए ही कहा गया है। आयुर्वेद में वाग्भट्ट ने नया ग्रन्थ बनाया। उसमें कई नई बातों की उद्भावना की। उन्हें भी यह कहना पड़ा :—

ऋषिप्रणीते श्रद्धाचेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किंन्न पठ्यन्ते ततो ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

अर्थात् केवल ऋषि प्रणीत होने के कारण ही ग्रन्थों पर श्रद्धा की जाय तो फिर चरक और सुश्रुत का ही इतना आदर क्यों? उन्हें छोड़ कर भेड़संहिता आदि ही क्यों न पढ़े जाँय। ऋषि प्रणीतता तो उनमें भी समान ही है। चरक सुश्रुत का इतना आदर होने का कारण उनका सुभाषित ही है, तो फिर सुभाषित मेरा कहा हुआ भी क्यों न आदर पावेगा। अस्तु! अपनी नई बात का आदर लोक में कराने के लिए ही यह सब कहा जाता था। इससे यही सिद्ध होता है कि बिना प्राचीन परम्परा से मिलान के नई बात का आदर भारतीय सभ्यता में नहीं है। धर्म व कर्तव्य सम्बन्ध में तो यहाँ वेद को ही प्रमाण माना जाता है। वेद को भारतीय शिष्ट समुदाय अनादि मानता है इसलिए अत्यन्त प्राचीन उसका सम्प्रदाय होने के कारण उसपर कोई शंका नहीं की जा सकती। जिन बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों ने वेद को प्रमाण नहीं माना, उन्हें भी अपने मत को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करने के लिए पुराने बुद्ध, जिन आदि का आश्रय लेना पड़ा।

यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में इससे विल्कुल उल्टी बात है। वहाँ नई बात की ही अधिक प्रतिष्ठा है। नई बात के आगे प्राचीन बात को तुच्छ समझा जाता है। नए—नए आविष्कार करने वाले ही वहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इसका कारण है कि उनके यहाँ विकासवाद का सिद्धान्त है। अर्थात् सौ वर्ष पहले जो संसार था उससे आज का संसार उन्नत है, ऐसा वहाँ माना जाता है। किन्तु भारत का सिद्धान्त ह्रासवाद है। यहाँ माना जाता है कि संसार क्रम से ह्रास की ओर जा रहा है। इसीलिए यहाँ प्राचीनता की प्रतिष्ठा अधिक है। उन्नत मार्ग की ही सब लोग प्रतिष्ठा करते हैं। हमारे यहाँ ह्रासवाद में

जब प्राचीन काल ही उन्नत था तो उसकी ही प्रतिष्ठा होती है। पाश्चात्य देशों में विकास वाद के कारण नवीन समय ही उन्नत है। इसलिए वे नवीनता की ही प्रतिष्ठा करते हैं।

वस्तुतः विचार करने पर विकासवाद और ह्रासवाद में दृष्टि-भेद ही कारण है। भारतीय दृष्टि अध्यात्म प्रधान है। ये आत्म सम्बन्धी उन्नति को ही उन्नति कहते हैं। जितना मनुष्यों को आत्मा के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान हो और उसके कारण सत्य अहिंसा आदि धर्मों की जितनी जिस समय प्रतिष्ठा अधिक हो उस काल को यहाँ उन्नति का समय कहा जाता है, और पाश्चात्य देशों में आधिभौतिक दृष्टि है। संसार में नए—नए उपभोग के पदार्थों की प्राप्ति जिस समय हो उसे ही वे उन्नति का समय कहते हैं। यह मानी हुई बात है और प्रत्यक्ष सिद्ध भी है कि जितनी सांसारिक उन्नति होगी और उपभोग के साधनों में जनता जितनी फँसेगी उतनी ही आत्मा की ओर से उसकी दृष्टि हटती जायगी। इसलिए दृष्टि भेद के कारण जिसे वे विकासवाद कहते हैं उसे ही हम ह्रास-वाद कहते हैं। अर्थात् पतन का समय कहते हैं। अस्तु! इसप्रकार दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। भारतीय संकृति का विश्वास है कि संसार अवनति की ओर फिसलता जाता है। जब विशेष अवनति हो जाती है तो कोई महान् शक्ति प्रकट होकर फिर उसे ऊँचे स्थान पर बैठा देती है। जहाँ से फिर वह प्राकृत नियमानुसार फिसलने लगता है। अधिक गिर जाने पर फिर कोई महा शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है इत्यादि। इसी विचार के अनुसार भगवान् ने कहा कि यह योग प्राचीन काल में प्रचलित था, अब काल क्रम से नष्ट हो गया। वह आज मैंने फिर तुम्हें बताया है। राजर्षियों में ही इस का प्रसार होने का कारण कई विद्वान् यह बताते हैं कि ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य आदि को सन्यास का अधिकार नहीं है। इसलिए उन्हें सद्गति प्राप्त करने के लिए कर्मयोग का ही आश्रयण करना पड़ता है। अर्जुन भी क्षत्रिय ही है, इसलिए भगवान् ने इसे भी कर्मयोग ही बताया। किन्तु यह कथन उपयुक्त नहीं। सन्यास के लिंग धारण अर्थात् दण्ड, काषाय, वस्त्र आदि का क्षत्रिय आदि को निषेध भले ही माना जाय किन्तु ज्ञानयोग की प्रचलितता तो क्षत्रियों और वैश्यों में भी पुराने इतिहासों से सिद्ध होती है। राजर्षि जनक ज्ञान मार्ग के पूर्ण पथिक माने जाते हैं। मार्कण्डेय पुराण में समाधि वैश्य ने भगवती से ज्ञान का वरदान प्राप्त किया था। इसलिए राजर्षियों में ही कर्मयोग का प्रसार होने का कारण यही माना जा सकता है कि उनमें राज्य सुख भोग के कारण लम्पटता होना अधिक सम्भव है। अतः उनको ही इस वैराग्यमूलक कर्मयोग का उपदेश देना अधिक आवश्यक है जिससे कि वे राज्य सुख भोगों में न फसें और अपने भविष्य कल्याण की ओर भी दृष्टि रक्खें।

यहाँ जो परम्परा कही गई है वह केवल वैवस्वत मन्वन्तर की परम्परा है, इसीसे उसे वैवस्वत मनु के पिता विवस्वान् से ही आरम्भ किया गया है।

किन्तु प्राचीन मन्वन्तरों में भी इस योग की प्रचलितता और उसकी परम्परा व बार-बार लुप्त होना और पुनः किसी महापुरुष के द्वारा परम्परा प्रवृत्त होना, महाभारत शान्ति पर्व के नारायणीय प्रकरण (अ० ३४८) में बताया गया है। प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में यह योग नारद ने नारायण से प्राप्त किया था। आगे के मन्वन्तरों की परम्परा भी नारायणीय में वर्णित है। वैवस्वत मन्वन्तर की प्रक्रिया वहां यों लिखी है कि नारायण से ब्रह्मा ने प्राप्त किया। ब्रह्मा ने दक्ष को दिया। दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र को और उन ने कनिष्ठभ्राता विवस्वान् को दिया। दक्ष का दौहित्र अदिति का पुत्र विष्णु नाम का आदित्य है जिसे भगवान् कृष्ण ने विभूति अध्याय में "आदित्यानामहं विष्णुः" कह कर अपना रूप बताया है। इस प्रकार भगवान् का विवस्वान् को योग देना सिद्ध हो जाता है। आगे की परम्परा गीतोक्त ही है। नारायणीय भक्ति मार्ग का एक प्रतिष्ठित प्रकरण माना जाता है, उसमें भगवद्गीता का भी उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि वहाँ का भक्ति योग और भगवद्गीता का कर्मयोग एक ही है। भगवद्गीता में भी भागवत धर्म अर्थात् भक्ति मार्गों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता ही है। और जैसा कि हम आरम्भ के भूमिका रूप पुष्पों में लिख आये हैं कि वेद के अनन्तर संस्कृत वाङ्मय में भगवद्गीता ही भागवत धर्म का सबसे पुराना ग्रन्थ है। लोकमान्य तिलक ने भी ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य माना है। और इसीलिए यहाँ भी योग शब्द का अर्थ वे कर्मयोग ही मानते हैं। प्रकरण से भी यहाँ योग शब्द का यही अर्थ सिद्ध होता है। और श्री विद्यावाचस्पति जी ने भी ६ अध्यायों को राजर्षि विद्या वा वैराग्य योग ही कहा है। वैराग्य योग शब्द का प्रयोग वे कर्म योग में ही करते हैं। प्रकृत श्लोक पर भी उनने शीर्षक दिया है "बुद्धि योगस्य भगवन्मत सिद्धसनातनत्वोपनिषत्"। और "साम्य योगस्य ज्ञान योग कर्मयोगाभ्यामतिप्राचीनत्वम्" इससे उनके मत में यहाँ योग शब्द का अर्थ बुद्धि योग सिद्ध होता है, वैराग्य योग वा कर्म योग को वे बुद्धि योग का ही अंश मानते हैं। यह सब विषय आरम्भ के पुष्पों में कहा जा चुका है।

जगद्गुरू श्री शङ्कराचार्य यहाँ योग शब्द का अर्थ "ज्ञान निष्ठा लक्षणः स संन्यासः कर्मयोगोपायः" करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कर्मयोग ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति का उपाय है, और उससे प्राप्त होने वाली ज्ञान निष्ठा जिसके साथ कर्म संन्यास भी सम्मिलित है वही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। और वही यहाँ योग शब्द से कही गई है। किन्तु नारायणीय में यही परम्परा जो बताई गई है, वहाँ कर्मयोग से ज्ञान योग प्राप्त होता है—ऐसा कथन नहीं मिलता। वहाँ प्रवृत्ति धर्म की ही परम्परा नारद के द्वारा प्रवर्तित हुई—यह प्राप्त होता है, और भागवत धर्म वा भक्तियोग को भी वहाँ प्रवृत्ति धर्म के ही अन्तर्गत माना गया है। और यहाँ भी "योगः" का विशेषण "तृतीयाध्यायोक्तः" ऐसा श्री शङ्कराचार्य ने भी माना है। और तृतीयाध्याय में अधिकांश कर्म योग का ही

विवरण प्राप्त होता है। उनकी व्याख्यानुसार भी ज्ञान योग का संकेत मात्र दो श्लोकों में है। जैसा कि हम अपनी व्याख्या में कह चुके हैं। इसलिए यहाँ योग शब्द का अर्थ कर्म योग ही करना उचित है। और श्री रामानुजाचार्य आदि ने भी योग शब्द का कर्म योग ही अर्थ किया है। कर्म योग और ज्ञान योग की साधन और साध्यता के विषय में गीता का क्या प्रतिपाद्य है यह सङ्क्षेपतः पूर्व में कहा जा चुका है और आगे भी यथावसर इसका विवरण किया जायगा।

"मैंने विवस्वान् को यह योग बताया" यहाँ विवस्वान् शब्द से कोई विवस्वान् नाम का शरीरधारी पुरुष ही विवक्षित है और उसका पुत्र मनु भी कोई शरीरधारी ही हो सकता है। क्योंकि मनु मनुष्यों में शरीरधारी पुरुष से ही परम्परा प्रवृत्त हो सकती है। और आगे अर्जुन के प्रश्न में जो "विवस्वान् का जन्म पहले है" यह कहा गया है वह भी विवस्वान् को जन्म-धारी पुरुष विशेष ही सिद्ध करता है। पूर्व सैंतालीसवें-पुष्प में हम तीन प्रकार के देवताओं का विवरण कर आये हैं। उनमें से ये विवस्वान् और मनु तीसरे प्रकार के देवताओं के अन्तर्गत समझने चाहिये। इक्ष्वाकु से आगे तो मनुष्य वंश है यह सब ही मानते हैं।

तुम मेरे मित्र हो इस वाक्य में भगवान् ने अर्जुन को अपना मित्र कहा। इस कथन पर यह शंका हो सकती है कि भगवान् का तो मित्र वा शत्रु कोई नहीं हो सकता। वे तो राग-द्वेष से सर्वथा शून्य हैं। इसी शंका के निवारणार्थ पहले 'भक्तोसि' पद दिया गया है। इससे यह अर्थ सिद्ध हो जाता है कि मेरे भक्त हो इसलिए मेरे मित्र हो। आगे भी भगवान् कहेंगे कि मैं सबके लिये समान हूँ। मेरा न कोई शत्रु है न मित्र, किन्तु जो मेरा भजन करते हैं वे अपने मन से सदा मुझमें रहते हैं। इसलिए मैं भी उनमें रहता हूँ अर्थात् उनसे दूर नहीं रहता। इस पर विशेष उस पद्य की व्याख्या ही में कहा जायगा। अथवा मनुष्यावतार रूप में सम्बन्धी होने के कारण और ईश्वर भक्त होने में कारण तुम मेरे मित्र हो ऐसा समझ लेने से कोई अनुपपत्ति नहीं रहती।

अट्ठावनवां-पुष्प

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

ऐतहासिक दृष्टि से चकित होकर अर्जुन प्रश्न कर बैठा कि आपका जन्म अपर अर्थात् बहुत पीछे का है, और विवस्वान् का जन्म पर अर्थात् बहुत पूर्व काल का है, तब मैं यह कैसे मान लूँ कि आपने आदि में विवस्वान् को यह योग कहा ? हमारे सामने जन्म लिया हुआ मनुष्य हजारों-लाखों वर्ष पहले होने वाला पुरुष को कोई विद्या सिखावे यह तो समझमें आही नहीं सकता। इस प्रश्न से सिद्ध होता है कि अर्जुन अभी तक भगवान् को कर्म वश जन्म लेने वाले सांसारिक पुरुष समझता है। इसीलिए विवस्वान् को उपदेश देने के लिए आप उस समय कहाँ से आये यह जिज्ञासा उसने प्रकट की।

उत्तर में भगवान् अपना स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन मेरे जन्म बहुत से पूर्व काल में हो चुके हैं। यह मत समझ कि तू कोई नया ही उत्पन्न हुआ है। द्वितीयाध्याय में विस्तार से कहा जा चुका है कि आत्मा नित्य है वह बार-बार शरीरधारण करता और छोड़ता रहता है। इसी प्रकार मैं भी अवतार रूप से अनेक बार जन्म ग्रहण करता हूँ। भेद इतना ही है कि मैं अपने सब जन्मों की बात जानता हूँ अर्थात् स्मरण रखता हूँ। और तुम कर्म परवश होने के कारण नहीं जानते, अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण नहीं रखते, क्योंकि तुम, परंतप अर्थात् शत्रुओं को तपाने वाले हो अर्थात् तुममें

स्व पर भाव है, जिसको अपना समझते हो उससे प्रेम करते हो जिसे शत्रु समझते हो उससे द्वेष करते हो, इसीलिए कर्मवश होने के कारण कर्म के आवरण से तुम्हें स्मरण नहीं रहता। मेरे ज्ञान में कोई आवरण नहीं इसलिए मुझे सदा स्मरण रहा करता है।

इस पर अर्जुन के मन में यह भाव होना सम्भव है कि वे कोई जातिस्मर जीव होंगे। उत्तम कर्मवश कई मनुष्य जातिस्मर हो जाते हैं। उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण बना रहता है। ऐसे वर्तमान समय में भी कई पुरुष वा स्त्री देखे जाते हैं, जो कि अपनी पूर्व जन्म की बात बता देते हैं। और पूर्व के सम्बन्धियों को भी पहचान लेते हैं। ऐसे ही ये कृष्ण भी होगें, ऐसा अर्जुन का विचार समझ, आगे के तीन श्लोकों से भगवान् अपना अवतार तत्त्व प्रकट करते हैं "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" इत्यादि। इस श्लोक की व्याख्या भिन्न-भिन्न संप्रदाय के आचार्यों ने प्रकृति और माया शब्द के अर्थों को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार से की है, और भगवान् के विषय में सभी संभव है, इसलिए सबका ही संक्षिप्त आशय हम यहाँ उद्धृत करेंगे—

जगद्गुरु श्री शंकराचार्य माया और प्रकृति शब्दों को "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इस श्रुति प्रमाण के अनुसार एकार्थक मानते हैं। उनके मतानुसार श्लोक का अर्थ होगा कि मैं अज अर्थात् जन्म रहित और अव्ययात्मा अर्थात् किसी प्रकार के विनाश वा क्षीणता से रहित हूँ। अज और अव्यय भगवान् ने जीवात्मा को भी द्वितीयाध्याय में बताया है। यहाँ विशेष अर्थ यह करना होगा कि कर्मवश शरीर ग्रहण वा शरीर परित्याग मेरा नहीं होता। जीवत्व संशय को सर्वथा हटाने के लिए तीसरा विशेषण देते हैं कि—मैं सब भूतों का ईश्वर हूँ, अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूतों पर और कर्मवश जन्म ग्रहण करने वाले प्राणियों पर अपना शासन रखता हूँ। यदि ऐसा है, तब तो आपका एक भी जन्म संभव नहीं, बहुत जन्म व्यतीत हो चुके इसकी तो क्या कथा। इसका उत्तर उत्तरार्द्ध से देते हैं—कि ऐसा होता हुआ भी मैं अपनी प्रकृति को वश में करके उत्पन्न होता हूँ। इसका आशय है कि जो माया ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सब जीवों को मोहित करती है, मेरे दर्शन नहीं होने देती उसे ही मैं अपने वश में करके अवतार रूप में प्रकट होता हूँ। मुझ पर उस माया का कोई प्रभाव नहीं रहता क्योंकि वह मेरी है। इसी कारण अवतार रूप में भी मेरे ईश्वरत्व, आनन्द रूपता इत्यादि धर्मों में कोई बाधा नहीं आती। फिर भी आपका शरीर तो भौतिक ही होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि मैं अपनी माया से ही जगत् के सामने प्रकट होता हूँ। अर्थात् जगत् को अपना प्रकट होना बताता हूँ; वस्तुतः मेरा भौतिक शरीर नहीं होता। अथवा मैं भौतिक शरीर का परिग्रह नहीं करता। जैसा कि शान्ति पर्व के नारायणीय प्रकरण में श्वेत द्वीप-निवासी भगवान् विष्णु ने नारद से कहा है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां वेत्तुमर्हसि ॥

अर्थात् हे नारद ! तुम जो मुझे भूत गुणों अर्थात् रूप स्पर्शादि से युक्त देख रहे हो वह मेरे द्वारा प्रकट की हुई माया ही है। मुझे वास्तव में ऐसा मत समझना। मैं सब भूतों और भूतों के गुणों से पृथक् हूँ। इससे सिद्ध होता है कि श्रुति और पुराणों में जो "य ह्येष आदित्ये हिरण्मयः पुरुषः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" इत्यादि रूपों का वर्णन मिलता है, वा पुराणों में जो "वैकुण्ठनाथ, क्षीरसमुद्रशायी, श्वेतद्वीप निवासी, एवं गोलोकनाथ, इन चार विष्णु के रूपों का, और इसी प्रकार भगवान् शङ्कर के वा माता शक्ति के अनेक रूपों का वर्णन मिलता है वे सब भक्तानुग्रहार्थ माया कल्पित रूप ही हैं। अथवा सर्व जगद्रूप भगवान् की रूप और आयुध आदि की कल्पना ही वैकुण्ठ नाथ आदि के रूप में की गई है, जैसाकि विष्णु पुराण, लिङ्ग पुराण आदि में स्पष्ट विवरण मिलता है। इसका विस्तार हमने अपने "पुराण पारिजात" ग्रन्थ में किया है। इस छोटी प्रवचन माला में सब लिखने का स्थान नहीं। अस्तु। भगवान् सर्वथा सर्व गुण क्रियादि रहित ही हैं। उनका कोई रूप नहीं। इसी प्रकार अवतार रूप में जो भगवान् का शरीर देखा जा रहा है वा जिस शरीर से अभी अर्जुन के रथ पर बैठे उपदेश दे रहे हैं, वह रूप भी उनका वास्तविक नहीं। अपनी माया के द्वारा जगत् को अपना रूप दिखा देते हैं। उसी रूप में अनन्त बल, पराक्रम, विद्या आदि को भी प्रकट कर देते हैं। वस्तुतः वे निर्गुण, निर्विकार, सच्चिदानन्द रूप हैं। इसी कारण उनका रूप कोई नियत नहीं। कभी सहस्रभुज रूप में कभी चतुर्भुज रूप में और कभी द्विभुज रूप में दर्शन दिया करते हैं। यही भाव इस प्रथम पद्य से प्रकट किया गया, यह श्री शङ्कराचार्य कहते हैं।

श्री रामानुजाचार्य प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव करते हैं। और अधिष्ठाय पद का स्वीकार अथवा अपरित्याग। एवं माया शब्द का अर्थ उनके मत में ज्ञान वा संकल्प है। वे परब्रह्म को निर्गुण नहीं मानते, अपितु अनन्त कल्याण गुण गण विशिष्ट कहते हैं। उनके मतानुसार श्लोक के उत्तरार्द्ध का यह अर्थ है कि मैं अपनी प्रकृति अर्थात् भक्तानुग्रह आनन्दमयत्व, जगदीश्वरत्व आदि स्वभावों का परित्याग न करता हुआ ही अपने संकल्प से सम्यक् प्रकार से अर्थात् सर्वसामर्थ्य युक्त प्रकट होता हूँ। इनने अपने भाष्य में भगवद् गुणों का और आदित्यमण्डलस्थित हिरण्यश्मश्रु आदि रूपों का भी यहाँ वर्णन किया है। इस आधार पर इनके भाष्य के व्याख्याकार यह भी आशय निकालते हैं कि भगवान् सगुण होने की तरह साकार भी हैं, उसी अपने आकार को अवतार रूप में प्रकट कर दिया करते हैं। इनके मतानुसार भगवान् का नित्य सिद्ध रूप है, उसी रूप में वे प्रकट हुए हैं। वह रूप भी इच्छा के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इसीलिये विश्व प्रदर्शन आदि की संगति हो जाती है।

श्री वल्लभाचार्य के नाम से तत्त्व दीपिका नाम की व्याख्या प्रकाशित है, उनके अनुसार सब जीव परब्रह्म से ही प्रकट हैं। किन्तु उन्हें प्रकट करने के समय ही भगवान् अपने आनन्दांश को छिपा लेते हैं। वह उनमें नहीं देते। इसी प्रकार ऐश्वर्यादि भी भगवान् के संकल्प से उनमें प्रकट नहीं हो पाते। यहाँ उत्तरार्द्ध का यह अर्थ है कि सामान्य जीवों की तरह अपने असाधारण गुण वा स्वभाव को न छिपाता हुआ अपनी माया अर्थात् भक्तों पर अनुग्रह से अथवा ज्ञान, वल, ऐश्वर्य, शक्ति आदि के साथ ही प्रकट होता हूँ। अर्थात् अवतारों में ज्ञान वल शक्ति आदि ऐश्वर्य का तिरोभाव नहीं होता। इनके मतानुसार भगवान् के देह का जन्म वा नाश नहीं है, अपितु आविर्भाव-तिरोभाव है। अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें अपना रूप प्रकट कर देते हैं और जब चाहे उसे तिरोहित कर देते हैं। श्री वल्लभ सम्प्रदाय के मुख्य विद्वान् गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी के नाम से जो व्याख्या प्रकाशित है उसमें माया शब्द का अर्थ "अन्तरङ्गशक्ति" किया गया है। और प्रकृति शब्द का अर्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है। आगे के पद्य से मिलाकर वे इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि जब-जब धर्म की अर्थात् अपने प्रिय भक्ति मार्ग की हानि होती है और उसका विरोधी अधर्म उठने लगता है तब-तब मैं अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा पहले लीला के उपयोगी और कर्म योग के अधिकारी अनेक परिकर रूप जीवों को प्रकट करता हूँ। और अपने आप भी अजन्मा रूप में ही प्रकट होता हूँ। जैसा कि श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि पहिले भगवान् ने वसुदेव के मन में प्रवेश किया, और फिर वसुदेव के द्वारा अर्पित भगवदंश को देवकी ने भी मन में ही धारण किया। इसलिये भगवान् का प्राकृत जीवों की तरह गर्भनिवासादि नहीं है। और वे प्रकट भी अलौकिक चतुर्भुज रूप में ही हुए। आगे भी भक्तों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप दिखाते रहे। आनन्द तीर्थङ्कर नामक श्रीमध्वाचार्य की व्याख्या है कि अज और अव्ययात्मा होता हुआ भी (आत्मा तो सबका ही अज अव्यय है परन्तु यहाँ अपनी विशेषता प्रदर्शित करने के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग देह अर्थ में किया गया है। इससे यह अर्थ है कि मेरा देह भी अज और अविनाशी है) और ब्रह्मादि स्थावरान्त सब जगत् का ईश्वर होता हुआ भी मैं "संभवामि" अर्थात् प्रकट होता हूं। प्रकट होने का प्रकार बताते हैं कि अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके (यहाँ स्वां विशेषण से प्रसिद्ध स्वतन्त्र प्रकृति का निवारण किया। अपनी प्रकृति अर्थात् अपना उद्भव स्थान वसुदेव-देवकी आदि) उनमें अधिष्ठान अर्थात् प्रवेश करके स्वमायया अर्थात् अपने ज्ञान से प्रादुर्भूत होता हूँ। इनके मतानुसार भी भगवान् का देह प्राकृत नहीं है। अपितु जैसा पूर्व व्याख्या में वर्णन कर आये हैं—वसुदेव-देवकी के मन में ही प्रवेश कर स्वेच्छा विग्रह से अपने आप प्रकट हुए हैं। देह भी स्वेच्छाकल्पित ही है।

सम्पूर्ण महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी ने इस पद्यपर विस्तृत

विचार किया है। वे यह भी विचार उठाते हैं कि अन्ततः जो भगवान् कृष्ण का दृश्य रूप है, जिसकी बाल पौगण्ड कुमार यौवनादि अवस्थाओं का सबने दर्शन किया, उस देह का कोई उपादान कारण तो होना चाहिये। जिससे कि वह देह बना। वह उपादान क्या है? भौतिक तो भगवद्देह हो नहीं सकता, क्यों कि भौतिक देह का निर्माण तो गर्भ में पूर्व कर्मानुसार हुआ करता है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् की "पञ्चाग्नि विद्या" में स्पष्ट है। यदि शरीर का उपादान माया वा अविद्या को कहा जाय तो भी नहीं बनता, क्योंकि ईश्वर में अविद्या रूप माया नहीं है। यदि कहा जाय कि जीवों की अविद्या ही भगवद्देह बनादेती है तो यह नितान्त असङ्गत होगा, क्योंकि जीवाविद्या से तो सुक्तिरजतादि प्रातिभासिक (जिनकी सत्ता देखने के समय ही रहें) पदार्थों की उत्पत्ति ही मानी गई है। इस प्रकार तो भगवद्देह अति तुच्छ माना जायेगा, जो कि सर्वथा अनिष्ट है। इसलिये इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने विवरण किया कि (स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय) यहाँ स्व शब्द जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति से विलक्षणता दिखाता है। स्व शब्द का अर्थ प्रत्यग् चैतन्य अर्थात् सबके भीतर विराजमान चैतन्य, शास्त्र में प्रसिद्ध है। उस चैतन्य को ही प्रकृति अर्थात् उपादान बनाकर उसी पर अधिष्ठित होकर प्रादुर्भूत होता हूँ। इसीलिए भगवान् के स्वरूप का वर्णन भी भागवत में मिलता है कि (आनन्दमात्र करपाद मुखोदरादिः) अर्थात् भगवद्देह के हाथ पांव मुख उदर आदि सब आनन्द मात्र ही हैं। आनन्द मात्र अपने स्वरूप को ही देह रूप से भगवान् ने संघटित किया। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि चैतन्य तो दृश्य नहीं हो सकता, फिर भगवद्देह दृश्य कैसे हुआ? इसका उत्तर स्वमायया पद से दिया है। लोक में भी देखा जाता है कि ऐन्द्रजालिक आदि अपनी माया से अपने जैसा एक दूसरा देह प्रकट कर माया से ही प्रकट किये हुए सूत्र पर उसे आकाश में चढ़ा देते हैं और वहाँ कई प्रकार के खेल उसके द्वारा दिखा देते हैं। फिर आगे जब चाहे खेल दिखाकर उस माया को समेट लेते हैं। जब जीवों की माया भी इतना कार्य कर सकती है तो भगवान् की माया का तो कहना ही क्या, वह माया चैतन्य को भी दृश्य बना देती है। इतना भेद है कि ऐन्द्रजालिकों की माया कुछ क्षणों के लिए खेल दिखाती है, यह भगवान् की माया जितने काल उनकी इच्छा हो उतने काल उनके स्वरूप को दिखाती रहती है। मार्कण्डेय पुराण के सप्तशती स्तोत्र में जो महामाया का वर्णन किया है कि

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तयासर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥
देवानां कार्य सिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

तात्पर्य यह है कि माया नित्य है, वह सब जगत् को बनाती है, किन्तु देवताओं के कार्य साधन के लिए जब प्रकट होती है तब उसे उत्पन्न हुई ऐसा कहा जाता है। उसी माया से यहाँ भगवान् का रूप परिदर्शन आदि होता है, उनका देह माया मात्र से भासित हो रहा है। इसमें श्रीमद्भागवतोक्त ब्रह्मा की गो वत्स हरण लीला भी प्रमाण है। वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मा ने ईश्वरत्व का सन्देह कर जब गोवत्स, गोपों को चुरा लिया था और भगवान् ने अपने देह से ही नये गोवत्स और गोपों की सृष्टि कर दी थी तब उन गोप और गोवत्सों को किसी ने नये तो नहीं पहचाना। किन्तु एक विशेषता हुई कि गो वत्सों पर गौओं का और गोपों पर उनकी माता का प्रेम अधिक बढ़ गया। इसी प्रेमातिशय को देखकर जब बलभद्र ने ध्यान लगाया तब उन्हें विदित हुआ कि ये गो वत्स और गोपाल भगवान् की नयी सृष्टि है, इस पर परिक्षित का प्रश्न है कि अपने अङ्गजात पुत्रों की अपेक्षा भी इन पर अधिक प्रेम क्यों हुआ ? इस पर शुकदेव जी ने कहा परमात्मा आनन्दमय है, उस परमात्मा की साक्षात् प्रतिमूर्ति होने के कारण इन पर अधिक आनन्द होना स्वाभाविक है, अस्तु। इस मत में भी दृश्यमान भगवान् का शरीर माया के द्वारा ही दृश्य है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी माया के सत्वांश के द्वारा ही भगवान् के शरीर की दृश्यता कही है, और यह विशेषता बताई है कि वह माया रूप शरीर नित्य ही रहता है, उसीसे विवस्वान् को भी उपदेश दिया था। उसी शरीर से तुझे भी उपदेश दे रहा हूँ।

श्री शङ्करानन्द स्वामी ने भी "अधिष्ठाय" का अर्थ उस मायामय देह पर अहंममाभिमान" करके यह किया है। और सब प्रक्रिया समान ही है।

श्री विद्या वाचस्पति जी भगवान् कृष्ण को अव्यय पुरुष का अवतार और आधिकारिक पुरुष कहते हैं, अव्ययात्मा यह शब्द उनके मत में विशेषण रूप नहीं, अपितु प्रत्येक स्थान में बार-बार आने से उसे निरूढ़ शब्द ही समझना चाहिये। अव्यय, अक्षर आदि का विवरण हम पन्द्रहवें अध्याय में करेंगे, यह कई बार कह चुके हैं। इनके मतानुसार भगवान् का शरीर स्वेच्छा निर्मित है।

हमारे विचार से तो यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ वही होना चाहिये, जो भगवद्गीता के ही सप्तम अध्याय में कहा गया है। वहाँ पाँचों महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार को भगवान् ने अपनी अपरा प्रकृति बताई है। और जीवत्व सम्पादक प्राण को परा प्रकृति। इन सबका विवरण वहीं किया जायगा। अन्यत्र भी भगवद्गीता में सृष्टि करने वाली शक्ति के लिए प्रकृति शब्द का, और जीवों को मोहित करने वाली शक्ति के लिये माया शब्द का प्रयोग देखा

जाता है। यह अवश्य है कि माया को भी भगवान् ने गुणमयी कहा है। इस प्रकार प्रकृति शब्द का परा अपरा प्रकृति अर्थ करने पर इस पद्य का आशय यह होगा कि वह प्रकृति मेरी है अर्थात् मैं ही उसका अधिष्ठाता हूँ। मेरी इच्छानुसार ही उसमें परिवर्तन होते हैं। इसलिये उसके द्वारा अपनी इच्छानुसार एक विशेष देह उत्पन्न करवाता हूँ। जिसमें अपने अनन्त वीर्य, ज्ञान, और आनन्द का विकास हो सके और अपनी माया द्वारा उस देह का परिग्रह करता हूँ। धातु प्रत्ययोंके अनुसार माया शब्द का अर्थ अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बनाना ही है, जिसका कि विशेष विवरण श्री विद्या वाचस्पति जी के ब्रह्म सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। यहाँ यही तात्पर्य है कि मैं यद्यपि देशकाल से अपरिच्छिन्न हूँ तथापि अपनी माया से परिच्छिन्न होकर उन देहों में प्रवेश करता हूँ। इसीसे लोक मुझे भी परिच्छिन्न मानने लगते हैं।

इस प्रकार प्रकृति और माया दोनों शब्दों का पद्य में ग्रहण उपपन्न हो जाता है। और देह की दृश्यता भी उपपन्न हो जाती है। एवं स्वेच्छा निर्मित शरीर होने के कारण स्वतंत्रता में भी कोई बाधा नहीं आती। और स्वेच्छा निर्मित देह होने के कारण संसार मनुष्यों से विलक्षणता भी सिद्ध हो जाती है, अस्तु। इन व्याख्याओं के तारतम्य का विचार विद्वान् पाठक स्वयं कर लें। सभी मतों में भगवद्देह कर्म निर्मित नहीं है किन्तु स्वेच्छा सम्पादित है। यह तो सिद्ध ही है।

इस पद्य से भगवान् ने सृष्टि का तत्त्व भी ध्वनित कर दिया। मैं अर्थात् अन्य पुरुष अज यद्यपि अजन्मा और अविनाशी हैं, तथापि अपनी प्रकृति अर्थात् परा प्रकृति अक्षर पुरुष और अपरा प्रकृति क्षर पुरुष इन दोनों में अधिष्ठित अर्थात् व्यापक रूप से प्रविष्ट होकर माया शक्ति से अपने आपको भी परिच्छिन्न दिखाते रहते हैं। यही सृष्टि की प्रक्रिया है, जिसका कि पन्द्रहवें अध्याय में अव्यय आदि पुरुषों के निरुपण के समय विस्तार किया जायगा। यह जगद्रूप अवतार ही भगवान् का प्रथम अवतार है। जैसा कि श्री भागवत में लिखा है—

> एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
> यस्यांशांशेन सिद्ध्यन्ति देवतिर्यङ्नरादयः॥

इस देह परिग्रह का कारण आगे दो पद्यों में भगवान् बताते हैं कि जब जब धर्म की ग्लानि अर्थात् ह्रास होता है और अधर्म बढ़कर धर्म को दबाता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रादुर्भूत करता हूँ।

यहाँ धर्म शब्द का मीमांसकोक्त यज्ञ यागादि धर्म ही विवक्षित नहीं है अपितु लोक प्रसिद्ध नैतिक धर्म समाजिक धर्म आदि सभी समझ लेना चाहिये। मीमांसकोक्त धर्म भी उनमें अन्तर्गत अवश्य है। ये सब धर्म जब

अधर्म के द्वारा अथवा अधार्मिकों के द्वारा दबाया जाता है, तभी भगवान् का प्रादुर्भाव होता है।

वैष्णवाचार्यों ने धर्म शब्द से मुख्य धर्म रूप भगवद्भक्ति का ही ग्रहण किया है, अर्थात् जब दुष्टों के आक्रमण से भक्ति मार्ग तिरोहित होने लगता है, तभी भगवान् प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ कई विद्वान् "आत्मानं सृजामि" का यह अर्थ करते कि किसी विशेष व्यक्ति को धर्म रक्षार्थ मैं उत्पन्न कर देता हूँ, किन्तु आगे के पद्य में जब "संभवामि युगे युगे" यह स्पष्ट कहा है, तब वह अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता। किन्तु स्वयं मैं अपने आपको प्रादुर्भूत करता हूँ। यह भगवद्वतार का अर्थ ही यहाँ सुसंगत है। "आत्मानं सृजामि" का दूसरा अर्थ जो भी पुरुषोत्तम जी गोस्वामी जी ने किया है वह पूर्वोक्त पद्य की व्याख्या में लिख चुके हैं ॥७॥

आप प्रादुर्भूत होकर क्या करते हैं ? यह तीसरे पद्य में कहा है कि 'साधु' अर्थात् शिष्ट जनों की रक्षा के लिये और धर्म-द्वेषी दुष्टों के संहार के लिये वा धर्म की स्थापना के लिए मैं भिन्न-भिन्न युगों में प्रादुर्भूत हुआ करता हूँ।

इससे यह सिद्ध किया कि मेरे अवतार का कोई समय नियत नहीं है। जब-जब ऐसी परिस्थिति आवे, तब-तब अवतार ग्रहण कर मैं ये कार्य कर दिया करता हूँ।

वे प्रयोजन और कर्तव्य लोक प्रसिद्धि के अनुसार भगवान् ने बतलाये। किन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब इच्छा मात्र से अनन्त कोटि ब्राह्मण्डों की उत्पति और संहार हो सकता है तब क्या शिष्टों की रक्षा और दुष्टों का दमन इच्छा मात्र से संभव नहीं कि उसके लिये भगवान् स्वयं दौड़कर आवें। इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन हम आगे के प्रवचन में करेंगे। किन्तु यहाँ इतना ही कहना है कि श्री रामानुजाचार्य ने इसी श्लोक की व्याख्या में मुख्य प्रयोजन ध्वनित कर दिया है। साधु शब्द से वे भक्त जनों का ग्रहण करते हैं। भक्त जन जब मेरी भक्ति करते हुए मेरे दर्शन के लिये विशेष उत्कण्ठित हो जाते हैं और मेरे वियोग में क्षण-क्षण समय उनका कल्प के समान व्यतीत होने लगता है, तब उनके परित्राण के लिये मैं प्रादुर्भूत होता हूँ। यहाँ केवल "त्राण" शब्द न कहकर "परित्राण" शब्द का प्रयोग किया है, परितः त्राण उनका यही है कि उन्हें दर्शन देना उनके साथ वार्तालाप, क्रीड़ा आदि करना इसीसे उनकी तृप्ति होती है, और वियोग दुःख से परित्राण होता है। और उनके सताने वाले दुष्टों का मैं विनाश करता हूँ। इसी से मेरी भक्ति रूप धर्म की सम्यक् स्थापना होती है। यही अवतार का मुख्य प्रयोजन है। जो बिना स्वरूप ग्रहण के सिद्ध हो ही नहीं सकता। इस अवतार के प्रयोजन का विशेष विवेचन हम आगे के स्वतन्त्र व्याख्यान में करते हैं ॥

उनसठवां पुष्प

अवतार रहस्य :—

पूर्व प्रवचन में भगवान् ने अपने अवतार की प्रक्रिया और अवतार का कारण जो बताया है, उसकी व्याख्या की गई। यह अवतारवाद सनातन धर्म का वर्तमान में मूल आधार है। वर्तमान में सब मन्दिर आदि राम व कृष्ण के ही मिलते हैं, और इन्ही के उपासक बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। किन्तु कुछ काल से कई नए समाज जो प्रकट हुए हैं, इस अवतारवाद पर अपने तर्कों से कई शंकाएँ उपस्थित करते हैं। इसलिए अवतारवाद पर कुछ स्वतंत्र प्रवचन भी कर देना आवश्यक प्रतीत हुआ। इससे अवतारवाद का मुख्य रहस्य संक्षेप में यहाँ प्रकाशित किया जाता है :—

ईश्वर वादी सभी सम्प्रदाय, वे चाहे भारत के हों, चाहे अन्य देशों के, ईश्वर की उपासना आवश्यक मानते हैं। ईश्वर मानने का हमलोगों का प्रयोजन यही है कि हम उसकी उपासना कर अपना कल्याण सम्पादित करें। उपासना शब्द का अर्थ है कि अपने चित्त को एकाग्र कर उपास्य में लगा देना। किन्तु जबतक ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान न हो तबतक उसमें मन को लगाना सम्भव नहीं। हमारे मन का यही स्वभाव है कि ज्ञात वस्तु में शीघ्र चला जाता है, और अज्ञात वस्तु में जाना नहीं चाहता। इसलिए उपासना करने से पूर्व ईश्वर का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक हुआ। अब ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में यदि पता लगाते हैं तो "जितने मुँह उतनीं बातें" वाली कहावत सामने आती है। कुछ विदेशीय लोगों के सम्प्रदाय—मुसलमान आदि मानते हैं कि सात आसमान हैं। उन पर आठवीं कुर्सी और उस पर खुदा बैठा हुआ है। वह जो कुछ कहता है उसके कहते ही वह वस्तु तैय्यार हो जाती है इत्यादि। कुछ सम्प्रदायों के—ईसाई आदि के धर्म ग्रन्थों में लिखा है कि ईश्वर ने छह दिन में सृष्टि बनाई और सातवें दिन थककर विश्राम किया वही रविवार हमारा भी विश्राम दिन है। इनके कथनानुसार कुम्हार आदि के समान ईश्वर जगत् को गढ़ता है और उससे थकता भी है। अच्छा। इन लोगों की बात छोड़िए हमें (हम भारतवासियों को) ईश्वर का पता वेद ने ही दिया है। इसलिए हम वेद से ही उसके स्वरूप के सम्बन्ध में भी पूँछें। वेद से पूँछने पर उपनिषद् की कुछ श्रुतियाँ हमारे सामने आती हैं और वे ईश्वर को सब इन्द्रियों से पर बताती हैं। हमारे पास जो ज्ञान के साधन हमारी इन्द्रियाँ हैं वे कोई भी ईश्वर के प्रबन्ध में कुछ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकतीं। जैसा कि "केनोपनिषद्" में विस्तार से वर्णन किया है कि—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । इत्यादि ।

प्रकरणानुसार यहाँ 'पश्यति' पद "दृश्यते" के अर्थ में व्याख्याकारों ने माना है। उनके अनुसार इसका अर्थ होता है कि जो आँख से नहीं देखा जाता। इसका कारण भी वही श्रुति बताती है कि आँख को देखने की शक्ति उसही शक्ति घन ईश्वर से प्राप्त है। तब "कितना ही चतुर नट हो अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता" इस कहावत के अनुसार अपने भीतर शक्ति देने वाले को आँख कैसे देख सकती है ? जो इस बात का आग्रह करें कि हम तो आँख की देखी हुई वस्तु को ही मानते हैं उनसे यह पूछा जाय कि आँख ने आँख को कब देखा ! फिर आँख को ही कैसे मानोगे। कदाचित् कहो कि सामने दर्पण रख कर आँख को देख सकते हैं तो यह कहना भ्रान्तिमात्र है। दर्पण में केवल काला धब्बा सा दिखाई देता है वह तो चक्षु इन्द्रिय नहीं है। चक्षु इन्द्रिय एक शक्ति विशेष है। उसे आँख नहीं देख सकती। जब आँख अपने आप को ही नहीं देख सकती तो अपने भी भीतर विराजमान शक्ति देने वाले को वह कैसे देख सकेगी। इसी प्रकार सब इन्द्रियों से ज्ञान होने का खण्डन वहाँ किया गया है कि सब इन्द्रियों को शक्ति उसी शक्तिघन से प्राप्त होती है। इसलिए इन्द्रियाँ उसपर नहीं जा सकतीं। बस ! जो इन्द्रियों से न जाना जाय वही ब्रह्म व ईश्वर है। जिन वस्तुओं को तुम संसार में देख या सुनकर उनकी उपासना में लगे रहते हो वह ब्रह्म व ईश्वर नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु के सम्वाद में एक आख्यायिका भी मिलती है कि जब पिता उद्दालक ने ईश्वर का उपदेश किया तो श्वेतकेतु यही हठ करने लगा कि ईश्वर कोई वस्तु है तो उसे मुझे दिखाओ। इस पर उद्दालक ने उससे कहा कि—एक कटोरा भर पानी ले आओ। पानी लाने पर एक लवण का ढ़ेला मँगवाया और उसे उस जल में डाल कर ऊपर रखवा दिया और कहा कि आज का पाठ यहीं समाप्त है। अब कल प्रातः आना। जब दूसरे दिन श्वेतकेतु पढ़ने आये तो उनसे कहा कि वह जल का कटोरा लाओ। लाने पर कहा कि जो कल लवण का ढ़ेला तुमने इसमें डाला था वह कहाँ है देखो। श्वेतकेतु ने अच्छी तरह आँख से देखकर कहा कि वह तो इसमें नहीं दिखाई देता। तब उद्दालक ऋषि ने पूँछा कि नहीं देखने पर तुम मानोगे कि इसमें लवण नहीं है। हाँ कहने पर उनने उसमें से एक चम्मच जल इनके हाथ में देकर कहा कि अब कहो कि जल में लवण है या नहीं। स्वाद से प्रतीत होने पर जब लवण का अस्तित्व श्वेतकेतु ने बताया तो उद्दालक ने कहा कि किस स्थान में है यह पता लगाओ। इधर उधर चारों दिशाओं से चम्मच द्वारा जल देने पर और "यहाँ भी है, यहाँ भी है" ऐसा कहने पर पिता उद्दालक ऋषि ने पूँछा कि क्या निश्चय करते हो। लवण जल में कहाँ है ? तब श्वेतकेतु ने विचार कर उत्तर दिया कि पिताजी

लवण कहीं एक जगह नहीं है जल के प्रत्येक कण में वह व्याप्त हो गया है। तब उद्दालक हँसकर बोले कि जिस प्रकार लवण इस जल के कण-कण में व्याप्त है पृथक् प्राप्त नहीं होता। इसीप्रकार ईश्वर भी जगत् के प्रत्येक अणु में व्याप्त है, वह पृथक् नहीं मिल सकता। अस्तु! इस प्रकार पूर्वोक्त उपनिषद् में सब इन्द्रियों से ईश्वर ज्ञान का निवारण करने पर भी यह आशा होती है कि इन्द्रियाँ न जान सकें तो भी वाणी से तो वेद उसका वर्णन करेगा ही। वाणी से गुण धर्म सुनकर ही मूर्ति कल्पना करली जायगी और उसी से उपासना हो जायगी। तब इस पर भी उपनिषद् निराश करता है कि:—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदंयदिदमुपासते ॥

अर्थात् वाणी से भी जो नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाणी में कहने की शक्ति भी उसीसे प्राप्त है। तब पूर्वोक्त न्याय से अपने आप पर वाणी का भी प्रयोग नहीं हो सकता। अच्छा, वाणी भी न सही किन्तु मन का तो प्रयोग हो ही जायगा। जैसा कि द्राक्षा और मिश्री के मिठास में क्या भेद है इसे वाणी नहीं कह सकती। किन्तु मन झट पहचान लेता है। जिह्वा द्वारा स्वाद लेकर वह बता देता है कि यह द्राक्षा है और यह मिश्री है। इस आशय का भी खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि :—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदंयदिदमुपासते ॥

यहाँ भी 'मनुते' यह पद 'मन्यते' के अर्थ में है। अर्थात् मन से भी जो नहीं जाना जा सकता। क्योंकि मन में भी मनन शक्ति उसी से प्राप्त है। अपने आप पर उस शक्ति का प्रयोग भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वेद ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।"

अर्थात् मन के साथ वाणी उस तत्त्व को प्राप्त न कर बीच से ही लौट आती है। बस! अब उपासकों को पूर्ण निराशा हुई कि मन का एकाग्र कर लगाना ही तो उपासना है, और मन जब वहाँ पहुँच ही नहीं सकता तो (उपासना की इच्छा करना) उपासना में प्रवृत्त होना बिल्कुल व्यर्थ है। इस प्रकार की निराशा को मिटाने के लिए श्रुति प्रकृति में ही ब्रह्म व ईश्वर की उपासना बताती है। जैसा कि अभी उद्दालक ऋषि की उक्ति में हम कह आये हैं कि ईश्वर पृथक् नहीं मिल सकता किन्तु प्रकृति व प्राकृत जगत् के अणु-अणु में वह व्याप्त है। उसी प्रकृति व जगत् के पदार्थों को पकड़ कर उनमें ही ईश्वर के दर्शन का विधान वेद ने किया। इस प्रकार की उपासनाएँ उपनिषदों में बहुधा

वर्णित हैं। किन्तु कठिनता यह है कि यह मार्ग मन के लिए इतना रूक्ष है कि मन का वहाँ जाना और फिर ठहरना असम्भव सा है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि यह कृत्रिम वस्तुओं में बहुत आनन्द मानता है। किन्तु प्रकृति के विश्लेषण में आनन्द नहीं आता। जैसा कि सिनेमा में पर्दे पलटते देखकर मनुष्य बहुत बड़ा आनन्द मानते हैं किन्तु प्रकृति के पर्दे जो आकाश में पलटते रहते हैं उनकी तरफ कभी ध्यान भी नहीं दिया जाता। सूर्यमंडलस्थित गायत्री के पाँच मुख हमारे शास्त्रों में बताए हैं। उनका प्रत्यक्ष दर्शन हमें उषा काल से लेकर सूर्योदय तक होता है। उन मुखों का क्रम बताया है—मुक्ता, विद्रुम, हेम, नील, और धवल ? जब सूर्य का प्रकाश आने को होता है तो पहिले आकाश में मोतियाँ सी हल्की, गुलाबी रंगत दौड़ जाती है। फिर कुछ काल में वह रंगत गहरी होकर विद्रुम अर्थात् मूँगा का रूप धारण कर लेती है। कुछ ही क्षणों के अनन्तर सुवर्ण जैसी कान्ति पूर्व दिशा में दिखाई देती है। और फिर तारा-मण्डल विलुप्त होकर नीलिमा आकाश में छा जाती है। तब भगवान् सूर्य का उदय होकर श्वेतता व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार के प्रकृति के पर्दे पलटते रहते हैं किन्तु इन पर ध्यान कोई-कोई धीर पुरुष ही दे सकते हैं। और उनका भी मन इस रूक्ष विषय में स्थिर नहीं होता। इससे जीवन का सर्वस्व-भूत उपासना मार्ग अवरूद्ध सा होता देखकर सनातन धर्म के भक्ति मार्ग के आचार्य उन्हें हाथ उठाकर कहते हैं कि—

"परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्त खेदखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्" ॥

इसका अर्थ है कि हे भावुक भक्तो यदि तुम निगम अर्थात् श्रुतियों के वन में ढूढ़ते-ढूढ़ते अत्यन्त खिन्न हो गए हो तो हमारा उपदेश सुनो और उसका आदर करो। हम तुम्हें ईश्वर का सच्चा पता बताते हैं कि गोपाङ्गनाओं के घरों में उलूखल से बँधे हुए उपनिषद् के अर्थ भूत परमात्मा को ढूढ़ो ? वहाँ तुम्हें अवश्य ईश्वर का दर्शन होगा। यही अवतार-वाद का मुख्य रहस्य है।

मनुष्य का मन वहीं लगता है जहाँ प्रेम हो। भावुक भक्त मन की उपमा भ्रमर से देते हैं। भ्रमर इतना चंचल है कि 'इस पुष्प से रस लिया, उससे लिया' इस प्रकार कहीं एक जगह स्थिर होता ही नहीं। यही दशा मन की भी है कि यह इधर-उधर स्वाद ढूढ़ता हुआ भटकता रहता है। अब भ्रमर को एक जगह स्थिर करने के दो उपाय हैं। एक, उसे काष्ठ की नली में बन्द कर ऊपर से ढक्कन बन्द कर दिया जाय तो वह विवश होकर रूक जायगा। किन्तु पहिले तो नली के भीतर आना ही उसका कठिन है। आप जिधर नली ले जायँगे वह उससे विपरीत मार्ग में ही चला जायगा। यदि किसी प्रकार प्रलोभन दिखाकर नली में उसे ले भी लिया तो ढक्कन बन्द करते ही वह निकल जायगा। मानलो कि किसी प्रकार आप ढक्कन लगाने में भी सफल हो गए तो

आप तो निश्चिन्त हो बैठे कि अब हमने भ्रमर को पकड़ लिया, किन्तु वह अपने दातों से उस काष्ठ की नली को काटने का यत्न आरम्भ कर देता है। धीरे-धीरे नली को काट कर जहाँ एक छिद्र बना पाया कि उसी से निकल कर वह उड़ जायगा, आप देखते ही रहेंगे। दूसरा उपाय यह है कि अपने यहाँ एक वापी में सुन्दर कमल का पुष्प लगाइए ज्योंही कमल खिला कि भ्रमर बिना बुलाया ही वहाँ आवेगा और उसपर बैठकर रसास्वाद करने लगेगा। दैवात कभी रसास्वाद लेते लेते ही सूर्यास्त हो गया और कमल संकुचित हो गया तो भ्रमर कमल के उदर में ही बन्द रहेगा। अब इस कमल के पत्ते को काटने की शक्ति उनमें नहीं है। इसी बात को किसी कविने इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

बन्धनानि किल सन्ति वहूनि प्रेमरज्जु कृतबन्धनमन्यत् ।
काष्ठभेद निपुणोऽपि षडङ्घ्रिः कुण्ठितो भवति पद्म विभेदे ॥

एक भाषा के कवि ने भी कहा है कि:—

"प्रीति-रीति विधिना भ्रमर अद्भुत रची बनाय,
काष्ठभेद समरथ्थ है कमल भेद नहिं जाय" ॥

इसी उपमा से मन के रोकने का भी प्रकार समझ लीजिए। काष्ठ की नली में उसे बन्द करना योग मार्ग है। जहाँ पहिले बन्द होना ही कठिन, और फिर भी निकल कर उड़ जाने का डर। और पद्म में बन्द करना प्रेम मार्ग व भक्ति मार्ग है। जहाँ वह स्वयं ही आता है और रस लोभ से रुका रह जाता है। यदि कभी वहीं मँडराता रह गया तो वहाँ से नहीं उड़ सकेगा।

इससे सिद्ध है कि मन के रोकने का मुख्य प्रकार प्रेम ही है। और प्रेम मनुष्य का अपने तुल्य प्राणी पर ही विशेष रूप से होता है। अपने जैसे ही आकार वाले अपने से बातचीत करने वाले के साथ ही मनुष्य का प्रेम होता है यह अनुभव सिद्ध है। इस ही कारण अत्यन्त कृपालु भगवान् मनुष्य रूप में प्रगट होकर भावुक-भक्तों के प्रेम-पात्र बनते हैं जिससे कि उनकी उपासना सिद्ध हो सके और वे अपना कल्याण प्राप्त कर सकें। यही बात हम इकतालीसवें पुष्प में मूर्ति पूजा का विवरण करते हुए कह चुके हैं कि—

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना ॥

यहाँ "ब्रह्मणः" इस षष्ठी विभक्ति को कर्त्ता अर्थ में मान लेने पर यह अर्थ होता है कि—उपासकों की सिद्धि के लिए अचिन्त्य अशरीरी ब्रह्म अपने रूपों की कल्पना करता है। अर्थात् अपने रूप बना कर उन्हें दर्शन देता है।

भगवत्गीता में जो उक्त श्लोकों में भगवान् ने अपने अवतार के प्रयोजन बतलाए हैं "सतपुरुषों की रक्षा, दुष्ट पुरुषों का दमन और धर्म की स्थापना" इस पर बहुत सज्जन यह शंका किया करते हैं कि जिनकी इच्छा मात्र से अनेक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और विनाश होता है वे रावण, कंस आदि को मारने के लिए स्वयं दौड़कर आवें यह बात समझ में नहीं आती। जब इच्छा मात्र से ही उन दुष्टों की भी उत्पत्ति हुई थी तो इच्छा मात्र से ही विनाश भी क्यों न कर दिया। धर्म विरोधी दुष्टों का नाश होने पर धर्म स्थापना अपने आप ही हो जाती फिर इसके लिए अवतार लेने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसका उत्तर यही है कि भगवान् स्वतंत्रेच्छ हैं। जिस कार्य को जिस प्रकार से करने की उनकी इच्छा हो जाय उसको उसी उपाय से कर डालते हैं। इसी बात को शास्त्रों में इन शब्दों में कहा जाता है कि 'उपायस्य उपायान्तरादूषक-त्वात्' अर्थात् एक उपाय से कोई कार्य किया गया तो वहाँ यह दूषण नहीं दिया जा सकता कि दूसरे उपाय से ही क्यों न किया। इसमें करने वाले की इच्छा ही मुख्य होती है कि जिस उपाय से वह उचित समझे उसी उपाय से कार्य को करे। दुष्ट-दमन और शिष्ट-रक्षण इच्छा मात्र से भी हो सकता था, अवतार लेकर भी हो सकता था। दोनों उपायों में अवतार लेना ही भगवान् ने अपनी इच्छा से उचित समझा तो इसमें कोई शंका करने का स्थान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त पुराणों में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि उन असुरों ने बहुत बड़ी तपस्या करके देवता आदि से न मर सकने का वरदान प्राप्त कर लिया था। उस वरदान की भी रक्षा भगवान् को करनी ही थी इसलिए उनने मनुष्य अवतार धारण किया।

पुराने धर्मोपदेशक इस विषय में एक कहानी भी उपस्थित किया करते थे कि मुसलमान बादशाह अकबर ने एक बार बीरबल से यही प्रश्न किया कि तुम्हारा ईश्वर दुष्टों को दण्ड देने और भक्तों की रक्षा करने के लिए खुद दौड़कर आता है। हमने तो ऐसे नियम बना रखे हैं कि उनके द्वारा हमारे आफिसर ही ये काम कर लेते हैं। क्या हमारे जैसे भी शासन के नियम तुम्हारे ईश्वर के यहाँ नहीं है। क्या उनके नियत किए हुए कोई आफिसर भी नहीं है ? जो ये काम कर सके। बीरबल ने कहा—हुजूर ! इस बात का उत्तर देने के लिए मैं कुछ समय चाहता हूँ। बादशाह ने समय दे दिया। उस अवधि के भीतर ही बीरबल ने नदी किनारे एक बड़े मेले का आयोजन किया जिसमें सब आफि-सरों के लिए जुदी जुदी नावें नियत कीं। और बादशाह से भी निवेदन किया कि हुजूर। नावों की सैर का एक मेला लगाया गया है, हुजूर भी वहाँ पधार कर थोड़ी देर नाव में सैर करें। बादशाह ने मान लिया, और वे भी एक बड़ी उत्तम, खूब सजी हुई नौका पर जा विराजे। नौकाएँ इधर-उधर घूमकर सब रईसों और आफिसरों को सैर कराने लगीं। इसी अवसर में पूर्व संकेतानुसार एक अन्तःपुर की दाई आयी। उसकी गोद में—एक बालक था जो मोम से तैयार

कराया गया था और उसका स्वरूप बादशाह के छोटे शाहजादे से बिल्कुल मिला दिया गया था। उसे आया हुआ देखकर बादशाह ने बड़े प्रेम से कहा कि लाओ-लाओ इन्हें हमारे पास दे दो। दाई एक नाव पर बैठकर उसे बादशाह की नाव के पास लाई और बादशाह की गोद में देते समय पूर्व संकेतानुसार इस प्रकार असावधानी से हाथ हिलाई कि—वह बालक बीच में जल में ही गिर गया। उसे गिरता देख बादशाह किसी से कुछ कहे बिना ही अपने आप वस्त्र पहिने ही नदी में कूद गए, और डूबते बालक को निकाल लाये। जब यह देखा कि यह मोम का बना हुआ बच्चा है तो बड़े कुपित हुए और वीरबल से क्रोध से बोले कि क्यों बे! ऐसी गुस्ताखी। बीरबल ने हाथ जोड़ कर कहा कि हुजूर! इसका उत्तर तो पीछे दूँगा। हुजूर पहिले यह फर्मावें कि हुजूर ने ऐसा साहस क्यों किया कि वस्त्र पहिने ही जल में कूद पड़े। यदि कोई खतरा हो जाता तो हम लोग की क्या दशा होती। यदि बालक असावधानी से हाथ से छूट गया था तो मैं पास ही था आप मुझे आज्ञा देते मैं बड़े आफिसर को कहता वह किस्तियों के आफिसर को आज्ञा देते। यूँ नियमानुसार कार्यवाही उचित होती। आपने किसी से कुछ न कह कर ऐसा साहस किया इसका क्या कारण था। बादशाह ने कहा—बीरबल! शाहजादे को डूबता देखकर मेरे हृदय में प्रेम से एसी उद्विग्नता हुई कि किसी से कहने में जो बिलम्ब होता वह मुझे सह्य नहीं हो सका। यों नियमानुसार कार्यवाही में जो समय लगता उतने समय में शहजादे की क्या गति हो जाती, यही भाव मेरे मन में आया। बीरबल ने हाथ जोड़कर कहा कि हुजूर। यह उस दिन की बात का उत्तर है। जब मनुष्य होते हुए भी आपके हृदय में प्रेम की इतनी उछाल उठी कि आप बिना किसी से कुछ कहे कूद पड़े तो हमारा ईश्वर जो अकारण प्रेम का समुद्र है वह अपने भक्त रूप पुत्रों को यों भव सागर में कष्ट पाता देखकर स्वयं कूद पड़ता है तो इसमें क्या आश्चर्य है। बादशाह मान गए और उत्तर से सन्तुष्ट हुए।

वास्तविक बात तो यह है कि शिष्टों पर अनुग्रह वा दुष्टों का दमन और धर्मस्थापना यह सब तो इच्छा मात्र से भी हो सकता था। किन्तु भक्तों की उपासना सिद्धि और उनकी दर्शन लालसा की शान्ति बिना स्वरूप ग्रहण के होना असम्भव था। इसलिए भक्तों की दर्शन की उत्कण्ठा को शान्त करना ही अवतार धारण का मुख्य प्रयोजन है। जैसा कि हम "परित्राणाय साधूनाम्" इत्यादि श्लोक की व्याख्या में श्री रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के मत के अनुसार व्याख्या करते हुए कह आये हैं।

जो सज्जन अवतार लेने का क्या प्रयोजन है? इसीबात पर अधिक बल देते हैं और प्रयोजन न मिलने के कारण ही अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते, उनसे विशेष कर हमारा यही कहना है कि ईश्वर के प्रयोजन को जानने की मनुष्य की शक्ति ही नहीं। जिस प्रकार हमारे शरीर में माँस, रुधिर आदि में अनन्त कीटाणु डाक्टर लोग बताया करते हैं उनमें से एक-एक कीटाणु

हमारे कार्यों का प्रयोजन जानने में सर्वथा असमर्थ रहता है इसी प्रकार— ब्रह्माण्ड में कीटाणु से भी बहुत अल्प शक्ति रखने वाले हम जीव ब्रह्माण्डों के अधिनायक ईश्वर का प्रयोजन जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं। सब ही दर्शनकारों ने यह प्रश्न उठाया है कि आप्तकाम जिसे कोई इच्छा शेष नहीं है ऐसा ईश्वर जगत् की सृष्टि आदि क्यों करता है? कई दर्शनकारों ने इसका उत्तर दिया है कि जीवों को अपना कर्म फल भोग कराने के लिए सृष्टि की आवश्यकता है। जीवों को मन, इन्द्रिय, शरीर आदि न मिले तो सुख दुःख रूप कर्म फल का भोग वे कैसे कर सकें। इस पर भी पुनः शंका होगी कि जीव कर्म-फल भोगें या न भोगें इससे ईश्वर को क्या। एक राजा जैसे अपनी प्रजा को कर्म फल देना आवश्यक समझता है, इसी प्रकार म्सपूर्ण ब्रह्माण्डों का राजा ईश्वर भी प्राणियों को कर्म-फल देना आवश्यक समझता है—यह उत्तर भी ठीक नहीं बनता, क्यों कि राजा को अपने शासन की रक्षा के लिए दुष्टों का दमन और शिष्टों की रक्षा आवश्यक है। इसके बिना उसका शासन सुरक्षित नहीं रह सकता। किन्तु ईश्वर तो आप्तकाम है। उसे अपना शासन रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं, वह इस झंझट में क्यों पड़े। अस्तु! इस प्रयोजन का पूर्ण विचार करते हुए सब दर्शनों के अन्तिम दर्शन वेदान्त में यही उत्तर दिया गया है कि "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" अर्थात् जगत् को उत्पन्न करना, पालन करना, व संहार करना हम लोगों की बुद्धि में बड़ा दुस्तर कार्य प्रतीत होता है। किन्तु अनन्त शक्ति ईश्वर के लिए यह एक लीला अर्थात् खेल मात्र है। जैसे कोई प्रतिष्ठित राजा अपने हाँथ में लिये हुए एक पुष्प को घुमाता रहे इसका प्रयोजन उसका विनोद मात्र ही कहा जा सकता है। उस पर प्रयोजन की कोई बड़ी भारी जिज्ञासा करना एक बेसमझी ही होगी। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति और संहार अनन्त शक्ति ईश्वर के लिए फूल घुमाने के समान ही है। इसलिए इसे केवल लीला या विनोद ही कहना चाहिए। प्रयोजन की अधिक जिज्ञासा इसमें व्यर्थ है। बस! यही बात अवतार धारण के विषय में ही है। श्री भागवत में देवताओं की गर्भस्तुति में कहा गया है कि:—

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं,
विना विनोदं बत तर्कयामहे।

अर्थात् अजन्मा होते हुए भी आप जो जन्म ग्रहण करते हैं उसका कारण विनोद के अतिरिक्त और कुछ हमारी समझ में नहीं आता। यहाँ अवतार धारण का कारण भी स्पष्ट रूप से विनोद को ही बताया है। जिस प्रकार सृष्टि को उत्पन्न करना और संहार करना भगवान् का एक विनोद मात्र है उसी प्रकार अवतार रूप में प्रकट होना भी उनका एक विनोद ही है। यही इस पद्य से सिद्ध होता है।

यहाँ फिर भी शंका होगी कि विनोद भी विमनस्कता अर्थात् मन की ठहरी हुई अवस्था को हटाने के लिए ही किया जाता है। ईश्वर में तो

विमनस्कता का भी सम्भव नहीं। वह तो सब दुःखों से असंस्पृष्ट माना जाता है। विमनस्कता भी एक प्रकार का दुःख ही है, फिर विनोद के लिए भी ईश्वर को किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं। इस शंका को हटाने के लिए भक्तिमार्ग के परम आचार्य श्री वल्लभाचार्य पूर्वोक्त पद्य का दूसरा अर्थ भी करते हैं कि—

'नतेऽभवस्य' अर्थात् आप स्वयं अजन्मा हैं इसका क्या कहना। जो आपको प्रणाम करते हैं उन्हें भी आप अजन्मा कर देते हैं। ऐसे होते हुए भी जो आप अवतार रूप से जन्म ग्रहण करते हो उसका कारण हमारी समझ में 'विनाविनोद' है अर्थात् नौका रहित इस संसार समुद्र में प्रेरणा कर अपने भक्तों को पार लगा देना ही है। आपके दर्शन कर और आपकी लीलाओं का श्रवण कर भक्त जन संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। यह प्रयोजन बिना अवतार ग्रहण के सिद्ध ही नहीं हो सकता इसका विवरण हम पूर्व कर चुके हैं।

इतने पर भी जो सज्जन अवतार ग्रहण के प्रयोजन पर हठ करते रहें, उनसे यह पूँछना चाहिए कि वेद का उपदेश देने की ईश्वर को क्या आवश्यकता थी। जो आर्य समाज आदि ईश्वर के अवतार ग्रहण पर शंकाएँ करते हैं वे भी वेद को ईश्वर रचित मानते हैं। इसलिए उनसे यह पूछा जा सकता है कि ईश्वर को वेद रचना करने की क्या आवश्यता थी। इसका उत्तर वे यही दे सकते हैं कि ईश्वर परम दयालु है। संसारिक मनुष्य संसार के झंझटों से पार पा सकें इसी उद्देश्य से वह वेद के द्वारा कर्त्तव्य का उपदेश दे देता है। बस यही हमारा भी उत्तर होगा कि जैसे वह करुणावश वेद में कर्म और उपासना का उपदेश देता है वैसे ही कर्म का आदर्श दिखाने को और उपासना की सिद्धि के लिए अवतार भी धारण करता है। सैकड़ों उपदेशों से जो काम नहीं बनता वह आदर्श अर्थात् उदाहरण देख कर बन जाता है। जैसेः—वेद में उपदेश दिया है कि—

"अनुव्रतः पितुः पुत्रो मा भ्राता भ्रातरं द्विषत्।"

अर्थात् पुत्र पिता का अनुगामी होकर रहे और भाई भाई में द्वेष न हो। केवल इतना कह देने से ही लोगों पर प्रभाव पड़ना कठिन था, इसलिए राम रूप में अवतार लेकर उनने उदाहरण लेकर उपस्थित कर दिया कि पिता का अनुगामी इस प्रकार बना जाता है। एवँ राम और भरत के दृष्टान्त से यह भी लोकों को समझा दिया कि भाई भाई में किस प्रकार का प्रेम होना चाहिए। इस उदाहरण से लोकों पर प्रभाव पड़कर पूर्वोक्त वेद की आज्ञा के पालन करने में उनकी प्रवृत्ति भली भाँति हो जायगी। वेदोक्त उपासना मार्ग तो अवतार ग्रहण के बिना स्थिर हो ही नहीं सकता। यह विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। बस! जिस करुणा के वश भगवान् ने वेद का उपदेश दिया उसी करुणा से प्रेरित होकर उन उपदेशों की सफलता के लिए अवतार भी लेते हैं। यह प्रयोजन का विवरण विस्तार से किया गया।

"साठवां-पुष्प"

अन्य शङ्काओं के उत्तर :—

अब इस अवतारवाद के सम्बन्ध में अवतार शब्द पर ही शङ्का की जाती है कि अवतार शब्द का अर्थ तो उतरना है। तो क्या आप की दृष्टि में ईश्वर एक निर्दिष्ट स्थान पर बैठा हुआ है जहाँ से उतर कर आता है। इस प्रकार तो वह मुसलमान भाइयों का ही मत आ गया कि सातवें आसमान पर आठवीं कुर्सी लगाकर वहाँ बैठा हुआ ईश्वर शासन करता है। ऐसी बातें तो इस विज्ञान के युग में चल ही नहीं सकतीं। इस शंका का उत्तर है कि अवतार शब्द का अर्थ यहाँ आविर्भाव वा प्रकट होना है। श्री भागवत में अवतार शब्द के स्थान में बहुधा आविर्भाव शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह होगा कि ईश्वर जो जगत् के प्रत्येक अणु में व्यापक है वह इच्छानुसार इच्छा और आवश्यकता के अनुसार कहीं भी प्रकट हो जाता है। सूक्ष्म रूप से व्यापक रहने वाले का स्थूल रूप दिखकार प्रकट होना एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उतरना ही है। इसी अभिप्राय से दूसरी अवस्था में उतरने के कारण अवतार शब्द का भी यहाँ प्रयोग किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ एक स्थान से उतरना नहीं समझना चाहिए। उसका मुख्य अर्थ प्रकट होना ही है। ईश्वर की व्यापकता सब ही ईश्वरवादी मानते हैं, फिर व्यापक का एक जगह प्रकट हो जाना क्यों नहीं संभव माना जा सकता। जैसे आजकल के विज्ञान की मूल भित्ती रूप विद्युत-शक्ति सबही जगह फैली हुई मानी जाती है उसे ही अपना काम लेने के लिए, प्रकाश जलाने के लिए वा मशीन चलाने के लिए विज्ञान के वेत्ता लोग कहीं प्रकट कर लेते हैं। विद्युत-शक्ति जड़ है, उसे प्रकट करने के लिए चेतन पुरुष की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु ईश्वर तो चैतन्य घन रूप है। वहीं से चेतनता इसके अंश-भूत जीवों को भी मिलती है। इसलिए उसे प्रकट करने को किसी दूसरे चेतन की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं ही अपनी स्वतंत्रता से जहाँ चाहे प्रकट हो सकता है। हाँ! प्रेरणा रूप प्रार्थना करने का वर्णन तो सर्वत्र पुराणों में मिलता ही है। सूक्ष्म जगत् के परिचालक देवता आदि जब प्रार्थना करते हैं तब ही भगवान् प्रकट होते हैं।

फिर शङ्का होगी कि जब ईश्वर एक स्थान में प्रकट हो गया वा स्थूल अवस्था में उतर आया तो फिर अन्य स्थानों में न रहेगा। इस प्रकार तो ईश्वर की व्यापकता नष्ट हो जायगी। यह शंका निरी उपहासास्पद है। क्या विद्युत शक्ति एक स्थान में प्रकट कर ली जाती है तो वह अन्य स्थानों में नहीं रह जाती ? ऐसा ही होता तो दूर-दूर देशों में प्रकाश कैसे होता ? और सैकड़ों

कोशों के अन्तर पर मशीनें कैसे चलाई जातीं। इससे यही मानना होगा कि व्यापक तत्व एक जगह प्रकट हो जाता है तो भी अन्य स्थानों में यथावत् बना ही रहता है। इसी प्रकार ईश्वर जब अयोध्या व मथुरा में प्रकट हो गया तब भी अन्य स्थानों में यथावत् बना ही रहेगा इससे व्यापकता में कोई हानि नहीं आती।

फिर शंका होगी कि अवतारवादी अवतारों में तारतम्य मानते हैं। अर्थात् कोई अवतार दो वा चार कलाओं से माना जाता है और कोई अधिक कलाओं से वा कोई पूर्णावतार भी कहा जाता है। इस प्रकार निरवयव ईश्वर में अवयवों की कल्पना आ जाती है। कला नाम अवयवों का ही है। जब ईश्वर सावयव हो गया तो तर्क-शास्त्र के अनुसार वह अनित्य होगा। क्योंकि सावयव पदार्थ तो अनित्य ही देखे जाते हैं। यह बड़ा भारी दोष ईश्वर को अनित्य मानने का अतवारवाद पर आता है। इसका उत्तर है कि कलाओं से अवतार मानने का हम लोगों का यह आशय नहीं कि ईश्वर दो चार अवयवों से अवतार लेता है। किन्तु उसका आशय है शक्तियों की प्रकटता। ईश्वर में अनन्त शक्तियाँ हैं। जिस समय जहाँ जितनी शक्ति को प्रकट करने की आवश्यकता होती है वहाँ उतनी शक्ति प्रकट की जाती है। उन शक्तियों के अनुरोध से ही 'इतनी कला का अवतार' यह व्यवहार किया जाता है। जैसे हिरण्यकश्यपु आदि के वध के लिए केवल पराक्रम शक्ति की आवश्यकता थी। इसलिए नृसिंह आदि अवतारों में पराक्रम शक्ति ही प्रकट की गई।

व्यास आदि अवतारों में आवश्यकतानुसार केवल ज्ञान शक्ति ही प्रकट की गई है। एवं राम और कृष्ण में पराक्रम, ज्ञान और आनन्द तीनों ब्रह्म के रूप प्रकट किए गए हैं, इससे वे पूर्णावतार कहाते हैं। वहाँ भी आनन्द के कई भेद हैं। जैसा कि तैत्तरीय उपनिषद् के आनन्द वल्ली में कहा गया है। उनमें से भगवान् राम में शान्ति रूप आनन्द ही प्रकट है। सम्पत्ति काल में या बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी उनके मनमें कभी क्षोभ होता ही न था। जैसा कि वनवास देने के अनन्तर पश्चाताप करते हुए महाराज दशरथ ने कहा है कि—

"आहूतस्याऽभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य विशेषोल्पोऽपिधीमतः" ॥

अर्थात् राम को मैंने राज्याभिषेक देने के लिए बुलाया था और वन में जानें की आज्ञा देकर यहाँ से भेजा किन्तु दोनों दशाओं में उनमें कोई भी भेद मैंने नहीं देखा। राज्य के लिए बुलाने पर कोई प्रसन्नता न देख पड़ी और वन की आज्ञा पर कोई दुःख न दीख पड़ा। सब दशाओं में गंभीर भाव से वे एक रूप रहते थे। यह चित्त में क्षोभ न होना ही शान्त्यानन्द कह लाता है। यही मुख्य आनन्द है। और सम्पत्ति दशा में चित्त का विकसित होना समृद्ध्या-

नन्द कहलाता है। समृद्धि के आनन्द का लक्षण है सदा हँसते-खेलते रहना। कभी चित्त को शोक में वा चिन्ता में न जाने देना। भगवान् कृष्ण में शान्त्यानन्द और समृद्ध्यानन्द दोनों की प्रकटता है। इन दोनों अवतारों के चरित्र प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं, किन्तु वहाँ भगवान् राम का हँसी-खुशी से चित्त का उल्लास प्रायः कहीं भी वर्णित नहीं है। और भगवन् कृष्ण का शोक व चिन्ता में मग्न होकर बैठना कहीं भी वर्णित नहीं है। राम सदा शान्ति में ही रहते थे, और कृष्ण सदा उल्लास में ही। पराक्रम, रूप, सत्ता और ज्ञान शक्ति तो दोनों ही अवतारों में परिपूर्ण रूप से प्रकट है। अस्तु ! यही शक्तियों की प्रकटता कला रूप में वर्णित की जाती है। शक्ति को माया व प्रकृति शब्द से कहा जाता है। उसमें तो कलाएँ सभी दर्शनों में मानी गई हैं। इसलिए कलावतार कहने पर भी ब्रह्म व ईश्वर में कोई अवयव कल्पना का प्रसंग नहीं आता। एक यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि यों संसार में संसारी जीवों के रूप में प्रकट होने पर तो ईश्वर भी संसारी हो गया फिर अन्य जीवों में और ईश्वर में विशेषता ही क्या रही। ईश्वर का लक्षण तो योग दर्शन में यह बताया गया है कि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" अर्थात् अविद्या आदि पाँच क्लेश, कर्म, कर्म जनित विपाक अर्थात् सुख दुःख मोह और इन सब की वासनाएँ, इन सब का जहाँ स्पर्श भी न हो ऐसे पुरुष विशेष को ईश्वर कहा जाता है। जिन्हें अवतार माना जाता है वे तो सब प्रकार के सुख-दुःख, युद्ध, विवाद आदि कर्मों से सम्बन्ध रखने वाले देखे जाते हैं। फिर इनमें ईश्वर का लक्षण कैसे घटित होगा। जीव में और उनमें विशेषता ही क्या रही ? इसका उत्तर है कि जीव को अपने कर्मवश देह मिलता है। कर्म की वासना व संस्कार सदा उसके साथ रहता है। उसके अनुसार ही जीव को भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। किन्तु अवतार कर्मवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते। वे स्वेच्छानुसार जहाँ चाहे प्रकट होते हैं, और जब चाहें अपने रूप को तिरोहित कर लेते हैं। इसका दृष्टान्त यूँ समझिए कि कारागार में कैदी भी जाते हैं और बड़े बड़े अफिसर भी व स्वयं राजा भी कभी कभी कारागार देखने जाते हैं। कैदी अपना कर्म-फल भोगने वहाँ गया है उसकी अवधि नियत है। वह उस अवधि के भीतर वहाँ से बाहर नहीं हो सकता। किन्तु आफिसर व राजा वहाँ जाकर भी स्वतंत्र है। वह जितनी देर चाहे वहाँ रहे जब चाहे तब छोड़कर चला जाय। उतना ही नहीं उसे यह भी स्वतंत्रता है कि किसी कैदी की सदाचार की रिपोर्ट पर वह उसे भी क्षमा देकर कारागार से बाहर कर सकता है। इसी प्रकार समझिए कि संसार एक कारागार है। इसमें अन्य जीव कैदी बन कर अपना कर्म-फल भोगने आये हैं। किन्तु ईश्वर अवतार लेकर कभी आता है तो वह इस कारागार रूप संसार की सुव्यवस्था के लिए आता है। यहाँ आने पर भी उसकी स्वतंत्रता में कोई भी बाधा नहीं होती। वह कर्मवश नहीं है। जितने काल चाहे यहाँ

रहे जब चाहे तब छोड़ जाय। वा जिन सदाचारी अपने भक्तजीवों को निकालना चाहे उन्हें निकाल भी ले जाय। यह स्वतंत्रता उसे यहाँ भी रहती है। ईश्वरवादी लोग ईश्वर में भी सृष्टि-प्रलय आदि कर्म मानते ही हैं। उक्त सूत्र में सुख-दुःख जनक वा वासना जनक-कर्म ईश्वर में नहीं होते, इसी आशय से कर्मों का अस्पर्श बताया गया है। और वेदान्त दर्शन में इसी आशय से ब्रह्म के दो भेद माने जाते हैं। शुद्ध ब्रह्म सदा कर्म रहित रहता है। और माया शवलित ब्रह्म सृष्टि आदि सब करता है। माया शवलित ब्रह्म को ही ईश्वर भी कहा जाता है। अवतार भी ईश्वर के ही होते हैं इस लिए युद्ध विवाद आदि कर्म भी माया-शवलित ब्रह्म में असम्भावित नहीं। उन कर्मों का कोई फल व संस्कार ईश्वर में नहीं होता। यह बात भगवत् गीता में ही "न मां कर्माणि लिम्पन्ति"। "तस्यकर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्"। इत्यादि वचनों से बार-बार कही गई है। और बिना कर्म के भी अवतारों का देह कैसे घटित होता है यह विवरण श्लोकों की व्याख्या में भिन्न २ व्याख्याकारों के मतानुसार दिखाया जा चुका है। रही हर्ष-शोकादि की बात सो वह भी माया कृत प्रदर्शन मात्र है यह भी उन श्लोकों की व्याख्या में व्यक्त हो चुका है। इस प्रकार अवतारवाद के विषय पर जो सामान्य शङ्काएँ थीं उनका उत्तर हमने दे दिया। अब अवतारों के चरित्रों की आलोचना यहाँ उचित प्रतीत नहीं होती। वह एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय है यहाँ उतने विस्तार का स्थान नहीं। कुछ शंका यूँ जो भगवदवतारों पर विशेष रूप से उठायी जाती है, उनका उत्तर इससे आगे के "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इत्यादि पद्य की व्याख्या में दिया जायगा।

अब केवल इस प्रश्न का उत्तर और देना है कि वेद में अवतारवाद है या नहीं। इसकेलिए अवतारवाद के प्रतिपादक कुछ मंत्र यहाँ लिखे जाते हैं—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जाय मानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वाः॥

इसका अर्थ है कि प्रजाओं का पति भगवान् गर्भ के भीतर भी विचरता है। वह स्वयं तो जन्म रहित है किन्तु अनेक प्रकार से जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव स्थान को देखते व समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है तब सम्पूर्ण भुवन उसी के आधार पर अवस्थित रहते हैं। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकों को चलाता रहता है। इस मंत्र के प्रकृत अर्थ में अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है। अब यद्यपि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ करें तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यों प्रमाण माना जाय। मंत्र के अक्षरों से स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ ही क्यों न प्रमाण माना जाय। वस्तुतः बात यह है कि वेद सर्वविज्ञान निधि

है। वह थोड़े अक्षरों में संकेत से कोई अर्थों को प्रकाशित कर देता है, और उसके संकेतित सब ही अर्थ शिष्ट सम्प्रदाय में प्रमाण भूत माने जाते हैं। इसलिए विना किसी खींच-तान और लाग-लपेट के जब इस मंत्र से अवतार-वाद विल्कुल विस्पष्ट हो जाता है तब इस अर्थ को अप्रमाणित करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मंत्र से प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय। किन्तु अवतारवाद का अर्थ न मानने का कोई कारण नहीं। अन्य भी मंत्र देखिए :—

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत कुमारी" अथर्ववेद-का० १०।४।८।

यहाँ परमात्मा की स्तुति है कि आप स्त्री रूप भी हैं, पुरुष रूप भी हैं। कुमार और कुमारी रूप भी आप होते हैं।

अब विचारने की बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूप में तो स्त्री, पुरुष, कुमार व कुमारी कुछ भी नहीं है। तब यह रूप जो मंत्र में वर्णन किए गए हैं यह अवतारों के ही रूप हो सकते हैं। पुरुष रूप में राम कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्री रूप महिषमर्दिनी आदि अवतारों का विस्तृत वर्णन दुर्गा-सप्तशती में प्रसिद्ध है। वहाँ के अवतार सब स्त्री रूप ही हैं। व्यापक, निराकार परमात्मा पुरुष रूप में वा स्त्री रूप में इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमारी रूप में अवतार भी वहाँ वर्णित हैं। और कुमार रूप में वामनावतार प्रसिद्ध ही है। जिसकी विस्तार से कथा शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदाय में मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं इसलिए शतपथ में प्रसिद्ध कथा को भी वेद का ही भाग कहना शिष्ट-संप्रदाय द्वारा अनुमोदित है। और इस कथा का संकेत मंत्र में भी मिलता है।

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदं समूढमस्यपांसुरे" ।

अर्थात् इन दृश्यमान लोकों का विष्णु ने विक्रमण किया—इन पर अपने चरण रखे।

अर्थात् अपने चरणों से सब लोकों को नाप डाला। सब लोक इनकी पाद-धूलि में अन्तर्गत हो गए। यह स्पष्ट वामन अवतार की कथा है। यहाँ भी अर्थ का विभाग उपस्थित होने पर यही उत्तर होगा कि मंत्र के अक्षरों से स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यों न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणों में प्रसिद्ध है उसके अनुकूल मंत्र का अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक बलात् कार्य होगा। जो सम्प्रदाय ब्राह्मण भाग को वेद नहीं मानते वे भी यह तो मानते ही हैं कि मंत्रों के अर्थ ही भगवान् ने ऋषियों की बुद्धि में प्रकाशित किए। वे ही अर्थ ऋषियों ने लिखे। वे ही ब्राह्मण हैं। और पुराण आदि भी वेदार्थों के विस्तार ही हैं, यह उनमें ही वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार मत्स्यावतार की कथा और वराह अवतार की कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणों में स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टि में विशेष रूप से उपयोग है। उनकी कथा ब्राह्मणों में सृष्टि प्रक्रिया बताने के लिए स्पष्ट रूप से दी गई है। उनके वैज्ञानिक अर्थों को प्रकाशित करने का यहाँ स्थान नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि का विवरण करना गीता के व्याख्यानों में सर्वथा अप्रस्तुत होगा।

महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी ने "मंत्र-भागवत" और "मंत्र रामायण" नाम के दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमें राम और कृष्ण की प्रत्येक लीलाओं के प्रति-पादक मंत्र उद्धृत किये हैं उन मंत्रों से राम और कृष्ण के प्रत्येक चरित प्रकाशित होते हैं। और वेद के रहस्य प्रकाशित करने में ही जिनने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया उन वेद के असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा ने भी गीता विज्ञान भाष्य के आचार्य काण्ड में उन मंत्रों को दुहराया है। इसलिए ये मंत्र उन लीलाओं पर नहीं घटते ऐसा कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदों में अवतारवाद होना अति स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषदों में भी 'केनोपनिषद्' में एक कथा आती है कि अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनों को एक बार यह अभिमान हुआ कि हमने ही असुरों पर विजय प्राप्त किया है तब इनका अभिमान चूर्ण करने को इनके सामने एक यक्ष प्रकट हुआ। यक्ष शब्द से वेद में एक अद्भुद् पदार्थ को कहा जाता है जिसका तत्व विदित न हो। ऐसा अद्भुत् पदार्थ अपने सामने देखकर इसका तत्व जानने को पहिले अग्नि को उसके पास भेजा गया। उस यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तुम कौन हो ? तब अग्नि ने बड़े गर्व से उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ। जात-वेदा हूँ। अर्थात् जो पदार्थ लोक में पैदा होते हैं उन सबमें मैं व्याप्त रहताहूँ। यक्ष ने पूछा तुममें क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि जो कुछ मेरे सामने आवे सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्ष ने इसके सामने एक तृण रक्खा और कहा कि इसे जला दो। अग्नि ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाई किन्तु वह उस तृण को न जला सका। तब वह लौटकर अपने साथियों के पास आगया और उनसे कह दिया कि मैं इस अद्भुत् यक्ष को नहीं पहचान सका कि यह कौन है। तब वायु उसका तत्व जानने को गया उससे भी यक्ष ने पूछा कि तुम कौन हो ? तब इसने भी बड़े गर्व से कहा कि मैं वायु हूँ ! मातरिश्वा हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता हूँ। तुममें क्या शक्ति है ? इसका उत्तर वायु ने दिया कि मैं सब पदार्थों को उड़ा सकता हूँ। इसके आगे भी यक्ष ने वही तृण रख दिया कि इसे उड़ाओ। वायु ने अपनी पूर्ण शक्ति लगाई किन्तु उस तृण को न उड़ा सका। तब वह भी लौट आया और कहने लगा कि मैं भी नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है। तब स्वयं इन्द्र पहिचानने

को गए, किन्तु इनके जाते ही वह यक्ष तिरोहित हो गया। ये उसे देख ही न सके। तब इन्हें भगवती, उमा के दर्शन हुए और उस उमा ने इनसे कहा कि असुरों पर विजय पाने की शक्ति परब्रह्म की ही है, वही सर्व शक्तियों का आधार है। तुम लोग उसकी ही शक्ति से शक्तिमान् होकर वृथा अभिमान करने लगे थे कि हम विजय करते हैं। इसलिए तुम्हारा अभिमान चूर्ण करने को भगवान् ने यह तुम्हें दर्शन दिया। इत्यादि।

इस आख्यायिका में यक्ष अर्थात् अद्भुत् रूप से ब्रह्म का प्रकट होना स्पष्ट ही वर्णित है। आविर्भाव अर्थात् प्रकट होने को ही अवतार कहा जाता है। यह हम निरूपण कर चुके हैं। इस आख्यायिका को कोई असम्भव घटना न समझ लें क्योंकि हमारे ज्ञान के भीतर जो ज्ञान रूप व ज्ञान का विषय तृण है उसे अग्नि नहीं जला सकता, वायु नहीं उड़ा सकता। यह अनुभव सिद्ध ही है। परमात्मा ज्ञान स्वरूप है उसके तृण को अग्नि व वायु कैसे जला व उड़ा सकते थे। और इन्द्र ज्ञान-शक्ति का अधिष्ठाता माना जाता है उसे सब जान लेने का अभिमान है। इसलिए उसके सामने से वह यक्ष तिरोहित ही हो गया। अर्थात् इन्द्र के ज्ञान में भी वह न आया तब माया रूप उमा ने इन देवताओं को परब्रह्म का परिचय दिया। इससे उपनिषद् ने यही सिद्ध किया है कि जीव माया में ही ईश्वर को देख सकता है पृथक् रूप से उसका दर्शन जीव के लिए दुर्लभ है। जैसा कि हम उद्दालक, श्वेतकेतु की आख्यायिका में स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार कई भगवान् के आविर्भावों की कथाएँ ब्राह्मण उपनिषद् आदि में मिलती हैं। इससे अवतारवाद के वैदिक होने में कोई सन्देह नहीं रहता। आगे भगवद्गीता के विभूति अध्याय में भी विभूति और अवतारों का वर्णन आवेगा। वहाँ भी इस विषय पर प्रकाश डाला जायगा। यहाँ, इतना ही पर्याप्त है।

इकसठवां पुष्प

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

पूर्वोक्त प्रकार से मेरा जन्म अर्थात् शरीरग्रहण रूप प्रकटता और कर्म ये दोनों ही दिव्य हैं। अर्थात् प्रकृति जन्य नहीं। इनको इस प्रकार जो जान लेता है वह अपना प्राकृत देह छोड़ने पर पुनः जन्म नहीं लेता। किन्तु मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

जन्म शब्द से यहाँ प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकटता ही कही गई है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ में परिभाषा लिखी है कि नित्य और व्यापक के सम्बन्ध में जहाँ कहीं जन्म शब्द आवे वहाँ उसका अर्थ प्रकटता ही समझना चाहिए। इसी परिभाषा के अनुसार यहाँ जन्म शब्द का पूर्वोक्त अर्थ ही करना होगा। क्योंकि उत्पत्ति रूप अर्थ ईश्वर के सम्बन्ध में असम्भव है। उस जन्म की दिव्यता अर्थात् अप्राकृत होने का विवरण पूर्व श्लोकों की व्याख्या में विस्तार से किया जा चुका है। और कर्म की दिव्यता ईश्वर पक्ष में सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि रूप में स्पष्ट ही है। वे कार्य किसी जीवधारी के द्वारा नहीं हो सकते। इसीलिए उन्हें दिव्य कहना उचित ही है। और अवतार पक्ष में यही दिव्यता है कि बिना किसी फल की इच्छा के भी कर्म किए जाते हैं। जैसा कि पूर्व तृतीयाध्याय में "न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्" इत्यादि श्लोक में विवरण किया जा चुका है। इस प्रकार जन्म और कर्म का ज्ञान होने पर परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान उसके अन्तर्गत अवश्य ही आ जायगा। ब्रह्म अपनी माया से किस प्रकार अवतरित होता है वा सृष्टि, प्रलय आदि किस प्रकार करता है यह ज्ञान ही तो ब्रह्मज्ञान है। और निष्काम कर्म भगवान् किस प्रकार करते हैं यह जानने पर कर्मयोग का पूर्ण सिद्धान्त भी ज्ञात हो गया। इससे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही जन्म कर्म के ज्ञान में अन्तर्भूत हो गए। तब उसका फल जो मोक्ष

बताया गया वह उचित ही है, क्योंकि परब्रह्म का ज्ञान होने पर और कर्म सन्यास व कर्मयोग से जीवन व्यतीत करने पर ही मोक्ष शास्त्र में बताया गया है। यद्यपि ज्ञानयोग व कर्मयोग से जीवनमुक्ति जीवित दशा में ही मिल जाती है, किन्तु विदेह कैवल्य अर्थात् पूर्ण मुक्ति तो प्राकृत शरीर छोड़ने पर ही प्राप्त होती है। इस अभिप्राय से यहाँ देह त्याग के अनन्तर ही मुक्ति कही कई है। जिन सम्प्रदायों में मुक्ति में भी ब्रह्म के स्वरूप में लीन होना नहीं माना जाता उनके मतानुसार "मामेति" का अर्थ मेरी समान धर्मता को प्राप्त कर लेता है। वा मेरा शरीर रूप बन जाता है, इत्यादि ही करना होगा।

श्री विद्या वाचस्पति जी भगवत् गीता में 'अस्मत्' शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष ही मानते हैं। उनके मतानुसार इस पद्य का यह अर्थ होगा कि अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव तो अवतार रूप से अप्राकृत है ही किन्तु कर्म भी अव्यय पुरुष में नहीं हो सकता। अक्षर वा क्षर के कर्मों का अव्यय में समारोप मात्र होता है। इसीलिए अव्यय पुरुष ही सबका कर्त्ता माना जाता है। यह भगवत्गीता के वाक्यों में अनेक बार स्पष्ट है। और यही कर्म की दिव्यता है।

अस्तु, जन्म की दिव्यता का विवरण षष्ठ श्लोक की व्याख्या में विस्तार से किया जा चुका है, और ईश्वर रूप के सृष्टि आदि कर्मों की दिव्यता अर्थात् अमानुषता प्रसिद्ध ही है। सृष्टि, प्रलयादि करने का सामर्थ्य किसी मनुष्य में हो ही नहीं सकता। इसलिए उनपर कुछ वक्तव्य नहीं है अवतार रूप में जो भगवान् के कर्म हैं, विशेष कर बाल्य वा कौमारावस्था के जो व्रजवास काल के कर्म पुराणों में वर्णित हैं, उन पर आजकल बहुत शंकाएँ की जाती हैं इसलिए उनपर संक्षेप में कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

बाल्यावस्था में भगवान् कृष्ण जो गोपियों के घरों से दूध माखन आदि चुरा लाते थे, इन लीलाओं पर बहुतों को शंका होती है कि ईश्वरावतार होकर भी भगवान् कृष्ण ने चोरी जैसे धर्म विरुद्ध अधर्म कार्य क्यों किये ? किन्तु वे शंका करने वाले सज्जन उन लीलाओं के पुराणोक्त वर्णनों पर पूरा ध्यान नहीं देते हैं। चोरी की कानूनी परिभाषा में उसका लक्षण किया जाता है कि किसी दूसरे की वस्तु पर नियम विरुद्ध अधिकार कर उसका जी दुखाना ही चोरी है। किन्तु यहाँ वह लक्षण बिल्कुल घटित नहीं होता। ईश्वर रूप में भगवान् सबके स्वामी हैं। तब वे वस्तुएँ दूसरे की भी नहीं कही जा सकती, और जिन गोपियों के घरों से दूध मक्खन आदि भगवान् चुराते थे, उनका मन भी इससे दुःखित न होकर प्रेम वश अत्यन्त प्रफुल्लित होता था। जिन गोपियों के घर भगवान् कई दिन नहीं जाते वे मन में प्रार्थना किया करती थीं कि कृष्ण मेरे घर पर मक्खन चुराने क्यों नहीं आते। मक्खन धरा है उसे वे कृपा कर ले जाय। लोक में कोई पुरुष ऐसा प्रार्थना करता हुआ नहीं देखा व सुना जाता कि मेरी तिजोरी में रुपये बहुत हैं इन्हें कोई चोर आकर क्यों

नहीं ले जाता। एक बार किसी का मक्खन चुरा कर कृष्ण धूप में भागते हैं तो वह कहती है कि :—

नीतं नव नवनीतं नीतं किमेतेन।
आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव॥

अर्थात् यदि तुमने तत्काल का निकाला हुआ मक्खन ले लिया तो लिया, इससे क्या हुआ। किन्तु धूप से तपाई हुई भूमि पर तुम दौड़ो मत, (पैर में छाले पड़ जायँगे)। कोई गोपी कहती है कि :—

क्षीरसारमपहृत्य लीलया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कुतो न लीयसे॥

अर्थात् दुग्धकासार मक्खन चुराकर यदि तुम भागने लगे हो तो तमोगुण के कारण अत्यन्त अँधेरे मेरे मन ही में आकर क्यों नहीं छुप जाते! (यहाँ कोई नहीं देख सकेगा) चोरपर इसप्रकार दयाकर उसे छुपने का स्थान बताने वाला लोक में कोई भी देखा सुना नहीं जाता। इसलिए यह दूध मक्खन की चोरी भी प्राकृत चोरी नहीं। अपितु प्रेमावेश का एक अलौकिक चरित्र ही है। आनन्दरूप भगवान् कृष्ण उन गोपियों को अपना आनन्द प्राप्त कराने के लिये ही ऐसी लीलाएँ करते थे। और इससे वे पूर्ण आनन्द विभोर होती थीं। इससे इन मधुर लीलाओं को भी दिव्य कर्म ही कहा जा सकता है।

भागवत आदि में वर्णित चीरहरण लीला पर भी आजकल के बहुत से लोग शंका किया करते हैं कि भगवान् ने "स्त्रियों को नंगी देखना" यह शास्त्र विरुद्ध कुत्सित कर्म क्यों किया। किन्तु उन सज्जनों को उस सम्पूर्ण परिस्थिति पर विचार करना चाहिये। प्रथम तो यह देखना आवश्यक होगा कि उस समय भगवान् कृष्ण की आयु क्या थी। गोवर्धन पर्वत उठाने के समय कृष्ण की अवस्था सात वर्ष की बताई गई है। यह चीर हरण लीला उससे पूर्व की है इसलिए उस समय इनकी अवस्था छः वर्ष की ही माननी होगी। इसके अतिरिक्त वे गोपियाँ इसीलिए देवताओं का आराधन करने लगी थीं कि हम कृष्ण के साथ खेल, क्रीड़ा, विहार कर सके। यह वरदान हमें देवता लोग प्रसन्न होकर देवें। इस प्रकार व्रत करती हुई भी वे अज्ञानवश बिल्कुल नग्न होकर जल में स्नान करती थी उन्हें शिक्षा देने के लिये ही भगवान् कृष्ण वहाँ गए और इस प्रकार शिक्षा देना चाहा कि उनके हृदय में चोट लगकर वह शिक्षा सदा के लिये स्थिर हो जाय। जब गोपियों ने अपने वस्त्र माँगे और कहा कि :—

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहिवासांसिधर्मज्ञ नोचेत् राज्ञे ब्रुवामहे॥

कई व्याख्याकारों ने इस पद्य से यह अभिप्राय निकाला है कि उन व्रत करने वाली कन्याओं में जो कृष्ण के साथ क्रीड़ा में सम्मिलित होना चाहती थीं, उन में चारों वर्णों की कन्यायें थीं। यह बात उनकी वाक्य रचना से ही स्पष्ट होती है "हे श्याम सुन्दर हम तुम्हारी दासी हैं" यह कथन शूद्र वर्ण की कन्याओं का ही उपपन्न हो सकता है। क्योंकि दास भाव चतुर्थ वर्ण में ही स्वाभाविक होता है। "जो आप कहें वही हम करने को तैयार हैं" यह वाक्य भङ्गी से वैश्य कन्याओं का कथन प्रतीत होता है। इतनी अनुगतिता वैश्यों में ही स्वभाव सिद्ध देखी जाती है। तीसरे चरण में कहा है कि "तुम तो धर्म जानने वाले हो हमारे वस्त्र दे दो" यह कथन ब्राह्मण कन्याओं का प्रतीत होता है, क्यों कि धर्म की दुहाई देना ब्राह्मणों का स्वभाव सिद्ध है। चौथे चरण में कहा है कि "यदि वस्त्र नहीं दोगे तो हम राजा के दरबार में कहेंगी"। यह कथन क्षत्रिय कन्याओं का प्रतीत होता है क्योंकि इसमें वीर भाव झलकता है। अस्तु, चारों ही वर्णों की कन्यायें भगवान् कृष्ण के साथ क्रीड़ा विनोद प्रेमवश खेल-कूद करने को अत्यन्त उत्सुक थीं यह इससे सिद्ध हुआ। अब इस पर भगवान् कृष्ण क्या उत्तर देते हैं, सो सुनिये :—

यूयंविवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बध्द्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्॥

इसका अर्थ है कि तुम सबने व्रत धारण करके भी नग्न जल में प्रवेश करके देवताओं की अवज्ञा की है। अर्थात् तुम मनुष्यों के सामने नग्न जाती हुई तो लज्जित होती हो, किन्तु देवता, जो जल स्थल सबमें व्यापक है, उनकी परवाह नहीं करतीं। यही उनकी अवज्ञा है, इसलिए इस पाप की निवृत्ति के लिए हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाओ, और सूर्य को प्रणाम करके तब अपने वस्त्र लेलो। अब सोचने की बात है कि कोई छः वर्ष का बालक किसी नदी सरोवर में स्त्रियों को नङ्गी नहाती देखकर उनके पास जाकर यह उपदेश करे कि जल में नङ्गे होकर नहाना देवताओं की अवज्ञा है। इसका प्रायश्चित्त करो और आगे से नङ्गी नहाना बन्द करो। तो वहाँ इस घटना को देखने वाले शिष्ट पुरुष क्या कहेंगे ? क्या उस छः वर्ष के बालक की निन्दा करेंगे ? नहीं कभी नहीं वे यही कहेंगे कि छः वर्ष की अवस्था में जो इतना कुरीति सुधार करने पर उतारू हैं वह युवावस्था में कितना सुधार करेगा, यह भगवान् ही जाने। भगवान् इसे चिरायु करें, इत्यादि। तब फिर भगवान् कृष्ण पर ही इस लीला से शंका क्यों की जाय ? इसी प्रकार "रास लीला," आज कल के सुधारकों का प्रधान आक्षेप स्थान है। आजकल के ही क्यों उस लीला पर तो परम भागवत

परिक्षित को भी सन्देह हुआ है। यह भागवत के प्रश्नोत्तर से सिद्ध है। उस लीला की व्याख्या करते हुये प्रधान टीकाकार श्रीधरस्वामी ने लिखा है कि "कामविजयख्यापनार्थैवेयं लीला" अर्थात् यह लीला कामदेव पर विजय प्रसिद्धी देखने के लिए ही की गई है। अन्तिम अध्याय के मंगल श्लोक में भी उनने स्पष्ट किया है कि :—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपी रासमण्डलमण्डनः॥

अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं पर भी विजय करके जिसका अभिमान बहुत बढ़ गया है, ऐसे कामदेव का अभिमान चूर्ण करने वाले गोपियों के रास मण्डल के भूषण श्रीपति भगवान् सर्वोत्कर्षशाली है। इस कथा को शिष्ट लोग इस प्रकार समन्वित किया करते हैं कि व्रज मण्डल में ही नाना विध छल-छिद्र करने वाले असुरों का विनाश करते हुए श्री कृष्ण का जब प्रताप बढ़ते देखा तब कामदेव ने भी उनके पास गुप्त रूप से आकर इच्छा प्रकट की कि भगवान् मेरा विजय भी आज तक खुले मैदान किसी ने नहीं किया। यद्यपि शंकर ने मुझे भस्म किया किन्तु वे समाधिरूप किले में बैठकर लड़ाई लड़े, खुले मैदान में जहाँ मेरी सेना भी उपस्थित हो वहाँ लड़कर मुझे किसी ने परास्त नहीं किया। इसलिए मैं भी आप से एक बार खुले मैदान में युद्ध चाहता हूँ। श्री कृष्ण ने स्मित पूर्वक उत्तर दिया कि कौन समय युद्ध के लिये स्थिर करते हो। तब काम देव ने शरद् काल उचित समझा क्यों कि शरद् की चन्द्रिका में व्रजभूमि का एक-एक कण चमकता रहता है। सौन्दर्य की पराकाष्ठा व्रज में विराज मान रहती है। भगवान् कृष्ण ने उस समय युद्ध मान लिया। यही बात "भगवानपि ताराः" इत्यादि रास पञ्चाध्यायी के आरम्भिक श्लोक में ध्वनित की गई है कि भगवान् ने जब उन रात्रियों को देखा। यहाँ उन रात्रि शब्द से जिस समय कामदेव को युद्ध का वचन दिया था, उनका ही संकेत है। अस्तु, भगवान् ने कामदेव की सेना को एकत्रित करने के लिये अपना वंशीरूप युद्ध का बिगुल बजाया। उसके सुनते ही गोपियों की ऐसी ही अवस्था का यहाँ वर्णन है कि जैसी युद्ध का बिगुल सुनने पर सैनिकों की हुआ करती है। अर्थात् वे जो भी काम कर रही थीं उसे अधूरा ही छोड़ कर भूषण वस्त्र आदि भी उल्टे-पल्टे धारण कर कामदेव की अन्तः करण में प्रेरणा से वंशीध्वनि के अनुसार युद्धस्थल में आ पहुँची। उन्हें देख कर परम हृष्ट होकर कामदेव जब अपने अस्त्र-शस्त्र सम्हालने लगा तो भगवान् कृष्ण ने अपनी स्वतन्त्रता दिखाने के लिये गोपियों को पतिव्रत धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया उस समय ऐसे असामयिक उपदेश से गोपियां भी खिन्न हुईं, और कामदेव ने भी गुप्त रूप से निवेदन किया कि भगवन् मेरी सेना के योद्धाओं को इस प्रकार उपदेश देकर विचलित करना तो युद्ध की मर्यादा से बाहर जाता है। मेरी इच्छा तो यह है कि सबके

बीच में रह कर ही आप मेरे अस्त्र प्रहारों को सहन करें तब ही में अपना पूर्ण रूप से पराजय समझूँगा। इधर गोपियों ने उपदेश देते हुये भगवान् के सामने एक प्रश्न रक्खा कि महाराज आप पूर्ण धर्मवेत्ता हैं। हमारे एक प्रश्न का भी उत्तर दीजिये। किसी बड़े व्यापारी सेठ की स्त्री बड़ी पतिव्रता थी उसने अपने पति का चरणोदक ले कर ही भोजन करने का नियम बना रक्खा था। जब एक बार उन सेठजी को व्यापार के लिये बाहर जाने का अवसर आया तो उनने उसके लिए एक अपनी प्रतिमा बनवादी कि इसका चरणोदक लेकर भोजन कर लिया करना, वह वैसाही करती रही। जब सेठ जी कुछकाल में विदेश से लौट आये तब भी उस स्त्री को उस प्रतिमा का ही चरणोदक लेना चाहिये वा खुद सेठ जी का, इसका निर्णय कीजिये। भगवान् कृष्ण ने कहा कि प्रतिमा तो सेठ जी के अभाव में निर्वाहार्थ बनायी गई थी। सेठ जी आगये तब उसकी क्या आवश्यकता। अब तो स्वयं सेठ जी का ही चरणोदक उसे लेना चाहिये। गोपियों ने कहा इसी निर्णय को आप यहाँ भी काम में लीजिये। सब जीवों के उपास्य तो भगवान् ही हैं। उनकी उपासना से ही जीव सद्गति प्राप्त कर सकता है। किन्तु भगवान् सबको सदा मिल नहीं सकते। इसलिए उनके प्रतिमारूप प्रतिनिध शास्त्रों ने पति आदि को बता रक्खा है। भगवत् बुद्धि से उनकी सेवा प्रतिमा रूप से ही की जाती है किन्तु जब भगवान् स्वयं हमारे सामने उपस्थित है तो उन प्रतिमाओं को छोड़कर स्वयं भगवान् की ही सर्वात्म भाव से उपासना हम क्यों न करे। यही बात श्री भागवत के निम्न लिखित श्लोक में संकेत से प्रकट की है:—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणांस्वधर्म इतिधर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठोभवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

अर्थात् पतिपुत्र व उनके सम्बन्धियों की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है। यह जो आपने धर्म की व्यवस्था बताई है। उन सबकी अपेक्षा हम एक आपकी ही उपासना क्यों न करें क्योंकि आप तो सबके परम प्रिय आत्मा रूप से विराजमान हैं। आत्मा के सम्बन्ध से ही पति पुत्र आदि प्रिय होते हैं। उनमें प्रेम आत्मार्थ ही है। निरुपाधिक प्रेम तो आत्मा में ही है। जब सबके आत्मा ही प्रकट रूप में हमारे समाने उपस्थित हैं तब सब प्रतिमाओं के स्थान में उनकी उपासना क्यों न की जाय। इन उक्तियों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञगोपियाँ भगवान् का सर्वात्म भाव जानती थीं और प्रेम द्वारा उनकी आनन्द-रूपता का अनुभव करने के लिए ही उनके साथ क्रीड़ा करना चाहती थी। विषय भोग की इच्छा से नहीं। इसीलिए इसके पूर्व पद्य "सन्त्यज्यसर्व विषयान् तवपादमूलम्" कहा है। अर्थात् हम सब विषयों का त्याग कर आपके चरणा-रविन्द में आई हैं, इत्यादि। अस्तु। इस प्रकार गोपियों की और कामदेव की अभिलाषा पूर्ण करने को भगवान् कृष्ण ने नृत्य आदि लीला प्रारम्भ की। बहुत से स्त्री और पुरुष जहाँ इकट्ठे होकर नृत्य गान आदि करें और भिन्न-भिन्न

प्रकार के वाद्य भी बजाये जांय उसे हल्लीष नाम की क्रीड़ा कही जाती है। उसीका दूसरा नाम रास भी है। यही क्रीड़ा भगवान् गोप गोपियों के साथ करते थे। यहाँ जो भगवान् में कुछ काम चेष्टाओं का वर्णन आया है, वह कामदेव का विजय करने के अभिप्राय से ही है। इसीलिए वहाँ "उत्तम्भयन् रतिपतिंरमयाञ्चकार" लिखा है। इससे स्पष्ट कर दिया कि भगवान् कामदेव को अपना पुरुषार्थ प्रकट करने के लिए सहारा देते थे। इस प्रकार जब भगवान् को क्रीड़ासक्त देखा और अपने विजय के उन्माद से कामदेव प्रफुल्लित होने लगा तो भगवान् अपनी स्वतन्त्रता दिखाने के लिए झट सबके बीच से अन्तर्हित हो गये। गोपियाँ देखती रह गईं। किन्तु एक स्त्री को अपने साथ लेते गए। इससे कामदेव को फिर भी आशा रही कि अभी एक स्त्री साथ है। रमण कार्य एकान्त में ही होता है। इसलिए वह अपने बाण फेंकता हुआ अब भी साथ रहा जब उस स्त्री को अभिमान हुआ कि सब छोड़कर मुझे ही साथ रक्खा है इसलिए मैं विशेष प्रेम पात्र हूँ। तब भगवान् उसके आगे से भी अन्तर्हित हो गये। वह भी देखती रह गई। अब कामदेव ने अपने को पूर्ण पराजित मान लिया और श्री कृष्ण पर मेरा कोई प्रभाव नहीं हो सकता यह समझकर हाथ से धनुष फेंक दिया। उधर गोपियाँ विकल होकर पहले वृक्ष लता आदि से पूछती फिरीं कि कृष्ण कहाँ गये तुम ही हमे बताओ। फिर सब इकट्ठी होकर कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। जब इतने पर भी कृष्ण प्रकट न हुये तो सबने मिलकर गोपिका-गीत गाया। उसमें स्पष्ट कृष्ण भगवान् की ब्रह्मरूपता वर्णित है। आगे प्रेम में विह्वल होकर विरहवश सब रुदन करने लगीं तब भगवान् उनके बीच में ही प्रकट हो गये। इसमें भी यह रहस्य रक्खा है कि ईश्वर क्या है, कैसा है, इस प्रकार जो पूछ-ताछ में ही समय बिताता रहता है उसे ईश्वर दर्शन नहीं होता। जो अपने को तद्रूप मानकर अनधिकारी होता हुआ भी "अहं ब्रह्मास्मि" की ध्वनि लगाने लगता है उसे भी ईश्वर दर्शन नहीं होता, किन्तु जब ईश्वर प्रेम में विभोर होकर गान व रुदन करने लगता है तब ही भक्तिवश भगवान् उसे दर्शन देते हैं। प्रकट होते समय जो वर्णन भागवत में किया है:—

"तासामाविर्भूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरःस्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

यहाँ भी कामदेव पर विजय ध्वनित किया है। जब कोई वीर विजय प्राप्त करता है तो उसका परिचय देते समय उसके पितृपितामह आदि का भी नाम लिया जाता है। इसीलिए यहाँ भी भगवान् के पितामह का नाम लेकर शौरि पद से निर्देश किया गया है। मुख पर स्मित होना माला धारण करना ये भी विजय के चिह्न हैं इन सबके द्वारा मूल भागवत में भी कामदेव पर विजय ध्वनित किया है, और साक्षान्मन्मथमन्मथः इस चौथे चरण में तो उसे स्पष्ट

ही कर दिया है। इसलिए भागवत के टीकाकार श्रीधरस्वामी की कामदेव विजय कल्पना भागवत के अनुकूल ही है यह कहा जा सकता है। आगे परम भक्त गोपिकाओं की मनोरथ सिद्धि के लिये भगवान् ने उनके साथ खेल-कूद आदि की क्रीड़ा की, जिससे आनन्द प्राप्त कर वे कृतकृत्य हुईं। किन्तु काम-वासना का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बात भागवत में "सिषेव आत्मान्यवरुद्धसौरतः" इस पद से स्पष्ट कर दी है।

परीक्षित को सन्देह अवश्य हुआ कि भगवान् ने धर्म विरुद्ध परस्त्रियों के साथ ऐसी क्रीड़ाएँ भी क्यों की। किन्तु उसका उत्तर श्री शुकाचार्य ने यही दिया कि गोपियों के और उनके पतियों के भीतर भी अन्तर्यामी रूप से जो विराजमान है उस परब्रह्म के लिये पर होई कौन सकता है। वह तो सबके ही भीतर रहता हुआ सबसे ही सब प्रकार क्रीड़ा करता रहता है।

अस्तु! इस प्रकार ये ब्रज मण्डल की मधुर लीलाएँ भी दिव्यकर्म ही है। मानुष भावसे इनका सम्बन्ध नहीं यह संक्षेप में हमने सिद्ध कर दिया। कई विद्वान् इस लीला का आध्यात्मिक रूप में भी विवरण किया करते हैं कि गो नाम इन्द्रियों का है। उन सबकी रक्षा करनेवाला आत्मा ही गोप है। उसकी स्त्रीरूप से सहचारिणी बुद्धि ही गोपी है। वह आत्मा उस बुद्धि के साथ विविध क्रीड़ा करता रहता है। कभी उसके साथ नाचने लगता है, कभी उससे प्रच्छन्न हो जाता है, कभी प्रकट होता है इत्यादि।' और कई विद्वान् आधिदैविक तारामण्डल आदि के साथ भी इस लीला का सम्बन्ध जोड़ते हैं। चन्द्रमा राशि चक्र से रास लीला करता रहता है। प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से की जाती थी। उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रों की मध्यवर्तिनी होने में रासेश्वरी है। उसका दूसरा नाम राधा भी है। अतएव उसके आगे के नक्षत्र को अनुराधा कहते हैं। विशाखा पर जिस पूर्णिमा को चन्द्रमा रहता है—उस दिन सूर्य कृतिका पर रहता है। सम्मुख स्थित सूर्य की सुषुम्णा रश्मि से विशाखायुत चन्द्रमा प्रकाशित होता है। कृतिका का सूर्य वृषराशिका है अतएव यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर जब पूर्ण चन्द्रमा (पूर्णिमा का चन्द्रमा) राधा के ठीक सम्मुख भाग में कृतिका पर आता है, तो कार्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन है इत्यादि इसीप्रकार अन्यान्याभिप्राय भी कई विद्वानों ने प्रकट किये है। सब का समावेश विस्तार भय से यहाँ नहीं किया जाता। सारांश यही है कि किसी भी दृष्टि से देखो भगवान् के कर्म दिव्य ही प्रमाणित होगें और इन कर्मों के द्वारा भगवत्तत्व जान लेने से मनुष्य मुक्त हो जाता है यही यहाँ कहा गया ॥९॥

यहाँ इसका कोई दृष्टान्त भी है, वा केवल यह वाचिक ही संभावना मात्र है। इस मनोभावना का भगवान् उत्तर देते हैं कि जिनके राग-विषयाभिलाष, भय और क्रोध दूर हो गए हैं और जिनके ध्यान में सदा मैं ही रहता हूँ, इसप्रकार

जिनका अन्तःकरण मानो मेरे ही से बँध गया है और जो निरन्तर मेरा ही आश्रय रखते हैं ऐसे बहुत से ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे रूप में आ मिले हैं।

इस पद्य में कर्मयोग, उपासना और ज्ञान तीनों का ही समन्वय बताया गया। राग-द्वेष, भय इनको छोड़ देने से कर्मयोग का मुख्य सिद्धान्त आगया। 'मन्मया' और 'मामुपाश्रिता' इन दो पदों से उपासना और भगवत् प्रेम बताया गया। और ज्ञान का तो स्पष्ट नाम निर्देश ही है। इस प्रकार क्रमिक वा एक काल में तीनों का समन्वय होने से मुक्ति प्राप्ति सुगम ही हो जाती है। इसीलिए भगवान् ने कहा कि इस प्रकार के बहुत से मनुष्य मेरे रूप में मिल गए हैं अर्थात् मुक्त हो गए हैं ॥१०॥

तब यदि कुछ मनुष्यों को आपने मोक्ष दिया और कुछ को नहीं दिया तब तो आपका पक्षपात इस तरह सिद्ध हो गया। इस शङ्का का उत्तर अग्रिम पद्य से दिया जाता है कि जो मनुष्य जिस प्रकार अर्थात् जिस भावना से मेरा भजन करते हैं मैं भी उन्हें उसी भावना से भजता हूँ। अर्थात् उसी प्रकार का फल देता हूँ। जिस भाव से मेरा भजन किया जाय, वही उनकी अभिलाषा भजन से पूर्ण होती है, तब जो लोग संसार बन्धन में फँसे हुए मुक्ति चाहते ही नहीं, अर्थात् मुक्ति के उपयोगी प्रयत्न नहीं करते, उन्हें मुक्ति कैसे दी जाय। वैसे तो सब ही प्रकार से मनुष्य मेरे ही मार्ग पर आते हैं। अर्थात् किसी न किसी प्रकार मेरा ही भजन करते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा कि इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का जो सेवन करते हैं वे भी मेरा ही सेवन करते हैं। क्योंकि इन्द्र; वरुण आदि कोई भी मुझसे भिन्न नहीं। सब रूपों से मैं ही स्थित हूँ। किन्तु भिन्न-भिन्न भावों से भजन करने के कारण वे विधि से विच्युत हो जाते हैं। अर्थात् सब नाम रूपों का त्याग कर निर्गुण रूप में वा प्राकृत गुण रहित रूप में जो मेरे उपासक होते हैं वे ही विधि पूर्वक जानकर भजन करने वाले कहे जाते हैं। नाम रूप को जो साथ ले लेते हैं, उनकी वह उपासना परिच्छिन्न अर्थात् एक देशीय हो जाती है। इसलिए वे व्यापक फल रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है। वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। अज्ञान जनित आवरण केवल दूर करना है। वह आवरण नामरूपात्मक ही है। जब तक माया जनित नाम रूप से पृथक् नहीं हुए तब तक मोक्ष कैसे सिद्ध होगा। इसी लिए नाम रूप के प्रपञ्च में रहने वाले मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष के चाहने वाले भी नहीं कहे जा सकते। तब बिना इच्छा के मोक्ष उन्हें कैसे दिया जाय। जिस कामना के लिए वे उपासना करते हैं वही कामना उनकी पूर्ण की जाती है। मेरी उपासना कभी निष्फल नहीं होती। किसी भी रूप में करें वह मेरी ही उपासना है। और उसका फल भी उन्हें प्राप्त होता है। किन्तु परिच्छिन्न फल

मिलना वा नित्य फल मिलना यह उनकी इच्छा और क्रिया पर ही निर्भर है। मेरा इसमें कोई भी राग-द्वेष नहीं ॥११॥

फिर श्रोता के मन में शंका होगी कि—नित्य फल की अभिलाषा तो सबको ही रहती है फिर सब ही नाम रूप से निर्मुक्त होकर वासुदेव भगवान् ही सर्व रूप हैं ऐसा समझकर ही भजन क्यों नहीं करते जिससे कि सबको ही नित्य फल मिल जाय। इसका उत्तर इससे आगे के पद्य से दिया जाता है कि सब अपने-अपने कर्म की सिद्धि अर्थात् फल प्राप्ति शीघ्र चाहते हैं। इसलिए अन्य देवताओं का भजन् किया करते हैं। देवताओं का भजन् करने से फल शीघ्र मिल जाता है। मनुष्य लोक में कर्म की सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है।

यद्यपि यज्ञों का फल स्वर्ग प्राप्ति भी देह छोड़ने पर ही होगी, किन्तु मोक्ष की अपेक्षा तो यह शरीर छोड़ने पर फल प्राप्त हो जाना भी बहुत ही शीघ्रता कही जा सकती है। क्योंकि मोक्ष तो अनेक जन्मों तक अभ्यास करने पर भी बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। इतना धैर्य्य रखना मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिए शीघ्र फल प्राप्ति की इच्छा से यज्ञ आदि में ही मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। और इससे भी छोटे, संसार में धन, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए जो उपासना किया करते हैं उनको तो इसी जन्म में शीघ्र फल प्राप्ति हो जाती है। "मानुषे लोके" इन पदों से भगवान् ने यही व्यञ्जित किया है कि सर्व-साधारण मनुष्य जनता की प्रवृत्ति छोटे फलों की ओर ही होती है। दृष्टफल प्रायः सब ही चाहते हैं। वर्तमान में भी देखा जाता है कि अधिकांश आस्तिक जनता यही मनौती किया करती है कि हमारा जो मुकदमा अदालत में चल रहा है उसमें विजय हो जाय वा हमारे व्यापार में सफलता हो वा जिसके पुत्र नहीं होता हो वह कहता है कि यदि पुत्र हो जाय तो हम सत्यनारायण की कथा करादेंगे। अथवा अमुक देवता के यहाँ ब्राह्मण भोजन करादेंगे, वा अमुक मन्दिर बनवादेंगे इत्यादि। इस प्रकार की क्षुद्रकामनाओं की सिद्धि उन्हें शीघ्र ही मिल जाती है। तब उन्हीं लौकिक फलों में अधिकांश जनता फँसी रहती है। परलोक के लिए यज्ञ आदि करने वाले भी बहुत अल्प ही मनुष्य होते हैं। फिर मोक्ष की तो कथा ही क्या ? मोक्ष भी बहुत से लोग ऐसे क्षुद्र कर्मों से ही चाहते हैं। वस्तुतः मोक्ष क्या है। और उसके उपाय क्या हैं। यह भी साधारण जनता को ज्ञान नहीं होता, तब मोक्ष प्राप्ति का सच्चा स्वरूप समझना और कई जन्म तक उसके उपायों में लगना तो बहुत दूर की बात है। एक कहावत प्रसिद्ध है कि दो साधु दूर-दूर आश्रमों में अपनी कुटियाएँ बनाकर रहते थे और मोक्ष के अभिलाषी होकर प्रयत्न करते थे। एकबार भगवान् नारद विचरते हुए एक साधु की कुटिया में गए। उस साधु ने उनसे प्रार्थना की कि नारद जी! आप तो सब जगह जाते हैं कभी भगवान् के पास जाँय तो मेरे लिए भी भगवान् से पूछना कि मुझे मोक्ष मिलेगा या नहीं,। और मिलेगा तो

कितने दिन में ? दूसरे साधु के पास गए। उसने भी ऐसी ही प्रार्थना की। कुछ काल के पश्चात् जब नारद जी विचरते हुए फिर इनके आश्रमों में आये तो पहिले साधुने पूँछा कि महाराज। मेरे प्रश्न का भगवान् ने क्या उत्तर दिया—नारद जी ने कहा कि दश जन्म के बाद यदि अभ्यास करते रहोगे तो तुम्हें मोक्ष मिल जायगा। यही भगवान् ने कहा है। सुनते ही वह साधु बड़ा निराश हो गया और कहने लगा कि महाराज ! दश बार जन्म लेना पड़े और उनमें बराबर अभ्यास करता रहूँ इतना समय किसने देखा है। मैं तो यह सब अभ्यास का झंझट छोड़ता हूँ। लौकिक फल प्राप्ति की आशा से ही कर्म करूँगा। जिन कर्मों का फल तत्काल मिलता जाय। दूसरे साधु के आश्रम में जाने पर और उसके भी यही बात पूँछने पर नारद जी ने कहा कि तुम्हारी कुटिया के आगे जो वृक्ष है उसमें जितने पत्ते हैं उतनी बार जन्म तुम्हें लेने पड़ेंगे और उनमें निरन्तर अभ्यास करते रहोगे तो तुम्हें मोक्ष मिल जायगा। सुनते ही वह साधु तो नाचने लग गया। और बड़ी प्रसन्नता से कहने लगा कि कभी सही मोक्ष मिलेगा यह तो निश्चय हो गया। मुझे तो आशा ही नहीं थी कि मैं कभी मोक्ष प्राप्त कर सकूँगा। आपके सन्देश से वह निराशा तो दूर हुई। अब मैं दृढ़ निश्चय करता हूँ कि जब-जब जन्म लूँगा बराबर अभ्यास करता रहूँगा। पहिले साधु के समान ही मनुष्यो में अधिकांश होते हैं। दूसरे समान धैर्य्य रखने वाले बहुत ही अल्प हैं। इसलिए इस मार्ग में आना ही बड़ा कठिन है। फिर पूर्व पद्य के अनुसार राग, भय, क्रोध आदि छोड़ कर भगवत् भाव में सदा लगे रहना तो अति विरले पुरुषों का ही काम है। यही बात इस अन्तिम पद्य में कही गई है॥१२॥

'बासठवां-पुष्प'

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

पूर्व पद्यों में यह कहा गया कि बहुत से लोग तो संसार से विरक्त होकर मुझे प्राप्त कर गए और अधिकांश लोग अपने कर्म, सांसारिक उन्नति के लिए ही करते रहते हैं। वे भगवद्भाव को प्राप्त नहीं कर सकते। इस पर श्रोता के चित्त में यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि मनुष्यों में प्रकृति का इतना भेद क्यों होता है ? क्यों कुछ लोगों की धैर्य्य पूर्वक निष्काम आराधना में प्रवृत्ति होती है और क्यों बहुतों की नहीं होती ? इस प्रश्न का मूलतः उत्तर देने के लिए भगवान् स्पष्ट करते हैं कि चार वर्ण मैंने ही बनाए हैं। उनमें सत्त्व आदि गुणों का और उनके अनुसार भिन्न-भिन्न कर्मों का विभाग भी मैंने ही किया है। मध्य में ही फिर प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार विषमता करने से तो आपको भी बड़ा पाप लगता होगा ? इस प्रश्न का उत्तर साथ ही दे देते हैं कि इन चारों वर्णों का कर्त्ता होने पर भी मैं कर्त्ता नहीं हूँ; क्योंकि मैं अव्यय हूँ। अर्थात् मुझमें कोई विकार नहीं होता। अव्यय पुरुष सबका आलम्बन है। कुछ न करता हुआ भी वही सबका कर्त्ता कहलाता है। किन्तु उन कर्मों का प्रभाव उस पर कुछ भी नहीं पड़ता। इसका स्पष्टीकरण अग्रिम पद्य में होगा। यहाँ पहिले चार वर्णों का प्रसंग आया है; इसलिए वर्ण व्यवस्था पर ही विचार करना आवश्यक है।

यहाँ 'गुणकर्मविभाग' इस पद के अर्थ में सब ही व्याख्याकारों ने गुण शब्द से प्रकृति के सत्त्व, रज, तम गुणों को ही लिया है। इन तीन गुणों के आधार पर ही परस्पर सम्मिश्रण के प्रभाव से चार वर्ण बन जाते हैं। प्रकृति के गुणों का सांख्य शास्त्र में विस्तार से निरूपण हुआ है कि ये गुण केवल एक रूप में कभी कहीं नहीं रहते। सर्वत्र तीनों का ही मेल रहता है। कहीं कोई गुण अधिक मात्रा में और कहीं अल्प मात्रा में होता है। इस मात्रा के अल्प, अधिक होने के कारण ही मनुष्यों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव में बहुत बड़ा भेद हो जाता है। जिनमें सत्त्वगुण की बहुत अधिकता है रज और तम बिल्कुल स्वल्प मात्रा में हैं; वे ब्राह्मण कहलाते हैं। जिनमें सत्त्वगुण के साथ रजो गुण का भी अधिक मेल है; सत्त्व को दबाकर रज प्रधान बन बैठा है; वे क्षत्रिय होते हैं। जिनमें सत्त्व की मात्रा अल्प हो जाती है और रजोगुण के साथ तमोगुण भी अधिक मात्रा में आ मिलता है; वे वैश्य वर्ण के माने जाते हैं। और जहाँ तमोगुण ही अत्यन्त प्रबल होकर सत्त्व और रज को दबा देता है; वे शूद्र होते हैं। इस प्रकार गुणों की मात्रा अधिक-अल्प होने के कारण वर्णों

का भेद होता है और उसीके कारण इनके कर्मों में भी भेद हो जाता है। सत्त्व प्रधान ब्राह्मण में शम, दम, सत्य आदि की प्रधानता रहती हैं और उनके अनुसार ही शान्ति प्रधान कर्म अध्ययन, यजन आदि उसके होते हैं। रजोगुण का मिश्रण हो जाने से क्षत्रिय में वीरता, तेज आदि अधिक होता है। और उसीके अनुसार युद्ध आदि कर्म उसके होते हैं। तम का मेल हो जाने से और सत्त्व के अत्यन्त दब जाने से वैश्य की प्रवृत्ति प्रायः सांसारिक कार्यों में ही अधिक होती है। कृषि, व्यापार आदि सब सांसारिक कार्य ही हैं। रजो गुण के कारण प्रवृत्ति भी इसमें प्रधान रहती है और तमो गुण के कारण वह प्रवृत्ति संसार की ओर ही जाती है। तमो गुण अत्यन्त प्रधान होने से शूद्र में सत्त्व-गुण के विद्याभ्यास, योग आदि की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं होती—वह संसार को ही सब कुछ समझता है और अत्यन्त हीन कर्म सेवा आदि ही करता रहता है। इन्हीं गुणों की विषमता से मनुष्यों की प्रकृति में भेद होता है।

यहाँ "गुणकर्मविभागशः" पद देखकर कुछ विद्वान् गुण, कर्म, विभाग से ही वर्ण व्यवस्था मानने का हठ करते हैं। इसलिए वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर है व गुण-कर्म के आधार पर इस विषय का विचार भी यहाँ आवश्यक है "गुणकर्मविभागशः" इस पद में जो 'शस्' प्रत्यय है वह तद्धित का प्रत्यय स्वार्थ में ही होता है अर्थात् प्रकृति का अर्थ ही वहां रहता है, प्रत्यय का कोई नया अर्थ नहीं आता। यद्यपि किसी पाणिनीय सूत्र से यहाँ शस् प्रत्यय प्राप्त नहीं तथापि गुण, कर्म आदि को बहुत स्थान में व्यापक मानकर बह्वर्थकता से शस् प्रत्यय कई व्याख्याकारों ने सिद्ध किया है। अस्तु! किसी भी प्रकार से हो; अर्थ तो प्रत्यय का जो नियत है; वही मानना आवश्यक होगा। स्वार्थिक प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं होता। मूल शब्द का अर्थ वहाँ बना रहता है। इस प्रकार इस पद्य का अर्थ यही करना होगा कि चारों वर्ण मैंने पैदा किये और उनके गुणों और कर्मों का विभाग भी मैंने ही किया। इस प्रकार तो वर्ण विभाग और गुण, कर्म विभाग दोनों ही ईश्वर कृत सिद्ध हो जाते हैं। जब ईश्वर कृत ही वर्ण विभाग है तब उसकी गुण कर्मानुसारता कहाँ रही? गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था मानने वालों का तो अभिप्राय यह है कि यदि दूसरे वर्ण में जन्म लिया हुआ मनुष्य भी दूसरे वर्ण के शुभ कर्मों का ग्रहण करले तो वह दूसरे वर्ण में ही चला जाता है। किन्तु जब वर्णविभाग ईश्वर कृत है तो मनुष्यों व मनुष्य समाज को उसमें परिवर्तन करने का अधिकार कैसे प्राप्त हो जायगा? मनुष्य अपनी बनाई वस्तु में परिवर्तन कर सकता है। किन्तु ईश्वर की बनाई हुई वस्तुओं में परिवर्तन करने का उसे कोई अधिकार नहीं। वह घोड़े को गधा व गधे को कुत्ता नहीं बना सकता। इसी प्रकार ईश्वर के बनाये हुए ब्राह्मण को मनुष्य वा मनुष्य समाज क्षत्रिय या शूद्र, एवं क्षत्रिय या शूद्र को ब्राह्मण नहीं बना सकते? हाँ जिस वर्ण के जो कर्म ईश्वर ने नियत किये हैं उनका आचरण न करने से वह धर्मभ्रष्ट व पतित अवश्य हो जायगा। किन्तु

दूसरे वर्ण का वह नहीं बन सकता। व्यवहार में भी अपने कर्म छोड़ देने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पतित ब्राह्मण व पतित क्षत्रिय कहे जाते हैं, दूसरे वर्ण के नहीं गिने जाते। जैसे कोई पक्वान्न हमारे हाथ से नाली में गिर जाये तो वह खाने योग्य नहीं रहेगा। किन्तु नाम उसका नहीं बदलेगा। इसी प्रकार स्वकर्म से परिभ्रष्ट ब्राह्मण आदि भी व्यवहार योग्य न रहेंगे। किन्तु ब्राह्मण आदि की श्रेणी से वे न निकलेंगे।

यह भी स्मरण रहे कि गुण, कर्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले सज्जन गुण शब्द का अर्थ सत्य, अहिंसा, वीरता, व्यापार में प्रवीणता, आदि करते हैं। और इन्हीं गुणों के अनुसार वे वर्ण व्यवस्था मानने को प्रस्तुत होते हैं। किन्तु भगवद्गीता में गुण शब्द से सर्वत्र सत्त्व आदि गुण ही लिये जाते हैं और वे ही गुण ईश्वर प्रदत्त होते भी हैं। सत्य, अहिंसा, वीरता, आदि गुण भी उन सत्त्व आदि प्रकृति के गुणों से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये उन्हें सत्त्व आदि का कार्य ही कहा जाता है। गीता के अठारहवें अध्याय में वर्णों का पुनः प्रसंग आया है वहाँ लिखा है कि—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्चपरन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥

वहाँ गुण शब्द का अर्थ शम-दम, वीरता आदि चित्त की वृत्तियों को ही प्रायः सब व्याख्याकारों ने माना है। और उन वृत्तियों का उत्पादक स्वभाव अर्थात् सत्त्व आदि गुण वाली प्रकृति को ही कहा है, इसका भी तात्पर्य यही होता है कि सत्त्व आदि प्रकृति के गुणों के न्यूनाधिक भाव से शम आदि गुण बनते हैं, और उनके अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों के कृत्य होते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सत्त्वादि गुणों की न्यूनाधिकता ईश्वर कृत है। उनके अनुसार शमदमादि चित्तवृत्ति रूप आत्म गुणों की उत्पत्ति होती है, और उन वृत्तियों के अनुसार बाह्य कर्म शरीर चेष्टा रूप होते हैं। इससे भी वर्ण-विभाग और उन वर्णों का गुण-कर्म विभाग भी ईश्वर कृत ही सिद्ध होता है, सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता मनुष्य नहीं कर सकता। इसलिए वर्ण परिवर्तन में मनुष्यों वा मनुष्य समाज का कोई अधिकार सिद्ध नहीं होता। सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता ईश्वर पर ही निर्भर है, और ईश्वर भी पूर्व कर्मानुसार जीवों में सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता देता है। इसी आधार पर वहाँ स्वभाव शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने पूर्व जन्म के कर्मजनित संस्कार भी किया है। वस्तुतः तो यहाँ स्वभाव शब्द का अर्थ बड़ा गम्भीर है। सृष्टि की उत्पत्ति में पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त एक शुक्र भी कारण होता है, जिसका विवरण गीता के चौदहवें अध्याय के आरम्भ में विशेष रूप से आवेगा। वह शुक्र श्रुति में तीन प्रकार का बतलाया गया है—वाक्, आप और अग्नि।

इन्हें ही पौराणिक परिभाषा में विभूति, श्री और अर्क कहते हैं। जैसा कि "यद्यद् विभूतिमत्सत्वं" इत्यादि गीता के दशमाध्याय के पद्य में स्पष्ट होगा। उन्हें ही ब्रह्म वीर्य, क्षत्र वीर्य और वैश्य वीर्य कहा जाता है। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का मूल जगत् के उत्पादक शुक्र से ही आरम्भ हो जाता है। यही स्वभाव शब्द का अर्थ है। कदाचित् प्रश्न हो कि इसप्रकार सृष्टि के आरम्भ से ही यदि वर्ण व्यवस्था नियत है तो वह सबही देशों के मनुष्यों में होनी चाहिये फिर केवल भारतवर्ष में ही इसका प्रचार क्यों ? केवल भारत वर्ष में ही प्रचार होने से तो यही अनुमान होगा कि प्राचीन काल में यहाँ के देश नेताओं ने ही समाज का हित समझ कर यह व्यवस्था चलायी थी। आज समयानुसार वह व्यवस्था उपयुक्त न रही इसलिए बदल डालनी चाहिए। ईश्वर कृत नियम तो सब संसार में ही व्याप्त होते हैं। वे किसी एक देश में नहीं हो सकते। इसका उत्तर है कि ईश्वर कृत वैज्ञानिक वर्ण व्यवस्था तो सब संसार में ही है। न केवल मनुष्य मात्र अपितु सब प्राणियों में व्याप्त है। इसी के आधार पर हमारे धर्म ग्रन्थों में 'अज' को ब्राह्मण 'अश्व' को क्षत्रिय 'गौ' को वैश्य आदि कहा है। न केवल प्राणियों में ही अपितु जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों में भी वर्ण व्यवस्था मानी जाती है। रत्न सम्बन्धी ग्रन्थों में मणि रत्न आदि में भी ब्राह्मण आदि भेद माना गया है। ज्योतिष के ग्रन्थों में ग्रह-तारा आदि में भी वर्ण भेद लिखा है। और आयुर्वेद के औषधियों में भी वर्ण-भेद माना जाता है। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भक शुक्र की की हुई वर्ण व्यवस्था सर्वत्र व्यापक है। किन्तु भारतवर्ष के ऋषि लोग बहुत प्राचीन काल से विज्ञान पारङ्गत थे। इसलिए उन्होंने वैज्ञानिक वर्ण व्यवस्था के अनुसार अपने समाज में भी इस व्यवस्था का परिचालन कर दिया। अन्य देशों में विज्ञान का प्रसार प्राचीन काल में नहीं हुआ। आध्यात्मिक और आधिदैविक विज्ञान का प्रसार तो आज भी नहीं है, केवल भौतिक विज्ञान की उन्नति पाश्चात्य देशों ने की है, इसलिए समाज संगठन में अन्य देशों में वर्ण व्यवस्था का प्रसार न हो सका। तात्पर्य यह है कि प्रकृति जनित वर्ण व्यवस्था तो सब देशों में सदा से ही थी किन्तु भारतवर्ष के प्राचीन महर्षि ही उसे समझ पाये। अन्य देशों के विद्वान् समझ न सके। इसलिए सामाजिक रूप से वर्ण व्यवस्था का प्रसार भारतवर्ष में ही हुआ। प्रकृति की प्रेरणा से विद्याजीवी, सैनिक, व्यापारी और श्रमजीवी ये विभाग तो प्रायः सभी देशों में होते हैं। किन्तु उन विभागों को अन्य देशोंवाले व्यवस्थित न कर सके। भारतवर्ष के प्राचीन नेता ऋषिमुनियों ने यह प्रकृति सिद्ध नियम भी समझ लिया कि कारण के गुण ही कार्य में जाया करते हैं। इसलिए पिता-माता के गुणों का सन्तान में जाना भी प्रकृति सिद्ध है। इसी आधार पर उन्होंने वर्ण व्यवस्था को कुल क्रम पर नियत कर दिया। कई ऐसी बाते हैं जो विज्ञान सिद्ध होने पर भी भारत में ही प्रचलित हैं। दूसरे देशोंवाले उस विज्ञान को न समझने के कारण अपने यहाँ उनका प्रचार न कर सके। जैसे

बालकों के संस्कार, ये संस्कार विज्ञान से ही सिद्ध हैं, किन्तु केवल भारत में ही प्रचलित हैं। स्त्रियों का पातिव्रत धर्म, इसे भी अब वैज्ञानिकों ने विज्ञान सिद्ध बनाया है। किन्तु प्राचीनकाल में उन्हें इसका विज्ञान न विदित होने के कारण उनके समाज में इसका प्रचार न हो सका। ऐसे ही रजस्वला धर्म का भी अब वैज्ञानिकों ने अनुमोदन किया है। किन्तु दूसरे देशों में कहीं इसका प्रचार नहीं है। इसी प्रकार विज्ञान सिद्ध वर्ण व्यवस्था का भी विज्ञान न जानने के कारण दूसरे देशों में प्रचार न हो सका। भारतवर्ष के तो श्रुति, स्मृति, पुराण आदि सब ही शास्त्र; जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हैं, जैसा कि चारों वेदों में उपलभ्यमान पुरुष सूक्त में ही स्पष्ट मन्त्र है—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस मन्त्र में विराट्पुरुष के मुख आदि भागों से ब्राह्मण आदि वर्णों की की उत्पत्ति बताई गई है। जैसा कि मन्त्र के चतुर्थ चरण में स्पष्ट हो गया कि पैरों से शूद्र उत्पन्न होते हैं। इसी के अनुसार पूर्व चरणों में भी यही अर्थ होगा कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं इत्यादि। यहाँ कई विद्वान् यह शंका करते हैं कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं इत्यादि मन्त्र का अर्थ करने पर प्रश्न और उत्तर में विषमता हो जायगी। इसके पूर्व मन्त्र में यह प्रश्न आया है कि—

"मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरूपादा उच्येते"

अर्थात् जिस विराट् पुरुष का वर्णन कर रहे हो, उसका मुख क्या है, ? बाहु कौन है ? और ऊरू और पाद नाम के अंग कौन से हैं ? इसके उत्तर में यह मन्त्र पढ़ा गया है। इसका अर्थ यदि ऐसा मानोगे कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ तो प्रश्न के अनुरूप उत्तर न होगा। प्रश्न है कि पुरुष का मुख क्या है ? उत्तर हुआ कि मुख से ब्राह्मण पैदा होता है। तब प्रश्न और उत्तर की कड़ी नहीं बैठती। मुख क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुख का स्वरूप दिखाना चाहिये था, न कि मुख से किसकी उत्पत्ति होती है, यह प्रश्न था। ऐसी शंका वे ही लोग करते हैं जो शास्त्रों की प्रश्नोत्तर प्रक्रिया को नहीं जानते। 'मुखं किमस्यासीत्' यह मुख के लक्षण का प्रश्न हुआ। लक्षण दो प्रकार के होते हैं एक 'स्वरूप लक्षण' और दूसरा 'तटस्थ लक्षण'। यह 'मुख' है इस प्रकार मुख का स्वरूप दिखा देना 'स्वरूप लक्षण' होगा और कार्य कारण आदि के द्वारा मुख का परिचय दे देना तटस्थ लक्षण होगा। यहाँ तटस्थ लक्षण रूप से ही उत्तर दिया गया है कि जिससे ब्राह्मण उत्पन्न होते हों वह मुख है इत्यादि। यह कार्य द्वारा मुख आदि का परिचय दिया गया। इससे इसे तटस्थ लक्षण कह सकते हैं। जैसे कि वेदान्त सूत्रों में प्रथमतः "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस सूत्र के द्वारा ब्रह्म के जानने की इच्छा प्रस्तुत की गई। उसके द्वितीय सूत्र में "जन्माद्यस्य यतः"

५९

यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण ही कहा गया कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति पालन और संहार होता है, वही ब्रह्म है। यहाँ भी ब्रह्म का कार्य द्वारा ही परिचय दिया गया है। वहाँ यह प्रश्न कोई नहीं करता कि प्रश्न तो ब्रह्म का था, जगत् उत्पत्ति पालनादि का प्रसंग क्यों उठाया गया ? इसी प्रकार यहाँ भी तटस्थ लक्षण रूप से परिचय है कि जिससे ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं वह पुरुष का मुख है। जिससे क्षत्रिय होते हैं वे बाहु हैं इत्यादि। यह भी प्रश्न कई विद्वान् उठाते हैं कि मन्त्र के तीन पादों में कार्य और कारण का अभेद रूप से निर्देश है अर्थात् ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है इत्यादि ही कहा गया है। केवल चतुर्थ पाद में पादों से शूद्र उत्पन्न हुए ऐसा कार्य कारण भाव कहा है। तब उस एक चतुर्थ पाद के अनुसार तीन पादों को लगाना उचित नहीं; अपितु तीन पादों के अनुसार चौथे पाद का भी अर्थ करना उचित होगा कि शूद्र वर्ण पुरुष के पाद से उत्पन्न होने के कारण पाद रूप ही है, इत्यादि यह कल्पना भी ठीक नहीं उतरती क्योंकि आगे के मन्त्रों में—

"चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्योऽजायत मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणा द्वायुरजायत, नाभ्याआसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत पद्भ्यांभूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्" इत्यादि रूप से (मन से चन्द्रमा पैदा हुआ, चक्षु से सूर्य हुआ, मुख से अग्नि और इन्द्र हुये प्राण से, वायु उत्पन्न हुई इत्यादि) कार्य-कारण भाव उत्पाद्य-उत्पादक भाव ही बताया है। तदनुसार ही इस मन्त्र को भी कार्य-कारण भाव रूप से ही लगाना उचित होगा और कार्य और कारण का तीन स्थानों में अभेद रूप से निर्देश किया है यही मानना युक्तियुक्त होगा।

इसके अतिरिक्त जो सम्प्रदाय ब्राह्मणभाग व शाखाओं को वेद नहीं मानते वे भी यह तो स्वीकार करते ही हैं कि ब्राह्मण भाग व शाखा आदि मन्त्रों का अर्थ ऋषियों को बताने के लिये ईश्वर ने ही प्रकट किया है। तब यह देखना होगा कि तैत्तिरीय शाखा में इस मन्त्र की व्याख्या रूप से जो लिखा गया है वह मनमाने अर्थों की अपेक्षा विशेष रूप से प्रमाण है। तैत्तिरीय शाखा में इस मन्त्र का अभिप्राय प्रकट करते हुये—

"मुखतोह्यसृज्यन्त" (तैत्तिरीयसंहिता ७ काण्ड, १ प्रपा० १० अनु) यहाँ असृज्यन्ते पद से मुख आदि अवयवों से ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति स्पष्ट बताई गई है, इसी प्रकार मनु आदि महर्षियों ने भी इस मन्त्र का अर्थ उत्पत्ति रूप ही समझा है। मनु भगवान् कहते हैं कि "लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्"। इसका स्पष्ट अर्थ है कि ब्रह्मा ने प्रजा की वृद्धि के लिये अपने मुख, बाहु, ऊरू और पाद रूप अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को बनाया।

इसके अतिरिक्त मनु भगवान् ने नामकरण संस्कार के प्रकरण में लिखा है कि ब्राह्मण का नाम मंगलयुक्त होना चाहिये। क्षत्रिय के नाम से ही बलवत्ता

प्रकट होनी चाहिये। वैश्य वर्ण नाम से ही धन-सम्पत्ति का योग प्रकट होना चाहिये। अब देखने की बात है कि उत्पन्न हुये बालक का दशम दिन नाम-करण संस्कार होगा। दस दिन के बालक की गुण कर्म परीक्षा कौन कर सकता है। तब उस समय उसे किस वर्ण में माना जाय और कैसा नाम किया जाय? अगत्या यही कहना पड़ेगा कि जैसे माता-पिता के यहाँ जन्म हुआ है वही वर्ण इस बालक का भी मानना चाहिये, और उसी के अनुसार नाम करना मनु को अभिप्रेत है। याज्ञवल्क्य भगवान् ने इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है कि "सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्तेहिसजातयः, अनिन्द्येषु विवाहेषुपुत्राः सन्तान वर्द्धनाः॥ इसका अर्थ सुस्पष्ट है कि जिस वर्ण का पुरुष अपने समान वर्णवाली स्त्री से अपने वर्णोपयुक्त विधि के अनुसार विवाह कर जो सन्तान उत्पन्न करे वह उसी वर्ण का होता है, इससे जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था ही सब स्मृतिकारों को अभिमत है यह स्पष्ट हो जाता है।

गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था के मुख्य प्रतिपादक श्री स्वामी दयानन्द जी ने भी नामकरण प्रकरण में उक्त मनु स्मृति के श्लोक के अनुसार ही भिन्न-भिन्न वर्णों के भिन्न प्रकार के नाम माने हैं। वहां भी यही प्रश्न सामने आवेगा कि जन्म के दशवें दिन बालक की गुण कर्म परीक्षा कैसे हो और कौन ऐसी परीक्षा कर सकता है? फिर वह नामकरण का विधान कैसे उपपन्न हो सकता है? यदि पिता-माता के अनुसार वर्ण मानकर बालक का नामकरण कर दिया तो आगे वर्ण परिवर्तन के साथ उसका नाम परिवर्तन भी आवश्यक होगा और यों दशम दिन नामकरण की स्मृति. और सूत्रों की मानी हुई पद्धति एक प्रकार से व्यर्थ ही हो जायगी। इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि स्मृतिकार व सूत्रकारों को जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था ही मान्य है। अन्यान्य श्रुतियों के द्वारा भी जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था का समर्थन प्राप्त होता है जैसा कि यज्ञ में ब्राह्मण का वरण करते समय मन्त्र बोला जाता है कि—

"ब्राह्मणमद्यविदेयं पितृमन्तंपैतृमत्यं, ऋषिमार्षेयम्" (शुक्ल यजुर्वेद अ० ७।४६) अर्थात् मैं आज ऐसे ब्राह्मण को प्राप्त कर रहा हूँ जो पितृमान् और पितृमान् का पुत्र है, स्वयं भी ऋषि है और ऋषि का पुत्र भी है। यहाँ विचारने की बात है कि पितृमान् और पितृमान् के पुत्र तो सभी होते हैं बिना पिता-माता के किसी का जन्म नहीं देखा जाता। तब पितृमन्तं पैतृमत्यं इन विशेषणों की क्या आवश्यकता थी? तब इन शब्दों में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में ही मानना उचित होगा। तब मन्त्र का अर्थ होगा कि जिसके पिता और पितामह प्रशस्त हैं। इससे जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था श्रुतिद्वारा स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। क्योंकि गुण कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था मानने वालों के मन में तो पिता पितामह के प्रशस्त होने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पिता-पितामह कोई भी और कैसे भी हो वह यदि शुभगुण कर्मों वाला है तो अवश्य आदर पावेगा। इसी प्रकार राज्याभिषेक के मन्त्र में भी कहा गया है

कि "इमं देवा असपत्नं सुवद्ध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठायमहते देवराज्यायेन्द्रि-यस्येन्द्रियाय इममुष्यै पुत्रममुष्यै पुत्रस्यै विशएषवोमी राजा सोमो स्माकं ब्राह्मणानां राजा" इस मन्त्र में "अमुष्य पुत्रम्, अमुष्यै पुत्रम्" (यजु. अ. ६.) इन पदों के स्थान में ऊह करके उसके पिता-माता का नाम लिया जाता है। जिसका कि अभिषेक कर रहे हों पिता-माता का नाम लेने का यही प्रयोजन हो सकता है कि जिसका हम राज्याभिषेक करते हैं उसके पितृ कुल और मातृ कुल दोनों प्रशस्त हैं। इससे भी जन्म सिद्ध ही वर्ण व्यवस्थां अभिव्यञ्जित हो जाती है केवल कर्म से वर्ण व्यवस्था माननेवालों के मत में पिता माता का नाम लेने का प्रयोजन ही क्या ? पिता-माता कोई भी हो उसका गुण कर्म प्रशस्त होना चाहिये। किन्तु श्रुति जब पिता-माता का निर्देश भी आवश्यक समझती है तब इससे जन्म सिद्ध ही वर्ण व्यवस्था श्रुति को अभिप्रेत है, यह स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगा।

सनातन धर्मावलम्बियों के सिद्धान्तानुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे जाते हैं। ब्राह्मण भांग में तो स्पष्ट ही जन्म से वर्ण व्यवस्था होने का प्रमाण मिलता है "छान्दोग्योपनिषद् में पञ्चाग्नि विद्या के प्रकरण में स्पष्ट कहा गया है कि पूर्व जन्म में जो उत्तम कार्य करते हैं वे यहाँ ब्राह्मण कुल व क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं। और जो पूर्व जन्म में निन्दित कार्य करते हैं वे यहाँ कुत्ता, शूकर व चाण्डालादि योनियों में प्राप्त होते हैं। "तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशोहयत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण योनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्य योनिं वाथ य इह कपूय चरणा अभ्याशोहयत्ते कपूयां योनि मापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकर योनिं वा चण्डाल योनिं वा। छान्दोप० ५ प्रपाठक १० खण्ड। यहाँ स्पष्ट अक्षरों में पूर्व जन्म के कर्मों को भिन्न योनि प्राप्त करने में कारण बताया गया है और कुत्ते, सूकरादि की तरह चाण्डालादि योनियों को अप्रशस्त कोटि में गिना है। शतपथ ब्राह्मण का चतुर्दशकाण्ड जो बृहदारण्यकोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है। उसमें भी सृष्टि का प्रकरण कहते हुये पहले देवताओं की उत्पत्ति बताई गई है, और उनमें ब्राह्मण आदि वर्ण विभाग बताया गया है। फिर उन्हीं देवताओं के सम्बन्ध से मनुष्यों में भी वर्ण विभाग हुआ ऐसा स्पष्ट कहा है। ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेक ँ सन्नव्यभवत्त च्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्राक्षत्रणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमोमृत्युरीशान इति…… ……………………स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देव जातानि गणेश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् इयं वैपूषेय ँ हीद ँ सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ……………………………………………………………तदेतद्ब्रह्मक्षत्रंविट् शूद्रस्त-दग्निनैव देवेषुब्रह्माभवद्ब्राह्मणोमनुष्ये क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः बृ० उ० तृ० अ० च० ब्रा० १ खं ११-१५। इस सब का आशय है कि सूक्ष्म जगत् के देव, ऋषि आदि पहले उत्पन्न होते हैं फिर उनके ही सम्बन्ध से स्थूल जगत्

के मनुष्य आदि प्राणी उत्पन्न किये जाते हैं। सूक्ष्म जगत् के उन देवताओं के सम्बन्ध से ही मनुष्यों की प्रकृति में शम, दम, पराक्रम, आदि गुण उत्पन्न होते हैं, और उनके अनुसार ही मनुष्य अपने कार्य करता है। इसप्रकार पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रकृति में प्रधानता, उनके अनुसार फिर इस जन्म के कर्म फिर उनके संस्कार रूप से विकास यह चक्र अनवरत घूमता रहता है। इस सब का चलाने वाला ईश्वर ही है इसलिए ईश्वर कृत जन्म सिद्धही वर्ण व्यवस्था इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। यही बात १८वें अध्याय में "कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः" इस भगवत्गीता के श्लोक में भी कही गई है। वहाँ प्रकृतिवाचक स्वभाव शब्द से इन सब देवताओं का भी ग्रहण हो जाता है, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं। वीर्य वा शुक्र का विभाग भी सूक्ष्म जगत् के देवताओं द्वारा ही होता है, देवताओं के द्वारा मनुष्यों की प्रकृति में भिन्न-भिन्न शक्तियां उत्पन्न होती हैं और उन शक्तियों के अनुसार ही मनुष्यों की भिन्न-भिन्न कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस सब क्रम के विचारने से यह स्पष्ट हो जायगा कि भिन्न-भिन्न योनि में जन्म होने से ही भिन्न-भिन्न कर्मों में प्रवृत्ति है। इस प्रकार वर्ण ही भिन्न कर्मों का कारण होता है न कि कर्म वर्ण का उत्पादक है, हाँ पूर्व जन्म का कर्म इस जन्म के वर्ण का कारण अवश्य है जैसा कि श्रुति के अनुसार पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

श्रीभागवत में भी इसका श्रुत्यनुसार विवरण स्पष्ट है। और भी श्रुति में कहा है कि "गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं, न केनचिद् छन्दसा शूद्रं, तस्मादच्छन्दस्कः शूद्रः" अर्थात् प्रजापति ने गायत्री से ब्राह्मण को बनाया। त्रिष्टुप् छन्द से क्षत्रिय को और जगती छन्द से वैश्य को बनाया। शूद्र को किसी छन्द से नहीं बनाया। इसीलिए शूद्र का छन्द अर्थात् वेद में अधिकार नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद में ऐसी परिभाषा है कि गायत्री अग्नि का छन्द है, त्रिष्टुप् इन्द्र का और जगती आदित्य या विश्वेदेवों का छन्द है। इसी परिभाषा के अनुसार यहाँ यही अर्थ होगा कि गायत्री के वाच्य अग्नि से ब्राह्मण को बनाया। त्रिष्टुप् छन्द के देवता इन्द्र से क्षत्रिय को, और जगती के देवता आदित्य या विश्वेदेवताओं से वैश्य को बनाया। जैसा कि हम पूर्व दूसरी श्रुति के व्याख्यान में स्पष्ट कर चुके हैं। इसका विस्तृत तात्पर्य विद्वान् लोग यह भी बतलाते हैं कि गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में ८-८ अक्षर नियत हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के कारण भी ३ हैं—

"योनिर्विद्या कर्मचेति त्रयं ब्राह्मण लक्षणम्।
विद्यातपोभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः॥"

इस स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि योनि अर्थात् ब्राह्मण माता-पिता से जन्म, विद्या और ब्राह्मणोचित कर्म—इन तीनों की सम्पत्ति होने पर पूरा ब्राह्मण

होता है। जिसमें विद्या और तपरूप कर्म नहीं है वह केवल जातिभाव से ब्राह्मण है, व्यवहारोपयोगी ब्राह्मण उसे नहीं कहा जा सकता। इनमें भी प्रत्येक के ८-८ भेद शास्त्रों में बतलाये गए हैं। जैसा कि ब्राह्मणों के सात गोत्र होते हैं, अगस्त्य को मिलाकर वे ८ बन जाते हैं "अगस्त्यष्टमानि गोत्राणि"। यों योनि अर्थात् उत्पत्ति कारण ८ हुए। इन ८ ऋषियों की सन्तान परम्परा में जो हों वे ही ब्राह्मण कहे जाते हैं। इसी प्रकार विद्या के भी ८ भेद निरूपित हैं—

"मनसे चेतसे धिय आकूतय उत् चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥"

इन आठों की व्याख्या यहाँ विस्तार भय से नहीं की जाती। इसी प्रकार कर्म भी आठ प्रकार के बतलाए हैं—

"धृतिः क्षमा दमः सत्यं शौचमार्जवमेव च।
अस्पृहत्वमकामत्वं ब्राह्मणानाममी गुणाः॥"

अर्थात् धैर्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, शौच अर्थात् पवित्रता, आर्जव अर्थात् सीधापन (चित्त की अकुटिलता) किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए लोलुप न होना और कामना अर्थात् इच्छाओं को न्यून करना ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण हैं। इस प्रकार ८-८ पदार्थों के तीन पादों से निष्पन्न होने के कारण गायत्री का पूरा साम्य ब्राह्मण में हो जाता है। यही आशय है कि गायत्री से ब्राह्मण को बनाया गया। यों ही क्षत्रिय और वैश्य का भी त्रिष्टुप् और जगती से सादृश्य लगाया जाता है जिसका विस्तार यहाँ करना उचित नहीं प्रतीत होता। वर्ण व्यवस्था के धर्मशास्त्र के "वीरमित्रोदय" आदि ग्रन्थों में देखकर जिज्ञासु सज्जन अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं। अस्तु! इसी श्रुति के अनुसार उपनयन काल में ब्राह्मण को गायत्री के उपदेश, क्षत्रिय को त्रिष्टुप् के उपदेश और वैश्य को जगती के उपदेश का विधान है। और इनके पाद के अक्षरों के अनुसार ही उपनयन की अवस्था भी नियत की गई है। कहा जा चुका है कि गायत्री का प्रत्येक पाद आठ अक्षर का होता है इसलिए ब्राह्मण का उपनयन अष्टम वर्ष में ही नियत किया गया है। त्रिष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद में एकादश अक्षर और जगती छन्द के प्रत्येक पाद में द्वादश अक्षर होते हैं। इसी आधार पर क्षत्रियों का ११ वें वर्ष में और वैश्यों का १२ वें वर्ष में उपनयन धर्मशास्त्रों में नियत किया गया है। अस्तु, इस प्रकार इन छन्दों के देवताओं से ब्राह्मणादि वर्णों का उत्पादन कहने से भी वर्ण व्यवस्था जन्म से ही सिद्ध होती है। श्री भागवत में भी इसका श्रुत्यनुसार विवरण स्पष्ट मिलता है—

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरुद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः॥

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्य तदनुव्रतः ।
योजातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्डकक्षतात् ॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वो लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥
पद्भ्यां भगवतोऽजज्ञे शुश्रूषाधर्म सिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद् वृत्यातुष्यते हरिः ॥

भा० ३ स्कं० ६ अ०

पूर्वोक्त श्रुति में ब्रह्म पद देवता का प्रकरण होने से अग्नि का वाचक है जैसा कि आगे की श्रुति में ब्रह्म के स्थान में अग्निपद देकर स्पष्ट किया गया है। किन्तु यहाँ भागवत में वृत्तियों का प्रकरण होने के कारण ब्रह्मपद ज्ञान का बोधक है। इससे श्लोकार्थ यह होगा कि पुरुषरूप भगवान् के मुख से ज्ञान पैदा हुआ उसका अनुसरण करने के कारण वर्णों में मुख्य ब्राह्मण बना। पुरुष के बाहुओं से क्षत्र अर्थात् क्षतत्राणरूप (रक्षावृत्ति उत्पन्न हुई, उस वृत्ति के अनुसरण के कारण मनुष्यों में क्षत्रिय बना जो कि अन्य सब वर्णों की रक्षा करना ही अपनी वृत्ति मानता है। पुरुष के उरू स्थल से वृत्तियां अर्थात् जीवनोपाय कृषि, वाणिज्य आदि उत्पन्न हुए उनका अनुसरण करने वाले मनुष्य वैश्य बने और पुरुष के पादों से सेवावृत्ति उत्पन्न हुई जो विष्णुभगवान् को प्रसन्न करने वाली है। उसका आश्रयण करने वाले मनुष्यों में शूद्र कहलाये।

इसका अभिप्राय है कि जीव भगवान् का ही एक अंश माना जाता है, इसलिए उसमें रहनेवाली सब शक्तियाँ भी भगवान् से उत्पन्न व भगवान् की शक्ति के अंश ही हैं, इसी अभिप्राय से कहा गया है कि भगवान् के अंगों से वे शक्तियां उत्पन्न हुईं और उन शक्तियों का जिन-जिन में प्रादुर्भाव हुआ वे ही ब्राह्मण आदि वर्ण कहलाये। इस विषय का विस्तार आगे के प्रवचन में किया जाता है। कुछ भी प्रकार मान लो, ब्राह्मणादि वर्ण शास्त्रों से ईश्वर कृत ही सिद्ध होते हैं और इस कारण जन्म सिद्ध ही वर्ण मानना सबशास्त्रों का सिद्धान्त प्रस्फुटित होता है। आगे के व्याख्यान में उपपत्ति से भी वर्ण व्यवस्था सिद्ध की जायगी।

तिरसठवां पुष्प

(शरीर की समानता से वर्ण व्यवस्था का समर्थन)

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में प्रकृति ने चार भाग नियत किए हैं और उन चारों में पृथक्-पृथक् शक्ति दी है। पहिला भाग है शिर उसमें ज्ञान-शक्ति प्रधान रूप से दी गई है। जिनके द्वारा ज्ञान होता है वे इन्द्रियां मस्तक के भाग में ही हैं। और ज्ञान शक्ति के द्वारा अधिक परिश्रम करने पर शिर में ही पीड़ा प्रतीत होती है। आजकल तो वैज्ञानिकों ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान-तन्तु मस्तक में ही होते हैं। उन तन्तुओं का प्रज्वलित होना ही ज्ञान कहा जाता है। इससे ज्ञान शक्ति मस्तक में है इसपर अब कोई सन्देह नहीं रह जाता। दूसरा शरीर का भाग वक्षस्थल है। जिसे छाती भी कहा जाता है। इसमें प्रकृति ने बल शक्ति रखी है। बल प्रयोग की मुख्य इन्द्रिय हाथ इसी विभाग में आते हैं। और बल शक्ति का अधिक उपयोग करने वाले को वक्षस्थल में ही पीड़ा का अनुभव होता है। तीसरा शरीर का विभाग है उदर। इसमें बाह्य पदार्थों का संग्रह कर उनको यथोचित रूप में सब अंगों में बांटने की शक्ति जिसे एक शब्द में हम संग्रह-विभाजन-शक्ति कह सकते हैं। वह प्रकृति ने दी है। शरीर में जिन अन्न, जल आदि की आवश्यकता होती है वह सब उदर में ही पहिले अर्पित किए जाते हैं। वहीं से रस, रुधिर आदि बनकर वे शरीर के प्रत्येक अवयव में पहुँचते रहते हैं। यहाँ तक कि यदि शिर आदि किसी भी अंग में पीड़ा हो तो भी औषधि उदर में ही डाली जाती है। वहीं ऐसे यन्त्र प्रकृति ने रखे हैं कि जिनसे संगृहीत-पदार्थों का परिपाक होकर उनका यथोचित स्थान में बँटवारा हो जाता है। यही बात भगवद्गीता में भी भगवान् ने कहा है कि—

> "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः।
> प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

अर्थात् मैं ही वैश्वानर रूप होकर प्राणियों के शरीर अर्थात् उदर में बैठा हुआ प्राण, अपान क्रियाओं के साथ चारों प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य-अन्नों का परिपाक करता हूँ। यदि यह उदर कभी लोभ में आ जाय और संग्रह किए पदार्थों का यथोचित विभाग न करे तो न दूसरे अंगों की खैर हो सकती है और न अपने आप की ही। अपने आप भी अजीर्ण आदि रोगों से ग्रस्त हो जायगा और दूसरे अंग भी दुर्बल हो जावेंगे। अस्तु! शरीर का चौथा भाग है पैर। इसमें सब अंगों की सहायता करने की शक्ति प्रकृति ने दी है। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने की यदि शिर को इच्छा होती है तो उस स्थान में पहुँचाना पैर का ही काम होता है। जैसा आजकल यों समझिए कि यदि

कोई पुरुष सिनेमा आदि देखकर विनोद प्राप्त करना चाहता है तो उसे सिनेमा के स्थान में पहुँचाना पैर का ही काम है। या कोई सैनिक पुरुष युद्ध में जाकर बल प्रयोग करना चाहता है तो उसे युद्धस्थल में पहुँचाने के लिए भी पैर ही प्रस्तुत होते हैं। कृषि, व्यापार, आदि के द्वारा बाह्य पदार्थों का संग्रह करने में भी पैरों की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यों तीनों ही शक्तियों को अपने-अपने कार्य में सहायता देना; इस चौथी शक्ति का कार्य प्रकृति ने नियत किया है। इसे ही सेवा शक्ति कहा जाता है।

इस शरीर के चारों भागों को ही चार गुहा कहा गया है शिरो गुहा, उरोगुहा, उदरगुहा और वस्ति गुहा। चारों गुहाओं में प्राणशक्ति अपने सात-सात विभाग बनाकर रहा करती है। वही प्राणशक्ति शरीर के सब काम चलाती है। सबके ऊपर एक मूलस्थान रहता है जो उस गुहा की प्राणशक्ति का मुख्य आधार है। आगे दो-दो करके तीन जोड़े रहते हैं और सबसे नीचे सातवां स्थान अकेला रहता है। जैसा कि शिरोगुहा में मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है। यही सब शरीर की प्राणशक्ति का मुख्य आयतन है। शरीर में व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी का भी यही मूलस्थान है। इसका सूर्यमण्डल से सदा सम्बन्ध बना रहता है। प्रतिक्षण सूर्यमण्डल से शक्ति इसके भीतर आती है और इसी द्वार से निकल कर सूर्य मण्डल में जाया करती है। इसकी ही रक्षा के लिए आर्य जाति में चोटी रखने का विधान प्रचलित हुआ है। कर्मोपासना आदि के द्वारा जो हमलोग अतिशय विशेष का संचय करते हैं वह सूर्य-मण्डल के आकर्षण से निकल न जाय; इसलिए उस पर कुछ बालों का आवरण रखा जाता है। बाल ऐसी वस्तु है जिसमें से "इलैक्ट्रीसिटी" पास नहीं होती यह पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं। ऊपरी भाग से निकल न जाने के लिए जैसे यह प्रबन्ध किया गया है वैसे ही पृथिवी के आकर्षण द्वारा नीचे से वह अतिशय न निकल जाय; इसके लिए आसन का प्रबन्ध है। आसन के लिए जो-जो वस्तु बतलाई गई हैं—"चैलाजिनकुशोत्तरं" अर्थात् कुश, मृगचर्म और रेशम का वस्त्र। ये सब ही पदार्थ "इलैक्ट्रिसिटी" को रोकने वाले हैं, यह पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी परीक्षा द्वारा सिद्ध किया है। इससे आर्य-जाति के सब विधानों की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है। अस्तु, यह विषय यहाँ प्रसङ्गागत कहा गया। मुख्य विषय यह था कि ब्रह्मरन्ध्र शिरोगुहा का मूलस्थान है। वहाँ से दो कान, दो आँख, दो नासिकाछिद्र इन तीन जोड़ों में प्राण-शक्ति आती है और अन्त का मुख-छिद्र अकेला रहता है। ये ही सब ज्ञानेन्द्रियां कही जाती हैं। ज्ञान-शक्ति इनमें ही व्याप्त है। इनके द्वारा ही ज्ञान होता है जो सब शरीर में व्याप्त होता रहता है। दूसरी उरोगुहा का मूलस्थान कण्ठकूप है। इसमें से शक्ति लेने वाले तीन जोड़े—दो हाथ, दो फेफड़े और दो स्तानच्छिद्र हैं। सातवां हृदय-स्थल अकेला है; जहाँ एक प्रकार की धड़कन बनी रहती है। जो धड़कन जीवन-मरण की मुख्य परिचायक है। ऊपर की शिरोगुहा में जिस प्रकार

पहिले प्राण शक्ति के संग्राहक दो कान बाहर निकल गए थे; इसी प्रकार इस उरोगुहा में भी दोनों हाथ बाहर निकले हैं जो बल शक्ति के कामों में सबसे प्रमुख हैं। तीसरी उदर-गुहा का मूलस्थान हृदय ही है, जो कि उरोगुहा के सप्तम स्थान से मिल गया है। आगे तीन जोड़े—दो आँतें, दो यकृत्-प्लीहा (जिगर और तिल्ली) तथा आमाशय और पक्वाशय नाम के दो नाभि के आसपास स्थान हैं जो आयुर्वेद में प्रसिद्ध हैं। सातवीं नाभि अकेली है ये सातों मिलकर उदरगुहा कहे जाते हैं। इसमें भी पूर्व-गुहाओं की तरह प्रथम स्थान अन्त्र (आतें) बाहर निकलने लगी थीं किन्तु वे बाहर न निलकर वहीं मुड़कर दुहरा हो गई हैं। इसका कारण सूर्य का क्रान्ति-वृत्त है जिसका वर्णन विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जाता। अस्तु, चौथी वस्ति-गुहा का भी मूल स्थान नाभि-प्रदेश ही है जो कि उदर-गुहा के सप्तम-स्थान के साथ मिल गया है। आगे तीन जोड़े—दो पैर जो बाहर निकले हुए हैं, दो अण्ड-कोश और दो गुप्त-छिद्र हैं जिनमें से मूत्र और वीर्य निकलता है। सातवां गुदा-स्थान अकेला है। ये सातों मिलकर वस्ति गुहा या पादगुहा कही जाती हैं। इन्हीं स्थानों में से किसी एक-एक का निर्देश "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में किया गया है। जिसका अभिप्राय यही है कि जीव की ये चारों गुहाओं की शक्तियां परमात्मा के उन-उन अंगों की शक्तियों से निकली हैं। जिस प्रकार हम जीवों के शरीरों में चार भाग हैं और उन भागों में भिन्न-भिन्न चार शक्तियां हैं इसी प्रकार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी परमात्मा का शरीर है। उस ब्रह्माण्ड के प्राणियों के भी चार भाग माने जाते हैं और उनमें चार भिन्न-भिन्न शक्तियां मानी गईं। परमात्मा के अंश रूप जीवों में परमात्मा की शक्तियों के अंश रूप ही चारों शक्तिओं का विकास हुआ। ब्रह्माण्ड रूप शरीर में ज्ञान-शक्ति-प्रधान ब्राह्मण कहे जाते हैं, शक्ति-बल-प्रधान क्षत्रिय, संग्रह-शक्ति-प्रधान वैश्य और सेवा-शक्ति-प्रधान शूद्र नाम से कहे गए हैं। यद्यपि सब में ही सब शक्तियां अंश रूप से रहती हैं परन्तु प्रधान के द्वारा ही व्यवहार किया जाता है। ज्ञान-शक्ति जहाँ प्रधान रूप से हो वह ब्राह्मण, पराक्रम शक्ति-प्रधान क्षत्रिय इत्यादि।

जिस प्रकार जीव के प्रत्येक अंग अपना अपना कार्य सुचारुरूप से करते रहें तो जीवात्मा प्रसन्न रहता है; इसी प्रकार परमात्मा के चारों अंग भी अपने अपने कार्य में लगे रहेंगे तो परमात्मा प्रसन्न रहेगा। परमात्मा की प्रसन्नता से ही सब जगत् की सुव्यवस्था रह सकती है। एक अंग के दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप करने से व्यवस्था बिगड़ जाती है।

जो लोग कर्म-व्यवस्था को परस्पर कलह का कारण बतलाकर दूषित करते हैं उन्हें इस शरीर की घटना पर ध्यान देना चाहिए। शरीर के अवयवों में कभी परस्पर कलह होता नहीं देखा जाता अपितु सदा परस्पर सहयोग ही देखा जाता है। यदि हम सिनेमा आदि दृश्य देखेंगे तो उसका आनन्द आँख

को मिलेगा किन्तु पैर यह विचार नहीं करते कि सुख तो आँख भोगेगी—हम चलने का परिश्रम क्यों करें, अपितु जिस दृश्य को देखना व सुनना आँख कान चाहें; उस दृश्य के स्थान में उनको पहुँचाने के लिए पैर सदा तत्पर रहते हैं। यदि कोई मनुष्य चलता हुआ मार्ग में २-३ बार ठोकर खा जाय तो देखने वाले यही कहेंगे कि "भाई, कान-आँख के अच्छे हो? बार-बार ठोकर क्यों खा रहे हो?" भला सोचिए ठोकर पैर ने खाई, आँख पर अन्धेपन का दोषारोपण क्यों? किन्तु इसका कारण यही है कि मार्ग बतलाने का कार्य आँख का ही था। उसकी अपने कार्य में शिथिलता सिद्ध हुई। इसलिए उसी पर दोष दिया जाता है और यदि मार्ग में चलते हुए पैर में कोई कांटा या कंकरी चुभ जाय तो मुख में से झट आह निकल पड़ती है और हाथ दौड़कर उस कांटे या कंकरी को निकाल डालते हैं। इसी दृष्टान्त से समझना चाहिए कि यदि शूद्र-वर्ण पर कोई आपत्ति आई हो तो मुख-स्थानीय ब्राह्मण उसकी पुकार उठावे और हस्त-स्थानीय क्षत्रिय झट उसका प्रतीकार करने के लिए दौड़ पड़े। इस प्रकार का परस्पर सहयोग ही शास्त्रों ने शरीरावयवों का दृष्टान्त देकर सिखाया है। जब सब वर्णों को एक परमात्म-शरीर के अवयव बतलाया गया तो उनमें परस्पर विद्वेष की बात ही कहाँ रही?

शरीर के अवयवों का उच्च-नीच-भाव भी शक्तियों के आधार पर ही है। ज्ञान-शक्ति अन्य सब शक्तियों की अपेक्षा प्रधान है। सैकड़ों सैनिकों का शासन भी एक सिविलियन विद्वान् द्वारा ही होता है। इससे लोक-व्यवहार में भी ज्ञान-शक्ति की प्रधानता सिद्ध है। इसीलिए ज्ञान-शक्ति-प्रधान शिर को प्रकृति ने सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उस शिर में ऊँचा रहने की ऐसी प्रकृति पड़ गई है कि जब हम लेटने की दशा में सब अंगों को एक सीध में लाना चाहें तब भी वह कुछ ऊँचा ही रहना चाहते हैं। इसीलिए तकिया लगाने की आवश्यकता होती है। यह सब ज्ञान-शक्ति की ही महिमा है। मनुष्य-प्राणी में ज्ञान शक्ति और प्राणियों की अपेक्षा अधिक मात्रा में है। इसीलिए मनुष्य का शिर सबसे ऊँचा गया है। दूसरा स्थान बल-शक्ति का है इसलिए उसे संग्रह-शक्ति आदि के ऊपर रखा गया है। इस तरह शक्तियों के अनुसार ही अंगों में उच्च-नीच-भाव हैं जिसे सब अंग उचित मानते हैं। किसी अंग को अपने नीचा रहने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती और सब से ऊपर रहने वाला शिर भी कभी यह न चाहेगा कि पैरों को काट गिराया जाय, प्रत्युत उनकी रक्षा का ही प्रयत्न सदा करता रहेगा। इसी प्रकार का सामंजस्य सब कर्मों में भी रहना चाहिए और रहता भी था। जब से आधुनिक युग में ऊपर वर्णों को उकसाया गया कि तुम समाज में नीचे माने जाते हो तभी से यह पारस्परिक-कलह का सूत्रपात हुआ है। अस्तु, हमारे प्रवचन का तात्पर्य यही है कि शास्त्रानुसार वर्ण-व्यवस्था में परस्पर कलह का कोई स्थान नहीं। वहाँ तो यही माना जाता है कि—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते पराम्"

(अपने-अपने वर्णोचित कर्मों में ही रत रहता हुआ मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि को प्राप्त करता है ।

यों शारीरिक-विज्ञान की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था पर विचार किया गया। अब सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से भी विचार कीजिए। किसी भी समाज को उन्नति के लिए पहिले समाज में कला, कौशल का प्रचार होना आवश्यक माना जाता है। रहने के योग्य घर बनाना, घरों के समूह रूप में ग्राम, नगर आदि बनाना, निर्वाह के लिए उपकरण शैय्या-वस्त्र आदि बनाना—ये सब कला, कौशल के ही अन्तर्गत हैं। जिन दिनों भारत पराधीन था—तब यहाँ यह दशा थी कि कपड़ा सीने के लिए सुई भी दूसरों देशों से प्राप्त करनी पड़ती थी। उन्नति तो क्या, वह अपना जीवन भी नहीं रख सकता। इसी आशय से भारत ने स्वतन्त्र होते ही पहिले विविध शिल्पों की उन्नति पर ही ध्यान दिया है। वर्ण-व्यवस्था में इस शिल्प-बल को शूद्र-बल के रूप में स्थापित किया गया है। शूद्र समाज में प्रचुर-मात्रा में होते हैं। उनमें भिन्न-भिन्न शिल्प भिन्न-भिन्न जातियों में बांट दिए गए हैं। गृह-निर्माण कार्य, लकड़ी का कार्य, लोहे का कार्य-इत्यादि सब कार्यों के लिए शूद्र-वर्णान्तर्गत भिन्न-भिन्न जातियाँ नियत की गईं हैं जो आज भी अपना-अपना व्यवसाय कर रही हैं और अपने-अपने व्यवसाय की शिक्षा उन्हें कुल-परम्परा से ही मिलती रहती है। इसी का फल है कि भारत में चाहे किसी समय युद्ध हो या और किसी प्रकार की आपत्ति आवे तो भी शिल्प नहीं रुक सकता। जैसे यूरोप आदि देशों में महायुद्ध का प्रसङ्ग आते ही वहाँ के शिल्प पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। जो इंगलैण्ड सब देशों को वस्त्र आदि देता हुआ सब पर अपनी छाप रखता था। उसको काम चलाना भी कठिन-सा हो गया। यह स्थिति भारत में कभी नहीं आ सकती। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने-अपने व्यवसाय में सब दशाओं में लगी रहेंगी। शिल्प-बल के लिए भी बुद्धि और शिक्षा की परम आवश्यकता होती है। वह बुद्धि और शिक्षा उन जातियों को कुल-परम्परागत ही मिल जाती है। यह प्रत्यक्ष है कि एक बढ़ई का लड़का जितना जल्दी अपना काम सीख सकता है उतना दूसरी जाति का मनुष्य बहुत-काल के परिश्रम से भी कठिनता से सीख पायगा। इसी से सिद्ध है कि कुल-परम्परा में प्रकृति के द्वारा व्यवसाय-बुद्धि का संक्रमण होता रहता है। यही जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था का मूल आधार है। आजकल के जो शिक्षिताभिमानी सब वर्ण-जातियों में एक प्रकार की शिक्षा चलाना चाहते हैं और शूद्र-वर्ण की जातियों को अशिक्षित रखने का प्राचीन भारत पर दोषारोपण करते हैं; यह उनकी भूल है। शिक्षा की आवश्यकता तो निःसन्देह सभी को है, किन्तु शिक्षा में भिन्न-भिन्न प्रकार होने चाहिए। जिसे आजकल शिक्षा कहा जाता है वह वास्तव में शिक्षा ही नहीं है; इस बात का अनुभव धीरे-धीरे भारत के देश-नेताओं को भी हो रहा है। अस्तु, इस विचार में पड़कर हम प्रकृत विचार से दूर चले आए। यहाँ वक्तव्य इतना ही था कि वर्ण-व्यवस्था में शूद्र बल के

रूप में शिल्प-बल की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा की गई है। उसकी सहायता और नियन्त्रण के लिए वर्ण-व्यवस्था में दूसरा वैश्य-बल स्थापित किया गया है। शिल्प में चतुर और नये-नये शिल्पों का आविष्कार करने वाला यह अवश्य चाहेगा कि मेरे शिल्प का दूर दूर तक भिन्न-भिन्न देशों में प्रचार हो। इस कार्य में उसकी सहायता व्यापार बल ही कर सकता है। और वही व्यापार बल शिल्पियों को आलस्य से भी बचा सकता है। दूर-दूर देशों में अपने-अपने शिल्प के प्रचार के उद्देश्य से वे शिल्पी आलसी नहीं बनते, प्रत्युत उत्साह से उसमें प्रवृत्त रहते हैं। यही दुरुपयोग से बचना हुआ। व्यापार बल के द्वारा ही भिन्न-भिन्न शिल्पों का सब जगह प्रचार होता है। यह व्यापार बल ही वर्ण व्यवस्था में वैश्य-बल कहा जाता है। किन्तु इसमें दुरुपयोग की सम्भावना बहुत रहती है। "व्यापारे वसते लक्ष्मीः—इस न्याय के अनुसार व्यापारी धनिक होते हैं और लक्ष्मी प्राप्त होते ही उनमें एक प्रकार का मद आ जाता है जिससे वे अन्य सब को तुच्छ समझने लगते हैं। किसी कवि ने कहा है कि—

"हालाहलो नैव विषं, विषं रमा जनाः परं व्यत्ययमत्रमन्वते ।
निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥"

अर्थात् समुद्र मन्थन-काल में हालाहल और लक्ष्मी दोनों ही समुद्र से निकले। इनका नाम रखने में जनता को धोखा हो गया। जनता ने हालाहल का नाम विष रख दिया है किन्तु वास्तव में हालाहल विष नहीं है; लक्ष्मी ही विष है। क्योंकि इनका फल प्रत्यक्ष में देखो—हालाहल भगवान् शंकर ने पिया। उनपर उसका कोई प्रभाव नहीं, कोई विकार उन्हें नहीं हुआ, वे सुख से जागते हुए अपनी समाधि आदि का आनन्द लेते रहते हैं, किन्तु लक्ष्मी को भगवान् नारायण ने लिया। वे उसे लेते ही क्षीर-सागर में जाकर शयन कर गए। लक्ष्मी ने इतना नशा उनमें पैदा कर दिया कि जागते रहना उनके लिए कठिन हो गया। नशा करना ही विष का काम है, वह लक्ष्मी ने किया इसलिए उसे ही विष कहना चाहिए था। अस्तु, यह लक्ष्मी का नशा लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है। एक सात मंजिल का मकान बनाकर रहने वाला धनिक पुरुष अपने मकान के नीचे छोटी सी झोपड़ी में रहने वाले दरिद्र पुरुष को भी सहन नहीं कर सकता। यही चाहता है कि यह इस झोपड़ी को छोड़ जाय तो इस भूमि को मैं अपने अधिकार में ले लूं। इसीलिए उस झोपड़ी पर नाली का जल आदि गिराकर उसे कष्ट देता रहता है। ऐसी घटनाऐं सैकड़ों लोक में देखी जाती हैं। इसलिए इस बल का भी नियन्त्रण अत्यावश्यक है। इस बल का नियन्त्रण शासन-बल के द्वारा ही हो सकता है। एक कोट्याधीश मनुष्य को जो अपनी दुकान पर अकड़ कर बैठा हो उसे भी एक सामान्य वेतन पाने वाला शासक का चपरासी धक्का देकर उसे अपने आगे कर लेता है। उस समय उसकी सब अकड़ निकल जाती है। इस शासन-बल को

क्षत्रिय-बल के रूप में वर्ण-व्यवस्था में वैश्य-बल से ऊपर स्थान दिया गया है। राज्याभिषेक के मन्त्र में स्पष्ट अभिषेक करने वाला ब्राह्मण कहता है—

"एष वो विशो राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाम् राजा"।

अर्थात् हे वैश्यों! आज यह तुम्हारा राजा बनाया जाता है। हमारा ब्राह्मणों का राजा तो सोम अर्थात् चन्द्रमा है। अर्थात् हम तो देवताओं के शासन में रहते हैं। हमें इन मनुष्यों की आवश्यकता नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि क्षत्रिय-बल वैश्य-बल का नियन्त्रण करने के लिए ही स्थापित है।

शासक के हाथ में समाज को लौकिकशक्ति पूर्ण रूप से देनी पड़ती है। इसके बिना वह शासन ही नहीं कर सकता। इतनी सब शक्ति प्राप्त कर राजा भी मदोन्मत्त होकर अपने बल का दुरुपयोग करने लगे, अर्थात् अपने अत्याचारों से प्रजा को सताने लगे तो इसका नियन्त्रण करने वाला कौन? यह एक बड़ा प्रश्न सब देशों के सामने है। इसका ठीक समाधान आज तक कोई देश नहीं कर पाया। पुराने लोगों ने इसका समाधान यह किया था कि राज्य का नियन्त्रण करने वाला शासन-विधान अर्थात् कानून है। परन्तु कानून है तो जड़। जब राजा की प्रवृत्ति उच्छृङ्खलता की ओर हो जाय और वह कहने लगे कि कानून मेरा बनाया हुआ है; मैं कानून के वश में कैसे रह सकता हूँ—"है कानून जबान हमारी"। तब राजा का नियन्त्रण करने वाला कौन? यह एक जटिल प्रश्न है। अब बहुत सोच विचार के अनन्तर सब देशों ने यही इसका समाधान निकाला है कि जनतंत्र-शासन-प्रणाली हो। अर्थात् राजा कोई रहे ही नहीं। प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि ही शासन का काम चलावें। परन्तु इससे भी दुरुपयोग का नियन्त्रण बहुत कठिन है। उन प्रतिनिधियों को भी शासन-कार्य चलाने के लिए मिनिस्टर निर्वाचित करने पड़ते हैं और वे मिनिस्टर भी तो अन्ततः मनुष्य ही हैं। उनकी वृत्ति में भी उच्छृङ्खलता आ जाना स्वाभाविक है। फिर भी अन्ततः उनका नियन्त्रण शासन विधान अर्थात् कानून पर ही मानना पड़ेगा और कानून जड़ होने के कारण रोकने में असमर्थ ही होगा। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यदि मिनिस्टर लोग विधान के विरुद्ध आवेंगे तो जनता के प्रतिनिधि उन्हें हटा देंगे। किन्तु यह सब जबानी ही बात है। जिसके हाथ में शासन है वह उसका सदुपयोग या दुरुपयोग कर सकता है। उसके बदलने में विधान द्वारा जितना समय लगेगा उतने समय में तो बहुत कुछ उथल-पुथल हो जावेगी। अस्तु, वर्तमान शासन के विरुद्ध हमें कुछ नहीं कहना है। जैसा कुछ होगा वह जनता को भोगना पड़ेगा। किन्तु हमें तो यहाँ यही कहना है कि इस प्रश्न का समाधान भारतवर्ष ने किया था और खूब किया था। लौकिक शक्ति सब कुछ शासक वर्गत्रय के हाथ में आवश्यक समझ कर दे दी गई। किन्तु आध्यात्मिक शक्ति भारत में इस प्रकार की थी कि जो सबसे ऊपर है। उस आध्यात्मिक शक्ति के अधिष्ठाता

ब्राह्मण क्षत्र-बल को दुरुपयोग से बचा सकते थे। इसके वेन आदि राजाओं के बहुत से दृष्टान्त पुराणों में प्राप्त होते हैं। जहाँ आध्यात्म्य-शक्ति के द्वारा लौकिक शक्ति का दमन किया गया और उत्पीड़न से प्रजा को बचाया गया; एक दृष्टान्त हम यहाँ दे देते हैं।

एक बार जब इन्द्र को छल से असुर बध करने के कारण ब्रह्म-हत्या लग गई और उसकी निवृत्ति के लिए वे कहीं एकान्त में जाकर तप करने लगे तब देवताओं में यह प्रश्न उठा कि इतने काल हमारा शासक कौन रहे? अराजक देशों में तो बहुत अव्यवस्था फैल जाती है। शासक का होना तो अत्यावश्यक है। अन्ततः देवगुरु बृहस्पति के परामर्श से यह निश्चय किया गया कि भारत-वर्ष के महाराज नहुष को स्वर्ग में लाकर तब तक इन्द्र पद पर स्थापित किया जाय, जब तक कि मुख्य इन्द्र अपनी तपश्चर्या पूर्ण कर न लौट आवें। अस्तु, ऐसा ही किया गया। चन्द्र वंश के महाप्रतापी राजा नहुष को स्वर्ग में ले जाकर इन्द्र पद पर स्थापित किया गया। (ऐसी कथाऐं भू-लोक के स्वर्ग से ही सम्बन्ध रखती हैं जिसका विवरण अन्यत्र किया गया है)। नहुष देवताओं का शासन चलाने लगे किन्तु शासन-शक्ति रजोगुण से ही सम्बन्ध रखती है। रजोगुण में विकृति होना स्वाभाविक है। वह विकृति नहुष के हृदय में भी हुई और उसने देव-समाज के सामने यह प्रश्न उठाया कि जब मैं इन्द्र हूँ तो इन्द्राणी को भी पत्नी के रूप में मेरी सेवा में उपस्थित होना चाहिए। देवता लोगों में यह प्रश्न सुनकर बड़ी घबराहट फैली। किसी पद पर अस्थायी रूप से किसी को नियत कर देना और बात है। किन्तु पतिव्रता स्त्री इन्द्राणी दूसरे के समीप किस तरह जा सकती हैं? इससे तो सम्पूर्ण देव जाति का अपमान होगा। जो जाति अपनी स्त्रियों की मर्यादा भी नहीं बचा सकती वह तो अत्यन्त जघन्य जाति समझी जावेगी। अस्तु, सब लोग फिर गुरु बृहस्पति के पास गए। उनसे सब वृत्तान्त कहा। तब गुरु बृहस्पति भी बोले कि भाई रजोगुण की शक्ति में विकार हो सकता है। इस क्षत्र-शक्ति का नियन्त्रण ब्रह्म-बल के द्वारा होगा। ब्रह्म बल को किसी प्रकार जागरित करो। अस्तु, परामर्श होकर ब्रह्म-बल जागरित करने का उपाय ढूँढ़ निकाला गया और वह इन्द्राणी को बतला दिया गया। जब महाराज नहुष का दूत इन्द्राणी के पास उसे बुलाने के लिए गया तब इन्द्राणी ने यही उत्तर दिया कि जब आप इन्द्र हो गए हैं तो मुझे आपकी सेवा में उपस्थित होने में क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु हम स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि अधिक ऐश्वर्य देखकर हमारा प्रेम पुरुष पर होता है। अधिक ऐश्वर्य आपका मैं यही देखना चाहती हूँ कि पूर्व इन्द्र मेरे स्थान पर ऐरावत, उच्चैः श्रवा आदि वाहनों पर चढ़कर आया करते थे, किन्तु आपका वाहन एक विलक्षण प्रकार का हो। आप ऐसी पालकी पर चढ़कर मेरे स्थान पर पधारें कि जिसमें ऋषि लोग वाहक रूप से जुते हुए हों, तब मैं आपकी सेवा में सहर्ष प्रस्तुत हो जाऊँगी। नहुष ने सुनते ही आज्ञा दी कि सब ऋषियों को बेगार में पकड़ कर

उपस्थित किया जाय और वे मेरी पालकी उठाकर इन्द्राणी के आवास भवन में पहुँचावें। आज्ञानुसार सब ऋषि पकड़-पकड़ कर लाए गए और पालकी में जोते गए। नहुष महाराज पालकी में विराजमान थे। ऋषियों ने कभी पालकी जन्म में उठाई तो थी नहीं, इसलिए उस कला के न जानने से उनके पैर इधर-उधर पड़ते थे और पालकी डांवाडोल होती थी। उधर नहुष के हृदय में इन्द्राणी से भेंट करने की इतनी शीघ्रता थी कि ये लोग विमान की तरह उड़ाकर मुझे शीघ्र वहाँ क्यों नहीं पहुँचाते ? आगे ही अगस्त्य ऋषि जुते हुए थे। अपने आवेश से अगस्त्य ऋषि के सिर में ठोकर मारते हुए नहुष ने कहा कि "सर्प-सर्प" अर्थात् तेजी से चलो, तेजी से चलो। बस ब्रह्मतेज जागरित हो उठा। अगस्त्य ऋषि ने आँख से ज्वाला निकालते हुए शाप दिया कि "जा दुष्ट क्या सर्प-सर्प करता है, सर्प योनि में ही चला जा" आध्यात्मिक शक्ति से तत्काल शरीर परिवर्तन हो गया और महासर्प बनकर नहुष पालकी से नीचे की ओर गिरने लगे। गिरते गिरते विकलता से प्रार्थना की कि "महाराज! शाप की अवधि तो बतलाइये। तब अगस्त्य ऋषि ने कहा कि "तुम्हारे ही वंश में युधिष्ठिर महाराज होंगे उनके शरीर को लपेट कर जब तुम उनसे धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर करोगे तब तुम इस योनि से मुक्ति पा जाओगे।" वही प्रश्नोत्तर युधिष्ठिर की कथा महाभारत में वर्णित है और उसके अनन्तर ही नहुष को फिर अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण से स्वर्ग मिला। ऐसी और भी कई एक कथाए पुराणों में वर्णित हैं।

अब यहाँ यदि यह शंका हो कि इस प्रकार एक-एक बल पर दूसरा बल स्थापित करते हुए कर्म-व्यवस्था में सब बलों का नियन्त्रण कर उन्हें दुरुपयोग से बचाया जाय। किन्तु यदि ब्रह्म-बल विकृत् होने लगे तो उसका नियन्त्रण किससे होगा ? यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि विकृत् होने पर ब्रह्म-बल रहेगा ही नहीं। वह तो शुद्ध सत्व के आधार पर रहता है। सत्व में विकार हो नहीं सकता और रजोगुण आदि की ओर प्रवृत्ति होने पर ब्रह्म-बल रहेगा ही नहीं। तब सामान्य प्रजा की तरह उन नाममात्र के ब्राह्मणों का भी नियन्त्रण राज्य के द्वारा ही हो जावेगा। जैसा कि वर्तमान में ब्रह्मबल हीन ब्राह्मणों का नियन्त्रण राज्य-शासनों द्वारा ही हो रहा है।

जो आधुनिक नव-शिक्षित पुरुष यह कहा करते हैं कि ब्राह्मणों के हाथों में ही सब शास्त्र थे; इन्होंने अन्य समाजों के उन्नति मार्ग रोककर अपने ही हाथ में सब अधिकार ले लिए। उनसे यह पूछना चाहिए कि अन्य समाजों की लौकिक उन्नति ब्राह्मणों ने रोकी या आध्यात्मिक उन्नति ? आध्यात्मिक उन्नति रोकने का तो किसी का अधिकार ही नहीं। वह तो ईश्वर कृपा से और अपने एकान्त-चित्त से प्राप्त होती है। उसे रोकने का किसे अधिकार हो सकता है। रही लौकिक-उन्नति की बात सो लौकिक-उन्नति के साधन शिल्प और व्यापार मुख्य रूप से माने जाते हैं। उन्होंने शिल्प शूद्रों के हाथ में दिया और व्यापार वैश्यों के हाथ

में। ब्राह्मणों ने अपने हाथ में क्या लिया ? ब्राह्मण यदि शास्त्र से पूछें कि हमारी लौकिक उन्नति के लिए हमें क्या उपाय बतलाया जाता है तो उन्हें उत्तर मिलता है कि—

"ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते"

अर्थात् ब्राह्मण का शरीर इन छोटी-छोटी लौकिक कामनाओं के लिए नहीं है। तब किस लिए है ? इसका उत्तर उत्तरार्ध से दिया जाता है कि—

"इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्त सुखाय च।"

अर्थात् यहाँ तो तुम अपने शरीर को खूब कष्ट दो। पूर्ण तप करो। फल अग्रिम जन्म में मांगना। अब विचारने की बात है कि और क्यों कि जो "इस हाथ दे और उस हाथ ले"—इस न्याय से यहाँ का यहाँ ही फल मिलता है और ब्राह्मण यहाँ तो कर्म करें और उसका फल अग्रिम जन्म में कभी पावेंगे। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों पर अधिकार छीनने का कलंक लगाना दुःसाहस-मात्र नहीं तो और क्या है ? कदाचित् कहा जाय कि इसी लेख में विद्या को सब शक्तियों के ऊपर बतलाया है और वह विद्या ब्राह्मणों ने शास्त्रों द्वारा अपने ही हाथ में रखी तो यह भी मिथ्या आक्षेप है। क्योंकि लौकिक-उन्नति की साधन-भूत सभी विद्याओं का अधिकार शास्त्र ने सब को ही दिया है। वेद-विद्या, जो मुख्य तथा परलोक की ही उन्नति बतलाती है—उसका ही अधिकार केवल द्विजाति-मात्र को है। इसलिए पूर्वोक्त बात ही सिद्ध होती है कि ब्राह्मण कर्म तो यहाँ करें और फल की आशा अग्रिम-जन्म में रखें। अस्तु, शास्त्र में हमारे यहाँ अनादि-परम्परा-सिद्ध माने जाते हैं। वे ब्राह्मणों ने ही बना लिये और उन्होंने ही सब अधिकार अपने हाथ में ले लिये—यह कथन ही मूलतः अशुद्ध है।

शारीर-विज्ञान और सामाजिक-विज्ञान से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया। आधुनिक भौतिक-विज्ञान वादियों ने भी वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है—ऐसा भी कई लेखों से प्रतीत होता है। स्वर्गीय गोवर्धन पीठाधीश्वर श्री शङ्कराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थ महाराज ने अपने "संस्कृत रत्नाकर" मासिक के वेदाङ्क में लिखा है कि रुधिर की परीक्षा से पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सब प्राणियों के रुधिर में चार प्रकार के भेद पाए हैं। उनके नाम रखे हैं "ओ", "ए", "बी", "ए-बी" इन रुधिरों के परस्पर सम्पर्क से हानि होती है—यह भी उन्होंने दिखाया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों की किन-किन पुस्तकों में इसका विवरण है—उन पुस्तकों के नाम भी उस लेख में दिए गए हैं। इससे नाम मात्र के भेद से वर्ण-व्यवस्था का मूल पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी मान लिया—यह सिद्ध हो जाता है।

इतिहास की दृष्टि से भी वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता सिद्ध होती है। भारत-वर्ष में भगवान् रामचन्द्र का राज्यकाल ही उन्नति का मध्याह्न-काल माना जाता है। जब किसी राज्य में भारतीय प्रजा को सुख मिलता है तो यह प्रजा यही

कहने लगती है कि आज तो हमें राम-राज्य जैसा सुख मिल गया। अपने पूर्व-सुख का स्मरण करने को वे राम का ही नाम मुख्य रूप से लेते हैं। उस उन्नति की पराकाष्ठा के युग रामचन्द्र के समय में वर्ण-व्यवस्था का उत्तम रूप से पालन था—यह उस समय के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। जब वृद्धावस्था में बड़े यत्नों से प्राप्त किए भगवान् रामचन्द्र जैसे पुत्र को यज्ञ-विघ्नकारी असुरों के दमन के लिए मांगने को भगवान् विश्वामित्र आते हैं। महाराज दशरथ इस विचार में पड़ जाते हैं कि ऐसे प्रिय पुत्र को कुमारावस्था में ही असुरों से लड़ने के लिए किस प्रकार भेजूँ? तब विश्वामित्र उनसे कहते हैं कि—

"मया त्वमाप्थाः शरणं भयेषु वयं त्वयाप्यास्महि धर्म वृध्यै।
क्षात्रं द्विजत्वं च परस्परार्थं शंकां कृथामा प्रहिणुष्वः स्व सूनुम्॥"

(भट्टि काव्य प्रथम सर्ग)

अर्थात्, राजन्! जब हमें राक्षस आदि का भय होता है तो उसे मिटाने के लिए हम तुम्हें रक्षक बनाते हैं और जब तुम्हें धर्म-ज्ञान प्राप्त कर धर्म वृद्धि की इच्छा होती है तब तुम हम जैसे ब्राह्मणों की कुटियों में पहुँच कर हमारी शरण में आते हो। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों का परस्पर उपकार सदा चलता रहता है। यह विचार कर तुम्हें शङ्का नहीं करनी चाहिए। अपने पुत्रों को शीघ्र मेरे साथ भेजो। महाराज दशरथ और उनकी रानियाँ राम-लक्ष्मण के वियोग के स्मरण से विलख रही हैं किन्तु राम-लक्ष्मण को केवल धनुष हाथ में लेकर विश्वामित्र के साथ जाना ही पड़ता है—यह वर्ण-व्यवस्था का दृढ़ रूप में पालन उस युग में देखा जाता है। इसी प्रकार जब ब्राह्मण परशुराम भगवान् राम को ललकारते हैं कि धनुष हाथ में लेकर मेरे सामने युद्ध के लिए खड़े होवो नहीं तो तुम्हारे वंश पर और तुम्हारे गुरु के नाम पर भी तुम्हारे युद्ध से विमुख होने का अमिट कलंक लगेगा। तब भगवान् रामचन्द्र यही उत्तर देते हैं कि—

"जातः सोहं दिनकरकुले क्षत्रियः श्रोत्रियेभ्यो।
विश्वामित्रादपि भगवतो दृष्टदिव्यास्त्रपारः॥
अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा।
विप्रे शास्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद् बिभेमि॥"

(अनर्घ राघव नाटक)

अर्थात् अवश्य ही मैंने उस सूर्य वंश में जन्म लिया है। जिस वंश के राजा पूर्ण वीर क्षत्रिय और वेदज्ञ भी होते आए हैं। और यह भी मुझे गौरव प्राप्त है कि मैंने भगवान् विश्वामित्र से दिव्य अस्त्रों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की है। किन्तु इस वंश पर कोई कलंक लगावे—चाहे उस वंश का यश बढ़े—किसी भी दशा में ब्राह्मण के सामने शस्त्र उठाने के साहस से मुझे भय है। जब

परशुराम ने फिर क्रोध से कहा कि शस्त्र न उठाओगे तो मैं अपने कुठार से अभी तुम्हारा शिरच्छेद कर दूँगा। तुम्हारी नव-परणीता स्त्री अभी रुदन के लिए परवश होगी और तुम्हें अभी यमराज का दर्शन करना पड़ेगा। तब फिर भगवान् राम चन्द्र कहते हैं कि—

"हारः कण्ठे विशतु वा तीक्ष्ण धारः कुठारः।
स्त्रीणां नेत्राण्यधि वसतु सुखं कज्जलं वा जलं वा॥
संपश्यामो ध्रुवमपि सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा।
यद् वा तद् वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः॥"

अर्थात् हमारे कण्ठ में चाहे सुन्दर हार हो चाहे काटने के लिए कुठार आकर पड़े। हमारी स्त्रियों के नेत्रों में सुखकर कज्जल लगा रहे, चाहे जल भरा रहे। हमें चाहे लौकिक सुख देखने को मिले, चाहे यमराज का मुख देखना पड़े। इधर या उधर कुछ भी हो किन्तु ब्राह्मणों के आगे वीरता दिखाना हमने नहीं सीखा। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का जिस समय में पालन था उसी समय भारत परम उन्नत था। आज नाना आक्षेपों से वर्ण व्यवस्था जब अत्यन्त शिथिल हो गई है तब भारत की जो दशा है सो प्रत्यक्ष ही है।

इस प्रकार सब रूपों से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन यहाँ किया गया।

"चौसठवां-पुष्प"

वर्णव्यवस्था के विरुद्ध पौराणिक प्रमाणों की आलोचना

श्रुति, स्मृत्यादि प्रमाणों और शारिरिक, सामाजिक आदि विज्ञानों द्वारा या ऐतिहासिक पद्धति से भी जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता पूर्व प्रवचन में सिद्ध की गई। अब जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था के विरूद्ध भी कुछ प्रमाण पुराणादि में प्राप्त होते हैं जैसा कि भगवान् विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण हो जाना। अन्यान्य भी कई क्षत्रिय-वंशों के सम्बन्ध में पुराणों में मिलता है कि यह वंश का वंश ब्राह्मण रूप में परिवर्तित हो गया। और कई जगह वचन भी कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानने के प्राप्त होते हैं। उन सब की आलोचना करना भी आवश्यक है।

इस विषय में सामान्य रूप से वक्तव्य यह है कि पुराण और योग सब की अलौकिक शक्ति को प्रतिपद स्वीकार करता है और उसी के अनुसार कथाओं का विवरण पुराणों में होता है। जिन सज्जनों को योग और तप की शक्ति पर विश्वास नहीं है; उन्हें पौराणिक घटनाओं की बात ही नहीं उठानी चाहिए। पौराणिक कथाओं में तो क्षत्रिय से ब्राह्मण होना ही क्या—मानुष योनि से तत्काल सर्प योनि प्राप्त हो जाना (जैसा कि पूर्व प्रवचन में नहुष के सम्बन्ध में हम लिख आए हैं।) या शिला से मनुष्य बन जाना (जैसा कि अहिल्या का रामायण में प्रसिद्ध है) भी वर्णित है। इस प्रकार की अलौकिक शक्तियों से क्या नहीं हो सकता ? ऐसी ही शक्तियों से कोई वंश क्षत्रिय से ब्राह्मण भी हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अलौकिक शक्ति सब कुछ परिवर्तन कर सकती है। इससे प्राकृत नियमों में कोई बाधा नहीं पड़ती। प्राकृत नियम प्रकृति के अनुसार चलते हैं और योग और तप की अलौकिक शक्ति प्रकृति का परिवर्तन कर सकती है। इस शक्ति से तो भगवान् विश्वामित्र ने नई सृष्टि बनाने तक की प्रतिज्ञा कर दी थी और तदनुसार कुछ सृष्टि बना भी डाली थी—यह प्रसंग भी पुराणों में मिलता है। उनका कहना था कि ब्रह्मा पर ही सृष्टि बनाने का दायित्व निर्भर नहीं है। जिस वेद-विद्या के आधार से ब्रह्मा सृष्टि बनाते हैं वह वेद विद्या हमारे पास भी है। तब उसके आधार पर हम भी क्यों नहीं सृष्टि बना सकते ? इसी प्रकार की अलौकिक शक्ति के आधार पर किसी महर्षि या महामुनि ने कहीं वर्ण-परिवर्तन भी कर दिया तो वह तो अपवाद स्वरूप ही माना जावेगा। प्राकृत-नियम में उससे कोई बाधा नहीं पड़ सकती।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं इस परिवर्तन के मुख्य कारण का भी पुराणों में ही विवरण मिलता है। जैसा कि विश्वामित्र की कथा में मिलता है कि गाधि

राजा ने अपनी कन्या सत्यवती को ऋचीक ऋषि को दे दिया। (ब्राह्मण को क्षत्रिय, वैश्य की कन्या का ग्रहण धर्म शास्त्रों में अनुमत है।) उन ऋचीक ऋषि से उनकी स्त्री और उनकी श्वश्रु दोनों ने ही अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए उपाय की प्रार्थना की। इस पर ऋचीक ऋषि ने अपने तपोबल से दो चरु बनाये। एक में क्षत्रियोचित गुणों का आधान किया और दूसरे में ब्राह्मणोचित गुणों का। उन दोनों चरुओं को स्थान विशेष में रख कर ऋचीक ऋषि स्नान करने के लिए गये थे उस अवसर में ही माता ने (गाधि राजा की स्त्री ने) अपनी पुत्री से कहा कि प्रत्येक मनुष्य का एक स्वाभाविक नियम है कि वह अपने सन्तान को ही अधिक गुणवान देखना चाहता है। इस कारण तेरे चरु में ऋषि ने विशिष्ट गुण रखे होंगे। बहुत ही अच्छा हो कि तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले। इससे तेरा भाई उत्कृष्ट गुण-वाला उत्पन्न होगा तो तुझे भी इससे आनन्द ही होगा। उन चरुओं में क्षत्रियोचित और ब्राह्मणोचित गुणों का स्थापन था यह बात वे दोनों नहीं जानती थीं। इस कारण माता की आज्ञा का पालन करते हुए सत्यवती कन्या ने अपना चरु माता को दे दिया और माता के चरु का अपने आप उपयोग कर लिया। जब ऋषि को यह बात विदित हुई तो उन्होंने कहा कि "तुमने बड़ा अन्याय किया। अब तुम्हारी माता को तो ब्राह्मणोचित गुणों वाला पुत्र होगा और तुम्हारे क्षत्रियोचित गुणों वाला, खूब मार-काट करने वाला पुत्र होगा"। उनकी स्त्री ने बहुत प्रार्थना की कि "मैं मार-काट करने वाला पुत्र नहीं चाहती।" तब ऋषि ने कुछ और उपाय करते हुए उससे कहा कि "अच्छा पुत्र में क्षत्रियोचित गुण प्रकट नहीं होंगे किन्तु पौत्र में अवश्य होंगे"। उन ऋचीक ऋषि के पुत्र जमदग्नि हुए और उनके पुत्र परशुराम। जो कि खूब युद्धप्रवीण हुए—यह बात प्रसिद्ध है। उनकी श्वश्रू गाधि-राजा की स्त्री से विश्वामित्र का जन्म हुआ। ये कुल मर्यादानुसार पिता के अनन्तर अपने राज्याधिकार पर आरूढ़ हुए। एक दिन वे मृगया के लिये सेना सहित गये थे। किसी मृग के साथ पड़ कर बहुत दूर निकल गये। इतने में मध्याह्न का समय हो गया। सेना के सब लोग भूख, प्यास से व्याकुल हो गए और महाराज विश्वामित्र को भी भूख, प्यास ने सता रखा था। इतने में लौटते हुए एक बड़ा प्रशान्त आश्रम दिखलाई दिया। पुछने पर विदित हुआ कि यह महर्षि वसिष्ठ का आश्रम है। महाराज विश्वामित्र ने कहा कि महर्षि वसिष्ठ को बिना प्रणाम किये जाना उनकी अवज्ञा होगी और इससे बड़ा पाप लगेगा। इसलिये भूख, प्यास की विकलता रहने पर भी महर्षि का दर्शन करना ही चाहिए। अस्तु, वे सवारी से उतर कर महर्षि वसिष्ठ के दर्शनार्थ उनके आश्रम में गये। प्रणाम आदि के अनन्तर कुछ वार्तालाप करके इनने आज्ञा माँगी कि "विलम्ब हो गया है। भूख, प्यास से सेना व्याकुल है। अब आज्ञा दीजिये कि अपने स्थान पर पहुँचकर अन्न, पानादि ग्रहण करें"। महर्षि वसिष्ठ ने अतिथि धर्म का पालन करते हुए स्वाभाविक रूप से कहा कि "आज यहीं हमारा आतिथ्य

स्वीकार कीजिये"। महाराज विश्वामित्र बड़े गर्व से बोले कि "महर्षे, सोच-समझ कर कहिए, मैं अकेला नहीं हूं। मेरे साथ बहुत बड़ी सेना है"। महर्षि वसिष्ठ ने स्मित-पूर्वक उत्तर दिया कि "क्या हानि है? आश्रम के पास ही पुण्य सलिला नदी बह रही है। वहाँ जल तो सुलभ होगा ही। हम भी यथाशक्ति भोजनादि का सामान उपस्थित कर देंगे"। महाराज विश्वामित्र के हृदय में बड़ा आश्चर्य हुआ कि "इतनी छोटी-सी कुटिया में इनके पास इतना सामान कहाँ है कि मेरी सेना का आतिथ्य करने का ये साहस कर रहे हैं। अच्छा इनका अन्त ही लेना चाहिये"—इस विचार से उसने सेना को खेमा डालने की आज्ञा दे दी। सैनिक लोग स्नान आदि से निवृत्त हुए। निवृत्त होते ही उन्होंने देखा कि जिस पुरुष को जिस भोजन की इच्छा है उसी के उपयुक्त सामग्री ऋषि के शिष्य लाकर उपस्थित कर रहे हैं। इस प्रकार सब सेना ने बड़े आनन्द से वहाँ दिन बिताया। सबके चित्त में यह भाव हुआ कि इतना आनन्द तो हम घर पहुँचकर भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। महाराज का भी उनके उचित ही आतिथ्य हुआ। राजोचित अन्नपानादि उन्हें पूर्णरूप से मिले। इस प्रकार आतिथ्य प्राप्त कर महाराज विश्वामित्र चलने की इच्छा से फिर महर्षि वसिष्ठ के पास गये और आतिथ्य की प्रशंसा व धन्यवाद करते हुए उन्होंने यह भी प्रश्न किया कि "मेरे हृदय में एक संशय है कि आश्रम की कुटिया तो छोटी-सी दिखलाई देती है। इतनी सामग्री आपके पास कहाँ से आई कि मेरी सब सेना का सुन्दर रूप में आतिथ्य आपने कर दिया?" महर्षि वसिष्ठ ने अपनी गौ कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को दिखलाते हुए उत्तर दिया कि "हमारी यही सम्पत्ति है। इसकी कृपा से हम अनेक राजाओं का भी आतिथ्य कर सकते हैं। जो इच्छा करें—वह सामान इससे मिल जाता है।" महाराज विश्वामित्र का फिर मन पलटा और वे कहने लगे कि "ऐसी वस्तु की आपके यहाँ क्या आवश्यकता होती होगी? आज अकस्मात् मैं आ गया तब आपको सामग्री की आवश्यकता हुई, नहीं तो आप और आपके शिष्यों को कितना-सा सामान चाहिये? ऐसी वस्तु तो हम राजाओं के पास रहे तो हम उससे सदा उपयोग लेते रहें"। महर्षि वसिष्ठ ने उत्तर दिया कि "यदि नन्दिनी अपनी इच्छानुसार जाना चाहे तो आप ले जा सकते हैं। आप अतिथि हैं, आपका सम्मान हमें सब प्रकार करना है। किन्तु यदि वह इच्छानुसार आपके साथ जाना न चाहे तो हम विवश हैं। गौ पर बलात्कार नहीं किया जा सकता।" महाराज विश्वामित्र ने अपने भृत्यों को गौ को ले चलने की आज्ञा दी। किन्तु वह नन्दिनी गौ आँखों से अश्रुपात करती हुई वसिष्ठ ऋषि के चरणों के पास ही आकर बैठ गई। उसने यही भाव अभिव्यक्त किया कि "आप मुझे क्यों छोड़ते हैं? मैं आश्रम को छोड़कर जाना नहीं चाहती।" तब महर्षि वसिष्ठ ने विश्वामित्र से कह दिया कि "राजन्! गौ जाना नहीं चाहती और बलात्कार गौ पर हो नहीं सकता। इससे मैं इसके देने में समर्थ नहीं हूं।" महाराज विश्वामित्र को फिर क्षत्रियोचित अभिमान आया

और वे बड़े आवेश से बोल उठे कि "महर्षे, कोई भिखमंगा ब्राह्मण नहीं है जिसे देंगे या नहीं देंगे; कह दिया जाय। मेरे साथ बहुत बड़ा जन-बल है। उसकी सहायता से मैं उसे बाँधकर ले जा सकता हूँ और आप यदि बाधा डालेंगे तो शिष्यों सहित बँधे हुए आप भी घसीट कर ले जाये जायेंगे।" महर्षि वसिष्ठ ने हँसकर इतना ही उत्तर दिया "ऐसा नहीं हो सकता।" अस्तु, महाराज की आज्ञा से सेना के लोग गौ को पकड़ने के लिये झपटे किन्तु महर्षि वसिष्ठ के तेज के आगे किसी भी सामन्त या सैनिक का साहस नहीं हुआ कि गौ को पकड़ सकें। तब महाराज विश्वामित्र स्वयं खड़े हुये कि "हमारे पास भी क्षत्र-तेज रूप अस्त्र-बल है। हम अपने बल रूप तेज से इनको दबावेंगे।" वे अपने दिव्य-अस्त्रों का प्रयोग करने लगे किन्तु महर्षि वसिष्ठ के हाथ में केवल एक ब्रह्म-दण्ड था। वे इनके साथ अस्त्रों को विफल कर देते थे। अन्त में विश्वामित्र ने धनुष तोड़ कर फेंक दिया और यह कहा कि—

"धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे" ॥

अर्थात् "क्षत्रिय-बल को धिक्कार है। बल तो ब्रह्म-बल ही है। एक मात्र ब्रह्मदण्ड ने मेरे सब अस्त्रों को विफल कर दिया।" बस ऋचीक ऋषि के चरू का प्रभाव जाग उठा और इनने अपने सामन्तों को आज्ञा दे दी कि "तुम लोग जाकर राज्य का प्रबन्ध करो। मैं तो अब यहीं शक्ति प्राप्त करने के लिये जाता हूँ।" यह कहकर वे तपस्या करने चले गए और बहुत काल के तप के अनन्तर इन्होंने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। फिर भी जब तक पूर्ण काम इनमें न आया तब तक मन्त्र-द्रष्टा होने पर भी महर्षि वसिष्ठ इन्हें "राजर्षि" कहकर ही संबोधित करते रहे। इन्होंने वसिष्ठ के बहुत अपकार किए। उनके पुत्रादि का हनन् भी किया। किन्तु उन्होंने इन्हें "राजर्षि" कहना नहीं छोड़ा। जब एक दिन अपने किए पर पश्चाताप करते हुए ये वसिष्ठ ऋषि के चरणों पर जा गिरे तब इन्हें पूर्ण काम प्राप्त हुआ समझकर वसिष्ठ ने "ब्रह्मर्षि" कहा इत्यादि कथा पुराणों और महाभारत में विस्तार से वर्णित है। कहने का तात्पर्य यही है कि तपोबल से उत्पादक चरू में ही ब्राह्मणत्व स्थापित था। वही समय पर प्रकट हुआ— और जन्म अन्ततः क्षत्रिय से ही था। उसका आवरण हटाने को इतनी तपस्या करने की आवश्यकता हुई। इससे प्रत्युत् यही सिद्ध होता है कि विश्वामित्र के काल में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म से ही मानी जाती थी। यदि गुण, कर्म से मानी जाती होती तो इच्छा मात्र करते ही इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता। इतने तप आदि की आवश्यकता ही न होती। जैसा कि आजकल के गुण, कर्मवादी किसी के इच्छामात्र करते ही उसे ब्राह्मण-श्रेणी में मान लेते हैं। महर्षि विश्वामित्र और उनके वंश के अनेक ऋषि ऋग्वेद के बहुत बड़े अंश के द्रष्टा हैं। इससे प्राचीन काल में भी जब जन्मसिद्ध वर्ण व्यवस्था का होना पाया जाता है, तब इसे अनादि काल से ही जन्म सिद्ध कहना उचित होगा।

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी एक कथा कवष-ऐलूष की मिलती है कि ऋषियों ने सरस्वती नदी के तट पर एक सत्र (बहुत बड़ा यज्ञ जिसमें अनेक यजमान और बहुत से ऋत्विक् होते हैं) आरम्भ किया। उसमें एक संकर जाति का कवष नाम का पुरुष (इलूष का पुत्र) भी आकर सम्मिलित हो गया। उसे देखकर ऋषियों को बड़ा क्रोध हुआ कि यह शूद्र धर्मा संकर जाति का पुरुष किस प्रकार हमारे भीतर सम्मिलित होकर दीक्षा ग्रहण कर सकता है। उन्होंने इसे बलात्कार से निर्जल-प्रदेश में ले जाकर डाल दिया कि यहीं पड़ा रहे और यह प्यास से मर जाय—सरस्वती का जल भी न पी सके। जिससे इसे अपने कुकर्म का फल प्राप्त हो। अन्ततः वहीं पड़े हुए कवष को ईश्वर प्रसाद से "अपोनप्त्रिय" नामक वैदिक-सूक्त का भान हुआ। जिस सूक्त में कि वायु से जल बना लेने की प्रक्रिया का वर्णन है। उस सूक्त के प्रभाव से इसने वहीं निर्जल प्रदेश में जल का प्रादुर्भाव कर अपनी पिपासा को निवृत्त कर लिया। अकस्मात् एक नई नदी का प्रवाह आता देखकर यज्ञ करने वाले ऋषियों को आश्चर्य हुआ। वे उस जल का अनुसरण करते हुए उस स्थान तक जा पहुँचे और उसे नए सूक्त का द्रष्टा जानकर बड़े आदर से अपने भीतर सम्मिलित कर लिया कि अब इसका देवताओं से सम्बन्ध हो गया। अब इसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो गया। इस कथन को भी कई विद्वान् वर्ण परिवर्तन के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। किन्तु विचार करने पर इस कथा से भी जन्म-सिद्ध वर्ण व्यवस्था का प्रचलित होना ही सिद्ध होता है। यदि उस समय गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था प्रचलित होती तो जब यह ऋषि-मण्डली में जाकर यज्ञ करने को प्रस्तुत हुआ था—तब ही ब्राह्मण मान लिया जाता। ब्राह्मणोचित् कर्म के लिये प्रवृत्त हुआ और प्रवृत्त होने से ही सिद्ध है कि उस कर्म के उपयुक्त गुण भी इसमें होवेंगे ही। फिर गुण-कर्मानुसार यह ब्राह्मण क्यों न माना जाता? और इस पर इतना क्रोध करना और निर्जल प्रदेश में ले जाकर इसे डाल देना आदि कार्य भी उपयुक्त न होते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय भी वर्ण-व्यवस्था जन्म-सिद्ध ही प्रचलित थी। आगे जो ऋषियों ने इसका ब्राह्मणत्व स्वीकार किया वह तो उत्कट गुण देखकर ही किया। मन्त्र-दर्शन सबही ब्राह्मण नहीं कर सकते। हजारों में किसी एक को ही ईश्वरानुग्रह से मन्त्र-दर्शन होता था। इतना आश्चर्य-जनक बल इसे प्राप्त हुआ—इसलिए इस पर बहुत बड़ा ईश्वरानुग्रह समझा गया। और ऐसा उत्कट गुण देखकर ही इसे ब्राह्मण-श्रेणी में सम्मिलित किया गया। उत्कट गुण तो सब ही जगह नियमों के अपवाद रूप होते हैं। उन अपवादों से नियमों का भङ्ग नहीं माना जाता। जैसा कि गौ के मलरूप गोमय में उत्कट गुण देखकर उसकी परम पवित्रता समाज में स्वीकृत हुई है तो इससे सभी मलों से पवित्रता का सम्बन्ध नहीं मान लिया जाता। या किसी विशेष मृग के मांस रूप कस्तूरी में उत्कट गन्ध रूप गुण देखकर उसे पूजा आदि में भी स्वीकार किया गया तो इससे सब मांसों की अपवित्रता नहीं हट जाती। अपवाद, अपवाद ही रहते हैं। इसी प्रकार कवष का ब्राह्मणत्व भी अपवादरूप ही कहा जा सकता है। इससे वर्ण-व्यवस्था के नियम में कोई बाधा नहीं आती।

इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पुराणों में किसी व्यक्ति या सम्पूर्ण वंश का ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कहा गया है वहाँ भी किसी योग बल, तपो बल, या उत्कट देवता प्रसाद आदि कारण का अनुमान कर लेना होगा। कथा-प्रसङ्ग में उस कारण का उल्लेख नहीं हुआ। किन्तु बिना कारण के कोई कार्य हो नहीं सकता। इसलिए अनुमान से कारण अवश्य सिद्ध होगा। यों इतिहास रूप से वर्णित वर्ण-परिवर्तनों का समाधान हो जाता है। अब जहाँ-जहाँ ऐसे वचन पुराणों में प्राप्त हैं उनकी कुछ आलोचना कर देना और शेष रह जाता है। इस विषय में भी पहिले यह ध्यान कर लेना चाहिए कि प्रमाणों में श्रुति को मीमांसकों ने सबसे बड़ा प्रमाण कहा है। श्रुति के विरुद्ध स्मृति या पुराण के कोई भी वाक्य माने नहीं जा सकते। और स्मृति या पुराणों में जहाँ परस्पर विरोध प्रसङ्ग हो वहाँ स्मृति को ही बलवान् माना जाता है, क्यों कि आचार व्यवहार की व्यवस्था का निरूपण स्मृतियों का अपना विषय है। अपने विषय में शास्त्र की मुख्य रूप से प्रमाणता मानी जाती है। पुराणों का मुख्य विषय तो सृष्टि, प्रलय आदि का निरूपण है। आचार व्यवहार के निरूपण उनमें प्रसंगागत ही हैं। इसलिए वे स्मृतियों की अपेक्षा दुर्बल माने जाते हैं। दुर्बल प्रमाणों का अभिप्राय प्रबल प्रमाणों के अनुसार ही मानना यह मीमांसा की शैली है। जब पूर्व-पुष्पों में श्रुति और स्मृतियों के प्रमाणों से जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था ही स्थापित हो चुकी तब पुराणों में जो उसके विरूद्ध कोई वचन कहीं प्राप्त होते हों उनका श्रुति, स्मृति के अनुकूल ही अभिप्राय समझना मीमांसा शैली से उचित कहा जावेगा। उन वचनों में से भी कुछ वचनों श्रुति स्मृति के अनुकूल अभिप्राय यहाँ बतला दिया जाता है जिससे कि इस विषय में कोई शंका न रह जाय।

सब से प्रधान महाभारत में एक वचन मिलता है कि—

“न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्राह्मणा सृष्टपूर्वं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥”

अर्थात् वर्णों में कोई विशेष अर्थात् भेद नहीं है। जगत् को ब्रह्मा का बनाया हुआ होने के कारण ब्रह्म ही कहना चाहिए। भिन्न भिन्न कर्मों के कारण ही यह भिन्न भिन्न वर्णों में विभक्त हो गया। इसमें स्पष्ट ही कर्मकृत्-वर्ण व्यवस्था का आभास मिलता है। किन्तु इसका प्रकरण देखने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में कोई अङ्गों का भेद या मूत्र, पुरीषादि भेद नहीं है। ब्रह्मा की बनाई हुई मनुष्य-सृष्टि में सबके अङ्ग सन्निवेशादि समान ही हैं। अङ्ग आदि देखने से ब्राह्मण आदि जाति का ज्ञान नहीं हो सकता, अपितु वर्ण-भेद का ज्ञापक उनका कर्मभेद ही है। भिन्न-भिन्न कर्म देखकर ही वर्णों की पहिचान होती है। इस प्रकार प्रकरणानुसार कर्म के द्वारा वर्णों की पहिचान यहाँ बतलाई गई है। “कर्मभिः” यह तृतीया विभक्ति हेतु अर्थ में

नहीं, अपितु "जटाभिस्तापसः" इत्यादि के समान "इत्थंभूत लक्षणे" इस सूत्र से है। जैसे वहाँ "जटाओं से तपस्वी का ज्ञान होता है" यह अर्थ है इसी प्रकार यहाँ भी "भिन्न-भिन्न कर्मों से वर्णों का परिचय होता है।" इससे कर्मों में वर्ण परिचय की हेतुता है वर्णोत्पादन की हेतुता इससे सिद्ध नहीं होती।

अन्यत्र भी महाभारत में सर्प-योनि प्राप्त नहुष के साथ जो युधिष्ठिर का संवाद है उसमें सर्प की वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न होने पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया है कि "सत्य, दान, क्षमा, शील, अनृशंसता अर्थात् क्रूरता न होना, तप, और घृणा अर्थात् दया ये सब गुण जिसमें हों वही ब्राह्मण कहा जाता है।" पुनः सर्प ने पूछा कि "चारों वर्णों की व्यवस्था प्रमाणभूत है और वह जन्म से ही मानी जाती है ऐसे लक्षण तो कई एक शूद्रों में भी पाए जाते हैं फिर इन लक्षणों के अनुसार ही ब्राह्मणत्व कैसे माना जावेगा?" इस पर धर्मावतार युधिष्ठिर का स्पष्ट उत्तर है कि—

"शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न दृश्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प! ते शूद्रमिति निर्दिशेत्॥"

(महाभारत वन पर्व, अध्याय १८०)

इनका स्पष्ट अर्थ है कि "शूद्रों में भी यदि ये लक्षण मिलते हैं और द्विजों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में यदि नहीं मिलते तो उस शूद्र को शूद्र नहीं कहना चाहिए और ब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं कहना चाहिए। जहाँ ये लक्षण हों उसे ही ब्राह्मण कहना चाहिए और जिसमें ये लक्षण न हों उसे शूद्र कहना चाहिए।" इससे भी गुण-कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था सिद्ध होती है। किन्तु इसका भी तात्पर्य यही है कि इन लक्षणों को देख कर ब्राह्मण की पहिचान होती है। यह आगे स्पष्ट हो गया है। जब पुनः सर्प ने कहा कि "जाति अर्थात् जन्म को प्रमाण क्यों नहीं मानते"? तब युधिष्ठिर ने अपना अभिप्राय स्पष्ट प्रकट किया है कि—

"जातिरत्र महासर्प! मनुष्यत्वे महामते।
सङ्करात्सर्व वर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥"

अर्थात् हे महासर्प! मनुष्यत्व समान रहने के कारण जाति अर्थात् जन्म की परीक्षा बहुत कठिन है। कौन, किसकी सन्तान है इसकी परीक्षा कैसे की जाय? जब कि दुष्ट स्त्रियाँ व्यभिचार द्वारा सब वर्णों से सन्तान उत्पन्न कर लेती हैं। इसलिए परीक्षा का मुख्य साधन आचार ही है। इससे सूचित होता है कि इस कलियुग के आरम्भ काल में स्त्रियों का पतिव्रत धर्म बहुत

शिथिल हो चुका था। उनमें व्यभिचार प्रवृत्ति बढ़ चुकी थी। कौन किसकी सन्तान है-यह निश्चय करना कठिन था। इसलिए आचार देखकर ही वर्ण का निश्चय करना, तपोबल करना युधिष्ठिर ने उपयुक्त बतलाया। आचार के द्वारा वर्ण-परीक्षा प्राचीन काल में भी मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् में एक जबाला के पुत्र सत्यकाम का उपाख्यान है कि वह अपना उपनयन कराने को आचार्य के पास गया। आचार्य ने उससे पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है ? तब उसने उत्तर दिया कि मैंने अपनी माता से अपना गोत्र पूछा था; माता ने यह उत्तर दिया "बह्वं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। सोऽहं न वेद किं गोत्रस्त्वम सीति। सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथाः।" अर्थात् "मैंने बहुत मनुष्यों से सम्पर्क करते हुए युवावस्था में तुझे प्राप्त किया। इससे मैं नहीं कह सकती कि तू किस गोत्र का है। तू अपने को जबाला का पुत्र सत्यकाम ही बतला देना" यह सुनते ही आचार्य ने कहा कि, "समिधं सोम्य आहर उपत्वानेष्ये न त्वैतद-ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। न सत्यादगा इति" अर्थात् "तूने अपनी उत्पत्ति की दुर्बलता का विषय भी नहीं छिपाया। इतनी सत्य की रक्षा ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी में नहीं हो सकती। इसलिए मुझे निश्चय हो गया कि तू ब्राह्मण की ही सन्तान है। समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूँगा।" इस आख्यायिका में उत्कट सत्य भाषण से ब्राह्मणत्वकी परीक्षा सुस्पष्ट है। कई विद्वान् इस उपनिषद् की आख्यायिका से भी, गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करने का साहस करते हैं। किन्तु जब आचार्य गोत्र पूछकर उपनयन करते थे तब गुण, कर्म से वर्ण-व्यवस्था का प्रसंग ही कहाँ रहा ? इस बात पर वे ध्यान नहीं देते। अस्तु ! इसी प्रकार आचार द्वारा परीक्षा कर वर्ण का निश्चय करना उचित है— यही युधिष्ठिर का आशय प्रकट होता है। इससे यहाँ भी गुणों, कर्मों तथा वर्णों के पहिचानने में ही हेतु बतलाई गई है। वर्ण-परिकल्पना में नहीं।

इसी प्रकार "यक्ष-युधिष्ठिर संवाद" में भी कुछ विपरीत-सा आभास मिलता है। वहाँ यक्ष का प्रश्न है कि ब्राह्मणत्व किससे प्राप्त होता है—कुल से, आचार से, विद्या पढ़ने से या शास्त्र ज्ञान से ? इस पर युधिष्ठिर का उत्तर है कि—

"शृणु यक्ष ! कुलं तात ! न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।"

(म० भा० व० प० ३१३ अ०)

अर्थात् "ब्राह्मणत्व में कुल, स्वाध्याय, या शास्त्र ज्ञान ये कुछ भी कारण नहीं हैं; केवल वृत्त अर्थात् आचार ही ब्राह्मणत्व का कारण है। इसलिए ब्राह्मण को बड़े प्रयत्न से अपने वृत्त अर्थात् आचार की ही रक्षा करनी चाहिए।" इसका भी तात्पर्य आचार की रक्षा में ही है; जैसा कि आगे के पद्य में स्पष्ट कर दिया गया है।

महाभारत के जिस काल में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि निरन्तर युद्ध करने वाले और युद्ध के क्षत्रियों को शिक्षा देने वाले भी ब्राह्मण ही माने जाते रहे। कर्म के कारण क्षत्रिय जाति में परिवर्तित नहीं हुए, एवं सर्व ज्ञान सम्पन्न भीष्म क्षत्रिय ही माने जाते रहे। कर्ण ने अपना वर्ण छिपाकर परशुराम से शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की; किन्तु परशुराम को यह बात मालूम होते ही उन्होंने उसे विद्या से निर्वीर्य होने का श्राप दे दिया। एवं युद्ध छोड़कर धर्मान्तर में प्रवेश चाहने वाले अर्जुन को भगवद्गीता द्वारा उपदेश देकर भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षत्रियोचित धर्म में ही प्रवृत्त किया। भगवद्गीता में बार-बार यह उपदेश दिया कि "अपने धर्म का ही पालन करना सब वर्णों को उचित है।" उस जन्म सिद्ध वर्ण-व्यवस्था के इतनी दृढ़ता से पालन के समय में भी धर्मावतार युधिष्ठिर का गुण, कर्म से वर्ण बतलाना कहाँ तक संभव हो सकता है—यह प्रत्येक विचार शील समझ सकता है। इसलिए उनके वाक्यों का पूर्वोक्त तात्पर्य लगाना ही सर्वथा उचित होगा। आगे जब वे युद्ध समाप्ति के अनन्तर भीष्म पितामह से धर्म श्रवण करने गए; तब वहाँ भी उन्होंने वर्ण परिवर्तन के सम्बन्ध में भीष्म से प्रश्न किया है। यह अनुशासन पर्व में स्पष्ट है कि "अन्य वर्ण ब्राह्मणत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं?" इस पर धर्मज्ञ भीष्म पितामह का स्पष्ट उत्तर है—

> "ब्राह्मण्यं तात! दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः।
> परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर" ॥
>
> (महा० अनुशासन पर्व० अ० २७)

अर्थात् "क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं कर सकते। यह ब्राह्मणत्व सब प्राणियों का उत्कृष्ट स्थान है।" इसके अनन्तर अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने मताङ्ग की कथा सुनाई है। वह मताङ्ग एक संकर जाति का शूद्र था। उसने ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये घोर तप किया और इन्द्र जब प्रसन्न होकर वर देने आये, तब उसने ब्राह्मणत्व प्राप्ति का ही वर माँगा। इस पर इन्द्र ने स्पष्ट उत्तर दिया कि "ब्राह्मणत्व किसी अन्य वर्ण को प्राप्त नहीं हो सकता।" जब मातङ्ग ने कहा कि—

> "इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः।
> अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुयां कथम्।
> अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम्।"
>
> (अनु० प० अ० २९)

अर्थात्, "इतने अधिक काल तक मैंने ब्रह्मचर्य धर्म का पालन किया, एक पैर से खड़े होकर तपस्या की तथा अहिंसा, दम आदि का यथोचित पालन किया; तब भी मैं ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का अधिकारी क्यों नहीं हूं?" इस पर पुनः इन्द्र ने उत्तर इस प्रकार दिया कि—

"श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्तते ।
तदग्रन्थं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि ॥"

(अनु० प० अ० २९)

अर्थात्, "तपस्या से वही वस्तु प्राप्त की जा सकती है जिसकी प्राप्ति संभव हो। तपस्या के द्वारा ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसके बाद भी यदि तुम उस ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का प्रयत्न करोगे तो तुम्हारा शीघ्र ही नाश हो जावेगा।"

इस महाभारतोक्त मातङ्ग की कथा द्वारा गुण, कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानने वालों की जड़ ही कट जाती है। इतनी तपस्या और आचरण के अनन्तर भी यदि ब्राह्मणत्व प्राप्त न हुआ तो फिर वर्ण-परिवर्तन की आशा करना व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

कुछ विद्वान् बिना पूर्वापर पर्यालोचन के ही मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक से वर्ण परिवर्तन सिद्ध करना चाहते हैं—

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्याद् तथैव च।"

अर्थात्, शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। क्षत्रिय से उत्पन्न और वैश्य से उत्पन्नों की भी इसी प्रकार परिवर्तन व्यवस्था जान लेनी चाहिए। वे विद्वान् यह भी नहीं सोचते कि इस पद्य में कारण कुछ भी नहीं बतलाया गया है। बिना कारण के ही यदि यों ही वर्ण-परिवर्तन हो जाता है, तो फिर यह वर्ण-व्यवस्था क्या हुई; एक खिलवाड़ हो गया। अच्छा, तो हम इससे पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट कारण का उल्लेख बतला देते हैं। मनुस्मृति में उक्त श्लोक का पूर्व श्लोक इस प्रकार मिलता है कि—

"शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्या सप्तमाद् युगात्।"

इसका अर्थ है कि जो कन्या सन्तति ब्राह्मण से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न हुई हो, उसका सम्बन्ध यदि श्रेयान् उच्च वर्ण अर्थात्, ब्राह्मण से ही होता जावे तो वह निकृष्ट जाति भी सातवें कुल में जाकर उत्तम वर्ण प्राप्त कर लेती है। यहाँ "प्रजायते" पद से कन्या सन्तति ही लेना प्राप्त है। "प्रजायते" का अर्थ "प्रजनः" अर्थात् गर्भ धारण ही संस्कृत में सुप्रसिद्ध है। इससे इस पद्य का स्पष्ट तात्पर्य यह निकलता है कि शूद्रा स्त्री में कोई लड़की ब्राह्मण से पैदा हुई। उस लड़की का सम्बन्ध फिर किसी ब्राह्मण से ही किया गया हो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की कन्या से भी विवाह कर सकता है—यह धर्म शास्त्रों में विधि प्राप्त होती है और आपत्काल में किसी देश विप्लव या विवाहोपयुक्त कन्या न मिलने की

दशा में शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। किन्तु यह वर्णान्तर में विवाह करने की प्रथा कलियुग में पुराण वचनों से निषिद्ध ठहराई गई है।) और फिर उससे उत्पन्न लड़की का भी ब्राह्मण कुल में ही विवाह हो तो इस क्रम से सातवें कुल में जाकर उसे मातृ-दोष का निवारण हो जाता है और सातवें कुल में वह शुद्ध ब्राह्मण की लड़की कहलाने लगती है। उसी का स्पष्टीकरण पूर्वोक्त "शूद्रो, ब्राह्मणतामेति" इत्यादि पद्य में किया गया है कि क्रम से उत्तम वर्ण सम्बन्ध होने के कारण उसमें जो मातृ-दोष से शूद्रत्व था वह ब्राह्मणत्व रूप में परिवर्तित हो जाता है; इसी प्रकार यदि वह ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न कन्या शूद्र कुल में ही दी जाय, और उससे उत्पन्न कन्या भी फिर शूद्र कुल में ही जाय तो यों क्रम से सातबार सम्बन्ध हो जाने पर वह सातवीं बार की कन्या शुद्ध शूद्र कन्या कहलावेगी। उसमें जो पिता के सम्बन्ध से ब्राह्मणत्व का अंश था वह भी बार-बार नीच सम्बन्ध होने के कारण शूद्र रूप में परिणत हो जाता है। यदि वह कन्या शूद्रा स्त्री में उत्पन्न न होकर वैश्या-स्त्री में उत्पन्न हुई हो तो उसका क्रम से ब्राह्मण कुल में सम्बन्ध होने पर छठे बार में ही परिवर्तन हो जाता है और क्षत्रिय के गर्भ से उत्पन्न कन्या का पाँचवीं बार में ही परिवर्तन हो जाता है। यही व्याख्या उक्त पद्यों की सब ही व्याख्याकारों ने मानी है और कारण निर्देश होने के कारण युक्तियुक्त भी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी संकर जाति के प्रकरण में यही बात लिखी है कि—

"जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा"।

अर्थात् वर्ण-संकर-रूप कन्याओं का पूर्वोक्त रूप से उत्तम कुल में सम्बन्ध होता रहे तो सातवें या पाँचवें युग अर्थात् परिवर्तन में जाति का उत्कर्ष हो जाता है। अर्थात् मातृ-दोष हटकर शुद्ध-वर्णता उन्हें प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार ये सब वचन वर्ण-संकर रूप से उत्पन्न कन्याओं के विषय में लगते हैं। कलियुग में जब दोष देखकर वर्णान्तर विवाह निषिद्ध ठहरा दिया गया, तब इन वचनों का आजकल कहीं सम्बन्ध ही प्राप्त नहीं होता। पूर्वकाल में भी धर्मशास्त्रों में जहाँ वर्णान्तर में विवाह की आज्ञा दी गई थी वहाँ भी पहिले अपने समान वर्ण में विवाह कर बहु-विवाह प्रथा के प्रचलित रहने के कारण यदि अन्य स्त्रियों से भी विवाह करने की इच्छा हो तब उस दशा में वर्णान्तर में विवाह करने की अनुमति मात्र दी गई थी। यह कोई आवश्यक धर्म नहीं माना गया था। अस्तु, आजकल तो बहु-विवाह-प्रथा भी विधान द्वारा निषिद्ध ठहराई गई है। इसलिए इन बातों के विचार का कोई प्रसङ्ग ही नहीं उठता।

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि जब द्विजत्व संस्कारों से ही प्राप्त होता है तो शूद्रों को भी वह उन्हीं संस्कारों से क्यों नहीं प्राप्त हो जाता? किन्तु यह कहना भी युक्ति-विरुद्ध है। उत्तम मणि या मोती आदि में जो काल-वश या अपवित्र वस्तुओं के सम्बन्ध से मलिनता आ गई हो वही उनके संस्कार से दूर

की जा सकती है। शुद्ध पत्थर को संस्कार से मणि नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार द्विजों के कुल में उत्पन्न मनुष्यों में जो बीज गर्भ के कारण कुछ मलिनता है—वही संस्कारों द्वारा हटाई जाती है। संस्कार द्वारा अन्य वर्ण को अन्य रूप में ले जाना कभी नहीं हो सकता।

यह भी स्मरण रहे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों शब्द अपत्य प्रत्यय से ही सिद्ध होते हैं। ब्रह्म, क्षत्र विश शब्द भी वर्णों के वाचक मिलते हैं और इन शब्दों से अपत्यार्थक प्रत्यय होकर बने हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शब्द भी इन्हीं वर्णों के बोधक ग्रन्थों में देखे जाते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपने सदृश वर्ण में ही उत्पन्न अपत्यों का उस वर्ण में प्रवेश माना जाता है। अपत्य-प्रत्यार्थक शब्दों से जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण समर्थन हो जाता है। और ब्राह्मण शब्द के विषय में तो स्पष्ट पाणिनि मुनि का सूत्र है कि "ब्राह्मोऽजातौ" अर्थात् "ब्रह्मन्" शब्द से अपत्यार्थक प्रत्यय होकर भी ब्राह्मण शब्द जाति अर्थ में सिद्ध होता है। जाति से भिन्न और कोई अर्थ जहाँ विवक्षित हो वहाँ "ब्राह्म" शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का मुख्य कारण जन्म ही है—यह बात सब प्रमाणों और युक्तियों द्वारा सिद्ध की गई। संस्कृत में भी हमने एक "चातुर्वर्ण्य" नाम का लघु-निबन्ध लिखा है—जिसमें अन्यान्य सब वचनों की संगति लगाई गई है। जिन्हें अधिक जिज्ञासा हो वे उस निबन्ध का भी अवलोकन करें।

पैंसठवां पुष्प

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १४।१५ ॥

पूर्व पद्य में जो कहा गया कि चारों वर्णों का बनाने वाला होकर भी मैं अकर्त्ता ही हूं। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि मुझ पर किन्हीं कर्मों का लेप नहीं होता। इसका कारण दूसरे चरण में बताते हैं कि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा अर्थात् इच्छा नहीं होती। इसका विवरण पूर्व भी हो चुका है कि कर्म स्वयं आत्मा पर लेप करने वाला वा आत्मा का बन्धन करने वाला नहीं है, अपितु मनुष्य की बुद्धि में जो राग-द्वेष होते हैं। वे ही बुद्धि पर लेप करने वाले वा आत्मा का बन्धन करने वाले हैं। राग-द्वेष की प्रेरणा से जो कर्म किये जाते हैं, वे ही बांधने वाले होते हैं। राग वा द्वेष मनुष्य के फल के प्रति ही हुआ करते हैं। सामान्य मनुष्यों की प्रवृत्ति का विवरण पूर्व किया जा चुका है कि पहिले मनुष्य को फल की इच्छा होती है। फल की इच्छा से फिर उपाय की इच्छा होती है। उससे प्रयत्न होकर शरीर चेष्टा रूप कर्म हुआ करते हैं। यह साधारण मनुष्यों का क्रम ईश्वर पर लागू नहीं है। क्योंकि ईश्वर को न फल की इच्छा होती है, न उनके फल में राग-द्वेष है। तब ईश्वर के जो कर्म होते हैं वे राग-द्वेष की प्रेरणा से नहीं होते, अपितु सामान्य रूप से सब मनुष्यों को लाभ पहुँचाने के लिये ही हुआ करते हैं। जैसा कि सूर्य भगवान् जो ताप वा प्रकाश देते हैं; वे किसी के राग वा द्वेष से नहीं देते, अपितु सर्व साधारण के उपकार के लिये ही उनकी उष्णता वा प्रकाश होते हैं। यही कारण है कि उनकी उष्णता वा प्रकाश किसी के प्रति न्यूनाधिक नहीं होता, अपितु सबको बराबर मिलता है।

कई व्याख्याकार इसका सम्बन्ध "वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्" इस ब्रह्म सूत्र के साथ जोड़ते हैं। उस ब्रह्म सूत्र का अर्थ है कि भगवान् किसी प्राणी को सुख देते हैं और किसी को दुःख देते हैं; इससे उनमें विषमता अर्थात् भेद-भाव प्राप्त होगा और बहुत से प्राणियों को दुःख देने के कारण ईश्वर में निर्दयता भी प्राप्त होगी। इसका उत्तर उस सूत्र में दिया गया है कि ईश्वर प्राणियों को अपने-अपने कर्मानुसार फल देता है, इसलिये उसमें कोई विषमता वा निर्दयता का प्रसङ्ग ही नहीं होता। लोक में भी कोई राजा वा उसका नियुक्त किया हुआ जज किसी अपराधी को उसके कर्मानुसार क्रूर भी दण्ड दे तो वह निर्दय नहीं कहा जाता, क्योंकि अपराधी को दण्ड उसके कर्मानुसार मिलना ही चाहिये।

यदि अपराधी भी दण्ड न पावेंगे तो संसार में अपराधियों की संख्या बहुत बढ़ जायेगी। इसी प्रकार यदि ईश्वर भी प्राणियों को अपने कर्मों का फल न दे तो पाप करने वालों की संख्या बहुत बढ़ जाय और संसार का चलना कठिन हो जाय। इसी बात का सम्बन्ध वे व्याख्याकार इस श्लोक से भी लगाते हैं कि मैं फलेच्छा से वा राग-द्वेष से किसी प्राणी को सुख-दुःख नहीं देता, इसलिये उन कर्मों का लेप भी मुझ पर नहीं होता। मैं तो जैसे को तैसा फल दे देता हूँ।

किन्तु इस प्रकार की व्याख्या से इस पद्य का अर्थ संकुचित हो जाता है। ईश्वर का कार्य केवल जीवों को फल देना ही नहीं है, किन्तु जगत् का निर्माण जगत् का पालन और समय पर संहार ये सभी ईश्वर के कार्य हैं। सभी के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि मुझपर इन कर्मों का कोई भी लेप नहीं होता; इसलिए इस पद्य की व्यापक रूप में ही पूर्वोक्त क्रम से व्याख्या करना उचित है कि कर्म फल की इच्छा न रहने के कारण ही कर्मों का फल मुझे नहीं होता। इस विषय में जैन दर्शन का सिद्धान्त भी हम पूर्व में दिखा चुके हैं कि उस दर्शन में "आस्रव" नाम का एक पदार्थ माना जाता है, वह राग-द्वेष रूप ही है। वह ही कर्मों को आत्मा पर लादता है और उसका विरुद्ध एक "संवर" नाम का तत्व है, वह आत्मा के कर्म सम्बन्ध को रोकता है।

हमारे वैदिक दर्शनों में इस प्रकार के कोई तत्त्व तो नहीं माने गये, किन्तु सिद्धान्त का तो समर्थन अवश्य मिलता है। विशेष कर भगवद्गीता में तो यह बार-बार स्पष्ट किया गया है कि फल के प्रति राग-द्वेष होने से ही आत्मा बन्धन में आता है। यदि फल की इच्छा ही न हो तो कर्म करते रहने पर भी न आत्मा में उनका लेप होता है न वे कर्म आत्मा के बन्धक होते हैं। धर्म शास्त्रों में भी ऐसे वचन मिलते हैं कि "क्रियमाणोपकारे तु हते विप्रे न पातकम्" अर्थात् चिकित्सा आदि उपकार करते-करते ब्राह्मण आदि की मृत्यु हो जाय तो चिकित्सक को कोई पातक नहीं लगता। इससे भी बुद्धि की ही प्रधानता सिद्ध होती है कि बुद्धि में द्वेष हो तभी पातक होता है। हित बुद्धि से उपकार किया जा रहा हो तो पातक नहीं होता। इस विषय को इस प्रकार भी समझा जा सकता कि जो प्रातिस्विक रूप से प्रत्येक कर्म करता है वही उस कर्म का भोक्ता होता है। सामान्य रूप से कर्म करने वाले पर उन कर्मों के फल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसा कि मेघ सब बीजों को अङ्कुरादि रूप से परिणत करने में साधारण कारण है। वर्षा होने पर सब बीज अपने-अपने अङ्कुरों के रूप में उग जाते हैं। मेघ का उनसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता, इसी प्रकार सामान्य कारणों पर कार्य का कोई लेप वा प्रभाव नहीं है। अपने-अपने प्रातिस्विक कर्मों का ही लेप वा प्रभाव मनुष्यादि प्राणियों पर होता है। वे प्रातिस्विक कर्म प्रायः राग-द्वेष आदि की प्रेरणा से ही होते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कर्मों के लेप में राग-द्वेष आदि ही मुख्य कारण हैं।

पद्य के उत्तरार्द्ध में यह बताया गया है कि मुझ परमात्मा को जो इस प्रकार जान लेता है वह भी कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता। परमात्मज्ञान कर्मबन्धन से मुक्त कराने वाला है, यह सभी शास्त्र मानते हैं। और यह भी आशय है कि परमात्मा निर्लिप्त भाव से कर्म करता है। इस प्रक्रिया को समझने वाला स्वयं भी उसी प्रकार कर्म करने का अभ्यास करता है और इस प्रकार कर्म करने पर वह भी कर्मबन्धन से अवश्य मुक्त हो जायगा ॥१४॥

पूर्वोक्त जनक आदि के दृष्टान्त का पुनः स्मरण कराते हैं कि पूर्व में जनकादि राजर्षि भी मोक्ष की इच्छा से, इसी प्रकार जानकर, अनादि परम्परा से, कर्म करते रहे हैं। उन्हीं के मार्ग पर चलते हुए तुम भी कर्म ही करते रहो।

धर्म शास्त्रों में धर्म के चार लक्षण बताये हैं।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

यहाँ लक्षण शब्द का अर्थ है : ज्ञान कराने वाला, धर्म का ज्ञान इन चार प्रकारों से ही होता है। सबसे मुख्य धर्म जानने का प्रमाण श्रुति है। वह सबसे प्रबल होती है। उससे विरुद्ध होने पर कोई भी प्रमाण नहीं माना जाता। जिस विषय में श्रुति ने कुछ भी नहीं कहा है वा संक्षिप्त रूप से कोई आज्ञा दी है उस विषय में स्मृति भी प्रमाण होती है। श्रुति की संक्षिप्त उक्ति का विस्तार स्मृतियों से ही समझा जाता है। और कई विषय जिनका विधि वा निषेध श्रुति में कुछ भी न हुआ हो, उनके विषय में स्मृति की आज्ञा भी सर्वथा माननीय है। किन्तु श्रुति से विरुद्ध होने पर स्मृति सर्वथा अप्रमाण मानी जाती है। तीसरा धर्म में प्रमाण सदाचार है। जहाँ श्रुति और स्मृति दोनों मौन हैं; वहाँ श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण देखकर ही धर्म का निर्णय किया जाता है। श्रुति और स्मृति से विरुद्ध होने पर सदाचार सर्वथा अप्रमाण हो जाता है। शास्त्र की मर्यादा ऐसी ही है। किन्तु महाभारत में युधिष्ठिर आदि ने कई जगह सदाचार को ही सबसे मुख्य कहा है - उनका आशय यही है कि श्रुति स्मृति का आशय समझना सर्व साधारण के लिए बहुत कठिन होता है। इसलिए सर्व साधारण के लिए यही सुगम मार्ग है कि वे श्रेष्ठ पुरुषों को जैसा आचरण करते देखें; वैसा ही आचरण अपने आप भी करें। इसीलिए सदाचार रूप प्रमाण को सर्वोपयोगी होने के कारण सर्व श्रेष्ठ प्रमाण कहा गया है। और जो सदाचार श्रुति वा स्मृति के विरुद्ध न हो प्रत्युत अनुकूल हो उसे तो मुख्य प्रमाण मानने में कोई सन्देह ही नहीं हो सकता।

इसीलिए यहाँ बार-बार सदाचार की ओर भगवान् ध्यान दिलाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ श्रुति-स्मृति आदि की व्याख्या में सन्देह हो, वा श्रुति-स्मृति में जहाँ विकल्प बताया हो, वहाँ भी सदाचार से ही निर्णय

करना आवश्यक होता है। यहाँ भी ऐसी ही बात है कि मुमुक्षु दशा में वा ज्ञान की परिपक्व दशा में; संन्यास और कर्मयोग का विकल्प ही श्रुति आदि में प्राप्त होता है; जैसा कि तृतीयाध्याय के आरम्भ में ही भगवान् ने कहा है कि दोनों प्रकार की निष्ठा मैंने बताई है। तब शास्त्रों में विकल्प होने से सदाचार की ही शरण लेना आवश्यक हो गया। यद्यपि यहाँ सदाचार में भी दोनों मार्ग देखे जाते हैं। शुकदेव आदि कर्म परित्याग के आदर्श भी मिलते हैं। और जनक आदि कर्मयोग के भी। इस दशा में सदाचार से भी विकल्प ही प्राप्त होगा। किन्तु अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिये उसे राजर्षि जनक आदि के ही सदाचार का अनुसरण करना चाहिये। यह भगवान् का आशय प्रतीत होता है।

व्याख्याकार भी प्रायः ऐसा ही लिखते हैं कि तुम यदि अभी तत्त्ववेत्ता नहीं हुए तो ज्ञान की परिपक्वता के लिये कर्म करते रहो और यदि अपने को पूर्ण तत्त्ववेत्ता मानते हो तो लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहो। दोनों ही दशा में कर्म करना सदाचार के अनुसार तुम्हे आवश्यक है। यह हुई कर्म सामान्य की बात; अब प्रकृत में जो युद्ध रूप कर्म के लिये अर्जुन को प्रेरणा की जाती है; उस विषय में भी शास्त्र वचनों से सन्देह प्राप्त होता है। शास्त्रों में ऐसी भी आज्ञा है कि गुरु, ब्राह्मण आदि को किसी दशा में भी नहीं मारना चाहिये और यह भी वचन मिलता है कि—

"गुरुं वा ब्राह्मणं वापि आचार्यं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥"

अर्थात् गुरु हो, ब्राह्मण हो वा आचार्य आदि कोई भी हो, यदि वह अपने को मारने के लिये आया हो तो उसे मार ही देना चाहिये। उसमें कोई हिंसा आदि का विचार नहीं करना चाहिये। इस दशा में शास्त्र से सन्देह ही रहता है कि प्रकृत में कौन-सा वचन माना जाय। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वचन में "अपि" शब्द आ जाने से मीमांसा की दृष्टि से उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, अपितु आततायी अर्थात् वध के लिये उद्यत को अवश्य मारना; इस पर ही बल है। इसलिये यह वचन आचार्य-गुरु आदि के अतिरिक्त स्थल में भी चरितार्थ हो सकता है।

इस प्रकार शास्त्र के वचनों में सन्देह ही रह जाता है। इसलिये भी सदाचार की ओर बार-बार ध्यान दिलाना भगवान् को उचित प्रतीत होता है। क्षत्रियों का सदाचार ऐसा ही रहा है कि उन्होंने अवसर पड़ने पर गुरु आदि से भी युद्ध किया। जैसा कि इसी युद्ध में उपस्थित आचार के आदर्श भूत भीष्म भी अपने गुरु परशुराम से युद्ध कर चुके हैं, इत्यादि विषयों का संकेत इस पद्य में समझ लेना चाहिये। अस्तु! इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त मनुस्मृति के पद्य में चौथा धर्म का लक्षण एक और शेष रह जाता है कि जो अपने आत्मा को प्रिय हो; उसे भी

धर्म मानना चाहिये। इसे धर्म लक्षणों में सबके अन्त में कहा गया है और उस पद्य में पूर्व-पूर्व कहे हुए प्रमाण को प्रबल माना जाता है। इस प्रकार से यह सबसे दुर्बल सिद्ध होता है। इसका प्रसङ्ग कहीं ऐसे ही अवसर पर आ सकता है कि जहाँ वेद, स्मृति, सदाचार, इन तीनों से कोई निर्णय न होता हो। जैसा कि कवि कुल गुरु कालिदास कृत "अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक" में जब दुष्यन्त ने प्रथमतः शकुन्तला को देखा और उसके मन में यह शङ्का हुई कि यह ब्राह्मण कन्या हो तो मेरा इससे अनुराग अधर्म होगा। वहाँ उसके मन में यह विचार आया कि—

असंशयं क्षत्र परिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः॥

अर्थात् यह शकुन्तला अवश्य ही क्षत्रिय के विवाह योग्य है, क्योंकि मेरे धर्मशील मन में इसकी अभिलाषा हुई है। सत् पुरुषों को सन्देह स्थल में अपनी चित्त वृत्ति को ही प्रमाण मानना आवश्यक होता है। यहाँ "सतां" पद आया है और पूर्वोक्त स्मृति के पद्य में भी "आत्मनः प्रियम्" लिखा है। इसका आशय है कि आत्मा सदा ही धार्मिक कार्यों का पक्ष पाती है। जब कोई मनुष्य प्रथम बार किसी मद्य की दुकान पर वा वेश्या गृह में जाने को प्रवृत्त होता है, तो भीतर से उसे रोकने की प्रवृत्ति का अनुभव होता है। पैर थर्राने लगते हैं। बार-बार मन में आता है कि मुझे नहीं जाना चाहिये। आगे जब वह हठ-पूर्वक दुराचार में प्रवृत्त हो ही गया तो फिर आत्मा की रोकने की प्रवृत्ति भी दब जाती है। यही दुष्यन्त के "आर्यं मे मनः" पदों से सूचित हुआ है कि मेरा मन इस प्रकार दुराचारों की प्रवृत्ति से दूषित नहीं हुआ है। इसलिये वह प्रमाण रूप से ग्रहण करने योग्य है। इसका विवरण हम भूमिका प्रकरण में पाश्चात्यों के माने हुए मनोदेवता की आलोचना में कर चुके हैं। विशेष जिज्ञासा के लिये उसी प्रकरण को देखना चाहिये।१५।

छाछठवां-पुष्प

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

इन तीनों पद्यों पर व्याख्याकारों के बहुत मतभेद हैं और कई व्याख्याकारों ने बहुत विस्तार से व्याख्याएँ लिखी हैं। इनका अक्षरार्थ यह है कि कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ? इस विषय में कवि अर्थात् बहुत बड़े-बड़े विद्वानों को मोह हो जाता है। मैं उस कर्म वा अकर्म का तत्त्व तुझे खोलकर बता देता हूँ। जिसे जानकर तू अशुभ अर्थात् पाप से वा पाप युक्त संसार से मुक्त हो जायगा ॥१६॥

कर्म का भी तत्त्व जानने योग्य है और विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म का भी तत्त्व जानने योग्य है। एवं अकर्म अर्थात् कर्म के अभाव का भी तत्त्व जानने के योग्य है। कर्म की गति अर्थात् ज्ञान बहुत गहन अर्थात् गम्भीर है ॥१७॥

जो कर्म में अकर्म देखे और अकर्म में कर्म देखे, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् कहाने योग्य है, वही सच्चा कर्मयोगी है और उसे उन्हीं सब कर्मों का करने वाला समझना चाहिये। अर्थात् सब कर्मों का फल उसे प्राप्त हो जाता है ॥१८॥

यहाँ प्रथम पद्य में "कर्म" और "अकर्म" दो का ही उल्लेख है। किन्तु दूसरे पद्य में "विकर्म" नाम से तीसरा प्रतिषिद्ध कर्म और सम्मिलित कर दिया है। प्रकरण संगति के लिए प्रथम पद्य में जो "अकर्म" पद आया है उसमें नञ् समास है; उस नञ् के अभाव और अप्रशस्तता ये दोनों अर्थ कर लेना उचित होगा। और तीसरे पद्य में भी "अकर्म" पद से विरुद्ध अर्थात् प्रतिषिद्ध कर्म और कर्म का अभाव दोनों ही ले लेना उचित होगा। इससे पद्यों का यह अभिप्राय निकलता है कि जिसे स्थूल दृष्टि से शुभ कर्म समझा जाता है, उसमें भी जो सूक्ष्म दृष्टि से विरुद्ध कर्म वा कर्म का अभाव देखता है और विरुद्ध कर्म वा कर्म के अभाव में भी जो कर्म देखता है वह बुद्धिमान् है इत्यादि रूप से प्रशंसा की गई है।

आदि के दो पद्य तो तीसरे पद्य के भूमिका रूप ही हैं, उनमें तो कोई मतभेद का स्थान नहीं, किन्तु तीसरे पद्य के तात्पर्यार्थ में बहुत मत भेद हैं।

श्री शङ्कराचार्य इसका यह तात्पर्य बताते हैं कि देह, इन्द्रिय आदि का कर्म जिस समय हो रहा हो उस समय भी आत्मा में कोई कर्म नहीं है। वह सदा ही निर्लिप्त अकर्त्ता है, इस बात को जो विचारता रहता है और स्थूल दृष्टि से जिस समय देह, इन्द्रिय आदि में कोई कर्म नहीं है अर्थात् वे चुप-चाप हैं, उस समय भी उनमें कर्म है। क्योंकि प्रवृत्ति की तरह निवृत्ति भी कर्म ही है। अर्थात् कर्म को रोकना भी एक कर्म ही है। पहले तीसरे अध्याय के पाँचवे श्लोक में कह आये हैं कि प्रकृति के गुण सदा क्रियाशील हैं। वे अपने बनाये हुए देह, इन्द्रिय आदि से भी सदा कर्म कराते रहते हैं। उस स्वाभाविक कर्म को रोकने के लिए भी प्रयत्न की आवश्यकता होगी। इस प्रकार चुप-चाप बैठे रहने के समय भी कर्म को प्रयत्नपूर्वक रोकना भी कर्म हो गया।

जिस प्रकार नाव वा रेल गाड़ी में दौड़ता हुआ मनुष्य अपने आस-पास के वृक्ष आदि में गति न होने पर भी गति देखता है और दूर से दिखाई देने वाले, चलते हुए, मनुष्यों को भी स्थिर रूप सा देखता है, उनमें गति का भान नहीं होता। इसी प्रकार सब प्राणियों के सदा स्थिर आत्मा में मैं ही चलता हूँ, मैं अमुक व्यवहार करता हूँ, इत्यादि रूप से गति की भ्रान्ति हो रही है। और चुप-चाप बैठने की दशा में देह आदि में गति रहने पर भी चुप-चापपन की भ्रान्ति हो रही है। उसी भ्रान्ति के निवारण के लिए भगवान् ने यह उपदेश दिया है कि आत्मा को सदा अक्रिय समझना चाहिये। और प्राकृतिक देह आदि को सदा क्रियाशील ही समझना चाहिये। ऐसा यथार्थज्ञान होने पर ही अशुभ संसार से मोक्ष होगा और तभी यथार्थ द्रष्टा मनुष्य बुद्धिमान् कहा जायेगा। और सब उत्तम कर्म करने का फल-चित्त शुद्धि रूप भी उसे प्राप्त होगा।

हम आरम्भ में कह आये हैं कि वर्तमान में श्री शङ्कराचार्य से पुरानी कोई गीता की व्याख्या उपलब्ध नहीं है, किन्तु श्री शङ्कराचार्य ने कई जगह अपने से पुराने व्याख्याताओं का खण्डन किया है। इससे विदित होता है कि उनसे प्राचीन भी गीता की व्याख्यायें थीं। यही बात इस पद्य की व्याख्या में भी हुई है। श्री शङ्कराचार्य ने अपने से प्राचीन व्याख्याताओं का यह मत उद्धृत किया है कि वे इस पद्य का ऐसा आशय मानते थे कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों में जो अकर्म देखता है, अर्थात् नित्य-नैमित्तिक कर्मों का कोई फल नहीं होता, इस कारण निष्फल होने से उसे अकर्म ही समझना चाहिये और नित्य नैमित्तिक कर्मों का न करना जो अकर्म है उस पाप का उत्पादक होने के कारण कर्म ही समझना चाहिये। इस प्रकार समझने वाला मनुष्य ही बुद्धिमान कहा गया है। इस प्राचीन मत का खण्डन वे इस प्रकार करते हैं कि नित्य-नैमित्तिक कर्म भी तो प्रयत्न जन्य होने से कर्म ही हैं, उन्हें अकर्म समझना तो भ्रान्तिरूप अन्यथा ज्ञान होगा। फिर भ्रान्ति वाला मनुष्य बुद्धिमान् कैसे कहा गया और उसका अशुभ संसार से मोक्ष कैसे बताया गया। अन्यत्र कहीं भी शास्त्र में ऐसा विधान

भी नहीं है कि नित्य नैमित्तिक कर्मों को अकर्म ही समझो। वे सर्वथा निष्फल हैं; यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म वा ग्रहण-स्नान आदि नैमित्तिक कर्म न करने से जो पाप होता, उसका निवारण करना ही उनका फल है। फिर उन्हें अकर्म कैसे कहा जाय? इसी प्रकार उन नित्य-नैमित्तिक न करने से जो पापोत्पत्ति मानी जाती है; वह भी ठीक नहीं, क्योंकि अभाव से भाव उत्पन्न होने का श्रुतियों ने सर्वथा निषेध किया है। जहाँ स्मृतियों में नित्य नैमित्तिक न करने से पाप बताया गया है। उसका आशय यही है कि सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म के समय जो दूसरा कोई काम (क्रीड़ा, स्वाप आदि) किया जायगा, वही कर्म पाप का उत्पादक होगा, इसलिये कर्म ही पापजनक है, कर्म का अभाव पापजनक नहीं, अस्तु।

श्री रामानुजाचार्य अकर्म का अर्थ ज्ञान करते हैं और इस पद्य से ज्ञान और कर्म का समुच्चय अर्थात् सहयोग निकालते हैं कि कर्म करने की दशा में भी जो अकर्म अर्थात् ज्ञान का अनुसन्धान करता रहता है और अकर्म अर्थात् ज्ञान के समय भी जो कर्म करता रहता है वही बुद्धिमान् है, इत्यादि।

श्री वल्लभाचार्य के नाम से उनके आसनासीन किन्हीं वल्लभाचार्य की जो व्याख्या मुद्रित है। उसमें वे लिखते हैं कि कर्म में अर्थात् कर्म की सामग्री आदि सब में जो अकर्म अर्थात् ब्रह्म को देखता है, जैसा कि आगे "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इत्यादि पद्य में कहेंगे और अकर्म शब्द से प्रतिषिद्ध कर्म कहा गया, वा अनधिकारी का कर्म छोड़ देना भी अकर्म कहा जा सकता है। उन दोनों अकर्मों में बन्धन अर्थात् पापजनक होने के कारण जो कर्म देखता है; वही बुद्धिमान् है, इत्यादि।

श्री वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि पुष्टि मार्ग में भगवदाज्ञा से किया जाने वाला कर्म ही यहाँ कर्म शब्द से विवक्षित है, वह किसी प्रकार बन्धक नहीं हो सकता, इस कारण उसे जो अकर्म समझता है और लौकिक दृष्टि से न करने योग्य समझा जाने वाले अकर्म को भी भगवदाज्ञा सिद्ध होने पर जो कर्म अर्थात् कर्तव्य समझ लेता है; वही बुद्धिमान् है; इत्यादि।

इससे अर्जुन को यह संकेत किया कि जिस युद्ध को तुम न करने योग्य मान रहे हो; उसे भी मेरी आज्ञा समझकर कर्तव्य मानोगे तो बुद्धिमान् गिने जावोगे और सब सत्कर्मों के फल को प्राप्त कर लोगे।

श्री नीलकण्ठ जी ने प्रथमतः शाङ्करभाष्य के अनुसार ही श्लोकार्थ किया और अन्य एक दो व्याख्याताओं का खण्डन भी किया, किन्तु आगे "वस्तुतस्तु" कहकर विस्तार से कई प्रकार से श्लोक का अर्थ दिखाया। उनमें से भी मुख्य पक्ष यहाँ दिखा दिया जाता है—

कर्म शब्द से कर्म, विकर्म, अकर्म तीनों लिये जाते हैं, उनमें अकर्म अर्थात् विरुद्ध दर्शन जो पुरुष करता है। जैसे कि यज्ञ यद्यपि विहित कर्म है, तथापि यदि वह श्रद्धाहीन पुरुष के द्वारा किया जाय तो व्यर्थ होने के कारण अकर्म कहा जायेगा। दम्भ अर्थात् ढोंग से यदि किया जाय तो वही पापजनक होने के कारण विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म कहा जायेगा। ढोंग से किये जाने वाले यज्ञादि भी पापजनक होते हैं, यह अन्यत्र महाभारतादि वचनों से स्पष्ट है। (वचन नीलकण्ठी टीका में उद्धृत है) इसी प्रकार चुपचाप बैठना, कुछ न करना जो लोक दृष्टि से अकर्म कहलाने योग्य हैं, वह भी यदि अपने सामने गो-ब्राह्मण आदि की हत्या हो रही हो और स्वयं उनके बचाने में समर्थ होने पर भी चुप-चाप रहे तो वह अकर्म पापजनक होने के कारण विकर्म रूप ही उचित दृष्टि से कहा जायगा। और "दीक्षितो न ददाति" (यज्ञ दीक्षा जिसने ग्रहण कर ली है उसे दक्षिणा दान के पहले अन्य दान नहीं करना चाहिये) अथवा जैसा गीता के अन्त में "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इत्यादि वाक्य से भगवान् की शरणागति को मुख्य माना गया है, ऐसे स्थलों में चुपाचाप रहना ही धर्म-जनक होने से सत्कर्म कहलाने योग्य हो जाता है।

ऐसे ही प्राणी की हिंसा यद्यपि स्वरूपतः विकर्म ही कही जा सकती है, किन्तु यज्ञ में किया हुआ पशु का आलम्बन सत्कर्म रूप हो जाता है। एवं

बहूनां भवति क्षेमस्तस्य पुण्यप्रदो वधः।

"जहाँ एक दुष्टकर्म करने वाले हिंसक पशु आदि को मारने से बहुतों की रक्षा होती हो; उसका मारना भी पुण्य जनक है। ऐसे स्थल में भी हिंसा सत्कर्म रूप हो जाती है। महाभारत कर्ण पर्व में जहाँ अर्जुन अपने गाण्डीव धनुष की निन्दा सुनकर युधिष्ठिर को मारने के लिए प्रस्तुत हुआ है, वहाँ भगवान् ने ऐसे ही दृष्टान्त बताकर उसका प्रबोध किया है कि जहाँ पाप रूप कर्म भी धर्म हो गये हैं और धर्म भी अधर्म रूप में परिणत हो गये हैं। यही हिंसा रूप कर्म यदि बिना इच्छा से किसी कीट-पतङ्ग आदि का बध हो जाने पर अकर्म रूप कहा जायेगा। इसी प्रकार कोई चिकित्सक गो, ब्राह्मण आदि की चिकित्सा (आपरेशन से) कर रहा हो और उसकी अच्छी इच्छा रहने पर भी अकस्मात् उसकी मृत्यु हो जाय तो वह पुण्य-पाप की उत्पादिका न होने से अकर्म ही कहा जायेगा। जैसा कि धर्म शास्त्रों में स्पष्ट वचन है कि—

"क्रियमाणोपकारे तु हते विप्रे न पातकम्"

(अर्थात् उपकार करते करते भी किसी ब्राह्मण की मृत्यु हो जाय, तो उससे कोई पातक नहीं होता)

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्ट कारिणि।

इस प्रकार कर्म, विकर्म, अकर्म तीनों यथार्थ दृष्टि से लोक विपरीत भाव

देखने वाले को ही भगवान् ने बुद्धिमान् और सब कर्मों का यथार्थ रूप से करने वाला कहा है। यह श्री नील कण्ठ जी की व्याख्या व्यापक रूप होने के कारण युक्तियुक्त प्रतीत होती है। इसके आगे जो उन्होंने कई अन्य पक्ष भी लिखें हैं वे जटिल और प्रकृत विषम में अनुपयुक्त से ही प्रतीत होते हैं। अतः उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जाता।

श्री मधुसूदन सरस्वती एक व्याख्या तो श्री शङ्कराचार्य के अनुसार ही करते हैं। किन्तु दूसरी ज्ञान पक्ष की व्याख्या भी करते हैं। उसकी उपपत्ति यह बताते हैं कि यहाँ भगवान् ने इस कर्म तत्त्व को जानकर "अशुभ" अर्थात् संसार से मुक्त हो जाना फल स्वरूप बताया है और संसार से मोक्ष बिना ज्ञान से हो नहीं सकता। श्रुति में स्पष्ट घोषणा है कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विधतेऽयनाय॥ अर्थात् परमात्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण रूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है और कोई मार्ग नहीं है। अशुभ संसार से मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान का उपदेश ही करना भगवन् को उचित था। वह भी इस पद्य में सूचित किया है कि कर्म अर्थात् कर्मजनित दृश्य संसार में जो कर्म रहित परमात्मा को देखे और अकर्म अर्थात् परमात्मा में कर्मभूत दृश्य जगत् को देखे—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा में ही आरोपित है; परमात्मा से अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं, इस प्रकार जो देखे वह बुद्धिमान् है, योग युक्त है अर्थात् एकाग्र चित्त वाला है। और सब कर्मों का फल चित्त शुद्धि उसकी हो चुकी; इस अभिप्राय से वह सब कर्मों का करने वाला भी कहा गया। यह ज्ञान परक व्याख्या यद्यपि प्रकरण के अनुसार उपयोगी प्रतीत नहीं होती, क्यों कि यहाँ उपक्रम में करने का ही उपदेश है। और आगे भी "यस्य सर्वे सभारम्भाः" इत्यादि पद्यों में कर्म करने का ही प्रकरण पाया जाता है। तथापि यह अभिप्राय लगाया जा सकता है कि संसार में ब्रह्म दृष्टि रख कर ही कर्म करना चाहिये; तभी आसक्ति भी दूर होगी। यह अभिप्राय आगे "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" इत्यादि पद्य में स्पष्ट किया जायेगा। इसलिए यह व्याख्या भी सर्वथा प्रकरण विरूद्ध नहीं कही जा सकती। अतएव श्री नीलकण्ठ जी पहले इस व्याख्या को प्रकरण विरूद्ध बताकर भी आगे यद्वा पक्ष में शब्दान्तरों से इस व्याख्या को भी दोहरा दिया है। अस्तु।

श्री शङ्करानन्द जी ने भी इसी विषय को बहुत विस्तार से प्रपञ्चित किया है और "कृत्स्न कर्मकृत्" इस पद का "सब कर्मों को छेदन करने वाला" यह अर्थ विशेष रूप से किया है।

श्रीधर स्वामी पद्य का अर्थ यों करते हैं कि ईश्वराराधन रूप कर्म में जो अकर्म देखता है अर्थात् वह कर्म किसी दशा में बन्धक नहीं हो सकता, इसलिये उसे अकर्म ही समझना चाहिये, और अकर्म अर्थात् नित्य, नैमित्तिक

कर्मों को भी छोड़ने में जो कर्म देखता है अर्थात् उसे बन्धक समझता है; वह बुद्धिमान् है, इत्यादि।

दूसरी व्याख्या यह भी करते हैं कि देहेइन्द्रिय आदि में कर्म होते रहने पर भी आत्मा में जो उसका अभाव देखता है और क्लेश देने वाला समझ कर जो कर्म छोड़ देता है, उस अकर्म में जो कर्म अर्थात् मोक्ष प्रतिबन्धकता देखता है, वही बुद्धिमान् है, इत्यादि।

लोकमान्य तिलक प्रकरणोपयोगी कर्म योग के अनुसार ही इसका अर्थ करते हैं कि आसक्ति और फलाशा छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धक नहीं होते, जैसा कि गीता में बार-बार भगवान् समझा रहे हैं। इसे बन्धक न होने के कारण ही कर्म योगी के कर्मों को जो अकर्म ही समझता है और सर्वथा कर्म त्याग तो मनुष्य से हो नहीं सकता, यह भी गीता में बार-बार कहा है, तब जो हठ पूर्वक कर्मों को छोड़ देता है, ऐसे अकर्म में भी जो कर्म देखता है, अर्थात् वह कर्म छोड़ना कई जगह बन्धन का कारण हो जाता है; जैसे कि अपने समक्ष ही कोई अपने माता-पिता वा गुरु को मारता रहे और उस समय समर्थ होता हुआ भी यदि कोई मनुष्य चुपचाप रहे तो वह अकर्म उसके लिये अवश्य बन्धक होगा। इसे ही अट्ठारहवें अध्याय में भगवान् ने तामस त्याग कहा है। वह तामस त्याग तो किसी-किसी समय विकर्म भी हो जाता है और शरीर को क्लेशकर समझकर जो कर्म को छोड़ देता है, वह भी राजस त्याग है। वह अट्ठारवें अध्याय में बताया गया है। इसमें भी त्याग का फल प्राप्त नहीं होता। इसलिये इस त्याग दशा में भी जो शरीर, वाणी आदि से कुछ कर्म प्रकृति के अनुसार होते रहेंगे वे भी बन्धक होने के कारण कर्म ही कहे जायेंगे। इस दृष्टि से जो अकर्म में कर्म देखता है; वही बुद्धिमान् अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धि से युक्त है, और वही सब प्रकार के कर्मों का सच्चा अधिकारी है।

सात्त्विक त्याग भगवान् ने अट्ठारवें अध्याय में यह बताया है कि कर्तव्य समझकर कर्म तो करता रहे; किन्तु उसमें आसक्ति और फलाशा छोड़ दे। उस प्रकरण के साथ एक वाक्यता करके इस पद्य का उक्त अर्थ ही करना उचित है। इसमें लोकमान्य ने अन्यान्य ग्रन्थों के भी प्रमाण दिये हैं। प्रकरण के अनुसार यह व्याख्या उचित प्रतीत होती है।

श्रीमान् विद्यावाचस्पति जी ने कर्म और अकर्म में कवियों को भी मोह बताने के कारण और मैं कर्म का तत्त्व बताता हूं, इसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे" इस प्रतिज्ञा के कारण इस प्रकरण को विशेष महत्व दिया है और दार्शनिक तत्त्व भी यहाँ सूचित किया गया—यह भी माना है। प्रकृत में उपयोगी तो वे इन श्लोकों पर यही शीर्षक देते हैं कि ज्ञान पूर्वक अर्थात् तत्त्व ज्ञान के साथ मिला हुआ जो कर्म है; वह बन्धक नहीं होता। किन्तु आगे कर्म और अकर्म शब्दों पर टिप्पणी करते हुए; वे कर्म के छः भेद बताते हैं। वैज्ञा-

निक दृष्टि से ये छहो कर्म-कर्म शब्दार्थ के अन्तर्गत हैं; वास्तव में ब्रह्म ही दो प्रकार से संसार में भासित हो रहा है। उन दोनों रूपों के नाम वैदिक परिभाषा में अमृत और मृत्यु हैं। इनको ही रस और बल शब्द से वा ज्ञान और कर्म से भी कहा जाता है। ये दोनों ही सदा सम्बद्ध रहते हैं। एक दूसरे से कभी वियुक्त नहीं होता। उनमें अमृत भाग में से मृत्यु भाग को पृथक् से प्रदर्शित करने का प्रयत्न पहला कर्म है। इसे क्रतु, कृति, यत्न, अध्यवसाय आदि शब्दों से भी कहा जाता है। (न्याय शास्त्र में इन्हे आत्मा का ही गुण कहा गया है)। और इनके द्वारा शरीर में चेष्टा होकर जो शरीर की क्रिया को अन्य किसी वस्तु पर आरोपित किया जाता है; वह दूसरा "क्षणकर्म" नाम से कहा जाता है। यह स्वाभाविक कर्म का अन्यथा भाव है। क्षण पद से क्षणिकता विवक्षित है। यद्यपि सभी कर्म क्षणिक होते हैं, किन्तु इस द्वितीय रूप में क्षणिकता स्पष्ट रूप से सब को प्रतीत होती है। शरीर के अवयव इन्द्रियों में जो बोलना देखना आदि क्रियायें होती हैं; वे तीसरे "भाव कर्म" नाम से कही जाती हैं। व्याकरण में भाव और क्रिया का भेद स्पष्ट निरूपित है, जिसके साधन भी क्रियावान् हो वह "क्रिया" कही जाती है और जिसके साधनों में स्पन्द अर्थात् हलचल न हो वह "भाव" कहा जाता है। यहाँ क्रिया को क्षण 'शब्द' कहा है। और शरीर में ही जो दोष मार्जन, अतिशयाधान नाम के संस्कार, वैदिक पद्धति में प्रसिद्ध हैं, वे संस्कार नाम से चौथे प्रकार के कर्म हैं। इनका फल भी शरीर पर ही होता है, यह इसकी विशेषता है। जो अव्यय पुरुष के विरूद्ध पाप रूप कर्म हैं, वे पांचवें प्रकार के कर्म समझने चाहिये। एक मनुष्य के द्वारा जो भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं; वे छठे प्रकार में अन्तर्गत हैं। इन्हें कर्म कारक शब्द से कहा जाता है। इनमें से पांच प्रकार सर्वथा त्याग करने योग्य हैं, क्यों कि वह अव्यय पुरुष रूप मुख्य आत्मा का विरोधी है और अन्य कर्मों में भी जो आत्मा के विरोधी सर्वथा त्याग करने योग्य हैं। ये ही गीता के प्रकृत श्लोकों में विकर्म कहे गये हैं। आगे तृतीय पद्य की व्याख्या वे वेदोक्ति के अनुसार यों करते हैं कि अमृत अर्थात् कर्म से भिन्न रसभाग, मृत्यु अर्थात् कर्मभाग में प्रविष्ट हो रहा है। और मृत्यु अर्थात् कर्मभाग, अमृत में प्रविष्ट है। दोनों परस्पर घिगमिल हो रहे हैं। यही बात श्रुति में भी कही गई है कि–

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥"

अर्थात् मृत्यु अर्थात् बल के भीतर अमृत भाग प्रविष्ट है और मृत्युभाग में ही अमृत भाग आहित अर्थात् स्थापित है। रसभाग बल के भीतर और बाहर सब रूप से व्याप्त है। उत्तरार्द्ध में अमृत विवस्वान् शब्द से कहा गया है। उसका अर्थ है कि मृत्यु ने अमृतभाग को मानो पहिन रखा है। अर्थात् जैसे पहिनने का वस्त्र सब ओर से शरीर को ढ़ापें रखता है; इसी प्रकार अमृत ने चारों ओर से मृत्यु को घेर रखा है। और मृत्यु का आत्मा अर्थात्

स्वरूप अमृत में प्रविष्ट रहता है। इससे दोनों को परस्पर सम्मिलित बताया। यही गीता में भी कहा गया है कि कर्म में अकर्म अनुप्रविष्ट है और अकर्म में कर्म। इस कर्म के अनु प्रवेश से ब्रह्म के तीन रूप हो जाते हैं "कर्मसहित ब्रह्म को वेदान्त में "मायाशबलित ब्रह्म" वा विशिष्ट ब्रह्म कहा जाता है। उसके ही तीन रूप हैं" सत्ता, चेतना और आनन्द। मृत्यु में भीतर प्रविष्ट जो अमृत का भाग है; वही सत्ता है। मृत्यु की सत्ता स्वतन्त्र नहीं, अपितु अमृत भाग ही उसमें सत्ता रूप है। उसी से वह सत् कहलाती है। यह सत्ता रूप अमृत भाग मृत्युरूप पदार्थों के परिवर्तित होते रहने पर भी कभी परिवर्तित नहीं होता। जब तक लकड़ी रहे, तब तक लकड़ी की सत्ता है, जल जाने पर कोयले वा भस्म की सत्ता, है पद से कही जाती है। वह भस्म भी जल में मिला दी जाय तो कर्दम 'कीचड़' की सत्ता, "है" पद से कही जायगी और तो क्या कुछ भी दृश्य भाग न रहने पर भी "नहीं है" इन शब्दों से अभाव के साथ भी सत्ता का व्यवहार होगा। इस प्रकार सत्ता भाव-अभाव दोनों में अनुप्रविष्ट है। अमृत भाग में जब मृत्यु भाग, भीतर प्रविष्ट हो जाय तो चेतना कही जाती है। चेतना नाम ज्ञान का है और ज्ञान सदा विषय गर्भित ही रहता है। ज्ञान प्रकाश रूप है। विषय न हो तो वह प्रकाश किसका करे। इसमें भी मृत्यु भाग विषय सदा बदलते रहते हैं और प्रकाश रूप अमृत भाग कभी नहीं बदलता। यह विषय पञ्चदशी नामके वेदान्त ग्रन्थ के आरम्भ में ही विस्तार से स्पष्ट किया गया है। यद्यपि अमृत के साथ मृत्यु सदा सम्मिलित है; किन्तु उसी सम्मिलित रूप में जो अमृत के भाग को सूक्ष्म दृष्टि से पृथक् कर देखे, वह भाग "आनन्द" कहा जाता है। यह भी पञ्चदशी में स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार कर्म अकर्म अर्थात् मृत्यु और अमृत को पृथक्-पृथक् देखने वाला ही गीता में बुद्धिमान् कहा गया है और सब कर्म—अमृत अर्थात् आत्मा पर ही आश्रित हैं। इसलिये उस पुरुष को 'कृत्स्न कर्मकृत्' भी कहा गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सत्ता और चेतना यद्यपि कर्म मिश्रित हैं तथापि उक्त प्रकार से उन्हें कर्म को हटाकर विशुद्ध रूप में देखना ही ब्रह्म दृष्टि है। उसी के प्राप्त होने पर मनुष्य बुद्धिनान् कहा जाता है और अशुभ संसार से मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार इस पद्य पर भिन्न-भिन्न मुख्य व्याख्याताओं के मतों का सारांश हमने प्रदर्शित किया। प्रकृत में अर्जुन को समझाया यही गया है कि तुम जो अपना धर्म सिद्ध युद्ध छोड़कर निश्चल रूप से कर्म रहित अकर्मा बनना चाहते हो, उस अकर्म में सूक्ष्मता से कर्म देखो और यदि राग-द्वेष, आसक्ति फल आशाओं को छोड़कर अपना धर्म मानकर युद्ध करो तो वह बन्धक न होने के कारण अकर्म ही होगा, यह विषय सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ही तुम बुद्धिमान् अधिकारी होवोगे।

सरसठवां-पुष्प

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

पूर्वोक्त पद्यों का ही स्पष्टीकरण आगे के पद्यों में किया जाता है। पूर्व पद्य में कहा गया कि अकर्म में अर्थात् बिना अधिकार के भी सर्वथा कर्म परित्याग में जो कर्म देखता है वही बुद्धिमान् है। तब सच्चा और विदित अकर्म कौन-सा है जो उपादेय है, उसका विवरण करते हैं कि जिस पुरुष के सब आरम्भ अर्थात् कर्म काम और सङ्कल्प से रहित हैं, इसका आशय है कि जो अपने कर्मों में फल की कामना नहीं रखता और "अहं करोमि" (मैं करता हूँ इस प्रकार का सङ्कल्प और इसका फल भी मुझे मिलेगा) इस प्रकार के सङ्कल्प का भी जिसके हृदय में कभी उदय नहीं होता, उसके पूर्वार्जित कर्म भी ज्ञान रूप अग्नि से जल जाते हैं और विज्ञ लोग उसी को पंडित कहते हैं। यहाँ पूर्वोक्त आत्मा को अकर्त्ता समझना ही ज्ञान शब्द से लेना चाहिये। इस प्रकार के आत्मा के निर्लिप्त अकर्ता होने का ज्ञान ही आत्म ज्ञान हुआ। उससे सब कर्मों का जल जाना अन्यत्र भी भगवद्गीता में वर्णित है। यही सच्चा अकर्म है। श्री रामानुजाचार्य अपने पूर्वोक्त पद्यार्थ के अनुसार इस पद्य का भी यह आशय बताते हैं कि जैसा पूर्व में कह आये हैं कर्म में ज्ञान स्वरूपता समझना कैसे यथार्थ ज्ञान होगा; इसका स्पष्टीकरण इस पद्य में किया जाता है कि काम और सङ्कल्प अर्थात् प्रकृति के साथ आत्मा का एकीभाव समझने से रहित होकर जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धक नहीं होते, प्रत्युत प्राचीन कर्म भी उस आत्मा के यथार्थ तत्त्व ज्ञान से भस्म हो जाते हैं, इसलिये ऐसे कर्मों में ज्ञानरूपता अर्थात् ज्ञान सहयोग का दर्शन करने वाला ही पंडित है॥ १९॥

कर्म को भी अकर्म देखना जो पूर्व पद्य में बुद्धिमत्ता का लक्षण बताया गया, उसी का इस पद्य में स्पष्टीकरण है कि जो कर्म फल की आसक्ति को छोड़ देता है और सदा ही तृप्त रहता है अर्थात् किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और

आश्रय अर्थात् कर्म फलों के भोग का आधार जो अहङ्कार है, उसे भी छोड़ देता है अर्थात् प्रकृति के धर्मों को अपने पर आरोपित नहीं करता, वह केवल यज्ञ रूप संसार चक्र के परिचालन के लिये वा लोक संग्रह के लिये कर्म में प्रवृत्त भी रहे अर्थात् सब कर्म करता रहे तो भी उसे ऐसा ही समझना चाहिये कि वह कुछ नहीं करता। क्योंकि कर्म का फल वह चाहता नहीं; इसलिये कर्म का बन्धन भी उसे नहीं होता। इसलिये उसका कर्म करना न करने के ही बराबर है। ऐसे ही कर्म को अकर्म रूप से देखना पूर्व पद्य में कहा गया है।

श्री शङ्कराचार्य इस पद्य को उस व्यक्ति के लिये बताते हैं कि जो विवेक ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व कर्म कर रहा था; वह ज्ञान होने पर कर्म छोड़ ही देता है; किन्तु किसी कारणवश वा प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से जो कर्म न छोड़ सका और अपना स्वार्थ न रहने पर भी लोक संग्रह की दृष्टि से कर्म करता रहा; वही उसकी ही स्थिति इस पद्य में कही गई है। और लोकमान्य तिलक तो इसे गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ही मानते हैं कि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी आसक्ति और फलाशा छोड़ कर कर्म करते ही रहना चाहिये ॥२०॥

श्री शङ्कराचार्य इस पद्य को संन्यास मार्ग पर ही लगाते हैं कि जिसे पूर्व-जन्मकृत कर्मपरिपाक से इस जन्म में साधन रूप यज्ञादि न करने पर भी आत्म-ज्ञान हो गया, उसे इस लोक वा स्वर्गादि लोकों की कोई इच्छा नहीं रहती और चित्त अर्थात् मन और आत्मा अर्थात् आत्मा से चैतन्य प्राप्त देह-इन्द्रिय आदि समूह उसके वश में हो जाता है और वह सब प्रकार के स्त्री-पुत्र आदि परिग्रह को छोड़ देता है; तब फिर जब तक प्रारब्ध कर्म वश देह है तब तक भोजनाच्छाद-नादि शरीर यात्रा के कर्मों को केवल अर्थात् अभिमान रहित होकर करता रहता है। उन कर्मों से उसे कोई पाप-पुण्य नहीं होता यद्यपि पाप का वाचक "किल्बिष" पद ही आया है; किन्तु उसका अभिप्राय यही है कि ऐसे ज्ञानी के लिये पुण्य और पाप दोनों ही बन्धक होने के कारण पाप रूप ही हैं; इसलिये उस पद का यहाँ अर्थ समझना चाहिये कि कर्म का कोई भी फल अच्छा या बुरा उसे नहीं होता। इससे संन्यासी को भी शरीर यात्रार्थ कर्म करने की अनुमति प्राप्त होती है।

महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी ने 'किल्बिष' पद का यह अभिप्राय लगाया है कि श्रुति में जो यावत् जीवन अग्निहोत्रादि कर्म करने का विधान है, यदि पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व ही उन अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़ दे तो उसे अवश्य पाप होगा; किन्तु ज्ञान प्राप्त होने पर उन कर्मों को छोड़ देने पर भी कोई पाप उसे नहीं होता; क्यों कि उसने श्रुति के विधान के अनुसार ही सब कर्मों का संन्यास कर दिया है।

श्री रामानुजाचार्य कर्म-योग परक ही अर्थ करते हैं कि "आशीः" अर्थात् कर्मफल की इच्छा से रहित और चित्त अर्थात् पूर्व कृत कर्म स्मरण जनक चित्त-

वृत्ति वाला अन्तःकरण और मन अर्थात् सङ्कल्प-विकल्पात्मक वृत्ति वाला अन्तःकरण जिसके वश में है एवं सब प्राकृत पदार्थों में जिसने ममता का अभिमान छोड़ दिया है; वह अभिमान रहित होकर शरीर से सब प्रकार के शास्त्र विहित कर्म करता रहे तो भी उसे 'किल्विष' अर्थात् संसार बन्धन नहीं प्राप्त होता। इसी के अनुसार लोकमान्य तिलक की भी व्याख्या है; उन्होंने संन्यास परक अर्थ का खण्डन भी किया है ॥२१॥

यहाँ "शारीरं कर्म" ये पद विचारणीय हैं। संन्यास परक अर्थ करने वाले, इन शब्दों का "शरीर यात्रा के उपयोगी कर्म" अर्थ करते हैं। और कर्म योग परक अर्थ लगाने वाले "शरीर मात्र से किये जाने वाले कर्म" यह अर्थ करते हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती के कर्मयोगपरक अर्थ में 'शरीर' शब्द कहना व्यर्थ हो जायगा; यह दोष दिया है। कर्म, शरीर, वाक् और मन तीनों से होते हैं। जैसा कि न्याय दर्शन में शुभाशुभ प्रवृत्ति के दस भेद बताते हुए तीनों के कर्मों का ही निरूपण किया है। यहाँ 'शरीर' पद से मन और वाणी के कर्मों से भिन्नता बताई जाय तो यह उपयुक्त न होगा क्योंकि कर्मयोगी को किसी भी कर्म का फल बन्धक नहीं होता, यही पद्य का अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि मन और वाणी के कर्मों का फल हो ही गया तो "नाप्नोति किल्विषम्" अयुक्त हो जायगा। इसलिये 'शारीर' पद से शरीरस्थिति के उपयुक्त मात्र भिक्षाटनादि कर्म ही यहाँ लेना उचित होता है। किन्तु लोकमान्य तिलक कहते हैं कि शरीर पद का अभिप्राय इतना ही है कि कर्मयोगी की व्यवसायात्मक बुद्धि तो अचल है, उसमें किसी प्रकार की कामना आदि का दोष उत्पन्न नहीं हुआ; तब कर्मयोगी जो लोक संग्रहादि के लिये कर्म करता है; वह केवल शरीर से ही करता है। इस प्रकार बुद्धि के सहयोग का अभाव बताने के लिये ही शारीर पद दिया गया है। स्पष्ट अभिप्राय यह है कि लौकिक पुरुषों को पहिले फलेच्छा होती है; फिर उस फल की प्राप्ति के लिये उपाय की इच्छा होती है, फिर इच्छा से प्रयत्न होता है और तब शरीर चेष्टा रूप कर्म बनते हैं। यह क्रम यहाँ नहीं है। क्यों कि यहाँ फलेच्छा है ही नहीं; इसी क्रमाभाव को सूचित करने के लिये शारीर पद दिया गया है। इससे कर्म मात्र ही यहाँ लेना चाहिये और कर्मयोग प्रकरण में तदुपयुक्त ही अर्थ लगाना चाहिये। इन दोनों के तारतम्य का विचार पाठक स्वयं अपनी बुद्धि से कर लेवें।

इसी का विवरण अग्रिम पद्य में भी है। श्री शङ्कराचार्य के कर्मसंन्यास-परकपूर्व पद्य के अर्थ के अनुसार इस पद्य का अर्थ है कि शरीर यात्रा के लिये जो भिक्षाटन का संन्यासी के लिये शास्त्र में विधान है; उस भिक्षाटन में जो कुछ भी प्राप्त हो गया उससे ही सन्तुष्ट रहने वाला अर्थात् अधिक तृष्णा न करने वाला और शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को पार कर जाने वाला, एवं किसी के साथ उसके गुणों में भी दोष देखकर वैर न करने वाला और सिद्धि और असिद्धि में समान मन रखने वाला। इसका अभिप्राय है कि भिक्षाटन

में जो कुछ प्राप्त हुआ हो उससे सन्तोष करना पूर्व बताया गया, किन्तु यदि किसी समय कुछ भी प्राप्त न हो तो असिद्धि दशा में भी किसी प्रकार के दुःख का अनुभव न करने वाला। इन शरीर यात्रा के कर्मों को करता हुआ भी इनसे किसी बन्धन में नहीं आता—अन्य पुरुषों की दृष्टि में उसके ये भिक्षाटनादि कर्म भी कर्म ही समझे जाते हैं और वे इस पर कर्म करने का आरोप किया करते हैं कि देखो साहब यह संन्यासी होकर भी कर्म करता ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने "कृत्वापि" यह पद दिया। अर्थात् लोकसामान्य की दृष्टि से वह कर्म करता है किन्तु इन कर्मों से उसका कोई बन्धन नहीं होता क्योंकि उसे स्वयं कर्तापन का अभिमान नहीं है और बिना अभिमान के कोई बन्धन नहीं होता। पूर्व के कर्म भी ज्ञान रूप अग्नि से जल चुके हैं; इसलिये आगे उसे जन्म प्राप्त होने की कोई शङ्का नहीं।

कर्मयोगपरक ही मानने वाले श्री रामानुजाचार्य के मतानुसार तो पद्य का अर्थ व्यापक है कि अनासक्त होकर सब प्रकार के कृषि-व्यापारादि कर्म करता हुआ भी उनमें जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से सन्तोष करता रहे। इसका अभिप्राय यही है कि कर्मयोगी को भी तृष्णा कभी नहीं करनी चाहिये और जब तक शरीर धारण है; तब तक शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों की बाधायें आती ही रहेंगी। उनका अतिक्रमण करे अर्थात् उनका कोई प्रभाव चित्त पर न होने दे। विमत्सर का अर्थ है कि अपने पर कोई कष्ट आ पड़ा तो यह कष्ट किसी दूसरे का दिया हुआ है; ऐसी दूसरे पर मत्सरता की सम्भावना न करे। जैसा कि नीति ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है कि—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहङ्करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्मसूत्र-ग्रथितो हि लोकः॥

अर्थात् सुख वा दुःख का देने वाला कोई दूसरा नहीं है। दूसरा कोई पुरुष मुझे सुख वा दुःख देता है यह मानना कुबुद्धि है। मैं ही सब कार्यों का कर्ता हूं; यह अभिमान भी झूठा है। वस्तुतः सब लोक अपने कर्म सूत्र के बन्धन में बँधा हुआ है। यही अभिप्राय कर्मयोगी का रहना चाहिये और सिद्धि असिद्धि का भी व्यापक अर्थ है कि युद्ध आदि कर्मों में भी सफलता हो वा असफलता दोनों दशाओं में समान चित्तवृत्ति रहनी चाहिये। अर्थात्—सिद्धि में कोई हर्ष न हो और असिद्धि में कोई परिताप न हो। इस प्रकार कर्म करने वाला मनुष्य कर्म करता हुआ भी कोई बन्धन में नहीं आता। इसका कारण पूर्व कई जगह स्पष्ट कर चुके हैं कि राग-द्वेष ही बन्धन के कारण हैं, बिना राग-द्वेष के कर्म बन्धक नहीं होते। जहाँ अपने उद्देश्य को बार-बार दोहराया जाय; ऐसे गम्भीर अर्थ में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। भगवान् का उद्देश्य अर्जुन

को युद्ध में प्रवृत्त करना ही है; इसलिये वे भिन्न-भिन्न युक्तियों से और बार-बार दोहराकर कर्म योग में अर्जुन को प्रवृत्त करते हैं। इस कारण यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिये।

श्री शङ्करानन्द जी तो पुनरुक्ति बताते ही नहीं। उनके मतानुसार पूर्वोक्त पद्य में जो ज्ञान प्राप्त कर चुका है; उसके शरीर यात्रा के लिये किये जाने वाले भिक्षाटनादि कर्म बन्धक नहीं होते यह बताया गया है और इस पद्य में जो अभी पूरा ज्ञान प्राप्त न कर सका किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिये निदिध्यासन (साधना) कर रहा है, वह भी यदि आत्मा में हर्ष-शोक आदि वा दाता के गुण-दोष आदि का विचार न करता रहे तो उसके भी वे कर्म मोक्ष प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं होते यह कहा गया है। यदृच्छा लाभ सन्तुष्टः और विमत्सरः इन पदों से उक्त आशय प्रकट हो जाता है। इसलिये अधिकारी भेद से दोनों ही पद्यों का पृथक् पृथक् उपदेश है। साम्प्रदायिक व्याख्याकार इन पद्यों में भगवान् के आराधन रूप कर्म बन्धक नहीं होते इसी विषय का प्रतिपादन मानते हैं। लोकमान्यतिलक का भी कर्मयोगपरक अर्थ प्रायः श्री रामानुजाचार्य के अनुसार ही है।

———

अरसठवां-पुष्प

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

तृतीय अध्याय में यज्ञ के लिये किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता, यह कहा जा चुका है और यज्ञ-पद वहाँ व्यापक अर्थ का बोधक है, यह भी व्याख्या में हम विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। उसी यज्ञ प्रकरण को यज्ञ के अनेक भेद बताने के लिये पुनः यहाँ लिया जाता है। तृतीयाध्याय में केवल देव यज्ञ का ही व्यापक विवरण किया गया था; यहाँ योग समाधि आदि भी यज्ञ के ही अन्तर्गत होते हैं; यह बताया जाता है और दैव यज्ञ में भी उपकरण आदि सब वस्तुओं में ब्रह्म भावना का उपदेश भी किया जाता है। यहाँ पुनः कर्मयोग का ही प्रकरण आरम्भ होता है; यह तो मानना ही पड़ेगा। मध्य के दो पद्यों से संन्यास का प्रतिपादन कर पुनः कर्मयोग का आरम्भ क्यों किया गया ? इसकी संगति श्री शङ्कराचार्य यों लगाते हैं कि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी किसी कारण से अर्थात् प्रारब्ध कर्म जनित-संस्कार विशेषों से जो पूर्वाभ्यास वश कर्म करता ही रहे, उसके वे कर्म भी बन्धक नहीं होते, यह यहाँ से कहा जाता है।

पद्य का अर्थ है कि जिसने सङ्ग अर्थात् कर्म वा कर्म फल में आसक्ति छोड़ दी है, कर्म का व्यसन रूप से ग्रहण करना अर्थात् किसी कर्म विशेष के बिना रहा ही न जाय, यह कर्म में आसक्ति कही जायगी और फल में आसक्ति तो प्रसिद्ध ही है। इन दोनों ही प्रकार की आसक्ति, जिस पुरुष की निवृत्त हो चुकी है और इस प्रकार जो अपने अन्तःकरण से धर्म-अधर्म रूप बन्धनों से वा अहंकार के परित्याग से संसार रूप बन्धन से ही अपने को मुक्त मानता है एवं ज्ञान में ही जिसका अन्तःकरण सदा स्थिर रहता है। वह पुरुष यदि यज्ञ के लिये (पूर्व तृतीयाध्यायोक्त संसार चक्र परिचालन रूप यज्ञ के उद्देश्य से) कर्म करता है तो उसका वह कर्म समग्र अर्थात् फलसहित विलीन हो जाता है, फल नहीं देता। अपने फल का भोग करा कर ही नष्ट होना सब कर्मों का साधारण नियम है; किन्तु उक्त प्रकार के पुरुष के यज्ञ के लिये किये हुए कर्म बिना फल प्रदान के ही नष्ट हो जाते हैं। यह "समग्रं प्रविलीयते" से कहा

गया। भक्तिमार्ग के व्याख्याकार यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु ही करते हैं; उनका तात्पर्य है कि विष्णु की प्रसन्नता के लिये वा उनकी आज्ञा से लोक शिक्षा के लिये, जो कर्म किये जायँ, वे बन्धक नहीं होते। कर्म अपना फल दिये बिना ही कैसे लीन हो जाता है। इस शङ्का के समाधान के लिये भगवान् अग्रिम पद्य में यह उपदेश देते हैं कि सर्वत्र ब्रह्मभाव रहने पर ज्ञान के द्वारा कर्म की फल-प्रदान शक्ति नष्ट हो जाती है। उसी सार्वत्रिक ब्रह्मभाव को यज्ञ के उपकरणों में घटाया जाता है कि 'अर्पण' अर्थात् अग्नि में हवन के साधन जो स्रुवा आदि हैं, उनमें भी ब्रह्मभाव ही रहना चाहिये अथवा अर्पण अर्थात् अग्नि में डालना रूप जो क्रिया है, उसमें भी ब्रह्मभाव ही हो, हवि अर्थात् जिन पदार्थों का होम किया जाता है उनमें भी ब्रह्म भाव हो, जिसमें हवन करते हैं उस अग्नि में भी ब्रह्म भाव हो और हवन करने वाला यजमान भी अपने को ब्रह्म स्वयं ही माने। 'ब्रह्मणा' (यह तृतीया) कर्त्ता में है। इससे कर्त्ता-रूप यजमान ही लिया जाता है। इस भाव से यज्ञ रूप कर्म भी सम्पूर्ण ब्रह्मरूप ही हो गया। इस कर्म को ब्रह्मरूप मानने की समाधि अर्थात् एकाग्रता जिस पुरुष की हो जाती है, वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। अर्थात् कोई कर्म उसे अन्यत्र नहीं ले जा सकता। ब्रह्म की प्राप्ति कर्म से हो नहीं सकती। क्योंकि ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सबको ही स्वतः प्राप्त है, वह कोई अपने से भिन्न पदार्थ नहीं, जहाँ क्रिया के द्वारा पहुँचा जाय। इससे यही तात्पर्य निकलेगा कि ऐसे भाव वाले पुरुष के कर्म अपने आप ही विलीन हो जाते हैं। जिसकी दृष्टि में द्वैत भाव रहता है अर्थात् जो ब्रह्म को अपने से भिन्न मानता रहता है, उसे ही कर्म संसार चक्र में घुमाया करते हैं। अद्वैत भाव होने पर कर्म भी ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। भाव दो प्रकार से हो सकता है—एक उपासना रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों में परस्पर भिन्नता रहते हुए भी उनमें ब्रह्म की भावना मात्र की जाय। जैसे कि, उपासना के लिये शालग्राम शिला में विष्णु भगवान् की भावना कर ली जाती है और दूसरा प्रकार है कि उनमें विकार बुद्धि हटाकर सर्व कारण रूप ब्रह्म बुद्धि से ही उन्हें देखा जाय। पहिला मार्ग उपासना मार्ग के नाम से कहा जाता है और दूसरा ज्ञान मार्ग के नामसे। यहाँ श्री शङ्कराचार्य का कथन है कि इस पद्य में कहे हुए 'अर्पण' 'हवि' आदि में ब्रह्मभाव को उपासना रूप नहीं समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ आगे के पद्यों में स्पष्ट रूप से ज्ञान का ही प्रकरण प्रतीत होता है; इसलिये यथार्थ रूप में ही यज्ञ के उपकरणों को ब्रह्म समझना यहाँ कहा गया है। यही ब्रह्मभाव यथार्थ ज्ञान है और इसे ही शास्त्रों में मुक्ति का साधन बताया गया है। जो साधक व्यक्ति पहिले सब पदार्थों में उपासना रूप से ब्रह्म की भावना करते हैं, उनका भी अन्तिम फल सब पदार्थों को ब्रह्म रूप से देखना ही होता है। "अर्पणं ब्रह्म" यह पदविन्यास इसी प्रकार है जैसे कि कोई सीप को चाँदी समझ लेने वाला भ्रान्त पुरुष अपनी भ्रान्ति दूर होने पर कहे कि "रजतम् शुक्तिकैव" इस वाक्य का तात्पर्य यही होगा कि जिसे

मैंने रजत समझा था; वह तो वास्तव में सीप ही है। इसी प्रकार यहाँ भी वाक्यों का तात्पर्य यही समझना चाहिये कि जिसे सांसारिक लोग स्रुवा, हवि आदि भिन्न-भिन्न नामों से बोलते हैं; वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ है ही नहीं; यही बात यज्ञोपकरणों के दृष्टान्त से सिद्ध की गई। यज्ञ के सब उपकरणों का समावेश करने के लिये भिन्न-भिन्न व्याख्याकार, इस पद्य के पदों की भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं, जैसा कि अर्पण शब्द में 'अर्प्यते अनेन' इस करण व्युत्पत्ति के अनुसार होम के साधन स्रुवा, जुहु आदि और जिन मन्त्रों से होम किया जाता है, वे मन्त्र भी ले लिये जाते हैं और 'अर्प्यते अस्मै' इस चतुर्थी विभक्ति की व्युत्पत्ति के अनुसार जिस देवता के लिये आहुति दी जाय; उस देवता में भी ब्रह्म बुद्धि ही रखना, यह भी आ जाता है। एवं 'अर्प्यते अस्मिन्' इस सप्तमी विभक्ति की व्युत्पत्ति के अनुसार हवन के देश-काल आदि जिनमें आहुति दी जाती है, वे भी ले लिये जाते हैं। 'ब्रह्मणा' इस कर्तृ पद से प्रेरक यजमान और आहुति देने का साक्षात् कर्ता अध्वर्यु नाम का ऋत्विग् भी आ जाता है। इस प्रकार यज्ञ के सब उपकरणों में ब्रह्म-बुद्धि पूर्वक यज्ञादि कर्म करने से वे कर्म फलप्रद नहीं होते। "ब्रह्म-कर्म-समाधिना" का ऐसा भी अर्थ किया जाता है कि ब्रह्म पद को पृथक् समझकर 'हुतं' के आगे जोड़ देना, जिससे हवन अर्थात् प्रक्षेप क्रिया में भी ब्रह्म बुद्धि शब्द मर्यादा से ही सिद्ध हो जायगी और 'कर्म समाधिना' का यह अर्थ करना कि उक्त प्रकार से जिस पुरुष की कर्म अर्थात् यज्ञ में समाधि अर्थात् ब्रह्मभाव की एकाग्रता हो गई है; वह पुरुष ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार दान, तप आदि कर्म भी सब ब्रह्मभाव से ही किये जायँ तो उनका एक मात्र फल ब्रह्मप्राप्ति ही होगा। वे कर्म और कोई फल देने वाले नहीं हो सकते ॥२४॥

अब यज्ञ के अनेक भेदों का वर्णन किया जाता है। प्रायः व्याख्याकारों ने इसकी संगति यह बताई है कि ब्रह्म भाव से जो यज्ञ गत पद्य में बताया गया, उसकी स्तुति के लिये ही सब यज्ञों का वर्णन है। अथवा इन यज्ञों के वर्णन की संगति यों समझना चाहिये कि कर्मयोगी पुरुष अपने जीवन में क्या करता रहे ? इसका यज्ञ रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्णन किया जाता है। इनमें से कोई प्रकार अपनाकर कर्म योगी अपना जीवन व्यतीत करता रहे और उन सब में यज्ञ रूप की ही भावना करता रहे। यहाँ तप, योग, दान इत्यादि सभी पारलौकिक कर्मों का यज्ञ रूप से ही विवरण किया गया है। यज्ञ बिना किसी अग्नि के नहीं होता; इस विचार से सभी जगह आधार रूप से अग्नि की कल्पना की गई है। उसे अग्नि शब्द का लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिये। इस यज्ञ वर्णन के प्रथम पद्य का अर्थ है कि कई योगी अर्थात् कर्मयोगी "दैव यज्ञ" की ही उपासना करते हैं अर्थात् 'कर्मयोग' के विधानानुसार आसक्ति और फल कामना छोड़कर भिन्न-भिन्न देवताओं को आहुति देते रहते हैं। इसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पद्य के उत्तरार्ध का अर्थ करने में व्याख्याकारों के फिर

कई प्रकार के मतभेद हैं। श्री शङ्कराचार्य इसका अर्थ करते हैं कि कुछ योगी 'ब्रह्म' अर्थात् सर्वत्र व्यापक मूलतत्त्व को अग्नि मानकर 'यज्ञ' अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधि सहित जीव को यज्ञ से अर्थात् उपाधि रहित बनाकर उसी रूप से हवन कर दिया करते हैं, इससे इस व्याख्या के अनुसार संन्यासी मार्ग का विवरण हुआ। यज्ञ शब्द जीव के नामों में भी पढ़ा हुआ है। प्रथम यज्ञ शब्द से शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधि सहित जीव का ग्रहण करना चाहिये और द्वितीय यज्ञ शब्द से उपाधि रहित केवल जीव का। तात्पर्य यह हुआ कि जीव का उपाधि-सहित जो रूप प्राणियों की दृष्टि में भासित हो रहा है, उसमें उपाधि अंश को निकाल देना चाहिये, तब जो निरूपाधिक जीव बचेगा, वह ब्रह्म से भिन्न न होगा। उसे ब्रह्म में ही अर्पित कर देना अर्थात् मिला देना, यही उसका होम हुआ। जब इन्द्रिय, शरीर आदि उपाधियों का परित्याग कर दिया जायगा, तब कर्म संन्यास स्वतः ही हो जायगा क्योंकि शुद्ध आत्मा तो कर्म रहित है ही, शरीर, इन्द्रिय आदि के द्वारा ही कर्म हुआ करते हैं। जब इन उपाधियों का सम्बन्ध ही आत्मा से न रखा गया तो यह जड़ रूप होने के कारण स्वतः ही कर्म रहित हो जायगा और जिस प्रकार घर, मठ आदि उपाधियों से घिरा हुआ आकाश उन उपाधियों के हटा देने पर महाकाश में ही मिल जाता है; उसी प्रकार उपाधिरहित जीव व्यापक ब्रह्म में ही लीन हो जायगा। पूर्व पद्य में जो सब में ब्रह्म भाव बताया गया, उसी ब्रह्म भाव से यज्ञ करने का प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारों की श्रेणी में, यहाँ फिर दोहराया गया है। यह ज्ञान रूप यज्ञ ही है जिसे आगे सब यज्ञों से श्रेष्ठ बताया जायगा और उसकी प्राप्ति का विशेष विवरण भी होगा।

श्री रामानुजाचार्य पूर्वार्ध में तो "उपासते" पद के अनुसार देवताओं की पूजा का विवरण बताते हैं और उत्तरार्ध में हवन रूप यज्ञ का ही विवरण मानते हैं कि अन्य प्रकार के कर्मयोगी यज्ञ अर्थात् यज्ञ साधन हवि को 'यज्ञेन' अर्थात् यज्ञसाधन—स्रुवा आदि से अग्नि को ब्रह्म रूप मानकर उसमें हवन करते हैं। पूर्व-पद्य में यज्ञ के सब उपकरणों में ब्रह्म भाव कहा गया था, यहाँ केवल अग्नि मात्र में ही ब्रह्म भाव कहा—इसलिये ये कर्मयोगी पूर्वोक्त प्रकार के योगियों से निम्न श्रेणी के हैं; यह भी कोई-कोई व्याख्याकार ने लिखा है। श्री वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी अपनी व्याख्या में यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु ही करते हैं। उनका यह आशय प्रतीत होता है कि विष्णु नाम रूप से जो उपासना सर्व साधारण में की जाती है, उसका व्यापक ब्रह्म को अग्नि मान कर उसमें प्रक्षेप कर देना अर्थात् विशुद्ध ब्रह्मरूप से ही उपासना करने का प्रकार इसमें बताया गया।

लोकमान्य तिलक पुरुष सूक्त में जो "देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्" यह मन्त्र आया, उसकी ही प्रतिच्छाया, इस गीता के पद्य में बताते हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि वह तो सृष्टि के आरम्भ का वर्णन है; उस समय और कोई हविर्द्रव्य न देखकर पुरुष का ही हवन किया गया; वह एक

गूढ़ वैज्ञानिक आशय वहाँ हो सकता है; किन्तु यहाँ तो कर्मयोगियों के जीवन यात्रा के भेद कई प्रकार से बताये जा रहे हैं और वर्तमान काल का निर्देश, इस प्रकरण से उस पुरुष सूक्त के मन्त्र की प्रतिच्छाया लेने की संगति कैसे लगेगी ? इसका उत्तर वे देते हैं कि जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में केवल ब्रह्म का ही पुरुषावयवों से यजन होने का विवरण पुरुष सूक्त में मिला है; उसी प्रकार पूर्वोक्त पद्य के अनुसार सब उपकरणों में ब्रह्म भाव पूर्वक यजन करने का वर्णन ही यहाँ दोहराया गया है, इससे कर्मयोगी का कर्त्तव्य यही बताया कि वह सर्वत्र ब्रह्म भाव रखता हुआ, यज्ञादि कर्मों का यथाविधि सम्पादन करता रहे। श्रीधर स्वामी भी उत्तरार्ध से कर्म संन्यास का ही निरूपण मानते हैं और पद्य का अर्थ यों करते हैं कि यज्ञ शब्द को यहाँ कर्म मात्र का बोधक उपलक्षण रूप से मानना चाहिये। इससे तात्पर्य हुआ कि यज्ञ अर्थात् समस्त कर्मों को ज्ञानयोगी 'यज्ञेन' अर्थात् पूर्वोक्त यज्ञोपकरणों में ब्रह्म भावना से ब्रह्म रूप अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् ब्रह्म में सब कर्मों को लीन कर देते हैं। पूर्वार्ध में "दैवमेव" इस एव पद से देवताओं में ब्रह्म भाव का अभाव कहा गया। इसलिये वह वर्णन केवल कर्मकाण्डियों का है। वे ब्रह्म भावना न करते हुए केवल विधि के अनुसार कर्म करते रहते हैं और उत्तरार्ध में सर्वत्र ब्रह्म भावना से कर्म संन्यास बताया गया; यह श्रीधर स्वामी का आशय है ॥२५॥

उनहत्तरवां-पुष्प

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयम-योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥ ३१ ॥

पूर्व पद्य में दो यज्ञों का वर्णन हुआ। वे वेदोक्त यज्ञ वा संन्यास यज्ञ ही बताये गये। अब आगे योगमार्ग के अनुसार अन्य यज्ञों का निरूपण किया जाता है। तीसरा यज्ञ यह है—कई कर्मयोगी श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक स्थान में विनियोग करना संयम नाम से योग दर्शन में कहा गया है। चित्त को एक किसी विशेष स्थान पर ही रोक देना धारणा कही जाती है और चित्त-वृत्तियों का एक किसी इष्ट वस्तु में निरन्तर प्रवाह जिस प्रवाह में दूसरी कोई वस्तु न आ सके; उसे ध्यान कहते हैं। इस प्रकार ध्यान करते-करते एक ही वस्तु में बहुत काल तक चित्त का रोक देना समाधि कही जाती है। ये तीनों यदि एक ही स्थान में हों तो उसका काम संयम कहा गया है। यहाँ "संयमाग्निषु" यह बहुवचन जो दिया गया उसका आशय यह है कि इन्द्रियाँ बहुत हैं। एक-एक इन्द्रिय का संयम करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रयास करना पड़ेगा। इसलिये बहुत संयम हो गये; अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि संयम के देश योगदर्शन में बहुत बताये गये हैं, जहाँ कि संयम किया जाय। उन भिन्न-भिन्न देशों में संयम करने से भिन्न-भिन्न प्रकार के फल भी योग दर्शन में बताये गये हैं। इन संयम देशों के बहुत होने के कारण भी संयम का बहुत्व कहा

गया। संयम में इन्द्रियों के हवन का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों की विषयों की ओर जो स्वाभाविक गति है, उसे रोक कर उन्हें एक स्थान में अर्थात् अपने इष्ट देवता के रूप आदि में लगा देना ही उनका हवन है। जिस प्रकार हवन करने से, हवन किया हुआ द्रव्य, अग्नि में गिर कर, अपना स्वरूप खो देता है। इसी प्रकार विषयों से हटा देने पर इन्द्रियाँ अपना स्वरूप खो कर नष्ट सी हो जाती हैं। इसी सादृश्य से इन्द्रियों का संयम रूप अग्नि में हवन कहा गया। अपने विषयों से इन्द्रियों को सर्वथा रोक कर ईश्वर में लगा देना ही तीसरा यज्ञ हुआ। चौथा यज्ञ कहते हैं कि कुछ कर्मयोगी शब्द आदि विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं अर्थात् इन्द्रियों से शब्दादि विषयों का ग्रहण करते रहते हैं; यह तो सभी मनुष्य करते हैं, फिर इसे भगवान् ने यज्ञ रूप में कैसे गिना और आगे सभी यज्ञों से पापों का नाश बताया है; वह कथन भी कैसे उपयुक्त होगा! इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करते हुए पापों का नाश कैसे सम्भव है? इस शङ्का का उत्तर यह है कि जो पुरुष आहुति रूप से ही विषयों का ग्रहण करते हैं अर्थात् विषय ग्रहण में प्राणाग्नि होत्र-बुद्धि ही रखते हैं, जैसे अग्निहोत्र विधानानुसार ही किया जाता है। इसी प्रकार शास्त्र विधान के अनुसार ही विषयों का ग्रहण करें। जिनका शास्त्र में निषेध है, उन विषयों का कभी ग्रहण न करें और जिन विषयों का ग्रहण करें, उनमें भी होम बुद्धि ही रखें, फलाशा वा व्यसनरूप आसक्ति न करें तो वह भी एक प्रकार का यज्ञ ही हुआ। तात्पर्य यह है कि एक बार ही इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा हटाया न जा सके तो धीरे-धीरे उनके हटाने का यत्न करना चाहिये। वह यत्न इसी प्रकार होगा कि निषिद्ध विषयों का वा निषिद्ध काल में विषयों का कभी सेवन न किया जाय और विषय सेवन में होम बुद्धि ही रखी जाय। तब धीरे-धीरे पूर्वार्ध में कहा हुआ इन्द्रिय हवन रूप यज्ञ सिद्ध हो जायगा। अतः यह चौथा यज्ञ तृतीय यज्ञ की प्राप्ति का साधन-रूप ही है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

इसका तात्पर्य है कि स्त्री प्रसङ्ग, मांस-भक्षण, मद्यपान आदि में तो प्राणियों की स्वाभाव से ही प्रवृत्ति रहती है। इसमें शास्त्र विधि की कोई आवश्यकता नहीं; तब शास्त्र में जो कहीं इनका विधान मिलता है, जैसा कि विवाह विधि वा यज्ञों में मांस-भक्षण विधि तथा सौत्रामणि यज्ञ में मद्यपान विधि, यह सब विधायक नहीं; किन्तु सर्वत्र प्राप्त विषयों का नियमन करने के लिये हैं। विवाह विधि से विधि के अनुसार ग्रहण की हुई पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से पत्नी भाव का निवारण किया जाता है। यज्ञ में मांस विधि भी वृथा मांस खाने के निवारण के लिये ही है। इसी प्रकार सौत्रामणि याग का सुरापान भी अन्यत्र सुरापान के निषेध में ही तात्पर्य रखता है। इस प्रकार जो एकदम इन्द्रिय निरोध

नहीं कर सकते उन्हें कृपालु शास्त्र ने धीरे-धीरे निवृत्त करने का प्रकार बताया है। इस प्रकार निषिद्ध देश-काल आदि का परित्याग कर होम बुद्धि से विषय सेवन भी निवृत्ति का कारण होने से यज्ञरूप बताया गया और निषिद्ध वस्तु, देश, काल आदि का परिवर्तन करने से पाप होगा ही नहीं। इसलिये पाप का नाश भी, इस यज्ञ का फल कहना युक्ति-युक्त ही है। कई व्याख्याकार इस प्रकार भी इसकी संगति लगाते हैं कि आहुति द्रव्य जैसे अग्नि में गिरकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार इन्द्रियों में आहुति रूप से डालकर जो पुरुष विषयों का नाश ही कर दें अर्थात् आगे उन विषयों की कामना का प्रवाह बन्द कर दें, वही इन्द्रियों में विषयों का हवन हुआ। इन्द्रियों से विषय ग्रहण का बड़ा दोष यही है कि उससे कामना तृप्त नहीं होती प्रत्युत बढ़ती ही जाती है। उस कामना का प्रवाह आगे रोक देना ही हवन का अभिप्राय है। इससे भी धीरे-धीरे निवृत्ति ही सिद्ध होती है। भक्ति मार्ग के व्याख्याता इस यज्ञ का यह भी तात्पर्य बताते हैं कि भगवान् का प्रसाद समझकर ही विषयों का ग्रहण किया जाय, यही विषयों का इन्द्रियों में होम हुआ अर्थात् जिह्वा से भगवान् को दिये हुए नैवेद्य के नाना रसों का ही स्वाद लिया जाय, कान से भगवत् कीर्तन ही सुना जाय, नाक से भगवान् को अर्पित माला का ही गन्ध लिया जाय। चक्षु से भगवान् की दिव्य मूर्ति का ही दर्शन किया जाय, इत्यादि रूप से भगवद्भाव होने के कारण इन्द्रियों की विषयासक्ति हट जायगी। यही चौथे प्रकार का यज्ञ हुआ॥

अब पाँचवें प्रकार का उत्तमाधिकारी का कल्याण का परम साधक यज्ञ बताया जाता है कि कई उत्तमाधिकारी श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के सब विषय ग्रहण रूप कर्मों का और शरीर के सङ्कोच-विकास आदि प्राण के कर्मों का अथवा प्राण के द्वारा निष्पादित हाथ, पैर, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के कर्मों का आत्म संयम रूप जो योग उसे ही अग्नि बनाकर ज्ञान के द्वारा उस अग्नि को खूब जलाकर उसमें हवन कर देते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों के सब व्यापारों को रोककर केवल ज्ञानमार्ग वा योगमार्ग में ही सदा निमग्न रहा करते हैं। तीसरे यज्ञ में केवल ज्ञानेन्द्रियों का ही संयम कहा गया था। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों का भी संयम कहा गया और ज्ञान दीपित पद से उसे तत्त्व ज्ञान के द्वारा सम्पादित बताया गया और पूर्वोक्त संयम का स्थान आत्मा को ही बताया गया। यही इस यज्ञ की विशेषतायें हैं॥

आगे के एक ही पद्य में पाँच यज्ञों का निर्देश किया गया है। कई कर्मयोगी द्रव्य अर्थात् धन-सम्पत्ति से यज्ञ करते हैं। धन-सम्पत्ति लगाकर जो वेदोक्त यज्ञ किये जायँ वे तो दैव यज्ञ नाम से प्रथम यज्ञ रूप में ही आ चुके। इसलिये यहाँ द्रव्य साध्य तीर्थाटन, वापी, कूप, तडागादि का निर्माण जिन्हें धर्मशास्त्रों में पूत कर्म कहा जाता है, वे ही लेना उचित है। इन कार्यों में ही फलाशा छोड़कर अपनी सम्पत्ति का उपयोग करते रहते हैं। यह अर्थ "द्रव्ययज्ञाः" का

हुआ। कई कर्म योगी सज्जन तप अर्थात् कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों को ही यज्ञ मानकर उनमें ही अपना जीवन बिताते हैं और कई योगानुष्ठान को ही यज्ञ मान कर उसी का आचरण करते रहते हैं। यहाँ श्री मधुसूदन सरस्वती ने विशेष रूप से विवेचन किया है कि धारणा, ध्यान, समाधि ये मुख्य योग के अङ्ग तो संयम यज्ञ नाम से पूर्व ही कहे जा चुके। प्रत्याहार भी श्रोत्रादि इन्द्रियों का नियमन पूर्व कहा जा चुका और प्राणायाम आगे कहना है, इसलिये यहाँ योग के प्रारम्भिक अंग यम, नियम ही लेने चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अधिक भोग साधन का सञ्चय न करना, ये पाँच यम नाम से कहे गये हैं। देह, मन आदि की पवित्रता शौच, सन्तोष, तप अर्थात् सामान्य व्रत आदि और ईश्वर में ध्यान लगाना स्मृति, पुराणादि का अध्ययन ये पाँच नियम कहे जाते हैं। इन यम नियमों को ही यज्ञ मान कर इनके अनुष्ठान में जीवन बिताते हैं। और कई स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन और मीमांसा-विचार से उनका यथार्थ तात्पर्य समझना ज्ञान शब्द से यहाँ कहा गया; इस स्वाध्याय यज्ञ वा ज्ञान यज्ञ के द्वारा समय यापन करते रहते हैं। ये दो यज्ञ बताये गये। सब यज्ञों में आवश्यक कर्तव्य आगे दो विशेषणों से बताया जाता है कि सभी यज्ञ करने वालों को यति अर्थात इन्द्रियों को वश में रखना आवश्यक है। इसी प्रकार इनका व्रत अर्थात् नियम पूर्वक अपने काम में लगन "संशित" अर्थात् तीक्ष्ण रूप दृढ़ होना चाहिये। श्री मधुसूदन सरस्वती संशित व्रत शब्द से छठा यज्ञ कहा गया ऐसी व्याख्या करते हैं। इसका अर्थ बताते हैं कि पूर्व जो यम, नियम योग यज्ञ में बताये हैं, वे सामान्य रूप हैं; उन्हीं का सर्वत्र दृढ़ता से प्रयोग यहाँ संशित व्रत शब्द से कहा गया। जैसा कि योग दर्शन में अणुव्रत और महाव्रत नामसे अहिंसादि व्रतों के दो भेद बताये गये हैं। पूर्व में अणुव्रत कहा गया। यहाँ "संशितव्रताः" पद से महाव्रत कहा गया है।

हमारे विचार में इस पद्य में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का यज्ञ रूप से वर्णन किया गया है। गृहस्थाश्रमी द्रव्य यज्ञ होते हैं। अर्थात् अपनी सम्पत्ति से तीर्थयात्रा, व्रतादि और नित्य के पञ्च महा यज्ञ करते रहते हैं। वानप्रस्थ आश्रमी 'तपो यज्ञ' और योग यज्ञ होते हैं। कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्या रूप व्रतों का और योग साधना का धर्मशास्त्रों में वानप्रस्थ आश्रम में ही विधान पाया जाता है। 'स्वाध्याय' यज्ञ पद से ब्रह्मचर्य आश्रम का कर्तव्य बताया गया। जैसा कि अन्यत्र भी वाक्य है कि "छात्राणामध्ययनं तपः"। और "ज्ञानयज्ञ पद" से चतुर्थ संन्यास आश्रम का कर्तव्य कहा गया। उस आश्रम में केवल ज्ञान के लिये ही प्रयत्न करना होता है। "यतयः संशितव्रताः" इन पदों से यही उपदेश है कि सबको अपने-अपने कर्तव्य में दृढ़ रहना चाहिये॥

अब आगे योग के चतुर्थ अङ्ग "प्राणायाम" का ही यज्ञ रूप से निरूपण किया जाता है। हम लोग सब मनुष्यों के शरीर में प्राण आदि वायु विशेषों

की जो स्वाभाविक गति रहती है उसे रोककर एक विशेष नियमित रूप से चलाने का नाम ही प्राणायाम है। लोक में सन्ध्योपासन के समय जो प्राणायाम किया जाता है उसके तीन भेद होते हैं—'पूरक', 'कुम्भक' और 'रेचक'। नाभि प्रदेश से उठाकर हृदय द्वारा वायु को मस्तक तक ले जाने का नाम पूरक है। मस्तक में कुछ काल तक रोकने का नाम कुम्भक और वहाँ से फिर नीचे की ओर लाने का नाम रेचक है। यह सामान्यतः लोकों की शिक्षा है, किन्तु प्रकृत पद्य में इनका पातञ्जल सूत्रानुसार दूसरे ही प्रकार का अर्थ लिया गया है। बाहर के वायु का भीतर प्रवेश करना यहाँ अपान शब्द से लिया गया है और भीतर के वायु को बाहर निकालना प्राण शब्द से लिया गया है। इस प्रक्रिया के अनुसार पद्य का अर्थ है कि कुछ विद्वान् शरीरस्थ वायु की साधारणता से चलने वाली गति को रोककर अपान में प्राण का हवन कर देते हैं। अर्थात् प्राण वायु का नियमन कर केवल अपान ही किया करते हैं अर्थात् बाहर के वायु को भीतर ही खींचने का अभ्यास बहुत काल तक किया करते हैं। इससे वायु की स्वाभाविक गति को मर्यादा में लाने में सहायता मिलती है। यह पूरक प्राणायाम हुआ और दूसरे विद्वान् अपान का प्राण में होम करते हैं। अर्थात भीतर की वायु को बाहर निकालने का ही बार-बार अभ्यास किया करते हैं, यह रेंचक नाम का प्राणायाम हुआ। इसके भी अभ्यास से पूर्वोक्त ही फल होता है। आगे कुम्भक बताते हैं कि कोई विद्वान् प्राण, अपान दोनों की गति रोक कर प्राणायाम अर्थात् उनके स्थिर करने में ही तत्पर रहते हैं अर्थात् कुम्भक नाम का प्राणायाम निरन्तर करने का ही अभ्यास किया करते हैं। इस रूप से तीन प्रकार के यज्ञ इस पद्य में बताये गये। एक प्राण का अपान में हवन, दूसरा प्राण में अपान का हवन और तीसरा दोनों की गति का निरोध में हवन।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने इन पद्यों की विस्तार से व्याख्या लिखी है और योग सूत्रों के साथ इन पद्यों का समन्वय भी किया है। उनकी व्याख्या के अनुसार तीनों ही जगह कुम्भक कहे गये हैं। भीतर के वायु को बाहर निकाल कर वहीं जितना हो सके उतने समय ठहर जाना बहिः कुम्भक हुआ। और बाहर के वायु का शरीर में प्रवेश कर वहीं यथा शक्ति कुछ काल स्थिर रखना अन्तः कुम्भक है। और दोनों की ही गति रोककर यथाशक्ति कुछ काल स्थिर रहना कुम्भक का कुम्भक तीसरा कुम्भक होगा॥

अब जिसकी सिद्धि के लिये यह प्रयास किया जाता है वह चौथा प्राणायाम आगे के पद्य में बताते हैं कि कई प्रकार के योगी आहार का नियमन कर प्राणों का प्राणों में ही हवन कर देते हैं। अर्थात् रेचक पूरक आदि कुछ न कर जो वायु शरीर के जिन प्रदेशों में व्याप्त है उसे वहाँ का वहाँ ही ठहरा देते हैं, यही चौथे प्रकार का कुम्भक है। अथवा योग क्रम से जिस वायु का जप कर लिया उसमें ही औरों का हवन कर देते हैं अर्थात् प्राण, अपान इत्यादि वायु भेदों में जिस पर अभ्यास दृढ़ हो गया उसमें अन्य भेदों को लीन कर देते हैं। इसके

सिद्ध होने में भोजन आदि का नियत रूप से होना अत्यावश्यक है। यह 'नियताहाराः, पद से कहा गया। इसका विस्तार छठे अध्याय में "नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति" इत्यादि पद्य में किया जायगा। कई व्याख्याकारों के मत से यहाँ आहार पद से इन्द्रियों के सभी विषयों का ग्रहण किया गया है और यह विशेषण सभी यज्ञों में कर्ताओं पर लगाना चाहिये अर्थात् सभी यज्ञ करने वाले इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने का नियमन रखें। जहाँ तक सम्भव हो इन्द्रियों को अपने विषयों में अल्प मात्रा में जाने दें।

इस प्रकार तेरह वा चौदह प्रकार के यज्ञ बताकर उनका उपसंहार करते हैं। इन सभी यज्ञों के करने वाले यज्ञों के वेत्ता (जानने वाले) कहे जाते हैं और उन यज्ञों से इन सबके ही पाप नष्ट होते रहते हैं॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न का जो भोजन करते हैं वे सदा रहने वाले ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। यज्ञ शेष अन्न का नाम ही शास्त्रों में अमृत कहा है। तृतीयाध्याय में जो दैवयज्ञ का वर्णन किया गया है, वहीं और यहाँ भी पहला दैवयज्ञ जो बताया है, उसमें ही यज्ञ शेष अन्न का भोजन बन सकता है। क्योंकि देवताओं को आहुति देकर बचे हुए अन्न का भोजन करना वहाँ विहित है। तृतीयाध्याय में ही हम स्पष्ट कर आये हैं कि जो विशिष्ट यज्ञ न कर सकें वे पञ्चमहायज्ञ करके उनके शेष अन्न का भोजन कर लें अथवा भगवन्नैवेद्य के लिये भोजन बना कर भगवत्प्रसाद का ग्रहण करके भी इस विधि का प्रतिपालन शिष्ट लोग मान लेते हैं। किन्तु यहाँ जो संयम, प्राणायाम आदि यज्ञ बताये हैं उनमें तो अन्न का कोई उपयोग नहीं होता, फिर उससे बचे हुए अन्न का भोजन कैसे बनेगा? इसलिये यहाँ यही व्याख्या प्रायः सब ने की है कि यज्ञों के अनुष्ठान से जो समय बचे उस समय नियमित रूप से निषिद्ध पदार्थों को छोड़कर भोजन कर लेना ही यहाँ "यज्ञशिष्टाशिनः" पद का अभिप्राय समझना चाहिये। शिष्ट पद से यहाँ अन्न न लेकर समय लेना चाहिये, यही अभिप्राय हुआ। सभी यज्ञों से जो ब्रह्म प्राप्ति बताई गई है, वहाँ भी अल्प या बहुत काल का कोई नियम नहीं है। तीव्र संयम आदि करने वाले शीघ्र ही योग से तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म प्राप्ति कर लेते हैं। सामान्य रूप से इन्द्रिय निरोध, द्रव्ययज्ञ आदि करने वालों को चित्तशुद्धि द्वारा धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त होकर चिरकाल में ब्रह्म प्राप्ति होती है। यहाँ अभिप्राय इतना ही समझना कि जो कोई भी यज्ञ करता रहेगा, वह ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में चल रहा है, इसलिये कभी न कभी ब्रह्म को प्राप्त कर ही लेगा—"मार्गस्थो नावसीदति" (मार्ग में स्थित मनुष्य कभी विफल नहीं होता) आगे भी सोलहवें अध्याय में कहा जायगा कि "दैवी सम्पद् विमोक्षाय" अर्थात् दैवी सम्पत्ति में रहने वाला कभी न कभी मोक्ष प्राप्त कर ही लेगा।

इस प्रकार यज्ञ करने वालों की प्रशंसा कर आगे न करने वालों की निन्दा की जाती है कि हे कुरु वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उक्त प्रकार के यज्ञों में से कोई

भी यज्ञ जो नहीं करता उस अयज्ञ पुरुष का तो यह लोक भी नहीं बनता। पर-लोक की तो कथा ही क्या ? अर्थात् इस लोक में भी प्रतिष्ठा वा सुख वह प्राप्त नहीं कर सकता, परलोक तो उसका विगड़ा ही समझना चाहिये।

श्री रामानुजाचार्य इस लोक पद से धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग को लेते हैं और अन्य पद से परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष का ग्रहण करते हैं। अर्थात् कोई भी यज्ञ न करने वाले के धर्म, अर्थ, काम भी सिद्ध नहीं होते, मोक्ष तो उसे प्राप्त होगा ही कहाँ से ? तात्पर्य यही है कि वह मोक्ष के मार्ग पर ही न चढ़ा है तब उसको प्राप्त कैसे कर सकता है! हमारी व्याख्या के अनुसार द्रव्य यज्ञ में नित्य के पञ्च महायज्ञों का भी समावेश हो ही गया है। पञ्चमहायज्ञादि भी न करने वाला पुरुष धर्म से भी रहित हो जाता है और विना धर्म के अर्थ और काम भी सिद्ध नहीं होते। इससे भगवान् ने यही उपदेश किया है कि कोई न कोई यज्ञ करना सबके लिये आवश्यक है ॥३१॥

सत्तरवां-पुष्प

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।४।३२।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यति ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

पूर्वोक्त सब यज्ञ प्रकरण का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार बहुत से भिन्न-भिन्न यज्ञ ब्रह्म के मुख में विस्तृत हैं, श्री शंकराचार्य ब्रह्म शब्द का वेद अर्थ करते हैं, अर्थात् वेद के मुख में ये सब यज्ञ विस्तृत हैं। यहाँ आचार्य श्री का यह भी इङ्गित प्रतीत होता है कि वेद के द्वारा ही हमें इन सब यज्ञों का ज्ञान होता है, इससे ये सब यज्ञ ब्रह्मा के मुख से ही प्रकट हुए हैं, यह भी जाना जाता है। और सब उनके अनुयायी व्याख्याकार वेद के मुख अर्थात् प्रारम्भ में पूर्व काण्ड में ब्राह्मण विस्तृत हैं, ऐसी ही व्याख्या करते हैं।

श्री रामानुजाचार्य यह अर्थ करते हैं कि ये सब यज्ञ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के मुख अर्थात् प्राप्ति के उपाय रूप से विस्तृत हैं। तात्पर्य यह है कि इन यज्ञों का अनुष्ठान परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही करना चाहिये। पद्य के उत्तरार्द्ध का अर्थ है कि इन सभी यज्ञों को कर्म से उत्पन्न हुआ समझो। तप, योग आदि जो भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ बताये हैं; वे भी कर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। शरीर, वाणी वा मन का कोई न कोई व्यापार सब में ही करना पड़ता है। यद्यपि आत्मा का ही परमात्मा में हवन जो द्वितीय यज्ञ रूप (शंकराचार्य के मतानुसार) बताया है और इन्द्रिय, कर्म तथा प्राण कर्मों का आत्मसंयम रूप अग्नि में जो हवन पञ्चम यज्ञ में कहा है। इनमें शरीर और वाणी के कर्म की

आवश्यकता नहीं होती, तथापि मैं "ऐसा हवन करता हूँ" इस प्रकार का मन का व्यापार तो वहाँ भी अपेक्षित होगा ही। इस आशय से भगवान् ने सबको ही कर्मज कहा। इस कर्मज कहने का मुख्य आशय यह है कि सब प्रकार के यज्ञ करते हुए भी आत्मा निर्लिप्त ही रहता है। आत्मा विभु है। उसमें किसी प्रकार का व्यापार हो ही नहीं सकता। इस प्रकार आत्मा को निर्लिप्त मान कर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जावोगे।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि इन यज्ञों में नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान भी अन्तर्गत है। उन नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से तुम अशुभ अर्थात् पाप कर्मों से मुक्त हो जावोगे।

लोकमान्य तिलक ने "ब्रह्मणो मुखे" इन पदों का ऐसा अर्थ किया है कि इन यज्ञों में जो व्यापक दृष्टि बताई गई है उस दृष्टि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति सर्वत्र ही ब्रह्मभाव देखता है। इसलिए उसकी यही बुद्धि होती है कि मैं तप, ध्यान आदि यज्ञ भी ब्रह्म के मुख में ही कर रहा हूँ। ब्रह्म का मुख अग्नि प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध वैदिक यज्ञ अग्नि में ही होते हैं। इसीलिए प्रत्येक यज्ञ में हवनाधार की अति रूप से कल्पना की गई है। यही उपसंहार में भी है कि हवनाधार को ब्रह्म का मुख अग्नि रूप मानकर ही सब यज्ञ करने चाहिये ॥३२॥

आगे ज्ञान यज्ञ की स्तुति अध्याय की परिसमाप्ति तक की जाती है। आरम्भ के उपोद्घात में ही हम लिख चुके हैं कि भगवान् का मुख्य लक्ष्य ज्ञान का उपदेश ही है। अर्जुन का मोह बिना ज्ञानोपदेश के हट नहीं सकता था। इसलिए आरम्भ से ही भगवान् ने ज्ञानोपदेश ही प्रस्तुत किया है। लोकमान्य तिलक यद्यपि भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग को मानते हैं; किन्तु वे भी ज्ञान मूलक और भक्ति प्रधान ये दो कर्मयोग के विशेषण देते हैं। इसलिए स्थान-स्थान पर ज्ञान की प्रशंसा आवश्यक है।

पद्य का अर्थ है कि हे पार्थ! द्रव्य अर्थात् हवि आदि बाह्य पदार्थों से जो यज्ञ किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अति श्रेष्ठ है। इसका कारण उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि सब कर्म पूर्ण रूप से ज्ञान में मिलकर समाप्त हो जाते हैं।

यहाँ "सर्वम्" और "अखिलं" ये दोनों कर्म के विशेषण एकार्थ से प्रतीत होते हैं। किन्तु इसका समाधान यही है कि एक को कर्म का विशेषण मान लेना और दूसरे को क्रिया अर्थात् परिसमाप्ति क्रिया का विशेषण मान लेना। इससे यही अर्थ होगा कि सभी कर्म निः शेष रूप से ज्ञान में विलीन हो जाते हैं।

कई व्याख्याकार "अखिलं" का अर्थ कर्म के उपकरण भी करते हैं। अर्थात् कर्म और कर्म के उपकरण सभी ज्ञान में लीन हो जाते हैं। कहीं-कहीं सर्व शब्द से वैदिक याग और अखिल शब्द से स्मार्त यागों का भी ग्रहण किया गया है। सब कर्मों के ज्ञान में लीन हो जाने का अभिप्राय यही है कि सब कर्मों का अन्तिम फल तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना ही है। अपना तत्त्वज्ञान रूप फल प्राप्त

कराकर कर्मों का परिसमाप्त वा लीन हो जाना स्वाभाविक ही है। क्योंकि फल प्रदान पर्यन्त ही संस्कार रूप से कर्म रहते हैं। अपना फल देकर सभी कर्म नष्ट हो जाया करते हैं। अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जैसा द्वितीयाध्याय में कह आये हैं कि कूप, नदी आदि में जितना काम हो सकता है; चारों तरफ ही जल भरा हुआ हो तो वह सभी काम उससे निकल जाता है। इसी प्रकार सब कर्मों का फल ज्ञान से प्राप्त हो जाता है। इस अभिप्राय से सब कर्मों की ज्ञान में परिसमाप्ति बताई गई ॥३२॥

आगे वह ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय; इसका उपाय बताते हैं कि आचार्य के पास जाकर उनको प्रणाम करते हुए और बार-बार उनसे पूछते हुए, उनकी सेवा करते हुए, उस ज्ञान को तुम प्राप्त करो। जो ज्ञानी अर्थात् शास्त्रजनित ज्ञान वाले और तत्त्व द्रष्टा हैं, अर्थात् न केवल शब्द ज्ञान किन्तु मनन, निदिध्यासन पूर्वक आत्म साक्षात्कार भी जो कर चुके हैं; वे तुम्हें ज्ञान का उपदेश दे देंगे।

यहाँ बहुवचन पद आदरसूचक है, ज्ञान प्राप्ति तो एक ही आचार्य से हो सकती है, बहुतों की आवश्यकता नहीं। इसलिये यही मानना उचित है कि एक ही आचार्य को आदर दिखाने के लिए कहा गया। जैसा कि संस्कृत भाषा में बहुधा आदरार्थ बहुवचन देखा जाता है। कई व्यख्याकार बहुवचन का यह भी अभिप्राय लगाते हैं कि उपदेश तो एक ही आचार्य से प्राप्त करो, किन्तु अन्य तत्त्वदर्शियों से प्रणिपात-सेवा आदि करते हुए प्रश्न रूप से जिज्ञासा किया करो। इस प्रकार बहुतों के साथ सम्भाषण से ज्ञान की लगन बढ़ेगी और शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर लोगे।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि भगवान् ने ही स्वयं ज्ञान क्यों न दे दिया और आचार्यों के पास जाने को क्यों कहा? अर्जुन तो "शिष्यस्तेऽहं" कहकर भगवान् से पूर्ण रूप से जिज्ञासा कर चुका है और प्रणिपात, परिप्रश्न आदि भी बार-बार कर ही रहा है। इसका एक समाधान तो हम उपोद्घात प्रकरण में—गीता स्मृति क्यों है? इसके विवेचन में कर चुके हैं कि यहाँ गुरु-शिष्य भाव से विद्याग्रहण करने का अवसर नहीं है। अर्जुन स्वयं प्रभु बनकर रथी रूप से बैठा है और उपदेष्टा गुरु को उसने अपने सारथि बना रखा है। ऐसी स्थिति में गुरु-शिष्य भाव से उपदेश नहीं हो सकता। दूसरा उत्तर यह भी है कि यहाँ ज्ञान शब्द से आत्म साक्षात्कार पर्यन्त भगवान् को विवक्षित है। वह काम एक दिन या एक दिन के अंश में नहीं हो सकता। केवल वाचिक उपदेश हो सकता है जो भगवान् कर ही रहे हैं; किन्तु उस पर मनन और निदिध्यासन अर्थात् बार-बार ध्यान बहुत काल में साध्य है। इसी के लिये भगवान् ने युद्ध आदि से निवृत्त होकर किसी आचार्य के पास जाना और उनसे प्रणिपात जिज्ञासा आदि करना। तब उनके बताये हुए मार्ग से मनन, निदिध्यान के द्वारा आत्म साक्षात् कर सकोगे। इसीलिए इस पद्य में "तत् (ज्ञानं) विद्धि" ऐसा कहा गया। "विद्" धातु का अर्थ भी ज्ञान है, उसका कर्म भी ज्ञान कैसे बनेगा "ज्ञान को जानो" यह तो

स्पष्ट पुनरुक्ति होगी। इसलिए ज्ञान का अर्थ यहाँ साक्षात्कार ही करना उचित है। साक्षात् के प्रकारों को आचरण से जानो; यह वाक्य समन्वय ठीक हो जाता है।

इस प्रकार आचार्यों की सेवा आदि करने से मुझे क्या फल प्राप्त होगा? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए उसका फल अग्रिम पद्य में बताते हैं कि इस प्रकार आचार्यों से ज्ञान प्राप्त कर तुम फिर इस प्रकार के मोह में न पड़ोगे, जैसा कि स्व और पर मोह तुम्हें हो रहा है। और सब भूतों को अपने आप में और फिर मुझमें देखोगे।

हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अर्जुन के मोह का मूल अपना और पराया यह भेद-भाव समझना ही था। वैसे तो अर्जुन ने बहुत संग्राम किये थे; उनमें सबमें हिंसा होती ही थी। किन्तु यहाँ अपने आदमियों को युद्ध में खड़ा देखकर उसे मोह हुआ था। इसीलिए उसके कथन का प्रारम्भ भी यहीं से था कि अपने आदमियों को युद्ध में खड़ा देखकर मेरे गात्रों में विषाद हो रहा है, अस्तु, यही स्व और पर का मोह मिटाने के लिए भगवान् कहते हैं कि तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो फिर यह स्व और पर का मोह नहीं रहेगा। सब प्राणियों को एक समान देखोगे। वस्तुतः आत्मज्ञान स्वरूप ही है, इसलिये तत्त्व समझकर ज्ञान स्वरूप अपने आप में ही सबको देखोगे और फिर मुझ परमात्मा में ही सबको देखोगे। "मेरे ही सब अंश हैं" यह परम ज्ञान भी प्राप्त करोगे। तात्पर्य यही है कि जीवात्माओं का परस्पर भेद और परमात्मा से उनका भेद, ये दोनों ही प्रकार के भेद, तुम्हारी दृष्टि से हट जायेंगे। सब में अद्वैत भाव ही देखने लगोगे, इससे स्व पर भेद निवृत्त हो जायगा।

कई व्याख्याकार उत्तरार्द्ध के "अथो" शब्द को पूर्वार्द्ध के साथ जोड़कर यह अर्थ करते हैं कि ज्ञान होने के अनन्तर सर्वात्मभूत मुझ परमात्मा में ही सबको देखोगे।

श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्त में जीवों का परस्पर भेद और परमात्मा से भी उसका भेद वास्तविक है। वह ज्ञान से नहीं मिट सकता है। इसलिए वे इसका अर्थ करते हैं कि सब भूतों को अपने समान ही देखोगे, क्योंकि ज्ञान सब में एक सा है। भिन्नत-भिन्न होने पर भी कोई विलक्षण तो उनमें नहीं है। समानता के कारण ही एकरूपता यहाँ बताई गई है और अज्ञान मिट जाने पर जीव परमात्मा के भी समान हो जाता है। इसीलिए श्रुति में कहा है कि "निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति" और गीता में भी "मम साधर्म्यमागता" इस वचन से समानता ही बताई है। "आत्मनि" का अर्थ आत्मा के समान और "मयि" का अर्थ मेरे समान कैसे हो गया, यह तो हमारे बुद्धि का अगम्य विषय है।

"यज्ज्ञात्वा" पद में यत् पद से पूर्व पद्योक्त ज्ञान ही लिया जायगा, फिर "ज्ञानं ज्ञात्वा" में जो पुनरुक्ति सी प्रतीति होती है, इसका समाधान "तद्विद्धिः" पद पर जो लिखा जा चुका है; वही यहाँ समझ लेना चाहिये ॥३५॥

कदाचित् अर्जुन के मन में यह शङ्का हो कि जब मैं युद्ध जैसे घोर पाप कर्म से लिप्त हो जाऊँगा, तो फिर मेरे मलिन अन्तःकरण में ज्ञान का उदय ही कैसे होगा और ज्ञान होकर भी उस पाप कर्म से छुटकारा कैसे होगा। बिना कर्म बन्धन से छूटे तो मुक्ति हो ही नहीं सकती, तो इस शंका का उत्तर भगवान् पहिले ही दे देते हैं कि यदि तुम सब पापियों से भी अधिकतर पाप करने वाले होगे तो भी उस ज्ञानरूप नौका से सत्र पाप समुद्र को पार कर जावोगे।

तत्त्व ज्ञान के लिए प्रयत्न करना भी पाप के च्चय का कारण होता है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति में भी पाप कर्म तुम्हें बाधा न देंगे।

उत्तरपद्य में दृष्टान्त से यह सिद्ध किया जाता है कि ज्ञान उत्पन्न होते ही कर्म बन्धन कैसे हट जायगा ? ज्ञान तो उस समय अल्प मात्रा में रहेगा और पाप बहुत बड़ी मात्रा में होंगे। पद्य का अर्थ है कि जैसे जलाया हुआ अग्नि काष्ठ के ढेर को अतिशीघ्र भस्म कर डालता है। इसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों के ढेर को भस्म कर देता है।

इसका आशय यही है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर रागद्वेष विमुक्त आत्मा में कर्म अपने फल रूप सुख-दुःखों को उत्पन्न नहीं कर सकते। क्योंकि जिसने आत्मा को निर्लिप्त विशुद्ध समझ लिया, उसे सुख-दुःख होही कैसे सकेंगे। इससे कर्मों की सुख-दुःखोत्पादन शक्ति नष्ट हो गई, यही कर्मों का भस्म होना है। अब उनमें सुख-दुःख देने की शक्ति कभी न आवेगी। इसीलिए बीज भाव ही नष्ट हो जाने के कारण कर्मों का निःशेष भस्म होना कहा गया। "साति" प्रत्यय यहाँ निःशेष अर्थ में ही हैं। अन्य वचनों के साथ एक वाक्यता करके इसका आशय यह लेना पड़ता है कि वर्तमान शरीर जिनसे मिला है, वे प्रारब्धकर्म तो भस्म होते नहीं, क्योंकि "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव च्चयः" (प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही क्षय होता है) और अब जो कर्म किये जा रहे हैं; वे क्रियमाण कर्म ज्ञानी में अतिशय पैदा नहीं करेंगे; यह पहिले से ही कहते आ रहे हैं। तब यहाँ पर भी भाव केवल संचित कर्मों का बताया गया है। प्रत्येक प्राणी के साथ अनादि काल से किये हुए कर्म, जिन्हें अभी फल देने का अवसर नहीं मिला, उनका एक बहुत बड़ा ढेर रहता है। काल के अनुसार परिपाक प्राप्त कर वे ही भिन्न-भिन्न शरीरों के आरम्भक होते हैं, अर्थात् कमे के रूप में आते-जाते हैं। ज्ञान उत्पन्न होने पर उनका बीज भाव नष्ट हो जायगा, अर्थात् वे कभी प्रारब्ध कम के रूप में आकर जन्म न दिला सकेंगे। जन्म होने का मुख्य कारण अविद्या ही है, वह अविद्या जब ज्ञान से नष्ट हो गई तो फिर जन्म की कथा ही क्या रही ? इसीलिए कर्मों का भी बीज भाव नष्ट होना यहाँ बताया गया। क्रियमाण कर्मों में तो सुख-दुःख, जनन शक्ति ज्ञान के लिए प्रयत्न करती ही जाती रहती हैं, यह कर्मयोग के सिद्धान्त में बार-बार उपदेश किया गया है।

इकहत्तरवां-पुष्प

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ४।३८।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोतिष्ठ भारत ॥४२॥

आगे ज्ञान की ही स्तुति और करते हैं कि ज्ञान के समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान ही सबसे अधिक रूप से आत्मा को पवित्र करने वाला है। वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है—यह उत्तरार्द्ध में कहा जाता है कि योग अर्थात् कर्मयोग व समाधि योग में सिद्धता प्राप्त हुआ मनुष्य समय पाकर अपने आत्मा में ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह शङ्का अवश्य होगी कि अभी इससे चार पद्य पूर्व में तो भगवान् का उपदेश ऐसा कहा जा चुका है कि "आचार्य से प्रणिपात करके पूछो, वे तुम्हें ज्ञान का उपदेश देंगे, उससे ज्ञान प्राप्त होगा" और यहाँ यह कहा जाता है कि अपने आप ही आत्मा में समय पाकर ज्ञान का लाभ हो जाता है, यह तो पूर्वापर विरुद्ध हुआ। किन्तु रहस्य समझने पर ऐसी शंका नहीं रहती।

रहस्य यह है कि—

ज्ञान कहीं और जगह से लाना नहीं पड़ता, न ज्ञान किसी का दिया हुआ मिलता है, अपितु ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। वह तो नित्य प्राप्त है। स्वरूप अपने से पृथक् कैसे होगा। फिर यहाँ जो ज्ञान का लाभ कहा है, वह लाभ भी "कण्ठ चामीकर न्याय" से वा "दशमस्त्वमसि" न्याय से है। इन न्यायों का स्वरूप वेदान्त ग्रन्थों में यह बताया जाता है कि जैसे किसी के गले में सुवर्ण का कण्ठा हो, किन्तु नशे में वा प्रमाद से यह समझ ले कि मेरे पास कण्ठा नहीं है और कण्ठा खो गया। कहकर बड़ा अनुशोचन करने लगे, उस समय कोई दूसरा विज्ञ पुरुष आकर उसे बता दे कि भाई कण्ठा तो तुम्हारे गले में है,

अनुशोचन क्यों करते हो ? तब जैसे वह कण्ठा मिल गया कहकर आनन्द में मग्न हो जाता है। वैसे ही आत्मा ज्ञान स्वरूप है और स्वयं प्रकाश है, किन्तु अविद्या के आवरणवश उसका प्रकाश नहीं हो रहा है। जब आचार्य उसे बता देते हैं कि ज्ञान वा आनन्द तो तुम्हारा स्वरूप ही है, तब वह जानकर आनन्द मग्न हो उठता है। यही "कण्ठ चामीकर न्याय" है।

दूसरा न्याय इस प्रकार है कि दस मनुष्य किसी नदी को पार करने लगे। जब पार कर गये, तब उनने सोचा कि हम सब आगये, कोई रह तो नहीं गया ? गिनती कर लेनी चाहिए तब जो गिनती करने लगता वह अपने से अतिरिक्त नव को गिन लेता और अपने आपको नहीं गिनता। सबने ही ऐसा कर निश्चय किया कि हमारा एक कोई साथी नदी में बह गया। ऐसा समझकर वे सब शोक में पड़ गये और रोने लगे। तब किसी बाहर के समझदार पुरुष ने उनके रोने-धोने का कारण जानकर कहा कि तुम दस के दस तो उपस्थित हो, फिर शोक क्यों करते हो ? उसके सामने भी उनने नव को गिनकर दिखाया तब उसने कहा कि "दशमस्त्वमसि" (अरे दशवाँ तू है) तब वे पूरे दस समझ कर शोक भूलकर आनन्द में आ गये। इसी प्रकार कभी-कभी व्यवहार दशा में ऐसा प्रमाद हो जाता है कि वस्तु के उपस्थित रहने पर भी उसका अभाव समझ कर शोक होने लगता है। यही दशा आत्मा के ज्ञान और आनन्द की है। वे आत्मा के स्वरूप होने पर भी अविद्यावश भूले हुए हैं। उन भूले हुओं को ही आचार्य स्मरण करा देता है। प्रथमतः आचार्य के उपदेश से ही अविद्या का आवरण ज्ञान और आनन्द का स्फुरण होता है, यही उपदेश उपनिषद् वाक्यों में भी कई जगह आया है—"प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" "अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र-नास्ति" आचार्याद्धयेव विद्या विदिता—इन्हीं वाक्यों के अनुसार भगवान् ने भी यहाँ प्रणाम, सेवा, प्रश्न आदि कर आचार्य से जानने का उपदेश दिया, किन्तु केवल आचार्य के उपदेश से ही अविद्या का आवरण सर्वथा नहीं हट जाता। उसे हटाने के लिए मनन और निदिध्यासन भी करने पड़ते हैं। निदिध्यासन अर्थात् बार-बार ध्यान करने में प्रारब्ध वा कर्मयोग की स्थिति के अनुसार किसी अधिकारी को बहुत समय लग जाता है और किसी को शीघ्र सफलता मिल जाती है। इसीलिए पद्य में "कालेन" यह सामान्य पद्य दिया है। अपने-अपने अधिकारानुसार अथवा बहुत काल उससे समझ लेना। इसके अनन्तर पहिले अन्तःकरण की वृत्ति आत्माकार बनती है। इसलिए जिन व्याख्याकारों ने इस पद्य में आत्मा अर्थ अन्तःकरण किया है वह भी विरुद्ध नहीं होता। अनन्तर वह वृत्ति भी विलीन होकर स्वयं प्रकाशात्मा ही रह जाता है। इस आत्मा की ज्ञानरूपता के प्रकट करने के लिए यह स्पष्ट भगवान् ने बताया कि ज्ञान अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है, उसे कहीं से उधार नहीं लाना पड़ता। वेदान्त के पञ्चदशी ग्रन्थ में ज्ञान की आत्मस्वरूपता और स्वप्रकाशता स्पष्ट की गई है।

श्री भगवद्गीता में भी आगे पञ्चमाध्याय में कहा जायगा कि—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५॥१६॥

इससे भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है और उसे अज्ञान ने आवृत कर रखा है। वह आवरण दूर होने पर ज्ञान का प्रकाश स्वच्छ हो जाता है। जैसे सूर्य पर बादल का आवरण आया हो और उसके हट जाने पर सूर्य का प्रकाश हमारे लिए स्वच्छ हो जाता है। इस पद्य से पूर्वोक्त प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समझ लेने पर गीता में पूर्वापर विरोध की कोई शङ्का नहीं रह जाती ॥३८॥

आगे ज्ञानका प्रकाश होने के अन्तरङ्ग साधन कहते हैं कि श्रद्धावान्, तत्पर अर्थात् सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिसे लगन हो और इन्द्रियों का संयमन जिसने किया हो—इन्द्रियाँ जिसके वश में हों वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान प्राप्त कर के बहुत शीघ्र परमशान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पूर्वोक्त आचार्य के प्रति प्रणिपात, परिप्रश्न आदि तो ज्ञान के बहिरङ्ग साधन हैं। ज्ञान प्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन तो गुरु, शास्त्र वचन आदि में श्रद्धा है। दोष दर्शन की वृत्ति मनुष्यों में स्वभावतः होती है। उस वृत्ति की प्रतिबन्धक वृत्ति को "श्रद्धा" कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि जिसमें मनुष्य की श्रद्धा हो उसमें दोष देखने की वृत्ति का कभी उदय ही नहीं होता, उस वृत्ति को रोक देने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ही "श्रद्धा" कही जाती है। अथवा "श्रत्" यह अव्यय चेप के अर्थ में आता है। जिसपर अपना अन्तःकरण चिपक-सा गया हो, उस अन्तःकरण के चेप को ही "श्रद्धा" कहते हैं। श्रद्धा होने पर भी जिसे लगन न होगी उसे ज्ञान प्राप्त करने में विलम्ब लगेगा। इसलिए तत्परता को भी साथ कहा गया और श्रद्धा भी हो, लगन भी हो, किन्तु इन्द्रियाँ वश में नहीं हों तो वह श्रद्धा और लगन भी कुछ न कर सकेंगी। इन्द्रियाँ ही पुरुष को चक्कर में भटकाती रहेंगी। इस आशय से इन्द्रिय संयम भी कहा गया। ये तीनों अन्तरङ्ग साधन इकट्ठे हो जाने पर आचार्योपदेश से ज्ञान अवश्य प्राप्त होगा और ज्ञान प्राप्त होनेपर चित्त की चञ्चलता मिटकर तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो जायगी। और आगे उसे शान्ति रूप मोक्ष प्राप्ति करने में भी विलम्ब न लगेगा। जैसा कि कहा जा चुका है—मोक्ष परमानन्द का नाम है, और वह आनन्द भी आत्मा का स्वरूप ही है। अज्ञान का आवरण दूर होते ही आत्म स्वरूप आनन्द तत्काल मिल जाता है। आनन्द का मिलना भी पूर्वोक्त "कण्ठ चामीकर न्याय" से ही समझना चाहिये। इसका एक और भी दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे कस्तूरी मृग के अणु में ही कस्तूरी रहती है, किन्तु इसका गन्ध आने पर मृग उस गन्ध को बाहर से आया हुआ समझ लेता है और उसकी प्राप्ति के लिए चारों ओर भटकता रहता है। यही दशा सब प्राणियों की है। आनन्द उसके आत्मा में है, किन्तु वे आनन्द को

बाहर की वस्तु समझ कर वे बाहर विषयों में भटकते रहते हैं। आनन्द भी दो प्रकार का माना जाता है : शान्त्यानन्द और समृद्ध्यानन्द। उनमें शान्त्यानन्द ही मुख्य है और वही आत्मा का स्वरूप है। विषयों में जो आनन्द की झलक कभी-कभी दिखाई पड़ती है, वह भी अन्तःकरण के स्थिर होने पर आत्मानन्द का ही आभास है। इस विषय का विवरण हम पूर्व कर चुके हैं। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति न करेंगे ॥३९॥

उक्त पद्य में श्रद्धा और ज्ञान का महत्व दिखाकर आगे जिसे दोनों नहीं हैं, उस पुरुष की निन्दा की जाती है कि जो अज्ञ है अर्थात् आत्मज्ञान जिसे प्राप्त नहीं हुआ और गुरु और शास्त्र के वचनों में जिसे श्रद्धा भी नहीं है, साथ ही जिसके अन्तः करण में निरन्तर सन्देह रहा करता है कि न जाने परलोक कोई है या नहीं। जीव के बन्धन, मोक्ष वास्तविक हैं या यह कोरा ढकोसला ही है। मुझे मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिये या सांसारिक भोगों के आनन्द में ही रहना चाहिए ? इत्यादि रूप संशय जिसके मन में सदा बने रहते हैं, वह पुरुष तो नष्ट ही होगा, अर्थात् सदा संसार चक्र में घूमता रहेगा। मोक्ष की ओर झुकना उसका संभव ही नहीं।

नीति वेत्ताओं ने भी कहा है कि—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥

अर्थात् जो कुछ भी नहीं जानता उसे सिखाया जा सकता है और जो विशेष जानता है, उसे संकेत मात्र से ही कोई नया विषय समझाया जा सकता है। किन्तु जो थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर उसी के आधार पर अभिमानी हो गया है, उस पुरुष को तो ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता। महात्मा भर्तृहरि ने भी नीति शतक में बड़े प्रपञ्च से लिखा है कि—चाहे कोई बड़े यत्न से बालू में से तेल निकाल ले और चाहे कोई मृग तृष्णा के जल से भी अपनी प्यास बुझाले। इसी प्रकार इधर-उधर भटकता हुआ कहीं शश (खरगोस) का शृङ्ग भी प्राप्त करले। किन्तु जो मूर्ख होकर भी अपने विचारों का आग्रही है, उस मनुष्य के चित्त को कोई भी नहीं बदल सकता। ऐसे ही पुरुष का वर्णन इस पद्य में भी किया गया है कि जो स्वयं जानता भी नहीं और बड़े पुरुषों के वा प्राचीन ग्रन्थों के वाक्यों पर श्रद्धा भी नहीं रखता अर्थात् उनमें दोष ही निकालता रहता है, वह सब विषयों में सदा संदेह ही करता रहता है। उसके उद्धार का कोई उपाय नहीं।

आगे सब विषयों में सन्देह रखने वाले की घोर निन्दा करते हैं कि जिसका अन्तःकरण सदा सन्देहों से भरा रहता है, वह तो इस लोक में भी कोई प्रतिष्ठा वा सुख नहीं पा सकता और न अपना परलोक ही सुधार सकता है, न उसे कुछ सुख ही मिल सकता है। सुख के साधनों में भी उसे सदा ही

सन्देह बना रहेगा। जैसा कि ऐसे ही पुरुष का किस्सा कहा करते हैं कि किसी प्रतिष्ठित पुरुष के यहाँ कोई नोकर था, उसके स्वामी ने एक दिन कहा कि घर में कोई रोगी है, उसके लिए अमुक वैद्य जी को बुला लाओ। यह सुनकर उसने नाना सन्देह उपस्थित किये कि यदि मैं वहाँ गया और वैद्य जी न मिले तो जाना व्यर्थ ही होगा। यदि मिल भी गये और दूसरे कार्य में लगे होंगे तो भी वे न आ सकेंगे। यदि आ भी गये और उनकी औषधि से कोई लाभ न हुआ तो यह सब आयोजन व्यर्थ ही होगा, इत्यादि, उसकी बातें सुनकर स्वामीने उसे निकाल दिया। निरन्तर संशयाक्रान्त रहने वाले की यही दशा होती है उसका यह लोक, बाहर लोक कुछ भी नहीं बनता और कोई सांसारिक सुख भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता। इस वाक्य से भगवान् अर्जुन पर कटाक्ष करते हैं कि तुम्हारा अन्तःकरण भी इस समय संशयों से घिर गया है। उसमें धर्माधर्म का कोई निर्णय नहीं हो पाता, इस संशय को छोड़ो, अन्यथा तुम भी इसी गति में गिरोगे ॥४०॥

आगे योग्य पुरुषों का कर्तव्य बताते हैं कि हे धनञ्जय! जिनने योग अर्थात् समाधि दशा प्राप्तकर कर्मों का संन्यास कर दिया है अर्थात् सब कर्म छोड़ दिये हैं और आत्मज्ञान हो जाने से जिसके सब संशय भी छिन्न-भिन्न हो गये हैं। ऐसे आत्मवान् अर्थात् आत्मा को जानने वाले पुरुष को वा दृढ़ अन्तःकरण वाले पुरुष को कोई कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते।

श्री रामानुजाचार्य इसका अर्थ करते हैं कि योग अर्थात् पूर्वकथित ज्ञानयोग से जिसके सब कर्म ज्ञान रूप में परिणत हो गये हैं और ज्ञान से आत्मज्ञान दृढ़ हो जाने से जिसके सब संशय दूर हो गये हैं, उस मनस्वी पुरुष को पुराने संचित कर्म भी बन्धन में नहीं डाल सकते।

लोकमान्य तिलक का तो यह सिद्धान्त है कि गीता में केवल योग पद जहाँ आया है, वह कर्मयोग का ही बोध कराता है। इसके अनुसार वे यही अर्थ करते हैं कि याग अर्थात् कर्म योग से जिसने कर्मों का अर्थात् कर्म फलों का संन्यास कर दिया है और ज्ञान से जिसके संशय दूर हो गये हैं। इस आत्मज्ञानी पुरुष को कोई कर्म बन्धन में नही डाल सकते। इस प्रकार उनके मत में यहां संन्यास शब्द का अर्थ भी फल संन्यास ही है। किन्तु ऐसी व्याख्या करने पर पञ्चमाध्याय के आरम्भ का अर्जुन का प्रश्न नहीं बन सकता, उस प्रश्न के स्वारसिक बनाने के लिए यहाँ संन्यास शब्द का अर्थ कर्मसंन्यास हो करना उचित है। तभी इस पद्य में संन्यास कहा और अग्रिम पद्य में पुनः कर्मयोग का उपदेश देते हैं, इससे वह प्रश्न बन जाता है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

अब सन्देह यह होगा कि जब कर्मों का स्वरूपतः संन्यास ही बताया गया, तब कर्म रहे ही कहाँ जो बन्धन में डाल सकते। फिर उस पुरुष को कोई कर्म बन्धन में नहीं डालते यह इस श्लोक का कथन ही कैसे संगत होगा? इसका उत्तर यही है कि श्री रामानुजाचार्य के अनुसार "कर्म बन्धन में नहीं

डालते" यहाँ कर्म शब्द का अर्थ संचित कर्म ही लेना चाहिये। जैसे कि पूर्व कहा जा चुका है कि ज्ञान रूप अग्नि संचित कर्मों को भी जलाकर भस्म कर देता है, उसी का यहाँ पुनः संकेत किया गया।

तात्पर्य यह है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। अनादि काल से जीवात्मा जो कर्म करता रहा और उन कर्मों को अभी अपना फल देने का अवसर नहीं मिला वे "संचित कर्म" कहे जाते हैं। और जो उनमें से अपना फल देने के लिए वर्तमान जन्म के कारण बनते हैं, वे "प्रारब्ध कर्म" कहे जाते हैं। एवं इस जन्म में किये जाकर जो कर्म अपना संस्कार आत्मा में उत्पन्न करते हैं वे "क्रियमाण कर्म" नाम से व्यवहृत होते हैं। उनमें से इस पद्य में कहे गये पुरुष के क्रियमाण कर्म तो कर्मसंन्यास के कारण होंगे ही नहीं, और प्रारब्ध कर्मों का भोग से ही नाश होगा। तब बचे "संचित कर्म"। वे ज्ञान रूप अग्नि से नष्ट हो जाते हैं तब कोई भी कर्म उक्त पुरुष को बन्धन में नहीं डाल सकते। अथवा जब तक शरीर है तब तक शरीर यात्रा के लिए संन्यास दशा में भी जो भिक्षा आदि कर्म करेगा, अथवा शरीर धर्म रूप से जो वृथा चेष्टा रूप कर्म करता रहेगा वे कर्म बन्धन में नहीं डालते, यह भी अभिप्राय लगाया जा सकता। यही इस पद्य का आशय हुआ ॥४१॥

आगे उपसंहार करते हैं कि हे भारत! यह सब समझ कर जो तुम्हारे हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशय स्थान प्राप्त कर रहा है, इस संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काट कर कर्मयोग में प्रवृत्त हो जाओ और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

पहिले ज्ञान को अग्निरूप कह कर उससे कर्म का भस्म होना कहा गया है और यहाँ उसी ज्ञान को खड्ग रूप बता कर उससे संशय का छेदन बताया है। इसका आशय यह है कि कर्म जनित संस्कार आत्मा पर आगन्तुक है। उनके जलाने पर आत्मा की कोई क्षति नहीं होगी। इसलिए निः शेष रूप से हटाने के लिए उनका जलाना ही ठीक है। इस आशय से ज्ञान को अग्नि का रूप देकर कर्म जनित संस्कारों का उससे भस्म होना कहा गया, किन्तु "संशय" अन्तःकरण की वृत्ति है, वह अन्तःकरण का ही एक अंश हुआ, उसका जलाना अन्तःकरण का ही जलाना होगा। अन्तःकरण आत्मा से नित्य संबद्ध है, वहाँ तो यही उचित होगा कि उस संशय वृत्ति के अंश को काट कर अन्तःकरण से निकाल दिया जाय। काटना शस्त्र से ही हो सकता है। इसलिए ज्ञान को तलवार का रूपक देकर उससे संशय का काटना ही बताया गया। इसी आशय से संशय को हृदय में स्थित कहा है। शरीर में कोई व्रण हो जाय तो उसे काट कर ही निकालना उचित होता है। इसलिए यहाँ संशय का छेदन साहित्य दृष्टि से भी बहुत उपयुक्त कहा गया है ॥४२॥

॥इति चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ पंचम-अध्याय

बहत्तरवां-पुष्प

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण! पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्री भगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

पूर्वाध्याय में पहिले कर्मयोग का ही प्रधान रूप से प्रतिपादन हो रहा था किन्तु अन्त में आकर यज्ञों के प्रकरण में उपसंहार में यह कहा गया कि द्रव्य-यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है और यह भी कहा कि सब कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर कोई कर्तव्य नहीं रहता। अध्याय के उपसंहार में भी "योगसंन्यस्त कर्माणं" इसके जो दो अर्थ किये गये हैं, उनमें एक अर्थ के द्वारा स्पष्ट रूप से कर्म संन्यास कहा गया; इस प्रकार ज्ञान की श्रेष्ठता ज्ञान में ही कर्म की परिसमाप्ति और स्पष्ट शब्दों में संन्यास का विधान करके भी अन्तिम पद्य में पुनरपि कर्मयोग के लिये अर्जुन को उठने अर्थात् युद्ध-समुद्यत होने का जो उपदेश दिया, उससे अर्जुन के चित्त में फिर सन्देह हो गया। इस सन्देह को मिटाने के लिए वह पुनः प्रश्न करता है कि हे कृष्ण ! (इस सम्बोधन का अभिप्राय है कि आप भक्तों के चित्त के आकर्षण करने वाले हैं, आपको अपने भक्तों के लिये उत्तम ही मार्ग बताना चाहिये) किन्तु आप मुझे कर्मसंन्यास भी कहते हैं और फिर भी कर्मयोग रूप युद्ध में प्रवृत्ति की प्रेरणा कर रहे हैं; दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य तो हो नहीं सकते, इसलिये एक ऐसा निश्चित मार्ग बताइये जो दोनों में श्रेष्ठ हो (उसी का अनुष्ठान मैं करूँगा)।

श्री भगवान् उत्तर देते हैं कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण देने वाले हैं किन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेषता रखता है।

यह प्रश्नोत्तर उस अधिकारी के लिए है जो पूर्ण ज्ञान न कर चुका हो। अभी साधन दशा में ही हो—ऐसा श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी अन्य व्याख्याता भी मानते हैं। क्योंकि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तो कर्मयोग बन

ही नहीं सकता। जब पूर्ण ज्ञान से अहंकार का क्षय हो गया, देहादि अभिमान ही नहीं रहा, तब देह आदि को कर्म में वह प्रवृत्त ही क्यों करेगा और किसी वस्तु की उसे इच्छा भी नहीं है इसलिये भी कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह सब श्री शंकराचार्य के मतानुसार हम तृतीयाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट कर चुके हैं। तब यह प्रश्नोत्तर साधन दशा में ही बन सकता है। तृतीयाध्याय के आरम्भ में भगवान् ने अधिकारी के भेद से दो मार्ग बताये थे और उनमें भी मुख्य ज्ञान योग को प्राप्त करने के लिये आरम्भिक दशा में कर्मयोग की आवश्यकता तीसरे और चौथे अध्याय में प्रपञ्चित की गई किन्तु चौथे अध्याय के अन्त में कर्मयोग के प्रसंग में ही यज्ञ निरूपण में कर्मसंन्यास का उपदेश दिया। इसलिये अर्जुन को पुनः सन्देह हो गया कि आप कर्म संन्यास भी कहते जाते हैं और फिर भी मुझे युद्ध के लिये खड़ा होने को कहते हैं और कर्मयोग में ही प्रवृत्त रहने की आज्ञा देते हैं, इससे मेरी बुद्धि में चञ्चलता होती है कृपा कर एक मार्ग बताइये। इस पर भगवान् ने उत्तर में कर्मयोग को ही श्रेष्ठ बताया, यह कर्मयोग की स्तुति मात्र है। स्तुति इसलिये की गई है कि अर्जुन को उसके अधिकारानुसार कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना है। चतुर्थ अध्याय के अन्त के पद्यों से स्पष्ट हो चुका है वह अभी ज्ञानी नहीं है। जिस कार्य में प्रवृत्त करना हो उसकी स्तुति उसी मार्ग में रुचि बढ़ाने के लिये आवश्यक है। यही शास्त्रों का नियम है, इसीलिये यहाँ कर्मयोग की स्तुति की गई। यही श्री शंकराचार्य के मत में पूर्व अध्यायों के साथ इस अध्याय की संगति है।

श्री रामानुजाचार्य पूर्व के साथ इस अध्याय की संगति यों बताते हैं कि चतुर्थाध्याय के अन्त में "योगसंसिद्धः ज्ञानं स्वयंविन्दति" यह कहकर कर्मयोग ही ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है, यह आदेश स्पष्ट किया। किन्तु ज्ञान हो जाने पर भी कर्मयोग की ज्ञान में प्रमाद न होने के लिए और शीघ्र सिद्धि प्राप्त होने के लिये वा सुगम होने के कारण आवश्यकता है। यह भी तृतीय, चतुर्थ अध्याय में बार-बार भगवान् कहते आये हैं और इसीलिये ज्ञान प्राप्ति का उपदेश देकर भी अर्जुन को कर्मयोग रूप युद्ध में प्रवृत्ति का ही उपदेश दिया। उसी ज्ञान और कर्म के शोधन के लिये पञ्चमाध्याय का आरम्भ है।

श्री मधुसूदन सरस्वती बड़े प्रपञ्च से यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिये उद्योग करने वाले जिज्ञासु जनों को भी श्रुति ने अनासक्ति पूर्वक कर्मयोग और कर्म संन्यास दोनों ही मार्ग बताये हैं और भगवद्गीता में भी स्थान-स्थान पर जिज्ञासु जनों के लिये दोनों ही मार्गों का उपदेश मिला है। इसीलिये अर्जुन का यहाँ प्रश्न है कि इन दोनों मार्गों में कौन श्रेष्ठ है? ज्ञानी के लिये तो सर्व कर्म संन्यास ही आवश्यक है, यही उन्होंने भी बड़े प्रपञ्च से सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि जो अभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर चुका उसी के लिये दोनों मार्ग हैं। इनमें यदि वह अधिकारी स्वतः विरक्त हो तो उसके लिये कर्मसंन्यास है और

यदि वैराग्य भी न हो तो उसके लिये कर्मयोग है। यह निर्णय पञ्चम और षष्ठ अध्यायों में किया जाता है। यही श्री मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार इन अध्यायों की संगति है। तृतीयाध्याय में दो प्रकार के निष्ठा भेद सुनकर भी जो अर्जुन ने पुनः संशय उपस्थित किया उसका भी यही कारण है कि अज्ञ पुरुष के लिये जो दोनों मार्ग बताये गये हैं उनमें भी एक निश्चित श्रेष्ठ मार्ग आप मुझे कृपा कर बतावें तो मैं उसी पर चलूँ। पद्य में जो 'पुनः' पद आया है उसका भी कई व्याख्याकार यही अर्थ करते हैं कि आपने वेद में भी दोनों मार्गों का उपदेश दिया है और फिर इस उपदेश में भी दोनों ही मार्ग बता रहे हैं, इनमें से एक ही कहिये। ऐसा ही अभिप्राय श्री मधुसूदन सरस्वती का भी व्यक्त होता है।

किन्तु लोकमान्य श्री तिलक इन व्याख्याकारों की उक्त प्रकार की संगति नहीं मानते। उनके मत में यह प्रश्न पूर्ण ज्ञानी के विषय में ही है। तृतीयाध्याय में भी दो प्रकार के मार्ग ज्ञानी के लिये ही बताये गये हैं और वहीं से आरम्भ कर यह भो सिद्ध किया गया है कि बिना कर्मयोग के संन्यास बन ही नहीं सकता और सब कर्मों का संन्यास तो असम्भव ही है। आगे के उपदेश के पद्यों से यही सिद्ध होता है कि यह प्रश्नोत्तर ज्ञानी के सम्बन्ध में ही है। इसीलिये आगे "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः" इत्यादि पद्यों में दोनों मार्गों की फलतः एकता ही सिद्ध की है। यह ठीक है कि अहंकार पूर्वक वा फल की इच्छा से कर्म ज्ञानी नहीं कर सकता किन्तु जगच्चक्र चलाना रूप यज्ञ के लिये वा लोक संग्रह के लिए अहंकार और फलाशा छोड़कर भी ज्ञानी लोग कर्म करते हैं यह राजर्षि जनक के दृष्टान्त से और अपने आपके दृष्टान्त से भी भगवान् सिद्ध कर चुके हैं। गीता में यही विचार मुख्य है कि ज्ञानी पुरुष भी यज्ञार्थ वा लोकसंग्रहार्थ कर्म करता रहे वा कर्म संन्यास कर ले। इन दोनों पद्यों में पूर्व मत ही भगवान् को इष्ट है यह गीता में बार बार उपदेश है। इसी विचार से यह प्रश्न भी ज्ञानी के सम्बन्ध में ही उपयुक्त होता है और भगवान् ने उसी के सम्बन्ध में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया है। ज्ञान हो जाने पर भी जब तक प्रारब्ध कर्मवश शरीर है तब तक कर्म करते ही रहना यही भगवान् को अभिमत है जैसा कि आगे के पद्यों में स्पष्ट हो जायगा। तृतीयाध्याय के साथ वे इस पुनः प्रश्न की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि तृतीयाध्याय में दोनों मार्ग बतलाये गये। और उनमें कर्मसंन्यास की प्राप्ति बिना कर्मयोग के नहीं हो सकती वा जगच्चक्र परिचालन रूप यज्ञ के लिये भी कर्म करते रहना चाहिये। इस विषय का विवरण तीसरे-चौथे अध्याय में हुआ। अब यहाँ पुनः प्रश्न करने का अर्जुन का अभिप्राय यही है कि जब सांख्य मार्ग और कर्म मार्ग दोनों ही शास्त्र सिद्ध हैं तो फिर अपनी रुचि के अनुसार कोई पुरुष सांख्य मार्ग का ही ग्रहण करे इसमें क्षति क्या है? ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण आप मुझे कर्मयोग में ही प्रवृत्त होने का बार-बार उपदेश देते हैं इसीलिये कर्म

योग की विशेषता बताने को इस अध्याय का आरम्भ है। इसमें फलतः दोनों मार्गों की एकता का वर्णन भी आगे होने वाला है। यह भी श्री शङ्कराचार्य का मत ठीक है कि मोक्ष प्राप्ति में कर्म का कोई उपयोग नहीं। मोक्ष केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है किन्तु लोकसंग्रह के लिये, लोक व्यवहार चलाने के लिये, ज्ञानी को भी अहंकार और आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहना चाहिये—यही गीता में भगवान् का उपदेश है। तृतीयाध्याय में हमने लिखा है कि लोकमान्य तिलक कर्मयोग से ज्ञान प्राप्ति होती है यह नहीं मानते, अपितु कर्मयोग बिना ज्ञान के बन ही नहीं सकता इसलिये ज्ञान कर्मयोग के अन्तर्गत ही हो जाता है किन्तु यहाँ चतुर्थाध्याय के अन्त में "तत्स्वयं योगसंसिद्धः" इस पद्य की व्याख्या में योग शब्द का अर्थ उनने कर्मयोग ही किया है इससे कर्मयोग के द्वारा ज्ञान प्राप्ति होना तो सिद्ध हो जाता है। प्रकृत पद्य में उन्होंने स्पष्ट भी मान लिया है कि कर्मयोग दोनों दशाओं में होता है। जिज्ञासु दशा में ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से ही यज्ञादि कर्म करना चाहिये यह तो सभी मानते हैं किन्तु पूर्ण ज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की ही विशेषता यहाँ बताई गई है। इसे केवल स्तुति प्रशंसा के लिये ही नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अर्जुन का प्रश्न वास्तविक विशेषता जानने के लिये है। "श्रेयः" शब्द को वैयाकरण प्रशस्य शब्द से ही सिद्ध करते हैं और आगे का 'ईयसुन्' प्रत्यय भी दो में तारतम्य बताने के लिये ही प्रयुक्त होता है। और भगवान् के उत्तर में भी "तयोस्तु" यह 'तु' अव्यय जो आया है वह भी इस बात को ध्वनित कर रहा है कि दोनों मार्गों में तारतम्य ही यहाँ बताया गया और "विशिष्यते" पद से कर्मयोग की विशेषता स्पष्ट कही गई, इसलिये केवल स्तुतिवाद का यहाँ प्रसंग ही नहीं रहता। 'पुनः' पद से जो कई व्याख्याकारों ने भगवान् के कहे हुए अन्य वेदादि का ग्रहण किया है वह भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यहाँ अर्जुन सब शास्त्रों की व्यवस्था समझने नहीं बैठा था, न भगवान् ही वेदादि शास्त्रों की व्यवस्था करने के लिये उद्यत थे। यहाँ तो युद्ध में अर्जुन को प्रवृत्त करने के लिये यह उपदेश था इसलिये गीता के विषयों को ही गीता में व्यवस्थित करना चाहिये। पुनः पद का स्पष्ट अर्थ है कि संन्यास कहकर भी फिर आप कर्मयोग कह रहे हैं जैसा कि चतुर्थाध्याय में हम स्पष्ट कर चुके हैं, इसलिये पूर्वापर संगति से कर्मसंन्यास की अपेक्षा ज्ञानी के लिये भी कर्मयोग को श्रेष्ठ बताना ही भगवान् का स्पष्ट अभिप्राय इन पद्यों से प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ज्ञानी को कर्म करने में अपना प्रयोजन कुछ नहीं है तथापि अन्य प्राणियों का भी हित करना उन्हें उत्तम मार्ग में लगाना ज्ञानी का भी स्वभाव सिद्ध ही होता है। वह केवल अपनी मुक्ति के लिये ही कर्म करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं बनता। वह तो स्वभावतः यही चाहेगा कि मेरे समान सब प्राणी ही उत्तम मार्ग में चलते हुए मुक्ति प्राप्त करें। अतः अन्य प्राणियों को सन्मार्ग का उपदेश देने के लिये ही ज्ञानी भी कर्म करता है। यदि ज्ञानी कर्म न करे तो सर्व साधारण किसके आदर्श से उपदेश प्राप्त

करें। अज्ञानी को आदर्श बनाने पर तो उनकी यही दशा होगी कि "अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे" अर्थात् अन्धा पुरुष किसी दूसरे अन्धे का ही सहारा ले तो पद पद में वह गिरेगा, यह अवश्यंभावी है। इसलिये अज्ञानी को तो आदर्श बनाना उचित नहीं और ज्ञानी कर्म करेगा नहीं, तब साधारण जिज्ञासु जन किसके आदर्श से शिक्षा प्राप्त करेंगे, इसलिये सब जनता के हित के लिये उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देने के लिये ज्ञानी को भी कर्म करना चाहिये। इसी उद्देश्य से भगवान् ने भी गीता में सब प्राणियों का हित करना कई जगह आवश्यक माना है। जैसा कि दैवी सम्पत्ति के लक्षणों में—

दया भूतेष्वलोलुप्त्वंमार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

(गी० अ० १६ श्लो० २)

उपासना के प्रकरण में—

ते प्राप्नुवन्तिमामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ इत्यादि

और भी—

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (गी० ५।७)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ (गी० ५।२५)

शिष्टाचार भी ऐसा ही देखा जाता है। स्वयं भगवान् श्री शंकराचार्य जो गीता में सर्व कर्मसंन्यास को ही मुख्य प्रतिपाद्य मानते हैं उन्होंने स्वयं लोकहितार्थ कितने कर्म किये इसी पर दृष्टि डालिये। इतने ग्रन्थों का निर्माण उनका लोक हित के लिये तो था। शारीरिक भाष्य में अन्य सब दर्शनों का बड़े आवेश से खण्डन भी इसीलिये तो है कि लोग भ्रान्ति में न पड़े। मण्डन मिश्र आदि से शास्त्रार्थ जो उनके जीवन चरित्र में प्रसिद्ध है उसका भी तो उद्देश्य भ्रान्त मण्डन मिश्र पर वा उनके उपदेश से भ्रान्त जनता की भ्रान्ति निवारणार्थ ही तो कहा जायगा और उनका अपने लिये इन कार्यों में क्या उद्देश्य हो सकता था। स्वयं वेदान्त के सूत्रकार भगवान् वेदव्यास भी कितने कर्मठ रहे यह पुराणों की आख्यायिकाओं से सिद्ध हो जाता है। अर्जुन को उपदेश कर तपस्या के लिये भेजना, बार-बार धृतराष्ट्र को उपदेश देना इत्यादि सब कार्य परानुग्रह के लिये ही तो कहे जा सकते हैं। क्या भगवान् व्यास ज्ञानी नहीं थे ? ऐसा कौन कह सकता है ? ज्ञानी होकर भी लोकानुग्रह बुद्धि से और धर्म रक्षा की भावना से सदा ही वे कर्मयोगी रहे। गीता के प्रवक्ता भगवान् कृष्ण ने तो अपना दृष्टान्त स्वयं ही अर्जुन के प्रति उपस्थित किया है कि मुझे संसार में कुछ भी पाना नहीं है तो भी लोकानुग्रह के लिये मैं कर्म करता ही रहता हूँ। इसी प्रकार वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि के भी लोकोपकार बुद्धि से कर्म पुराणादि में सुने जाते

हैं। यह सब गीता में कहे गये "लोगसंग्रह" पद की व्याख्या के अन्तर्गत हो जाता है और इसे ही व्यवहार दृष्टि में उत्कृष्ट कर्म कहा जा सकता है। बस कर्मसंन्यास से केवल अपना ही मोक्ष मार्ग सिद्ध होगा। मनन, निदिध्यासन में ही सब समय लगाने के उद्देश्य से ही कर्म संन्यास गीता के व्याख्याकारों ने बताया है। उस मनन और निदिध्यासन से अपनी मोक्ष प्राप्ति ही सिद्ध होगी और कर्मयोगी अपनी मोक्ष प्राप्ति के साथ-साथ सब जनता का हित भी सम्पादित करता रहेगा, अपने उपदेश और आदर्श दोनों से ही सर्व साधारण को कर्म मार्ग में प्रवृत्त करता रहेगा। निष्काम कर्म की शिक्षा से वे भी शनैः शनैः मोक्षमार्ग के अनुगामी बन जायेंगे। इन्हीं सब विचारों को दृष्टि में रखकर भगवान् ने कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को विशिष्ट बतलाया। यही व्याख्या समुचित प्रतीत होती है। ॥१-२॥

तिहत्तरवां-पुष्प

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।३।।
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।४।।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्य च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।

हे महाबाहु अर्जुन ! जो पुरुष किसी के साथ द्वेष नहीं करता और न किसी वस्तु की इच्छा करता है उसे नित्य संन्यासी अर्थात् सच्चा संन्यासी समझना चाहिये। क्योंकि जिसके राग-द्वेष; सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्व छूट गये वह सुख-पूर्वक अर्थात् बिना परिश्रम के ही बन्धन से छूट जाता है।

सुख-दुःख, शीत-उष्ण, राग-द्वेष, ये परस्पर विरुद्ध जोड़े ही संसार के स्वरूप हैं। सबके मूल राग-द्वेष ही हैं। उन राग-द्वेषों का छोड़ना ही मुख्य संन्यास है। कर्म छोड़ देने पर भी जिसके मन से राग-द्वेष नहीं निकले वह तो मिथ्याचार—ढोंगी है, यह पूर्व भी कह चुके हैं। इसलिये कर्मों का त्याग तो संन्यास में गौण है। राग-द्वेष का परित्याग ही मुख्य है। उनके परित्याग के बिना कर्मयोग भी नहीं बनता और राग-द्वेष छोड़ देने पर संन्यास भी आ ही गया। केवल लोकसंग्रह बुद्धि से कर्म करते रहना ही कर्मयोग में विशेष है। और बन्धन-मुक्ति रूप फल दोनों ही में मिलता है। इसीलिये कर्मयोग को विशेष अर्थात् प्रशंसित कहा गया, इसका विस्तार हम पूर्व पद्य में ही कर चुके हैं।।३।।

द्वितीयाध्याय से ही जो सांख्य और योग नाम से भिन्न-भिन्न मार्ग बताये गये, तृतीयाध्याय में भी प्रश्नोत्तर रूप से जिनकी भिन्नता का विवेचन हुआ वे दोनों मार्ग फल रूप से एक ही हैं। यह अब यहाँ कहा जाता है कि सांख्य और योग मार्गों को भिन्न-भिन्न मार्ग बालक कहा करते हैं। पण्डित ऐसा नहीं मानते अर्थात् वे दोनों को एक ही समझते हैं क्योंकि जो एक पर भी सम्यक् अर्थात् दृढ़ रूप से आस्था रखता है, वह दोनों का ही फल प्राप्त कर लेता है। इसी को दूसरे पद्य में स्पष्ट किया गया है कि सांख्य मार्ग के अनुगामी जो स्थान प्राप्त करते हैं, योग मार्ग के अनुगामी भी वही स्थान पाते हैं। इस फल के विचार से सांख्य और योग दोनों मार्गों को जो एक ही समझता है वही ठीक है। इसी-लिये पूर्व पद्य में उसे पण्डित कहा गया।

गीता में सांख्य और योग शब्द 'सांख्य-योग दर्शन' नाम से प्रसिद्ध दर्शनों के वाचक नहीं, यह पूर्व ही द्वितीय और तृतीय अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ 'सांख्य' पद कर्मसंन्यास मार्ग के लिये कहा गया है और 'योग' शब्द कर्मयोग के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह भी विस्तार से पूर्व कहा जा चुका है। इसी आशय को लेकर भगवान् यहाँ सांख्य और योग का विवेचन करने लगे। यद्यपि यहाँ अर्जुन का प्रश्न कर्मयोग और कर्म संन्यास के विषय में था और अध्याय के दूसरे पद्य में भगवान् ने भी उन्हीं मार्गों का तारतम्य बताया था किन्तु तृतीयाध्याय के आरम्भ में "सांख्य निष्ठा" और "योग निष्ठा" कही जा चुकी थीं। उन्हीं शब्दों को यहाँ दोहराकर भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुमने जो संन्यास और कर्मयोग की विशेषता पूछी वे ही सांख्य योग मार्ग नाम से भी पूर्व मैंनें बताये हैं। संन्यास केवल कर्म छोड़ने का नाम है किन्तु उसी में यदि ज्ञान को और जोड़ दिया जाय अर्थात् तत्त्वज्ञान के साथ कर्म छोड़े जायँ तो उसे ही सांख्य मार्ग कहा जाता है। और कर्मयोग शब्द से केवल कर्म का सम्बन्ध ही प्रतीत होता है किन्तु उसके साथ फल त्याग और सम-बुद्धि आदि को जोड़ दिया जाय तो वही योगमार्ग कहलाने लगता है। इनका स्वरूप जब भिन्न और परस्पर विरुद्ध है, एक जगह कर्म छोड़ना दूसरी जगह कर्म करना इससे स्वरूप में परस्पर विरोध स्पष्ट है और अधिकारी भी दोनों के भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं तब फल भी दोनों का भिन्न-भिन्न ही होगा—ऐसी सम्भावना नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत फल को एकता के कारण दोनों मार्गों को भी एक ही समझना चाहिये। यहाँ दूसरे पद्य में "सांख्यैः" और "योगैः", ये बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन पदों से सांख्य मार्ग और योग मार्ग बताया जाता तो दोनों शब्द एकवचनान्त ही होते जैसा कि पूर्व पद्य में दोनों को एकवचनान्त रखकर द्वन्द्व समास में द्विवचन का प्रयोग किया गया है। बहुवचन का प्रयोग होने के कारण दूसरे पद्य में इन पदों से सांख्य मार्ग के अनुगामी और योग मार्ग के अनुगामी पुरुष ही लिये जायँगे। सांख्य शब्द तो "सम्यक्ख्यानम् संख्या, तया प्रवर्तन्ते इति सांख्याः" (सम्यक् अर्थात् तत्त्वनिश्चय रूप जो बुद्धि है वही हुई संख्या; उस बुद्धि से प्रवृत्त होने वाले पुरुष सांख्य हैं) इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुयायी पुरुषों का वाचक स्वतः हो जाता है। किन्तु 'योग' शब्द को पुरुष वाचक बनाने के लिये व्याकरण की रीति से वहाँ "अर्श आदि अच् प्रत्यय करना पड़ेगा (योगः अस्ति येषां ते योगाः) इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह शब्द भी अनुयायी पुरुषों का वाचक हो जायगा। अस्तु, पूर्व पद्य में 'बाल' शब्द से यह कहा गया कि जो केवल भिन्न-भिन्न शब्दों के अनुसार मार्गों की भिन्नता ही समझ लेते हैं, फल पर्यन्त विचार नहीं करते, वे पूर्ण रूप से न जानने के कारण बालकों की सी बुद्धि रखते हैं। वे ही दोनों मार्गों को भिन्न-भिन्न बताया करते हैं। कई व्याख्याकार यहाँ बाल शब्द से अतत्त्वज्ञ केवल कर्मकाण्ड में लगे हुए पुरुषों का ग्रहण करते हैं। केवल कर्मकाण्ड की विधियों में दोनों मार्गों के फल भी भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं। जैसा कि "कर्मणापितृलोकः, विद्ययादेवलोकः" (कर्म

करने से पितृलोक में गति होती है और ज्ञान से देवलोक में गति हो जाती है) इत्यादि वाक्यों में कहा गया है। जब फल भी दोनों मार्गों के भिन्न-भिन्न ही हुए तो दोनों मार्गों का भेद स्पष्ट ही सिद्ध हो गया। किन्तु भगवान् कहते हैं कि यह केवल पूर्व-काण्ड में निरत बालकों की बातें हैं। तत्त्वज्ञ पुरुष तो कर्म और ज्ञान दोनों ही मार्गों से मोक्ष प्राप्ति का ही लक्ष्य रखते हैं। निष्काम कर्म करने से चित्त शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ज्ञान का उदय होता है। इसलिये कर्मयोग का भी फल तत्त्वदृष्टि से मोक्ष ही है। उसी के उद्देश्य से तत्त्व जिज्ञासु पुरुष कर्म किया करते हैं और ज्ञान का फल तो मोक्ष प्राप्ति स्पष्ट रूप से ही शास्त्रों में बताया गया है। इसलिये दोनों मार्ग फल रूप में एक ही हुए। तब आरम्भ का प्रक्रिया भेद गणना के योग नहीं। इसलिये फल की एकता से दोनों को एक ही समझना बुद्धिमानों का कार्य है।

महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी शब्दार्थों के आधार पर भी मार्गों की एकता सिद्ध करते हैं। पूर्व कहा जा चुका है कि सम्यक् प्रकार की बुद्धि संख्या शब्द से कही जाती है। वह सम्यक् प्रकार यही है कि पदार्थों में भेद-भाव न देखकर एक रूप में उन्हें देखना। 'सम्' अव्यय का अर्थ निरुक्त-कारने एकीभाव ही किया है। इस विचार से भी सब में एकता बुद्धि ही संख्या शब्द से कही जायगी। इसका यही तात्पर्य होगा कि बुद्धि सूक्ष्मतत्त्व से आरम्भ कर स्त्री-पुत्र आदि स्थूल पदार्थों तक जो भेद-भाव व्यवहार-दृष्टि से जाना जा रहा है उसे हटाकर एक कारण रूप आत्मा की बुद्धि ही सबमें रखने वाले सांख्य शब्द से कहे जायँगे। और संन्यास शब्द का भी यही अर्थ किया जा सकता है कि न्यसन नाम फेंकने का है उससे त्याग ही फलित होगा। सम् का पूर्वोक्त रूप से एकीभाव से भेद का त्याग यही अर्थ होगा। अर्थ करने पर इस अर्थ से भी भेद का त्याग और एक रूपता बुद्धि ही सिद्ध होगी। योग शब्द का अर्थ योग दर्शन ही माना जाय तो यहाँ योग का लक्षण किया गया है—चित्त की वृत्तियों का रोकना। वृत्तियों के पाँच भेद योग-दर्शन में बताये गये हैं। उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली वा भ्रम-रूप और निद्रा, स्मृति आदि सबका ही अन्तर्भाव हो जाता है। सब चित्तवृत्तियों को रोक देने पर भी एक आत्मा ही निर्विकल्प रूप से बचेगा। योग दर्शन में भी यही कहा गया है कि वृत्तियों को रोक देने पर वृत्तियों का देखने वाला आत्मा अपने स्वरूप में ही शेष रह जाता है। इन वृत्तियों को रोकने के लिये ही सब कर्म, उपासना आदि किये जाते हैं वे भी सब योग शब्दार्थ के भीतर मान लिये जाते हैं। इस प्रकार सांख्य शब्द के अर्थ में भी एक निर्विकल्प बुद्धि आई और योग शब्द का अर्थ भी उस एकता में ही फलित हुआ। इस कारण भगवान् दोनों को एक ही कहते हैं। दोनों का फल एक रूप ही होता है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि निर्विकल्प-आत्मा के रूप में जाकर स्थिर हो जाना यही दोनों मार्गों का अन्तिम फल है।

दोनों मार्गों की एकता बताने के लिये यह व्याख्या बहुत उपयुक्त प्रतीत होती है। प्रकरण यहाँ कर्मयोग का है और इस व्याख्या में योग शब्द का अर्थ योग दर्शनानुसार चित्त वृत्तियों का निरोध कहा गया। इससे प्रकरण विरोध हुआ—यह शंका भी यहाँ नहीं करनी चाहिये क्योंकि राग-द्वेष इत्यादि चित्त वृत्तियों के निरोध के बिना कर्मयोग भी नहीं बनता। इसलिये राग-द्वेष आदि और हर्ष-शोक आदि वृत्तियों का निरोध कर्मयोग शब्द के अर्थ में भी आ ही जाता है और बिना फल की इच्छा के किये हुए कर्म भी इस व्याख्या के अन्तर्गत हो जाते हैं। यह स्वयं नीलकण्ठ जी ने ही लिख दिया है।

अन्य व्याख्याताओं ने जैसा कहा है—जो पूर्व व्याख्या की गई है उसके अनुसार कर्मयोग से चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान स्वयं मोक्ष प्रदायक है, ऐसा मानने पर इन पद्यों का स्वारस्य नहीं बनता। "एक मार्ग पर भी आस्था रखने से दोनों का फल मिल जाता है" यह बात कहाँ हुई ? इस कथन से तो दोनों मार्गों की समानता सिद्ध होती है। "सांख्य से जो स्थान मिलता है, वही योग से भी मिलता है" यह कथन भी स्वारसिक रूप से नहीं बना। जब कर्मयोग साधन माना गया और ज्ञानयोग उसका साध्य हुआ तब ज्ञान ही मुख्य रहा। कर्मयोग तो उसकी प्राप्ति का साधन मात्र रहा। ऐसी दशा में दोनों से एक ही स्थान मोक्ष रूप मिलता है, यह कथन नहीं बन सकता। इसलिये योग शब्द से जो मार्ग बताया गया उसे साधन रूप कर्मयोग नहीं मानना चाहिये। किन्तु जैसा कि हम द्वितीय श्लोक की व्याख्या में लिख आये हैं कि तत्त्वज्ञान तो पहिले दोनों ही मार्ग वालों ने प्राप्त कर लिया, अब तत्त्वज्ञान प्राप्त करके भी एक मार्ग वाले लोकसंग्रह के लिये कर्म करते रहते हैं और दूसरे मार्ग वाले कर्मों को सर्वथा छोड़ देते हैं। ये ही दो मार्ग योग और सांख्य शब्दों से कहे गये। यह मानने पर ही दोनों मार्गों की एकता का इन पद्यों में जो निरूपण हुआ वह उपयुक्त रूप से समझ में आ सकता है। श्री नीलकण्ठ जी की व्याख्या भी इसी ओर झुकती है। श्री रामानुजाचार्य ने भी इन पद्यों का अवतरण करते हुए "अन्योन्यनैरपेक्षमाह" इस कथन से दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं, एक दूसरे का साधक नहीं, यही कहा है। और आगे व्याख्या में "कर्मयोग से ज्ञानयोग प्राप्त होता है" ऐसा कहने वालों को ही भगवान् ने "बाल" कहा यह स्पष्ट लिखा है। इससे उनकी भी सम्मति इस दूसरी व्याख्या में ही सिद्ध होती है।

श्री विद्यावाचस्पति जी ने भी इन पद्यों का यही अर्थ माना है। वे गीता में बुद्धियोग का ही प्रतिपादन मानते हैं, यह पूर्व उपोद्घात प्रकरण में कहा जा चुका है। उस बुद्धियोग में ज्ञान और वैराग्य दोनों अन्तर्गत हैं। रागद्वेष छोड़कर कर्म करते रहना—यह कर्मयोग उन्होंने वैराग्य योग नाम से ही अपनी प्रक्रिया में माना है। वह वैराग्य बिना ज्ञान के दृढ़ नही हो सकता। इसलिये ज्ञान का सहयोग भी अवश्य अपेक्षित है। तब फलित यह हुआ कि ज्ञान दोनों ही मार्गों में प्रधान है। एक मार्ग में उसे अनासक्त कर्मों का सहयोग है और

दूसरे मार्ग में कर्मों का सहयोग नहीं। इस सहयोग के होने न होने से ज्ञान के स्वरूप में कोई भेद नहीं पड़ता। इसी आशय को भगवान् ने यहाँ व्यक्त किया है कि दोनों मार्गों का एक रूप से देखना ही बुद्धिमत्ता है। बिना विचार के कहने वाले बालक ही इन मार्गों का भेद बतलाते हैं।

लोकमान्य तिलक ने भी कर्मयोग को स्वतन्त्र मानते हुए इन पद्यों का यही आशय माना है। यहाँ भी उनने यही लिखा है कि जब ज्ञान की प्रधानता दोनों ही मार्गों में है तब नाम मात्र का विवाद क्यों रखना? दोनों को एक ही समझना चाहिये। कर्मयोग की स्वतन्त्रता इन पद्यों में भी उनने अभिव्यक्त की है। पूर्व द्वितीय पद्य की व्याख्या में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि आरम्भिक दशा में कर्मयोग ज्ञान की प्राप्ति के लिये किया जाता है और आगे ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह कर्मयोग अपनी परिपूर्ण प्रौढ़ दशा में आता है। उस प्रौढ़ दशा का ही सांख्य मार्ग के साथ अभेद भगवान् ने बताया—यही प्रतिफलित निष्कर्ष हुआ।

ज्ञान के साधन रूप से जो कर्मयोग किया जाय वह सच्चा कर्मयोग भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आसक्ति और फलाशा का परित्याग, बिना तत्त्वज्ञान के हो ही नहीं सकता और ये ही कर्मयोग के प्रधान स्तम्भ हैं। न उस साधनभूत कर्मयोग की सांख्य के साथ फलतः एकता कही जा सकती है, इसलिये प्रस्तुत पद्यों में उसका ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार साध्य-साधक भाव होने पर भी एकता दोनों की भगवान् बताते तब तो अर्जुन कह बैठता कि फिर तो मेरा युद्ध छोड़ना और युद्ध करना भी एक ही है क्योंकि युद्ध करके विजय प्राप्ति द्वारा सुख और शान्ति मिलेगी; छोड़ देने से भी निरपेक्षता रूप चित्त शान्ति मिल ही जायगी; तब शान्ति रूप फल एक ही हुआ, फिर युद्ध करने का प्रयास क्यों करना? यही क्यों? प्राणी मात्र के सब कर्मों का अन्तिम फल तो सुख ही होता है। विद्यार्थी का विद्या पढ़ना, व्यापारी का व्यापार करना, किसी सेवक का सेवा वृत्ति कर निर्वाह उपयुक्त धन कमाना; सबका परिणाम तो अन्त में सुख प्राप्ति ही है। इस अन्तिम फल की दृष्टि से तो फिर सभी कर्म एक हो जायँगे, ऐसी एकता यहाँ विवक्षित नहीं कही जा सकती। और इस प्रकार की एकता न मानने वालों को 'बाल' वा 'अपरिपक्व बुद्धि' भी नहीं कहा जा सकती।

एक कहावत प्रसिद्ध है कि किसी राजा के एक अन्तरङ्ग सहचर को यह कहने का अभ्यास हो गया था कि "ईश्वर जो कुछ करता है वह भले के लिये ही करता है।" एक दिन राजा के हाथ पर चाकू गिर गया और उससे घाव होकर बहुत-सा रुधिर निकल गया। तब भी उस सहचर ने यही कहा कि ईश्वर जो कुछ करता है, भले ही के लिये करता है। राजा अपनी आर्त्त दशा में यह वाक्य सुनकर कुपित हो गया और उसने सहचर से कह दिया कि तुम हमारे पास से चले जाओ। इस पर भी वह सहचर यही कह कर चला गया कि ईश्वर जो कुछ करता है, भले ही के लिये करता है। अकस्मात् उसी दिन राजा

कुछ डाकुओं के चक्कर में पड़ गया और वे उसे अपने इष्ट देवता के सामने बलि देने को ले गये। वहाँ ले जाकर जब उनकी दृष्टि उस घाव पर पड़ी तो उनका विचार हुआ कि अरे यह तो घाव खाया हुआ है। यह बलि योग्य नहीं, ऐसा विचार कर उनने उसे छोड़ दिया। वहाँ से मुक्त होने पर राजा को अपने सहचर की बात याद आयी कि उसने ठीक कहा था। यह व्रण न होता तो आज मेरे प्राण ही चले जाते। इससे यह भले के लिये ही हुआ। तब उसने आदर के साथ अपने उस सहचर को बुला लिया और उसे सब कथा सुनाई। तब वह बोला कि आपने जो मुझे उस समय निकाल दिया वह भी मेरे भले के लिये ही हुआ। क्योंकि मैं यदि आपके साथ रहता तो आप तो व्रण के कारण बच जाते किन्तु मेरी तो बलि हो ही जाती। इसलिये वह बात ठीक ही है ईश्वर जो कुछ करता है वह भले ही के लिये करता है।

इस प्रकार अन्तिम परिणाम तो भले के बुरे और बुरे के भले हो जाया करते हैं। इनसे कर्मों की एकता नहीं कही जा सकती। इसलिये फल की साक्षात् एकता ही एकत्व का साधक हो सकती है और पद्यों की दूसरी व्याख्या ही उपयुक्त प्रतीत होती है ॥५॥

चौहत्तरवां पुष्प

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

नैवकिञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन् विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

कर्मयोग को जो संन्यास से विशिष्ट कहा उसका कारण कहते हैं कि हे महाबाहु अर्जुन ! बिना योग के संन्यास प्राप्त होना दुःख अर्थात् कष्टसाध्य है। और जो कर्मयोग में युक्त अर्थात् पारंगत हो गया वह मुनि है अर्थात् मनन शील होने के कारण मुनि कहलाने का अधिकारी हो जाता है और शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

पूर्व तृतीय अध्याय में कहा था कि "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" (बिना कर्म किये नैष्कर्म्य अर्थात् संन्यास प्राप्त नहीं होता)। उसी उक्ति को यहाँ फिर दोहराया है कि बिना कर्मयोग के संन्यास का प्राप्त करना अति कठिन है। संन्यास में सब इन्द्रियों के व्यापारों को एक बार ही रोक देना पड़ता है। ऐसा करना मनुष्य के लिये बहुत ही कष्ट. साध्य है। इसका वर्णन

कई बार गीता में आ चुका है कि इन्द्रियाँ बलात् अपने विषयों की ओर अवश्य जाती हैं और रोकने पर भी थोड़ा छिद्र पाकर विषयों की ओर निकल ही जाती हैं। एक भी इन्द्रिय निकल गई तो बुद्धि को विकृत कर देती है। इससे बनता हुआ काम विगड़ जाता है। इस कठिनता को उपनिषदों ने भी बताया है कि "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति" (कठोपनिषद्) [तीक्ष्ण तलवार की धार पर चलने के समान यह मार्ग अति कठिन है; यह बात बड़े-बड़े विद्वान् भी कहते हैं]। इसलिये कर्मयोग के द्वारा पहिले फलाशा छोड़ने का अभ्यास कर शनैः-शनैः इन्द्रियों को रोका जाय तो अभ्यास से वे धीरे-धीरे वश में आ जायँगी। और तब पूर्ण रूप से कर्मयोग प्राप्त होने पर पूर्वाभ्यास के अनुसार निष्काम कर्म आसक्ति छोड़कर करना भी सुकर हो जायगा। उस प्रौढ़ कर्मयोग से ब्रह्मप्राप्ति मनुष्य सुकरता से ही और थोड़े काल में कर लेगा।

श्री शंकराचार्य इस पद्य की व्याख्या में यह कहते हैं कि ज्ञान रहित केवल कर्म और केवल संन्यास में कर्म को श्रेष्ठ पहिले भगवान्ने बताया है। ज्ञान की दृष्टि से तो संन्यास ही श्रेष्ठ है; किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये बुद्धि शुद्ध करने को पूर्व कर्म भी आवश्यक हैं। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्रह्म प्राप्ति का मुख्य साधन संन्यास ही है। योग युक्त होने पर मनन शील पुरुष को संन्यास प्राप्त हो जाता है। यही पद्य का अर्थ है। और संन्यास प्राप्त कर फिर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥६॥

आगे कर्म योग की पूर्णता के लिये किन-किन बातों की आवश्यकता है; इसका विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो योग अर्थात् कर्म योग से युक्त अर्थात् परिनिष्ठित हो चुका है उसका आत्मा अर्थात् अन्तः करण विशेष रूप से शुद्ध हो जाता है (इससे यह सूचित किया कि कर्मयोग में मन को शुद्ध करने की पूर्ण आवश्यकता है) आत्मा अर्थात् शरीर पर भी उसका पूर्ण विजय रहता है अर्थात् शरीर की क्रिया भी उसकी नियमित रहती है। वृथा चेष्टा वह कभी नहीं करता एवं सब इन्द्रियों पर भी वह विजय प्राप्त कर लेता है (इससे शरीर और इन्द्रियों को भी अपने वश में करना कर्मयोगी के लिये आवश्यक कहा गया)। तब वह अपने आत्मा को सब देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि भूतों के आत्मा रूप से ही मानता है। अर्थात् आत्मा की व्यापकता उसे पूर्ण रूप से भासित हो जाती है। 'स्व' और 'पर' का भेद उसकी दृष्टि में नहीं रहता ऐसा पुरुष लोक संग्रहार्थ कर्म करता हुआ भी उनके लेप अर्थात् बन्धन से मुक्त रहता है।

विशेषणों के द्वारा कर्मयोग की पूर्णता में क्या-क्या आवश्यक हैं, यह सब बताया गया। "विशुद्धात्मा" "विजितात्मा" और "जितेन्द्रियः" इन तीन पदों से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों पर अधिकार करना आवश्यक बताया गया। आत्म पद से आत्म सम्बन्धी शरीर मन आदि भी लिये जाते हैं। संस्कृत भाषा में ऐसा प्रयोग प्रचलित है इसलिये इस व्याख्या को नवीन नहीं समझना चाहिये।

इन्हीं तीनों के विजय को लक्ष्य मानते हुए संन्यास मार्ग के विशेष सम्प्रदाय में तीन दण्ड धारण किये जाते हैं। "सर्वभूतात्मभूतात्मा" इस पद से यह सूचित किया कि वस्तुतः एक ही आत्मा सब प्राणियों में व्यापक है। अविद्या वश उसकी व्यापकता का ज्ञान सबको नहीं होता।

कर्मयोगी की अविद्या दूर हो जाती है। इससे वह सब भूतों में व्याप्त एक ही आत्मा को देखने लगता है। कई व्याख्याकार इससे यह भी आशय निकालते हैं कि भगवान् कहते हैं कि मैं जैसे सब भूतों में (व्यापक हूँ इसी प्रकार वह भी अपने को सब भूतों में) व्यापक समझ लेता है। इसीलिये जैसे मुझ पर किसी कर्म का लेप नहीं होता, इसी प्रकार उस पर भी कर्म का लेप होना सम्भव नहीं। इसी कर्म लेप के अभाव के लिये यह विशेषण दिया गया है।

श्री मधुसूदन सरस्वती इसका यह अर्थ करते हैं कि वह अपने आत्मा को सर्वभूत अर्थात् सब जड़ पदार्थों में कारण रूप से व्यापक मान लेता है और आत्म भूत अर्थात् सब चेतनों में भी व्याप्त देखने लगता है। श्री रामानुजाचार्य जीवात्मा को व्यापक नहीं मानते और परमात्मा से अभिन्न भी नहीं मानते इसलिये वे इस पद का अर्थ यही करते हैं कि सब भूतों के आत्मा को अपने आत्मा से अत्यन्त सदृश होने के कारण अभिन्न मान लेता है। वास्तव में तो भगवद्गीता में कई जगह आत्मा की व्यापकता का वर्णन आता है इसलिये भगवद्गीता का यही सिद्धान्त मानना उपयुक्त होगा। बहुत जगह ऐसी क्लिष्ट कल्पना करना अस्वाभाविक ही है।

कई व्याख्याकार यही मानते हैं कि कर्मयोग में ऐसा होना सम्भव नहीं इसलिये इस पद्य को संन्यास पर ही मानना चाहिये और आरम्भ के योग पद से ज्ञानयोग वा समाधि रूप योग ही लेना चाहिये। आगे के तीन विशेषणों से भी त्रिदण्ड संन्यास ही पूर्वोक्त रूप से लेना उचित है। आगे जो कर्मों का लेप उस पुरुष पर न होना कहा गया है; वहाँ कर्म पद से संन्यासी के शरीर धारण के लिये किये जाने भिक्षाटन आदि कर्म ही कहे गये हैं। उन कर्मों का उस पर लेप नहीं होता किन्तु यहाँ अध्याय के आरम्भ से ही कर्मयोग का प्रकरण चल रहा है इसलिये ऐसी व्याख्या प्रकरण के विरुद्ध ही प्रतीत होती है ॥७॥

आगे के अष्टम और नवम पद्यों का अन्वयानुसार सम्मिलित ही अर्थ है कि जो कर्मयोग में प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका है और आत्मतत्त्व का जिसने पूर्ण निश्चय कर लिया है, वह देखता, सुनता, बाह्य वस्तुओं को छूता, पुष्प आदि का गन्ध ग्रहण करता, भोजन करता, पैरों से चलता, सोता, श्वाँस लेता, वाणी से बोलता, मल-मूत्रादि त्याग करता, हाथ से किसी वस्तु को उठाता, नेत्रों के पलक गिरने व उठने की क्रिया करता हुआ भी इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं ऐसा निश्चय रखता हुआ मैं (आत्मा) कुछ नहीं करता हूँ यही मानता रहता है।

पूर्व "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" इत्यादि चतुर्थाध्याय के पद्य में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इन्द्रियों का काम चलते रहने पर भी आत्मा अकर्ता ही रहता है। अर्थात् आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती। उसी विषय का इन पद्यों में विस्तार से निरूपण किया है। तत्त्ववेत्ता पुरुष आत्मा को सदा अकर्त्ता ही देखता है। व्यापार सब इन्द्रियों में वा प्राणों में होते हैं। पहले पाँच पदों से ज्ञानेन्द्रियों के पाँचों व्यापार बताये गये हैं—देखना आँख का, सुनना कान का, स्पर्श करना त्वचा इन्द्रिय का, सूँघना घ्राण इन्द्रिय का और भोजन में रसों का जानना रसना इन्द्रिय का कार्य है। और आगे पाँचों कर्मेन्द्रियों के कार्य बताये गये हैं—चलना पैरों का, बोलना वाणी का, मलमूत्र का त्याग नीचे की दोनों इन्द्रियों का, किसी वस्तु को उठाना हाथ का काम है। यद्यपि अन्यत्र शास्त्रों में उपस्थ कर्मेन्द्रिय का आनन्द अर्थात् स्त्री प्रसंग रूप कार्य कहा गया है किन्तु कर्मयोगी में उसका सम्भव नहीं इसलिये यहाँ विसर्जन शब्द से ही नीचे की दोनों इन्द्रियों का कार्य कह दिया गया। कर्मयोगी यदि स्त्री प्रसंग करे भी तो उसका उद्देश्य केवल सन्तान का उत्पादन ही धर्मानुसार होगा। वह वीर्यत्याग भी विसर्ग शब्द के ही अन्तर्गत हो जायगा। अपने अन्तःकरण में आनन्द लेना, कभी कर्मयोगी का उद्देश्य नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ पाँच कर्मेन्द्रियों के चार ही कर्म बताये गये हैं। मध्य में ही सोना अन्तःकरण का और श्वास लेना प्राण का कर्म छन्द के अनुरोध से बता दिया गया। स्वप्न और सुषुप्ति (गहरी नींद) ये मन की ही वृत्तियाँ हैं। जब मन वा बुद्धि अपने वासनामय पदार्थों को वाह्य रूप से देखते रहते हैं तो स्वप्नदशा होती है और जब मन पुरीतत् नाड़ी में चला जाता है तब वृत्तियों का द्वार बन्द होकर सुषुप्ति दशा हो जाती है। ये दोनों ही "स्वपन्" शब्द से कह दी गईं। इसको उपलक्षण अर्थात् अन्य वृत्तियों का भी संग्राहक मानकर अन्तःकरण की मन और बुद्धि की संकल्प, निश्चय आदि सब वृत्तियों का ग्रहण कर लेना चाहिये। इसी प्रकार श्वास लेना "श्वसन्" पद से प्राण की सब वृत्तियाँ श्वास; उच्छ्वास, जम्हाई आदि ले ली गई हैं और उन्मेष निमेष जो अन्त में कहे गये—पलक गिरना, उठना ये प्राण वायु के ही जो अतिरिक्त भेद माने गये हैं उनके व्यापार हैं। उपलक्षण रूप से यहाँ ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण आदि के पढ़े गये वा न पढ़े गये सब ही व्यापारों को जान लेना। तात्पर्य यही है कि ये सब व्यापार इन्द्रियों वा प्राणों के ही होते रहते हैं और इन्द्रिय वा प्राण प्रकृति के बने हुए हैं, इसलिये कर्म जितने हैं वे सब प्रकृति में ही हैं। प्रकृति से भिन्न आत्मा तो कभी कुछ नहीं करता। वह तो केवल द्रष्टा (देखने वाला) है। व्यापक होने के कारण और स्मरण आदि के जनक संस्कारों का पात्र न होने के कारण उसमें कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। इस विचार से आत्म-तत्त्ववेत्ता पुरुष यही समझता रहता है कि मैं कुछ नहीं करता। मैं (अहम्) शब्द आत्मा पर ही प्रयुक्त होता है। उसका कुछ भी न करना सिद्ध ही है। इस प्रकार जब आत्मा को अकर्त्ता (कुछ न करने वाला) समझता रहेगा

तब उस कर्मयोगी को कर्मों का फल भी क्यों होगा ? जो काम करेगा वही फल भोगेगा। जो कुछ करता ही नहीं उसे फल भी क्यों मिलेगा ? इससे यहाँ यह भी सूचित किया जाता है कि कपिलप्रोक्त सांख्यदर्शन में जो यह माना गया है कि कर्म करने वाली प्रकृति है और फल भोगने वाला पुरुष है, वह वेदान्त दर्शन को मान्य नहीं। यहाँ प्रकृति पुरुष-आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं मानी जाती अपितु उसी के आधार पर रहने वाली और उसी की सत्ता से सत्तावाली, भेद या अभेद रूप से नहीं कही जाने योग्य मानी जाती है। जो पुरुष प्रकृति से मिला हुआ ही आत्मा का रूप समझता है वही कर्म करने वाला है और वही फल भोगता है। ऐसा समझना हीं अज्ञान कहा जाता है। जिसे तत्त्वज्ञान हो गया और जिसने आत्मा को प्रकृति से निर्लिप्त जान लिया वह न कर्मों का कर्तृत्व अपने पर लादता है और न किसी कर्म का फल भोगता है। यही इन पद्यों के उपदेश का सार है कि सब कुछ करता हुआ भी उनका कर्तृत्व इन्द्रिय आदि पर ही माने, आत्मा को इनसे पृथक् निर्लिप्त ही समझता रहे; यही कर्म-योग है और तब उसे किसी कर्म का फल भी नहीं हो सकता।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि इस प्रकार तो दुराचारी पुरुष भी कह देगा कि सब कुछ दुराचार इन्द्रियाँ ही करती हैं मैं तो निर्लिप्त ही हूँ तो क्या वह अपने दुराचार का भी फल न भोगेगा ? इस प्रकार तो शास्त्रों की सब मर्यादा बिगड़ जायगी और ढोंग को पूरा स्थान मिलेगा। किन्तु यह शङ्का व्यर्थ है क्योंकि अनाचार वा दुराचार बिना राग वा द्वेष के नही हो सकते और राग-द्वेष रहित होना कर्मयोगी के लिये भगवान् ने पद-पद में आवश्यक बताया है। इससे कर्मयोगी से दुराचारी होना सम्भव ही नहीं। यद्यपि राग और द्वेष भी अन्तःकरण के ही धर्म हैं शुद्ध आत्मा में वे भी नहीं रहते किन्तु यह सत्य है कि आत्मा को प्रकृति से मिला हुआ मानने पर ही राग वा द्वेष होंगे। आत्मा को सर्वथा निर्लिप्त अन्तःकरण से पृथक् मान लेने पर अन्तःकरण में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यही बात गीता के तृतीयाध्याय में कही गई है कि बुद्धि से परतत्त्व आत्मा को समझ कर काम और क्रोध रूपी शत्रुओं को मार डालो, इसका तात्पर्य यही है कि बुद्धि से निर्लिप्त शुद्ध आत्मा के समझ लेने पर काम वा क्रोध नहीं रहते और बिना इनके दुराचार में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अब जो अज्ञानी होने पर भी ज्ञानीपन का ढोंग दिखाकर जगत् को धोखा देना चाहेगा वह अपने किये का फल भोगेगा। इससे व्यवहार मर्यादा पर कोई आघात नहीं पहुँचता।

श्री शङ्करानन्द जी इन पद्यों की व्याख्या में कहते हैं कि ये कर्मयोग बताये गये वे स्वारसिक रूप से केवल शरीर, इन्द्रिय आदि के ही कर्म हो सकते हैं। कर्मयोगी का शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान इनके अर्थ में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। "श्वसन्", "स्वपन्", "उन्मिषन्", "निमिषन्" आदि पदों से स्वतः होने वाले स्वाभाविक कर्म ही कहे गये हैं। इनके साहचर्य से और पदों से भी स्वाभाविक

कर्म ही लेना चाहिये। इससे ये पद्य भी संन्यास मार्ग पर ही ठीक लगते हैं। और बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी श्री पुरुषोत्तम जी गोस्वामी इन पद्यों में परम भक्त के ही आचरण निर्दिष्ट हुए हैं ऐसा कहते हैं—देखना पद से यहाँ एकाग्र चित्त से ध्यान योग में भगवान् की मधुर मूर्ति का देखना ही लिया जाता है। सुनना भी यहाँ ध्यान योग में भगवान् की मधुर ध्वनि वा वंशी ध्वनि का सुनना ही है। छूना, भगवन्मूर्ति के चरणों का छूना ही है। और सूँघना भी ध्यान योग में भगवान् के मुख कमल सौरभ का सूँघना है, भोजन, भगवान् के नैवेद्य का भोजन ही समझना, चलना—गोचारणादि लीलाओं में ध्यान योग से भगवान् के साथ चलनां विवक्षित है। 'स्वपन्' पद से ध्यान योग में भगवान् की लीला का दर्शन करते हुए नेत्र मूँदना कहा गया है। श्वसन् पद से भगवान् के वियोग में चलने वाले दीर्घनिःश्वास बताये गये हैं। प्रलपन्, पद से भगवद्वियोग की उन्मत्त दशा में भौंरे की तरह गूँजना सङ्केतित है। विसृजन् पद से वियोग की उन्मत्तावस्था में भगवान् को छोड़कर दूर चला जाना कहा गया है। ग्रहण, उसी अवस्था में चरणों को पकड़ कर स्थिर रहना है। उन्मेष वियोग की मत्त-अवस्था से जागकर, आँख खोल कर भगवत्स्वरूप का अनुभव बताया गया और निमिषन् पद से मूर्ति की मधुरता का अनुभव करते हुए फिर नेत्र मूँदना कहा गया है। ये सब भक्ति मार्ग में भगवान् के ध्यान की ही अवस्थायें हैं। इन्हीं का कर्मयोगी अर्थात् भगवद्भक्त के लिये यहाँ उपदेश है। सांसारिक कर्मों से भगवंद्भक्त कर्मयोगी का कोई सम्बन्ध नहीं। कर्मयोग और भागवत्धर्म अर्थात् भक्तिमार्ग एक ही हैं यह हम उपोद्घात प्रकरण में ही कह आये हैं। इस प्रकार भक्तिमार्ग पर भी इन पद्यों का आशय लगाया गया है ।।८-९।।

फल की इच्छा न रहने पर भी कर्म करने के लिये प्रेरणा ही क्यों होगी? फलेच्छा से ही उपाय की इच्छा होती है तभी उपाय रूप कर्म किये जाते हैं। बिना फल की इच्छा के कर्म करने में प्रवृत्ति ही क्यों हो? इस प्रश्न के दो प्रकार से समाधान पूर्व किये गये। एक तो यज्ञ अर्थात् संसार परिचालन में सहयोग करने की बुद्धि से कर्म किये जायँ यह कहा गया। दूसरा लोकसंग्रह अर्थात् अज्ञ पुरुषों को उपदेश देने की बुद्धि से कर्म किये जायँ। अब इसी प्रश्न का समाधान करने का तीसरा प्रकार भगवान् और बताते हैं कि सब प्रकार के फल में आसक्ति आदि का संग छोड़कर भी जो पुरुष ब्रह्म अर्थात् जगन्नियन्ता परमेश्वर में कर्मों की स्थापना कर कर्म करता रहता है अथात् भगवान् की आज्ञा का पालन मैं करता हूँ इस बुद्धि से कर्म करता है, जैसे कि कोई भृत्य स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिये ही काम करता है। अपना उसका उन कामों से कोई सङ्ग अर्थात् सम्बन्ध नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् ने मुझे इन्द्रियाँ, मन आदि दिये हैं; इससे मुझसे कर्म कराने की भगवान् की इच्छा है अथवा भगवान् ने ही वेद आदि शास्त्रों में कर्म करने की स्पष्ट आज्ञा दी है, उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है, इस प्रकार समझकर कर्मों का सब भार भगवान् पर ही

रख देता है और जो करे उन सब कर्मों को भगवान् के लिए ही अर्पण कर देता है। वह पाप से लिप्त नहीं होता जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता।

यहाँ पाप शब्द उपलक्षण रूप से पुण्य का भी बोधक है क्योंकि मोक्ष की दृष्टि से पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन रूप होने के कारण पाप रूप ही हैं। पैर में निगड़ (वेड़ी) चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, पैर का बन्धन तो दोनों ही करती हैं। यही तीसरा प्रकार कर्म करने का कर्मयोगी के लिये भगवान् ने बताया कि भगवान् की आज्ञा समझकर ही उनकी प्रेरणा मानकर ही सब कर्म करना और उन कर्मों के किसी फल की बिना इच्छा किये उन कर्मों को भगवान् के लिए ही अर्पण कर देना। "संङ्गंत्यक्त्वा" का तात्पर्य श्रीशंकराचार्य यह बताते हैं कि मोक्ष तक की भी इच्छा न करना। किसी भी फल की इच्छा होने से उसका सङ्ग हो जायगा। मोक्ष तो अपना स्वरूप ही है। मन, इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध हटने पर वह स्वयं प्रकाशित हो जायगां, उसकी भी इच्छा करने की आवश्यकता ही क्या है ? इसी पद्य का आशय लेकर सनातन धर्म में यह प्रातः-स्मरण बना है कि—

लोकेश चैतन्यमयादिदेव माङ्गल्यविष्णोभवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तवप्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये॥

इसका अर्थ है कि हे सम्पूर्ण लोक के स्वामी चैतन्य स्वरूप; सबके आदि-भूत और सबके मङ्गलप्रद-व्यापक भगवन्! आपकी आज्ञा से और आपकी प्रसन्नता के लिये मैं प्रातःकाल उठकर संसार यात्रा का अनुवर्तन करूँगा अर्थात् उसमें सहयोग दूँगा। और कोई भी शास्त्रोक्त धर्मकार्य करके सनातनधर्म में बोला जाता है कि—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात्।
करोमियद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेतिसमर्पये तत्॥

अर्थात् शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि प्रकृति-स्वभाव से जो कुछ करता हूँ वह परदेवता रूप नारायण के लिए अर्पित करता हूँ। यह केवल वाचिक ही न रहे मन में भी ऐसा भाव खचित हो जाय और सदा यही भाव बना रहे तो यही कर्मयोग है।

श्री रामानुजाचार्य यहाँ ब्रह्म का अर्थ प्रकृति करते हैं। जैसा कि आगे "ममयोनिर्महद्ब्रह्म" (गी० १४।३) इस पद्य में ब्रह्म शब्द प्रकृति के ही लिये प्रयुक्त है। इस प्रकार उनके मत में यह पद्य पूर्व दो पद्यों के साथ ही सम्बन्ध रखता है। प्रकृति से बने हुए इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण आदि ही सब कर्मों का स्थापन कर आत्मा निर्लिप्त रहता है यह पूर्व-पद्यों का अर्थ ही इसमें अनुवाद रूप से कहा गया। श्रीपुरुषोत्तम जी गोस्वामी भी अपने पूर्व-पद्यों के अर्थ के अनुसार

ही भगवद्भक्ति पर ही इसका भी अर्थ करते हैं कि ब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् में संयोगावस्था रूप से सङ्ग का चिन्तन करता हुआ और वियोगावस्था में सङ्ग का त्याग करता हुआ जो भक्ति के व्यापार करता रहता है वह पद्म पत्र की तरह किसी कर्म से लिप्त नहीं होता।

कई व्याख्याकार इसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त न किये हुये मुमुक्षु पर ही लगाते हैं कि पूर्वोक्त पद्यों में तत्त्ववेत्ता का आचरण कहा गया कि वह आत्मा को अकर्त्ता समझकर निर्लिप्त रहता है। यहाँ जो अभी पूर्ण तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ वह भी अपने कर्मों को भगवान् को अर्पण कर कर्म बन्धन से अलिप्त हो सकता है। इन व्याख्या भेदों में अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार विज्ञजन ग्रहण कर लें ॥१०॥

आगे के पद्य में भी आत्मा की अकर्तृता का ही विवरण किया जाता है। यहाँ "केवलैः" पद इन्द्रियैः का ही विशेषण पद्य में आया है किन्तु अर्थ समन्वय की दृष्टि से इसे सबके साथ जोड़ लेना चाहिये। तदनुसार पद्य का अर्थ है कि कर्मयोगी केवल शरीर से, केवल मन से, केवल बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते रहते हैं। केवल पद से यहाँ यही सूचित किया जाता है कि आत्मा का सम्बन्ध कर्म में नहीं होता। कर्म सब मन, बुद्धि शरीर वा इन्द्रियों से ही होते हैं। आत्मा अकर्त्ता ही रहता है। इसका विवरण पूर्व कई बार किया जा चुका है। यहाँ यह प्रश्न होगा कि जब आत्मा का कर्म में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तब उसका फल विशुद्धि भी आत्मा में क्यों होगी ? जो कर्त्ता है उसी पर फल होता है यह विवरण किया जा चुका है। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये ही हमने आत्मा का अन्तःकरण अर्थ किया है। आत्मा स्वयं निर्लिप्त होने के कारण शुद्ध ही है। उसकी शुद्धि कर्म से क्या होगी ? इसलिये यहाँ आत्म शब्द का अन्तःकरण अर्थ करना ही योग्य है। अन्तःकरण में ही कर्म के कारण मलिनता आती है उसकी शुद्धि के लिये ही कर्मयोगी के शास्त्रोक्त कर्म होते हैं। बिना फल के उद्देश्य के शास्त्रोक्त कर्म किये जायँ तो उनसे अंन्तःकरण शुद्धि ही होती है। यह भी विवरण पूर्व आ चुका है। अतःकरण शुद्धि के लिये योगी कर्म करते हैं इस कथन से इस पद्य में भी साधन दशा का कर्मयोग ही प्रतिपादित है; यह स्पष्ट होता है। परिनिष्ठित कर्मयोगी का तो अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है। वह तो केवल संसार चक्रपरिचालन, लोकसंग्रह वा ईश्वराज्ञा समझकर ही कर्म करता है। अस्तु, इससे यहाँ यही सूचित किया कि साधन दशा में भी आत्मा अकर्त्ता है—इसका अनुसन्धान रहना ही चाहिये; तभी परिनिष्ठित कर्मयोग सिद्ध होगा ॥११॥

पूर्वोक्त सब प्रकरण का सारांश पुनः दोहराते हैं कि पूर्वोक्त कर्मयोग से कर्म फलों को छोड़कर जो कर्म करता है वह ज्ञानयोग निष्ठा आदि के क्रम से

शान्ति अर्थात् पूर्ण शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जो पूर्वोक्त प्रकार के योग से सम्बन्ध नहीं रखता और फल की कामना में इच्छा पूर्वक अर्थात् "मैं करता हूँ" इसी भावना से कर्म करता है, वह कर्मों के बन्धन में ही पड़ा रहता है।

इससे यही प्रदर्शित किया जाता है कि कर्मयोग रूप से जो कर्म करता है उसे शीघ्र या विलम्ब से ज्ञान निष्ठा प्राप्त होकर कभी न कभी मुक्ति मिलती ही है और जो सदा मैं ही कर्त्ता हूँ, मैं ही भोगता हूँ। इस प्रकार अपने आप पर ही सब कर्मों को लादते रहते हैं और सांसारिक लौकिक वा पारलौकिक फल प्राप्ति की इच्छा से ही कर्म करते रहते हैं वे तो सदा ही बन्धन में पड़े रहेंगे। शान्ति शब्द का अर्थ श्री रामानुजाचार्य आत्मानुभवरूप शान्ति ही करते हैं। वही कर्मयोग का मुख्य फल है। "नैष्ठिकी" शब्द से उस शान्ति को स्थिर रूप बताया गया है ॥१२॥

चतुर्थ अध्याय के "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" इस पद्य से आरम्भ कर अब तक यही सिद्ध किया गया कि कर्म सब इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण आदि करते हैं। आत्मा तो सदा अकर्त्ता ही रहता है। जब वह कुछ करता ही नहीं तब उसे फलयोग भी क्यों होगा ? यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ठीक है कर्म इन्द्रिय वा अन्तःकरण आदि से ही होते हैं किन्तु प्रेरणा तो आत्मा की ही है। इन्द्रिय वा अन्तःकरण प्राण आदि तो जड़ हैं। जड़ों में तो बिना चेतन की प्रेरणा के क्रिया हो ही नहीं सकती—यह संसार में देखा जाता है। वर्तमान युग में एक मशीन चाहे आटा पीसना, पाक बनाना आदि सब कर्म कर दे किन्तु आरम्भ में उसका बटन दबाकर चलाने वाला कोई चेतन अवश्य चाहिये। विना चेतन की प्रेरणा के बड़ी-बड़ी मशीनें भी शान्त ही पड़ी रहेंगी। इसी प्रकार शरीर यन्त्र में भी इन्द्रिय, मन आदि बिना आत्मा की प्रेरणा के कुछ नहीं कर सकते। जब प्रेरणा आत्मा की ओर से हुई तो कारयिता अर्थात् कर्म कराने वाला तो वह हो ही गया। तब जिस प्रकार भृत्यों के कर्म का फल स्वामी को ही भोगना पड़ता है, सेना लड़ती है किन्तु जय-पराजय रूप फल राजा को ही प्राप्त होते हैं। बड़े-बड़े कारखानों में बहुत से भृत्य काम करते रहते हैं किन्तु उनका फल रूप जो द्रव्य आता है वह स्वामी को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय, मन आदि के कर्मों का भी फल प्रेरक आत्मा को ही मिलेगा यह सम्भव है। इस प्रकार शुभ-अशुभ फलों का भोक्ता तो आत्मा ही सिद्ध हुआ। इस प्रश्न के उत्तर के लिये इस पद्य में कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानी कर्मयोगी की दृष्टि में प्रेरणा करने वाला भी नहीं है।

पद्य का अर्थ है कि मन से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् परित्याग कर जितेन्द्रिय देही अर्थात् आत्मा नौ द्वारों के पुररूप इस शरीर में सुखपूर्वक अर्थात् सब चिन्ताओं से रहित होकर आनन्द से रहता है। वह न कुछ करता है, न

किसी दूसरे अर्थात् अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि से कुछ कराता ही है। सब ही प्राणी दो कान, दो आँख, दो नासिका छिद्र और एक मुख ये ऊपर के और मल-मूत्र त्याग के दो नीचे के इस प्रकार नौ छिद्र रूप द्वारों वाले शरीर रूप पुर में ही रहते हैं। इसमें कर्मयोगी ज्ञानी की कोई विशेषता स्थूल दृष्टि से बताई गई प्रतीत नहीं होती। तथापि पद्य में जो विशेष्य और विशेषण पद आये हैं उन पर विचार करने से ज्ञानी और अज्ञानी का भेद प्रतीत हो जाता है। विशेष्य वाचक पद आत्मा का बोधक "देही" इस पद्य में आया है। उसका अभिप्राय यह है कि अज्ञानी पुरुष तो देह अर्थात् शरीर को ही आत्मा समझते हैं और वह शरीर जहाँ रहे उस घर, शय्या, आसन आदि को अपना आधार मानते हैं। "मैं घर में रह रहा हूँ" मैं शैय्या पर सो रहा हूँ" मैं आसन पर बैठा हूँ" इत्यादि शरीर को ही 'मैं' शब्द का अर्थ मानकर उनके व्यवहार हुआ करते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष शरीर को आत्मा नहीं मानता। शरीर से आत्मा भिन्न है यह उसका दृढ़ निश्चय हो चुका है इसलिये वह नवद्वारपुर-रूप देह को ही अपना निवास स्थान मानता है। शैय्या, आसन, घर आदि शरीर के निवासस्थान हैं, आत्मा का निवासस्थान तो कर्म फल रूप से प्राप्त शरीर ही है। जो कि प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर्यन्त रहेगा। इससे यह भी सूचित किया कि जैसे घर, शैय्या, आसन आदि अपने स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं इसी प्रकार शरीर भी ज्ञानी की दृष्टि में आधार मात्र है, वह स्वरूप में प्रविष्ट नहीं। यह विशेषता ज्ञानी और अज्ञानी की इस पद्य में सूचित हुई। "सुखमास्ते" इन पदों से यह सूचित किया गया कि संसारी पुरुष शरीर, इन्द्रिय आदि में कुछ उपघात (आपत्ति) होने पर आत्मा को दुःखी समझने लगते हैं क्योंकि उन्हें शरीर में ही आत्म बुद्धि रहती है। शरीर सम्बन्धी पुत्र, मित्र, कलत्र आदि के दुःखी हो जाने पर भी वे दुःखी होते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष सब द्वन्द्वों से रहित आत्मा को ही मैं शब्द का अर्थ मानता है। इसलिये उसे कोई चिन्ता वा दुःख होता ही नहीं। "वशी" शब्द से यह सूचित किया कि इन्द्रिय-मन आदि भी उसके वश में हैं। उन्हें वह अपने से भिन्न समझकर उनका निग्रह कर चुका है इसलिये ये उसके ज्ञान में बाधा नहीं डाल सकते। इस प्रकार के आत्मा में जैसे कोई क्रिया न होने से कर्तृता नहीं है। इसी प्रकार वह किसी से कर्म कराता भी नहीं है। अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि किसी को प्रेरणा भी नहीं करता। प्रेरणा भी तो एक प्रकार की क्रिया ही है। जब आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती तो प्रेरणा रूप क्रिया ही क्यों होगी? प्रेरणा या तो वाणी के द्वारा होती है अथवा शरीर से धक्का देकर होती है। दोनों ही दशा में आत्मा क्रिया वाला हो जायगा और विभु अर्थात् व्यापक पदार्थ में हलचल रूप क्रिया हो नहीं सकती क्योंकि जो सर्वत्र व्यापक है उसमें हलचल कैसे हो? आकाश के आधार पर वायु आदि क्रिया करते हैं किन्तु आकाश में कोई क्रिया नहीं होती क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। वह सरक कर कहाँ जायगा? उसके अवयव भी नहीं, तब अवयवों में हलचल भी कैसे

सम्भव होगी ? आत्मा को भी इसी प्रकार व्यापक शास्त्रों ने बताया है तब उसमें जैसे क्रिया नहीं होती; उसी प्रकार प्रेरणा भी वह नहीं कर सकता। वाणी के द्वारा प्रेरणा भी वहाँ नहीं बन सकती क्योंकि वाणी भी एक इन्द्रिय है। आत्मा स्वयं वाणी रूप नहीं; न उसके स्वरूप में वाणी प्रविष्ट है, फिर वह वाणी से भी प्रेरणा कैसे करेगा ? इसलिये आत्मा जैसे कर्ता अर्थात् कर्म करने वाला नहीं है वैसे ही कारयिता अर्थात् दूसरों को प्रेरणा कर कर्म कराने वाला भी नहीं है। तब अन्तःकरण आदि जड़ों में क्रिया कैसे होती है इस पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान यही है कि इसपुर रूप शरीर में रहने के कारण आत्मा का और अंतःकरण, इन्द्रिय, शरीर आदि का सन्निधान अर्थात् समीप रहना है। तब जैसे सूर्य के सम्मुख रहने वाले जल, दर्पण आदि में भी चमक आ जाती है, इसी प्रकार अनन्त प्रभा वाले आत्मा के समीप वा सम्मुख रहने से अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि में भी उसकी चेतनता का आभास आ जाता है। उस आभास से चेतन जैसे होकर ये अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीर आदि कर्म में लग जाते हैं। इस चैतन्यप्रभा को ही वेदान्त शास्त्र में चिदाभास कहा गया है वह चिदाभास ही इनका प्रेरक होकर कर्म कराता है। मुख्य आत्मा में कोई प्रेरणा आदि नहीं है। इस प्रकार की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष अपने आप को कर्त्ता वा कारयिता कुछ भी नहीं मानता। पुनः प्रश्न होगा कि जब आत्मा को व्यापक कहते हो तो उसका सन्निधान तो सब ही जगह है, फिर अन्य जड़ आदि वस्तुओं में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब क्यों नहीं हो जाता ? और उनमें भी अपने आप क्रिया क्यों नहीं होने लगती ? इसका उत्तर है कि आत्मा के पूर्व शरीरादि से किये हुए कर्मों के अनुसार जो शरीर इसे मिला उस पर कर्मानुसार ही इसका स्वत्व रहा और यह भी शरीर, इन्द्रिय आदि को अपना समझता रहा। यह ममत्व भी इसका उन पर रहा। आज ज्ञानी हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म वश उसका ममत्व रूप सम्बन्ध उनके साथ है, यही आभिमुख्य अर्थात् अन्तःकरण आदि का आत्मा के सम्मुख होना है। इस सम्मुखता के कारण वे ही इसकी प्रभा (प्रतिविम्ब) ले सकते हैं। अन्य जड़ वस्तुओं में वैसा आभिमुख्य न होने से वे प्रतिबिम्ब नहीं ले सकते। इसलिये न उनमें चेतनता आती है, न क्रिया होती है। तब पुनः प्रश्न होगा कि आत्मा तो सदा ही अकर्ता रहा है तब पूर्व कर्म भी इसके कहाँ से आये ? पूर्व जन्म में भी शरीरादि इसके स्वरूप में प्रविष्ट नहीं थे फिर उनके किये कर्मों के अनुसार इसका ममत्व वर्तमान शरीरादि में क्यों हुआ ? इसका उत्तर यही है कि अनादि अविद्या के कारण यह अपने आप को शरीरादि से अभिन्न और कर्त्ता ही मानता रहा। इसीसे कर्म इसी पर अपना प्रभाव डालते रहे और शरीरादि पर इसका ममत्व अनादि काल से ही बना रहा। अब ज्ञान होने पर वह ममत्व हटा है और तब मुक्ति की योग्यता आयी है। यही बात आगे "ज्ञानेन तु तदज्ञानम् येषां नाशितमात्मनः" इत्यादि पद्य में स्पष्ट की जायगी। यहाँ नवद्वारपुर में रहना बताकर यही सूचित किया कि अभी

प्रारब्ध कर्म शेष रहने से उस पुर में ही यह रहता है उसमें ही प्रारब्ध कर्मवश इसका सान्निध्य है। उस सन्निधान मात्र से ही अन्तःकरण इन्द्रिय आदि चिदाभास प्राप्त कर अपने-अपने कर्म में लगे रहते हैं। पुर को नवद्वार कहने का यह भी अभिप्राय है कि उन द्वारों से प्राण वायु के निकल जाने का भी इस ज्ञानी को भय नहीं है। वह जब तक रहे वा जब चला जाय इसकी उसे कुछ भी चिन्ता नहीं। इसी के आधार पर इस नवद्वारपन को वैराग्य भावना का ज्ञानी और जिज्ञासुओं ने आधार बनाया है। जैसा कि श्री कबीरदास जी ने कहा है—

नवद्वार का पींजरा तामें पंछी पौन।
रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन॥

इसका संस्कृत में अनुवाद भी किसी सज्जन ने किया है—

उद्घाटितनवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनलः।
यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः॥

श्री नीलकण्ठ जी ने इसकी व्याख्या में नवद्वार शब्द का अर्थ पूर्वोक्त कर्म करने के स्थान भी कहा है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और प्राण ये ही कर्म करने वाले पूर्व पद्यों में बताये हैं। कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति प्राण के द्वारा ही होती है इसलिये प्राण में ही उनका भी संग्रह कर लिया गया। इन नौ कर्म कर्ताओं का साक्षी-रूप से वह आत्मा बैठा रहता है। स्वयं कुछ करता-कराता नहीं। "सर्व कर्माणि" पद से नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध, आदि सब प्रकार के कर्म कहे गये हैं। अथवा लौकिक-अलौकिक सब कर्म इस पद से ले लेना यह भी व्याख्या हो सकती है। अस्तु, यह जीवन्मुक्ति अवस्था का वर्णन भगवान् ने किया।

श्री शङ्कराचार्य इस पद्य को संन्यास का प्रतिपादक ही मानते हैं कि ज्ञानी पुरुष सब कर्मों को मनसा अर्थात् विवेक बुद्धि से छोड़कर न कुछ करता न कराता हुआ निश्चिन्त भाव से शरीर में जैसे कोई पथिक किसी निवासस्थान में ठहरा रहे इसी प्रकार की इस जीवन्मुक्त की स्थिति होती है और उनके अनुयायी व्याख्याकार यह भो कहते हैं कि अध्याय के आरम्भ में जो कर्मयोग को संन्यास से श्रेष्ठ बताया था वह जब तक पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो; तब तक के ही लिये था। अर्जुन अभी तक वैसी ही दशा में था इसलिये उसके प्रति कर्मयोग को ही श्रेष्ठ कहा। वास्तव में तो कर्मसंन्यास ही सबसे श्रेष्ठ है यह इस पद्य से स्पष्ट कर दिया। श्री शंकरानन्द जी ने इस पद्य का व्याख्यान बहुत विस्तार से किया है और उसमें विशेषकर यह सिद्ध किया है कि कर्मों के विधि वाक्य सबको मिथ्या समझने वाले ज्ञानी पर लागू नहीं हो सकते और सब जगत् को मिथ्या समझने वाला ज्ञानी पुरुष कर्म कर ही नहीं सकता। अस्तु, उनके मत में यह पद्य मुख्य रूप से सर्व कर्म संन्यास का ही प्रतिपादक है। किन्तु लोकमान्य तिलक कहते

हैं कि इस पद्य में "मनसा" पद आया है इसका अभिप्राय यही है कि मन से सब कर्मों का संन्यास करे अर्थात् उन कर्मों में अपनी कर्तृत्व बुद्धि न रखे। जैसा कि अठारहवें अध्याय में विस्तृत वर्णन किया जायगा। उसी का यह सूत्र पात है! इस विचार के अनुसार वे इस पद्य को कर्मयोग का प्रतिपादक ही मानते हैं। इसीसे प्रकरण संगति भी होती है।

श्री रामानुजाचार्य "नवद्वारे पुरे संन्यस्य" इस प्रकार पद्य का अन्वय मानते हैं। उनके मतानुसार पूर्व पद्यों में इन्द्रिय, मन, प्राण आदि को कर्मों का कर्ता बतलाया गया। अब इस पद्य में शरीर को ही आत्मा के सन्निधान से चेतनता प्राप्त कर कर्ता बताया जाता है कि ज्ञानी पुरुष शरीर पर ही कर्मों का संन्यास अर्थात् स्थापन कर सुख से रहता है। शरीर से ही कर्म कराता रहता है। इससे उनके मतानुसार भी पद्य का कर्मयोग में ही तात्पर्य है॥१३॥

पचहत्तरवां-पुष्प

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

इन पद्यों के व्याख्यान में भी व्याख्याकारों का बहुत मतभेद है। इस कारण सबका ही मत संक्षेपतः दिखाना उचित प्रतीत होता है। श्री शङ्कराचार्य इनकी व्याख्या करते हैं कि पूर्व पद्य में जो आत्मा न करता है, न दूसरे से कराता है यह कहा गया—उसी का यह परिशेष है कि प्रभु अर्थात् सब शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा, न मन आदि को "तुम करो" इस प्रकार प्रेरणा करता है और न कर्म रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों को बनाता है, न उन बनाये हुए द्रव्यों के साथ शरीरादि के सम्बन्ध को कराता है। इससे यह सूचित किया कि भोग करनेवाला वा इन्द्रिय, मन आदि को भोग करानेवाला भी आत्मा नहीं है। इससे न वह कर्ता है, न कारयिता है, न भोक्ता है, न भोजयिता है; वह सर्वथा निर्लिप्त है, यह बताया गया। तब यह सब कैसे होता है ? इसका उत्तर चतुर्थ पाद में दिया गया कि स्वभाव अर्थात् प्रकृति रूप माया जिसका विवरण आगे "दैवी ह्येषा गुणमयी" इत्यादि रूप से किया जायगा वही सब प्रकार की प्रवृत्ति कराती हैं। तात्पर्य यही है कि माया के बने हुए अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि ही कुछ करते हैं, आत्मा न स्वयं करता है, न मन आदि को प्रेरणा देता है।

आगे के पद्य में विभु पद से परमात्मा लिया गया है। वह परमात्मा न किसी के पाप को ग्रहण करता है, न पुण्य लेता है अर्थात् परमात्मा के भक्तों का पाप भगवान् ही लेता है। यह कल्पना निस्सार है और पूर्व पद्यों में सब कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देना जो कहा गया, तदनुसार भक्तों के अर्पण किये गये पुण्य रूप कर्मों का भी परमात्मा स्वयं ग्रहण नहीं करता। तब भक्त लोग पूजा, पाठ, जप, यज्ञ आदि शास्त्र विहित कर्म क्यों करते हैं ? इसका उत्तर द्वितीय पद्य के उत्तरार्ध से दिया गया है कि जीवों का "मैं स्वयं ब्रह्म रूप ही हूँ, न कर्ता

हूँ, न भोक्ता हूँ" इस प्रकार का विवेक ज्ञान, अज्ञान अर्थात् पूर्वोक्त अविद्या से ढका हुआ है। इसी से प्राणियों को मोह हो रहा है और वे अपने आत्मा को कर्ता, भोक्ता व पराधीन समझ कर सब प्रकार के कर्म उस मोह के कारण ही करते हैं। यह श्री शङ्कराचार्य की व्याख्या हुई। उनके अनुयायी श्री मधुसूदन सरस्वती और श्री शङ्करानन्द जी आदि भी कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ इसी प्रकार की व्याख्या करते हैं। केवल द्वितीय श्लोक (१५ वाँ) अवतरण में यह शङ्का उठाते हैं कि—"एष एव ह्येनं साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते" (परमात्मा ही जिस पुरुष को उन्नत करना चाहता है उससे अच्छे कर्म कराता है और गिराना चाहता है उससे बुरे कर्म कराता है) इत्यादि श्रुति और "अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदुःखयोः। ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" (जीव स्वयं अज्ञानी है वह अपने सुख-दुःख के कारण भी उपस्थित नहीं कर सकता। ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है—अर्थात् वैसे लोकों में जाने के कर्म करता है और उनके फल-भोग के लिये उन लोकों में जाता है) इत्यादि स्मृतियों में ईश्वर को ही जीव का प्रेरक बताया गया है। इसी प्रकार उपासना आदि की विधि भी शास्त्रों में सर्वत्र प्राप्त है और भगवद्गीता में ही भगवान् ने स्वयं कहा है कि जो कोई भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल आदि अर्पण करता है उनको मैं स्वयं भोजन करता हूँ इत्यादि, फिर प्रकृति के ही शिर सम्पूर्ण कर्तृत्व किस प्रकार डाला जाता है? आगे इसके समाधान में इस प्रकार की सब श्रुति-स्मृति भी मोह जनित अज्ञान के ही अनुवादक हैं, भक्तों के उत्साह बढ़ाने के लिये ही भगवान् ने भक्ति पूर्वक दिये हुए का मैं भोजन करता हूँ इत्यादि भी कहा है। वस्तुतः भगवान् न किसी का पुण्य ग्रहण करता है, न पाप लेता है। जहाँ ऐसा कहा है वह जीवों के मोह जनक अज्ञान का ही अनुवाद मानना चाहिये। इस विषय को इन व्याख्याकारों ने स्पष्ट अक्षरों में कह दिया है। इस प्रकार श्री शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याताओं का सिद्धान्त प्रदर्शित हुआ।

श्री रामानुजाचार्य दोनों पद्यों को जीव परक ही लगाते हैं। वे माया, अविद्या आदि शाङ्करवेदान्ताभिमत पदार्थों को नहीं मानते इसलिये अपने सिद्धान्तानुसार पद्यों का अर्थ करते हैं कि देव, मनुष्य, तिर्यग्योनि आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के देह, मन आदि के पृथक्-पृथक् प्रकार के कर्तृत्व को और उन कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाले देह आदि फलों के सम्बन्ध को भी आत्मा नहीं बनाता क्योंकि वह प्रभु अर्थात् समर्थ है। इसका तात्पर्य है कि वह भिन्न-भिन्न देहों में रहता हुआ भी कर्मों के वश में नहीं है। तब यह सब सांसारिक कर्मकलाप क्यों हो रहा है? इसका उत्तर दिया जाता है कि यह सब स्वभाव की प्रवृत्ति है। स्वभाव शब्द का अर्थ है उनके मत में पूर्व-पूर्व कर्मों से उत्पन्न जीव में स्थित वासनायें; जिन वासनाओं ने आत्मा को देव, मनुष्य, तिर्यग्योनि आदि शरीरों में डाला है वे ही वासनायें उनसे अपने-अपने देह, मन

आदि के उपयुक्त कर्म कराती रहती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पूर्व-पूर्व कर्मजनित वासनाओं के अनुसार जीव उत्तरोत्तर कर्म करता रहता है और उनके फल भोगता रहता है। इस विचार से आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वतः नहीं है, पूर्व-पूर्व वासनानुसार है। द्वितीय पद्य को भी वे जीवात्मा पर ही कहते हैं कि किसी आत्मीय पुत्र, मित्र आदि का पाप वा पुण्य आत्मा नहीं लेता अपितु अज्ञान अर्थात् ज्ञान के विरोधी—तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति को रोकने वाले पूर्वकृत कर्मों वाले पूर्वकृत कर्मों से जीव का तत्त्वज्ञान आवृत्त अर्थात् ढका हुआ रहता है—कर्मवश तत्त्वज्ञान सब जीवों में उत्पन्न नहीं होता। इसी से सांसारिक जीव देहाभिमान रूप मोह में पड़े रहते हैं अर्थात् देह को ही अपना स्वरूप मानकर अपने आप में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समझते रहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है उसमें और श्री गोस्वामी पुरुषोत्तम जी की व्याख्या में, दोनों पद्यों को ईश्वर पर ही लगाया गया है कि ईश्वर भिन्न-भिन्न योनियों में स्थित जीवों का कर्तृत्व उन योनियों के भिन्न-भिन्न कर्म वा उनके फलों के साथ जीव का सम्बन्ध उत्पन्न नहीं करता अपितु यह सब जीवों से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृति जनित स्वभाव अर्थात् आदत के अनुसार ही होता है। द्वितीय पद्य में श्रीवल्लभोक्त व्याख्या में कहा गया है कि परमात्मा किसी का पुण्य-पाप नहीं लेता अर्थात् उन पाप-पुण्यों में प्रेरक भी नहीं बनता। किन्तु भगवान् ने जो माया शक्ति उत्पन्न की है, उसी के विद्या और अविद्या के पाँच पर्व हैं जो श्री भागवत में निरूपित हैं। उस अविद्या को ही यहाँ अज्ञान शब्द से कहा गया। उस अज्ञान से जीवों को अपना स्वरूप ज्ञान नहीं हो पाता। इसी से जीव मोह में पड़े रहते हैं और मोह के कारण ही अपने आप को कर्त्ता-भोक्ता समझते रहते हैं। यह सब स्वतन्त्र भगवान् ने ही जगत् रूप से क्रीड़ा करने की इच्छा से बनाया है।

श्री गोस्वामी पुरुषोत्तम जी ने यह शङ्का उठाकर कि फिर श्रुति ने भगवान् को ही सब कर्मों में प्रेरणा करने वाला कैसे बताया ? इसका उत्तर दिया है कि अज्ञानवश अपने स्वरूप को जिस प्रकार जीव भूल जाते हैं उसी प्रकार वेदार्थ ज्ञान में भी मोह में पड़ते हैं। प्रेरणा बताने वाली श्रुति ने भगवान् की स्वतन्त्र इच्छा का ही प्रतिपादन किया था अर्थात् भगवान् स्वतन्त्र हैं। वे अपनी स्वतन्त्रता से जिस जीव को उन्नत बनाना चाहते हैं उससे अच्छे कर्म करा लेते हैं और जिसे अवनति में डालना चाहते हैं, उससे बुरे कर्म करा लेते हैं, यह सब भगवान् की स्वतन्त्रता ही है। इसी का प्रतिपादन उस पूर्वोक्त श्रुति में किया गया था। जीव उसका भी तात्पर्य न समझ सके। इससे भगवान् पर विषमता वा प्राणियों पर दुःख देने के कारण निर्दयता का प्रसङ्ग आवेगा। यह शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि किसी दूसरे पर विषमता वा निर्दयता कहला सकती है। जीव तो सब भगवान् के ही अंश हैं। भगवान् ही जगत् रूप क्रीड़ा की इच्छा से अपने अंशों को पृथक्-पृथक् रूप में भासित

करते हैं अर्थात् स्वयं ही भिन्न-भिन्न रूपों से उन्नति और अवनति आदि का अनुभव किया करते हैं, यह उनकी केवल क्रीड़ा है, इसमें विषमता वा निर्दयता का कोई प्रसङ्ग नहीं। आगम शास्त्र में विषमता और निर्दयता का यही समाधान किया जाता है। अस्तु! इस प्रकार वैष्णव व्याख्याताओं की व्याख्यायें भी भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राप्त होती हैं।

श्री निम्बार्काचाय मतानुयायिनी तत्त्वप्रकाशिका में इन पद्यों की व्याख्या की है कि पूर्वपद्य में जो कहा गया कि कर्मयोगी कर्मफल से बद्ध नहीं होता और जो इच्छापूर्व की आसक्ति से कर्म करता है, वह बन्धन में पड़ता है। इस पर प्रश्न होगा कि कर्मों में प्रेरक तो परमात्मा ही है जैसा कि पूर्व श्रुति और स्मृति द्वारा दिखाया जा चुका है। तब जीव तो परमात्मा की प्रेरणा से शुभ वा अशुभ कार्य करते हैं, जैसे कि कोई भृत्य स्वामी की आज्ञा से भिन्न प्रकार के कर्म किया करता है। तब फिर शुभ-अशुभ कर्मों का मुख्य रूप से दायित्व तो ईश्वर पर ही आया। जीव तो उसकी प्रेरणा से ही कर्म करता है। उसका तो बन्धन नहीं होना चाहिये। सब कर्मों का फल प्रेरक ईश्वर को ही मिलना चाहिये। इसका उत्तर दोनों पद्यों से दिया गया है कि कर्तृत्व अर्थात् कर्म करने में प्रवृत्ति, कर्म और कर्मफल का संयोग, ये सब प्रभु अर्थात् ईश्वर स्वतः नहीं बनाता किन्तु स्वभाव अर्थात् अनादि काल से जो कर्मों का बन्धन जीव को लगा हुआ है और अविद्या के कारण जिसे जीव ने प्रकृति रूप से अपने स्वरूप में प्रविष्ट समझ रखा है, वही सब कर्म आदि का कारण होता है। ईश्वर भी पूर्व-पूर्व कर्मों की वासना के अनुसार ही उत्तरोत्तर कर्मों में प्रवृत्ति कराता रहता है। इसीलिये उसपर विषमता वा निर्दयता का दोष भी नहीं आता और स्वतः प्रेरक न होने से वह पाप-पुण्य का भागी भी नहीं बनता। यह पूर्व पद्य का अर्थ उनके मतानुसार हुआ। द्वितीय पद्य में इसी को स्पष्ट किया गया कि वह परमात्मा किसी का पुण्य वा पाप नहीं लेता अर्थात् पूर्व पूर्व कर्मानुसार प्रेरणा करने से पाप-पुण्य का भागी वह नहीं बनता किन्तु अनादि कर्मबन्ध रूप अज्ञान से जीवों का स्वाभाविक ज्ञान ढका हुआ है। इसी मोह में वे पड़कर अपने आप को कर्त्ता, भोक्ता, आदि मानते हैं और ईश्वर को प्रेरक मान रहे हैं। स्वभाव और अज्ञान शब्दों का अर्थ इनमें श्री रामानुजाचार्य के अनुसार ही किया है। केवल भेद इतना ही है कि उनके प्रभु, विभु शब्दों का जीवात्मा को ही मानकर दोनों पद्यों को जीवात्मा पर ही लगाया है और इस व्याख्या में दोनों परमात्मा पर ही लगाये गये हैं।

श्रीमाध्व मतानुयायी श्रीधर स्वामी की भी व्याख्या प्रायः ऐसी ही है। केवल उनने स्वभाव शब्द का अर्थ श्री शङ्कराचार्य के मतानुसार अविद्या ही किया है और उत्तर पद्य में अज्ञान शब्द से ईश्वर के समवर्तित्व का ज्ञान न होना माना है। अर्थात् ईश्वर तो किसी को दण्ड भी देता है तो वह भी उसके सुधार के लिये होने के कारण अनुग्रह रूप ही है। किन्तु जीव उसमें विषमता की

कल्पना कर लेते हैं, यह उनका ईश्वर स्वरूप न जानने के कारण अज्ञान जनित मोह ही है। इस मोह का वा ईश्वर स्वरूप न जानने का मुख्य कारण क्या है ? इसका विचार करने पर अविद्या वा उसकी मूलभूत माया में ही पर्यवसान होगा।

महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी का मार्ग इन पद्यों की व्याख्या में सबसे निराला है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—जैसा कि हमने "नैव कुर्वन्न कारयन्" इन पूर्व पद्य के शब्दों की व्याख्या में लिखा था कि आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि को प्रेरणा नहीं करता, अपितु आत्मा के अभिमुख रहने के कारण वे मन आदि इसकी चैतन्य छाया लेकर स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिये आत्मा अपने सन्निधान अर्थात् समीपस्थिति मात्र से प्रेरक मान लिया जाता है। वस्तुतः प्रेरणा करना भी उसकी ओर से नहीं बनता। इस व्याख्या के अनुसार समीप में रहने के कारण जो प्रेरणा का कर्त्तृत्व आत्मा में आया वह भी वास्तव में नहीं बनता। यह इन पद्यों में दिखाया गया है। उसका कारण यह है कि जैसे चुम्बक और लोहे की परस्पर में समीपता होने के कारण लोहा चल जाता है, यही समीप स्थिति प्रेरणा कहलाती है। वहाँ लोहा और चुम्बक दोनों सावयव हैं और दोनों ही अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। इसलिये एक को प्रेरक और दूसरे को प्रेरणा ग्रहण करने वाला मान लिया जाता है।

यहाँ बात दूसरी है। आत्मा स्वयं तो सत्तावाला है किन्तु अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि माया जनित होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रखते। वे वास्तव में अनिर्वचनीय वा असत् ही हैं। तब सत् और असत् का सम्बन्ध कैसे बने ? और सत् के सन्निधान से असत् की प्रेरणा भी कैसे मानी जाय ? अतः अन्त में यही कहना पड़ेगा कि यह सब कर्त्तृत्व या कर्म या कर्म फल का सम्बन्ध, केवल माया का चमत्कार वा कल्पना मात्र है। पूर्व पद्य का (१४ वाँ) अर्थ है कि आत्मा अर्थात् जीवात्मा ने अहङ्कार में कर्त्तापन वा इन्द्रियों में अपने-अपने कर्म उत्पन्न नहीं किये हैं, न कर्मों के फल का सम्बन्ध ही वह बनाता है। यदि आत्मा के समीप रहने से कर्म में प्रेरणा मिलती हो तो घट, पट, आदि जड़ वर्ग में भी प्रेरणा होनी चाहिये क्योंकि आत्मा तो व्यापक होने के कारण उनके भी समीप में हैं। लोक शब्द का अर्थ यहाँ उनने जड़वर्ग ही किया है। उस जड़ वर्ग में कोई कर्म वा उन कर्मों का कर्त्तृत्व नहीं देखा जाता, न उनका कर्मफल से कोई सम्बन्ध ही होता है। पद्य का अर्थ यही होगा कि लोक अर्थात् जड़ वर्ग में प्रभु अर्थात् आत्मा, कर्त्तृत्व, कर्म और फल संयोगों को उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार प्राणियों में भी वह इनको उत्पन्न नहीं करता, यही मानना उचित है। फिर प्राणिवर्ग में कर्म कैसे होते हैं इसका उत्तर यही है कि—प्राणिवर्ग में जो जिसका स्वभाव अर्थात् आदत है, उसके अनुसार ही वह अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त रहता है जैसे—हाथी का स्वभाव चलते समय अपने पुच्छ को हिलाना है, वह वैसा ही करता रहता है। घोड़े का

स्वभाव अपने आगे के पैरों को भूमि पर बार-बार पटकना है, वह वैसा ही करता है। इसी प्रकार अपनी-अपनी प्रकृति (आदत) के अनुसार सब प्राणी चेष्टा करते रहते हैं। आत्मा इन कर्मों की कोई प्रेरणा नहीं करता। हाँ, इस प्रकार की प्रेरणा उसमें अवश्य माननी होगी जैसे सूर्य उदय होते ही सर्वत्र प्रकाश फैलाता है; इस प्रकाश में प्राणिवर्ग अपनी-अपनी चेष्टा में लग जाते हैं; जड़वर्ग घट, पट, आदि में कोई चेष्टा नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा का व्यापक होने के कारण सब स्थानों में सन्निधान है किन्तु जहाँ इन्द्रिय, मन आदि हैं, वहाँ कर्म होने लगते हैं और उनका कर्त्तृत्व भी अहङ्कार वश माना जाने लगता है। किन्तु जहाँ मन, इन्द्रिय आदि नहीं, उस जड़वर्ग में आत्मा के सन्निधान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सब स्वभाव के कारण ही होता है। प्राणिवर्ग में जो स्वभावानुकूल चेष्टायें होती हैं उसमें आत्मा का सन्निधान ही कारणरूप होता है। क्योंकि मृत शरीरों में चेष्टा आदि नहीं देखी जाती। यद्यपि मृत शरीरों में भी विभु होने के कारण आत्मा का सन्निधान तो रहता ही है किन्तु इन्द्रिय, मन आदि के निकल जाने से प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं होता और चेतना का आभास न आने से चेष्टायें भी नहीं होतीं। इसी कारण जड़ और चेतन का यही विभाग चरक महर्षि ने लिखा है कि—"सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्" जड़ इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन कहलाते हैं, जहाँ इन्द्रियों का विकास नहीं, वे जड़ कहे जाते हैं। इसीलिये व्यवहार दशा में अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि के कर्मों का कर्त्तृत्व आत्मा पर लाद दिया जाता है। वस्तुतः जैसे सूर्य प्रकाश में सब कर्मों के होने पर भी उन कर्मों में सूर्य का कर्त्तृत्व नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार आत्मा में भी कर्त्तृत्व नहीं है अपितु अपने-अपने स्वभाव में कर्त्तृत्व रहता है। कदाचित् कहो कि कई प्राणियों की जो स्वाभाविक चेष्टायें पूर्व कही गईं उनमें चाहे स्वभाव को कर्त्तृत्व माना जाय। किन्तु मनुष्य प्राणी जो इच्छा और विवेक पूर्वक शास्त्रों के अनुसार शुभ वा अशुभ कर्म करता है, उनको स्वाभाविक कैसे कहा जायगा ? तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं क्योंकि जैसें भिन्न-भिन्न प्राणियों के शरीरों में स्वभावजनित चेष्टायें बतायी गयीं, इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहङ्कार वा इन्द्रियाँ इन सब का भी नियत स्वभाव है। मन अपने स्वभावानुसार सङ्कल्प-विकल्प करता है। बुद्धि अपने स्वभावानुसार ही सत्-असत् की विवेचना करती रहती है। अहङ्कार अपने स्वभावानुसार आत्मा पर कर्त्तृत्व आरोपित करता है। इन्द्रियाँ अपने स्वभावानुसार दर्शन, श्रवण आदि करती रहती हैं। यों यह सब स्वभाव का चक्र है। इसलिये उचित कहा गया कि "स्वभावस्तु प्रवर्तते" अर्थात् स्वभाव ही सबकी प्रवृत्ति कराता है। द्वितीय पद्य के पूर्वार्ध में इसी का समर्थन किया गया कि जब आत्मा स्वयं कर्म भी नहीं करता और प्रेरणा भी नहीं करता तब वह किसी शुभ-अशुभ कर्म का आदान अर्थात् फलभोग भी नहीं करता, यह उचित ही है।

आगे प्रश्न उठता है कि फिर "एष एव ह्येनं साधु कर्म कारयति" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में ईश्वर की प्रेरणा करने वाला कैसे बताया गया ? जब स्वभाव ही सब कुछ कर-करा लेता है, तब ईश्वर प्रेरणा की क्या आवश्यकता रही ? इस प्रश्न का उत्तर द्वितीय पद्य के उत्तरार्ध से दिया गया है कि प्राणियों का ब्रह्मात्मक स्वरूप ज्ञान-अज्ञान से ढका रहता है—जैसे कोई राजा स्वप्न दशा में किसी शत्रु से घिर कर कैद हो जाय, वह अपना स्वरूप भूलकर अपने को बन्दी और अतिदीन मानने लगता है। इसी प्रकार जीव भी अनादि अविद्या के कारण अपना स्वरूप भूलकर "हम ईश्वर के सेवक हैं, ईश्वर हमारा नियन्ता है, वही हमसे सब कुछ कराता है" इत्यादि मानने लगते हैं। श्रुति भी उनकी अज्ञान दशा का ही अनुवाद करती हुई ईश्वर को प्रेरक बता देती है। यही बात अन्यत्र श्रुति में कही गयी है कि "जो अपने से भिन्न मानकर किसी देवता की उपासना करता है, वह ज्ञानवान नहीं अपितु देवता का पशुरूप है अर्थात् जैसे पशु को मनुष्य लोग यथेच्छ चलाया करते हैं। इसी प्रकार देवता उस मनुष्य प्राणी को चलाया करते हैं। इस श्रुति से अज्ञानी को ही देव आदि की प्रेरणा होती है, यह स्पष्ट हो जाता है।

लोकमान्य तिलक यहाँ पूर्व पद्य में सांख्य का अभिमत सिद्धान्त ऐसा मानते हैं। सांख्य में "स्वभाव" अर्थात् प्रकृति को ही सब कुछ करने वाली माना जाता है, पुरुष निर्लिप्त ही रहता है। द्वितीय पद्य में वेदान्त के अनुसार प्रकृति को मायारूप बताते हुए उसे अज्ञान शब्द से कहा। उस अज्ञान से ही जीव का स्वाभाविक ज्ञान ढका हुआ है, इत्यादि। इन पद्यों से जीव और ईश्वर दोनों में ही कर्तृत्व का निराकरण किया गया, यह भी उन्होंने लिखा है। क्योंकि प्रभु, विभु आदि शब्द जीव और ईश्वर दोनों ही के लिये प्रयुक्त होते हैं और आत्मा शब्द भी वेदान्त में दोनों के लिये साधारण ही है। श्री विद्या वाचस्पति जी के शीर्षक के अनुसार इन पद्यों का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अव्यय पुरुष अपनी ज्ञान ज्योति के द्वारा सदा ही अलिप्त रहता है। कर्मों का कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। अन्यत्र भी अपने ग्रन्थों में उनने यह विस्तार से स्पष्ट किया है कि भय, दुःख आदि, न ज्ञान से उत्पन्न कहे जा सकते हैं न अज्ञान से ही, क्योंकि सर्वथा अज्ञानी बालकादि में भय, दुःख आदि नहीं देखे जाते। क्योंकि वह स्वभावतः सदा प्रफुल्लित ही रहता है। और पूर्ण तत्त्व ज्ञानी में भी वे नहीं रहते। इसलिये जहाँ ज्ञान-अज्ञान से आवृत्त है अर्थात् ज्ञान-अज्ञान दोनों का सम्मिश्रण हो वहीं भय, दुःख इत्यादि होते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के मतानुसार इन दो पद्यों की व्याख्या लिखी गयी। सारांश सबका यही है कि स्वतः आत्मा में कर्मकृत कोई फल नहीं होता, न कर्तृत्व ही स्वतः आत्मा में होता है। जो हम लोग कर्तृत्व वा कर्म-फल का अनुभव करते हैं, वह सब प्रकृति के सम्मिश्रण के कारण हैं। प्रकृति जनित अज्ञान से ही आत्मा का स्वरूप ज्ञान दबा हुआ है। इसी कारण सांसारिक मनुष्य

शोक, मोह आदि से विकल रहते हैं ॥१४—१५॥ इसीलिये अग्रिम तृतीय पद्य में कहा जाता है कि जिन कर्मयोगियों के विवेक ज्ञान से वह मोहजनक अज्ञान नष्ट कर दिया गया अर्थात् जिनने माया वा प्रकृति को अपने से पृथक् कर अपना स्वरूप ब्रह्मभाव यथावत् जान लिया, उनका ज्ञान सूर्यवत् चमक उठता है और वह सब सांसारिक वस्तुओं के तत्त्व को और परम अर्थात् परतत्त्व को भी प्रकाशित कर देता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि जैसे सूर्यमण्डल की ओर जाने वाली हमारी दृष्टि का किसी मेघ आदि से आवरण हो जाता है तो हमें सूर्य नहीं दीखता, किन्तु उस आवरण के दूर होते ही सूर्य चमक उठता है और उसके प्रकाश में सब वस्तुएँ भी दिखाई देने लगती हैं, इसी प्रकार ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है। उस पर अविद्या अर्थात् अज्ञान का आवरण छाया रहता है। वह आवरण विचार से जिनका दूर हो गया उनका स्वरूपभूत ज्ञान चमक उठता है और उससे परतत्त्व भी प्रकाशित हो जाता है। परतत्त्व के प्रकाशन के लिये किसी अन्य की आवश्यकता नहीं, वह तो स्वयं प्रकाश है। किन्तु अज्ञान का आवरण हटाने के लिये ही अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान की आवश्यकता होती है। आवरण दूर होते ही सूर्य के समान परतत्त्व भी भासित हो जाता है। उसके भासित होने के अनन्तर जो स्थिति होती है वह आगे के पद्य में बतायी गयी है कि ज्ञान के द्वारा सब कल्मष अर्थात् पाप रूप कर्दम जिनके दूर हो गये हैं, वे पुरुष केवल परतत्त्व अर्थात् परब्रह्म में ही अपनी बुद्धि का योग कर देते हैं और उस परब्रह्म को ही अपना आत्मा मान लेते हैं। वह तो आत्मा है ही किन्तु उन्हें उसका आत्मा होना भासित हो जाता है। तब वे और सब छोड़कर केवल तन्निष्ठ अर्थात् उसी परतत्त्व में समाधि द्वारा स्थित हो जाते हैं और उसी को पर अयन अर्थात् अन्तिम प्राप्ति स्थान मानते रहते हैं। इस प्रकार अनन्य भाव होने पर वे उस स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। वह स्थिति आत्मा का स्वरूप ही है, उसमें गमन शब्द का प्रयोग केवल औपचारिक है। सांसारिक स्थिति से निकल कर वह स्थिति प्राप्त करना ही उस स्थिति में जाना कहा जाता है। इन पद्यों को भी प्राचीन टीकाकार संन्यास की स्थिति के वर्णन पर ही लगाते हैं किन्तु लोकमान्य तिलक कर्मयोग का प्रकरण होने से कर्मयोग परक ही सबको मानते हैं। उनका मत यही है कि कर्मयोग से ही यह अन्तिम स्थिति प्राप्त हो जाती है और पुनरागमन रहित मोक्ष भी उसी में रहते-रहते मिल जाता है। ज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस श्रुति का विरोध नहीं होता क्योंकि ज्ञान तो कर्मयोगी को भी होना आवश्यक ही है, केवल कर्म छोड़ने न छोड़ने का प्रसङ्ग है; यह पूर्व भी कई बार स्पष्ट कर चुके हैं।

श्री रामानुजाचार्य तृतीय पद्य में "परं प्रकाशयति" का अर्थ परम ज्ञान प्रकाशित हो जाता है यही माना है और चतुर्थ पद्य में भी उस ज्ञान में ही उनकी बुद्धि, मन आदि लगे रहते हैं, यही अर्थ किया है ॥१६—१७॥

———

छिहत्तरवाँ-पुष्प

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

उक्त पद्यों में कर्मयोगी के लिये ज्ञान की आवश्यकता का पूर्ण विवरण किया गया, अब आगे कर्मयोगी के लिये समत्व बुद्धि की आवश्यकता भी बताई जाती है। द्वितीय अध्याय में "समत्वं योग उच्यते" इस पद्य के द्वारा सूत्र रूप से समत्व का उपदेश किया गया था। उसी का विस्तार यहाँ किया जाता है।

पद्य का अर्थ है कि विद्या और विनय (विनय पद से यहाँ उपशम अर्थात् पूर्ण शान्तता ली जानी उचित है) आदि गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हस्ति में, कुत्ते में और श्वपाक अर्थात् चाण्डाल में जो समानभाव को देखे, वही पण्डित कहलाने योग्य है अर्थात् पूरा कर्मयोगी है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म सब में समानरूप से रहता है और माया वा प्रकृति के कारण जगत् का भेद व्यवहार चलता है। कर्मयोगी को सब में ब्रह्मभाव ही देखना चाहिये। वह प्रकृति वा माया के गुणों से उत्पन्न भेद-भाव पर दृष्टि न रखे। इसीलिए पद्य में सत्त्व, रजः, तमः तीनों गुण वाले प्राणियों का निर्देश किया है। विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण संस्कारयुक्त होने के कारण पूर्ण सात्त्विक है। गौ संस्कारयुक्त न होने के कारण रजोगुण युक्त है, ऐसी श्री शङ्कराचार्य की व्याख्या है। हस्ति भी तमोगुण का रूप है। पूर्व के दो आकार में लघु थे। हस्ति आकार में बहुत बड़ा है। इससे यह भी सूचित करते हैं कि बाह्य आकार अर्थात् छोटे-बड़ेपन पर भी कर्मयोगी की दृष्टि नहीं जानी चाहिए। वह समान भाव पर ही दृष्टि रखे। आगे कुत्ता, आकार में भी बहुत छोटा है और सर्वभक्षी होने के कारण तमोगुण का भी प्रधान रूप है। उसका निर्देश किया गया; और मनुष्यों में तमोगुणवालों में प्रधान चाण्डाल का अन्त में निर्देश किया गया। इन सब में ब्रह्म समान रूप से रहता है, भेद केवल प्रकृति के गुणों के कारण है।

कर्मयोगी की दृष्टि सदा ब्रह्म पर ही रहनी चाहिए। इसलिये वह इनमें समान भाव ही देखे। माया के गुणों की विषमता पर वह दृष्टिपात ही न करे।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञानाकार आत्मा सब में समान रूप ही है, उसी पर कर्मयोगी को अपनी दृष्टि रखनी चाहिये। प्राकृतिक भेद-भाव पर वह दृष्टि न रखे।

जिस प्रकार मूत्र आदि जघन्य पदार्थों में एवं उत्तम सरोवर आदि में प्रतिविम्बित होने पर भी सूर्य किसी के गुण-दोष से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इसी प्रकार ब्रह्म भी भिन्न-भिन्न अन्तः करणों में प्रतिविम्बित होने पर भी उनके दोष-गुणों से असंस्पृष्ट ही रहता है। यह जीव के प्रतिबिम्बवाद पक्षमें व्याख्या समझें।

कई विद्वान् इस प्रकार भी पद्य की व्याख्या करते हैं कि ब्राह्मण और गौ ये दोनों सत्त्वगुण वाले प्रथम कहे गये; हाथी जो रजोगुण का साक्षात् स्वरूप है, रजोगुण प्रधान राजा आदि महापुरुषों के पास जिसकी स्थिति रहती है, वह मध्य में कहा गया। श्वा और श्वपाक ये दोनों तमोगुणी अन्त में कहे गये। अत्यन्त विरुद्ध सत्त्वगुण और तमोगुण कहीं परस्पर सङ्कीर्ण न हो जायँ, इसलिए मध्य में हाथी को खड़ा किया गया है, वह सत्त्व और तम को मिलने न देगा।

वर्णाश्रम व्यवस्था को उखाड़ने वाले वर्तमान युग के बहुत से विद्वान् इस पद्य को अपने पक्ष के पोषण में बहुधा उपस्थित किया करते हैं। सबके साथ समान ही व्यवहार होना चाहिये। खान-पान का भेद वा छुआछूत इस गीता-वाक्य के विरुद्ध है, ऐसा उन महानुभावों का आशय होता है। किन्तु उन्हें इस बात पर दृष्टि डालनी चाहिये कि भगवद्गीता में यह उच्चतम जीवन्मुक्तिदशा का निरूपण है, इसे व्यवहार दशा में स्थित सामान्य मनुष्यों पर नहीं लगाया जा सकता। दूसरी यह भी बात विचारणीय है कि पद्य में "समदर्शिनः" कहा है, "समवर्तिनः" नहीं कहा है अर्थात् कर्मयोगी की दृष्टि सबमें समानरूप होनी चाहिए। वर्ताव अर्थात् व्यवहार में ऐसी समानता लेने पर तो संसार में बहुत बड़ा उलट-फेर हो जायगा। यदि कोई साधारण पुरुष दो-चार कुत्ते अपने साथ ले जाय और किसी बड़े राजा रईस के मुकाम में उन कुत्तों को बाँध कर दो-चार हाथी वहां से ले जाने लगे और पूछने पर यही कहे कि "पण्डिताः समदर्शिनः" तो उसकी बात को कौन मानेगा ? इसलिये यह मानना ही होगा कि यह उपदेश सबमें साम्यदर्शन का उच्च अधिकारी के लिये ही है। व्यवहार दशा में इसका लगाना सर्वथा अनुचित है। यह विषय अग्रिम पद्य में और स्पष्ट हो जायगा ॥१८॥

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ऐसी समदर्शिताका तो स्मृतियों ने निषेध किया है। कोई अपूज्य चाण्डालादि का पूजन करे अथवा उत्तम ब्राह्मण

की चाण्डाल आदि के समान ही अवज्ञा करे तो उसे गौतम धर्म सूत्रमें अभोज्यान्न कहा है अर्थात् उसका अन्न खाने का भी सदाचारी पुरुषों को निषेध किया है। जैसा कि किन-किन का अन्न भोजन नहीं करना चाहिये, इस प्रकरण में गौतम का सूत्र है कि—"समासमाभ्यां विषमसमेषुजातः" (गौ० ध० सू० २।८।२०)। फिर यहाँ जो सबमें समान दृष्टि का भगवान् ने विधान किया और समान दृष्टि वाले को ही पण्डित कहा, यह तो उन स्मृतिवाक्यों से सर्वथा विरुद्ध होगा। इसका उत्तर दूसरे पद्य में दिया जाता है कि उन समदर्शी पुरुषों ने इसी जन्म में संसार को जीत लिया जिनका कि मन साम्य अर्थात् सर्वत्र समभाव में स्थित हो गया है। इसका कारण पद्य के उत्तरार्ध में बताया गया है कि ब्रह्म सर्वत्र दोषरहित होकर समभाव से विराजमान रहता है, इसका तात्पर्य है कि संसार दशा में जिन कुत्ता वा चाण्डाल आदि को दूषित समझा जाता है उनके उस दोष से ब्रह्म दूषित नहीं होता। जैसे कि पूर्व कहा जा चुका है कि मलिनस्थान में प्रतिबिम्बित होने पर भी बिम्बभूत सूर्य में उस दोष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दोष सब त्रिगुणात्मक माया के हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि समानभाव देखने वाले ब्रह्म में स्थित हैं अर्थात् उनकी दृष्टि ब्रह्म पर ही है और विषमभाव देखने वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति वा माया में दृष्टि रखते हैं। इसकारण ब्रह्म में दृष्टि रखने वाले संसार को जीत लेते हैं अर्थात् संसार में रहते हुए भी जीवन्मुक्त दशा का अनुभव करते रहते हैं और विषमभाव देखने वालों की दृष्टि माया वा प्रकृति पर ही है, इससे वे प्रकृति जनित संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि स्मृति आदि में जो विषम दृष्टि बताई है, वह भी संसार में स्थित प्राणियों की विषम दृष्टि का ही अनुवाद है। विद्याओं के भी दो भेद माने गये हैं—एक पराविद्या और दूसरी अपरा विद्या। ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या पराविद्या कही जाती है और संसारी पुरुषों को व्यवहार दशा का उपदेश देने वाली विद्या अपरा विद्या कही जाती है। भेद प्रतिपादक श्रुतिस्मृति आदि सब अपरा विद्या के ही अन्तर्गत हैं। हम पूर्व भी इस बात का निरूपण कर चुके हैं कि आर्यशास्त्र सब ही अधिकारियों को कल्याण का मार्ग दिखाने के लिये प्रवृत्त हैं। आज जिसकी ब्रह्म दृष्टि नहीं है उसे भी धीरे-धीरे ब्रह्म दृष्टि करा देना आर्यशास्त्रों का लक्ष्य है। इसीलिये कर्मकाण्ड प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों में वा स्मृति आदि में व्यवहार दशाके लिये ही सब धर्मों का निरूपण है। व्यवहार दशा में तो भेद-भाव रहता ही है, जैसा कि पूर्व पद्य के व्याख्यान में कहा जा चुका है—जब मनुष्य कर्मयोग आदि के द्वारा उच्चश्रेणी पर पहुँच जाता है तब वह ऐसे विषमभाव प्रतिपादक शास्त्रों को भी लोकानुभव का अनुवादक मान लेता है। उस पराविद्या में स्थित पुरुष की इन अपरा विद्या के शास्त्रों में प्रवृत्ति नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं कि वह इन शास्त्रों को अप्रमाण मान लेता है किन्तु वह यही समझ लेता है कि ये सब विषमभाव के प्रतिपादक शास्त्र संसार दशा में स्थित पुरुषों के लिये हैं, उन्हें इनके ही द्वारा शनैः-शनैः

उन्नति करने का लाभ भी होता है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह संसार मूलभूत अविद्या के अनुवाद मात्र हैं। इसीलिये मेरी प्रवृत्ति इनमें नहीं होनी चाहिये ॥१९॥

न केवल उत्तम, अधम पुरुषों में ही समान दृष्टि का विधान कर्मयोगी के लिये किया जाता है। किन्तु संसार के सभी पदार्थों में कर्मयोगी को समान ही दृष्टि रखनी चाहिये। यह आगे के पद्य में विधान करते हैं कि कोई प्रिय वस्तु प्राप्त कर उसे हर्ष में निमग्न नहीं होना चाहिये और अप्रिय अर्थात् अपनी प्रकृति के विरुद्ध कोई आपत्ति, रोग आदि आ पड़ने पर घबराना नहीं चाहिये। अर्थात् हर्ष और शोक में भी उसका समान ही भाव रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है और वह कभी मोह को प्राप्त नहीं होती अर्थात् विचलित नहीं होती, वही ब्रह्मवेत्ता है और वह ब्रह्म में ही स्थित हो गया है अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मभाव उसने देख लिया है, यह मानना होगा ॥ २० ॥

बाहर के अर्थात् संसार के विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध करने में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं है, वह पुरुष अपने आत्मा में ही जिस सुख का लाभ अर्थात् अनुभव करता है, वह क्रमशः प्रकृति का सम्बन्ध छोड़कर ब्रह्म में समाधिरूप योग में अन्तःकरण को लगा कर अक्षय सुख अर्थात् मुक्तिरूप परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। इसलिये जो ब्रह्म सुख प्राप्त करना चाहता है वह इन्द्रियों से विषयोपभोग के क्षुद्र सुख को छोड़ देवे, यह तात्पर्य हुआ।

श्री नीलकण्ठ जी इसकी व्याख्या इस अवतरण के साथ करते हैं कि ब्रह्म सुख का तो अभी हमें कोई अनुभव ही नहीं, तब उसकी लालसा में पड़कर विषयों का सुख कैसे छोड़ा जा सकता है। इसका उत्तर इस पद्य में दिया गया है कि बाह्य विषयों का सम्बन्ध छोड़कर भी हमें आत्मानन्द का अनुभव सुषुप्ति काल में होता है। सुषुप्ति काल में विषय सम्बन्ध कुछ नहीं है, यह तो सभी मानते हैं और उस समय सुख का अनुभव होता है, इसे दो प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है— एक तो जागने पर जो ज्ञान होता है कि "सुखमहमस्वाप्सम्" (मैं बड़े आनन्द से सोया) वह सुषुप्ति काल के आनन्द की स्मृति है। स्मृति बिना पूर्वानुभव के हो नहीं सकती। इसलिये सुषुप्तिकाल में सुख का अनुभव हुआ था, यह मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि लौकिक पूर्णसुखों का अनुभव करते हुए भी मनुष्य को सुषुप्ति की इच्छा अवश्य होती है। इससे अनुमान होगा कि सुषुप्ति काल का सुख इन सब विषय जनित सुखों से उच्चश्रेणी का है। तभी तो बड़े आनन्द की प्राप्ति के लिये छोटा आनन्द छोड़ने में सर्वसाधारण की प्रवृत्ति देखते हैं। फिर जैसे हम लौकिक विषयों में सुख का अनुभव करते हैं वैसा अनुभव सुषुप्ति समय में क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है कि सुषुप्ति का सुख बुद्धि की वृत्ति रूप नहीं है अपितु वह बुद्धि के भी मूलभूत अज्ञान की वृत्ति है। अनुभव बुद्धि की वृत्तियों का ही होता है। अज्ञान की वृत्तियों का अनुभव करने की बुद्धि में शक्ति नहीं। इसलिये उस समय स्फुट अनुभव नहीं होता। किन्तु पूर्वोक्त

कारणों से उसका अनुभव अवश्य किया जा सकता है। अनुमान भी एक अनुभव ही है। इसलिये उस आत्मानन्द के अनुभव के आधार पर विषयानन्दों को छोड़ा जा सकता है। जैसे कि कुछ काल तक सुषुप्ति के लिये विषय सुखों को सभी छोड़ते हैं। उसी विषय सुख छोड़ने के अभ्यास को बढ़ाया जाय। तब फिर प्रश्न होगा कि यदि सुषुप्ति काल में आत्मा के सुख का अनुभव हो जाता है तो फिर सुषुप्ति में और मुक्ति में भेद ही क्या रहा ? यदि दोनों एक ही हैं तो सुषुप्ति तो सबको ही स्वतः प्राप्त है फिर मुक्ति के लिये इतना प्रयास क्यों किया जाय ? इसी का उत्तर पद्य में 'अक्षय' पद से दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि सुषुप्ति में यद्यपि आत्मसुख का अनुभव हो जाता किन्तु वह स्थायी नहीं। क्योंकि जीवभावप्राप्त कराने वाली अविद्या का नाश नहीं हुआ, इस कारण वह अविद्या फिर संसार की ओर जीव को खींच लेती है, इसलिये अविद्या के नाश होने का उपाय करना आवश्यक होता है। जब शास्त्रोक्त, गुरू के द्वारा प्राप्त उपदेशों से और उनके मनन और निदिध्यासन से अविद्या का क्षय हो जायगा तब वह आनन्द 'अक्षय' हो जायगा। उससे खींचकर निकालने वाला कोई न रहा इसलिये अब वह आनन्द सुस्थिर हो जाता है। उसे ही मुक्ति कहा जाता है॥ २१॥

सतहत्तरवां-पुष्प

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

पूर्व कह चुके हैं कि विषयों में जो आनन्दानुभव होता है वह भी वास्तव में आत्मानन्द का ही अनुभव है। चित्त की स्थिरता होने पर आत्मा का आनन्द उस पर प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसे ही अज्ञानवश लोग विषय जनित सुख समझ लेते हैं। जब ऐसा ही है तो प्रश्न होगा कि विषय जनित सुख और समाधि जनित सुख जब एक ही हुए, तब क्लेश से साध्य समाधि जनित सुख के लिये ही इतना प्रयत्न क्यों किया जाय? विषय जनित सुख जो थोड़े प्रयास से प्राप्त हो सकता है उसे ही यदि अपनाया जाय तो क्या क्षति है? इसका उत्तर देने के लिये आगे भगवान् उपदेश देते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! संस्पर्शज अर्थात् इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाले जो भोग अर्थात् सुखानुभव हैं वे दुःख की ही योनि अर्थात् कारण हैं। एव शब्द से इसकी दृढ़ता बताते हैं कि अवश्य ही दुःख के कारण होते हैं। इसका कारण उत्तरार्ध में बताया गया है कि वे 'आद्यन्तवान्' हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी

होते हैं। इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से पैदा हुए हैं। इसलिये उत्पन्न होना तो सिद्ध हो ही गया; अब जो उत्पन्न होता है उसका नाश भी अवश्य देखा जाता है। इस न्याय से उसके विनाश का भी अनुमान हो ही जायगा। लोक में प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से जो उत्तम गन्ध, उत्तम रस, उत्तम रूप आदि का ज्ञान प्राप्त कर सुख होता है वह कुछ काल ही रहता है। उन पदार्थों का इन्द्रियों से सम्बन्ध हटने पर वह सुख निवृत्त हो जाता है और निवृत्त होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिये मन में व्यग्रता हो उठती है। यदि वैसा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श आदि फिर न प्राप्त हुआ तो मन में बड़े दुःख का अनुभव होने लगता है और व्यग्रता बढ़ती जाती है कि कैसे वह पुनः प्राप्त किया जाय? सुखानुभव थोड़े समय का था और यह पुनः प्राप्त करने की व्यग्रता बहुत काल तक रहती है। इसीलिये उस सुखानुभव को भगवान् ने दुःख का कारण वा दुःख का पूर्व रूप ही बतलाया। कदाचित् कोई ऐसी सम्भावना करे कि हम निरन्तर ही उन गन्ध, रस, रूप, स्पर्श आदि को अपने पास ही रखा करेंगे, वियोग होगा ही क्यों? तब दुःख का कारण भी वह कैसे होगा? तो यह सम्भावना मिथ्या ही सिद्ध होगी क्योंकि जिन धन, स्त्री, पुत्र आदि के सम्बन्ध से वे रूप, रस, गन्ध आदि प्राप्त हुए हैं, वे पदार्थ भी तो अनित्य हैं। यदि धन ही न रहा तो उन रूप रसादि वाले उत्तम पान, भोजन आदि का प्रबन्ध कैसे कर सकोगे? और जिस स्त्री के सम्बन्ध से ये विषय प्राप्त थे, वह स्त्री ही नष्ट हो गई तो उसका वियोगज अनन्त दुःख ही रहेगा। उसका प्रतीकार ही क्या हो सकता है? ऐसे ही पुत्र, मित्र, आदि सन्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। इससे इन्द्रियजन्य सुखों की अस्थिरता और उनके अभाव में सुख की अपेक्षा दुःख का बहुत अधिक होना स्पष्ट सिद्ध है। इसलिये 'बुध' अर्थात् विवेकी पुरुष इन विषय जनित सुखों में रमण अर्थात् आसक्ति नहीं करते। इनको दुःख का पूर्वरूप मान कर इनसे बचते ही रहते हैं। महात्मा भर्तृहरि ने भी कहा है—

> अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः,
> वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्।
> व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
> स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

अर्थात् बहुत काल तक भोग किये हुए भी विषय, एक दिन अवश्य भोग करने वाले को छोड़ ही देते हैं, तो मन, स्वयं इन विषयों को क्यों नहीं छोड़ देता, क्योंकि कोई अन्तर नहीं। बल्कि विषय अपने आप छोड़ कर जाते हैं तो मन को कष्ट देते हैं और मन जान-बूझ कर यदि विषयों का परित्याग करता है तो वे ही शान्ति और सुख देते हैं। ॥२२॥ अस्तु,

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रियजन्य सुखों में तो आसक्त न होना यत्न से बन सकेगा। किन्तु काम, क्रोध रूप दोषों का जो वेग अन्तःकरण में होता

है वह तो बलात् मनुष्य को विकल कर देता है। उसके अनुसार तो बलात् प्रवृत्त होना ही पड़ता है। इसका उत्तर देते हैं कि उन काम, क्रोधों से उत्पन्न वेग को सहन करना चाहिये। तभी कर्मयोग सिद्ध हो सकेगा।

पद्य का अर्थ है कि जो पुरुष काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को इसी देह में शरीर छूटने से पूर्व सहन कर सकता है, वही कर्मयोगी है। और वही इस जन्म में वा परलोक में सुख प्राप्त कर सकता है। द्वितीयाध्याय में उपदेश के आरम्भ में ही यह उपदेश दिया गया था कि इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि का सहन करना ही उपाय है। ऐसे सुख, दुःख आदि शरीरधारियों को अवश्यंभावी हैं, उनसे चित्त में उल्लास वा घबराहट नहीं होनी चाहिये। उनका सहन ही कर लेना चाहिये। उसी उपदेश का यहाँ पुनः स्मरण कराया जाता है। काम, क्रोध का मध्य में भी शत्रु रूप से वर्णन आया है। जिस वस्तु के सम्बन्ध से पूर्व सुखानुभव हुआ था उसके दर्शन, स्मरण आदि से जो चित्त में उसकी पुनः प्राप्ति की अभिलाषा होती है उसे काम कहते हैं। उससे जो चित्त में एक प्रकार का तृष्णा रूप क्षोभ उठता है, वही काम से उत्पन्न वेग है। जिससे शरीर में रोमाञ्च, मुख और नेत्र में प्रसन्नता के चिह्न दिखाई देते हैं, जिनका कि वर्णन अलङ्कार शास्त्र में शृङ्गाररस के विभाव, अनुभाव रूप से मिलता है। इसी प्रकार अपने प्रतिकूल—जिसके सम्बन्ध से पहिले दुःख का अनुभव हुआ था उसके दर्शन, श्रवण आदि से उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति को द्वेष वा क्रोध कहते हैं। इससे जो चित्त में उद्दीप्तता आ जाती है जिससे कि नेत्र लाल हो जाते हैं, मनुष्य अपने ओष्ठ काटने लगता है, दाँत कटकटाने लगता है, वही क्रोध का वेग है। इनका भी वर्णन अलङ्कार शास्त्र में 'रौद्ररस' के विभाव, अनुभाव रूप से मिलता है। भगवान् उपदेश देते हैं कि इन वेगों को सहन कर लेना अर्थात् इनका चिरकालिक प्रभाव चित्त पर न पड़ने देना ही इनके शमन का उपाय है। जो सहन कर सकता है, इस कथन से यह सूचित किया जाता है कि इनका सहन करना कठिन है किन्तु बिना सहन किये कर्मयोग की सिद्धि नहीं होती। इससे सहन करना आवश्यक है। शरीर छूटने तक इस कथन का यह अभिप्राय है कि शरीर रहते ऐसे वेग अवश्य ही आते रहेंगे। कुछ काल काम-क्रोध आदि न उत्पन्न हों तो भी यह विश्वास नहीं करना चाहिये कि मैंने काम-क्रोध को जीत लिया। फिर समय पर इनका उत्पन्न हो जाना सम्भव है, इससे सदा ही सावधान रहना चाहिये। इससे ही यहाँ भी सच्चा सुख प्राप्त होगा और परलोक में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता होगी। इनका वेग धारण करने से चित्त में शान्ति रूप सुख होता है, यह अनुभव सिद्ध भी है। आयुर्वेद में भी और सब वेगों के धारण करने का निषेध किया है किन्तु क्रोध के वेग को धारण करने का ही उपदेश है ॥ २३ ॥

इन्द्रिय जनितसुख और दुःखों में निरत न होना यह उपदेश इन पद्यों से प्राप्त हुआ। तब विवेकी पुरुष कैसे सुख में निरत रहते हैं यह आगे के पद्य में

बताया जाता है कि जो 'अन्तसुख' हैं अर्थात् अपने आत्मा ही आनन्द का अनुभव करते रहते हैं। आत्मा तो आनन्द रूप है ही, यह कई बार सिद्ध किया जा चुका है। केवल मन की चञ्चलता के कारण उसका अनुभव नहीं होता। मन को स्थिर कर लेने पर आत्मानन्द का अनुभव हो जाता है। उसी अनुभव में जो सदा निरत रहते हैं और आत्मा के साथ ही सदा क्रीड़ा करते रहते हैं। जैसे सामान्य पुरुष, स्त्री, पुत्र आदि अपने से भिन्न व्यक्तियों से क्रीड़ा करते हैं वैसा न कर जिनकी आत्मा में ही क्रीड़ा होती रहती है और जो 'अन्तर्ज्योति' हैं अर्थात् प्रकाश भी कहीं बाहर से लेने को जिन्हें आवश्यकता नहीं, भीतर के अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही जिनके मन, बुद्धि आदि प्रकाशित रहते हैं वह योग युक्त पुरुष ब्रह्म रूप ही हो गया और अन्तिम दशा में भी वह ब्रह्म निर्वाण अर्थात् मुक्ति को अवश्य प्राप्त कर लेता है। जिन्हें बाह्य विषयों से विरक्ति हो गई है, आत्मा के ही आनन्दज्ञान आदि का जो सदा अनुभव करते रहते हैं, वे तो जीवन्मुक्त ही हैं। प्रारब्ध कर्म के कारण जबतक शरीर है तबतक जीवन्मुक्ति दशा में रहते हैं। शरीर हट जाने पर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। ब्रह्म की प्राप्ति भी उन्हें 'कण्ठ चामीकर न्याय' से ही कही जाती है। इसका विस्तार पूर्व कर चुके हैं। ब्रह्म निर्वाण शब्द पर द्वितीय अध्याय के अन्तिम पद्य की व्याख्या में लिखा जा चुका है, उसका यहाँ भी अनुसन्धान कर लेना चाहिये। योगी शब्द का अर्थ यहाँ पुराने व्याख्याकारों ने समाधि स्थित पुरुष ही किया है। लोकमान्य तिलक तो सर्वत्र ही योगी शब्द का अर्थ कर्मयोगी ही कहते हैं॥ २४॥

उक्त प्रकार के विवेकी पुरुषों की ही आगे के पद्यों में प्रशंसा की जाती है कि जिनके मोक्ष के प्रतिबन्धक पाप, दोष आदि नष्ट हो चुके हैं और किसी प्रकार का संशय भी जिनके अन्तःकरण में नहीं रहा है वा शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि द्वन्द्व भी जिन्हें बाधा नहीं पहुँचाते, अन्तःकरण जिनका पूर्ण संयत अर्थात् अपने वश में हो चुका है और सब में एक ही आत्मा का दर्शन करने के कारण जो सब प्राणियों के हित करने में ही सदा तत्पर रहते हैं, ऐसे ऋषि अर्थात् पूर्णज्ञान प्राप्त पुरुष अवश्य ही ब्रह्म निर्वाण अर्थात् ब्रह्म में लय रूप मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषि शब्द यद्यपि उन्हीं के लिये प्रयुक्त होता है जिन्होंने वेद के मन्त्रों का साक्षात्कार किया हो तथापि इस प्रकार के विवेकी पुरुष ऋषियों के समान ही हो जाते हैं, इस अभिप्राय से यहाँ उन विवेकी पुरुषों को ऋषि शब्द से कहा गया है अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि ऐसे सम्यग्दर्शन करने वाले पुरुष ही मन्त्र दर्शन भी किया करते हैं। ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति 'कण्ठचामीकर-न्याय' से वा अज्ञान निवृत्ति के कारण ही कही जाती है, यह पूर्व कई बार कह चुके हैं॥ २५॥

जो पुरुष काम और क्रोध से विमुक्त हो चुके हैं, अर्थात् काम और क्रोध जिनके अन्तःकरण में अब उत्पन्न ही नहीं होते क्योंकि अन्तःकरण उनका पूर्णरूप से वश में हो चुका है और जिन्होंने आत्मा का पूर्ण रूप से ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार कर लिया है ऐसे संयमी पुरुषों के तो चारों ओर ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्मलय रूप मुक्ति भरी रहती है। उन्हें आगे कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। कहना चाहिये कि वे तो जीवन दशा में ही मुक्ति के बीच में ही बैठे हैं। प्रारब्ध कर्म का क्षय होते ही वे अवश्य ही ब्रह्म में लीन हो जायँगे। यहाँ भी यति पद से श्री शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार संन्यासी का ही ग्रहण करते हैं और श्रीरामानुजाचार्य तथा लोकमान्य तिलक इस शब्द का संयमी पुरुष ही अर्थ करते हैं॥ २६॥

आगे के छठे अध्याय में जो योगमार्ग का निरूपण विस्तार से किया जाने वाला है उसका दिग्दर्शन अग्रिम दो पद्यों में किया जाता है। यह भगवद्गीता की शैली है कि जिस विषय का आगे विस्तार से निरूपण करना हो, उसका सूत्र रूप से सङ्केत पूर्व कर दिया जाता है। उसी शैली के अनुसार इस पद्य में भी आगे निरूपणीय योगमार्ग का सूत्र रूप से सङ्केत है कि बाहर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों को बाहर ही रखकर अर्थात् अन्तःकरण में इनका प्रवेश न कर अपनी चक्षु इन्द्रिय को भ्रुकुटियों के मध्य में स्थापित कर और ऊपर को जाने वाली प्राणवृत्ति और नीचे को जाने वाली अपानवृत्ति ये दोनों वृत्तियाँ जो नासिका के भीतर चलती प्रतीत होती रहती हैं, उनको समानभाव में रखकर अर्थात् कुम्भक रूप प्राणायाम से दोनों वृत्तियों का ऊपर-नीचे जाना रोककर जिसने अपने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत अर्थात् अपने वश में कर लिया है और मोक्ष ही जिसका एक मात्र परायण अर्थात् प्राप्त करने योग्य है और इच्छा, भय और क्रोध जिसके बिलकुल नष्ट हो गये हैं, वह मुनि कहलाने का अधिकारी है; और उसे सदा ही मुक्त समझना चाहिये। यह दोनों पद्यों का सम्मिलित अर्थ है। इन दोनों को मिलाकर एक ही वाक्य बनता है।

शब्द आदि विषय बाहर की ही वस्तुएँ हैं। शरीर के भीतर भी शब्द, स्पर्श, रूप आदि अवश्य हैं किन्तु उनका उपभोग नहीं होता। बाहर के विषय ही इन्द्रियों के द्वारा मन में प्रवेश किया करते हैं और वे ही सुख-दुःख के कारण बना करते हैं। उनको बाहर ही रखना अर्थात् मन में प्रविष्ट ही न होने देना यह पहली बात हैं। आँख यद्यपि सबकी ही भ्रुकुटियों के मध्य में ही रहती है किन्तु दोनों आँखों की किरणें भिन्न-भिन्न दिशा में जाकर पदार्थों के रूपों का ग्रहण किया करती हैं। उन दोनों नेत्रों की किरणों को एक ही सीध में ले आना यही भ्रूमध्य दृष्टि कही जाती है। दोनों भ्रुकुटियों का जो मध्य स्थान है, जो नासिका के सम्मुख भाग में होता है, वहीं दोनों नेत्रों की रश्मियों को मिला देने से चित्त स्थिर हो जाता है। प्राण वृत्ति सदा ऊपर को जाया करती है और अपान वृत्ति नीचे की ओर जाया करती है। ये प्राण और अपान शरीर धारण के मुख्य

हेतु हैं। इन्हीं से जीवित और मृत पुरुष की परीक्षा होती है। प्राण और अपान एक प्रकार के शक्ति विशेष हैं, उनके चलने से शरीर के भीतर स्थित वायु भी नासिकाओं के छिद्रों से बाहर और भीतर जाया आया करता है। उन प्राण और अपान की वृत्ति को भी प्राणायाम के द्वारा रोक देना पद्य के उत्तरार्ध में कहा गया। रोक देने पर दोनों वृत्तियाँ ऊपर नीचे न जाकर समान देश में ही स्थिर हो जाती हैं। इसे ही कुम्भक कहते हैं। ये सब मन के रोकने के उपाय बताये गये। इन उपायों से मन और बुद्धि की चञ्चलता हट जाती है और मन और बुद्धि की प्रेरणा न मिलने पर इन्द्रियों की भी विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ विषयों को ओर अभिमुख हुआ करती हैं। इस प्रकार की शरीर, मन, बुद्धि आदि की स्थिति बना लेने पर मन में किसी बाह्य वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा, भय, क्रोध ये सब वृत्तियाँ नहीं होतीं। तब आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थिर रहता है, यही मोक्ष है। इसलिये भगवान् ने कहा कि ऐसी स्थिति जिसने बना ली है वह मुनि तो सदा ही मुक्त है। प्रारब्धकर्मवश देह भले ही रहे किन्तु उसका देह में कोई अभिमान नहीं। देह-पात होने पर वह सर्वत्र व्यापक ब्रह्म में लीन हो जायगा। यह पूर्व पद्यों में कह ही आये हैं।

श्री नीलकण्ठजी ने इन दोनों पद्यों की विस्तृत व्याख्या लिखते हुए योग शास्त्र प्रसिद्ध योग के आठों अंगों का वर्णन इनमें घटाया है। "विगतेच्छाभय क्रोधः" इस विशेषण से यम और नियम जो योग के पूर्वाङ्ग हैं उनका विवरण किया। क्रोध का विगत होना कहने से योगशास्त्रोक्त चित्तप्रसादन भी बताया। विशेष प्रकार की शरीर की स्थिति किये बिना इस प्रकार के नासाग्रदृष्टि आदि नहीं हो सकते। इससे आसन भी सूचित किया। "प्राणापानौ समौकृत्वा" इस विशेषण से 'प्राणायाम' कहा गया। "स्पर्शान्कृत्वाबहिर्बाह्यान्" इससे इन्द्रियों को विषयों से हटाना एतद् रूप 'प्रत्याहार' कहा गया। "नासाग्रदृष्टि" से 'धारणा' बताई गई। ध्यान तीसरे पद्य में कहा जायगा। समाधि जो दो प्रकार की होती है—"सविकल्पक" और "निर्विकल्पक" इनमें "यतेन्द्रियमनोबुद्धिः" इस विशेषण से सविकल्पक समाधि बताई गई है और मोक्षपरायणः पद से साक्षात् मोक्ष के समीप रहने वाली 'निर्विकल्पक समाधि' कही गई है। इसी प्रकार योग की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं का विवरण भी उनने इस पद्य के विशेषणों से अभिव्यक्त किया है। उन सब का यहाँ विवरण नहीं किया जाता। विशेष जानने की इच्छा वाले उनकी टीका ही पढ़ें।

श्री मधुसूदन सरस्वती योग शास्त्रोक्त पाँच की मन की वृत्तियों का निरोध इन विशेषणों से सूचित किया यह व्याख्या करते हैं। "स्पर्शान्" का जो 'बाह्यान्' विशेषण दिया, इससे यह सूचित किया कि विषय सदा बाहर ही रहते हैं। यदि वे आत्मा के अङ्ग होते तो उनका आत्मा से विच्छेद असम्भव ही था, किन्तु ऐसा नहीं है। रूप, रसादि विषय सदा बाहर की ही वस्तु हैं। वे

इन्द्रियों के द्वारा मन में प्रविष्ट किये जाते हैं। इसी से मन की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ बनती हैं। उसका यहाँ निषेध किया कि मन में विषयों का प्रवेश ही न करना। चक्षु इन्द्रिय को भ्रूमध्य में रखना जो बताया इससे चक्षु की अर्धनिमीलित दशा सूचित की गई। यदि चक्षु को सर्वथा मुद्रित कर लिया जाय तो निद्रावृत्ति का प्रसङ्ग आ जायगा और यदि पूर्वरूप से खुला रखा जाय तो विषयों का उसके द्वारा मन में प्रवेश होकर 'प्रमाण', 'विपर्यय', 'विकल्प' और 'स्मृति' ये चारों वृत्तियाँ मन की उत्पन्न हो जायँगी। इसलिये अर्धनिमीलित दृष्टि को नासिका की सीध में रखने का विधान बताया गया। इससे विषयों का मन में प्रवेश न होगा और मन में वृत्तियों का प्रादुर्भाव भी न होगा, इत्यादि रूप से योगशास्त्रोक्त मन के निरोध का वर्णन यहाँ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने किया है। यह सभी मानते हैं कि जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त करने के लिये अन्तरंग साधन रूप योग का इन दोनों पद्यों में वर्णन है ||२७-२८||

अब आगे के अन्तिम पद्य में इस योग का फल भगवान् अव्यय पुरुष का ज्ञान ही है, यह दिखाते हैं। श्री नीलकण्ठ जी की व्याख्या के अनुसार ध्यानरूप योग के अङ्ग का विवरण करने के लिये ध्यान किसका होना चाहिये। इसका विवरण करते हैं कि अव्यय-पुरुष रूप मेरा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परम शान्ति अर्थात् संसार से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। किस रूप में मेरा ध्यान करना चाहिये इसका विवरण विशेषणों से किया जाता है कि मैं यज्ञ, तप आदि सब धर्मकृत्यों के फल का भोक्ता हूं। इसे उपलक्षण मानकर यह समझना चाहिये कि प्राणियों में जीवरूप से प्रविष्ट होकर मैं ही सब यज्ञ, तप, आदि का कर्त्ता हूं और मैं ही उनके फल का भोग भी जीव रूप से करता हूँ। यह भी भोक्ता पद से सूचित किया है यज्ञ, तप आदि का भोग अर्थात् फलरूप भी मैं ही हूं, क्योंकि मैं सब लोकों का परमेश्वर रूप हूं अर्थात् भिन्न-भिन्न लोकों में जाकर प्राणी जो भोग करते हैं वह मेरे ही अन्तर्गत रहते हैं और मैं सब जीवों का मित्ररूप होकर उनके साथ रहता हूँ। जैसा कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

अर्थात् जीव और ईश्वर रूप दो पक्षी जो परस्पर मित्र हैं वे इस एक ही वृक्ष अर्थात् शरीर पर साथ ही विराजमान रहते हैं। यद्यपि इस श्रुति के उत्तरार्ध में जीव को कर्मफल का भोग करने वाला और ईश्वर को केवल देखने वाला यह विशेष बताया गया है। किन्तु वह जीव भी ईश्वर से सर्वथा भिन्न नहीं किन्तु उसी का अंश है, यह भगवद्गीता में कहा जाने वाला है; इस अभिप्राय से यहाँ अपने आप को भगवान ने भोक्ता भी कह दिया। अथवा श्री विद्यावाचस्पति जी की व्याख्या है कि भगवद्गीता में 'अस्मद्' शब्द से सर्वत्र अव्यय पुरुष ही कहा गया है। अव्यय पुरुष जीव रूप भी होता है और ईश्वर रूप भी। तब यहाँ भोक्ता कहने से जीवरूप अव्यय पुरुष का ही ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार

सर्वात्म–भाव से भगवान् को जान लेने पर जीवित दशा में भी शान्ति प्राप्त होती है क्योंकि शान्ति के बाधक राग, द्वेष आदि क्लेश नहीं रहते और शरीर पात के अनन्तर भी ज्ञान से परम शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्य शान्ति पद का अर्थ कर्मयोग के द्वारा प्राप्त होने वाली चित्त स्थिरता ही करते हैं। वह शान्ति भगवान् के जानने से ही होती है।

इस प्रकार गत पद्यों में 'जीवन्मुक्तिदशा' और उसे प्राप्त करने के उपायों का विवरण किया। यह जीवन्मुक्ति दशा संन्यास से ही प्राप्त होती है। इस अभिप्राय से श्री शङ्कराचार्य के अनुयायीव्याख्याकारों ने इन पद्यों को संन्यास का प्रतिपादक ही माना है। किन्तु श्री रामानुजाचार्य अपनी व्याख्या में स्थान-स्थान पर 'कर्मयोग' का स्मरण कराते हैं। इससे उनके मत में यह सब कर्मयोग का ही विवरण है। लोकमान्य तिलक भी ऐसा ही कहते हैं। पञ्चम अध्याय के आरम्भ से ही कर्मयोग की विशेषता भगवान् ने बताना आरम्भ किया था और छठे अध्याय के आरम्भ में भी फिर कर्मयोग ही कहा गया है। इसलिये यह सब कर्मयोग का ही विवरण है। यद्यपि इन पद्यों में कही गई जीवन्मुक्ति दशा और शान्ति 'कर्मयोग' और संन्यास दोनों ही मार्गों में प्राप्त होती है तथापि प्रकरणानुसार इसे 'कर्मयोग' का ही विवरण समझना चाहिये, यह उनका मत है ॥ २९ ॥

॥ इति श्री पञ्चमोऽध्यायः ॥

अठहत्तरवां-पुष्प

षष्ठ-अध्याय

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥
यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्यस्तसङ्कल्पो योगीभवतिकश्चन ॥२॥
आरुरूक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

पूर्व पञ्चम अध्याय के अन्तिम पद्यों में जो सूत्र रूप से योग का सङ्केत किया, उसी का विवरण करने के लिये छठे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है और यह भी सूचित करते हैं कि कर्मयोग की पूर्ण सफलता के लिये उसके अन्त में योग आवश्यक है। इस अध्याय का आरम्भ भी कर्मयोग की प्रशंसा से ही है यह तो सिद्ध ही है। उस कर्मयोग का स्वरूप फिर दोहराया जाता है कि जो कर्मों के फल पर आश्रित न होता हुआ कर्तव्य समझ कर कर्म करता रहता है; वही संन्यासी कहलाने का भी अधिकारी है और वही योगी अर्थात् कर्मयोगी भी है। केवल अग्नि का परित्याग करने से वा अन्य शास्त्रोक्त कर्म छोड़ने से ही संन्यासी नहीं कहा जाता। श्री शङ्कराचार्य यहाँ योगी शब्द का अर्थ एकाग्रचित्त वाला करते हैं।

फल प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर ही जो कर्म करता है, वह कर्मफल पर ही आश्रय रखने वाला कहलाता है। ऐसा नहीं करना चाहिये। फल की आशा छोड़कर केवल कर्त्तव्य बुद्धि से ही कर्म करना चाहिये। जैसा कि अन्यत्र महाभारत में द्रौपदी और युधिष्ठिर के संवाद में कहा गया है—जब द्रौपदी ने एक बार महाराज युधिष्ठिर को उपालम्भ देते हुए कहा था कि दुर्योधन जिसे पापी कहा जाता है, वह राज्यसुख का भोग करता है और आप जो निरन्तर धर्म में निरत रहते हैं वे इस प्रकार वन में कष्ट भोग रहे हैं, तब इस धर्माचरण का क्या फल हुआ? इस पर महाराज युधिष्ठिर का उत्तर है कि—

नाहं कर्म फलाकाङ्क्षी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥

अर्थात् हे राजपुत्रि ! मैं फल की इच्छा करके कर्म का आचरण नहीं करता अपितु दान करना चाहिये, यह समझ कर ही देता हूँ और यज्ञ करना चाहिये, यह समझ कर ही याग करता हूँ। कर्म में कर्त्तव्य बुद्धि ही प्रधान रहनी चाहिये। इस कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करने वाला पुरुष ही सच्चा संन्यासी, कर्मयोगी वा समाहित चित्त कहलाता है। गृहस्थ पुरुष जो अपने घर में श्रौत वा स्मार्त्त अग्नि की रक्षा करते हैं, उस अग्नि को छोड़ देने से वा अन्य शास्त्रोक्त दान, तप आदि कर्म छोड़ देने से ही संन्यास नहीं होता। इस पद्य पर श्रीशङ्कराचार्य ने विस्तृत रूप से व्याख्या लिखी है कि इससे भगवान् ने कर्म संन्यास का सर्वथा निषेध किया ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ऐसा मानने पर भगवद्गीता में कई जगह जो कर्मसंन्यास का स्पष्ट विधान मिलता है, जैसा कि "नैव-कुर्वन्न कारयन्" इत्यादि पञ्चम अध्याय के पद्य में कह आये हैं और यहाँ भी तृतीय श्लोक में कहने वाले हैं; उन सबका विरोध होने से पूर्वापर विरोध के कारण गीता में अप्रमाणता हो जायगी। इसलिये यहाँ वही मीमांसा का न्याय लगाना चाहिये कि "नहि निन्दा निन्द्यान्निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्" अर्थात् निन्दा का तात्पर्य निन्दनीय की निन्दा में नहीं होता। किन्तु जिसकी स्तुति करना हो, उस स्तुति में ही परपक्ष की निन्दा का भी तात्पर्य समझना चाहिये। इस न्याय से यहाँ अग्नि परित्याग वा कर्मपरित्याग संन्यास नहीं है। इस कथन का तात्पर्य फलाशा रहित कर्म करना जो कर्मयोग कहा गया उसकी स्तुति में ही है। यहाँ भगवान् ने अर्जुन को कर्मयोग का ही अधिकारी समझ कर उसे कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना चाहा है। इसलिये स्थान-स्थान में कर्मयोग की स्तुति की है। स्तुति प्ररोचनार्थ होती है, यह मीमांसा में अर्थवाद प्रकरण में स्पष्ट ही निरूपित है। वास्तव में तो कर्मसंन्यास ही मुख्य है। कर्मयोग उसकी साधना के लिये चित्तशुद्धि करने में उपयुक्त है, यह आगे तृतीय पद्य में स्पष्ट हो जायगा। यहाँ "संन्यासी च योगी च" यह दो बार जो 'चकार' आया है, इसे कई विद्वानों ने पुनरुक्ति मान कर आक्षेप किया है और इसका उत्तर देते हुए 'व्यङ्ग्यमन्दाकिनी' टीका में "चयोगी" का अर्थ सूर्यमण्डल भेदी करके उसे संन्यासी का विशेषण मान लिया गया है अर्थात् ऐसा संन्यासी ही सूर्यमण्डल को भेद कर आगे के लोकों में जाकर क्रम मुक्ति प्राप्त करने वाला होता है। वास्तव में तो वेद में 'चकार' का प्रयोग जिन जिन का समुच्चय करना हो उन दोनों पदों के साथ ही होता है जैसा कि निरुक्तकार ने स्पष्ट किया है—भगवद्गीता वेद का ही विषय निरूपण करने वाली है। इसलिये यहाँ भी वैदिक प्रक्रिया का ही आश्रयण है। अन्यत्र भी महाभारत में प्रत्येक पद के साथ चकार का प्रयोग बहुधा देखा जाता है। इसलिये ऐसी क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ॥१॥

संन्यास शब्द का अर्थ तो व्याकरण की दृष्टि से कर्म छोड़ना ही माना जा सकता है। फिर यहाँ भगवान् ने कर्म करने वाले को संन्यासी कैसे कहा—इसका

उत्तर देने को दूसरा पद्य कहा जाता है कि हे पाण्डव ! जिसे विद्वान् लोग संन्यास कहते हैं उसे कर्मयोग ही समझो। क्योंकि सङ्कल्प अर्थात् फलप्राप्ति का लक्ष्य बिना छोड़े कोई भी योगी अर्थात् कर्मयोगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि संन्यास शब्द का अर्थ 'सम्यक्' (अच्छे) प्रकार से 'न्यसन' अर्थात् त्याग ही है। यह ठीक है परन्तु वह त्याग सङ्कल्प का ही मुख्य है। लोक में देखा जाता है कि पहिले मनुष्य किसी फल की मन में सम्यक् प्रकार से कल्पना करता है, फिर उसकी सिद्धि के लिये उपाय रूप से भिन्न भिन्न प्रकार के लौकिक वा शास्त्रीय कर्म करने लगता है। लोक में जो शास्त्रीय कर्म करने के आरम्भ में पहिले एक वाक्य पढ़ा करते हैं, जिसे संकल्प नाम से ही कहा जाता है, उसमें भी यही बोला जाता है कि "अमुक फल सिद्ध्यर्थम् अमुककर्म करिष्ये" अर्थात् धन, पुत्र, प्राप्ति, शत्रुपराभव आदि फलों की सिद्धि के लिये मैं इस कर्म का अनुष्ठान करूँगा। इस संकल्प का ही परित्याग अर्थात् छोड़ना मुख्य रूप से संन्यास कहा जाता है। वह संन्यास कर्मयोगी को भी अवश्य करना पड़ता है। बिना फल की इच्छा का परित्याग किये कर्मयोगी हो ही नहीं सकता। इसलिये 'संन्यास' शब्द का मुख्य अर्थ कर्मयोगी में भी घट जाता है। श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है कि सङ्कल्प का त्याग संन्यास और कर्मयोग दोनों दशाओं में ही होता है। इसी समानता से कर्मयोग में भी संन्यास शब्द का प्रयोग किया गया है; यह भगवान् ने अपने वाक्य का समर्थन किया। पञ्चम अध्याय में जो सांख्य और योगमार्ग की अर्थात् संन्यास और कर्मयोग की एकता का विवरण विशेष रूप से किया गया था; उसी का यहाँ पुनः सङ्केत है। वहाँ फल की एकता से दोनों मार्गों की एकता बताई गई थी। यहाँ दोनों मार्गों का स्वरूप भी एक ही है। क्योंकि संसार बन्धन के छेदन का मुख्य कारण जो सङ्कल्प अर्थात् फलाशा का छोड़ना है; वह दोनों में ही होता है ॥२॥

"आरुरुक्षो":—यह तीसरा पद्य गीता में कर्म संन्यास को प्रधान कहने वाले व्याख्याकारों का मुख्य आधार है और कर्मयोग को प्रधान कहने वाले इसका आशय भिन्न प्रकार से बताते हैं। इसलिये इसपर गीता के मुख्य व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें, उनके तात्पर्य का विवरण और उनकी आलोचना आवश्यक समझ कर सबका संग्रह यहाँ किया जाता है। श्री शङ्कराचार्य यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ ध्यानयोग करते हैं और 'शम' शब्द का अर्थ सब कर्मों का उपरम अर्थात् संन्यास कहते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार पद्य का अर्थ है कि जो मुनि अर्थात् कर्मों के फल की इच्छा छोड़ चुका है और योग अर्थात् ध्यानयोग पर आरूढ़ होना अर्थात् उसमें प्रवृत्त होना चाहता है, उसके लिये ध्यानयोग में प्रवृत्त होने का कारण कर्म ही बनता है। तात्पर्य यह है कि फलाशा छोड़कर शास्त्र विहित नित्य, नैमित्तिक आदि कर्म के करने से चित्त शुद्ध होगा और तभी वह ध्यानयोग में प्रवृत्त हो सकेगा। इससे ध्यानयोग में प्रवृत्त होने वाले के लिये कर्मों की आवश्यकता कही गई। किन्तु जब वही पुरुष

जो योग पर आरूढ़ हो चुका अर्थात् योग प्राप्त कर चुका तब उसके लिये शम अर्थात् सब कर्मों का छोड़ देना—संन्यास करना ही उत्तरोत्तर उन्नति का कारण कहा जाता है। जब ध्यानयोग में स्थिति सिद्ध हो गई तब कर्मों को छोड़ देना चाहिये। उस समय वह कर्मों का परित्याग ही उत्तरोत्तर उन्नति का कारण बनता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे—जैसे कर्मों को छोड़ता जायगा तैसे ही इन्द्रिय, मन आदि के कर्मरूपी परिश्रम में न लगनेसे उसका मन अधिक ध्यानयोग में प्रवृत्त होता जायगा और तब पूर्णयोगारूढ़ता प्राप्त कर लेगा। इस पद्य से कर्मयोग की मर्यादा बतलाई गई है कि जब तक ध्यानयोग सिद्ध न हो तभी तक कर्मयोग में रहना चाहिये। ध्यान सिद्ध हो जाने पर नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को भी सर्वथा छोड़ देना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि यहाँ 'योगारूढ़' पद का योग में प्रवृत्त होना ही अर्थ है। पूर्णध्यानयोग प्राप्त कर लेना उसके अर्थ में नहीं आता। क्योंकि यदि पूर्णरूप से ध्यानयोग प्राप्त कर लेगा तब तो उत्तरोत्तर उन्नति की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? जिसका कि कारण शम को बताया जाय। किन्तु आगे के पद्य में जो भगवान् स्वयं योगारूढ़ की परिभाषा बताते हैं कि सब सङ्कल्पों का परित्याग कर चुका हो वही योगारूढ़ है और भगवान् शङ्कराचार्य भी वहाँ सङ्कल्प की ऐसी ही विस्तृत व्याख्या करते हैं, उससे इसकी संगति नहीं बैठती। क्योंकि यहाँ ध्यानयोग में प्रवृत्त को ही योगारूढ़ माना गया और उत्तर पद्य में सब सङ्कल्प छोड़ देने वाले परिनिष्ठित पुरुष को।

श्री रामानुजाचार्य योगशब्द का अर्थ आत्मदर्शन कहते हैं। उनके अनुसार पद्य का अर्थ होगा कि जब तक आत्मदर्शन की इच्छा करता रहे तब तक उस मुनि—मननशील को कर्म ही आत्मदर्शन का साधन होता है और जब योगारूढ़ हो चुका अर्थात् आत्मदर्शन कर चुका तब उसके लिये कर्म निवृत्ति ही कारण बनती है। इससे उनने आत्मा के साक्षात्कार पर्यन्त कर्मयोग की आवश्यकता सिद्ध की। किन्तु आगे शम अर्थात् कर्म निवृत्ति किसका कारण बनेगी इसका विवरण उनकी व्याख्या में कुछ भी नहीं मिलता। आत्मदर्शन जब प्राप्त हो चुका, उसके अनन्तर तो कोई वस्तु प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाती, फिर और प्राप्त करना ही क्या है ? जिसका कारण कर्मनिवृत्ति को माना जाय।

श्री वल्लभाचार्य के नाम से जो टीका मुद्रित है उसमें योग शब्द का अर्थ 'आत्मसंयमन' किया है। वह जब तक प्राप्त न हो तब तक कर्म उसकी प्राप्ति का कारण बनता है और आगे आत्मसंयम हो जाने पर शम अर्थात् कर्मनिवृत्ति ही आत्मसंयम की "स्थूणानिखनन" न्याय से कारण होती है। यहाँ भी योगारूढ़ कहना और फिर उसके लिये भी कर्मनिवृत्ति को कारण बताना इन दोनों बातों की संगति ठीक नहीं बैठती। स्थूणानिखनन न्याय जो उन्होंने बताया अर्थात् जैसे किसी लकड़ी को भूमि में गाड़ कर यह ठीक गड़ी कि नहीं, इसकी परीक्षा

के लिये उसे बार-बार हिलाकर देखा जाता है, इसी तरह आत्मसंयम सिद्ध हुआ कि नहीं इसकी परीक्षा के लिये शम अर्थात् कर्मनिवृत्ति ही करना उचित है यह तात्पर्य हुआ। किन्तु स्थूणानिखनन में तो कर्म से ही परीक्षा होती है, इसी तरह आत्मसंयम की भी कर्म द्वारा ही परीक्षा करना उचित होगा। चुपचाप बैठने से आत्मसंयम की परीक्षा कैसे हो जायगी? यह कड़ी नहीं बैठती।

पैशाच भाष्य नाम की व्याख्या लिखने वाले विद्वान् ने 'तस्यैव' का अर्थ 'कर्म का ही' करके उसका 'शम' अर्थात् कर्मत्याग यहाँ बताया है। किन्तु श्रीशङ्कराचार्य ने तस्यैव का 'उसी पुरुष पर' यह अर्थ स्वारसिक सिद्ध किया है और वह 'उपशम' किसका कारण होता है, यह भी पैशाच भाष्य में स्पष्ट नहीं किया गया।

महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठ जी योग शब्द का अर्थ इस छठे अध्याय में कहा जाने वाला समाधि योग ही करते हैं। उस समाधि योग पर जो आरूढ़ होना चाहता है अर्थात् उसमें प्रवृत्त होने के लिये उत्सुक है तब तक उसे कर्मानुष्ठान करना चाहिये। क्योंकि बिना कर्मानुष्ठान के चित्तशुद्धि नहीं होगी और बिना चित्त शुद्धि के योग नहीं बनेगा। अतः कर्म ही योगारोहण का साधन होता है। किन्तु जब योग पर आरूढ़ हो गया अर्थात् अष्टाङ्गयोग में लग गया तब यदि कर्म करता रहेगा तो योग में विक्षेप होगा। इसलिये 'शम' अर्थात् कर्मों का परित्याग ही उसकी योग सिद्धि का कारण बनता है। इस व्याख्या में भी चतुर्थ श्लोक में जो योग रूढ़ का लक्षण स्वयं कहा गया है उसकी सङ्गति नहीं लगती क्योंकि इनने योग में प्रवृत्त हुए पुरुष को ही योगारूढ़ मान लिया और अग्रिम पद्य में 'सर्वसङ्कल्प संन्यासी' को योगारूढ़ कहा गया है।

श्री मधुसूदन सरस्वती यहाँ योग शब्द का अर्थ वैराग्य कहते हैं जब तक पुरुष वैराग्य की इच्छा ही करता रहे अर्थात् वैराग्य सिद्ध न हुआ हो, तब तक उसे कर्म ही करते रहना चाहिये। वह कर्म ही चित्त शुद्धि द्वारा वैराग्य के कारण बनेंगे किन्तु जब वही पुरुष योग अर्थात् वैराग्य में प्रवृत्त हो गया तब उसे शम अर्थात् सब कार्यों का संन्यास कर देना चाहिये। वह शम ही इसके वैराग्य परिपाक का कारण बनेगा। उस समय भी कर्म करते रहने से वैराग्य में विक्षेप होगा। वैराग्य प्राप्त करने की इच्छा करने वाले के लिये 'मुनि' शब्द का प्रयोग भविष्यत् वृत्ति से किया गया है। अर्थात् आगे वह मुनि होगा इस विचार से, पहिले ही उसे मुनि कह दिया गया। इनने भी वैराग्य में प्रवृत्त होने मात्र को ही योगारूढ शब्द का अर्थ माना। इससे उत्तर श्लोक की सङ्गति यहाँ भी नहीं लगती।

श्री शङ्करानन्द जी ने इस पद्य पर विस्तृत व्याख्या लिखी है और संन्यास प्रतिपादक श्रुति-स्मृतियों का भी उद्धरण अपनी व्याख्या में किया है। संन्यास मार्ग श्रुति सिद्ध है इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है। अस्तु वह सबविस्तार

छोड़ कर पद्य के अर्थ में पद्य के शब्दों का जो उनका अर्थ है वही हम उद्धृत करेंगे। उनकी व्याख्या में योग शब्द का अर्थ 'ज्ञानयोग' है। उस ज्ञानयोग की प्राप्ति जो चाहता है, उसे अपने इष्ट की सिद्धि के लिये कर्म ही करना चाहिये क्योंकि बिना नित्य—नैमित्तिक कर्मों के चित्त शुद्धि नहीं हो सकती और बिना चित्तशुद्धि के ज्ञानयोग नहीं बन सकता। इससे कर्मयोग को ज्ञानयोग सिद्धि का उपाय बताया गया। जैसा कि पूर्व भी "नकर्मणामनारम्भात्" इत्यादि पद्यों में कहा गया है। ज्ञानयोग सिद्धि का उपाय होने के कारण ही भगवद्गीता में कर्मयोग की स्थान-स्थान पर स्तुति आती है। किन्तु जब वही पुरुष ज्ञानयोग पर आरूढ़ हो गया अर्थात् ज्ञानयोग में परिनिष्ठित हो गया तब सब कर्मों का शम अर्थात् संन्यास ही उसका कर्तव्य है। वही उसके विदेह कैवल्य का कारण बनता है। इससे जो श्रुतिस्मृति यावज्जीवन अग्निहोत्र आदि का विधान करती हैं, वे अविद्वान् के लिये ही समझना चाहिये। यही उनने सब श्रुतिस्मृतियों की एक वाक्यता करने का प्रयत्न किया है और आगे जड़, मूक आदि वैदिक कर्मों का अधिकार न रखने वाले के लिये ही संन्यास है। इस मत का विस्तार से खण्डन किया है। अस्तु, इनकी व्याख्या में भी जब ज्ञानयोग में मुनि परिनिष्ठित हो चुका तब उसे आगे प्राप्त करना ही क्या रहा? जिसके लिये शम को कारण बताया गया? यह कारण शब्द की सङ्गति ठीक नहीं बैठती। जीवन्मुक्ति जब प्राप्त हो चुकी तब विदेहमुक्ति तो स्वतःसिद्ध है। उसका कारण शम को बताना उपयुक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने यह भी दोष इस व्याख्या पर दिया है कि मुक्ति का कारण तो श्रुतिस्मृति आदि में ज्ञान को कहा गया है, संन्यास तो उसका अङ्गमात्र है, उसे कारण कहना उपयुक्त नहीं होता।

लोकमान्य तिलक तो गीता में सर्वत्र ही योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही मानते हैं। उन्हों ने प्राचीन व्याख्याओं पर दोष लगाते हुए अपनी व्याख्या यह की है कि जब तक मुनि अर्थात् मननशील पुरुष कर्मयोग पर आरोहण करने की इच्छा करता रहे अर्थात् उसका कर्मयोग सिद्ध न हुआ हो, तब तक फलाशा छोड़कर उसके किये हुए कर्म ही शम अर्थात् चित्तशान्ति के कारण होते रहते हैं और जब योगारूढ़ हो गया अर्थात् उसका कर्मयोग पूर्व रूप से सिद्ध हो गया तब यह कर्म चित्त शान्ति के कारण बनते थे। अब चित्तशान्ति ही कर्मों का कारण बन जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाने पर भी वह मुनि शान्त चित्त से अर्थात् अनासक्त होकर और फलाशा छोड़कर कर्म करता ही रहे। यहाँ लोकमान्य तिलक ने कभी गाड़ी नाव पर और कभी नाव गाड़ी पर वाला लौकिकन्याय ही दृष्टि में रखा है। पूर्वावस्था कर्म शान्ति के कारण बनते हैं और परिपक्व दशा में शान्ति ही कर्मों का कारण बनती है। कारण शब्द को सापेक्ष मान कर भी वे उसके साथ कर्म का ही सम्बन्ध जोड़ते हैं अर्थात् शान्ति ही कर्म का कारण होती है। यह सङ्गति लगाते हैं किन्तु शान्ति

अर्थात् चित्त का विश्राम कर्म का कारण कैसे बनेगा? यह बात समझ में नहीं आती। यह उनका कथन ठीक हो सकता है कि शान्ति प्राप्त होने पर भी पुरुष कर्म करता रहे, किन्तु क्यों कर्म करता रहे? इसके कारण तो भगवद्गीता में अनेक जगह यज्ञ परिचालन (जगत् चक्रपरिचालन) लोक संग्रह वा लोकोपदेश आदि बताते हैं, वे ही शान्त दशा में भी कर्म करने का कारण बनते हैं। शान्ति तो कारण नहीं बनती। इसलिये कारण शब्द का अर्थ इनके मत में भी ठीक नहीं घटता।

आधुनिक व्यङ्ग्य मन्दाकिनी नामकी हिन्दी व्याख्या में "कारणमुच्यते" इन पदों की पुनरावृत्ति का समाधान करने के लिये प्रथम कारण पद का असमवायि कारण अर्थ माना है और उत्तरार्ध में 'उच्यते' को 'उच समवाये' धातु से निष्पन्न मान कर वहाँ समवायि-कारण अर्थ किया है। किन्तु उत्तरार्ध में भी 'शम' ही प्रथमान्त पद है और 'शम' नाम यदि सर्वकर्म परित्याग का मानें अथवा शान्ति रूप चित्तवृत्ति का मानें तो दोनों ही प्रकार से उस नैयायिकों की प्रक्रिया में उसे समवायिकारणता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि न तो न्याय में अभाव को ही समवायि कारण माना जाता है और न बुद्धि वृत्ति को ही। इस कारण नयी बात कहने का जो विद्वान् लेखक ने आयोजन बताया वह भी पूरी तरह घटा नहीं।

सब व्याख्याओं का सार लेते हुए और प्रकरण पर दृष्टिपात करते हुए हम इस प्रकार इस पद्य का व्याख्यान उचित समझते हैं—तृतीयाध्याय के आरम्भ में "ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां, कर्मयोगेन योगिनां" इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों ही के लिये 'योग' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस कारण यहाँ 'योग' शब्द से दोनों ही का ग्रहण उचित है। वास्तव में तो द्वितीयाध्याय में योग शब्द का अर्थ स्वयं करते हुए भगवान् ने "समत्वं योग उच्यते" यह लक्षण किया है। अर्थात् सबमें साम्यबुद्धि रखना ही 'योग' है। यहाँ भी पञ्चम अध्याय के अन्त में उस साम्य बुद्धि का विवरण पद्यों से किया गया है और आगे भी साम्य बुद्धि की प्रशंसा की जाने वाली है जिनकी व्याख्या वहीं हो चुकी है। वह साम्यबुद्धि संन्यास और निष्काम कर्म दोनों ही से प्राप्त होती है। इसलिये भी दोनों ही का योग शब्दसे ग्रहण प्राप्त है। यद्यपि द्वितीयाध्याय में "योगः कर्मसु कौशलम्" यह भी कहा गया है। किन्तु उसका भी तात्पर्य 'समत्वबुद्धि' में ही लगाया जा सकता है, क्योंकि कर्म में कुशलता अर्थात् चतुरता यही है कि कर्म करते भी रहें और उसके बन्धन से भी बचे रहें। वह बात साम्यबुद्धि से ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस छठे अध्याय में पातञ्जल योग का जो विस्तार से वर्णन किया जाने वाला है और साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये आवश्यक समझ कर ही भगवान् ने जिसका वर्णन यहाँ उचित समझा है, योग शब्द के विचार में उस पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। इस दृष्टि से

'योगशब्द' के जो भिन्न-भिन्न अर्थ व्याख्याकारों ने माने हैं, वे सब ही सुसङ्गत हो जाते हैं। ज्ञानयोग और कर्मयोग वास्तव में एक ही हैं। इसका विवरण भी पञ्चम अध्याय में हो चुका है। वहाँ फल एक होने के कारण दोनों की एकता का स्वीकार किया था किन्तु यहाँ पूर्व पद्य में स्वरूप भी दोनों का एक ही है, यह भी दिखाया जा चुका है और द्वितीय पद्य में जो दोनों मार्गों की एकता बताई गई, उसी का अनुवाद चौथे पद्य में 'योगारूढ़' पद का विवरण करते हुए किया गया है। इन सब बातों पर दृष्टिपात करते हुए इस पद्य की व्याख्या यह उचित होगी कि फलाशा रूप संकल्प छोड़ चुकने के कारण जो मुनि अर्थात् मननशील हो चुका है और 'योग' अर्थात् साम्यबुद्धि पर आरूढ़ होने का अर्थात् उसे प्राप्त करने का इच्छुक है, उसके लिये कर्म ही फल सिद्धि का कारण कहा गया है। जैसा कि सभी व्याख्याकारों ने माना है। अब आगे योगारूढ़ हो जाने पर अर्थात् 'साम्य बुद्धि' प्राप्त कर लेने पर 'शम' अर्थात् चित्त की शान्ति ही योगदर्शन में उक्त आगे-आगे की भूमिका प्राप्त करने का कारण कही जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि आगे जीवन्मुक्ति पर्यन्त उत्तरोत्तर भूमिका प्राप्त करने में कर्म का कोई उपयोग नहीं होता। 'उपशम' अर्थात् चित्त शान्ति ही उसे स्वयं आगे बढ़ाती रहती है। कर्म के सम्बन्ध में जो उसके दोनों मार्ग पहिले बताये हैं वे यहाँ भी सुस्थिर ही हैं। उनमें कोई परि-वर्तन इस पद्य से नहीं किया जाता। वह आगे की उन्नति का कारण न होने से अनुपयोगी समझ कर कर्म छोड़ दे अथवा संसारचक्र-परिचालन रूप यज्ञ के लिये, लोकसंग्रह के लिये वा लोकों को उचित कर्म का उपदेश करने के लिये, कर्म करता रहे, यह उसकी इच्छा, वासना और प्रारब्ध कर्म की प्रेरणा पर ही निर्भर है। इस पद्य से कर्म करते रहने वा छोड़ देने का कोई नया विधान नहीं किया गया। दोनों मार्ग जो तृतीयाध्याय से पृथक्-पृथक् बताये गये वे यथावत् ही सुस्थिर हैं। कर्मयोग के परम पक्षपाती लोकमान्य तिलक भी आगे की उन्नति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में तो कर्म का उपयोग नहीं मानते। ज्ञान कर्म समुच्चय से मुक्ति प्राप्त होती है, यह तो उनका भी मत नहीं है। भगवद्गीता में भगवान् ने कर्मयोग को ही श्रेष्ठ माना है। जैसा कि पञ्चम अध्याय के आरम्भ में कहा गया और अन्त में अठारहवें अध्याय में भी कहा जायगा कि फलाशा और आसक्ति छोड़कर यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करते ही रहना चाहिये। यही मेरा निश्चित मत है और यही उत्तम है। अस्तु, हमारा तात्पर्य यही है कि इस पद्य से जो व्याख्याकार कर्म छोड़ने का ही तात्पर्य निकालते हैं वा जो कर्म करते रहने में ही इस पद्य का तात्पर्य बताते हैं, वे दोनों ही पक्ष इस पद्य से सिद्ध नहीं होते। इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि जब तक 'साम्यबुद्धि' रूप योग पूर्णतया प्राप्त न हो तब तक कर्म करना आवश्यक है। आगे दोनों ही मार्ग हैं अपनी इच्छा या वासना के अनुसार जिसे चाहे उसे स्वीकार करे। यह पद्य दोनों पक्षों में उदासीन ही है ॥३॥

आगे "योगारूढ़" शब्द का अर्थ स्वयं भगवान् इसलिये बताते हैं कि किसी को कोई सन्देह न रहे। वह यह है कि इन्द्रियों के विषयों में (कर्म का फल समझ कर) वा कर्मों में भी जब अनुषङ्ग अर्थात् आसक्ति न रहे और मन से सब सङ्कल्प अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों की प्राप्ति की (इसलोक वा परलोक में पाने की) चित्त वृत्ति सर्वथा छूट चुकी हो तब ही उसे योगारूढ़ कहा जाता है। द्वितीय अध्याय में जो स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया है वा आगे त्रिगुणातीत-पुरुष का जो लक्षण कहेंगे उसी के समान यह योगारूढ़ का भी विवरण समझना चाहिये। इस पद्य में भी श्री शङ्कराचार्य संन्यास का विधान मानते हैं। क्योंकि जब संकल्प का संन्यास हो चुका तो मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता। सङ्कल्प से ही सब कर्म होते हैं। इससे सङ्कल्प संन्यास से कर्म संन्यास भी सिद्ध हो गया यह उनकी व्याख्या है। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि सङ्कल्प अर्थात् फल विषय की भावना का ही संन्यास यहाँ कहा गया और यह पद्य द्वितीय पद्य का ही अर्थ स्पष्ट करता है और वहाँ आरम्भ में "अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति" ऐसा कहने से कर्मयोग स्पष्ट है। इसलिये यहाँ भी सङ्कल्प मात्र का ही अर्थात् फल-वासना का ही संन्यास बताया गया न कि कर्मों का सर्वथा छोड़ना कहा गया। इसलिये यह पद्य भी कर्मयोग का ही प्रतिपादक है ॥४॥

उन्नासिवां-पुष्प

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथामानापमानयोः ॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अपना उद्धार अपने आप को ही करना चाहिये। अपने आप को संसार गर्त में गिराकर दुर्गति को न पहुँचावे। अपने आप ही अपने आप का बन्धु अर्थात् मित्र है और अपने आप ही अपना शत्रु है।

यहाँ आत्मा शब्द शरीर, इन्द्रिय, मन और सबसे ऊपर जो चैतन्य शक्ति (मुख्य आत्मा) है उन सबके समूह में प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि बाहर का कोई पुत्र, मित्र, कलत्र आदि अपने उद्धार में सहायता नहीं दे सकता, न कोई बाहर का मनुष्य अपने को गिरा सकता है। अपना उठाना वा गिराना अपने ही कर्मों पर निर्भर है इसलिये अपना वास्तविक मित्र वा शत्रु भी किसी को न समझना चाहिये। अपने आप ही अपना बन्धु अर्थात् उपकारक हो सकता है और अपने आप ही अपना शत्रु बन सकता है। अन्यत्र भी कहा है कि—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

इसकी व्याख्या हम पूर्व कर चुके हैं। यहाँ पूर्व में तो दूसरा कोई सुख-दुःख देने वाला मित्र वा शत्रु नहीं है, यह कहा गया है और उत्तरार्ध में अपने आप में कर्त्तापन का अभिमान भी झूठा बताया गया है। उसका कारण चतुर्थ-पाद में कहा है कि सब लोग अपने कर्म सूत्र में बँधे हुए हैं। अर्थात् पूर्व सञ्चित

कर्मानुसार जिसकी जैसी वासना बनती है वह अपनी वासनानुसार ही आगे कर्म किया करता है और उनका फल सुख वा दुःख प्राप्त किया करता है। यहाँ हम कह चुके हैं कि आत्मा पद समूह का वाचक है, इसलिये कर्मजनित बुद्धि की वासना वा मन भी आत्मापद से ले लिये जाते हैं। इसलिये यहाँ आत्मा को ही अपना शत्रुमित्र कहा। कर्मों का कर्त्ता कौन होता है इसका विवेचन आगे "अधिष्ठानं तथा कर्त्ता" (१८।१४) इत्यादि पद्य में किया जायगा। वहीं इसका अधिक स्पष्टीकरण होगा। यहाँ यही वक्तव्य है कि किसी दूसरे की प्रतीक्षा न कर अपने आपको ही अपने उद्धार का प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् योगारूढ़ होने का प्रयत्न सावधान होकर करना चाहिये ॥५॥

कौन पुरुष अपने आप का बन्धु बनता है और कौन अपने आप का शत्रु बनता है। इसे आगे के पद्य में स्पष्ट करते हैं कि जिसने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को आत्मा से अर्थात् चिच्छक्ति से जीत लिया उसका आत्मा उसका बन्धु अर्थात् मित्रवत् उपकारक बन जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसका अन्तःकरण अपने वश में हो, आत्मा की प्रेरणा से ही भिन्न-भिन्न व्यापारों में प्रवृत्त होता हो, वह पुरुष अपने आप का बन्धु है अर्थात उपकारक है। इसके विपरीत जो अनात्मा अर्थात् अजितात्मा है जिसने अपने अन्तःकरण को वश में नहीं किया उसका आत्मा ही दूसरे शत्रु के समान शत्रुत्व रूप में वर्तता है। अर्थात् शत्रु के समान अपने आपका अपकारक बन जाता है।

जिसका अन्तःकरण वश में नहीं है अर्थात् इधर उधर सदा विषयों में चञ्चल रहा करता है, उसकी चिच्छक्ति (मुख्य आत्मा) न होने के बराबर ही है क्योंकि अन्तःकरण वश में न रहने से इन्द्रिय, शरीर आदि भी वश में नहीं रहते। जब ये सब ही स्वतन्त्र रूप से चलते रहे तब मुख्य आत्मा के रहने न रहने का फल ही क्या हुआ? इसीलिये इस पद्य में भगवान् ने उसे अनात्मा कहा अर्थात् उसका आत्मा न होने के बराबर है। शरीर, इन्द्रिय, मन, आदिक पर अपना प्रभाव रखना ही आत्मा का काम है। जब इन पर ही प्रभाव नहीं रहा तो उसका रहना न रहना बराबर है। ऐसा पुरुष आप ही अपने आपका शत्रु बनता है अथवा वश में न रहने वाला मन ही अपने शत्रु के समान हो जाता है। इसीलिये मन को वश में रखना अत्यावश्यक है। यह इस उपदेश का तात्पर्य हुआ। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मन जब पूर्व-पूर्व वासनाओं के अनुसार ही आगे के कार्य करता है अथवा ईश्वर की प्रेरणा से ही मनुष्य कर्म किया करता है तब मन को वश में किया ही कैसे जायगा अथवा आत्मा भी ईश्वर-परतन्त्र रहता हुआ मन आदि को कैसे वश में करेगा? इसका उत्तर लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में यह दिया है कि वासना आदि के वा ईश्वर के अधिकार में रहने पर भी आत्मा स्वतन्त्र है, वह समय-समय पर अपनी स्वतन्त्रता शक्ति अवश्य प्रकट करता है। उसी समय से लाभ उठाकर

संघातरूप आत्मा को अपने मन आदि पर अधिकार कर लेना चाहिये। इसका विशेष निरूपण आगे के पूर्व निर्दिष्ट "अधिष्ठानं तथा कर्त्ता" इत्यादि अठारहवें अध्याय के श्लोक की व्याख्या में ही किया जायगा ॥६॥

इस प्रकार अन्तःकरण को वश में करने का फल क्या होगा ? यह आगे के पद्य में बताया जाता है कि जिस पुरुष ने अपने अन्तःकरण पर जय प्राप्त कर लिया है और जो 'प्रशान्त' अर्थात् पूर्वरूप से मन की चञ्चलता मिटा कर शान्ति प्राप्त कर चुका है अर्थात् शान्तिरूप परमानन्द जिसने पा लिया है, उसके लिये परमात्मा ही आत्मरूप से स्थित हो जाता है अर्थात् वह अब अपने आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं समझता। यही समाहित अर्थात् एकाग्ररूप स्थिति उसकी हो जाती है। परमात्मा आनन्द स्वरूप है। पूर्वोक्त प्रकार का पुरुष उस आनन्द का अनुभव प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार श्री शङ्कराचार्य ने पद्य के इस अर्ध भाग की पृथक् रूप से ही व्याख्या की है। अन्य व्याख्याकारों के मत में प्रायः यहाँ परमात्मा शब्द अपने अन्तरात्मा का ही बोधक है। कोई कोई मन, बुद्धि आदि से उत्कृष्ट होने के कारण "परमश्चासौ आत्मा च" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तरात्मा को परमात्मा पद का वाच्य करते हैं और कई व्याख्याकारों ने "परम आत्मा" इस प्रकार इसको पदच्छेद करके आत्मापद अन्तरात्मा का बोधक पृथक् माना है और शुद्ध आत्मा पद तो अपने अन्तरात्मा का बोधक है ही। पूर्वार्ध को पृथक् न कर सम्पूर्ण पद्य की व्याख्या प्रायः इस प्रकार करते हैं कि शीत, उष्ण (गर्मी) सुख-दुःख इत्यादि प्रकृति से प्राप्त द्वन्द्वों में अर्थात् परस्पर विरूद्ध पदार्थों में तथा अन्य संसारी पुरुषों से प्राप्त मान अपमान (सत्कार वा तिरस्कार) आदि द्वन्द्वों में भी जो जितात्मा हैं, अर्थात् ऐसे अवसरों में भी अन्तःकरण को चञ्चल नहीं होने देता, इतना जय जिसने अपने अन्तःकरण का कर लिया है उसका आत्मा परं (क्रियाविशेषण) अर्थात् उत्कृष्ट रूप से समाहित अर्थात् एकाग्र हो जाता है। कई व्याख्याकार आगे के पद्य से मिलाकर दोनों पद्यों की एक वाक्य रूप से भी व्याख्या करते हैं कि पूर्व जो योगारूढ का लक्षण किया है उसी का विवरण इन दोनों पद्यों में भी है कि जो शीत, उष्ण, मान-अपमान और लोहा-पत्थर स्वर्ण इत्यादि सब सांसारिक पदार्थों में समान भाव रखता है अर्थात् स्वर्ण में ग्रहण करने की बुद्धि जिसकी नहीं होती और पत्थर में वा लोहे में फेंक देने की बुद्धि नहीं होती, इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान से जिसका आत्मा तृप्त हो गया है अर्थात् जिसे यह बुद्धि हो गई है कि मैं सब कुछ जान गया, अब कुछ जानने की बात मेरे लिये बाकी नहीं है एवं जो कूट अर्थात् घरट्ट के बीच गड़े हुए पाषाण स्तम्भ की तरह जिसका आत्मा स्थिर हो गया है, इन्द्रियों पर जिसने विजय प्राप्त कर लिया है ऐसा योगी 'युक्त' अर्थात् योगारूढ माना जाता है और उसी का आत्मा परम एकाग्र रहता है।

इस पद्य में जो ज्ञान और विज्ञान दो शब्द आये हैं उनका भेद श्रीशङ्कराचार्य आदि व्याख्याता इस प्रकार करते हैं कि शास्त्र वाक्यों का श्रवण कर जो

मानसवृत्ति होती है उसे ज्ञान कहा जाता है और उसका मनन और बार-बार ध्यान करने से जो प्रत्यक्ष सदृश अनुभव होता है उसे विज्ञान कहते हैं; और श्री विद्या वाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थों में इन शब्दों का यह अर्थ लिखा है कि अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों में एकरूपता देखना ज्ञान है और एक से ही अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं इस दृष्टि से देखना विज्ञान कहा जाता है। इसका विशेष विवेचन सप्तम अध्याय के "ज्ञानं तेऽहंसविज्ञानम्" इत्यादि पद्य में किया जायगा। कूटस्थ पद का अर्थ है कि चलते हुए वहुनों के समुदाय के बीच जो स्थिर रहे। जैसा कि तेली अपने यन्त्र को चारो तरफ घुमाता रहता है किन्तु उसके बीच में जो एक स्तम्भ गड़ा हुआ होता है जिस पर वह यन्त्र लगा है, वह नहीं घूमता। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन आदि के चञ्चल रहने पर भी आत्मा स्थिर रहता है इसलिये उसे कूटस्थ कहते हैं। कूटस्थ आत्मा के समान ही जिस पुरुष ने अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को भी बना लिया है, वह देहादि का समुदाय रूप आत्मा भी कूटस्थ हो गया। इस अभिप्राय से यहाँ समुदाय रूप आत्मा के लिये कूटस्थपद दिया गया है ॥७-८॥

न केवल जड़ वस्तुओं में किन्तु अपने से किसी प्रकार का व्यवहार रखने वाले चेतन प्राणियों में भी साम्य बुद्धि करना कर्मयोगी के लिये आवश्यक है। इस पूर्वोक्त साम्य बुद्धि को ही फिर दोहराया जाता है कि 'सुहृत्' अर्थात् प्रत्युपकार की इच्छा न रखकर सदा उपकार करने वाले शुद्ध हृदय पुरुष में मित्र अर्थात् परस्पर स्नेह जिसमें हो गया है ऐसे पुरुष में 'अरि' अर्थात् शत्रु में उदासीन अर्थात् जो न शत्रु है न मित्र ऐसे तटस्थ पुरुष में, 'मध्यस्थ' अर्थात् परस्पर विरुद्ध दोनों दलों की जो भलाई चाहता हो, द्वेष्य अर्थात् जिसके साथ परस्पर बुराई करने का सम्बन्ध चल रहा हो, बन्धु-बान्धव अर्थात् अपने कुटुम्बी, साधु अर्थात् सत्कर्म करने वाले और पाप अर्थात् बुरे कर्म करने वाले सब प्रकार के पुरुषों में जिसकी समान बुद्धि है ऐसा पुरुष ही सब योगारूढ़ पुरुषों में भी उत्तम कहा जाने योग है।

योग दर्शन में कहा गया है—

"मैत्री-करूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम् ॥"

(समाधिपाद ३३ सूत्र)

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि जिसे संसार में सुखी देखे, उसके साथ अपना मित्र होने की भावना करे। इससे चित्त में ईर्ष्यावृत्ति का उदय नहीं होगा। चित्त का स्वभाव है कि किसी अन्य को सुखी देखकर उसपर ईर्ष्या होती है कि हमें भी ऐसा सुख क्यों न मिला? किन्तु जिसके साथ अपना प्रेम है उसे सुखी देखकर ऐसी ईर्ष्या नहीं होती किन्तु प्रसन्नता ही होती है। इसीलिये

शास्त्र उपदेश देता है कि जिसे भी सुखी देखो उसके साथ मैत्री की भावना करो, अर्थात् उसे अपना मित्र ही समझो। इससे ईर्ष्यावृत्ति का उदय नहीं होगा। और जिसे दुःखी देखो उसपर करुणा की भावना करो। अर्थात् किसी को दुःख पाता हुआ देखकर स्वयं प्रसन्न मत होओ किन्तु क्यों इसे परमात्मा ने कष्ट दिया इस प्रकार करुणावृत्ति ही उसपर रखो। इसी प्रकार जिसे पुण्य अर्थात् शुभकार्य करता हुआ देखो उस पर 'मुदितावृत्ति' करो अर्थात् अपने चित्त में प्रसन्नता का अनुभव करो और जिसे अपुण्य अर्थात् पुण्य विरोधी—पापकर्म करता हुआ देखो उसपर स्वयं खिन्न मत होओ किन्तु उपेक्षा करो अर्थात् संसार में सभी प्रकार के कार्य करने वाले पुरुष होते हैं, हमें इससे क्या लेना देना है? इस प्रकार की उपेक्षा वृत्ति करो। ऐसी वृत्तियाँ करने से तुम्हारे चित्त में किसी के प्रति कोई बुरी भावना न होगी, तब चित्त का प्रसादन अर्थात् स्वच्छता होती जायगी। इस प्रकार की योगदर्शन में कही गई भिन्न-भिन्न भावनायें साधन दशा में उपयुक्त हैं किन्तु यहाँ भगवान् सिद्ध दशा की बात कहते हैं कि युक्त पुरुष को दूसरों के चित्त के विषय में ध्यान ही नहीं देना चाहिये। किन्तु उसे तो सबके भीतर विराजमान विशुद्ध अन्तरात्मा को ही देखना चाहिये, वह तो शुद्ध है उसमें किसी प्रकार का विकार होता ही नहीं अपने साथ जो किसी का मित्रभाव से वा शत्रुभाव से सम्बन्ध होता है वह उसकी मनोवृत्ति का ही प्रभाव है। आत्मा तो सदा ही शुद्ध और समानरूप है। उस आत्मा को ही सबमें व्यापक एक आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है उस व्यापक परमात्मा पर ही युक्त पुरुष की दृष्टि रहनी चाहिये। वह अन्य पुरुषों की भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों पर कोई ध्यान ही न दे किन्तु सर्वत्र आत्मा पर ही व्यापक दृष्टि रखे, यह इस उपदेश का सार हुआ ॥९॥

अस्सीयवां-पुष्प

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसिस्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

उक्त प्रकार की साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास भी आवश्यक है। योगाभ्यास से अन्तःकरण को वश करने में बहुत सहायता मिलती है। वह योग अनेक प्रकार का भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वर्णित है। मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग आदि कई भेद योग के शास्त्रों में निरूपित हैं और उन योगों के प्रतिपादक ग्रन्थ भी संस्कृत साहित्य में बहुत हैं। किन्तु यहाँ सब योगों में उपयुक्त सामान्य प्रक्रियाओं का ही संक्षेप से निदर्शन भगवान् करते हैं कि योगी अर्थात् योगाभ्यास में प्रवृत्त होने वाला पुरुष एकान्त स्थान में अर्थात् जहाँ व्यवहारिक पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त न हो सके ऐसे नदीतीर, पर्वतकन्दरा आदि स्थानों में स्थित होवे, वहाँ भी अकेला ही बैठे अर्थात् अपने इष्ट-बान्धव, पुत्र-कलत्र आदि का भी सम्पर्क न करे। इस प्रकार के जनसम्पर्क से परस्पर वार्तालाप का प्रसङ्ग होकर चित्त की एकाग्रता में बाधा उपस्थित होना सम्भव है। इसलिये ऐसी बाधा के मूल को ही हटा देना चाहिये। चित्त और आत्मा अर्थात्

इन्द्रिय, शरीर आदि को संयत रख कर योगाभ्यास करना चाहिये (यहाँ आत्मा पद शरीर, इन्द्रिय आदि के समूह का ही वाचक है। मन का संयत् अर्थात् एकाग्र करना विशेष आवश्यक है। इसलिये चित्तपद का पृथक् उपादान किया गया है।) अपने योगाभ्यास की सिद्धि के अतिरिक्त और कोई इच्छा चित्त में नहीं रखनी चाहिये (जो दूसरों के मारण, मोहन आदि के उद्देश्य से योगाभ्यास करते हैं वे शास्त्र सम्मत कार्य नहीं करते, यह इस विशेषण से सूचित किया गया।) एकाकी रहने पर भी लेखनी, पुस्तक आदि का संग्रह बहुत सा साथ रख लिया जाय ऐसा परिग्रह भी न होना चाहिये। इस प्रकार के अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को 'युञ्जीत' अर्थात् एकाग्र करना चाहिये। अथवा आत्मा अर्थात् चिदात्मा को अपने ही से मिलाना चाहिये। अर्थात् अपने ही दर्शन में निरत करना चाहिये। "सततम्" पद का अभिप्राय है कि योगाभ्यास निरन्तर करना चाहिये। कुछ काल किया और कुछ काल छोड़कर फिर आरम्भ किया, ऐसा नहीं होना चाहिये। योगदशन में भी कहा गया है कि "सतु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारा सेवितोदृढ़भूमिः" अर्थात् बहुत कालतक निरन्तर अर्थात् विच्छेद न कर आदर पूर्वक सेवन करने से योगाभ्यास दृढ़ होता है। सत्कार का तात्पर्य है कि मैं बहुत अच्छा कार्य कर रहा हूँ ऐसा भाव अभ्यासी के हृदय में रहना चाहिये।

यहाँ "निराशीः" और "अपरिग्रहः" इन विशेषणों के कारण श्रीशङ्कराचार्य ने योगी पद का संन्यास योग युक्त ही अर्थ किया है क्योंकि अन्य आश्रमों में तो कुछ न कुछ परिग्रह रहता ही है। किन्तु श्री रामानुजाचार्य और तिलक आदि व्याख्याकार योगी पद का "कर्मयोगी" ही अर्थ मानते हैं। कर्मयोगी को मन से सब परिग्रह का त्याग करना ही पड़ता है और सांसारिक विषयों की इच्छा का भी परित्याग उसके लिये आवश्यक ही है। इसलिये यह विशेषण कर्मयोगी में भी उपपन्न हो जाते हैं। अन्य कई व्याख्याकार पुस्तक, लेखनी आदि के झंझट में भी न पड़ना यही अपरिग्रह का अर्थ करते हैं।

अब पातञ्जल सूत्रों के अनुसार संक्षेप से योग का निरूपण प्रस्तुत किया जाता है। पातञ्जल सूत्र में योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि। इनमें से यम-नियमों का तो बहुत कुछ कथन पूर्व ही हो चुका है— जैसा कि पञ्चमाध्याय के पद्यों की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः उनकी पुनरुक्ति न कर यहाँ आसन से ही प्रारम्भ किया जाता है। यह भी कारण है कि यम नियम तो सर्वसाधारण के लिये, जो योगाभ्यास नहीं भी करते हैं उनके लिये भी आवश्यक होते हैं। इसलिये उनको योग के अङ्गों में ही गिनना, (योग के अङ्गों में ही अन्तर्गत मानना अनावश्यक है)। योगाभ्यास करने वाले को उनकी विशेष आवश्यकता है। इसलिये उनकी योगाङ्गों में गणना

की गई है, किन्तु योगाभ्यास तो आसन से ही आरम्भ होता है। इसलिये प्रथमतः आसन का ही निरूपण यहाँ किया जाता है कि पवित्र देश में अपना ऐसा सुस्थिर आसन प्रतिष्ठित करना चाहिये जो भूमि से न बहुत ऊँचा हो न एकान्ततः भूमि से सम्मिलित ही हो और उस आसन में चैल अर्थात् रेशम आदि का मृदु वस्त्र; अजिन अर्थात् पवित्र मृगचर्म और कुशा ये क्रम से उत्तरोत्तर होंवे। यहाँ इन तीनों का क्रम से उत्तरोत्तर होना अपने शरीर की अपेक्षा से लेना चाहिये अर्थात् शरीर के नीचे पहिले रेशमी वस्त्र हो, उसके अनन्तर मृगचर्म और उसके अनन्तर कुशायें। कुशाओं का सम्बन्ध भूमि से रहना चाहिये। यही उत्तरोत्तर का क्रम शिष्ट सम्प्रदाय में प्रचलित है। और श्री शङ्कराचार्य ने भी इस पद्य की व्याख्या में लिखा है कि इनका क्रम पाठक्रम से विपरीत लेना चाहिये। अर्थात् भूमि की अपेक्षा यदि उत्तरोत्तर भाव लिया जाय तो पहिले कुशा फिर अजिन और फिर चैल यह क्रम होना चाहिये। कई व्याख्याकार चैलाजिने कुशोत्तरे यस्मिन् अर्थात् कुशाओं के ऊपर जिसमें चैल और अजिन हों, इस प्रकार विग्रह करके भी उक्त अर्थ निकालते हैं। अस्तु "शुचौदेशे" इन पदों से यह कहा गया कि पहिले आसन के स्थान की अर्थात् भूप्रदेश की पवित्रता देखना चाहिये। भूप्रदेश की पवित्रता का निरूपण धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है कि—

सर्वत्र वसुधा पूता यत्र लेपो न विद्यते।
यत्र लेपः कृतस्तत्र पुनर्लेपेन शुद्ध्यति॥

इसका अर्थ है कि जहाँ लेप अर्थात् बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध न हुआ हो ऐसा भूमि का प्रदेश पवित्र ही रहता है जैसा पर्वत, कन्दरा आदि का प्रदेश। और जहाँ एक बार लेप कर दिया गया हो, वहाँ तो फिर गोमय आदि का लेप करने पर ही शुद्धि होती है। जिस भूमि में अपवित्र वस्तुओं के सम्बन्ध सम्भव हों उसकी शुद्धि का प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि—

भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहात् कालात् गोक्रमणात् तथा।
सेकादुल्लेखनाल्लेपाद्,-गृहं मार्जनलेपनात् ॥
(आचाराध्याय १८८ श्लोके)

अर्थात् भूमि की शुद्धि झाड़ू देने से, अग्नि जलाने से (जहाँ विशेष अपवित्रता हुई हो अर्थात् मल-मूत्र आदि का सम्बन्ध वा स्त्रियों का प्रसव आदि जहाँ हुआ हो वहाँ) कुछ काल उस भूमि को खाली छोड़ देने से अथवा गौओं का उस स्थान में परिभ्रमण कराने से भूमि की पवित्रता हो जाती है और जहाँ घर बनाया गया हो, उसकी पवित्रता के लिये तो झाड़ू देना और गोमय आदि का लेपन करना ही पवित्रता का कारण होता है। इस प्रकार स्थान की पवित्रता कर लेनी चाहिये, यह यहाँ शुचौ देशे पद से कहा गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना

चाहिये कि आधुनिक विज्ञान के वेत्ता डाक्टरों ने भी यह स्वीकार किया है कि गोमय में रोग के कीटाणुओं का संक्रमण नहीं होता और जिन वस्तुओं का आसन में उपयोग करना बताया गया है, वे सब वस्तुएँ भी आधुनिक भाषा में "नान कन्डेक्टिंग" मानी गई हैं। अर्थात् इनमें विद्युत शक्ति नहीं चलती। इससे भारतीय धर्म विज्ञान से कितना सम्बन्ध रखता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अस्तु, "शुचौदेशे" इन पदों से यह भी सूचित किया गया कि भूमि पर ही योगाभ्यासी को आसन लगाना चाहिये। किसी काष्ठ-पीठ (चौकी, तख़्त) आदि पर अभ्यास के लिये आसन न लगावें और "आत्मनः" पद से यह सूचित किया कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना आसन पृथक् ही हो। किसी दूसरे पुरुष के काम में लिये हुए आसन पर अभ्यास नहीं हो सकता क्योंकि जिस आसन पर कोई व्यक्ति बैठ गया उसमें उस व्यक्ति की विद्युत शक्ति का सम्बन्ध हो जाता है। दूसरा पुरुष यदि उस पर बैठेगा तो इन दोनों की विद्युत शक्ति का सम्मिश्रण होने से अभ्यास में बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। बहुत ऊँचा आसन होने से भूमि की व्यापक विद्युत शक्ति से सम्बन्ध ही छूट जायगा। जो कि भूप्रदेश के प्राणियों के लिये अहितकर होगा और अत्यन्त नीचा आसन रहने पर भूमि ही योगाभ्यास से उत्पन्न शक्ति का आकर्षण कर ले, यह भय रहेगा। इसलिये अत्यन्त ऊँचे और अत्यन्त नीचे आसन का निषेध किया गया है। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया इसमें समझ लेनी चाहिये। आसन अस्थिर हो अर्थात् इधर-उधर चल-प्रचल होने का भय न रहे इस प्रकार के समतल में आसन लगाना चाहिये। ऊँची-नीची भूमि न हो यह इस स्थिर विशेषण से सूचित किया गया ॥११॥

ऐसे आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को संयत करके अर्थात् चित्त और इन्द्रियों की चञ्चलता को हटाकर और मन को एकाग्र करके, आत्मा अर्थात् चित्त शक्ति की विशुद्धि अर्थात् बन्धन निवृत्ति के उद्देश्य से योग का अर्थात् चित्तवृत्ति प्रवाह को रोकने का अनुष्ठान करना चाहिये। इससे "प्रत्याहार" रूप पाँचवाँ योगाङ्ग सूचित किया। "उपविश्य" पद से यह सूचित करते हैं कि योगाभ्यास बैठकर ही हो सकता है। खड़े रह कर वा लेट कर नहीं। आत्म विशुद्धि का अर्थ अन्तःकरण की शुद्धि भी व्याख्याओं में किया गया है। उनका अभिप्राय है कि चित् शक्ति तो सदा ही शुद्ध है उस पर मलिनता तो चित्त के सम्बन्ध से ही आती है। इसलिये चित्त की शुद्धि ही योगाभ्यास का मुख्य फल है। वेदान्त-दर्शन में अन्तःकरण के चार भेद माने गये हैं—(१) मन (२) बुद्धि (३) अहंकार और (४) चित्त। आगम शास्त्र में चित्त को ही चिति का प्रथम संक्रमण कहकर मुख्य माना गया है। उस चित्त की चञ्चलता हटा देने पर मन आदि सब अन्तःकरणों की चञ्चलता हट जाती है। इसलिये चित्त की क्रिया को संयत करना यहाँ कहा गया। और अन्तःकरणों में मन का स्थान प्रथम आता है। मन में ही विशेष रूप से चञ्चलता प्रसिद्ध है। उसको एकाग्र करने से अर्थात् चञ्चलता हटाकर एक तरफ लगा देने से

बुद्धि आदि की भी स्थिरता हो जाती है। इस अभिप्राय से पहिले मन की एकाग्रता और आगे चित्त पद से उपलक्षित कर शेष अन्तःकरणों की संयतता दिखाई गई। इसलिये पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिये इसके अतिरिक्त मन को एकाग्र अर्थात् एक जगह स्थिर करना इससे "धारणा" रूप योग का छठा अङ्ग भी कहा गया। इससे भी पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है ॥१२॥

इस प्रकार तीसरे अङ्ग आसन के अनन्तर प्रत्याहार और धारणा रूप पाँचवें और छठें योगाङ्गों का ही पहिले निर्देश कर दिया गया। चौथा अङ्ग प्राणायाम बाकी रह गया, उसका निरूपण आगे के पद्य से किया जाता है। पूर्वोक्त पद्य में आसन शब्द में "करणाधिकरणयोश्च" इस व्याकरण सूत्र से "ल्युट्" प्रत्यय किया गया है। इसलिये वहाँ आसन शब्द का अर्थ है बैठने का स्थान। जहाँ भाव में प्रत्यय कर आसन शब्द बनाया जाय वहाँ बैठने की प्रक्रिया का ही नाम आसन होगा। जैसा कि "पद्मासन" "स्वस्तिक आसन" "सिद्धासन" आदि में प्रसिद्ध है। इस प्रकार के शरीर स्थिति रूप आसनों के भेद भी चौरासी, योग के ग्रन्थों में बताये गये हैं जो कि हठयोग की प्रक्रिया में आते हैं। इन सबके झंझट में न डालकर प्राणायाम के समय आवश्यक शरीर की स्थिति का निरूपण यहाँ किया जाता है कि काय अर्थात् धड़, ग्रीवा और शिर को समान रूप में अर्थात् एक सीध में रखना चाहिये। और ये सब निश्चल रहें; इधर-उधर परिवर्तन की क्रिया बन्द रखनी चाहिये। इधर-उधर दिशाओं को न देखकर अपनी नासिका के अग्रभाव पर दृष्टि रखनी चाहिये। दोनों नेत्रों की रश्मियाँ जो भिन्न-भिन्न रूप से चलती हैं उन्हें एक जगह मिला कर पुनः एक जगह मिला देना ही नासाग्र दृष्टि कहलाती है। दोनों नेत्रों से जो पृथक्-पृथक रश्मियाँ निकलती हैं उन्हें तिरछा करके नासिका के अग्रभाग की ओर झुका कर एक सीध में कर देने से यह दृष्टि बनती है, उससे केवल अपनी नासिका का अग्रभाग ही दिखाई देता है। इधर-उधर की दिशाएँ नहीं दिखाई देतीं। इससे चित्त की एकाग्रता में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यह हठयोग की प्रक्रिया है। इन्द्रियों को बल पूर्वक एक ओर लगाना ही 'हठयोग' कहलाता है, इसलिये लोकमान्य तिलक ने जो इस निरूपण में लिखा है कि गीता में हठयोग का कोई स्थान नहीं, वह उचित नहीं प्रतीत होता। सब ही योगों के उपयुक्त अंशों को गीता में ले लिया गया है ॥१३॥

आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को सब प्रकार से शान्त रखना चाहिये। अन्तःकरण में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के सांसारिक भावों का उदय न हो, ऐसा यत्न करना चाहिये और अन्तःकरण में विकार उत्पन्न करने वाले भय का सञ्चार मन में से सर्वथा हटा देना चाहिये। इस लोक में वा परलोक में मेरी दुर्गति होगी, इस प्रकार का भय भी चित्त में नहीं लाना चाहिये। योगाभ्यास करने के काल में ब्रह्मचर्य का नियम आवश्यक है। शास्त्रों में जो आठ प्रकार का

मैथुन बताया गया है उन सबका परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। आठ प्रकार का मैथुन इस प्रकार कहा गया है कि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग प्रवदन्तिमनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवं प्रकीर्तितम्॥

स्त्रियों का स्मरण करना, उनकी बात मुख से कहना, उनके साथ क्रीड़ा, उनको सकाम देखना, उनके साथ गुप्त बात करना "स्त्री प्रसङ्ग करूँगा" इस प्रकार का चित्त में सङ्कल्प और उस सङ्कल्प की सिद्धि के लिये कई प्रकार के प्रयत्न और अन्ततः 'क्रियानिर्वृत्ति' अर्थात् स्त्री संपर्क, यह आठ प्रकार का मैथुन कहा जाता है और इनके विपरीत अर्थात् इन सब का छोड़ना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य में स्थित होना आवश्यक है। यद्यपि "प्रशान्तात्मा" पद से ही सांसारिक विषयमात्र की निवृत्ति कह दी गई थी तथापि विशेष आवश्यकता बोधन करने के लिये ब्रह्मचारिव्रत में स्थित होना पृथक् भी कहा गया। मन को पूर्ण रूप से संयत अर्थात् एकाग्र करके अपने चित्त को मुझ परमेश्वर में ही लगा कर "मत्परः" अर्थात् मुझको ही सर्वानन्दमय मानता हुआ युक्त अर्थात् बहुत काल पर्यन्त ऐसी ही स्थिति में रहे। यहाँ मनःसंयम पद से क्रम प्राप्त प्रत्याहार और धारणा का पुनः सूचन किया गया है। "मच्चित्तः" और "मत्परः" पदों से ध्याननाम योग का प्रधान अङ्ग बताया गया। योगदर्शन में भी इसी को मुख्य माना है। वहाँ कहा है कि 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' अर्थात् ईश्वर को किसी रूप में एकाग्र कर मनको स्थापित किया जाय, इसी से योग सिद्धि होती है। 'युक्तः' पद से समाधि का ही कथन कई व्याख्याकारों ने माना है और मूल का 'आसीत्' पद भी उसे ही स्पष्ट कर रहा है कि ऐसी स्थिति में चिरकाल तक रहना। ऐसी सम्प्रज्ञातसमाधि से ही असम्प्रज्ञात समाधि भी सिद्ध हो जाती है। इनमें केवल इतना ही भेद है कि सम्प्रज्ञात समाधि में "मैं इस वस्तु का ध्यान कर रहा हूँ" इस प्रकार की 'ध्याता' ध्यान की वस्तु, ध्येय और ध्यान यह "त्रिपुटी" बनी रहती है और असम्प्रज्ञात समाधि में यह त्रिपुटी नहीं रहती अर्थात् "मैं और ध्यान करता हूँ यह अंश भी ध्यान में से हट जाते जाते हैं, केवल जिस ईश्वर के रूप का ध्यान किया जाय वही मात्र चित्त में रह जाता है॥१४॥

आगे के पद्य में इस अभ्यास का फल बताया जाता है कि इस प्रकार मन को सदा योगयुक्त करने वाले योगी का मन सर्वथा स्थिर हो जाता है अर्थात् उसकी वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं। धन आदि बाह्य वस्तुओं की इच्छा को वित्तैषणा कहा जाता है। पुत्र आदि कुटुम्ब रखने की इच्छा को पुत्रैषणा, बताया गया है और लोक में मेरा नाम प्रतिष्ठा से लिया जाय ऐसी प्रसिद्धि की इच्छा लोकैषणा कहलाती है। ये तीनों प्रकार की इच्छाएँ ही

संसार बन्धन रूप हैं। योगाभ्यास करने से मन में इन तीनों ही इच्छाओं का अभाव हो जाता है और अन्त में उसको वह शान्ति प्राप्त होती है जिसका परम फल निर्माण अर्थात् मोक्ष है। मोक्ष किसे कहते हैं यह भी स्पष्ट किया जाता है कि मुझमें ही आकर स्थित हो जाना यही मोक्ष है अर्थात् जीव भाव हट कर ब्रह्म रूप हो जाना ही मोक्ष कहा जाता है। उस समय जीव में किसी प्रकार की हलचल नहीं रहती। ब्रह्म रूप होकर वह भी क्षोभ रहित हो जाता है। यह निर्वाण पद प्राप्त कर लेना ही योग का परम फल है ॥१५॥

योग साधना के समय संसार व्यवहार की स्थिति कैसी होनी चाहिये ? इसका निरूपण आगे के दो पद्यों में किया जाता है कि हे अर्जुन! अधिक भोजन करने वाले का योग सिद्ध नहीं हो सकता और सर्वथा भोजन छोड़ देने वाले को भी योग सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार अधिक सोने वाला और निरन्तर जागने वाला भी योग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसका यह भी अभिप्राय है कि वहुत से लोग योगाभ्यास में प्रवृत्त होकर भी छोटे-छोटे कार्यों में लग जाते हैं जैसा कि अभ्यास के आरम्भ में ऐसी स्थिति हो जाती है कि वहुत सा अन्न वा जल पेट में डाल दिया जाय और जब चाहे उसका निस्सारण कर दिया जाय। ऐसी शक्ति हठयोग से प्राप्त हो जाती है। इसी तरह कई दिन तक निद्रा न लेना और फिर कई दिन सोते ही रहना ऐसी स्थिति भी प्राप्त हो जाती है। किन्तु इन छोटे-छोटे कार्यों में लग जाने से योगाभ्यास का परम फल चित्त की एकाग्रता सिद्ध नहीं होती। इसलिये इस पद्य के द्वारा यह उपदेश भी दिया जाता है कि ऐसे छोटे कार्यों की ओर मन न लगाना। किन्तु अपने मुख्य लक्ष्य की ओर ही सदा ध्यान रखना चाहिये ॥१६॥

तब किस प्रकार लोक व्यवहार चलाना चाहिये यह बताते हैं कि आहार और विहार अर्थात् चलना-फिरना यह सब उचित रूप में होना चाहिये अर्थात् जब भूख लगे तब जितना अपेक्षित हो उतना अन्न ले लिया जाय और आवश्यकतानुसार इतना भ्रमण भी किया जाय कि जिससे शरीर में श्रम प्रतीत न हो। इसके अतिरिक्त और लौकिक कामों में चेष्टा अर्थात् शरीर व्यापार भी नपा-तुला ही होना चाहिये और सोना-जागना भी नियत समय पर हो ऐसा करने वाले के लिये योग दुःख का मिटाने वाला हो जाता है। अर्थात् ऐसी दिनचर्या रखने वाला योगाभ्यास से कष्ट नहीं पाता। विपरीत आचरण करने वाले सम्भव है कि रोगी हो जायें ॥१७॥

———

इक्यासीवां-पुष्प

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
सङ्कल्प प्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

अपना कल्याण चाहने वाले की योग में प्रवृत्ति आवश्यक है। इस अभिप्राय से योग में रुचि उत्पन्न करने के लिये भगवान् पुनः योग की प्रशंसा आरम्भ करते हैं और योग के अङ्गों को विस्तार से दृष्टान्तों द्वारा साथ-साथ समझाते भी जाते हैं। चौदहवें श्लोक में जो "युक्त आसीत्मत्परः" कहा गया है वहाँ युक्त शब्द का क्या अर्थ है ? युक्त किसे कहते हैं ? यही पहिले समझाया जाता है कि जब मन विशेष प्रकार से रोका जाकर केवल आत्मा में ही स्थिर हो जाय और इस-लोक वा परलोक की कोई इच्छा चित्त में न रह जाय तब ऐसा पुरुष युक्त कहा जाता है। पद्य के पूर्वार्ध में "निर्विकल्पकसमाधि" बतलायी गयी जो कि योग शब्द का मुख्य अर्थ है। सविकल्पक समाधि तो योग के आठ अंगों में अन्तिम रूप से गिनी गई है। इसी से सिद्ध है कि सविकल्पकसमाधि योग का अङ्ग है, तब योग शब्द का मुख्य अर्थ निर्विकल्पकसमाधि ही होगा। सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधियों का यह भेद पूर्व बताया जा चुका है कि सविकल्पक समाधि में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन यह त्रिपुटी रहती है अर्थात् "मैं ईश्वर को वा

आत्मा का जान रहा हूँ। यह बुद्धिवृत्ति रहती है, इसमें मैं यह अंश द्रष्टा का है आत्मा वा ईश्वर दृश्य है और जानता हूँ यह दर्शन का प्रतिभास है। यह 'त्रिपुटी' भी जब हट जाय, केवल दृश्य भूत आत्मा वा परमात्मा ही बुद्धिवृत्ति में रह जाय तब "निर्विकल्पक समाधि" कही जाती है। यहाँ "आत्मन्येव अवतिष्ठते" (आत्मा में ही स्थित हो जाय) इस एव पद से यही सूचित किया गया है कि द्रष्टा और दर्शन का भी भाव न रहे, केवल दृष्यरूप आत्मा में ही चित्त की स्थिति हो जाय, इससे यही बताया गया कि निर्विकल्पक समाधि जिसे प्राप्त हो गई वही पुरुष युक्त कहलाने का अधिकारी है। उत्तरार्ध के "निःस्पृहः सर्व कामेभ्यः" इन पदों से उस समाधि की स्थिरता का बोधन किया गया है कि सांसारिक वा पारलौकिक भोगों की वासना भी शेष न रह जाय। यदि ऐसी वासना का उदय होगा तो अवश्य ही एकाग्रता रूप समाधि टूट जायगी। इसी को योग शास्त्र में "व्युत्थान" शब्द कहा जाता है। उस व्युत्थान का निषेध करने से यह सूचित किया कि चिरकाल तक निर्विकल्पक समाधि में रहने वाला पुरुष ही युक्त कहलाने का अधिकारी होता है।

किसी व्याख्या में "सर्वकामेभ्यः" इस पञ्चमी विभक्ति को 'ल्यप्' प्रत्यय का लोप होकर पञ्चमी माना गया है, इससे यह अर्थ निकलता है कि लौकिक और पारलौकिक विषयों को प्राप्त करके वह इच्छा रहित हो गया। इसका तात्पर्य है कि उस पुरुष को सर्वात्मभाव की प्रतीति हो गई अर्थात् अपने आप को सब में व्याप्त देखने लगा। जब सब में अपने आप को ही व्याप्त देखेगा तब इच्छा कहाँ से रहेगी? क्योंकि इच्छा तो उसी वस्तु की होती है जो प्राप्त न हुई हो। सभी में जब आत्मा का प्रवेश मान लिया तब अप्राप्त कुछ नहीं रहा, फिर इच्छा कहाँ रहेगी? इसी का विवरण आगे "सर्वभूतस्थमात्मानं" इत्यादि (श्लोक २९) में किया जायगा। यह ज्ञान की परम अवस्था है। इससे यह बताया गया कि निर्विकल्पक समाधि भी हो और परमज्ञान भी; तब वह पुरुष युक्त कहला सकता है ॥१८॥

इसको ही उपमा के द्वारा और स्पष्ट करते हैं कि जो पुरुष योग के अभ्यास में लगा है और अभ्यास करते-करते जिसका चित्त पूर्णसंयत अर्थात् पूर्वोक्त समाधि में स्थित हो गया है, उसके आत्मा की उपमा अर्थात् सदृशता दीपक की उस अवस्था से दी जा सकती है कि जो दीपक वायु रहित प्रदेश में रखा हुआ निश्चल हो, जिसके अग्रभाग में कोई हलचल न होती हो। यही बात योगदर्शन में भी कही गई है कि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" अर्थात् चित्त वृत्तियों को रोक देने पर द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। पूर्ण शान्ति ही आत्मा का अपना स्वरूप है। उसमें किसी प्रकार का क्षोभ वा हलचल होने का सम्भव ही नहीं। आत्मा तो सदा ही अपने स्वरूप में ही स्थित रहेगा, वह अपने स्वरूप से विच्युत होता ही कब था! जिसके

निवारण के लिये योगाभ्यास करें। उसे तो श्रुति ने कूटस्थ नित्य कहा है। कूटस्थ नित्य में तो विकार वा स्वरूप विच्युति हो ही नहीं सकती, इस शंका का उत्तर दूसरे सूत्र से दिया गया है कि आत्मा यद्यपि स्वरूप से कभी विच्युत नहीं होता, किन्तु मन में जब चञ्चलता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं तो उसमें प्रतिबिम्बित होने के कारण आत्मा भी उनके समान रूप वाला चञ्चल ही अनुभव में आता है। जब मन वृत्तियाँ सर्वथा रोक दी जायगी तब वह प्रतिबिम्ब की रूप से प्राप्त होने वाली चञ्चलता भी मिट जायगी। इससे आत्मा अपने निश्चल भाव में ही दीखने लगेगा। यही बात इस पद्य में भी कही गई है कि जहाँ वायु का बिलकुल प्रसार नहीं ऐसे स्थान में रखे हुए दीपक की लौ जैसे बिलकुल स्थिर दिखाई देती है ऐसे ही योगाभ्यास करके चित्त को स्थिर कर लेने वाले पुरुष का आत्मा भी पूर्णरूप से स्थिर ही अनुभव में आता है। उसमें किसी प्रकार की हलचल प्रतीत नहीं होती। हलचल मन आदि अन्तः-करणों के सम्बन्ध से प्रतीति का कारण ही क्या रहा? यह तो विशुद्ध प्रकाश स्वरूप है। इसी अभिप्राय से यहाँ दीपक की उपमा दी गई है ॥१९॥

आगे योगाभ्यास के समय अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है, इस बात का भी निरूपण योगाभ्यास में परम रुचि उत्पन्न करने के लिये योग शब्द का अर्थ बताते हुए किया जाता है। योग किसे कहते हैं यह योग शब्द का मुख्य अर्थ ही बताया जाता है। अभ्यास करते-करते जिस अवस्था में पहुँच कर चित्त अपने आप उपरत अर्थात् वृत्तिशून्य बन जाय और जिस अवस्था में मन से केवल परमानन्द-रूप आत्मा का ही दर्शन करता हुआ, यह संघात रूप जीव अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगे अर्थात् सन्तोष के लिये बाहर के पदार्थों की इच्छा बिलकुल न रखे (बाह्य पदार्थों की इच्छा आनन्द प्राप्ति के लिए ही होती है जब आत्मा की परमानन्द रूपता समझ ली गई तो बाह्य पदार्थों की इच्छा ही क्यों होगी? इस कारण बाह्य पदार्थों की इच्छा न करता हुआ वह पुरुष अपने आप में ही सदा सन्तुष्ट रहेगा) इसीलिये उसका चित्त विलीन सा अर्थात् न रहने के बराबर हो जायगा। सङ्कल्प-विकल्प ही चित्त के रूप हैं। जब सङ्कल्प विकल्पों के प्रवाह को रोक दिया गया तो मन का रहना, न रहने के समान ही हो जाता है। यह 'लययोग' की अवस्था का वर्णन है ॥२०॥

योगाभ्यास में परम सुख का अनुभव होता है, इसका विवरण अग्रिम पद्य में किया जाता है कि जो अत्यन्त अर्थात् पराकाष्ठा का अनन्त सुख है और उस सुख का अनुभव इन्द्रियों से नहीं हो सकता, अपितु केवल बुद्धि ही उसका ग्रहण करती है। उस सुख का यह योगी पुरुष अनुभव करता है और जिस सुख में स्थित होकर "मैंने तत्त्व प्राप्त कर लिया" ऐसा अनुभव करता हुआ उससे विचलित नहीं होता। यह आत्मानन्द का ही निरूपण है। विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो सुख होता है वह परिमित अर्थात् एक सीमा में बँधा हुआ है। एक विषय से सुख का अनुभव करते हुए विषयान्तर वा उससे भी

अधिक सुख की इच्छा बनी रहती है किन्तु यह समाधि का सुख सीमावद्ध नहीं; उसके अनुभव के समय किसी दूसरे सुख की इच्छा ही नहीं रहती। इसीलिये उसे अत्यन्त वा अनन्त कहा गया है। इन्द्रियों से विषयों के सुख का ही अनुभव होता है क्योंकि इन्द्रियों को विधाता ने बाहर की ओर जाने वाली ही बनाया है, जैसा कि "पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः इस श्रुति में कहा गया है। इसलिये आत्मा की ओर न जाने से आत्मा के आनन्द का अनुभव इन्द्रियाँ नहीं कर सकतीं। केवल बुद्धि ही उस आनन्द का अनुभव करती है। यही सुषुप्ति-अवस्था के सुख से इस समाधि सुख की विलक्षणता है। सुषुप्ति अवस्था में भी शास्त्रों ने सुख माना है क्योंकि जब पुरुष सुषुप्ति से हटकर जाग्रत अवस्था में आता है तब "सुखमहमस्वाप्सम्" अर्थात् मैं बड़े आनन्द से सोया। इस प्रकार सुषुप्तिकाल के सुख का स्मरण करता है। यदि सुख न होता तो स्मरण किसका होता ? इससे सुषुप्ति सुख का अनुमान ही होता है। उस काल में उस सुख का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता किन्तु समाधि सुख का, बुद्धि अनुभव करती है। मैंने परम आनन्द प्राप्त कर लिया, "अब मैं कृतकृत्य हो गया" ऐसा अनुभव समाधि दशा में ही होता रहता है। सुषुप्ति सुख का ग्रहण केवल अविद्या की वृत्ति से ही शास्त्रों ने माना है क्योंकि उस अविद्या का भी स्मरण होता है कि "न किञ्चिदवेदिषम्" अर्थात् सुषुप्ति दशा में मैंने भीतर-बाहर की कोई वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, यह अज्ञान का ही स्मरण है। इस अज्ञान को वेदान्त शास्त्र में सब का उत्पादक कारण शरीर कहा गया है। उस अज्ञान की वृत्ति से ही सुषुप्ति अवस्था के सुख का ग्रहण होता है, किन्तु समाधि सुख का ग्रहण सत्त्व-प्रधाना-बुद्धि भी करती है। रज और तम के कारण जो हलचल हुआ करती है, वह दबकर केवल सत्त्वगुण ही बुद्धि में प्रकट रह जाय, तब सत्त्वगुण के सुख रूप होने के कारण बुद्धि भी सुख रूप ही हो जाती है, यही बुद्धि से समाधि सुख का ग्रहण है। अर्थात् ग्रहण करने वाली बुद्धि भी उस समय सुख रूप ही हो गई है। फिर उस सुख में स्थिर होकर उससे विचलित होने का कोई कारण ही नहीं होता। यहाँ यह शङ्का होगी कि फिर तो समाधि से व्युत्थान ही कभी न होगा। जब समाधि से विचलित ही पुरुष न होगा तो समाधि टूटेगी ही क्यों ? और फिर आगे संसार के सब व्यवहार ही रूक जायँगे किन्तु ऐसा तो नहीं होता। एक बार समाधि में मग्न होकर भी फिर पुरुष उससे उठकर संसार व्यवहार में निरत देखे जाते हैं और शास्त्र भी व्युत्थान दशा का वर्णन करते हैं, इसका उत्तर है कि मूलभूत अविद्या जब तक समूल नष्ट नहीं हुई तब तक वह समाधि से भी पुरुष को उठाकर संसार की ओर खींच लेती है। जब कालक्रम से अभ्यास करते-करते अविद्या का समूल नाश हो जायगा तब सर्वथा मुक्ति प्राप्त हो जायगी और फिर सभी सांसारिक झंझट निवृत्त हो जायँगे क्योंकि आत्मा वास्तव में तो समाधि से विच्युत वा विकार प्राप्त नहीं होता। यह तो अविद्या के कारण ही भिन्न-भिन्न व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। इसी अभिप्राय से

श्रुतियों में "ध्यायतीव लेलायतीव" यह इव शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् मानो आत्मा विषयों का ध्यान सा करता रहता है और उनकी तरफ झुकता सा रहता है, इससे यही सूचित होता है कि विषयों का ध्यान वा उनकी ओर झुकना वास्तविक नहीं। वह केवल अविद्या के कारण प्रतीत है ॥२१॥

समाधि दशा से स्वतः विचलन क्यों नहीं होता? इसका कारण आगे के पद्य में बताया जाता है कि इस सुख को प्राप्त करके मनुष्य "इससे भी बड़ा कोई लाभ है" ऐसा नहीं मानता। अर्थात् यही समझता है कि मैंने जो कुछ प्राप्त कर लिया, उससे अधिक लाभ कोई हो ही नहीं सकता। आनन्द की सीमा मैं प्राप्त कर चुका और इस समाधि में स्थित हुआ पुरुष बहुत भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।

इसका अभिप्राय है कि विचलित होने के दो ही कारण होते हैं; या तो एक प्रकार का सुख भोगता हुआ भी पुरुष उससे अधिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से चञ्चल होकर, प्राप्त सुख को छोड़कर, आगे बढ़ना चाहता है; जैसा कि दो सौ रुपये मासिक वेतन प्राप्त करने वाला पुरुष तीन सौ, मासिक प्राप्त के लिये सदा यत्नशील रहता है; अथवा जो विषय जन्य सुख प्राप्त है, उसमें किसी प्रकार की बाधा देखकर उस बाधा से छुटकारा प्राप्त करने की इच्छा से उससे विचलित होता है। जैसा कि दो सौ रुपये मासिक प्राप्त करने पर भी यदि उस आफीसर की अप्रसन्नता आदि का भय हो तो, मनुष्य उसे छोड़कर दूसरा स्थान प्राप्त करने की इच्छा करेगा। ये दोनों ही बातें समाधि के आनन्द में नहीं होती; इससे उस आनन्द से विचलित होने का कोई कारण ही नहीं; यह इस पद्य में बताया गया। न तो उससे बढ़कर कोई आनन्द ही हो सकता है जिसके कारण उस सुख को छोड़कर अधिक की इच्छा की जा सके और न उसके आगे कोई दुःख ही टिक सकता है, जिसके कि कारण विचलित हो सके। बहुत बड़े शस्त्र निर्घात आदि के दुःखों से भी उस अवस्था से विचलन नहीं हो सकता। क्योंकि उस आनन्द के आगे गुरुतर दुःखों को भी यह तुच्छ ही मानता है। फिर दंश मशक आदि की बाधा के कारण विचलित होने की तो कथा ही क्या? इसलिये उस दशा से व्युत्थान वा विचलन होना सम्भव ही नहीं ॥२२॥

शास्त्र में और लौकिक भाषा में इस प्रकार के अनुष्ठान को 'योग' शब्द से कहा जाता है। वह योग नाम इसका विपरीत लक्षण से है। यह प्रतिपादन करते हैं कि इस प्रक्रिया से साधना करने वाले को दुःख संयोग का वियोग हो जाता है अर्थात् उसे दुःख का सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता। वह वियोग ही विपरीत लक्षण से योग नाम से कहा गया है। यह प्रौढ़िवाद विपरीत लक्षण द्वारा योग शब्द का अर्थ बताया गया। वास्तव में तो बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध छोड़ने पर ही अन्तःकरण का आत्मा से योग होता है। इसलिये "आत्मनियोगः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तःकरण का आत्मा से सम्बन्ध होना ही योग शब्द

का मुख्य अर्थ है। यही बात भगवान् पतञ्जलि ने अपने सूत्र में कही है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" अर्थात् चित्त की वृत्तयों का रोकना ही योग है। उस समय द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। वृत्तियों का निरोध होकर चित्त भी आत्माभिमुख ही हो जाता है यही तात्पर्य है। इस प्रकार "यत्रोपरमते चित्तं" यहाँ से आरम्भ कर चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का पूर्ण विवरण किया। आगे पद्य के उत्तरार्ध से उसकी अवश्य कर्तव्यता का उपदेश देते हैं कि इस योग का योजन अर्थात् अनुष्ठान निश्चय से अर्थात् अवश्य ही करना चाहिये। अनुष्ठान से सिद्धिलाभ में यदि विलम्ब भी लगे तो चित्त में "निर्वेद" अर्थात् विरक्तता नहीं लानी चाहिये। "अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी" ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। अनिर्वेद में एक चिड़िया का शिष्टाचार में प्रसिद्ध उदाहरण श्री मधुसूदन सरस्वती ने दिया है कि समुद्र की लहरों में एक चिड़िया के अण्डे बह गये थे, इससे कुपित होकर उस चिड़िया ने मन में सङ्कल्प किया कि मैं इस समुद्र को जल रहित कर दूँगी। ऐसा विचार कर वह अपनी चञ्चु में जल भर-भर कर बाहर फेंकने लगी। आस-पास के अन्य पक्षी उसका यह साहस देखकर हँसने लगे। कई ने उसे समझाया भी कि इस प्रकार चञ्चु में भर कर फेंकने से तो तेरी आयु ही पूर्ण हो जायगी। समुद्र का तो एक छोटा सा प्रदेश भी इससे खाली न होगा। किन्तु वह अपने प्रयत्न में लगी ही रही। उसी प्रदेश में भगवान् नारद भी एक दिन चले आये और चिड़िया का यह उत्साह देखकर उन्होंने भी उसे समझाया कि तेरे किये समुद्र का एक प्रदेश भी खाली न हो सकेगा। किन्तु चिड़िया अपने उत्साह से विचलित न हुई और बराबर चञ्चु से भर-भर कर जल बाहर फेंकती ही रही। उसके इस अपूर्व उत्साह से प्रसन्न होकर भगवान् नारद ने गरुड़ से जाकर कहा कि तुम्हारी जाति के छोटे पक्षी के अण्डे समुद्र ने बहा दिये हैं। तुम्हें भी इस काम में अपनी जाति के पक्षी की सहायता करनी चाहिये। तब गरुड़ वहाँ आये और अपने प्रबल पक्षवेग से समुद्र का जल बाहर फेंकने लगे। तब इससे भयभीत होकर समुद्र ने चिड़िया के अण्डे अपने भीतर से देकर उसे प्रसन्न कर दिया। इसी प्रकार जो मनुष्य "मैं यह काम नहीं कर सकता" इस प्रकार का 'निर्वेद' चित्त में न लाकर काम में जुटा रहे, उसकी किसी न किसी प्रकर ईश्वर सहायता करता है और उसका मनोरथ अवश्य ही पूर्ण होता है। इस प्रकार के उत्साह से योग के अनुष्ठान में लगे ही रहना चाहिये।

श्री नीलकण्ठ जी यहाँ यह भी बताते हैं कि यहाँ शम, दम आदि ज्ञान के अंगों का उपदेश किया गया है जिनमें से निश्चय पद से यहाँ "श्रद्धा" की दृढ़ता का उपदेश दिया गया और "अनिर्विण्ण चेतसा" इस पद से सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों की सहनशीलता का उपदेश किया गया कि सुख-दुःख आदि द्वन्द्व आ पड़ने पर भी निर्वेद अर्थात् चित्त में ग्लानि नहीं लानी चाहिये एवं आगे के "संकल्प प्रभवान्कामान्" इत्यादि दो पद्यों में मन के निग्रह रूप शम और बाह्य इन्द्रियों के

निरोध रूप दम का उपदेश दिया गया है। और "शनैः शनैरुपरमेत्" इत्यादि पदों से उपरति तो स्पष्ट ही बतायी गई है इत्यादि। ॥२३॥

योग साधना का प्रारम्भ किस प्रकार करना चाहिये। इसका भी परम कृपा-वश भगवान् उपदेश देते हैं कि सबसे पहिले चित्त के सङ्कल्प-विकल्प से उत्पन्न होने वाले कामना अर्थात् इच्छाओं को अशेष अर्थात् पूर्ण रूप से छोड़ना चाहिये। यही शम कहा जाता है और सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में इधर-उधर सब ओर जाने से रोक देना चाहिये यही दम कहा जाता है ॥२४॥

आगे धैर्य से बुद्धि को रोककर शीघ्रता न करते हुए धीरे-धीरे उपराग अर्थात् विषयों से निवृत्ति करनी चाहिये। यों मन के विषयों से निवृत्त होने पर वह मन आत्मा में ही स्थिर हो जायगा तब और कोई भी संसार की चिन्ता उसमें न रहेगी। यों आरम्भ से निर्विकल्पक समाधि पर्यन्त का विवरण इन पद्यों में फिर दोहराया गया। कह चुके हैं कि बुद्धि में प्रविष्ट होने के लिये ऐसे गम्भीर विषयों को कृपालु बार-बार ही कहा करते हैं, इनमें पुनरुक्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिये। "अशेषतः" पद से यह दिखाया गया कि इस लोक के और ब्रह्मलोक पर्यन्त दिव्य लोकों के भी कामों में कभी इच्छा न हो। उत्तरार्ध के "समन्ततः" पद से सब इन्द्रियों, सब विषयों से निवृत्त करना बताया गया है। धैर्य पूर्वक रोकी हुई बुद्धि से धीरे-धीरे उपराग अर्थात् विषयों का त्याग करना चाहिये। यह पूर्व पद्य में कहे गये "अनिर्वेद" का ही स्पष्टीकरण है।

श्री नीलकण्ठ जी की व्याख्यानुसार इन पद्यों से शम, दम, उपरति रूप तीनों अङ्गों का विवरण किया गया है और अन्त में सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों समाधियों का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। इन दोनों पद्यों का एक ही अन्वय है। किन्तु हिन्दी भाषा में बड़े वाक्य लिखना जटिल हो जाता है। इस कारण हमने भिन्न-भिन्न वाक्य कर आशयानुवाद ही किया है। इस प्रकरण में अन्यत्र भी विशेषणों को पृथक्-पृथक् कर आशयानुवाद ही व्याख्या में लिखा गया है ॥२५॥

बयासीयवां-पुष्प

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

उक्त—"शनैः शनैरुपरमेत्" इस पद्य में जो संक्षेप से कहा गया उसी की विशद व्याख्या आगे के पद्यों से की जाती है कि मन यद्यपि स्वभाव से ही चञ्चल है, इसलिये इसका स्थिर रहना कठिन है। किसी न किसी निमित्त को पाकर यह विषयों की ओर दौड़ना चाहेगा, किन्तु योगी सावधान रहे कि जिस-जिस निमित्त से यह मन बाहर के जिस विषय की ओर जाने लगे उसी विषय के दोषों का अनुसन्धान कर मन को वहाँ जाने से रोक ले और इस प्रकार रोक कर वश में आये हुए मन को आत्मा में ही लगा दे। यही धीरे-धीरे रोकने का तात्पर्य हुआ। विषयों में दोष देखने से ही वैराग्य होता है। इस दोष दर्शन का प्रपञ्च शास्त्रों में बहुत कुछ मिलता है। और हम भी इस व्याख्या में पूर्व कई जगह स्पष्ट कर आये हैं। जैसा कि—यदि धन की ओर मन जाने लगे तो वहाँ यह विचारना चाहिये कि धन के उपार्जन में बहुत क्लेश होता है और वह यदि नष्ट हो जाय तो फिर बड़ा अनुताप होता है, एवं जब तक धन पास रहे तब तक ऐसा आत्मा में मोह रहता है कि संसार के सब प्राणियों को तुच्छ समझ कर उनका अनादर किया जाता है। इससे अन्य मनुष्यों से वैर हो जाता है और वह वैर भी दुःखदायक ही है। इस प्रकार, आदि, अन्त और मध्य में भी जब दुःख ही दुःख है तब धन में सुख कहाँ से आया? इसी प्रकार स्त्रियों की तरफ मन

जाने लगे तो वहाँ भी दोष दर्शन करना चाहिये कि जिस सौन्दर्य पर आसक्त होकर मन स्त्रियों की ओर झुकता है, वह सौन्दर्य वास्तव में क्या है ? स्त्रियों के कुच एक मांस की ग्रन्थि हैं, मुख चर्म से ढका हुआ कफ, पित्त, थूक आदि का समूह है, जब ये ही वस्तुयें बाहर दिखाई दें तब तो हम इनसे घृणा करते हैं फिर चर्म के आवरण से ढक जाने पर ही ये वस्तुएँ चित्ताकर्षक कैसे बन गईं ! इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि में भी दोष दृष्टि कर वहाँ जाने से मन को रोकना चाहिये और इस मन को बुद्धि द्वारा बार-बार समझाना चाहिये कि परमसुख आत्मा में ही है। इसीलिये आत्मा पर सबसे अधिक प्रेम प्राणियों को होता है। और जगह प्रेम तभी तक है जब तक वे अपने अनुकूल हैं। कोई भी पुत्र, कलत्र, मित्र आदि अपने से कुछ भी विपरीत होने लगे तो झट वह प्रेम द्वेष के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार प्रेम जब आत्मा की अनुकूलता पर ही निर्भर है, तब आत्मा ही प्रेम का मुख्य स्थान सिद्ध हुआ और प्रेम सुख के कारण ही होता है, वा यों कहो कि सुख का ही परिणाम प्रेम रूप से प्रकट है तो फिर आत्मा की ही परमसुख रूपता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार समझाकर मन को आत्मा में ही स्थिर करना चाहिये ॥ २६ ॥

इस प्रकार बड़े परिश्रम से मन को रोक कर आत्मा में स्थित करने रूप योग से ऐसा क्या फल मिलेगा ! जिसके लिये इतना श्रम किया जाय ! इसका उत्तर आगे के पद्य में दिया जाता है कि जब मन विषयों से हट कर शान्त हो जायगा तब इसमें रजोगुण दब जायगा और रजोगुण के कार्य शोक, मोह, आदि भी दूर हो जायँगे। ऐसा योगी सत्त्व प्रधान स्वच्छ मन में ब्रह्म का पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण स्वयं ब्रह्म रूप का ही अनुभव करने लगेगा और रज और तम के कार्य जो धर्म, अधर्म आदि से इसे ब्रह्म से जुदा कर रहे थे, वे भी कल्मष निवृत्त हो जायँगे, तब इसे उत्तम अर्थात् जिससे अधिक और हो नहीं सकता ऐसा निरतिशय सुख प्राप्त हो जाता है। इसलिये परम परिश्रम करके भी योग प्राप्त करने की चेष्टा करनी ही चाहिये। इसे सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप कहा गया और पूर्व पद्य के 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' की यह व्याख्या हुई ॥१७॥

इस प्रकार निर्विकल्पक समाधि पर्यन्त योग का वर्णन कर, उसका अन्तिम फल दिखाया जाता है कि इस प्रकार आत्मा को सदा योग युक्त करते हुए योगी के अविद्यादि दोष रूप सब कल्मष दूर हो जाते हैं और वह 'सुखेन' अर्थात् अनायास ही परब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है। जो कि अत्यन्त है अर्थात् अन्त का अतिक्रमण करने वाली है, वहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती और सुख अर्थात् परमानन्द रूप है। इस प्रकार सर्व दुःख निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त करना योग का परम फल बताया। इस पद्य में ब्रह्म संस्पर्श शब्द का भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। कोई ब्रह्म का 'संस्पर्श' अर्थात् 'अनुभव' ऐसा अर्थ करते हैं और कहीं संस्पर्श का 'तादात्म्य' अर्थ माना जाता

है। कई जगह इस पद को सुख का विशेषण मान कर बहुव्रीहि समास किया गया है कि—योगी ऐसा सुख प्राप्त करता है जो सुख ब्रह्म का स्पर्श करता है, जो सुख ब्रह्म का स्पर्श करता है अर्थात् ब्रह्म का रूप ही है। तात्पर्य सबका एक ही निकलता है कि मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मानुभव जिन्होंने अर्थ किया, उनके मत में भी मुक्ति ही सिद्ध होती है क्योंकि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म का अनुभव ही ब्रह्म का रूप प्राप्त करा देता है, वही मुक्ति है। सुखेन पद से जो अनायास अर्थ सिद्ध हुआ, उससे कई व्याख्याकार योग को अन्तराय अर्थात् विघ्नों का अभाव भी मानते हैं अर्थात् सब विघ्नों के दूर होने पर योग से अवश्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है। विघ्न योगसिद्धि में क्या-क्या होते हैं और उनका निवारण किस प्रकार किया जाता है? ये सब पातञ्जल योगसूत्रों में विस्तार से वर्णित हैं॥२८॥

आरम्भ में कर्मयोग के उपयुक्त साम्यबुद्धि ही प्रस्तुत थी, वही साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास बताया गया था। उपसंहार में साम्यबुद्धि प्राप्त करना ही योग का फल है, इस साम्यबुद्धि का सम्बन्ध फिर दोहरा दिया जाता है जिससे कि प्रकरण का सम्बन्ध बन जाय। पद्य का अर्थ है कि उक्त प्रकार के योग से आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को युक्त कर योगी अपने आत्मा को सब भूतों में व्यापक रूप से देखता है और सब भूतों को अपने आप में देखता है। इस प्रकार सब जगह समत्वबुद्धि उसे प्राप्त हो जाती है अर्थात् सबमें एकरूपता देखने का अभ्यास हो जाता है। यही बात पञ्चम अध्याय के 'विद्या विनय सम्पन्ने' इत्यादि पद्य में कही गई थी। वहीं से साम्यबुद्धि करने के प्रकरण का आरम्भ था। मध्य में उसके उपयुक्त योगाभ्यास का प्रकरण कह कर उपसंहार में फिर वही साम्यबुद्धि कही गई है।

उपादान कारण का अपने कार्य के साथ परस्पर आधार-आधेय भाव रूप दोनों प्रकार का सम्बन्ध हुआ करता है। जैसा कि 'पट' का उपादान कारण 'तन्तु' हैं तो यहाँ दोनों प्रकार का सम्बन्ध बताया जाता है कि तन्तुओं में पट है और पट में तन्तु है। पट तन्तुओं के आधार पर ही है, यदि तन्तु न होते तो पट भी न होता। इसी आशय से न्याय शास्त्र में माना जाता है कि पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है और कहीं किसी को धागे की आवश्यकता हो तो वह पट में से ही धागे निकाल लेता है, इससे तन्तुओं का पट में रहना भी सिद्ध ही है। इसी प्रकार सब जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना गया है। इसीलिये ब्रह्म के भी जगत् के साथ दोनों प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। 'जगत् में ब्रह्म व्यापक है' ऐसा भी कहा जा सकता है और 'सब जगत् ब्रह्म में ही है' यह भी कहा जा सकता है। इन दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों का गीता में बार-बार कथन मिलता है। इससे ब्रह्म का उपादान कारण होना ही सिद्ध होता है। यहाँ आत्मा पद ब्रह्म का ही बोधक है, जीवात्मा भी वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह भी गीता में कई जगह स्पष्ट किया गया है। इस पद्य का आशय कई व्याख्याकार

ऐसा भी निकालते हैं कि साम्यबुद्धि से ज्ञान की परमसीमा ली गई और योग का विस्तृत वर्णन तो इस प्रकरण में हुआ ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि योग और ज्ञान दोनों सिद्ध होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। कई व्याख्याकारों ने सब भूतों में आत्मा को देखना यह निर्विकल्पक समाधि कही है। जिस प्रकार एक ही रज्जु (रस्सी) में कई प्रकार के भ्रम हो सकते हैं—कोई उसे सर्प समझ ले, कोई जल की धारा समझ ले, कोई लकड़ी समझ ले, किन्तु रज्जु का यथार्थ ज्ञान होने पर वे सब सर्प, जलधारा वा दण्ड रज्जु में ही लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार होने पर सब जगत् उसी में लीन हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि में जगत् की ब्रह्म में स्थिति बताई गई। इस प्रकार इस पद्य का भी योग से ही वे व्याख्याकार सम्बन्ध जोड़ते हैं ॥२९॥

पूर्व पद्य की व्याख्या में हम जीव और ब्रह्म की एकता का गीता में कई जगह निरूपण है यह कह चुके हैं, उसी को यहाँ भी स्पष्ट किया जाता है। पहिले योगी का अपने आत्मा को अर्थात् जीव को सब में व्याप्त और सबका आत्मा में ही रहना बताया गया, अब उसी को परब्रह्मावतार भगवान् कृष्ण अपने में घटाते हैं कि जो मुझको सबमें व्याप्त देखता है और सब को मेरे ही अन्तर्गत देखता है, उसकी दृष्टि में मैं कभी नष्ट नहीं होता और वह भी मेरी दृष्टि में कभी नष्ट नहीं होता। 'नश्' धातु का अर्थ भगवान् पाणिनी ने अदर्शन अर्थात् न दीखना ही किया है। तदनुसार इसका यही तात्पर्य कहा जा सकता है कि जो मुझे सर्वत्र देखता है उसकी दृष्टि से मैं बाहर कभी नहीं होता क्योंकि अन्ततः दृष्टि से कुछ तो देखेगा; जो देखेगा उसी में मैं व्याप्त रहूँगा तब मैं दृष्टि से बाहर कहाँ हुआ और वह भी मेरी दृष्टि से बाहर नहीं होता क्योंकि वह मेरा रूप ही हो गया; तब अपना रूप अपनी दृष्टि से बाहर कैसे हो सकता है !

श्री रामानुजाचार्य, जीव और ब्रह्म का एवं ब्रह्म और जगत् का भी अभेद नहीं मानते। इसलिये वे परम समता रूप से क्लिष्ट कल्पना पूर्वक इस पद्य की व्याख्या करते हैं कि परम समता हो जाने के कारण वह पुरुष मेरे सदृश ही हो गया है। इसलिये परम समानता के कारण वह मुझे सदा देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ। वस्तुतः यहाँ समानता की कोई बात ही नहीं, इसलिये भगवद्गीता का अद्वैतवाद ही प्रतिपाद्य है, यही कहना होगा। परस्पर आधार-आधेयभाव का विवरण पूर्व पद्य की व्याख्या में ही किया जा चुका है ॥ ३० ॥

एकत्व भाव रहने पर भी साधक मनुष्य को ईश्वर भक्त रहना चाहिये, यह बताते हुए भगवान् योग की परम काष्ठा का उपदेश करते हैं कि एकत्व अर्थात् जीव-ब्रह्म के अभेद पर आस्था रखता हुआ भी जो योगी सर्वभूतों में व्यापक समझ कर मुझे भजता रहता है, वह प्रारब्ध कर्मवश व्युत्थान अवस्था में चाहे किसी भी दशा में रहे—चाहे शुकदेव, याज्ञवल्क्य आदि की तरह कर्म का सर्वथा

परित्याग कर दे, चाहे जनक आदि के समान निष्काम बुद्धि से कर्म करता रहे, चाहे दत्तात्रेय आदि के समान विधि-प्रतिषेध शास्त्रों की ओर दृष्टि न देकर कभी प्रतिषिद्ध कर्म भी करने लग जाय, इस प्रकार किसी दशा में रहता हुआ भी वह सब काल में मुझमें ही सदा स्थित है। ऐसा ही समझना चाहिये; इसका तात्पर्य है कि उसकी मोक्ष प्राप्ति में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। वह सदा मुझमें ही स्थित है और देह परित्याग के अनन्तर मुझमें ही मिल जायगा।

कई विद्वान् कहा करते हैं कि अद्वैत में अर्थात् अभेद समझ कर भक्ति नहीं बन सकती क्योंकि भक्ति में "सेव्य-सेवक भाव" रहता है और अभेद में वह नहीं रहता। इसका इस पद्य में निराकरण किया गया कि एकत्व पर आस्था रख कर भी मेरा परमात्मा रूप से भजन बन सकता है। जैसा कि श्री मधुसूदन सरस्वती का एक पद्य बताया जाता है कि—

अद्वैत वीथी पथिकैरुपास्याः
स्वानन्द सिंहासन लब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन,
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अर्थात् हम यद्यपि अद्वैत मार्ग में इतने प्रतिष्ठित थे कि इस मार्ग में चलने वाले, हमारी उपासना किया करते थे अर्थात् हमें गुरु मान कर हमसे उपदेश लेते थे और आत्मानन्द के अनुभव रूप उच्च सिंहासन पर भी हमें दीक्षा प्राप्त थी, तथापि गोपवधुओं के साथ क्रीडा करने वाले परम हठी रूप कृष्ण ने बलपूर्वक हमें दास बना लिया। विष्णु षट्पदी में भी कहा गया है कि—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

अर्थात् यद्यपि आप में और मुझमें भेद नहीं है तो भी मैं ही आपका हूँ; आप मेरे नहीं कहे जा सकते। जैसा कि समुद्र और तरङ्ग में कोई भेद नहीं है, समुद्र का जल ही तरङ्ग रूप से उछलता देखा जाता है तो भी तरङ्ग ही समुद्र के कहे जाते हैं, समुद्र तरङ्गों का नहीं कहलाता। जहाँ अंशांशी भाव है वहाँ अंशी का ही अंश कहा जाता है; अंश का अंशी नहीं कहा जाता। इस प्रकार अद्वैतवाद में मैं परमात्मा का हूँ, इस बुद्धि से सेव्य-सेवक भाव सम्यक् प्रकार से बन सकता है। भक्ति मार्ग से ही जो अद्वैतावस्था में पहुँचना चाहते हैं वे अपनी तीन दशाओं का वर्णन किया करते हैं। जैसे कोई सेवक अपने स्वामी का अन्तरङ्ग बने तब उसकी भी तीन अवस्थाएँ होती हैं—"तस्यैवाहं" "ममैवासौ" "सएवाहमिति" त्रयम्। अर्थात् मैं उसी का हूँ, यह पहिली अवस्था है। इससे अपने अन्य सम्बन्ध का निवारण किया जाता है। जब अधिक अन्तरङ्गता प्राप्त हो जाय तब वह कहने लगता है कि "ममैवासौ" अर्थात् मेरे स्वामी मेरे ही हैं, इससे उनके अन्य पुरुषों से सम्बन्ध का निवारण होता है। आगे अत्यन्त

अन्तरङ्गता होने पर 'सएवाहं' अर्थात् मैं और वो एक ही हैं, ऐसी बुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार परमात्मा के साथ भी क्रम से भक्तों के तीनों प्रकार के सम्बन्ध क्रम होते हैं। पहिली अवस्था में मैं भगवान् का ही हूँ यही बुद्धि होती है, जो कि उक्त षट्पदी के वाक्य में कही गई। आगे अधिक प्रेम होने पर 'ममैवासौ' अर्थात् भगवान् मेरे ही हैं, यह बुद्धि हो जाती है। जैसा कि व्रजगोपिकाएँ सब भगवान् कृष्ण को अपना ही मानती थीं वा भगवान् कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ सब उन्हें अपने ही घर देखा करती थीं, ऐसा वर्णन भागवत में मिलता है। इसी प्रेम की पराकाष्ठा हो जाने पर ऐक्य भाव हो जाता है अर्थात् भेद का पर्दा टूट जाता है। इस प्रकार भक्ति के द्वारा भी अद्वैत प्राप्ति होती है। यही किसी भक्त ने स्पष्ट कहा है कि—

दासोऽहमिति मे बुद्धिः प्रागासीत्परमात्मनि।
दाकारोऽपहृतस्तेन गोपी वस्त्रापहारिणा॥

अर्थात् पहिले मेरी परमात्मा में 'दासोऽहं' (मैं दास हूँ) यह बुद्धि थी, किन्तु गोपियों के वस्त्र चुराने वाले ने मेरी बुद्धि का भी 'दा' अक्षर चुरा लिया अर्थात् 'दासोऽहं' 'सोऽहं' रह गया। अस्तु, इस प्रकार अद्वैत में भी भक्ति भली-भाँति बनती है और भक्ति से भी अद्वैत सिद्ध होता है। इन दोनों बातों का विवरण हमने किया। व्याकरण की रीति से तो अद्वैत में ही भक्ति होना सुतरां सिद्ध है क्योंकि 'भाग' और भक्ति दोनों शब्दों में एक ही धातु है और प्रत्यय भी एक ही अर्थ का है। इसलिये भाग होना अर्थात् अपनी अंशरूपता का अनुभव करना ही भक्ति है। यद्यपि, जीव भगवान् का अंश तो है ही, किन्तु उस अपने अंशपन का प्रेम के द्वारा अनुभव करने लगे, यही भक्ति कही जाती है।

अस्तु, श्री रामनुजाचार्य यहाँ भी एकत्व पर आस्था रखने का अर्थ समानभाव पर आस्था रखना ही कहते हैं। इस प्रकार इस पद्य में परम फलरूप मुक्ति का विवरण किया गया ॥३१॥

आगे के पद्य में धर्ममार्ग में भी इस साम्यबुद्धि का परम उपयोग बताया जाता है कि अपनी उपमा अर्थात् सदृशता से ही जो सब प्राणियों में सुख वा दुःख को समान रूप से देखता है, वह योगी उच्च श्रेणी का कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि जैसे अन्य पुरुष हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें तो हमें सुख का अनुभव होता है और बुरा व्यवहार करें तो दुःख का अनुभव होता है, इसी उपमा से मनुष्य को समझना चाहिये कि मैं अन्य पुरुषों से आदर का व्यवहार करूँगा तो उन्हें सुख होगा और यदि गाली प्रदान आदि अनादर करूँगा तो उन्हें दुःख होगा। ऐसा समझ कर सबके साथ आदर व्यवहार करना ही परम धर्म है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है कि—

श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनःप्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्म का सर्वस्व अर्थात् सार भूत धर्म सुनो और सुनकर आचरण में भी लाओ। वह सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल है, वह दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिये। कोई दूसरा पुरुष हमें गाली दे, हम पर प्रहार करे वा हमारी वस्तु ले ले तो हमें बुरा लगता है तब हमें भी किसी को गाली देना, उस पर प्रहार करना वा किसी की वस्तु बिना उसके दिये ले लेना ये सब कार्य नहीं करने चाहिये। इस प्रकार सोचने से धर्म की सब ही बातें सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये इसे धर्म का सर्वस्व कहा गया है और भगवान् ने भी यहाँ ऐसा करने वाले को परम योगी बताया है। यहाँ योगी शब्द का अर्थ कर्मयोगी ही करना उचित है क्योंकि समाधि रूप योग से इसका सम्बन्ध नहीं बनता ॥३२॥

तीरासियवाँ-पुष्प

॥ अर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ! ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

योग का यह उपदेश सुनकर अर्जुन से न रहा गया। इसकी कठिनता का अनुभव करता हुआ वह कहता है कि हे मधुसूदन! आपने जो समत्व बुद्धि का साधन अर्थात् उसके उपाय रूप से योग का उपदेश किया, उस योग की स्थिरता लिये हुए स्थिति अर्थात् पूर्णता कहीं होगी, यह मैं नहीं देखता। इसमें कारण है मन की चञ्चलता। इस अपने अभिप्राय को ही दूसरे पद्य में स्पष्ट करता है कि हे कृष्ण! मन बड़ा चञ्चल है। बड़े वेग से कभी एक जगह और कभी दूसरी जगह जाता रहता है और प्रमाथि अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि को मथन करने वाला है। जहाँ यह जाता है वहीं इन्द्रियों को भी मथन करके अर्थात् बलपूर्वक अपने साथ ले जाता है। और शरीर को भी इसकी आज्ञा के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है यही शरीर, इन्द्रिय आदि का मथन बताया गया। इसके अतिरिक्त यह मन बलवान भी बहुत है अर्थात् इसे रोकना चाहें तो झटपट नहीं रोक सकते। यही इसकी बलवत्ता है और दृढ़ता है, अर्थात् जहाँ एक बार लग गया वहाँ से इसका हटना बड़ा कठिन कार्य है। ऐसे मन का रोकना तो मैं अत्यन्त कठिन मानता हूँ। जैसे वायु को रोक कर कोई एक जगह स्थापित नहीं कर सकता; वायु सदा चलनशील ही रहेगा। उसका एक स्थान में रोक लेना जैसा कठिन है वैसा वा उससे भी कठिन मन का रोकना है।

यहाँ "साम्येन" यह तृतीया विभक्ति 'हेतु' अर्थ में की गई है। इससे यह अर्थ प्रकट होता है कि साम्य बुद्धि का कारण भूत जो योग आपने बतलाया। पूर्व प्रकरण सावधानतया देखने पर समझ में आ जायगा कि

भगवान् ने पहिले पञ्चम अध्याय में कर्मयोगी के लिये समान रूप से सबको देखना, इस समत्व बुद्धि का ही उपदेश किया था और उस बुद्धि के सम्पादन करने के लिये योग साधन बतलाया अथवा 'साम्येन' इस तृतीया विभक्ति की "प्रकृत्यादि तृतीया" अर्थात् अभेद अर्थ में तृतीया मानना चाहिये। इससे यह अभिप्राय होगा कि समत्व-बुद्धि रूप ही उसका सम्पादक योग आपने कहा, वह योग भी मन की चञ्चलता के कारण अत्यन्त कठिन है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि अर्जुन का मनः संयम महाभारत में स्थान-स्थान पर वर्णित हुआ है। जब छोटी आयु में ही द्रोणाचार्य के पास इन क्षत्रिय कुमारों ने शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की थी, उस अवसर में शिक्षा देने के अनन्तर गुरु द्रोणाचार्य ने एक दिन सब की परीक्षा के लिए नियत किया। बाण-विद्या में मुख्य रूप से लक्ष्य-वेध ही प्रधान होता है। इसलिए लक्ष्य-वेध की ही परीक्षा उस दिन नियत की गई। एक कृत्रिम चिड़िया का रूप बना कर उसकी आँख बनाई गई और उस आँख में एक काला छोटा-सा बिन्दु लगाया गया। सब शिक्षितों को आदेश दिया गया कि इस काले बिन्दु का अपने बाण से वेधन करो। प्रत्येक व्यक्ति कार्य के लिए उठने लगा। जो धनुष हाथ में लेकर वेध करने के लिए उद्यत होता, उससे गुरु जी पूछते कि "ठहरो, यह बतलाओ कि क्या देख रहे हो ?" वह कहता कि "सामने वृक्ष देख रहा हूँ, उस पर लटकाई गई चिड़िया को देख रहा हूँ। उसकी आँख और उसमें काले धब्बे को देख रहा हूँ।" गुरु जी कहते जाते कि "बैठ जाओ, तुम लक्ष्य-वेध नहीं कर सकोगे।" इसी प्रकार सब को परीक्षा में अनुत्तीर्ण कर बैठा दिया गया। जब अर्जुन उठ कर सामने आया तब इससे भी गुरु जी ने यही प्रश्न किया कि "सामने क्या देख रहे हो ?" अर्जुन ने उत्तर दिया कि "मैं और कुछ नहीं देखता, केवल उस काले-धब्बे पर मेरी दृष्टि जमी हुई है। मैं उसे ही देखता हूँ।" गुरु जी ने अर्जुन की पीठ ठोकी और कहा कि "तुम निश्चित रूप से लक्ष्य-वेध कर सकोगे। अब बाण छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं।" यह मनः-संयम का पहिला उदाहरण था। बिना मनः-संयम के इतनी एकाग्रता हो ही नहीं सकती।

अनन्तर प्रौढ़ावस्था में जब भगवान् व्यास के उपदेश से यह इन्द्र के पास शस्त्रास्त्र-विद्या प्राप्त करने गया तब एक दिन इन्द्र के दरबार में अप्सराओं का नृत्य हो रहा था। वहाँ उर्वशी नामकी अप्सरा जब खड़ी हुई तब यह इस विचार से उसकी ओर बार-बार देखने लगा कि इसीसे हमारा वंश प्रवृत्त हुआ है। जब यह शाप-वश मर्त्य-लोक में गई थी तब पुरुखा राजा के पास ही रही थी और पुरुखा ने इस में ही जो सन्तान उत्पन्न की, उससे ही आगे हमारा वंश चला। इसके मन में यही विचार था किन्तु इन्द्र ने इसे बार-बार उर्वशी की ओर देखता हुआ देखकर यह अनुमान किया कि अर्जुन इस पर मोहित हो गया है। इसलिए बार-बार देख रहा है। अर्जुन स्वर्ग-लोक का अतिथि है-इसका सत्कार आवश्यक है, ऐसा विचार कर इन्द्र ने गुप्त-रूप से उर्वशी को

आज्ञा दी कि "आज रात्रि को तुम अर्जुन के पास जाना और इसका मनोरथ पूर्ण करना"। आज्ञानुसार उर्वशी अर्ध-रात्रि में अर्जुन के पास गई और हाव-भावों से उसे मोहित करने लगी। उस समय अर्जुन ने यही कहा कि "देवि" तू हमारे वंश की प्रवर्तिका है, इसी विचार से मैंने तो तेरी ओर देखा था। काम-वासना मुझ में बिलकुल नहीं है"। उर्वशी ने बार-बार समझाया कि "हम तो स्वर्ग-लोक की वेश्याएँ हैं। पिता धर्म कर स्वर्ग प्राप्त करता है तो वह भी हम से रमण करता है और उसका पुत्र भी यदि धर्माचरण से स्वर्ग प्राप्त करे तो वह भी स्वर्ग में हमारा उपभोग करता है। वेश्याओं में इस प्रकार के सम्बन्ध का विचार नहीं रहता। इसलिए वंश-प्रवर्तिका होने पर भी इन्द्र की आज्ञा से मैं तुम्हारे पास आई हूँ। तुम्हें मेरे साथ रमण कर स्वर्ग का आनन्द लेना चाहिये"। किन्तु अर्जुन का मन बिलकुल विचलित न हुआ और इसने यही कहा कि "देवि, मैं तो इस समय शिक्षा प्राप्त करने आया हूँ, ब्रह्मचर्य में हूँ, मैं तेरा स्पर्श कदापि नहीं कर सकता"। अन्ततः "कुछ काल तुम्हें नपुंसकत्व होगा"-यह शाप देकर उर्वशी को लौट ही जाना पड़ा। अर्ध-रात्रि के समय एकान्त में प्राप्त उर्वशी जैसी अप्सरा का प्रत्याख्यान सहज बात नहीं है। इतने मनःसंयम का जो परिचय दे चुका है, वह अर्जुन भी मन पर विश्वास नहीं करता और भगवान् से स्पष्ट कहता है कि "भगवन् मन का रोकना तो बड़ा कठिन कार्य है"। फिर आज-कल के लोग भी जो झटपट मनःसंयम का विश्वास कर बैठते हैं—कितनी गलती करते हैं—यह सोचना चाहिये। जब कोई विद्यार्थी श्रेणी में पढ़ता हुआ किसी प्रश्न की कठिनता प्रकट करे और शिक्षक उसे कह दे कि "कोई कठिन नहीं है, तुम व्यर्थ उलझन में पड़ते हो"—तब तो प्रश्न कठिन नहीं समझा जावेगा। किन्तु यदि शिक्षक भी कहे कि "हाँ भाई, है तो कठिन, किन्तु अभ्यास करो, धीरे-धीरे समझ में आ जावेगा"—तब उस प्रश्न की कठिनता सब को ही मान लेनी पड़ेगी ॥३३-३४॥

इसी प्रकार का यहाँ भगवान् का भी उत्तर है कि "हे महाबाहो—विशाल भुजा वाले अर्जुन! निःसन्देह मन बहुत चञ्चल है और इसका रोकना बहुत ही कठिन कार्य है, किन्तु अभ्यास करने पर आर वैराग्य-भावना से रोका जा सकता है"। इस प्रकार मन को रोकने की कठिनता भगवान् ने भी मान ली और वैराग्य-भावना एवं अभ्यास का उपदेश दिया।

अर्जुन के प्रश्न का यही अभिप्राय था कि मन का रोकना तो आपने योग मार्ग में कहा किन्तु उसका उपाय नहीं बताया। वह उपाय स्पष्ट कीजिये जिससे कि मन को रोका जा सके। उसका अभिप्राय समझ कर भगवान् ने यहाँ अभ्यास और वैराग्य को मन के रोकने का उपाय बताया। पातञ्जल योग सूत्र में भी इसी के अनुसार कहा गया है कि—"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अर्थात् अभ्यास और वैराग्य, ये दोनों मिलकर मन के रोकने के कारण होते हैं।

आगे वहाँ इनका विवरण भी किया है कि, "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" तथा "सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः" (समाधिपाद १३-१४)। इन सूत्रों का आशय है कि मन को रोकने का प्रयत्न ही अभ्यास शब्द से कहा जाता है। वह प्रयत्न ही जब बहुत काल पर्यन्त किया जाय और उपेक्षा से नहीं किन्तु आदर अर्थात् मन के संलग्न भाव से किया जाय और निरन्तर हो अर्थात् एक दिन किया, दो दिन बीच में छोड़ा, ऐसा न हो किन्तु लगातार ही रहे और सत्कार अर्थात् मन में श्रद्धा भी रहती जाय कि इससे मुझे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी तो वह प्रयत्न दृढ़ होकर अवश्य फल देता है। इसी अभिप्राय से सनातन धर्म में नित्य सन्ध्योपासनादि करने का उपदेश किया जाता है। जैसे कोई हठीले घोड़े को एक निर्दिष्ट स्थान पर ले जाकर रोकने का लगातार क्रम रखा जाय तो आगे वह उस स्थान पर जाकर स्वयं रुकने लगेगा। इसी प्रकार मन को जब थोड़े-थोड़े समय एक जगह रोका जाय तो वह धीरे-धीरे रुकने का समय बढ़ाता जाता है; एक दिन एक मिनट रुका तो दो चार दिन में दो मिनट रुकने लगेगा। इसी प्रकार क्रम से समय बढ़ाते हुए बहुत काल तक रुकना भी सिद्ध हो जायगा। सन्ध्या करते समय वा उपासना काल में यही प्रक्रिया काम में ली जाती है कि कुछ काल तक मन को एकाग्र किया, आगे उस एकाग्रता को आदर और सत्कार पूर्वक कुछ बढ़ाते चलें तो बहुत देर तक मन रुकने लगता है और इस प्रकार धीरे-धीरे बहुत काल की एकाग्रता रूप समाधि भी प्राप्त की जा सकती है। दूसरे उपाय वैराग्य का कुछ विवरण हम "यतोयतो निश्चरति" इत्यादि (२६) वें श्लोक की व्याख्या में कर आये हैं। उसी प्रकार के दोष दर्शन से विरक्तता पैदा होती है। इसीलिये शास्त्रों में वस्तु विचार को ही काम का विरोधी कहा गया है। सभी विषयों के स्वरूप के विचार में मन को लगाना चाहिये कि यह है क्या ? किस प्रकार उत्पन्न हुआ है ? और कौन सी ऐसी विशेषता है जिसके कारण मन उस पर जाता है जैसा कि किसी रूप पर मन आसक्त होने लगे तो वहाँ सोचना चाहिये कि रूप तो प्रकाश की रश्मि और पदार्थों के सम्बन्ध से प्रकट होते हैं और क्षण में बदलते रहते हैं। एक ही बादाम आदि किसी वस्तु को हम पत्थर से पीसने लगे तो उस पीसने के समय उसमें क्रम से कई प्रकार के रूप दिखाई देंगे। और उस पिट्ठी का रूप मूल वस्तु से बिलकुल प्रकार पृथक् का ही प्रतीत होगा। मेंहदी आदि किसी-किसी वस्तु में तो इतना परिवर्तन हो जाता है कि जानना भी कठिन हो जाता है कि यह किस वस्तु की पिट्ठी है ! इसी प्रकार चेतन प्राणियों में भी अत्यन्त परिवर्तन देखा जाता है कि युवावस्था में जो लावण्य वा चमत्कार पुरुषों वा स्त्रियों के मुख पर दिखाई देता है वह कुछ समय के अनन्तर नहीं रहता। वृद्धावस्था में तो वह विकृति इतनी बढ़ जाती है कि जिसको देखने के लिये हम पहिले बड़े उत्सुक थे, उसे आज घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, ऐसी परिवर्तनशील वस्तु पर क्या प्रेम करना ! ऐसा वस्तु विचार कर मन की आसक्ति को हटाना चाहिये। ऐसे ही स्पर्श, गन्ध, रस आदि में मन आसक्त होने लगे तो वहाँ भी वस्तु विचार

करना चाहिये कि जो पदार्थ आज हमें अत्यन्त रुचिकर सुस्वादिष्ट, लगता है, वही दो दिन के बाद अत्यन्त अरुचिकर हो जाता है। यदि वह पदार्थ वास्तव में उत्तम होता तो दो दिन के बाद उसमें क्या हो जाता कि अब रुचि के स्थान में घृणा होने लगे। इससे सिद्ध है कि वह रुचिकता उस पदार्थ की स्वाभाविक नहीं है, अपितु आगन्तुक है जो कि कुछ काल में परिवर्तित हो जाती है। आगन्तुकता इससे भी स्पष्ट है कि जिन लवण, मधुर अम्ल आदि पदार्थों के पृथक्-पृथक् रहने पर हमें उतनी रुचि नहीं होती उनका विशेष प्रकार से संयोग कर देने पर मीठे-खट्टे आदि पदार्थों में अत्यन्त रुचि हो जाती है। अग्नि के विशेष प्रकार के संयोग से भी पदार्थों में रुचिकता विशेष होती रहती है। इसी प्रकार की आगन्तुकता और अनित्यता का विचार कर मन की आसक्ति को हटाना चाहिये। इस प्रकार सब विषयों से आसक्ति हटने पर मन अपने आप रुक जायगा और सच्चे सुख के अन्वेषण में लगेगा। धीरे-धीरे उसे जब स्थिरता के आनन्द का अनुभव होने लगेगा तो वह स्वयं ही स्थिर होने की ओर अग्रसर हो जायगा। इसी प्रकार वेद से अवगत स्वर्ग सुख में भी क्षय और तारतम्य का विचार कर उससे भी मन को हटाना चाहिये। स्वर्ग सुख का भी भोग के अनन्तर नाश होता है जैसा कि "क्षीणे-पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इत्यादि गीता के पद्य में ही बताया जायगा। इसी प्रकार स्वर्ग सुख में छोटा-बड़ापन रहता ही है। वहाँ भी कोई सामान्य देवभाव प्राप्त करते हैं, कोई अधिकारी पुरुष इन्द्र, वरुण आदि बन जाते हैं, अपने से ऊँचा किसी पुरुष को देखकर चित्त में ईर्ष्या का उदय होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार असुरों के आक्रमण की विपत्ति देवभाव में भी आया ही करती है। इस प्रकार के विचार कर स्वर्ग सुख से भी चित्त की आसक्ति हटा देनी चाहिये। यही बात योगसूत्र में भी कही गई है कि "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" अर्थात् इस लोक के प्रत्यक्ष विषय और स्वर्ग लोक के श्रुति से विज्ञात विषय, इन दोनों की ही इच्छा न रखना ही वैराग्य है। इसे योग मार्ग में "वशीकार संज्ञा" नाम से भी कहा जाता है अर्थात् इस अवस्था में मन अपने वश में हो जाता है। ये ही "अभ्यास" और "वैराग्य" मन को रोकने के उपाय भगवान् ने बताये ॥ ३५ ॥

कठिन और दुष्साध्य होने पर भी आवश्यक समझ कर मन को रोकने की प्रवृत्ति होनी ही चाहिये, यह आगे के पद्य में बताते हैं कि जब तक आत्मा अर्थात् मन का संयम न किया जाय, तब तक योग की प्राप्ति नहीं हो सकती (बिना मन का संयम किये योग दुष्प्राप है)। यह मेरा मत है। और मन को वश में कर प्रयत्न करता रहे तो उपाय से योग प्राप्त हो सकता है। इसलिये यदि योग प्राप्त कर संसार के बन्धन से छूटना इष्ट हो तो मन को संयत करने के लिये अभ्यास और वैराग्य करना ही चाहिये। यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ ज्ञानयोग वा कर्मयोग ही करना उचित होगा। क्योंकि जिस योग का वर्णन

इस छठे अध्याय में किया गया है, वह तो स्वयं मन का निरोध करना ही है। जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने भी योग का लक्षण करते हुए कहा है कि "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का रोकना ही योग है और यहाँ गीता में भी पूर्वोक्त पद्यों से यही सिद्ध होता है कि मन का रोकना ही योग है। "मन के चञ्चल होने के कारण योग की स्थिति मैं नहीं समझता" इस अर्जुन के प्रश्न से भी यही सिद्ध होता है कि मन का रोकना ही योग शब्द का अर्थ है फिर "मन को रोके बिना योग की प्राप्ति नहीं हो सकती वा दुष्प्राप्य है" अर्थात् कठिनता से हो सकती है, इस कथन का तात्पर्य ही क्या हो सकता है? योग से ही योग की प्राप्ति बताने से तो अर्थ संगति नहीं हो सकती। उपाय और उपेय एक कैसे हो सकते हैं? इसलिये योग शब्द का अर्थ 'ज्ञानयोग' वा 'कर्मयोग' मानने से ही अर्थ संगति बैठ सकेगी कि जब तक अन्तःकरण को वश में न किया जाय अर्थात् पूर्वोक्त पातञ्जल योग सिद्ध न किया जाय तब तक ज्ञानयोग वा कर्मयोग सिद्ध नहीं हो सकता वा उसका सिद्ध करना कठिन है। मन को वश में करके यत्न करते रहने पर ज्ञानयोग वा कर्मयोग सिद्ध हो सकता है। भगवद्गीता के टीकाकार श्री शङ्करानन्द जी यहाँ योग शब्द का अर्थ "ज्ञानयोग" ही करते हैं और लोकमान्यतिलक तो सर्वत्र ही गीता के योग शब्द का अर्थ "कर्मयोग" ही किया करते हैं और यहाँ पञ्चम अध्याय से ही प्रकरण भी कर्मयोग का ही चल रहा है। इसलिये योग शब्द का अर्थ "कर्मयोग" करना ही उचित प्रतीत होता है। ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों में ही मनः संयम की अर्थात् मनको रोकने की आवश्यकता तो निर्विवाद है। इसलिये दोनों ही संगत हो सकते हैं। इसका विशेष विवेचन इस अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में किया जायगा।

कई व्याख्याकारों ने इस पद्य के योग शब्द का अर्थ समत्वबुद्धि रूप "साम्ययोग" किया है। गीता के द्वितीय अध्याय में "समत्वं योग उच्यते" इस वचन के अनुसार समत्वबुद्धि भी योग शब्द का अर्थ हो सकता है किन्तु समत्व बुद्धि स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं है। इसलिये उसे प्राप्त करने के लिये योगानुष्ठान कहना कहाँ तक उचित होगा? "समत्व बुद्धि" का तो इस प्रकरण में कर्मयोग के अङ्ग रूप से ही उपदेश है। मनुष्य को संसार बन्धन से छुड़ाने वाले पुरुषार्थ रूप तो ज्ञानयोग वा कर्मयोग ये दोनों ही हैं; जैसा कि तृतीयाध्याय के आरम्भ में ही भगवान् ने दो निष्ठा बता कर स्पष्ट कर दिया है। इस पर मननशील विद्वान् स्वयं विचार कर लें।

चौरासीवां-पुष्प

॥ अर्जुन उवाच ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

इस पर पुनः सन्देह में पड़कर अर्जुन प्रश्न करता है कि हे कृष्ण ! जो श्रद्धापूर्वक योग साधन में प्रवृत्त तो हो गया, किन्तु अयति अर्थात् पूर्ण मनः-संयम न कर सकने के कारण योग से उसका मन विचलित हो गया, इसलिये योग सिद्धि प्राप्त न कर सका, ऐसे पुरुष को शरीर त्याग के अनन्तर क्या गति प्राप्त होगी ? ॥३७॥

हे महाबाहो ! क्या वह दोनों ओर से गिरकर अर्थात् कर्म उपासना मार्ग वा संसार का सुख भी उसने छोड़ा और योग सिद्धि भी न कर सका, इसलिये दोनों ओर से ही गिरा ? तब घटा में से पृथक् हुए छोटे बादल के टुकड़े के समान नष्ट अर्थात् इधर-उधर विलीन ही हो जायगा ? अर्थात् वायवीय शरीर प्राप्त कर प्रेत रूप में ही भटकने लगेगा ? क्योंकि किसी मार्ग में उसने प्रतिष्ठा अर्थात् सिद्धि तो पायी नहीं। वेदोक्त कर्मानुष्ठान छोड़कर ब्रह्मज्ञान के उपाय में लगा था उसमें भी "विमूढ" हो गया अर्थात् वहाँ चल न सका तब अन्त में उसकी बुरी गति ही होने की सम्भावना हो सकती है ॥३७॥

हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देह का निवारण करने में आप ही योग्य हैं। आपके अतिरिक्त और कोई इस सन्देह को मिटाने वाला न मिल सकेगा क्योंकि परलोक में किसी की क्या गति होगी, इस परोक्ष विषय को ईश्वर के अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? ईश्वर ही कर्मानुसार प्राणियों को भिन्न-भिन्न फल देता है वही जानता भी है कि किस कर्म का क्या फल होना चाहिये ? और लोग जो परलोक की बातचीत करते हैं वह तो उनकी अटकल मात्र है उससे संशय का छेदन अर्थात् सर्वथा मिटना नहीं हो सकता। इनका अनुभव सत्य है या ये भी धोखे में ही हैं यह सन्देह बना ही रहेगा।

पद्यों का आशय स्पष्ट है—इनमें और कुछ वक्तव्य नहीं।

श्री भगवान् इसका उत्तर देते हैं कि हे प्रिय पार्थ ! (इस प्रकार सम्बोधन कर अपना प्रेम उस पर प्रकट करते हैं कि तुम ऐसा प्रश्न पूछते हो, बड़े सुयोग्य श्रोता हो। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैं भली-भाँति दूंगा अथवा यह भी आशय हो सकता है कि तुम पृथा के पुत्र होने के कारण मनुष्यावतार में मेरे सम्बन्धी हो, इस कारण तुम्हारे सन्देह को हटाना आवश्यक ही है)। इस लोक में वा परलोक में उस पुरुष का विनाश अर्थात् तुम्हारी सम्भावित दुर्गति नहीं हो सकती। यह निश्चय समझो कि कल्याण अर्थात् शुभ कार्य करने वाला कोई भी पुरुष कभी दुर्गति में नहीं जा सकता। यद्यपि जिस मार्ग में चला था उसमें पूर्ण सिद्धि न पा सका तो भी उसका उद्देश्य तो शुभ ही था और अच्छे मार्ग पर ही चला था फिर वह दुर्गति क्यों प्राप्त करेगा ? ॥४०॥

क्या गति उसे प्राप्त होगी ? इसका वर्णन आगे करते हैं कि अपने शुभ उद्देश्य के कारण पुण्य करने वाले जिन लोकों में जाते हैं उन्हीं लोकों को वह प्राप्त करेगा और वहाँ बहुत काल तक निवास करेगा। भोगों में चित्त चला जाने के कारण ही योग से गिरा होगा। इसलिये अब तक का साधन किया हुआ योग उसकी इच्छानुसार उसे उन भोगों की प्राप्ति के लिये ही स्वर्ग में ले जायगा। और वहाँ जिन भोगों की इच्छा से यह योग से विच्युत हुआ है उन्हीं भोगों को उसे प्राप्त करावेगा। समय का नियमन निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता। पूर्व के योगाभ्यास में जितना बल होगा उतने ही काल तक भोग प्राप्ति होगी।

इसलिये सामान्य रूप से "शाश्वतीः समाः" कह दिया गया है। भोग प्राप्त करने के लिये ही (स्वर्ग प्राप्ति और स्वर्ग निवास होता है। इसलिये "उषित्वा" का अर्थ हमने भोग—करना ही किया है)। इसके अनन्तर वह पवित्र और धनधान्य समृद्ध पुरुषों के घर में जन्म लेता है क्योंकि योग से भ्रष्ट अर्थात् विचलित हो गया, इसलिये मुक्ति तो प्राप्त कर नहीं सकता। अच्छे कार्य में लगे रहने के कारण स्वर्ग सुख प्राप्त कर आगे जन्म ग्रहण ही करेगा ॥१४॥

अथवा योगियों के ही कुल में इस योग भ्रष्ट का जन्म होता है, ऐसा जन्म पाना मनुष्य के लिये अति दुर्लभ है। इससे यह सूचित किया जाता है कि धन समृद्धि वाले लक्ष्मीवान् पुरुषों के घर जन्म लेने की अपेक्षा भी दरिद्र किन्तु जिस कुल में योगाभ्यास परम्परा से प्रचलित रहा हो उस कुल में जन्म लेना अति श्रेष्ठ है। जिस कुल में सदा योगाभ्यास चल रहा होगा वहाँ शुक्रशोणित द्वारा भी इसमें योगाभ्यास का-अंश आ जायगा। पूर्व जन्म के संस्कार भी योग के अनुकूल रहेंगे और इस जन्म के शरीर में भी जब योगाभ्यास का अंश प्रविष्ट हो जायगा तो इसे सिद्धि प्राप्त करने में विशेष सुगमता होगी। इसी अभिप्राय से इस जन्म को भगवान् ने अति दुर्लभ कहा है। अतिश्रेष्ठ जन्म प्राप्त करना विशेष दुर्लभ ही होता है। बहुत काल तक पूर्व जन्म में योगाभ्यास हो चुका हो, कुछ थोड़ी ही न्यूनता रही हो तब ही ऐसा जन्म प्राप्त हो सकता है, यही दुर्लभतर शब्द से सूचित किया। इस पद्य में भी वर्णव्यवस्था का मूल भगवान् ने सूचित कर दिया कि योगियों के कुल में उत्पन्न होने से शुक्र-शोणित द्वारा योगाभ्यासियों के अवयव इसमें प्रविष्ट हो जायँगे तो शीघ्र योगाभ्यास सिद्ध होगा। जिस कुल में जन्म हो उसी कुल के संस्कार बालक में आते हैं। यही जन्म सिद्ध वर्णव्यवस्था का मूल है ॥४२॥

दोनों प्रकार के जन्मों में से किसी भी प्रकार का जन्म पावे तो भी पूर्व शरीर की बुद्धि का योग तो इसे प्राप्त हो ही जायगा। श्रुति में कहा है कि "तं विद्याकर्मणी समन्वयारभेते पूर्व प्रज्ञा च" अर्थात् जब मनुष्य पूर्व शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाने लगता है तब उसके साथ उसकी विद्या जो सीखी हो और कर्म जो किये हों; उनका संस्कार साथ चलता है और पूर्व की जैसी बुद्धि थी, वह भी साथ जाती है। वैसी बुद्धि होने के कारण फिर वह उस योगाभ्यास के यत्न में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने में लग जाता है। कुरुनन्दन! इस सम्बोधन से ध्वनित करते हैं कि तुमने भी पवित्र 'कुरु' कुल में जन्म पाया है, इसलिये तुम भी इस अभ्यास के अधिकारी हो और उसी अभ्यास के अनुसार मुझसे योग का प्रश्न कर रहे हो ॥ ४३ ॥

अर्जुन के मन में शङ्का उत्पन्न हुई कि इस जन्म में यदि धन समृद्धि वाले कुल में वह आया तो भोग-विलास आदि में ही लगेगा, परिस्थिति अनुकूल न होने पर योगाभ्यास में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? उसका अभिप्राय जान कर

भगवान् उसका उत्तर देते हैं कि पूर्व जो अभ्यास किया था, वही विवश कर उसे मानो खींचकर योगाभ्यास में लगा देता है अर्थात् पूर्व जन्म का किया हुआ अभ्यास प्रबल होता है, वह इस जन्म की विरुद्ध परिस्थितियों में से भी बल-पूर्वक मन को खींच लेता है। इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि इस जन्म में कोई प्रबल पाप हो गया हो तो वह उस पूर्व जन्म के संस्कार को भी दबा देगा। इस विचार से पाप से बचना तो आवश्यक ही है। इसी अभिप्राय से पूर्व पद्य में "श्रीमतां" के साथ "शुचीनां" विशेषण भी दिया है। यही अभिप्राय है कि पवित्र कुल में यदि जन्म लेगा तो कुलमर्यादानुसार पाप कर्मों से बचता ही रहेगा। चरक संहिता में भी कहा गया है कि—

हन्यते दुर्बलं दैवं पौरुषेण विपश्चिता ॥

अर्थात् पूर्व जन्म का संस्कार जो दैव कहा जाता है, वह यदि दुर्बल हो और इस जन्म का पुरुषार्थ प्रबल हो जाय तो उस दैव को हटा देता है। यदि पूर्व जन्म का संस्कार ही प्रबल हुआ और इस जन्म का पुरुषार्थ उससे दुर्बल रहा तो पुरुषार्थ विफल होगा। दैव के अनुसार ही सिद्धि वा असिद्धि होगी। अस्तु, दैव को तो हम जान नहीं सकते कि किसका कैसा है ? इसलिये पापों से बचने का ही यत्न करना चाहिये। यदि कोई प्रबल पाप न हुआ तो अवश्य ही प्रबल प्रतिबन्धक रहते हुए भी योगभ्रष्ट पुरुष विवश होकर योग में पूर्वाभ्यास द्वारा लगाया ही जायगा। जैसा कि प्रह्लाद, ध्रुव आदि को हुआ कि प्रबल प्रतिबन्धक रहने पर भी वे भगवद्भक्ति में अग्रसर हो ही गये।

पुनः अर्जुन के मन में शंका हुई कि पूर्वजन्म में योगाभ्यास यदि प्रबल हो गया हो तब तो उसका प्रबल संस्कार इस जन्म की परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर ले, यह ठीक है। किन्तु यदि पूर्वजन्म में अभ्यास का प्रारम्भ मात्र ही किया हो तो उसके संस्कार में इतनी शक्ति कहाँ से आ जायगी कि इस जन्म की परिस्थितियों को दबाकर वह योगाभ्यास में लग ही जाय। उसके मन की बात जानकर भगवान् उत्तर में योग का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि योग इतनी उत्तम वस्तु है कि उसकी 'जिज्ञासा' अर्थात् जानने की इच्छा भी जिसने की हो वह भी ब्रह्म अर्थात् वेद के (कर्मकाण्ड के) प्रतिपादित लोकों का अतिक्रमण कर जाता है। फिर अभ्यास में जो प्रवृत्त हो गया, उसका कहना ही क्या ? इस कारण पुण्य लोकों की प्राप्ति और वहाँ से लौट कर फिर परिस्थितियों पर उसी संस्कार से विजय प्राप्त कर फिर अभ्यास में लगना यह सब बन जाता है।

श्री रामानुजाचार्य इस पद्य के उत्तरार्ध का यह अर्थ करते हैं कि योग की जिज्ञासा भी जिसने पूर्व जन्म में कर ली है, वह इस जन्म में कर्मयोगादि का अनुष्ठान कर देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि शब्दों में कही जाने वाली ब्रह्म अर्थात् प्रकृति का अति क्रमण कर, शब्द से न कहने योग्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता

है, किन्तु यह तो अग्रिम श्लोक में कहा गया है। अभी तो अभ्यास का ही प्रकरण है यहीं फल प्राप्ति का वर्णन कैसे उपयुक्त माना जायगा ? ।।४४।।

इस प्रकार फिर सिद्धि के लिये यत्न में दृढ़ता पूर्वक लगा हुआ वह योग भ्रष्ट सब पापों के दूर होने पर अनेक जन्मों के अभ्यास से योग की सिद्धि प्राप्त कर, परम गति अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ 'प्रयत्नाद्' और 'यतमान' इन दोनों शब्दों में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। इसका निवारण करने के लिये श्री शङ्कराचार्य ने इस पुनरुक्ति के द्वारा अभ्यास में प्रयत्न की दृढ़ता बोधित की है। और व्याख्याता श्री नीलकण्ठ जी ने दूसरे यतमानः शब्द से योगाभ्यास को वायुनिरोध खेचरी मुद्रा आदि का अभ्यास कहा है, यत्नपूर्वक उन अभ्यासों में लगने से परमगति प्राप्त हो जाती है, यह उनका आशय है। "अनेक जन्म संसिद्धः" कहने से मोक्ष की दुर्लभता सूचित की गई है कि कई जन्मों के अभ्यास से परमगति रूप मोक्ष प्राप्त किया जाता है ।।४५।।

पचासीवां-पुष्प

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

आगे उपसंहार में योग का सबसे उत्कर्ष प्रदर्शित करते हैं कि तपस्या करने वालों से भी योगी अधिक अर्थात् श्रेष्ठ होता है। और ज्ञानियों से भी अधिक बुद्धि वाला होता है। एवं केवल कर्म में लगे हुए पुरुषों से भी अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम यदि कल्याण चाहते हो तो योगी हो जावो।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि "योगी" शब्द से कौन से योग का साधन करने वाला यहाँ बताया गया। तृतीयाध्याय के आरम्भ में "ज्ञान योग" और "कर्मयोग" दो ही निष्ठाएँ बताई गयी थीं, किन्तु यहाँ ज्ञानी और कर्मी दोनों से योगी को श्रेष्ठ कहा गया है, यह तीसरी निष्ठा कहाँ से आई? प्राचीन प्रायः सभी व्याख्याकार यहाँ योगी शब्द का इस षष्ठाध्याय में कहे गये योग का अनुष्ठान करने वाला ही कहते हैं। उसमें भी दो प्रकार के भेद हैं। षष्ठाध्याय में पातञ्जल सूत्र के अनुसार अष्टाङ्ग योग का वर्णन है; ऐसा कई व्याख्याकारों ने माना है। जैसा कि हम भी इस प्रवचन में उसके अनुसार ही लिख चुके हैं।

किन्तु श्री शङ्करानन्द जी आदि व्याख्याता संन्यास पूर्वक पूर्ण ब्रह्म ज्ञान ही षष्ठाध्याय में कहा गया है, और पातञ्जल सूत्र के अनुसार जो योग का वर्णन मिलता है, वह अङ्ग मात्र है, उसका भी अनुष्ठान ज्ञानी के लिए आवश्यक माना गया है, किन्तु मुख्य निरूपण इस अध्याय में पूर्ण ज्ञान निष्ठा का ही है, यही मानते हैं। तब यहाँ सबसे अधिक योगी को कैसे कहा गया? इसका उत्तर प्राचीन व्याख्याकारों की ओर से यह दिया गया है कि यहाँ तपस्वी शब्द का अर्थ केवल कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों में लगे हुए पुरुष हैं। और ज्ञानी शब्द का अर्थ केवल शास्त्र पढ़कर शाब्दज्ञान सम्पादित करने वाले पुरुष हैं, जो कि लोक में पण्डित नाम से प्रसिद्ध होते हैं। एवं कर्मी शब्द से वेद में कहे हुए कर्मों को फल की आशा से करने वाले कहे गये हैं, ये तीनों ही अनुभवरूप ज्ञान से शून्य रहते हैं और योगी पुरुष समाधि तक पहुंच कर अनुभव भी प्राप्त करता है। इस लिए योगी को इन सबसे श्रेष्ठ बताया गया है।

लोकमान्य तिलक अपनी व्याख्या में कहते हैं कि "तपस्वी" शब्द से कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठाता लिया जाय, और "कर्मी" पद से फलाशा से कर्म करने वाले लिये जायँ, यह तो ठीक है, क्योंकि फलाशा से कर्म करने वालों का विवरण आरम्भ में ही द्वितीयाध्याय में किया जा चुका है और वैसा न कर फलाशा छोड़ देने का उपदेश भी गीता में बराबर दिया जा रहा है, किन्तु "ज्ञानी" शब्द का अर्थ संकुचित करने में कोई भी प्रमाण नहीं। उससे न केवल शब्द पढ़कर परोक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाले ही लिये जायँ, किन्तु अनुभव प्राप्त करने वाले सांख्य निष्ठा पारङ्गत पुरुष भी लिये जाने चाहिये। और "योगी" पद तो गीता में सर्वत्र ही "कर्मयोगी" के लिए प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार यहाँ भी योगी पद से कर्मयोगी लेना उचित है। ज्ञान योग अर्थात् कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता पञ्चमाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट शब्दों में कही गई है, वही यहाँ उपसंहार में फिर दोहराई गई। उसका कारण भी मध्य-मध्य में विवृत हो चुका है कि ज्ञान निष्ठा पूर्वक कर्म संन्यास कर देने वाला पुरुष केवल अपना ही हित सम्पादन कर सकता है, और कर्मयोगी अपने आचरण द्वारा उपदेश देता हुआ अन्य प्राणियों का भी हित सम्पादित करता है। इसीलिए भगवद्‌गीता में कर्मयोग की श्रेष्ठता का ही बार-बार वर्णन है।

दूसरी यह भी बात विशेषरूप से विचारणीय है कि यहाँ अर्जुन को भी योगी बनने का उपदेश दिया गया है। श्री शङ्कराचार्य आदि प्रायः सभी प्राचीन व्याख्याताओं ने यह प्रकट किया है कि गीता में भगवान् ने मुख्य रूप से तो संन्यास का ही प्रतिपादन किया, किन्तु अर्जुन अभी संन्यास मार्ग का अधिकारी नहीं था, इसलिए उसे कर्मयोग का ही उपदेश दिया। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि वाक्यों के द्वारा तुम अभी कर्म योग के ही अधिकारी हो यह बात स्पष्ट कही गई है। इस विचार से तो यहाँ योगी शब्द का अर्थ कर्मयोगी ही मानना उचित प्रतीत होता है। अङ्गरूप से आवश्यकतानुसार पातञ्जल योग का भी अनुष्ठान करते हुए तुम निश्चित कर्मयोगी बनो, यही भगवान् का उपदेश अर्जुन के प्रति युक्त हो सकता है, और भगवद्गीता के अन्त में (करिष्ये वचनं तव) (मैं आप की आज्ञा के अनुसार ही कार्य करूँगा) यह कह कर आगे अर्जुन युद्ध में ही प्रवृत्त हुआ है। योगाभ्यास के लिए किसी एकान्त स्थान में नहीं गया। यदि समाधियोग अनुष्ठान की ही भगवान् की आज्ञा होती तो उसे एकान्त स्थान में ही जाकर योगाभ्यास में लग जाना आज्ञानुसार उचित होता। यद्यपि कहा जा सकता है कि युद्ध काल में अर्जुन फलाशात्यागी वा अनासक्त भी नहीं रह सका, इससे भी पूरा आज्ञा पालन तो नहीं बना, किन्तु स्वधर्माचरण में प्रवृत्त रहो, इस आज्ञा को तो उसने स्पष्ट निभाया ही और अनासक्ति वा फलाशा त्याग का अभ्यास करने लगा। वह एक दिन में ही सिद्ध हो जाने वाली बात नहीं थी, अभ्यास साध्य है। उस अभ्यास में अर्जुन लग गया हो, यह सम्भव है। सारांस यह है कि यहाँ "योगी" शब्द का अर्थ कर्मयोगी मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्री रामानुजाचार्य ने भी इस पद्य में तो नहीं, किन्तु इस प्रकरण के अन्य पद्यों में "योगी" शब्द का प्रायः "कर्मयोगी" अर्थ किया है।

श्री विद्यावाचस्पति जी तो गीता का मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धियोग को मानते हैं। उनके अनुसार यहाँ अर्जुन को "बुद्धियोगी" बनने का ही उपदेश है। बुद्धियोग के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों ही आ जाते हैं। इसी कारण बुद्धियोगी को पृथक्-पृथक् तीनों से उत्कृष्ट कहा गया। कर्मयोग के साथ भक्ति का भी सम्मिश्रण आवश्यक है, यह इसके आगे के पद्य में भगवान् कहते हैं कि सब योगियों में भी मुझ ईश्वर में अपना अन्तःकरण लगाकर श्रद्धापूर्वक जो मुझ ईश्वर को भजता है उसे मैं "युक्ततम" अर्थात् परयोगनिष्ठ मानता हूँ।

कई व्याख्याकारों ने जो गीता के छह, छह, अध्यायों का विभाग किया है कि पहले छह अध्यायों में कर्म का निरूपण, मध्य के छह अध्यायों में भक्ति और अन्त के छह अध्यायों में ज्ञान का निष्कर्ष दिया है। तदनुसार सप्तमाध्याय से भक्ति का विवरण करते हुए जो भक्ति के आश्रय भगवान् के स्वरूप का निर्देश किया जाने वाला है, उसे ही इस अन्तिम पद्य से सूचित कर दिया। यह प्रायः गीता की शैली है कि आगे जो विषय विस्तार से वर्णित होगा, उसका सूत्रपात पहिले ही कर दिया जाता है। तदनुसार ही यहाँ भी प्रथम षट्क के अन्त में द्वितीय षट्क का संकेत किया गया।

लोकमान्य तिलक ने भी ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य माना है। इन तीनों की श्रृङ्खला गीता में जोड़ दी गई है।

इस प्रकार कर्मप्रतिपादक प्रथम षट्क यहाँ पूर्ण हुआ।

